वक्तव्य

परिषद के लक्ष्य और उद्देश्य में भारतीय और भारतीयेतर भाषाओं के साहित्यिक सांस्कृतिक शास्त्रीय वैज्ञानिक आदि विषयक ग्रन्थों को विशुद्ध हिन्दी-भाषा में अनुदित कर प्रकाशित करना भी रहा है और इस दिशा में परिषद ने अबतक राजशेखर की संस्कृत के साहित्य शास्त्रविषयक 'काव्यमीमांसा' डॉ पिशल द्वारा जर्मन भाषा में लिखित 'कम्परेटिव ग्रामर ऑफ् दि प्राकृत लैंग्वेज' ('प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' के नाम से अनूदित) फ्रेंच भाषा में मारिस मेटरलिंक-लिखित 'ल्वासो ब्लू' तथा अँगरेजी में लिखित और लेखकों के ही द्वारा कृपा प्रदत्त 'पैगम्बर' और 'संतकवि दरिया : एक अनुशीलन' के हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित किये हैं और उपर्युक्त अनुवाद-ग्रन्थों का अच्छा समादर भी हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ महाकवि सोमदेवभट्ट-कृत 'कथा सरित्सागर' नामक बृहत् ग्रंथ के प्रथम खण्ड का मूल संस्कृत-सह हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष हो रहा है। उक्त कथा-सरित्सागर का अनुवाद पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने किया है किन्तु सम्पूर्ण ग्रंथ का अनुवाद वे अपने जीवन में पूरा न कर सके। हमें खेद है कि अचानक ही उनका देहावसान हुआ और उन्हें अपने अनुवाद के प्रथम खण्ड का प्रकाशन देखने का अवसर न मिल सका। उन्होंने प्रकाशन की सुगमता के उद्देश्य से सम्पूर्ण ग्रंथ को तीन खण्डों में विभक्त किया था। सम्पूर्ण ग्रंथ १८ लम्बकों में विभक्त है। उनमें केवल ६ लम्बकों का यह प्रथम खण्ड अभी प्रकाश में आ रहा है अन्य ६ लम्बकों का दूसरा खण्ड शीघ्र ही प्रेस में दिया जायगा और शेष ६ लम्बकों का अनुवाद किसी योग्य संस्कृत-हिन्दी के विद्वान से करा कर प्रकाशित करके इस बृहत् ग्रंथ का काम समाप्त किया जायगा। जिस दिन उपर्युक्त तीनों खण्ड प्रकाश में आ जायेंगे उस दिन हमें विशेष प्रसन्नता होगी।

इस ग्रंथ की भूमिका संस्कृत-हिन्दी के ख्यातिप्राप्त विद्वान डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल (पुरातत्त्व-विभाग हिन्दू-विश्वविद्यालय वाराणसी) ने लिखने की कृपा की है। आपने अपनी भूमिका में मूल ग्रंथ के सम्बन्ध में जैसा विद्वत्तापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है उससे ग्रंथ की उपयोगिता और सर्वप्रियता ही सिद्ध होती है। हम परिषद् की ओर से इस कृपापूर्ण सहयोग के लिए आपका आभार स्वीकार करते हैं। साथ ही स्वर्गीय सारस्वतजी की आत्मा की शान्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थी हैं।

पाठक-समाज प्रस्तुत ग्रंथ का मूल-सह अनुवाद पढ़कर आनन्द का अनुभव करेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

वैद्यनाथ पाण्डेय
संचालक

१ ५ ६

भूमिका

कथासरित्सागर कहानी-साहित्य का शिरोमणि ग्रन्थ है। इस काश्मीर में पंडित सोमदेव ने त्रिगर्त या कुल्लू-कांगड़ा के राजा की पुत्री काश्मीर के राजा अनन्त की रानी सूर्यमती के मनो विनोद के लिए ई॰ १०६३ और १०८१ के बीच में लिखा। ग्रन्थ में २१३८८ पद्य हैं और लेखक ने उसे १२४ तरंगों में बाँटा है। इसका एक दूसरा विभाग लम्बकों में है जिनकी संख्या १८ है। यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में अनेक छोटी-बड़ी कहानियों का संग्रह है। सोमदेव ने यथार्थ ही इसे कथा-रूपी नदियों का सागर कहा है। अपने ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने मूल्यवान् सूचना के रूप में लिखा है—

बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्।

(प्रथम तरंग श्लोक तीन)

इसी सूचना को अन्तिम प्रशस्ति में इस प्रकार विशद रूप से कहा है—

नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोम्बुधिपूर्णचन्द्रः।
सोमेन विप्रवरभूरिगुणाभिरामरामात्मजेन विहितः खलु संग्रहोऽयम्॥

अर्थात्—कथासरित्सागर अनेक कथाओं के अमृत की खान बृहत्कथा नामक ग्रन्थ का सार है। बृहत्कथा पैशाची भाषा का ग्रन्थ था जिसकी रचना गुणाढ्य ने सातवाहन राजाओं के समय में प्रथम-द्वितीय शती के लगभग की थी। आन्ध्र-सातवाहन-युग में स्थल-जल-मार्गों पर अनेक सार्थवाह पोताधिपति एवं सांयात्रिक व्यापारी रात-दिन चहल-पहल रखते थे। टकटक करते तारों से भरी हुई लम्बी रातों में उनके मनोविनोद के लिये अनेक कहानियों की रचना स्वाभाविक थी जिनमें उन्हीं के देशान्तर-भ्रमण से उत्पन्न अनुभवों का अमृत निचोड़ा जाता था। पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक के पहाड़ों और जंगलों एवं गाँवों और नगरों की भिन्न-भिन्न भूमि को अपने पैरों से रूँदते हुए उनके कारवाँ सदा रेंगते रहते थे। इसी प्रकार पूर्व और पश्चिम के समुद्रों पर उनके प्रवहण सरपट छूटते थे। सातवाहन-नरेशों की मुद्राओं पर अंकित जलयानों के चित्र उस काल के सामुद्रिक व्यापार और द्वीपान्तर-सन्निवेश की सूचना देते हैं। उन्हीं के प्रयत्नों से बृहत्तर भारत का वह रूप सम्पन्न हो पाया जिसे मत्स्यपुराण के लेखक ने बारह द्वीपों और एकान्त्य दत्तनों से निर्मित 'आग्नेय महार्णव' कहकर प्रमाण किया है (आग्नेयार्णवमध्ये द्वीप दशैकादशपत्तन मत्स्य २४८।२२-२६)। उन्हीं उद्यमी सार्थों और नाविकों के अनुभवों की बहुमूल्य सामग्री को गुणाढ्य ने अपनी विलक्षण प्रतिभा से बृहत्कथा के रूप में बाँध दिया था।

गुणाढ्य के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज में पूर्व के महोदधि और पश्चिम के रत्नाकर समुद्रों के इस पार और उस पार के भूखंडों की अनेक कथाएँ सम्मिलित थीं इसकी सूचना बृहत्कथा की कई उत्तरकालीन वाचनाओं से प्राप्त होती है। बृहत्कथा के रूप में गुणाढ्य ने जो साहित्यिक सत्र विक्रमीय प्रथम शती के लगभग आरम्भ किया था वह वाङ्मय का सहस्र संवत्सर सत्र बन गया और संस्कृत-प्राकृत के कई प्रतिभाशाली रचयिताओं में उसमें भाग लिया। सोमदेव का कथासरित्सागर बृहत्कथा के विकास की अन्तिम कड़ी है। वह बृहत्कथा की काश्मीरी वाचना है, जिसमें सोमदेव की प्रतिभाशालिनी लेखनी ने यथेष्ट परिवर्तन किए हैं।

कथासरित्सागर के स्वरूप के यथार्थ परिचय के लिये बृहत्कथा और उसकी वाचनाओं के विषय में जानना आवश्यक है। उद्योतन सूरि द्वारा विरचित (७७९ ई०) कुवलयमालाकहा प्राकृत-भाषा का अति उत्कृष्ट कथा-ग्रन्थ अभी प्रकाश में आया है। उसके आरम्भ में बृहत्कथा को 'बड्डकहा' कहते हुए लिखा है—

सयलकलागमनिलया सिक्खावियकइयणस्स मुहयंदा।
कमलासणो गुणड्ढो सरस्सई जस्स वड्डकहा॥
(कुवलयमाला पृ० ४ पंक्ति २२)

बृहत्कथा क्या है साक्षात् सरस्वती है। गुणाढ्य स्वयं ब्रह्मा हैं। यह बृहत्कथा सब कलाओं की खान है। कविजन इसे पढ़कर शिक्षित बनते हैं। उस समय बृहत्कथा की प्रशंसा में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था? उद्योतन सूरि से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व बाण ने लिखा था—

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥

बाण के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उसके समय तक बृहत्कथा कामकथा के रूप में ही सुरक्षित थी। यही उसका मूल रूप था। 'कृतगौरीप्रसाधना' से सूचित होता है कि बृहत्कथा का आरम्भिक पाठ शिव-पार्वती के संवाद के रूप में था अर्थात् पार्वती ने शिवजी से कथा सुनाने की प्रार्थना की और उत्तर में शिवजी ने जो कथा सुनाई, वही बृहत्कथा हुई। सोमदेव ने कथासरित्सागर की पहली तरंग में इस भूमिका का उल्लेख किया है। तिलकमंजरी के कर्ता धनपाल ने (११वीं शती) बृहत्कथा की उपमा उस समुद्र से दी है जिसकी एक-एक बूँद से अन्य कितनी ही कथाओं की रचना हुई—

सत्यं बृहत्कथाम्भोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृताः।
तेनेतरकथाकन्थाः प्रतिभान्ति तदग्रतः॥

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञवृत्ति में कथाओं के भेद बताते हुए बृहत्कथा का उल्लेख किया है (लम्भाङ्किताद्भुतार्था नरवाहनदत्तचरित्रवद् बृहत्कथा अ० ८ पृ० ८)।

गुणाढ्य-कृत मूल बृहत्कथा अब प्राप्य नहीं है। ज्ञात होता है सोमदेव के बाद उस महान् ग्रन्थ का लोप हो गया। किन्तु कालक्रम से बृहत्कथा के जो रूपान्तर बने उनमें चार अबतक प्राप्त हैं। पहला बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह है। इसकी रचना संस्कृत में लगभग पाँचवीं शती में हुई। इसमें २८ सर्ग हैं पर ग्रन्थ अपूर्ण रहा। इसके कर्त्ता बुधस्वामी ने गुप्तकालीन स्वर्ण-युग की संस्कृति के साँचे में बृहत्कथा को ढालने का यत्न किया। विद्वान् इसे बृहत्कथा की नैपाली वाचना मानते हैं। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का देवनागरी-लिपि में मूल संस्करण और फ्रेंच-अनुवाद लाकोत ने पेरिस से प्रकाशित कराया था।

बुधस्वामी के प्रायः साथ ही या संभवतः १ वर्ष के भीतर बृहत्कथा का एक प्राकृत संस्करण जैन परम्परा में संघदासगणि ने वसुदेव हिण्डी के नाम से तैयार की। मूल बृहत्कथा में नरवाहनदत्त नायक था। वह वत्सराज उदयन का पुत्र था। कालिदास ने लिखा है कि मालवा के गाँवों में वहाँ के बड़े-बूढ़े उदयन की कहानी कहने में चतुर थे। उदयन से सम्बन्धित यह कहानी केवल वासवदत्ता और उदयन की प्रेम-कहानी तक सीमित न रही होगी। उतना अंश तो कथा सरित्सागर के आरम्भ में ही है किन्तु उदयन की कहानी का पूरा चक्र था। उसके ही पेटे में उसके पुत्र नरवाहनदत्त के विवाह की अनेक कथाएँ भी थीं। पुत्र ने पिता के पद-चिह्नों पर चलते हुए अपने जीवन में अनेक प्रेम-परिणयों का ठाट विकसित किया। नरवाहनदत्त के अनेक विवाहों के वर्णन करने के कारण मूल बृहत्कथा का स्वरूप कामकथा या शृंगारकथा जैसा था। नरवाहनदत्त देशान्तरों का भ्रमण करते हुए जहाँ जाता वहीं उसकी यात्रा का पर्यवसान एक विवाह के रूप में होता था। जैसे व्यापारी धन कमाकर सकुशल लौट आने पर सिद्ध यात्री बनते हैं वैसे ही नरवाहनदत्त के चरित्र में द्वीपान्तर-पर्यटन की सिद्ध यात्रा एक नई रानी के साथ विवाह के रूप में होती है।

कथासरित्सागर में जहाँ एक ओर अपने नाम के अनुसार १२४ तरंगों का विभाग है वहीं उसके १८ लम्बक भी हैं। यह लम्बक शब्द अपने मूल स्रोत की ओर संकेत करता है। लम्बक का मूल संस्कृत रूप लम्भक था। एक विवाह द्वारा एक स्त्री की प्राप्ति लम्भ कहलाती थी और उसी की कथा के लिए लम्भक शब्द प्रयुक्त हुआ। तदनुसार ही अलंकारवती लम्बक शशांकवती लम्बक इत्यादि अलग-अलग कथाओं के नाम पड़ गए। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन की टीका में स्पष्ट शब्दों में बृहत्कथा को लम्भों में विभक्त कहा है। यही लम्बक का मूल रूप ज्ञात होता है। वादीभसिंह-कृत गद्य-चिन्तामणि में नायक द्वारा पत्नी की प्राप्ति का वर्णन करनेवाले कथाखण्डों को लम्भ कहा है। स्मरण रखने की बात है कि वसुदेव हिण्डी के विभाग में तो लम्भक शब्द है किन्तु बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में ग्रन्थ का विभाग सर्गों में हुआ है अर्थात् वह एक सर्गबद्ध रचना है पर वहाँ भी प्रत्येक कथा के अन्त में लाभ शब्द आया है। ज्ञात होता है कि लम्भ या उसी के प्राकृत रूप लम्भ का प्रयोग गुप्तकाल में होने लगा था। सुबन्धु-कृत वासवदत्ता में जिसकी रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कुछ बाद पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई, बृहत्कथा को लम्भों से युक्त कहा है—बृहत्कथालम्भैरिव शालभञ्जिकानिवहैः अर्थात् बृहत्कथा के लम्भों

था परिच्छेदों में सालभञ्जिका या स्त्रियों की कथाएँ थी। दशरूपक के कर्ता धनंजय ने जो मालव राज मुंज का सभासद था रामायण के साथ बृहत्कथा का उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान किया गया है कि शायद रामायण की तरह बृहत्कथा की रचना भी सर्गों में हुई हो पर इस अनुमान के लिए पर्याप्त कारण नहीं है और यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि मूल पैशाची बृहत्कथा में ही कथाओं के विभाग को लम्भ या लम्भक जैसे मिलते-जुलते शब्द से सूचित किया गया था और उसी परम्परा में बना लम्भक शब्द सुबन्धु के समय में प्रयुक्त होने लगा था।

बृहत्कथा के मूल स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिए संघदासगणि-कृत वसुदेव हिण्डी की प्राप्ति उल्लेखनीय घटना है। 'हिण्डी' शब्द का अर्थ परिभ्रमण या पर्यटन है। संघदासगणि ने जो वसुदेव हिण्डी लिखी उसमें उन्होंने यद्यपि बृहत्कथा को ही आधार बनाया था किन्तु ग्रन्थ के ठाट और उद्देश्य में काफी परिवर्तन किए। जहाँ बृहत्कथा लौकिक कामकथा थी वहाँ संघदास ने वसुदेव हिण्डी को धर्मकथा का रूप दिया और जैनधर्म की प्रभावना करनेवाले कितने ही प्रसंगों को उसमें यथास्थान सम्मिलित किया। इससे भी अधिक महत्व का परिवर्तन कथा के नायक का बदल डालना था। पैशाची बृहत्कथा में वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के विवाहों की कहानियाँ थीं किन्तु संघदास ने अन्धकवृष्णि-वंश के प्रसिद्ध पुरुष वसुदेव को अपना नायक बनाया।

वसुदेव हिण्डी में २९ लम्भक हैं और वह महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में गद्य-शैली में है जिसमें कुल मिलाकर लगभग ११ हजार श्लोक प्रमाण की सामग्री है। वसुदेव हिण्डी के भी जैन परम्परा में दो रूप मिलते हैं। पहला ग्रन्थ तो यही संघदासगणि का रचा हुआ है। इसे प्रथम खण्ड कहते हैं। किन्तु इसी का एक दूसरा खण्ड उपलब्ध है जो मध्यम खण्ड के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी रचना धर्मदासगणि ने अपने पूर्ववर्ती संघदासगणि की रचना को आगे बढ़ाते हुए लगभग दो शती बाद की। उसकी भूमिका में धर्मदास ने कहा है—'कृष्ण के पिता वसुदेव ने १ वर्ष तक परिभ्रमण किया और अनेक विद्याधरों एवं राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। संघदासगणि ने वसुदेव के केवल २९ विवाहों का वर्णन किया था। शेष ७१ विवाहों की कथा उसने विस्तार-भय से छोड़ दी थी। उसे मध्यम या बीच के लम्भकों के साथ कथासूत्र मिलाते हुए मैं कह रहा हूँ।'[1]

धर्मदासगणि-कृत मध्यम वसुदेव हिण्डी में ७१ लम्भक १७ श्लोकों में पूर्ण हुए हैं। यह बड़ा ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है इसलिये इसकी कहानियों के विषय में विशेष कुछ नहीं

---

१ सुव्वइ य किर वसुदेवेणं वाससतं परिभमंतेणं इमम्मि भरहे विज्जाहरिंदनरवति-वाणरकुरुवंससंभवाणं कन्नाणं सतं परिणीतं तत्थ य सामाविजयमाइयाणं रोहिणीपज्जवसाणाणं एगुणतीसं लंभता संघदासवायएणं उवणिबद्धा। एगसत्तरिं च वित्थारभीरुणा कहामज्झे छड्डिया। ततो हं भो लोइयसिंगारकहापसंसणं असहमाणो आयरियसमासे अवधारेऊणं पवयणानुरागेणं आयरियनियोएण य तेसिं मज्झिल्ललंभयाणं गंथणत्थं अब्भुज्जओ हं। तं सुणह इओ पुव्वायरियाणुसारेण चेव।

कहा जा सकता। किन्तु अनुमान के आधार पर वसुदेव के पहले विवाह के ढंग पर ही जितनी और कथाएँ मिल सकीं या गढ़ी जा सकीं उन्हें जोड़-बटोरकर धर्मदास ने परिशिष्ट-रूप में एक नए ग्रंथ का ठाट खड़ा किया। इससे यह अनुमान करना उचित नहीं कि मूल वसुदेव हिण्डी में या उससे पहले की बृहत्कथा में विवाहों की कहानियों का ऐसा ही विस्तार था।

धर्मदासगणि की वसुदेव हिण्डी को मध्यम खण्ड कहा जाता है। इसका कारण यह है कि संघदास के ग्रन्थ का २९वाँ लम्भक जहाँ समाप्त होता था उससे आगे धर्मदास ने अपना कथा-सूत्र नहीं चलाया बल्कि उसने पहली वसुदेव हिण्डी की १८वीं कथा प्रियंगुसुन्दरी लम्भक के साथ अपने ७१ लम्भकों का सम्बन्ध जोड़ा है और इस तरह संघदास की वसुदेव हिण्डी के पेटे में अपने ग्रन्थ को भरा है। इसी से इसे वसुदेव हिण्डी का मध्य भाग या मध्यम खण्ड कहते हैं। वस्तु स्थिति यह है कि संघदासगणि का २९ लम्भकोंवाला ग्रन्थ अलग और अपने-आप में सम्पूर्ण था। उसके बाद धर्मदासगणि ने अपना ग्रन्थ अलग बनाया और चतुराई से उसे अपने पूर्ववर्ती ग्रंथ की एक खूँटी पर टाँग दिया।

संघदास की वसुदेव हिण्डी की रचना में इस समय छः प्रकरण पाए जाते हैं—(१) कथोत्पत्ति (२) धम्मिल हिण्डी (३) पीठिका (प्राकृत पेढिया) (४) मुख (५) प्रतिमुख (६) शरीर। इसमें शरीर के अन्तर्गत २९ लम्भकों की कहानियाँ हैं जिनमें से अन्तिम इस समय त्रुटित है और बीच के १९वें २ वें दो लम्भकों की कथाएँ भी नहीं हैं। १८वें प्रियंगुसुन्दरी लम्भक के बाद २१ वें केतुमती लम्भक की कथा शुरू होती है। यहीं १८ वें लम्भक की समाप्ति पर धर्मदासगणि ने अपने मध्यम खण्ड का पैबन्द जोड़ा है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कथोत्पत्ति नामक पहले प्रकरण के बाद ५ पृष्ठों में धम्मिल हिण्डी नाम का एक महत्वपूर्ण प्रकरण उपलब्ध होता है। किन्तु स्पष्ट है कि वह अपने किसी अज्ञात मूल स्थान से छटक कर यहाँ वसुदेव हिण्डी में अटकल्लू रूप में ही रक्खा गया है। इस धम्मिल हिण्डी प्रकरण में धम्मिल नामक किसी सार्थवाह पुत्र की कथा है जिसने देश-देशान्तरों में जाकर ३२ विवाह किए। मूल ग्रन्थ में इसे धम्मिल चरित्र कहा गया है और धम्मिल शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि गर्भ के समय उसकी माता को धर्माचरण के विषय में दोहद उत्पन्न हुआ था। अतएव पुत्र का नाम धम्मिल रक्खा गया। बृहत्कथा के दूसरे रूपान्तरों में जैसे बृहत्कथामंजरी या कथासरित्सागर में धम्मिल चरित्र की गन्ध भी नहीं है। धम्मिल हिण्डी का वातावरण सार्थवाहों के संसार से लिया गया है। इसे अपने-आप में एक स्वतन्त्र रचना माना जा सकता है जिसने मूल ठाट की कुंजी नरवाहनदत्त या वसुदेव हिण्डी की तरह ही कई विवाहों की कहानियों पर आश्रित है। धम्मिल शब्द का प्रयोग पहले-पहल गुप्तकालीन संस्कृत-भाषा में पाया जाता है। एक प्रकार के केशबन्ध को धम्मिल केश कहते थे जिसमें बालों का एक जूड़ा बनाकर सिर के अग्रभाग या मध्य भाग में बाँधा जाता था। इस शब्द की व्युत्पत्ति द्रमिल या तमिल से संभाव्य है। हो सकता है कि दक्षिण भारत के किसी प्रसिद्ध सार्थवाह का नाम इसके मूल में रहा हो और सिलप्पधिकारं नामक तमिल-काव्य में व्यापार का जो वातावरण है उसकी पृष्ठभूमि में

धम्मिल की कथाओं की रचना हुई हो। वस्तुतः धम्मिल हिण्डी में धनवती सार्थवाह के पुत्र धनवसु के विषय में उल्लेख है कि उसने जहाज लेकर यवन विषय या यवन देश की व्यापारिक यात्रा की थी और अपने साथ बहुत से सांयात्रिक व्यापारियों को ले गया था। शिलप्पादिकारं के अनुसार यवन-देश के व्यापारियों का घनिष्ठ सम्बन्ध पुहार या कावेरीपत्तन के व्यापारियों के साथ था। बृहत्कथा की किसी दूसरी वाचना में धम्मिल हिण्डी जैसा कोई अंश नहीं पाया जाता। कम-से-कम बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी और सोमदेव-कृत बृहत्कथासरित्सागर में इस तरह का धम्मिल पैबन्द नहीं है।

वसुदेव हिण्डी में धम्मिल्ल हिण्डी के अलावा छः विभाग थे—अर्थात् कथा की उत्पत्ति पीठिका मुख प्रतिमुख शरीर और उपसंहार। कथोत्पत्ति पीठिका और मुख इनमें कथा का प्रस्ताव हुआ है। प्रतिमुख में वसुदेव आत्मकथा का आरम्भ करते हैं। सत्यभामा के पुत्र सुभानु के लिए १ ८ कन्याएँ इकट्ठी की गई थीं। किन्तु उनका विवाह रुक्मिणी के पुत्र साम्ब से कर दिया गया। इस पर प्रद्युम्न ने वसुदेव से कहा—देखिए, साम्ब ने अन्तःपुर में बैठे-बैठे १ ८ बहुएँ पा लीं जब कि आप १ वर्ष तक उनके लिए घूमते फिरे। इसके उत्तर में वसुदेव ने कहा—'साम्ब तो कुएँ का मेंढक है, जो सरलता से प्राप्त भोग से सन्तुष्ट हो गया। मैंने तो पर्यटन करते हुए अनेक सुख और दुःखों का अनुभव किया। मैं मानता हूँ कि दूसरे किसी पुरुष के भाग्य में इस तरह का उतार चढ़ाव न आया होगा। वस्तुतः वसुदेव के इस छोटे-से सटीक वाक्य में उस महान् युग की हलचल का बीज समाया हुआ है। उस समय के बेचैन हृदय पश्चिम के यवन-देश से पूर्व के यवद्वीप और सुवर्णभूमि तक के विशाल क्षेत्र को रात दिन खूँदते रहते थे। बाण के शब्दों में कहा जाय तो उनके पैरों में मानों कोई द्वीपान्तरसंचारी पादलेप लगा हुआ था। वे यह मानते थे कि द्वीपान्तरों की यात्रा किए बिना लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं होती (अपरिभ्रमतां श्रीसमाकर्षणं भवति)। मत्स्यपुराण के लेखक ने समुद्र को ललकारते हुए कहा है—हे उत्ताल तरंगोंवाले महार्णव आजतक लंका आदि द्वीपों में निवास करनेवाले राक्षस ही तुम्हारे वश में आते-जाते रहे हैं जिसके कारण उसमें क्षीम उठ खड़ी हुई है। अब अपने उस बल को शिखाओं से बढ़े हुए आगम में बरत डालो क्योंकि देवाधिदेव शिव अपने परिवार के साथ तुम्हारा संतरण करना चाहते हैं—

महार्णवाः कुरुत विक्षोभमं पयः सुरपीबाणमम महासन्निवर्तनम्।

(मत्स्यपुराण, १५४—४५५)

जैसा सभापर्व में आया है, पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व की समुद्र-यात्राओं का तांता उस समय लगा रहता था (सभा ४९।११)। दिव्यावदान में तो यहाँतक कहा है कि महासमुद्र की यात्रा किए बिना अर्थोपार्जन की आशा ऐसी है, जैसे ओस की बूँदों से घड़ा भरने का प्रयत्न।

वसुदेव ने प्रद्युम्न को जो उत्तर दिया वह मानव-हृदय के इन भावों के सर्वथा अनुकूल था। निरन्तर पर्यटन और दूर-दूर के देशों में परिभ्रमण यही गुप्तों के स्वर्णयुग में जीवन की टेक बन गई थी। एक बार नहीं कई-कई बार लोग जोखिम उठाकर भी समुद्रों की यात्रा करते थे।

शूर्पारक-निवासी पूर्ण नाम के सार्थवाह के कथन से यह बात सूचित होती है— आर्यो, महासमुद्र की यात्रा में दुःख बहुत है सुख थोड़ा है। बहुत-से जाते हैं पर थोड़े ही लौट पाते हैं। क्या आपने ऐसे किसी का नाम सुना है जो छः बार महासमुद्र की यात्रा से सफलता के साथ अपने जहाजों को लेकर लौट आया हो?[1] अवश्य ही सातवाहन-युग की सामुद्रिक यात्राओं के वातावरण में जिन कहानियों का ठाट रचा गया और बृहत्कथा के रूप में गुणाढ्य ने जिनका संग्रह किया उनकी मूल भावना इसी प्रकार की जल-थल-सम्बन्धी दुःसाहसों से पोषित थी। उसका भरपूर प्रभाव वसुदेवहिण्डी और बृहत्कथा की दूसरी उत्तरकालीन वाचनाओं पर पड़ा। सोमदेव के कथासरित्सागर में भी उत्तर-पश्चिम की ओर अपरगांधार की राजधानी पुष्कलावती तक का उल्लेख है। वहाँ उत्तरापथगामी वणिक्पुत्र म्लेच्छभूयिष्ठ भूमि को पार करते हुए पहुँचते थे और उनकी इस यात्रा में महाव्रतिक नामक शैव योगी भी उनके साथी के रूप में वितस्ता के उस पार के देशों में चक्कर लगाते थे। दूसरी ओर समुद्रशूर वणिक की कथा है जो पूर्व दिशा में कटाहद्वीप कर्पूरद्वीप और स्वर्णद्वीप तक पहुँचकर लौटते हुए नारिकेलद्वीप में आया और फिर सिंहलद्वीप में उतरा। इनमें से नारिकेलद्वीप वर्तमान निकोबार का पुराना नाम था जिसे राजेन्द्र चोल के लेखों में निक्कवारं कहा गया है। सुवर्णद्वीप सुमात्रा की संज्ञा थी जहाँ आठवीं शती में शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने विशाल साम्राज्य की स्थापना की जो लगभग तीन शती तक विजयशाली रहा। सोमदेव के कानों में अवश्य ही शैलेन्द्रों के यश की भनक पड़ी होगी क्योंकि दो कहानियों में उन्होंने स्वर्णद्वीप का उल्लेख किया है (तरंग ५४ श्लोक १   तरंग ५६ श्लोक ६२)। एक कहानी में चन्द्रस्वामी नाम का सार्थवाह अपने खोए हुए पुत्रों को ढूँढने के लिये पहले नारिकेलद्वीप में जाता है (कथा ५६।५६) और फिर जहाज पर बैठकर समुद्रमार्ग से कटाहद्वीप पहुँचता है (५६।६) और वहाँ से आगे बढ़कर कर्पूरद्वीप तक चला जाता है। कर्पूरद्वीप से स्वर्णद्वीप और स्वर्णद्वीप से सिंहलद्वीप लौटकर वहाँ से चित्रकूट या चित्तौड़ की यात्रा करता है (कथा ५६। ६१ ६२ ६३)। कटाहद्वीप मलय प्रायद्वीप का एक भाग था जिसे इस समय केडा कहते हैं और राजेन्द्र चोल के लेखों में उसे कडारं कहा गया है। कुमारदास के जानकीहरण-काव्य में भी कटाहद्वीप का उल्लेख आया है।[2] कटाहद्वीप की यात्रा में नारिकेलद्वीप एक पड़ाव के समान था। उसके वर्णन में सोमदेव ने लिखा है—

> अस्ति मध्ये महाम्भोधेः श्रीमद्द्वीपवरं महत्।
> नारिकेलद्वीपाख्यं ख्यातं जगति सुन्दरम्॥ (५६।१४ १५)

---

१ आर्याः महासमुद्रो बहुदीनवोऽल्पास्वादः बहवोऽवतरन्ति अल्पा व्युत्तिष्ठन्ति। अपश्योऽस्ति कश्चिद् युष्माभिर्दृष्टः श्रुतो वा षट्कृत्वो महासमुद्रात् ससिद्धयानपात्रः प्रत्यागतः॥
—(दिव्यावदान पूर्णावदान पृ० २४-२५)।

२ समुद्रमुत्सङ्गरूप पतत्तरीयस्तोयोर्मिपातो गुरुरश्मिराशिः।
निताम्ततमतापितपूर्वकाष्ठः प्रोत्स्वेदयामास नृपं कटाहे॥ (१।१०)

कर्पूरद्वीप से आने जिस कपूरद्वीप का वर्णन है वह निर्विवाद रूप से वही द्वीप होना चाहिए और संभव है यह वराह नामक असुर की जन्मभूमि आजकल का बराम नामक द्वीप हो। जिस कथासूत्र में नारिकेर द्वीप कहते थे। कथासरित्सागर में हिरण्यपुर व कनकपुर का भी उल्लेख है जहाँ के राजा की पुत्री मलयवती के साथ विक्रमादित्य ने विवाह किया था।[1]

गुणाढ्य से लेकर सोमदेव के समय तक भारतीय कहानियों के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज का उल्लेख ऊपर किया गया है। उसके वस्तुनिष्ठ परिज्ञान के लिए लोकभाषा में हिण्डी इस छोटे सार्थक शब्द का निर्माण किया गया। उसी के अनुसार संघदास ने गुणाढ्य-कृत बृहत्कथा की शैली को तो अपनाया किन्तु अपने ग्रन्थ का नाम वसुदेव हिण्डी रख दिया। प्रथम में कुछ पात्रों ने बड़े वसुदेव का जिस प्रकार छोड़ दिया था उसके वसुदेव के मन में आप-बीती सुनाने के लिए एक कचहरी-सी उत्पन्न हो गई और २९ लम्भकों के रूप में उन्होंने अपने २९ विवाहों की कहानियाँ सुना डालीं। इन्हीं से वसुदेव हिण्डी ग्रन्थ का 'शरीर' बना है। ग्रंथ के अन्त में उपसंहार नाम का अन्तिम भाग भी था जो इस समय प्राप्त नहीं है।

बृहत्कथा के प्राचीनतम रूपान्तर वसुदेव हिण्डी के विषय में प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् आल्सडोर्फ ने बहुत अनुसन्धान के बाद जो इस प्रकार लिखा है वह ध्यान देने योग्य है— गुणाढ्य की बृहत्कथा निःसन्देह प्राचीन भारतीय साहित्य का एक रत्नमय और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस नष्ट ग्रन्थ के ठीक प्रकार पुनः गठन का कार्य अत्यन्त रोचक है। सोमदेव कृत कथासरित्सागर और क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी के रूप में काश्मीरी रूपान्तरों की दो कृतियाँ जबतक विदित थीं तबतक बृहत्कथा के स्वरूप का अनुमान करना सरल था। किन्तु जब उससे आश्चर्यजनक रीति से भिन्न बृहत्कथा का नैपाली रूपान्तर बुधस्वामी के बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के रूप में प्राप्त हुआ तब यह समस्या कुछ कठिन हो गई। फ्रेंच विद्वान् लाकोते ने 'गुणाढ्य एवं बृहत्कथा' नामक १९ ८ में प्रकाशित अपनी पुस्तक में इस क्लिष्ट प्रश्न को विलक्षण निपुणता से सुलझाने का प्रयत्न किया और वे इस निर्णय पर पहुँचे—'प्रथम दो काश्मीरी रूपान्तरों (कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी) में गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा अत्यन्त भ्रष्ट एवं अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। इन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मूल ग्रन्थ का संक्षिप्त सारोद्धार कर दिया गया है और इनमें मूल के कई अंश छोड़ भी दिए गए हैं एवं कितने ही नये अंश प्रक्षेप रूप में जोड़ दिये गये हैं। इस तरह मूल ग्रन्थ की वस्तु और आलोचना में बेहद हेरफेर हो गये। फलस्वरूप इन काश्मीरी कृतियों में कई प्रकार की असंगतियाँ आ गईं और जोड़े हुए अंशों के कारण मूलग्रन्थ का स्वरूप पर्याप्त भ्रष्ट हो गया। इस स्थिति में बुधस्वामी के ग्रन्थ से वस्तु की आलोचना द्वारा मूल प्राचीन बृहत्कथा का सच्चा चित्र प्राप्त होता है। किन्तु खेद है कि यह चित्र पूरा नहीं है क्योंकि बुधस्वामी के ग्रन्थ का केवल चतुर्थांश ही उपलब्ध है। इसलिए केवल उसी अंश का काश्मीरी कृतियों के साथ तुलनात्मक मिलान संभव है।

---

१ दृष्टं मया तत्कनकपुरं नाम महापुरम्।
समतामुपमुत्तीर्य वारिधिं द्वीपमप्ययम्॥ (१२२।७९)

'लाकोत के उपर्युक्त मत के साथ श्रीविन्टरनित्स सहमत हैं (हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग १)। किन्तु आज तक मिले हुए रूपान्तरों के आधार से मूल ग्रन्थ की पुनःघटना करने के प्रयत्न को व्यर्थ मानते हैं। उनके मतानुसार लाकोत का मत संदिग्ध है और अपर्याप्त सामग्री की सहायता से प्रतिपादित किया गया है। विन्टरनित्स के इस कथन में इतना ही यथार्थ है कि जबतक और अधिक सामग्री न मिले तबतक लाकोत के निर्णयों में बहुत सुधार की गुंजायश नहीं। जब १९०८ में लाकोत ने अपना ग्रन्थ लिखा था उसके साथ बृहत्कथा की कठिन समस्या को सुलझाने के लिये कोई उपयोगी सामग्री न मिली थी।

"अब जैनों के पास काश्मीरी और नैपाली इन दोनों रूपान्तरों से विस्तृत बृहत्कथा का एक रूपान्तर प्राप्त हुआ है जो ध्यान खींचता है और आश्चर्यजनक है। नरवाहनदत्त के पराक्रम को जैनों ने कृष्ण के पिता वसुदेव पर आरोपित कर दिया है। वसुदेव हिण्डी (वसुदेव का परिभ्रमण) यह जैनों की पुरानी कथाओं में एवं विश्व के प्राचीन कथा-साहित्य में एक महत्त्व का ग्रन्थ है। वर्षों पहले प्रकाशित हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में श्रीनेमिनाथ चरित्र के अन्तर्गत वसुदेव का चरित्र भी आया है। उसमें जैन बृहत्कथा की रूपरेखा दिखाई पड़ती है। उसमें एवं श्रीकृष्ण की प्राचीन कथाओं से सम्बन्धित जैन ग्रन्थों में इसका संक्षिप्त सार प्राप्त होता है। किन्तु कुछ वर्ष हुए, भारतवर्ष में संघदासगणि कृत जो वसुदेव हिण्डी नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ है वह अपने विस्तार और विषय के कारण जैन बृहत्कथा में हुए परिवर्तनों को जान लेना सम्भव करता है। आवश्यकचूर्णि में तीन बार वसुदेव हिण्डी का उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि ६   ईसवी के आसपास इसकी रचना की अन्तिम मर्यादा थी। ग्रन्थ की अत्यन्त प्राचीन भाषा से भी इसका रचना-काल प्राचीन सूचित होता है। लगता है कि इस नए मिले हुए प्राकृत-ग्रन्थ में बृहत्कथा का प्राचीनतम रूपान्तर प्राप्त हो गया है। किन्तु इस ग्रन्थ में बृहत्कथा की वस्तु को श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के आधार पर गूंथ दिया गया है जो कृष्णकथा श्रीयाकोबी के मतानुसार जैनों में ईसवी सन् से ३   वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। श्रीयाकोबी मानते हैं कि ईसवी-सन के प्रारम्भ तक जैन पुराण-कथा सम्पूर्ण बन चुकी थी। जिस समय जैनों ने बृहत्कथा को अपनी पुराण-कथा के कलेवर में शामिल किया उस समय वह एक सुप्रसिद्ध कवि की कृति होने के अतिरिक्त देव कथा की सभ्यता से प्रकाशमान प्राचीनतर युग की रचना मानी जाने लगी थी जिसकी महत्ता पुराण एवं महाकाव्यों की कथाओं के समान हो गई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बृहत्कथा के जैन रूपान्तर से मूल बृहत्कथा का रचनाकाल कई शती प्राचीनतर मानना पड़ता है। श्रीबूलर ने गुणाढ्य का समय ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती में और लाकोत ने तीसरी शती में माना था। उसके बदले यदि बहुत प्राचीन समय में नहीं तो उसे ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती पूर्व में मानना चाहिए।

'लाकोत के मत के अनुसार नष्ट हुई बृहत्कथा की आयोजना इस प्रकार थी—वत्साधिप नाम से उदयन और उसकी रानी वासवदत्ता एवं पद्मावती की सुविदित कथा थी। वासवदत्ता का पुत्र नरवाहनदत्त जब युवा राजकुमार की अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसका गणिकापुत्री

मदनमंचुका से प्रेम हो गया। उसने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लिया। एक विद्याधर राजा मदनमंचुका को हर ले गया। मदनमंचुका की खोज करते हुए नरवाहनदत्त ने विद्याधर-लोक और मनुष्य-लोक में नये-नये पराक्रम किए। दीर्घ पराक्रम के बाद मदनमंचुका से उसका मिलन हुआ, वह स्वयं विद्याधर चक्रवर्ती बना और मदनमंचुका उसकी पटरानी हुई। इससे पूर्व उसके पराक्रमों की सूची में वह हर बार एक स्त्री से विवाह करता है। इस प्रकार के प्रत्येक पराक्रम के अन्त में गुणाढ्य ने उसका लम्भ यह नाम रखा। इस रीति से नरवाहनदत्त की कथा वेगवती लम्भ, अजिनावती लम्भ, प्रियदर्शना लम्भ इत्यादि प्रकरणों में विभक्त थी।

जैन परम्परा के अनुसार (वसुदेव हिण्डी में) श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा की आयोजना इस प्रकार हुई—वसुदेव अपने बड़े भाई के साथ अनबन होने के कारण घर छोड़कर चले गए और पीछे उनके परिभ्रमण के दरम्यान नरवाहनदत्त की तरह पराक्रम करते रहे और अन्त में अपनी अन्तिम पत्नी के रूप में उन्होंने रोहिणी को प्राप्त किया। इस समय अकस्मात् वसुदेव का अपने बड़े भाई के साथ मेल हो गया और वे अपने कुटुम्ब के साथ मिलकर रहने लगे। मदनमंचुका से मिलने और राज्याभिषेक के प्रसंग इस कथा में छोड़ दिए गए हैं क्योंकि कृष्ण की कथा के प्रसंग से उनकी संगति न थी। पर मदनमंचुका के साथ प्रणय प्रसंग का जो विस्तृत वर्णन अन्तिम विवाह में आता था उसे श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के साथ जोड़ दिया गया यह कुछ समझ में नहीं आता। मदनमंचुका के अपहरण का प्रसंग भी वसुदेव के पराक्रमों के वर्णन में छोड़ दिया गया है। कथा के मूलभूत पात्र मदनमंचुका के स्थान में यहां दो पात्र हो गए हैं गणिकापुत्री सुहिरण्या और राजकन्या सोमश्री।

"इस तरह मूल बृहत्कथा की वस्तु और उसकी आयोजना की कई एक अनावश्यक घटनाएँ इसमें होने से नष्ट हुए मूल ग्रन्थ के स्वरूप के विषय में जैन रूपान्तर की प्राप्ति से कई महत्त्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होते हैं।

"इससे आगे उल्लेखनीय बात यह है कि काश्मीरी रूपान्तर (कथासरित्सागर) में १८ लम्बकों में कथा विभक्त है। यहां भ्रष्ट रूप में प्राप्त लम्बक शब्द की बात हम नहीं कहते। 'भ' के बदले 'ब' यह शब्द लाकोत के अनुसार स्वाभाविक रीति से मूल ग्रन्थ का नहीं है। लम्बक (लम्भक) का अर्थ वह प्रकरण हो सकता है जिसमें नरवाहनदत्त एक पत्नी प्राप्त करता है। पर उदयन की कथा में और ग्रन्थ के आरम्भिक भाग में भी यह शब्द आता है। तो मानना पड़ेगा कि गुणाढ्य के समय तक उसके अर्थ का विस्तार नहीं हुआ था। बुधस्वामी का बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह काव्यों के समान सर्गों में विभक्त है और उसके उपलब्ध अंश में २८ सर्ग हैं। सब नहीं तो अनेक सर्गों के अन्त में लम्भ शब्द के बदले उसका पर्याय 'लाभ' शब्द मिलता है और आगे चल कर नियम से एक-एक लाभ में कई संख्याबद्ध सर्गों का समावेश कर दिया जाता है। लाकोत मानते हैं कि गुणाढ्य की कृति रामायण की तरह अलग-अलग काण्डों में विभक्त थी एवं मुख्य कथा-भाग लम्भों के भिन्न काण्डों में रखा गया था। जैन रूपान्तर में लम्भ का प्रयोग अपने मूल अर्थ में अर्थात् नरवाहनदत्त की (यहां वसुदेव की) विजय के वर्णनात्मक मुख्य कथा भाग के प्रकरणों

के नामकरण के लिये हुआ है। इस मुख्य कथा-भाग को 'शरीर' कहा गया है और ग्रन्थ के ये अधिकारों में यह पांचवां है। कथा की उत्पत्ति पीठिका मुख और प्रतिमुख ये चार अधिकार उससे पहले आते हैं। 'शरीर' के पीछे उपसंहार होना चाहिए था पर ग्रन्थ का अन्तिम भाग त्रुटित होने से वह नहीं मिलता। मुख्य कथा भाग-रूप 'शरीर' की अपेक्षा से लम्भों का समूह संभवतः गौण था। मूल प्राचीन बृहत्कथा में आमूलचूल विभागीकरण नहीं था। प्रस्तावित कथा प्रकरण के बाद दूसरे नामकरण के साथ संख्या बद्ध लम्भ थे और उसके बाद उपसंहार था। संस्कृत रूपान्तरों में केवल बृहत्कथामंजरी में उपसंहार का निर्देश है पर लाकोत उपसंहार को मूलकथा का गौण अंग गिनते हैं। वसुदेव हिण्डी से सिद्ध होता है कि मूल बृहत्कथा में उपसंहार था। सोमदेव ने अपने कथासरित्सागर में उपसंहार निकाल दिया है पर उसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र में प्राप्त कुछ प्रकीर्ण बातें बन के बाद सोमदेव ने नरवाहनदत्त के तमाम लम्भकों की एक सूची अपने ग्रन्थ के आरम्भ में दी है। उससे ज्ञात होता है कि बृहत्कथामंजरी के आरम्भ में भी मूलग्रन्थ की विषय-सूची थी जो अब नष्ट हो गई है।

अपने ग्रन्थ में कथा-उत्पत्ति यह मुख्य गौण कथाभास है पर पीठिका और मुख की बाबत ऐसा नहीं। बुधस्वामी की कृति में 'कथामुख' यह तीसरे सर्ग का नाम है पर पहले बेनाम के दो सर्ग भी कथामुख के ही प्रारम्भिक भाग हैं। अर्थ-संगति की दृष्टि से कथामुख में जो होना चाहिए वह उसमें है, अर्थात् कथा कहनेवाले का परिचय। कथा कहने का प्रसंग किस रीति से उपस्थित हुआ यह उसमें बताया गया है। नरवाहनदत्त अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त उत्तमपुरुष में कहते हैं। काश्मीरी लेखकों ने दूसरे लम्भक का नाम कथामुख लम्भक रखा है। इसमें उदयन की कथा आती है। बुधस्वामी के कथामुख में जो भाग आता है वह (कथामुख के लेखकों ने) उस ग्रन्थ के अन्त में रखा है और नरवाहनदत्त आत्म-वृत्तान्त कहते हैं ऐसा भी स्पष्ट उल्लेख स्वयं नहीं किया। इतना ही नहीं कथा का वर्णन प्रथमपुरुष में तटस्थ रीति से किया है। नेपाली रूपान्तर की सचाई और काश्मीरी रूपान्तर की भ्रष्टता सिद्ध करने में लाकोत का यही मुख्य प्रमाण है। इस अनुमान को जैन रूपान्तर से भी समर्थन मिलता है। इसमें भी वसुदेव अपना सब वृत्तान्त आत्मकथा के रूप में उत्तमपुरुष में ही कहते हैं। 'कथामुख' अवश्य उसमें तैयार किए हुए प्रतिमुख द्वारा बताया गया है कि आत्मकथा किस प्रकार कही गई।

काश्मीरी लेखक सोमदेव और क्षेमेन्द्र ने कथापीठ का पहला लम्भक कहा है। गुणाढ्य कवि-संबंधी कथानक उसका विषय है। उसके देखने से ज्ञात होता है कि गुणाढ्य कवि-संबंधी कथानक का मूल कथा में होना संभव न था। बुधस्वामी के रूपान्तर में कथापीठ ढाचा देखने में नहीं आता। किन्तु जैसा ऊपर कहा है बुधस्वामी का आरम्भिक भाग ही कथामुख है। इस आधार से लाकोत निश्चित रूप से मानते हैं कि गुणाढ्य के मूल ग्रंथ में ही कथापीठ अंग नहीं था पर वसुदेव हिण्डी के पीठिका (पेढिया) भाग से तो यह मानना पड़ता है कि बृहत्कथा में भी कथापीठ नामक भाग था। इस कथापीठ का विषय क्या था यह एक प्रश्न है। गुणाढ्य-संबंधी कथानक तो इसमें न रहा होगा और वसुदेव हिण्डी की पीठिका में कृष्ण-संबंधी कथा का जो भाग है वह

नहीं किए जा सकते थे वे भी अब साबित हो गए हैं। एक तरफ प्राचीन मूल बृहत्कथा का एक बड़ा भाग काश्मीरी रूपान्तरों में लुप्त हो गया है दूसरी ओर काश्मीरी रूपान्तरों का एक बड़ा अंश मूल बृहत्कथा से उत्पन्न नहीं हुआ। अंत में यह भी साबित होता है कि काश्मीरी लेखकों के सामने बृहत्कथा का हाड़-पंजर मात्र था। किन्तु वसुदेव हिण्डी और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह इन दो रूपान्तरों के रचयिताओं के सामने मूल बृहत्कथा का एक अत्यन्त रस-पूर्ण जीवन्त और अतीव की सामग्री से भरा हुआ स्वरूप था। काश्मीरी रूपान्तरों की ऊपर कही हुई त्रुटियों के कारण अब इसकी छानबीन होना कठिन है कि बुधस्वामी में गुणाढ्य के मूल ग्रंथ की वस्तु-संकल्पना और उसकी प्राणवत्ता का किस हद तक उत्तराधिकार सुरक्षित है। किन्तु यहाँ बुधस्वामी के विषय म अपना विश्वास बहुत अंश में दृढ़ होता है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह एवं वसुदेव हिण्डी के बीच में संख्या-संबधी भेदों के कारण यह कहना कठिन है कि इन दोनों ग्रंथों में कौन किसका आधार था। पर, जिन अंशों के संबंध में विचार हो सकता है उनसे ज्ञात होता है कि बृहत्कथाश्लोकसंग्रह और वसुदेव हिण्डी के बीच में छोटी-से-छोटी बातों में एवं वर्णन की सम्पूर्ण कला में इतना रोचक साम्य है कि यह मानने में संदेह नही रहता कि दोनों के लेखकों के सम्मुख कवि गुणाढ्य का मूल रूप कम-से-कम अन्तर के साथ विद्यमान था। अन्त के कथामार्गों में तो वसुदेव हिण्डी प्राचीन बृहत्कथा का विशिष्ट रसप्रद और काव्यिक नमूना है। एवं सर्वांश में अवलोकन करने से भी यह जान पड़ता है कि मूल बृहत्कथा की काव्यमिकता एवं गुणाढ्य की काव्य-शक्ति अपने अधिकांश जीवन्त रूप में वसुदेव हिण्डी में विद्यमान है। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के आधार पर विण्टरनित्स ने जो बुधस्वामी की भारी प्रशंसा की है उसका अधिकांश श्रेय गुणाढ्य को ही मिलना चाहिए।[1]

गुणाढ्य की बृहत्कथा किसी समय व्यास-कृत महाभारत के समान अपने देश के काव्य और कथा-साहित्य पर छाई हुई थी। आज वह काल के विशाल अंतराल में न जाने कहाँ विलीन हो गई है। इसलिए उसके विषय में उसके उत्तरकालीन रूपान्तर एवं वाचनाओं से ही अनुमान की कुछ कड़ियाँ जोड़नी पड़ती हैं। जिस महती कथा के विषय में कालिदास सुबन्धु बाण दण्डी धनिक गोवर्धन आदि आचार्यों ने इस प्रकार प्रशंसा के शब्द लिखे हैं सचमुच वह भारतीय वाङ्मय की कोई अद्भुत रचना थी। कोल्हार-स्टेज के गुम्मा रेड्डीपुर से प्राप्त एक ताम्रपत्र में जो राजा दुर्विनीत के चालीसवें वर्ष (छठी शती के पूर्वारम्भ) में दिया गया कहा है कि राजा दुर्विनीत ने एक व्याकरण किरातार्जुनीय के पंद्रह सर्गों की टीका और बृहत्कथा का संस्कृत में एक

---

[1] दे श्री सोमीलाल के साण्डेसरा-कृत वसुदेव हिण्डी का गुजराती भाषान्तर, पृष्ठ ९११। आल्सडोर्फ के Eine neve Version der Verlorenen Brhatkathā des Gunāḍhya (A new vernon of the lost Brhatkathā of Gunāḍhya) नामक जर्मन-निबन्ध का गुजराती अनुवाद श्री रसिकलाल पारिख ने किया था।

रूपान्तर किया था।[1] न केवल भारतवर्ष वरन् बृहत्तर भारत के द्वीपान्तरों में भी गुणाढ्य का यश छा गया था। कम्बोज के महाराज यशोवर्मन् के लेखों में तीन बार गुणाढ्य का उल्लेख आया है जहाँ उसे प्राकृतप्रिय विशेषण दिया गया है। बारहवीं शती तक यह ग्रन्थ विद्यमान था और उसके बाद उसका कोई चिह्न शेष न रहा यह आश्चर्य की बात है। हो सकता है कि सोमदेव की अद्भुत सफलता ने गुणाढ्य को नामशेष कर दिया। क्षमेन्द्र के अनुसार गुणाढ्य का जन्म गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर में हुआ था। सोमदेव से भी इसका समर्थन होता है। यह सातवाहन वंश के सम्राट् हाल या शालिवाहन की राजधानी थी। विद्वानों के अनुसार शालिवाहन या सातवाहन प्रथम शती ईसवी में हुए। लाकोत का अनुमान है कि गुणाढ्य का जन्म मथुरा में हुआ था बाद में वे उज्जयिनी या कौशाम्बी में जाकर रहने लग थे।

बुधस्वामिन् का बृहत्कथाश्लोकसंग्रह बृहत्कथा की नैपाली वाचना कहलाती है। इसमें अट्ठाईस सर्गों में लगभग ४५३९ श्लोक हैं। या तो मूल में ही यह ग्रंथ अपूर्ण रह गया था या इस समय त्रुटित मिला है। इसमें नरवाहनदत्त अपने अट्ठाईस विवाहों में से केवल छः की कथा कह पाया है। यदि इसी ढर्रे पर सारी कथा कही जाती तो लगभग १९ हजार श्लोकों में पूरी कहानी का फैलाव होता और नरवाहनदत्त के राज्य-विस्तार और अभिषेक की कथा मिलाकर इसमें लगभग २५ सहस्र श्लोकों का विस्तार बैठता और सर्गों की संख्या भी १   से कम न होती।

काव्य के आरम्भ में उज्जयिनी की प्रशंसा और वहाँ के शासक महासेन प्रद्योत की मृत्यु का उल्लेख है। उसके बाद उसका पुत्र गोपाल गद्दी पर बैठा किन्तु पितृहत्या होने के अपयश से उसने राज्य छोड़ दिया और उसका भाई पालक राजा हुआ। उसने भी राज्य त्याग दिया और गोपाल का पुत्र अवन्तिवर्धन सिंहासन पर बैठा। उसके उपरान्त सुरसमंजरी के साथ उसके प्रेम की कथा आती है और चौथे सर्ग से नरवाहनदत्त की प्रेम-कहानियाँ ग्रंथ में स्थान घेरती हैं। बुधस्वामिन् भी कोई कम प्रतिभाशाली लेखक न था। उसने लगभग पाँचवीं शताब्दी में अपने ग्रंथ की रचना की और गुप्त युग की स्वर्ण-संस्कृति की अनेक संस्थाओं के वातावरण में प्रवाहमयी संस्कृत-शैली में ग्रंथ का निर्माण किया।

बुधस्वामिन् के बाद संस्कृत-वाचना की प्राप्ति न होकर संघदासगणि-कृत वसुदेव हिण्डी की प्राकृत-वाचना ही अबतक प्राप्त हुई है जिसके संबंध में आवश्यक विवरण ऊपर दिया जा चुका है और जिसने बृहत्कथा के टूटे हुए पर्वों का उद्घाटन करने में पर्याप्त योग दिया है।

इसके अनन्तर क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी का स्थान आता है। क्षेमेन्द्र काश्मीर के राजा अनन्त (१ २९ १ ६४) की सभा के सभासद थे। उनका दूसरा नाम व्यासदास था। उन्होंने

---

१ शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धबृहत्कथेन किरातार्जुनीये पंचदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन, [मैसूर पुरातत्त्व-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट १९१२ पृष्ठ ३५ ३९ Indian Antiquary ४२।२ ४ JRAS १९१३ ३८९।]

रामायण और महाभारत का संक्षेप भी रामायणमञ्जरी और भारतमञ्जरी नामक ग्रंथों में किया। उनका अवदानकल्पलता ग्रंथ भी प्रसिद्ध है। कला-विलास देशोपदेश नर्ममाला और समय मातृका ग्रंथों में क्षेमेन्द्र की प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी में १८ लम्बक हैं और उनके नाम भी सोमदेव के लम्बकों से मिलते हैं।

बृहत्कथा की अंतिम वाचना सोमदेव-कृत कथासरित्सागर है। सोमदेव ने अपनी प्रारंभिक प्रतिज्ञा में कहा है —

मेरे सामने जैसा मूल था वैसा ही मैंने यह ग्रंथ रचा है। तनिक-सा फेर-फार भी नहीं किया। हाँ केवल औचित्य और एक दूसरे के साथ अन्वय या जोड़ मिलाने का ध्यान यथाशक्ति रक्खा गया है। इसमें काव्य का अंश मैंने इतना ही जोड़ा है जिससे कहानी के रस का विघात न हो। पांडित्य के यश के लोभ से मेरा यह प्रयत्न नहीं है। मेरा उद्देश्य यह है कि अनेक कथाओं का समूह सरलता से स्मृति में रक्खा जा सके।[1]

कथा की उत्पत्ति के संबंध में सोमदेव ने लिखा है—'एक बार शिव ने पार्वती से सात विद्याधर चक्रवर्तियों की आश्चर्यमयी कथाओं का वर्णन किया। यद्यपि शिव की वार्ता एकान्त में हुई थी किन्तु उनके अनुचर पुष्पदन्त ने वे कहानियाँ सुन लीं और अपनी पत्नी जया को उन्हें सुना दिया। जया ने उन कहानियों को अपनी सहेलियों से कहा। जब यह बात पार्वतीजी के कान में पड़ी तो उन्होंने रुष्ट होकर पुष्पदन्त को मर्त्यलोक में जन्म लेने का शाप दिया। पुष्पदन्त के भाई माल्यवान् ने उसकी ओर से क्षमायाचना की तो उसे भी वैसा ही दंड मिला। पुष्पदन्त की पत्नी जया पार्वतीजी की परिचारिका थी। जब पार्वतीजी ने अपनी सखी को शोक से दुखी देखा तो उन्हें करुणा आ गई और उन्होंने अपने शाप का परिहार करते हुए कहा कि पुष्पदन्त का विन्ध्य पर्वत में काणभूति नामक एक पिशाच से मिलना होगा। उसे अपने पूर्व जन्मों की स्मृति बनी रहेगी और जब वह काणभूति को ये कथाएं सुनायेगा तब उसकी शाप-मुक्ति होगी। माल्यवान् भी जब काणभूति से इन बृहत्कथाओं को सुनकर लोक में इनका प्रचार कर चुकेगा तब वह पुनः स्वर्ग में लौट आएगा। इस विधान के अनुसार पुष्पदन्त ने कौशाम्बी में वररुचि-कात्यायन के रूप में जन्म लिया और वह महान् वैयाकरण एवं नन्द-वंश के अंतिम राजा योगानन्द का मंत्री हुआ। अंत में वह वनवासी हो गया और विन्ध्याचल की विन्ध्यवासिनी देवी की यात्रा में काणभूति से उसकी भेंट हुई। तब उसे अपने पूर्व जन्म की स्मृति हुई और उसने काणभूति को वे सात

---

[1] यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते॥
औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना।
वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः।
किन्तु नानाकथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धये॥ कथासरित्सागर १।१०-१२।

बृहत्कथाएँ सुनाईं। इतना करने के बाद वह शापमुक्त होकर स्वर्ग चला गया। उसके भाई माल्य वान् ने भी मृत्युलोक में प्रतिष्ठान पुरी में गुणाढ्य के रूप में जन्म लिया और वह वहाँ के राजा सातवाहन का मंत्री बना। गुणदेव और नन्दिदेव उसके दो शिष्य थे। उन्हें लेकर वह काणभूति के पास आया। वहाँ काणभूति से उसे पिशाच भाषा में सात बृहत्कथाएँ प्राप्त हुईं और उसने प्रत्येक को एक-एक लाख श्लोकों में अपने रक्त से लिखा। अपने शिष्यों की सलाह से उसने उन्हें राजा सातवाहन के पास इस विचार से भेजा कि राजा उनकी रक्षा करेगा। पर पिशाचों की भाषा में लिखी हुई कहानियों को राजा ने पसन्द नहीं किया। इस समाचार से गुणाढ्य को बहुत दुःख हुआ और उसने अपनी छः कहानियाँ जला डालीं। अपने शिष्यों का अनुरोध मानकर केवल सातवीं कहानी बची रहने दी। उस कथा को सुनकर जंगल के जीव भी मोहित हो गए। जब राजा सातवाहन को यह ज्ञात हुआ तब उसे पश्चात्ताप हुआ और उसने गुणाढ्य के स्थान पर जाकर बचे हुए कथाभाग को उससे ले लिया। उसने गुणदेव और नन्दिदेव की सहायता से उसका अध्ययन किया और कथा की उत्पत्ति का वर्णन करनेवाला भाग स्वयं उसमें जोड़ा।[1]

नैपाल-माहात्म्य (अध्याय २७-२९) में इस कहानी का रूप थोड़ा भिन्न है। आरंभ में शिव-पार्वती के संवाद का उल्लेख है। पार्वती ने शिव से नई कहानी सुनाने की प्रार्थना की। शिव एकान्त में सब द्वार बन्द करके सुनाने लगे। पर उनके भृङ्गी नामक गण ने भौंरे का रूप रखकर और भीतर जाकर वे कहानियाँ सुन लीं और अपनी पत्नी विजया को उन्हें सुना दिया। किसी दिन जब पार्वती ने कहानियाँ अपनी सखियों को सुनाने लगी तो विजया को वे पहले से ज्ञात थीं। पार्वती ने यह जानना चाहा कि किसने यह अपराध किया था। शिव ने ध्यान करकर देखा और भृङ्गी को शाप दिया। भृङ्गी ने क्षमा-याचना की। तब शिव ने क्षमा करते हुए कहा—इसे मर्त्यलोक में जन्म लेना होगा और सुनी हुई कथाओं को भी लाख श्लोकों में लिखना होगा। फिर उसे एक लिंग की प्रतिष्ठा करनी होगी और तब वह कैलाश को लौटने का अधिकारी होगा। इस उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि बृहत्कथा मूल में एक शृंगार-कथा थी। पर नैपाल-माहात्म्य के इस उल्लेख में कथा का सुननेवाला भृङ्गी नामक गण था। भृङ्गी ने गुणाढ्य के रूप में मथुरा में जन्म लिया। वह बालपन में अनाथ हो गया और तब उज्जयिनी चला आया। उज्जयिनी में मदन नामक राजा राज्य करते थे उनकी रानी लीलावती गौड़देश के राजा की पुत्री थी। उज्जयिनी में सर्ववर्मन् नाम के महान पण्डित राजसभा में थे। वे गुणाढ्य की प्रतिभा से प्रभावित हुए और उन्होंने उसे भी राजा की सभा का सदस्य बनवा दिया। एक दिन राजा अपनी रानियों के साथ जल-विहार कर रहा था। तब उसने 'मोदक' शब्द का अशुद्ध प्रयोग किया। गुणाढ्य ने १२ वर्ष में उसे व्याकरण की शिक्षा देने की बात कही। पर सर्ववर्मन ने केवल दो ही वर्षों में उसे व्याकरण में पण्डित बना देने को कहा। गुणाढ्य और सर्ववर्मन में इसके लिए स्पर्धा हुई, और सर्ववर्मन ने कलाप-व्याकरण की रचना करके दो ही वर्षों में राजा को व्याकरण का ज्ञान करा दिया। गुणाढ्य

---

१ कृष्णमाचार्य संस्कृत-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४१४ ४१५।

को संस्कृत-भाषा में न बोलने का आदेश हुआ। वह एक ऋषि के आश्रम में जाकर रहने लगा। वहाँ उसे पुलस्त्य ऋषि ने पैशाची भाषा में अपनी कथाएँ लिख डालने का परामर्श दिया और यह भी कहा कि ग्रंथ-समाप्ति के बाद वह नैपाल में शिवलिंग की स्थापना करके शाप-विमुक्त होकर मर्त्य-योनि से छूटेगा। गुणाढ्य पेड़ से पेड़ की पत्तियों पर कथा लिखने लगा। वह उन्हें उच्चस्वर में पढ़ता जाता था जिसे सुनकर जंगल के पशु-पक्षी मोहित हो गए। यह बात राजा ने सुनी और जंगल में जाकर सब कुछ अपनी आँखों से देखा। उसने गुणाढ्य से सभा में लौट आने का अनुरोध किया पर गुणाढ्य ने उसे स्वीकार न किया और कहा—"मैंने भी लाख श्लोकों में पैशाची भाषा में इस कथा की रचना की है। आप इसकी रचना संस्कृत में कराएँ। मैं तो अब नैपाल जाऊँगा। तब उसने नैपाल जाकर पशुपतिनाथ शिव के दर्शन किए। वहाँ रहनेवाले मुनियों को एकत्र करके उसने भृङ्गीश्वर शिव की स्थापना की और वहाँ से वह कैलाश चला गया।

कथासरित्सागर के आरंभ में सोमदेव ने उसके स्वरूप और वर्ण्य विषयों का अच्छा परिचय दिया है।

मैं बृहत्कथा के सार का संग्रह कर रहा हूँ। इसमें पहला लम्बक कथापीठ है। उसके बाद दूसरा कथामुख है। तीसरे लम्बक का नाम लावाणक है। चौथे लम्बक में नरवाहनदत्त का जन्म है। उसके बाद पाँचवें लम्बक का नाम चतुर्दारिका है। छठा लम्बक मदनमंचुका और सातवाँ रत्नप्रभा नाम का है। आठवें लम्बक का नाम सूर्यप्रभा है। नवाँ अलंकारवती लम्बक है। दसवाँ शक्तियशस् लम्बक और ग्यारहवाँ वेला लम्बक है। बारहवाँ शशांकवती और तेरहवाँ मदिरावती लम्बक है। उसके बाद पंच नामक चौदहवाँ लम्बक और पन्द्रहवाँ महाभिषेक लम्बक है। उसके बाद १६वाँ सुरतमंजरी लम्बक सत्रहवाँ पद्मावती लम्बक और अट्ठारहवाँ विषमशील लम्बक है।

कथाओं को कहने की दृष्टि से सोमदेव का अपना पद है। उसकी प्रवाहमयी शैली की रोचकता को दूसरा कोई नहीं पहुँच पाता। सी एच टॉनी (C. H. Tawney) कृत कथासरित्सागर के अंगरेजी-अनुवाद की भूमिका में पेंजर ने सोमदेव के ग्रंथ की प्रशंसा में लिखा है—

'जब हम इस ग्रंथ को देखते हैं तब इसमें भरी हुई हर प्रकार की कथाओं को देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। ईसवी-सन् से सैकड़ों वर्ष पहले की जीवजन्तु-कथाएँ इसमें हैं। स्वर्लोक और पृथ्वी के निर्माण-संबंधी ऋग्वेदकालीन कथाएँ भी यहीं हैं। उसी प्रकार रक्तपान करने वाले वेतालों की कहानियाँ सुन्दर काव्यमयी प्रेम-कहानियाँ और देवता मनुष्य एवं असुरों के युद्ध की कहानियाँ भी इस संग्रह में हैं। *यह न भूलना चाहिए कि भारतवर्ष कथा-साहित्य की सच्ची* भूमि है जो इस विषय में ईरान और अरब से बढ़ चढ़कर है। भारत के इतिहास की कथा भी तो उसी प्रकार की एक कहानी है। इसका अतिशयोक्तिपूर्ण रूप इन आख्यानों से कम रोचक नहीं है।

'इन कहानियों का संग्रह करनेवाला लेखक सोमदेव विलक्षण प्रतिभाशाली पुरुष था।

कवियों में उसकी प्रतिभा कालिदास से दूसरे स्थान पर आती है। स्पष्ट रोचक और मन को खींच लेनेवाले ढंग से कहानी कहने की उसमें वैसी ही अद्भुत शक्ति थी जैसी कहानियों के विषयों की व्यापकता और विभिन्नता है। मानवी प्रकृति का परिचय भाषा-शैली की सरलता वर्णन का सौन्दर्य और शक्ति एवं चातुर्य-भरी उक्तियां इन सब की रचना अत्यन्त प्रभावपूर्ण है।

दूसरी ओर जैसा कि प्रायः पूर्वी (विशेषतः भारतीय) कहानियों में मिलता है यहाँ एक विशेषता यह भी है कि नई-नई कहानियाँ पहली कहानियों के पेटे में समाई हुई हैं और आश्चर्य जनक वेग से एक के बाद दूसरी कहानी उभरती हुई सामने आती चली जाती है। तब पाठक अभिलाषा करता है कि कोई सूत्र सहायक बनकर उसे कथाओं के इस भूल-भुलैये से उसका उद्धार करे। इस संस्करण के सम्पादक ने इस प्रकार का एक सहायक सूत्र सावधानी के साथ तैयार किया है और कहानियों पर संख्याओं के अंक डाल दिए गए हैं।

"कथासरित्सागर अधिक जैका की कहानियों से प्राचीनतर ग्रंथ है और अधिक जैका की अनेक कहानियों के मूल रूप इसमें हैं। उनके द्वारा न केवल ईरानी और तुर्की लेखकों को बल्कि बोकेशियो चौसर एवं ला फोंतेन एवं अन्य अनेक लेखकों के द्वारा पश्चिमी संसार को भी अनेक कल्पनाएँ प्राप्त हुई हैं। सोमदेव ने सोचा कि जैसे हिमालय से आई हुई अनेक धाराएँ आगे-पीछे बहती हुई समुद्र में ही पहुँच जाती हैं वैसे ही छोटी-बड़ी सभी कहानियाँ उनके इस महान् ग्रंथ में इकट्ठी हो जायें और यह सच्चे अर्थ में कहानी-रूपी नदियों का सागर बन जाय। कथासरित्सागर के रूप में कल्पना ने एक ऐसे महान् कथा-सागर की सृष्टि की है कि उसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों राजाओं और नगरों राजतन्त्र एवं षड्यन्त्र जादू और टोने छल और स्पष्ट मृषा और युद्ध रक्तपायी बेताल पिशाच यक्ष और प्रेत पशु-पक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे साधु, पियक्कड़ जुआरी वेश्या विट और कुट्टनी इन सभी की कहानियाँ एकत्र हो गई हैं। ऐसा यह कथासरित्सागर भारतीय कल्पना जगत् का दर्पण है जिसे सोमदेव भविष्य की पीढ़ियों के लिए छोड़ गए हैं।"

कथासरित्सागर की वर्तमान संघटना और लम्बकों के क्रम की तात्त्विक आलोचना करते हुए कीथ ने जो लिखा है वह भी ध्यान देने योग्य है —

"कथासरित्सागर में मूल ग्रंथ के कथा-क्रम में परिवर्तन किया गया है और इस परिवर्तन का अभिप्राय कथा के रस की रक्षा करना है। यह बात ग्रंथ के क्रम की वस्तु-स्थिति के बिलकुल अनुकूल है। पहले पाँच लम्बकों में कोई परिवर्तन नहीं है। शेष लम्बकों में सोमदेव पर काव्य के प्रभाव की रक्षा करने की अभिलाषा की प्रधानता थी। स्पष्टतया इसी कारण ने सोमदेव को पंच और महाभिषेक नामक लम्बकों के मध्य की खाई को दूर करने के लिए विवश किया। उनके बीच में उक्त दोनों लम्बकों का संक्रमण निर्दोष है। पंच नामक लम्बक का अन्त राजकुमार के इस निर्णय से होता है कि उसे एक भावी सम्राट् के राज्याभिषेक के लिए आवश्यक रत्नों को प्राप्त करना है। अगले लम्बक में यह प्रस्ताव आगे बढ़ता है। यह कुछ ऐसे आकस्मिक ढंग से होता है जिसे सोमदेव बिलकुल मिटा नहीं सके हैं। परन्तु इससे सोमदेव रत्नप्रभा अलंकारवती और

शक्तियशस् नामक तीन लम्बकों को यथास्थान रख सके। साथ ही इससे काव्य के प्रारम्भिक भाग में इस दृष्टि से कि वह अत्यधिक भारी न हो जावे पृथक् आमूल परिवर्तन भी स्पष्टतः आवश्यक हो गया। इसके लिए जिस समाधान का आश्रय लिया गया वह इन तीन लम्बकों को जिनका संबंध राजकुमार के सम्राट् होने से पहले के वृत्तान्तों से है पञ्च नामक लम्बक के प्रथम रखने में तथा पद्मावती और विषमशील नामक दो लम्बकों को जिनका संबंध नायक से न होकर केवल उन कथाओं से था जो उसको सुनाई गई थीं और इसी कारण जिनको औचित्य के साथ एक परिशिष्ट के रूप में रक्खा जा सकता था ग्रन्थ के प्रारम्भिक विषय से हटा देने में था। पञ्च नामक लम्बक के पहले आनेवाले विषय का क्रम कलापूर्ण ढंग से रक्खा गया है क्योंकि उसमें मुख्यतया प्रासंगिक उपकथाओं से संबंध रखनेवाले लम्बकों को नायक के आकस्मिक होते हुए भी महत्त्वयुक्त कार्यों को देनेवाले लम्बकों के बीच-बीच में रखने का प्रयत्न किया गया है। जैसा कि पाँचवें लम्बक के अनन्तर जिसका संबंध प्रासंगिक कथाओं से है मदनमंचुका (६) नामक महत्त्व का लम्बक दिया गया है। इसके अनन्तर रत्नप्रभा (७) है। अलंकारवती (९) से पहले आनेवाला लम्बक 'सूर्यप्रभ' (८) मुख्यतः केवल उपकथाओं से सम्बन्ध रखता है। आकस्मिक कथाओं से सम्बद्ध शक्तियशस् (१) सहज ही अलंकारवती के अनन्तर आता है। तदनन्तर वेला (११) शशांकवती (१२) मदिरावती (१३) और पूर्णतः महत्त्वयुक्त पंच तथा महाभिषेक (१४ और १५) आते हैं। तदनन्तर, परिशिष्ट रूप में सुरतमंजरी पद्मावती और विषमशील (१६ १८) दिए हुए हैं। एक लम्बक के वास्तविक विषय में एक परिवर्तन आवश्यक था। क्षमेन्द्र में और संभवतः मूल ग्रन्थ में भी वेला का संबंध केवल प्रासंगिक उपकथाओं से ही नहीं था उसके अंत में मदनमंचुका के तिरोहित होने का आवश्यक अंश सम्मिलित था। उसी के आधार पर हम अगले लम्बकों में सूचित राजा के शोक को समझ सकते हैं। परन्तु, इस प्रकार का वर्णन रत्नप्रभा अलंकारवती और शक्तियशस् इन लम्बकों के संबंध में सोमदेव की योजना से मेल नहीं खाता था इसी कारण उक्त आवश्यक अंश को हटा देना पड़ा तो भी सोमदेव के लिए अपने क्रम में पंच से पहले के लम्बकों में मदनमंचुका के पहले से ही तिरोहित हो जाने के यत्र-तत्र चिह्नों को हटा देना संभव नहीं था।[1]

जैसा कीथ ने लिखा है कि प्रयत्न करने पर भी सोमदेव एक सुसंघटित ग्रंथ की रचना में सफल नहीं हुए, परन्तु कथासरित्सागर के उत्कर्ष का आधार उसके वस्तु की संघटना पर नहीं है। उसका आधार इस ठोस वस्तुस्थिति पर है कि सोमदेव ने सरल और अकृत्रिम रहते हुए आकर्षक और सुन्दर रूप में ऐसी कथाओं की बड़ी भारी संख्या को प्रस्तुत किया है जो नितरां विभिन्न रूपों में—मनोविनोदकारक अथवा भयानक अथवा प्रेम-संबंधी अथवा जल और थल के अद्भुत दृश्यों के प्रति हममें अनुराग उत्पन्न करने के लिए आकर्षक अथवा हास्यजनक की

---

1 कीथ, संस्कृत-साहित्य का इतिहास श्रीमंगलदेव शास्त्री कृत हिन्दी-अनुवाद पृ ११४ १५।

परिचित कहानियों का सादृश्य उपस्थित करनेवाले रूपों में—हमारे लिए अत्यंत रुचिकर है। क्षेमेन्द्र में कहीं अत्यधिक संक्षेप और कहीं अस्पष्टता के कारण कहानियों का सारा आकर्षण और रोचकता ही नष्ट हो जाती है। ठीक इसके विपरीत पंचतंत्र के लेखक की तरह सोमदेव प्रतिभा के धनी हैं। वे पाठक के मन को थकाए बिना सावधानी से अभीष्ट अर्थ का प्रकाशन कर सकते हैं। उनकी कहानियों का रुचिकर रूप कभी नहीं छीजता। (कीथ वही पृष्ठ ११५)

कथासरित्सागर में कहानियों का एक बढ़िया गुच्छा वेतालपंचविंशति नामक पच्चीस कहानियों का है (कथासरित्सागर, तरंग ७५-९९)। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी में भी ये कहानियाँ हैं (९।२।१९-१२२१)। सोमदेव की अपेक्षा क्षेमेन्द्र का वर्णन संक्षिप्त और अलंकार रहित है। क्षेमेन्द्र में जहाँ केवल १२०९ श्लोक हैं वहाँ सोमदेव में २१९५।[1] प्रश्न होता है कि वेताल-विक्रम की ये कहानियाँ मूल बृहत्कथा में थीं या नहीं। इस विषय में हर्टेल और एजर्टन का मत है जो मान्य है कि मूल बृहत्कथा में वेतालपंचविंशति की कहानियाँ विद्यमान न थीं। नरवाहनदत्त के उपाख्यान से स्पष्टतः उनका कोई वास्तविक संबंध नहीं जान पड़ता। कीथ के अनुसार वेतालपंचविंशति के उपाख्यानों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है।

पंचतंत्र की भी बहुत-सी कहानियाँ कथासरित्सागर में बिखरी हुई हैं। क्षेमेन्द्र ने उनको पंचतंत्र के अनुसार एक साथ ही कर लिया है। इनमें से कम-से-कम आधी कहानियाँ चार सौ पचास ईसवी से पूर्व बने हुए एक ऐसे संग्रह में विद्यमान थीं जिसका उपयोग आर्यसेन संघ नाम के एक भिक्षु ने अपने ग्रंथ में किया था और जिसका चीनी भाषान्तर उसके शिष्य गुणवृद्धि ने ४९२ ई० में किया था। सोमदेव ने मूर्खों की कहानियाँ कहने में बड़ा रस लिया है। इसके अतिरिक्त चोर, जुआरी, धूर्त, वेश्यागामी, जालसाज, ठग, कपटी, बदमाश, ठग, लम्बे रंगीले भिक्षु आदि की कहानियों को तह जमाने में सोमदेव को अद्भुत सफलता मिली है। उनकी दृष्टि में समाज का अधूरा चित्र नहीं पूरा चित्र समाया हुआ है। भले और बुरे ऊँच और नीच, धनी और कंगाल, धर्मात्मा और दुष्ट सभी के उभरे हुए चित्र उनके ग्रंथ में पाए जाते हैं। जैसे समुद्र रत्नों का धाम है वैसे ही मानव-स्वभाव का जितना वैचित्र्य है उसका पूरा अंकन सोमदेव ने अपने ग्रंथ में किया है। सोमदेव ने स्त्रियों के स्वभाव के विश्लेषण में बहुत रुचि ली है। स्त्री-चरित्र की अनेक कहानियाँ उनके संग्रह में हैं। उनके स्वभाव के गुण-दोषों का चित्रण वे तत्परता से करते हैं। ११वीं सदी का काश्मीर स्त्रियों के विषय में कुछ अधिक सम्मानसूचक भाव से प्रभावित नहीं था। चरित्रसंबंधी हीनता और अमर्यादित उच्छृंखलता प्रायः स्त्री-चरित्र के ऐसे पक्ष को सामने रखती है जो किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहा जा सकता। सोमदेव का गुण इतना ही है कि वे कुछ भी कहने में संकोच का अनुभव नहीं करते। जैसे बरसाती नदियों की मटमैली धाराओं के ऊपर चारों ओर से गन्द-कचरा आकर बहने लगता है वैसे ही सोमदेव की कथाओं की मैली कुधाराओं को समेटकर सामने ले आती है। मानव-स्वभाव जैसा है वैसा ही उसे दिखाना यह महान् लेखक

---

1 सुशील कुमार दे संस्कृत-साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४२१ पाद टिप्पणी।

की विशेषता होती है और सोमदेव इसमें पिछड़े हुए नहीं हैं। सोमदेव की अनेक कहानियां मन पर एक बार छप जाने के बाद फिर नहीं भुलाई जा सकतीं। कहानी के विस्तार और संक्षेप की कला में सोमदेव सिद्धहस्त थे। वे उतने ही परिमित शब्दों का प्रयोग करते हैं जितनों से पाठकों की रुचि का विघात न हो और कहानी का रस भी अच्छी तरह अनुभव में आ सके। जब ११वीं शती में समासबहुल शैली का बोलबाला था उस समय सोमदेव ने जिस शैली का प्रयोग किया उसे देखकर आश्चर्य होता है। उन्होंने मानो बिना समासों के सरल वाक्यों का धड़ल्ले से निर्माण किया है, जैसे—

अबध्य मेखलां मूर्ध्नि हारं च जघनस्थले।
नूपुरौ करयोस्तस्याः कर्णयोरपि कङ्कणौ॥ (११।२६)

कहानियों के सम्पुट को वे कितना छोटा बना सकते थे इसका एक नुकीला उदाहरण तूलिक या रुई बेचनेवाले मूर्ख की कहानी है—

उक्तोऽजकूरको देव शृणु कार्पासतूलिकम्।
मूर्खः कश्चित्पुमांस्तूलविक्रयायापणं ययौ॥
अशुद्धमिति तत्तस्य न जग्राह च कश्चन।
तावद्ददर्श तत्राग्नौ हेमविक्रयिशोधितम्॥
स्वर्णकारेण विक्रीतं गृहीतं ग्राहकेण च।
तद् दृष्ट्वापि स तत्तूलमिच्छञ्छोधयितुं जडः।
अग्नौ चिक्षेप दग्धे च तस्मिंल्लोको जहास तम्।
श्रुतोऽयं तूलिको देव खर्जूरीछेदकं शृणु॥ ११।२८-३१।

हे देव! गहनों के संबंध में मूर्ख की कहानी कह चुका अब रुईवाले की कहानी सुनिए। कोई मूर्ख रुई बेचने बाजार में गया पर साफ न होने से उसे किसी ने लिया नहीं। तब उसने देखा कि सुनार सोने को आग में तपाकर शुद्ध कर रहा है। उस सोने को सुनार ने बेचा और ग्राहक ने खरीद लिया। यह देखकर उसने भी अपनी रुई को साफ करने के लिए आग में डाल दिया। इससे सब लोग उस जड़ पर हँसने लगे। यह तूलिक की कहानी हुई, अब खजूर काटनेवाले मूर्ख की कहानी सुनें।

इस प्रकार की तरंगित शैली में सोमदेव की छोटी कहानियां बड़ी कहानियों के सम्पुट में कटहल के कोयों की तरह भरी हुई हैं। इसी प्रकार गँवार गो-दोहक की कहानी है। उसकी गाय प्रति दिन पच्चीस सेर दूध देती थी। उसके यहां कोई उत्सव होने को हुआ। उसने सोचा कि एक ही बार में उत्सव के लिए सारा दूध दुह लूँगा और महीने भर तक गाय नहीं दुही। उत्सव आने पर जब दुहने बैठा तब उसे दूध की बूँद भी न मिली (११।४४-४७)। पंचतंत्र के हिरण्यक चूहे, लघुपतनक कौए, चित्रग्रीव कबूतर, मंथरक कछुए की कहानी भी दसवें लम्बक की ११वीं तरंग में है जिसे सोमदेव ने प्रज्ञानिष्ठ या व्यावहारिक बुद्धिमानी की कहानी कहा है।

सोमदेव ने अपने वर्णन के बीच-बीच में नीति-संबंधी अनेक सूक्तियाँ डाल दी हैं। जैसे—

> अर्थो हि यौवनं पुंसां तदभावाच्च वार्धकम्।
> तेनास्यौजो बलं रूपमुत्साहश्चापि हीयते॥ (६१।११६)
> अवृत्तिके प्रभुं भृत्या अपुष्पं भ्रमरास्तरुम्।
> अजलं च सरो हंसा मुञ्चन्त्यपि चिरोषितम्॥ (६१।११८)
> क्षुधितो न विवेकोऽस्ति न सन्तुष्टस्य चागुणम्।
> धीरस्य च विपन्नास्ति नासाध्यं व्यवसायिनः॥ ६१।१२१

इस प्रकार नीति-संबंधी सूक्तियों की छौंक वर्णन के स्वाद को बढ़ा देती है और इस युक्ति से सोमदेव ने पूरा लाभ उठाया है।

एक बार नरवाहनदत्त समुद्र के बीच में स्थित नारिकेलद्वीप से श्वेतद्वीप में आता है। यह श्वेतद्वीप क्षीरोद समुद्र के पास था जिसे आजकल कास्पियन सागर कहते हैं। इस श्वेतद्वीप का उल्लेख महाभारत के नारायणीय पर्व में हरिवंश में तथा अन्य पुराणों में बहुधा आता है। सोमदेव ने यह संकेत वहीं से अपनाया। श्वेतद्वीप में निवास करनेवाले नारायण की जो स्तुति सोमदेव ने दी है वह स्तोत्र-विषय में भी उनकी सफलता की सूचक है (५४।२९-३८)। स्तोत्र साहित्य का यह चमकता हुआ नग है।

साहित्य की जितनी ही शैलियों और अभिप्रायों के बरतने में बढ़ी हुई निपुणता सोमदेव का गुण था। कथासरित्सागर अनेकविध कहानियों का महार्णव है। उसके पूरे स्वरूप की कल्पना कठिनाई से ही की जा सकती है। इस ग्रंथ का पठन और प्रचार अधिक होना चाहिए। भारतीयों का विश्वास था कि कहानी सुनने से पाप नष्ट होता है। इसका अभिप्राय यही है कि अच्छी कहानी मन के तनाव को दूर करती है और मनुष्य को फिर अपनी स्वाभाविक स्थिति में पहुँचा देती है। यह नमक की उस चुटकी के समान है जो सारे भोजन को स्वादिष्ट बनाती है। ऐसे ही जीवन के अनेक व्यवहारों को करते हुए कहानी की उचित मात्रा से हम जीवन को अधिक रसपूर्ण बना सकते हैं। सोमदेव का ग्रंथ बहुमूल्य कोषों का समूह है अर्थात् उसमें रत्नों से परिपूर्ण अनेक डिब्बे भरे हुए हैं। चाहे जहाँ से अपनी रुचि के अनुसार हम उन्हें चुन सकते हैं।

बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् का यह प्रयत्न अभिनन्दन के योग्य है। इसमें कथासरित्सागर का न केवल हिन्दी-अनुवाद बल्कि मूल संस्कृत-पाठ भी दिया गया है। इस अनुवाद का श्रेय पं० केदारनाथजी सारस्वत को है। पहले भाग में दस लम्बकों का अनुवाद उनका किया हुआ है। अब वे नहीं रहे पर आशा है कि परिषद् इसी प्रकार से शेष लम्बकों को भी मूल और अनुवाद के साथ प्रकाशित करेगी।

काशी-विश्वविद्यालय
शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण ४ सं० २०१७
१४-५-१९६०

वासुदेवशरण अग्रवाल

विषयानुक्रमणी

[प्रस्तुत विषयानुक्रमणी हिन्दी-अनुवाद के अनुसार है।]

कथासरित्सागर

(प्रथम खण्ड)

कथापीठ नाम प्रथमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना—
स्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

कथापीठ नामक प्रथम लम्बक

नगेन्द्र-नन्दिनी पार्वती के प्रबल प्रणय मन्दराचल के मन्थन द्वारा शिवजी के मुखरूपी समुद्र से निकले हुए इस कथारूपी अमृत का जो लोग आदर और आग्रहपूर्वक पान करते हैं वे शिवजी की कृपा से निर्विघ्न सिद्धियों को प्राप्त कर, दिव्यपद लाभ करते हैं।

---

१ लम्बक शब्द का पैशाची भाषा में मूल रूप लम्भक है। यह विश्रामस्थान के लिए प्रयुक्त किया गया है। प्रथम लम्बक में बृहत्कथा के प्रसार के लिए, राजा सातवाहन ने कथापीठ की स्थापना की थी और गुणाढ्य के शिष्यों—गुणदेव और नन्दिदेव—द्वारा इसका व्याख्यान किया गया। इसलिए यह लम्बक कथापीठ है। कुछ लोगों का मत है कि यह लम्बक मूल लेखक गुणाढ्य द्वारा नहीं लिखा गया। इसकी रचना उनके शिष्यों या राजा सातवाहन ने की। विस्तृत विवरण भूमिका में देखिए।—अनु

प्रथमस्तरङ्गः

मङ्गलाचरणम्

श्रियं दिशतु वः शम्भोः श्यामः कण्ठो मनोभुवा ।
अङ्कस्थपार्वतीदृष्टिपाशैरिव विवेष्टितः ॥ १ ॥

सन्ध्यानृत्तोत्सवे तारा करेणोद्धूय विघ्नजित् ।
सीत्कारसीकरैरन्याः कल्पयन्निव पातु वः ॥ २ ॥

प्रणम्य वाचं निःशेषपदार्थोद्योतदीपिकाम् ।
बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम् ॥ ३ ॥

प्रस्तावना

आद्यमत्र कथापीठं कथामुखमतः परम् ।
ततो लावाणको नाम तृतीयो लम्बको भवेत् ॥ ४ ॥

नरवाहनदत्तस्य जननं च ततः परम् ।
स्याच्चतुर्दारिकाख्यश्च ततो मदनमञ्चुका ॥ ५ ॥

ततो रत्नप्रभा नाम लम्बकः सप्तमो भवेत् ।
सूर्यप्रभाभिधानश्च लम्बकः स्यादथाष्टमः ॥ ६ ॥

अलङ्कारवती चाथ ततः शक्तियशा भवेत् ।
वेलालम्बकसंज्ञश्च भवेदेकादशस्ततः ॥ ७ ॥

शशाङ्कवत्यपि तथा ततः स्यान्मदिरावती ।
महाभिषेकानुगतस्ततः स्यात्पञ्चलम्बकः ॥ ८ ॥

ततः सुरतमञ्जर्यप्यथ पद्मावती भवेत् ।
ततो विषमशीलाख्यो लम्बकोऽष्टादशो भवेत् ॥ ९ ॥

यथामूलं तथैवैतन्न मनागप्यतिक्रमः ।
ग्रन्थविस्तरसंक्षेपमात्रं भाषा च भिद्यते ॥ १० ॥

औचित्यान्वयरक्षा च यथाशक्ति विधीयते ।
कथारसाविघातेन काव्यांशस्य च योजना ॥ ११ ॥

वैदग्ध्यख्यातिलोभाय मम नैवायमुद्यमः ।
किं तु नानाकथाजालस्मृतिसौकर्यसिद्धये ॥ १२ ॥

प्रथम तरङ्ग[1]

मंगलाचरण

शिवजी की गोद में बैठी हुई पार्वती के दृष्टिपातों से मानों कामदेव द्वारा वेष्टित शिवजी का श्यामवर्ण कंठ आपको सम्पत्ति प्रदान करे ॥१॥

सन्ध्याकालीन नृत्य के समय आकाश में बिखरी हुई प्राचीन तारिकाओं को शुंड से हटाकर, सीत्कार के बिन्दुओं से मानो नवीन तारिकाओं की सृष्टि करते हुए गणेशजी आपकी रक्षा करें ॥२॥

मैं समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए दीपशिखा (लौ) के समान सरस्वती भगवती को प्रणाम करके बृहत्कथा के सार का संग्रह करता हूँ ॥३॥

प्रस्तावना

इस संग्रह में प्रथम लम्बक का नाम कथापीठ, उसके अनन्तर दूसरे का नाम कथामुख लम्बक और तीसरे का नाम लावान(ण)क लम्बक[3] है ॥४॥

इसके अनन्तर नरवाहनदत्त नामक चतुर्थ लम्बक है। चतुर्दारिका लम्बक पाँचवाँ और मदनमञ्चुका लम्बक छठा है ॥५॥

इसके बाद रत्नप्रभा लम्बक सातवाँ और सूर्यप्रभ लम्बक आठवाँ है ॥६॥

इसके बाद नवाँ अलंकारवती लम्बक दसवाँ लम्बक शक्तियशा और इसके अनन्तर ग्यारहवाँ वेला नामक लम्बक है ॥७॥

इसके पश्चात् बारहवाँ शशांकवती लम्बक तेरहवाँ मदिरावती लम्बक चौदहवाँ महाभिषेकवती लम्बक और पन्द्रहवाँ पंच लम्बक है ॥८॥

इसके अनन्तर सोलहवाँ सुरतमंजरी लम्बक सत्रहवाँ पद्मावती लम्बक तथा अठारहवाँ विषमशील नामक लम्बक है ॥९॥

मूल बृहत्कथा में जो कुछ है उसी का इस ग्रंथ में संग्रह किया गया है। मूलग्रन्थ से इसमें तनिक भी अन्तर नहीं है। हाँ विस्तृत कथाओं का संक्षिप्तमात्र किया गया है और भाषा का भेद है (उसकी भाषा पैशाची थी और इसकी संस्कृत है) ।१० ॥

मैंने यथासम्भव मूलग्रन्थ की औचित्य-परम्परा की रक्षा की है और कुछ नवीन काव्यांशों की योजना करते हुए भी मूलकथा के रस का विघात नहीं होने दिया है ॥११॥

मुझसे यह ग्रन्थ-निर्माण-प्रयत्न पाण्डित्य-प्रसिद्धि के लोभ से नहीं किया गया है किन्तु अनेक लम्बी कथाओं के जाल को स्मरण रखने की सुविधा से किया गया है ॥१२॥

---

१ तरंगों की रचना कथासरित्सागर के रचयिता श्रीसोमदेवभट्ट ने अवान्तर कथाओं के विभाग के लिए की है। मूल कथा में तरंग नाम का विभाग नहीं था क्योंकि तरंग शब्द का समन्वय सागर के साथ उपयुक्त होता है।

२ कथासरित्सागर में कामदेव के अवतार नरवाहनदत्त का चरित्र और उसका विजय वर्णित है। अतः कवि ने मंगलाचरण में ही काम की विजय की सूचना दी है।

३ सोमदेव ने लम्बकों का जो क्रम प्रदर्शित किया है, वह मूल बृहत्कथा के ही अनुसार है या स्वतन्त्र इसका निर्णय नहीं है। इससे पूर्व महाकवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी के नाम से बृहत्कथा का जो भावान्तर किया है उसमें लम्बकों का क्रम सागर से भिन्न है। इसका विवरण भूमिका में देखिए।—अनु

शिवपार्वतीसंवाद

अस्ति किन्नर-गन्धर्व-विद्याधर-निषेवितः ।
चक्रवर्ती गिरीन्द्राणां हिमवानिति विश्रुतः ॥१३॥
माहात्म्यमियतीं भूमिमारूढं यस्य भूभृताम् ।
यद्भवानी सुताभावं त्रिजगज्जननी गता ॥१४॥
उत्तरं यस्य शिखरं कैलासाख्यो महागिरिः ।
योजनानां सहस्राणि बहून्याक्रम्य तिष्ठति ॥१५॥
मन्दरो मथितेऽप्यब्धौ न सुधा-सिततां गतः ।
अहं त्वयत्नादिति यो हसतीव स्वकान्तिभिः ॥१६॥
चराचरगुरुस्तत्र निवसत्यम्बिकासखः ।
गणैर्विद्याधरैः सिद्धैः सेव्यमानो महेश्वरः ॥१७॥
पिङ्गोत्तुङ्ग-जटाजूट-गतो यस्याश्नुते नवः ।
सन्ध्यापिशङ्ग-पूर्वाद्रि-शृङ्ग-सङ्ग-सुखं शशी ॥१८॥
येनान्धकासुरपतेरेकस्यार्पयता हृदि ।
शूलं त्रिजगतोऽप्यस्य हृदयाच्छल्यमुद्धृतम् ॥१९॥
चूडामणिषु यत्पादनखाग्रप्रतिमाङ्किताः ।
प्रसादप्राप्तचन्द्रार्धा इव भान्ति सुरासुराः ॥२०॥
स कदाचित्समुत्पन्न-विस्रम्भा रहसि प्रिया ।
स्तुतिभिस्तोषयामास भवानीपतिमीश्वरम् ॥२१॥
तस्याः स्तुतिवचोहृष्टस्तामङ्कमधिरोप्य सः ।
किं ते प्रियं करोमीति बभाषे शशिशेखरः ॥२२॥
ततः प्रोवाच गिरिजा प्रसन्नोऽसि यदि प्रभो ।
रम्यां काञ्चित्कथां ब्रूहि देवाद्य मम नूतनाम् ॥२३॥
भूतं भव्यं भविष्यद् वा किं तत्स्याज्जगति प्रिये ।
भवती यन्न जानीयादिति शर्वोऽप्युवाच ताम् ॥२४॥
ततः सा वल्लभा तस्य निर्बन्धमकरोत्प्रभोः ।
प्रियप्रणयगर्वाद्धि यतो मानवतीमनः ॥२५॥
ततस्तच्चाटुबुद्ध्यैव तत्प्रभावनिबन्धनाम् ।
तस्याः स्वल्पां कथामेव शिवः सम्प्रत्यवर्णयत् ॥२६॥
अस्ति मामीक्षितुं पूर्वं ब्रह्मा नारायणस्तथा ।
महीं भ्रमन्तौ हिमवत्पादमूलमवापतुः ॥२७॥

शिव और पार्वती का संवाद

किन्नर, गन्धर्व और विद्याधरों की निवासभूमि तथा समस्त कुलपर्वतों का सम्राट् हिमालय पर्वत प्रसिद्ध है ॥१३॥

पर्वतों में इस हिमालय का माहात्म्य इतना बड़ा-चढ़ा है कि साक्षात् त्रिजगज्जननी पार्वती उसकी पुत्री बनीं ॥१४॥

इस हिमालय का उत्तर शिखर कैलाश नाम से प्रसिद्ध है जो सहस्रों योजन के भू-भाग को आक्रान्त करके फैला है ॥१५॥

यह कैलास-शिखर, अपनी अमल-धवल कान्ति से मन्दराचल को हँसता है कि उसके द्वारा क्षीर-समुद्र का मन्थन होने पर भी वह मेरे समान सुधा-धवल न हो सका और मैं बिना प्रयत्न के ही शुभ्र हूँ ॥१६॥

उस कैलास शिखर पर, स्थावर-जंगम सृष्टि के स्वामी विद्याधरों और सिद्धों से सेवित महेश्वर शिव पार्वती के साथ निवास करते हैं ॥१७॥

जिस शिवजी के पीतवर्ण एवं ऊँचे जटाजूट पर स्थित अभिनव चन्द्रमा उदयाचल के सन्ध्याकालीन पीतवर्ण की शोभा धारण करता है ॥१८॥

जिन शिवजी ने अन्धकासुर के हृदय में शूल भोंकते हुए एक साथ ही तीनों लोकों के हृदय से शूल को सदा के लिए निकाल दिया ॥१९॥

जिस शिव के चरणों में प्रणाम करने के कारण मुक्तामणियों में नख के अग्रभाग के प्रतिबिम्बित होने के कारण सुर और असुर-राज ऐसे मालूम होते हैं कि उन्हें प्रसाद-रूप में अर्धचन्द्र प्राप्त हुआ हो ॥२ ॥

किसी समय लोकनाथ स्वामी को एकान्त में बैठे देखकर उनकी प्राणवल्लभा पार्वती ने उन्हें स्तुतियों से प्रसन्न किया ॥२१॥

पार्वती के स्तुति-वचनों से प्रसन्न होकर, अतः उन्हें गोद में बैठाकर चन्द्रशेखर शिवजी ने पूछा 'कहो मैं तुम्हारे लिए कौन-सा प्रिय कार्य करूँ' ॥२२॥

तब पार्वती ने कहा—'स्वामिन् हे देव यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो कोई नवीन कथा सुनाओ' ॥२३॥

यह सुनकर शिवजी ने कहा—'प्रिये संसार में भूत वर्तमान और भविष्य की कौन-सी ऐसी बात है जिसे तुम न जानती हो' ॥२४॥

इतना कहने पर भी शिववल्लभा पार्वती ने स्वामी से पुनः कथा सुनाने का आग्रह किया क्योंकि मानिनी स्त्रियाँ का मन सदा ही प्रियपति के प्रणय की अभिलाषा रखता है ॥२५॥

शिवजी ने पार्वती का आग्रह देखकर उसे प्रसन्न करने की दृष्टि से उसी (पार्वती) के सम्बन्ध की स्वल्प कथा का वर्णन किया ॥२६॥

एक बार ब्रह्मा और नारायण मेरे दर्शन के लिए निकले और सारी पृथ्वी पर घूमते हुए *हिमालय की उपत्यका में आए* ॥२७॥

ततो ददृशतुस्तत्र ज्वालालिङ्गं महत्पुरः।
तस्यान्तमीक्षितुं प्रायादेकः ऊर्ध्वमधोऽपरः॥२८॥
अलब्धान्तौ तपोभिर्मां तोषयामासतुश्च तौ।
आविर्भूय मया चोक्तौ वरः कश्चित्प्रार्थ्यतामिति॥२९॥
तच्छ्रुत्वैवाब्रवीद् ब्रह्मा पुत्रो मेऽस्तु भवानिति।
अपूज्यस्तेन जातोऽयमत्यारोहेण निन्दितः॥३०॥
ततो नारायणो देव स वरं मामयाचत।
भूयासं तव शुश्रूषापरोऽहं भगवन्निति॥३१॥
अतः शरीरभूतोऽसौ मम जातस्त्वदात्मना।
यो हि नारायणः सा त्वं शक्तिः शक्तिमतो मम॥३२॥
किं च मे पूर्वजायात्वमित्युक्तवति धूर्जटे।
कथं मे पूर्वजायाहमिति वक्ति स्म पार्वती॥३३॥

पार्वत्याः पूर्वजन्मकथा

प्रत्युवाच ततो भर्गः पुरा दक्षप्रजापतेः।
देवि! त्वं च तथान्याश्च बह्व्योऽजायन्त कन्यकाः॥३४॥
स मह्यं भवतीं प्रादाद्धर्मादिभ्यो परास्च ताः।
यज्ञे कदाचिदाहूतास्तेन जामातरोऽखिलाः॥३५॥
वर्जितस्त्वहमेकस्ततोऽपृच्छ्यत स त्वया।
किं न भर्ता ममाहूतस्त्वया तातोच्यतामिति॥३६॥
कपालमाली भर्ता ते कथमाहूयतां मखे।
इत्युवाच गिरं सोऽपि त्वत्कर्णे-विष-सूचिकाम्॥३७॥
पापोऽयमस्माज्जातेन किं देहेन ममामुना।
इति कोपात्परित्यक्तं शरीरं तत्प्रिये! त्वया॥३८॥
स च दक्षमखस्तेन मन्युना नाशितो मया।
ततो जाता हिमाद्रेस्त्वमब्धेश्चन्द्रकला यथा॥३९॥
अथ स्मर तुषाराद्रिं तपोऽर्थमहमागतः।
पिता त्वां च नियुक्ते स्म शुश्रूषायै ममान्तिके॥४०॥
तारकान्तक-मत्पुत्र-प्राप्तये प्रहितः सुरैः।
सम्प्राप्तकाशोऽविध्यन्मां तत्र दग्धो मनोभवः॥४१॥

हिमालय की तटवर्ती भूमि में उन्होंने अपने सामने एक महान् ज्वालामय लिंग को देखा। उसे देखकर और उसका अन्त देखने के लिए उन दोनों में से एक ऊपर की ओर और दूसरा नीचे की ओर चले॥२८॥

जब वे दोनों ओर-छोर का पता न पा सके तब शान्त होकर तपस्या द्वारा उन्होंने मुझे प्रसन्न किया और मैंने भी उनके सामने प्रकट होकर कहा कि वर माँगो॥२९॥

ऐसा सुनकर ब्रह्मा ने कहा कि आप मेरे पुत्र हों' इसी कारण (ऐसा ऊँचा वर माँगने के कारण) निन्दित होकर ब्रह्मा अपूज्य हो गये॥३ ॥

तब विष्णु ने मुझसे वर माँगा कि 'हे भगवन् ! मैं सदा तुम्हारी सेवा में तत्पर रह सकूँ' ऐसा वर दीजिए॥३१॥

तभी से वे नारायण तुम्हारे रूप में उत्पन्न होकर मेरे अर्धांग बने। शक्तिमान् मेरी शक्ति स्वयं नारायण है॥३२॥

और तुम पूर्व जन्म की मेरी पत्नी हो शंकरजी के ऐसा कहने पर पार्वती ने पूछा—'मैं पूर्व जन्म में तुम्हारी स्त्री कैसे हुई, यह बतलाओ'॥३३॥

पार्वती के पूर्वजन्म की संक्षिप्त कथा

तब शिव ने उत्तर दिया—'देवि प्राचीनकाल में दक्ष प्रजापति की तुम और अनेक कन्याएँ उत्पन्न हुईं॥३४॥

दक्ष ने तुम्हें मेरे लिए दिया और धर्म आदि अन्य देवताओं को दूसरी कन्याएँ प्रदान कीं। एक बार उसने अपने यज्ञ में अपने सभी जामाताओं को निमन्त्रित किया॥३५॥

जब उसने मुझे नहीं बुलाया तब तुमने उससे पूछा कि 'हे पिता ! तुमने मेरे पति को क्यों नहीं बुलाया ? ॥३६॥

तब दक्ष ने कहा—'मुर्दों की माला पहननेवाले (अपवित्र) तुम्हारे पति को पवित्र यज्ञ में कैसे बुलाया जाय'। उनके यह वाक्य तुम्हारे कानों में जहरीली सुई के समान चुभे॥३७॥

पिता का उत्तर सुनकर 'इस पापी शरीर से क्या लाभ'—ऐसा सोचकर तुमने क्रोध से उस शरीर का परित्याग कर दिया॥३८॥

हे देवि तुम्हारे शरीर-त्याग करने पर मैंने क्रुद्ध होकर उस दक्षयज्ञ को नष्ट कर दिया और उसके पश्चात् तुम हिमालय के घर में इस तरह उत्पन्न हुईं जैसे क्षीर-समुद्र से चन्द्रकला उत्पन्न हुई थी॥३९॥

देवि स्मरण करो उसके अनन्तर मैं हिमालय पर्वत पर तप करने के लिए आया और तुम्हें तुम्हारे पिता ने मुझ अतिथि की सेवा के लिए नियुक्त किया॥४ ॥

त्रिपुरासुर को मारने के लिए मेरे द्वारा पुत्र प्राप्त करने की इच्छा से देवताओं द्वारा प्रेरित कामदेव उस अवसर पर मुझसे बाधा किया गया था॥४१॥

ततस्तीव्रेण तपसा क्रीतोऽहं धीरया त्वया।
तच्च तत्सङ्गमायैव मया सोढं तव प्रिये!॥४२॥
इत्थं मे पूर्वजाया त्वं किमन्यत्कथ्यते तव।
इत्युक्त्वा विरते शम्भौ देवी कोपाकुलाब्रवीत्॥४३॥

पार्वत्याः प्रणयकोपः

धूर्तस्त्वं न कथां हृद्यां कथयस्यर्थितोऽपि सन्।
गङ्गां वहन्नमन्सन्ध्यां विदितोऽसि न किं मम॥४४॥
श्रुत्वैतत्प्रतिपेदेऽस्या विहितानुनयो हरः।
कथां कथयितुं दिव्यां ततः कोपं मुमोच सा॥४५॥
नेह कश्चित्प्रवेष्टव्य इत्युक्तेन तया स्वयम्।
निरुद्धे नन्दिना द्वारे हरो वक्तुं प्रचक्रमे॥४६॥

पुनरपि कथोपक्रमः

एकान्तसुखिनो देवा मनुष्या नित्यदुःखिताः।
दिव्यमानुषचेष्टा तु परभागे न हारिणी॥४७॥
विद्याधराणां चरितमतस्ते वर्णयाम्यहम्।
इति देव्या हरो यावद्वक्ति तावदुपागमत्॥४८॥

कथावसरे पुष्पदन्तप्रवेशः

प्रसादवित्तकः शम्भोः पुष्पदन्तो गणोत्तमः।
न्यषेधि च प्रवेशोऽस्य नन्दिना द्वारि तिष्ठता॥४९॥
निष्कारणं निषेधोऽद्य ममापीति कुतूहलात्।
अलक्षितो योगवशात्प्रविवेश स तत्क्षणात्॥५ ॥
प्रविष्टः श्रुतवान् सर्वं वर्ण्यमानं पिनाकिना।
विद्याधराणां सप्तानामपूर्वं चरिताद्भुतम्॥५१॥
श्रुत्वाथ गत्वा भार्यायै जयायै सोऽप्यवर्णयत्।
विद्याधराणां सप्तानामपूर्वं चरिताद्भुतम्॥५२॥
सापि तद्विस्मयाविष्टा गत्वा गिरिसुताग्रतः।
जगौ जया प्रतीहारी स्त्रीषु वाक्संयमः कुतः॥५३॥
ततश्चुकोप गिरिजा नापूर्वं वर्णितं त्वया।
जानाति हि जयाप्येतदिति चेश्वरमभ्यधात्॥५४॥

कामदहन के उपरान्त धैर्यशालिनी तुमने कठोर तप करके मुझे खरीद लिया और तुम्हारी प्राप्ति के लिए ही मैंने उसे सहन किया ॥४२॥

इस प्रकार पूर्व जन्म में तुम मेरी पत्नी थी। अब और क्या कहूँ?" इतना कहकर शिवजी के चुप हो जाने पर क्रुद्ध पार्वती बोली ॥४३॥

पार्वती का प्रणय-कोप

तुम धूर्त हो मेरी प्रार्थना पर भी मनोहर कथा नहीं सुना रहे हो। तुम एक ओर गंगा को धारण किये हो और दूसरी ओर सन्ध्या का नमस्कार करते हो यह मैं जानती हूँ ॥४४॥

पार्वती के व्यंग्य वचन सुनकर शिवजी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और दिव्य कथा सुनाने का वचन दिया। इससे पार्वती प्रसन्न हुई ॥४५॥

शिवजी को उद्यत देखकर पार्वती ने स्वयं आज्ञा दी कि यहाँ कोई न आवे। आज्ञानुसार नन्दी के द्वारा प्रवेश बन्द कर देने पर शिवजी ने कथा कहना प्रारम्भ किया ॥४६॥

पुनः कथा का उपक्रम

शिवजी कहने लगे— हे देवि देवता सदा सुखी रहते हैं और मनुष्य नित्य दुःखित रहते हैं। इसलिए उनके चरित्र उत्कृष्ट रूप से मनोहर नहीं होते। अतः मैं दिव्य और मानुष दोनों प्रकृतियों से मिश्रित विद्याधरों का चरित्र तुम्हें सुनाता हूँ। शिवजी यह कह ही रहे थे कि उसी समय उनका एक परम कृपापात्र उनका मनोरंजन करनेवाला गण पुष्पदन्त आ गया और द्वार पर बैठे हुए नन्दी ने उसे रोका ॥४७ ४८ ४९॥

बिना कारण ही मेरे ऐसे भक्त जैसे व्यक्ति का भी निषेध किया जा रहा है' इस कौतूहल के कारण पुष्पदन्त योगशक्ति द्वारा तुरन्त अन्दर पहुँच गया ॥५ ॥

उसने अन्दर प्रवेश कर शिवजी द्वारा वर्णन किये जाते हुए सात विद्याधरों के अपूर्व और अद्भुत चरित्र सुने ॥५१॥

पुष्पदन्त ने, शिवजी के मुख से सुनकर सात विद्याधरों के उन अद्भुत चरित्रों को जाकर अपनी पत्नी जया को सुनाया ॥५२॥

पुष्पदन्त की पत्नी तथा पार्वती की सखी जया ने पति (पुष्पदन्त) से सुने हुए सात विद्याधरों के चरित्र को पार्वती को जा सुनाया। भला स्त्रियों में वाणी का संयम कहाँ सम्भव है! ॥५३॥

जया से यह कथा सुनकर पार्वती ने क्रोधपूर्वक शिवजी से कहा— तुमने कोई अपूर्व कथा मुझे नहीं सुनाई, इस कथा को तो जया भी जानती है' ॥५४॥

प्रणिधानादथ ज्ञात्वा जगादवमुमापतिः।
योगी भूत्वा प्रविश्यमां पुष्पदन्तस्तथाशृणोत् ॥५५॥

पुष्पदन्तं प्रति पार्वतीशापः

जयाय वर्णितं तत् कोऽन्यो जानाति हे प्रिये!
श्रुत्वेत्यानाययद् देवी पुष्पदन्तमिति क्रुधा ॥५६॥
मर्त्यो भवाविनीतेति विह्वलं तं शशाप सा।
माल्यवन्तं च विज्ञप्तिं कुर्वाणं तत्कृते गणम् ॥५७॥

शापान्तकथनम्

निपत्य पादयोस्ताभ्यां जयया सह बोधिता।
शापान्तं प्रति शर्वाणी शनकैर्वचनमब्रवीत् ॥५८॥
विन्ध्याटव्यां कुबेरस्य शापात्प्राप्तः पिशाचताम्।
सुप्रतीकाभिधो यक्षः काणभूत्याख्यया स्थितः ॥५९॥
तं दृष्ट्वा संस्मरन् जातिं यदा तस्मै कथामिमाम्।
पुष्पदन्त! प्रवक्तासि तदा शापाद् विमोक्ष्यसे ॥६०॥
काणभूतेः कथां तां तु यदा श्रोष्यति माल्यवान्।
काणभूतौ तदा मुक्ते कथां प्रख्याप्य मोक्ष्यसे ॥६१॥
इत्युक्त्वा शैलतनया व्यरमत्तौ च तत्क्षणात्।
विद्युत्पुञ्जाविव गणौ दृष्टनष्टौ बभूवतुः ॥६२॥
अथ जातु याति काले गौरी पप्रच्छ शङ्करं सदया।
देव मया तौ शप्तौ प्रमथवरौ कुत्र भुवि जातौ ॥६३॥
अवदच्च चन्द्रमौलिः कौशाम्बीत्यस्ति या महानगरी।
तस्यां स पुष्पदन्तो वररुचिनामा प्रिये! जातः ॥६४॥
अन्यच्च माल्यवानपि नगरवरे सुप्रतिष्ठिताख्ये सः।
जातो गुणाढ्यनामा देवि! तयारेष वृत्तान्तः ॥६५॥
एवं निवेद्य स विभुः सततानुवृत्त
भृत्यावमानन विभावन-सानुतापाम्।
कल्पद्रुमाल-तट-कल्पित कल्पवल्ली
लीलागृहेषु दयितां रमयन्नुवास ॥६६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके
प्रथमस्तरङ्गः।

शिवजी ने समाधि द्वारा वस्तुस्थिति को समझकर पार्वती से कहा—"जब मैं तुम्हें कथा सुना रहा था उस समय पुष्पदन्त ने योग द्वारा अलक्षित रूप से अन्दर जाकर उसे सुना था अन्यथा जया कैसे जानती? ॥५५॥

पुष्पदन्त और माल्यवान् को पार्वती का शाप

प्रिये! उसी पुष्पदन्त ने सारी कथा अपनी पत्नी जया को सुना दी। अन्यथा इस कथा को कौन जानता है। यह सुनकर पार्वती ने अत्यन्त क्रोध के साथ पुष्पदन्त को बुलवाया॥५६॥

व्याकुल हुए पुष्पदन्त को तथा उसे क्षमा करने की प्रार्थना करते हुए माल्यवान् नामक गण को पार्वती ने शाप दिया कि तुम लोग मनुष्य-योनि में उत्पन्न हो ॥५७॥

शापान्त की घोषणा

जब वे दोनों गण जया के साथ पार्वती के चरणों में गिरकर, क्षमा प्रार्थना करने लगे तब पार्वती ने शाप के अन्त की घोषणा करते हुए कहा—॥५८॥

सुप्रतीक नाम का यक्ष कुबेर के शाप से विन्ध्यारण्य में पिशाच बनकर रहता है जो काणभूति के नाम से प्रसिद्ध है॥५९॥

हे पुष्पदन्त जब तुम उस काणभूति को देखकर अपने पूर्वजन्म का स्मरण करोगे और यह कथा उसे सुनाओगे तब शाप से मुक्त हो जाओगे॥६०॥

यह माल्यवान् जब काणभूति से इस कथा को सुनकर प्रसारित करेगा तब काणभूति के मुक्त होने पर यह भी मुक्त हो जायेगा"॥६१॥

ऐसा कहकर नग-नन्दिनी पार्वती चुप हो गई और वे दोनों गण उसी क्षण देखते-देखते ही अन्तर्धान हो गए॥६२॥

तदनन्तर कुछ समय बीतने पर पार्वती ने करुणायुक्त होकर शिव से पूछा कि—"देव! मुझसे शापित वे दोनों गण कहाँ उत्पन्न हुए? ॥६३॥

तब चन्द्रशेखर शिव ने कहा—'प्रिये! कौशाम्बी नाम की जो महानगरी है उसमें पुष्पदन्त वररुचि के नाम से उत्पन्न हुआ है॥६४॥

और वह माल्यवान् गण भी सुप्रतिष्ठित नाम के नगर में गुणाढ्य नाम से उत्पन्न हुआ है—यही उन दोनों का वृत्तान्त है"॥६५॥

भगवान् शिव इस प्रकार कहकर, निरन्तर सेवा-निरत सेवकों के अपमान से सन्तप्त पार्वती का मनोविनोद करते हुए, कैलास-तट पर बने हुए कल्प-लता के कुंज-गृहों में विहार करने लगे॥६६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर का कथापीठ लम्बक नामक प्रथम तरंग समाप्त।

१ पांडव वंश के राजाओं ने हस्तिनापुर को छोड़कर 'कौशाम्बी' को अपनी राजधानी बनाया था। उस नगरी की स्थिति के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद है। किन्तु आजकल यह सिद्धान्त प्रायः स्थिर है कि प्रयाग से पश्चिम १४ कोस की दूरी पर स्थित 'कौसम' गांव ही प्राचीन कौशाम्बी है। यहाँ एक महासागर के अनेक भग्नावशेष मिले हैं। महात्मा बुद्ध ने भी यहाँ निवास किया था। पुरातत्त्व-विभाग द्वारा खुदाई करने पर प्राचीन नगरी के तथा बुद्ध-सम्बन्धी अवशेष प्राप्त हुए हैं।

द्वितीयस्तरङ्गः

वररुचेर्विन्ध्यवासिनीं प्रति गमनम्

ततः स मर्त्यवपुषा पुष्पदन्तः परिभ्रमन्।
नाम्ना वररुचिः किञ्च कात्यायन इति श्रुतः ॥१॥
पारं सम्प्राप्य विद्यानां कृत्वा नन्दस्य मन्त्रिताम्।
खिन्नः समाययौ द्रष्टुं कदाचिद् विन्ध्यवासिनीम् ॥२॥
तपसाराधिता देवी स्वप्नादेशेन सा च तम्।
प्राहिणोद्विन्ध्यकान्तारं काणभूतिमवेक्षितुम् ॥३॥
व्याघ्रवानरसङ्कीर्णे निस्तोयपरुषद्रुमे।
भ्रमंस्तत्र च स प्रांशुं न्यग्रोधतरुमैक्षत ॥४॥

वररुचेः काणभूतिना समागमः

ददर्श च समीपेऽस्य पिशाचानां शतैर्वृतम्।
काणभूतिं पिशाचं स वर्ष्मणा सालसन्निभम् ॥५॥
स काणभूतिना दृष्ट्वा कृतपादोपसंग्रहः।
कात्यायनो जगादैनमुपविष्टः क्षणान्तरे ॥६॥
सदाचारो भवानेवं कथमेतां गतिं गतः।
तच्छ्रुत्वा कृतसौहार्दं काणभूतिस्तमब्रवीत् ॥७॥

काणभूतिर्वर्णिता शिवोक्ता कथा

स्वतो मे नास्ति विज्ञानं किं तु शर्वान्मया श्रुतम्।
उज्जयिन्यां श्मशाने यच्छृणु तत्कथयामि ते ॥८॥
कपालेषु श्मशानेषु कस्माद्देव ! रतिस्तव।
इति पृष्टस्ततो देव्या भगवानिदमब्रवीत् ॥९॥
पुरा कल्पक्षये वृत्ते जातं जलमयं जगत्।
मया ततो विभिद्योरुं रक्तबिन्दुर्निपातितः ॥१०॥
जलान्तस्तदभूदण्डं तस्माद्वेधाकृतात्पुमान्।
निरगच्छत्ततः सृष्टा सर्गाय प्रकृतिर्मया ॥११॥
तौ च प्रजापतीनन्यान् सृष्टवन्तौ प्रजाश्च ते।
अतः पितामहः प्रोक्तः स पुमाञ्जगति प्रिये ! ॥१२॥
एवं चराचरं सृष्ट्वा विश्वं दर्पमगादसौ।
पुरुषस्तेन मूर्धानमथ तस्याहमच्छिदम् ॥१३॥

द्वितीय तरंग

वररुचि (पुष्पदन्त) की कथा

मानव-शरीर धारण किये हुए पुष्पदन्त नामक गण वररुचि[1] एवं कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१॥

समस्त विद्याओं का पूर्ण अध्ययन तथा सम्राट नन्द का मन्त्रित्व करके वह (कात्यायन) एक बार खिन्न होकर विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए आया ॥२॥

तपस्या से आराधित विन्ध्यवासिनी देवी ने स्वप्न में वररुचि को एक आदेश दिया। उस आदेश के अनुसार वह काणभूति को देखने के लिए विन्ध्यारण्य में गया ॥३॥

बाघ और वानरों से भरे हुए, जल-रहित एवं रूखे वृक्षों से व्याप्त उस विन्ध्यारण्य में उसने अत्यन्त ऊँचे और विस्तृत बरगद-वृक्ष को देखा ॥४॥

पुष्पदन्त ने उस वटवृक्ष के पास सैकड़ों पिशाचों से घिरे हुए शालवृक्ष के समान लम्बे काणभूति को देखा ॥५॥

काणभूति ने कात्यायन को देखकर उसके चरण छूकर प्रणाम किया और कुछ समय के उपरान्त विश्राम कर लेने पर कात्यायन ने काणभूति से पूछा ॥६॥

हे काणभूते! ऐसे सदाचारी होकर तुम ऐसी हीन गति को कैसे प्राप्त हुए? कात्यायन के स्नेहपूर्ण प्रश्न को सुनकर काणभूति ने कहा ॥७॥

मुझे स्वयं यह बात नहीं है कि मैं इस गति को कैसे प्राप्त हुआ किन्तु उज्जयिनी नगरी में—श्मशान में—शिवजी से जो मैंने सुना है वह तुम्हें कहता हूँ सुनो ॥८॥

एक बार पार्वती के यह पूछने पर कि 'भगवन्! कपाल-मुण्डों से और श्मशानों से तुम्हें अधिक प्रेम क्यों है? शिवजी ने उत्तर दिया ॥९॥

'प्राचीनकाल में प्रलय उपस्थित होने पर सारा संसार जलमय हो गया था। उस समय मैंने अपनी जाँघ को चीरकर उस जल में रक्त की एक बूँद डाल दी ॥१० ॥

वह रक्त-बिन्दु जल के भीतर अंडे के रूप मे परिणत हो गया। उसे फोड़ने पर उसमें से एक पुरुष निकला। उस पुरुष को देखकर सृष्टि के लिए मैंने प्रकृति की रचना की ॥११॥

इस प्रकार उन दोनों ने अन्यान्य प्रजापतियों को उत्पन्न किया और उन प्रजापतियों ने अन्य प्रजाओं का उत्पादन किया। इसलिए, हे देवि! वह प्रथम पुरुष सबसे पुराना होने के कारण जगत में पितामह के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१२॥

इस प्रकार चर और अचर-विश्व का सर्जन कर उस पुरुष को यह दर्प हो गया कि मैंने इतनी बड़ी रचना कर डाली। उसके दर्प से क्रुद्ध होकर मैंने उस पुराण-पुरुष का सिर काट डाला ॥१३॥

---

१ वररुचि प्राचीन महावैयाकरण है। उसका दूसरा नाम कात्यायन भी है जो उसके गोत्र से सम्बन्ध रखता है। इस नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं। इनका विवेचन परिशिष्ट प्रकरण में किया गया है।

द्वितीयस्तरङ्गः

वररुचेर्विन्ध्यवासिनीं प्रति गमनम्

ततः स मर्त्यवपुषा पुष्पदन्तः परिभ्रमन्।
नाम्ना वररुचिः किं च कात्यायन इति श्रुतः॥१॥
पारं सम्प्राप्य विद्यानां कृत्वा नन्दस्य मन्त्रिताम्।
खिन्नः समाययौ द्रष्टुं कदाचिद् विन्ध्यवासिनीम्॥२॥
तपसाराधिता देवी स्वप्नादेशेन सा च तम्।
प्राहिणोद्विन्ध्यकान्तारं काणभूतिमवेक्षितुम्॥३॥
व्याघ्रवानरसंकीर्णं निस्तोयपरुषद्रुमम्।
भ्रमंस्तत्र च स प्रांशुं न्यग्रोधतरुमैक्षत॥४॥

वररुचेः काणभूतिना समागमः

ददर्श च समीपेऽस्य पिशाचानां शतैर्वृतम्।
काणभूतिं पिशाचं तं वर्ष्मणा सालसन्निभम्॥५॥
स काणभूतिना दृष्ट्वा कृतपादोपसंग्रहः।
कात्यायनो जगादैनमुपविष्टः क्षणान्तरे॥६॥
सदाचारो भवानेवं कथमेतां गतिं गतः।
तच्छ्रुत्वा कृतसौहार्दं काणभूतिस्तमब्रवीत्॥७॥

काणभूतिवर्णिता शिवोक्ता कथा

स्वतो मे नास्ति विज्ञानं किं तु शर्वान्मया श्रुतम्।
उज्जयिन्यां श्मशाने यच्छृणु तत्कथयामि ते॥८॥
कपालेषु श्मशानेषु कस्माद्देव ! रतिस्तव।
इति पृष्टस्ततो देव्या भगवानिदमब्रवीत्॥९॥
पुरा कल्पक्षये वृत्ते जातं जलमयं जगत्।
मया ततो विभिद्योरुं रक्तबिन्दुर्निपातितः॥१०॥
जलान्तस्तदभूदण्डं तस्माद्द्वेधाकृतात्पुमान्।
निरगच्छत्ततः सृष्टा सर्गाय प्रकृतिर्मया॥११॥
तौ च प्रजापतीनन्यान् सृष्टवन्तौ प्रजाश्च ते।
अतः पितामहः प्रोक्तः स पुमाञ्जगति प्रिये !॥१२॥
एवं चराचरं सृष्ट्वा विश्वं दर्पमगादसौ।
पुरुषस्तेन मूर्धानमथ तस्याहमच्छिदम्॥१३॥

द्वितीय तरंग

वररुचि (पुष्पदन्त) की कथा

मानव-शरीर धारण किये हुए पुष्पदन्त नामक गण वररुचि[1] एवं कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१॥

समस्त विद्याओं का पूर्ण अध्ययन तथा सम्राट् नन्द का मन्त्रित्व करके वह (कात्यायन) एक बार खिन्न होकर विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए आया ॥२॥

तपस्या से आराधित विन्ध्यवासिनी देवी ने स्वप्न में वररुचि को एक आदेश दिया। उस आदेश के अनुसार वह काणभूति को देखने के लिए विन्ध्यारण्य में गया ॥३॥

बाघ और वानरों से भरे हुए, जल-रहित एवं सूखे वृक्षों से व्याप्त उस विन्ध्यारण्य में उसने अत्यन्त ऊँचे और विस्तृत बरगद वृक्ष को देखा ॥४॥

पुष्पदन्त ने उस वटवृक्ष के पास सैकड़ों पिशाचों से घिरे हुए सालवृक्ष के समान लम्बे काणभूति को देखा ॥५॥

काणभूति ने कात्यायन को देखकर उसके चरण छूकर प्रणाम किया और कुछ समय के उपरान्त विश्राम कर लेने पर कात्यायन ने काणभूति से पूछा ॥६॥

हे काणभूते ! ऐसे सदाचारी होकर तुम ऐसी हीन गति को कैसे प्राप्त हुए ? कात्यायन के स्नेहपूर्ण प्रश्न को सुनकर काणभूति ने कहा ॥७॥

मुझे स्वयं यह ज्ञात नहीं है कि मैं इस गति को कैसे प्राप्त हुआ किन्तु उज्जयिनी नगरी में—श्मशान में—शिवजी से जो मैंने सुना है वह तुम्हें कहता हूँ सुनो ॥८॥

एक बार पार्वती के यह पूछने पर कि 'भगवन् ! कपाल-मुण्डों से और श्मशानों से तुम्हें अधिक प्रेम क्यों है ? शिवजी ने उत्तर दिया ॥९॥

'प्राचीनकाल में प्रलय उपस्थित होने पर सारा संसार जलमय हो गया था। उस समय मैंने अपनी जाँघ को चीरकर उस जल में रक्त की एक बूँद डाल दी ॥१ ॥

वह रक्त-बिन्दु जल के भीतर अण्ड के रूप में परिणत हो गया। उसे फाड़ने पर उसमें से एक पुरुष निकला। उस पुरुष को देखकर सृष्टि के लिए मैंने प्रकृति की रचना की ॥११॥

इस प्रकार उन दोनों ने अन्य प्रजापतियों को उत्पन्न किया और उन प्रजापतियों ने अन्य प्रजाओं का उत्पादन किया। इसलिए, हे देवि ! वह प्रथम पुरुष सबसे पुराना होने के कारण जगत् में पितामह के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥१२॥

इस प्रकार चर और अचर-विश्व का सर्जन कर उस पुरुष को यह दर्प हो गया कि मैंने इतनी बड़ी रचना कर डाली। उसके दर्प से क्रुद्ध होकर मैंने उस पुरातन-पुरुष का सिर काट डाला ॥१३॥

---

१ वररुचि प्राचीन महावैयाकरण है। उसका दूसरा नाम कात्यायन भी है जो उसके गोत्र से सम्बन्ध रखता है। इस नाम के अनेक विद्वान् हुए हैं। इनका विवेचन परिशिष्ट प्रकरण में किया गया है।

ततोऽनुतापेन मया महाव्रतमगृह्यत।
अतः कपालपाणित्वं श्मशानप्रियता च मे॥१४॥
किं चास्मै कपालात्म जगद्देवि! करे स्थितम्।
पूर्वोक्ताण्डकपाले द्वे रोदसी[1] परिकीर्तिते॥१५॥
इत्युक्ते शम्भुना तत्र श्रोष्यामीति सकौतुकम्।
स्थिते मयि ततो भूयः पार्वती पतिमभ्यधात्॥१६॥
स पुष्पदन्तः कियता कालेनास्मानुपैष्यति।
तदाकर्ण्याब्रवीद्देवी मामुद्दिश्य महेश्वरः॥१७॥
पिशाचो दृश्यते योऽयमयं वैश्रवणानुगः।
यक्षो मित्रमभूच्चास्य रक्षःस्थूलशिरा इति॥१८॥
संगतं तेन पापेन निरीक्ष्यैनं धनाधिपः।
विन्ध्याटव्यां पिशाचत्वमादिशद् धनदेश्वरः॥१९॥
भ्रात्रास्य दीर्घजङ्घेन पतित्वा पादयोस्ततः।
शापान्तं प्रति विज्ञप्तो वदति स्म धनाधिपः॥२०॥
शापावतीर्णादाकर्ण्य पुष्पदन्तान्महाकथाम्।
उक्त्वा माल्यवते तां च शापात्प्राप्ताय मर्त्यताम्॥२१॥
ताभ्यां गणाभ्यां सहितः शापमेनं तरिष्यति।
इतीह धनदेनास्य शापान्तो विहितस्तदा॥२२॥
त्वया च पुष्पदन्तस्य स एवेति स्मर प्रिये।
एतच्छ्रुत्वा वचः शम्भोः सहर्षाहमिहागता॥२३॥
इत्थं मे शापदोषोऽयं पुष्पदन्तागमावधि।
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन् काणभूतौ च तत्क्षणम्॥२४॥
स्मृत्वा वररुचिर्जातिं सुप्तोत्थित इवावदत्।
स एव पुष्पदन्तोऽहं मत्तस्तां च कथां शृणु॥२५॥
इत्येव ग्रन्थलक्षाणि सप्त सप्त महाकथाः।
कात्यायनेन कथिता काणभूतिस्ततोऽब्रवीत्॥२६॥
देव! रुद्रावतारस्त्वं कोऽन्यो वेत्ति कथामिमाम्।
त्वत्प्रसादाद् गतप्रायः स शापो मे शरीरगः॥२७॥

---

१ द्यावापृथिव्यौ रोदस्यौ—अमरः।

उस हत्या के लिए मन पश्चाताप हुआ और तब मैंने यह महान् व्रत धारण किया कि सदा कपाल धारण करूँगा और श्मशान में निवास करूँगा ॥१४॥

हे देवि! दूसरी बात यह भी है कि यह कपाल-रूपी समस्त संसार सदा मेरे हाथ में रहता है। पहले कहा हुआ अंडा और यह कपाल दोनों ही आकाश और पृथ्वी कहे जाते हैं ॥१५॥

शिवजी के इस प्रकार कहने पर फिर मैं भी कौतूहल से सुनूँगा'—ऐसा सोच ही रहा था कि—पार्वती ने पुनः शंकरजी से कहा ॥१६॥

वह पुष्पदन्त गण कितने दिनों में लौटकर हमारे पास आवेगा?—पार्वती का यह प्रश्न सुनकर महादेव ने मुझे लक्ष्य करके कहा ॥१७॥

यहाँ कुबेर का अनुचर, जो यह पिशाच दीख रहा है उसका मित्र स्थूलशिरा नामक राक्षस है ॥१८॥

धनपति कुबेर ने उस यक्ष (काणभूति) का इस पापी राक्षस (स्थूलशिरा) की संगति में देखकर शाप दिया कि तू विन्ध्यारण्य में पिशाच बनेगा' ॥१ ॥

इसके बड़े भाई दीर्घजंघ ने जब कुबेर के चरणों में पड़कर शाप का अन्त करने की प्रार्थना की तब कुबेर ने कहा ॥२ ॥

शाप से पृथ्वी पर अवतीर्ण पुष्पदन्त गण के द्वारा जब यह महाकथा को सुनेगा और इसी प्रकार शाप से मनुष्यता को प्राप्त कर माल्यवान् को समस्त कथा प्रदान करेगा (सुनाएगा ॥२१॥)

तब उन दोनों शाप-मुक्त गणों के साथ इस काणभूति का भी शाप-मोचन होगा। इस प्रकार कुबेर ने शाप का अन्त किया ॥२२॥

"हे प्रिये! काणभूति से मिलते ही पुष्पदन्त के शाप का अन्त हो जायगा ऐसा तुमने कहा था इसे स्मरण करो। शिव के इस वचन [को सुन कर मैं हर्ष के साथ यहाँ आया ॥२३॥

इस प्रकार मेरा शापदोष पुष्पदन्त के मिलने तक था।

ऐसा कहकर काणभूति के मौन होने पर उसी समय पूर्वजन्म का स्मरण करके वररुचि मानों नींद से जगा और बोला—"मैं वही पुष्पदन्त हूँ। मुझसे वह कथा सुनो। ॥२४ २५॥

इस प्रकार कात्यायन ने सात लाख श्लोकों में सात महाकथाएँ काणभूति से कहीं। उन्हें सुनकर काणभूति ने कहा ॥२६॥

हे देव! तुम सचमुच रुद्र के अवतार हो। उनके अतिरिक्त इन कथाओं को अन्य कौन जानता है। तुम्हारी कृपा से मेरे शरीर से पिशाचत्व का शाप निकल रहा है ॥२७॥

तद् ब्रूहि निजवृत्तान्तं जन्मनः प्रभृति प्रभो।
मां पवित्रय भूयोऽपि न गोप्यं यदि मादृशे ॥२८॥
ततो वररुचिस्तस्य प्रणतस्यानुरोधतः।
सर्वमाजन्मवृत्तान्तं विस्तरादिदमब्रवीत् ॥२९॥
कौशाम्ब्यां सोमदत्ताख्यो नाम्नाग्निशिख इत्यपि।
द्विजोऽभूत्तस्य भार्या च वसुदत्ताभिधाभवत् ॥३०॥
मुनिकन्या च सा शापात्तस्यां जातावतारत्।
तस्यां तस्माद् द्विजवराच्चैष जातोऽस्मि साम्प्रतं ॥३१॥
ततो ममातिबालस्य पिता पञ्चत्वमागतः।
अतिष्ठद् वर्द्धयन्ती तु माता मां कृच्छ्रकर्मभिः ॥३२॥
अथाभ्यागच्छतां विप्रौ द्वावस्मद्गृहमेकदा।
एकरात्रिनिवासार्थं दूराध्वपरिधूसरौ ॥३३॥
तिष्ठतोस्तत्र च तयोरुदभून्मुरजध्वनिः।
तेन मामब्रवीन्माता भर्तुः स्मृत्वा सगद्गदम् ॥३४॥
नृत्यत्येष पितुर्मित्रं तव नन्दो नटः सुत!
अहमप्यवदं मातर्द्रष्टुमेतद्व्रजाम्यहम् ॥३५॥
तथापि दर्शयिष्यामि सपाठं सर्वमेव तत्।
एतन्मद्वचनं श्रुत्वा विप्रौ तौ विस्मयं गतौ ॥३६॥
अथोचतौ च मन्माता हे पुत्री! नात्र संशयः।
सकृच्छ्रुतमयं बालः सर्वं वै धारयेद्धृदि ॥३७॥
जिज्ञासार्थमथाभ्यां मे प्रातिशाख्यमपठ्यत।
तथैव तन्मया सर्वं पठितं पश्यतोस्तयोः ॥३८॥
ततस्ताभ्यां समं गत्वा दृष्ट्वा नाट्यं तथैव तत्।
गृहमेत्याग्रतो मातुः समग्रं दर्शितं मया ॥३९॥
एकश्रुतधरत्वं मां निश्चित्य कथामिमाम्।
व्याडिनामा तयोरेको मन्मातुः प्रणतोऽब्रवीत् ॥४०॥

---

१ वैदिकं व्याकरणम्। २ व्याडिरयं संग्रहाख्यस्य ग्रन्थस्य प्रणेता एतद् वि
परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

इसलिए, हे नाथ! तुम जन्म से लेकर आजतक का अपना समस्त वृत्तान्त यदि मुझ-जैसे व्यक्ति से गोपनीय न हो तो कहो और मुझे पुनः पवित्र करो॥२८॥

इसके अनन्तर नम्रतापूर्वक अनुरोध करते हुए काणभूति से वररुचि ने विस्तारपूर्वक अपना वृत्तान्त कहना प्रारम्भ किया॥२९॥

वररुचि की जन्म-कथा

कौशाम्बी नगरी में सोमदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। उसे अग्निशिख भी कहते थे। उसकी पत्नी का नाम वसुदत्ता था॥३०॥

वसुदत्ता पूर्वजन्म में मुनि कन्या थी जो शाप के कारण मानव जाति में उत्पन्न हुई थी। उसी वसुदत्ता के गर्भ से मेरी उत्पत्ति हुई॥३१॥

मेरे शैशव में ही मेरे पिता परलोकगामी हो गये। अतः मेरी माता ने बड़े ही कष्ट के साथ मेरा पालन-पोषण किया॥३२॥

एक बार हमारे घर में लम्बे मार्ग-श्रम से श्रान्त दो ब्राह्मण एक रात निवास के लिए आये॥३३॥

उनके हमारे यहाँ रहते हुए एक बार मृदंग की ध्वनि हुई। उसे सुनकर मेरी माता अपने पति का स्मरण करके गद्गद स्वर में बोली॥३४॥

बेटा! तुम्हारे पिता का मित्र नन्द नाम का नट नाच रहा है। मैंने भी कहा माता! मैं उसका नाच देखने जाता हूँ।॥३५॥

मैं उसका नाच देखकर उससे अक्षरशः कथोपकथन के साथ अभिनय करते हुए तुम्हें भी दिखाऊँगा। मेरी यह बात सुनकर वे दोनों ब्राह्मण अति आश्चर्यान्वित हुए॥३६॥

उन्हें शंकित देखकर मेरी माता बोली—हे पुत्रो! यह बालक एक बार जो कुछ सुन लेता है उसे हृदय में धारण कर लेता है, इसमें कोई संशय नहीं॥३७॥

उन्होंने मेरी परीक्षा के लिए प्रातिशाख्य[1] (वैदिक व्याकरण) पढ़ाया और मैंने उनके सामने ही उसे यथावत् सुना दिया॥३८॥

इसके अनन्तर मैंने उन दोनों के साथ जाकर नन्द नट का नाच देखा और घर आकर माता के सामने सम्पूर्ण नाटक वैसा ही दिखा दिया जैसा देखा था॥३९॥

एक बार सुनकर स्मरण रखनेवाला मुझे जानकर उन दोनों अतिथियों में एक व्याडि[2] नामक ब्राह्मण मेरी माता को प्रणाम करके बोला॥४०॥

---

१ वैदिक व्याकरण का एक ग्रन्थ जिसमें उच्चारण-सम्बन्धी वैदिक व्याकरण के नियम लिखे हैं।

२ व्याडि ने व्याकरण-शास्त्र पर संग्रह नामक महाग्रन्थ लिखा है। इसका विवेचन, परिशिष्ट प्रकरण में देखिए।—अनु

धनसाख्ये पुरे मातर्देवस्वामिकरम्भकौ।
अभूतां भ्रातरौ विप्रावतिप्रीतौ परस्परम् ॥४१॥
तयोरेकस्य पुत्रोऽयमिन्द्रदत्तोऽपरस्य च।
अहं व्याडि समुत्पन्नो मत्पितास्त गतस्ततः ॥४२॥
तच्छोकादिन्द्रदत्तस्य पिता यातो महापथम्।
अस्मज्जनन्योश्च ततः स्फुटितं हृदयं शुचा ॥४३॥
सनाथावपि सति धनेऽप्यावां विद्याभिकाङ्क्षिणौ।
गतौ प्रार्थयितुं स्वामिकुमारं तपसा ततः ॥४४॥
तपःस्थितौ च तत्रावां स स्वप्ने प्रभुरादिशत्।
अस्ति पाटलिकं नाम पुरं नन्दस्य भूपतेः ॥४५॥
तत्रास्ति चको वर्षाख्यो विप्रस्तस्मादवाप्स्यथः।
कृत्स्नां विद्यामतस्तत्र युवाभ्यां गम्यतामिति ॥४६॥
अथावां तत्पुरं यातौ पृच्छतोस्तत्र चावयोः।
अस्तीह मूर्खो वर्षाख्यो विप्र इत्यवदज्जनः ॥४७॥
ततो दोलाधिरूढेन गत्वा चित्तेन तत्क्षणम्।
गृहमावामपश्याव वर्षस्य विधुरस्थिति ॥४८॥
मूषकैः कृतवल्मीकं भित्तिविच्छिन्नपञ्जरम्।
विच्छायं छविया हीनं च मक्षत्रमिवापदाम् ॥४९॥
तत्र ध्यानस्थितं वर्षमालोक्याभ्यन्तरे तथा।
उपागतौ स्वस्तत्पत्नीं विहितातिथ्यसत्क्रियाम् ॥५०॥
धूसरक्षामवपुषं विशीर्णमलिनाम्बराम्।
गुणरागागतां तस्य रूपिणीमिव दुर्गतिम् ॥५१॥
प्रणामपूर्वमावाभ्यां तस्य सोऽथ निवेदितः।
स्ववृत्तान्तस्य तद्भर्तुर्मौर्ख्यवार्ता च या श्रुता ॥५२॥
पुत्रौ युवां मे का लज्जा श्रूयतां कथयामि वाम्।
इत्युक्त्वा सावयोः साध्वी कथामेतामवर्णयत् ॥५३॥

वर्षचरितम्

शङ्करस्वामिनामात्र नगरेऽभूद्द्विजोत्तमः।
मद्भर्ता चोपवर्षश्च तस्य पुत्राविमावुभौ ॥५४॥

१ इमाववस्तुविषयेऽपि परिशिष्टेऽवलोकनीयम्। २ वर्षोऽयं पाणिनेस्वाम्याव इति प्रवादः। तद्विषयेऽपि परिशिष्टे विवरणं द्रष्टव्यम्।

व्याडि की कथा

हे माता! वेतस नामक नगर में देवस्वामी और करम्भक नाम के दो ब्राह्मण भाई थे। वे परस्पर अत्यन्त प्रेमपूर्वक रहते थे ॥४१॥

उन दोनों में एक का पुत्र यह इन्द्रदत्त और दूसरे का पुत्र व्याडि नामक मैं हूँ। मेरे जन्म के पश्चात् मेरे पिता का देहान्त हो गया ॥४२॥

भाई के शोक से इन्द्रदत्त के पिता भी स्वर्ग को प्रयाण कर गये। पतियों के शोक से हम दोनों की माताओं के हृदय भी विदीर्ण हो गये—अर्थात् वे मर गई ॥४३॥

इस प्रकार हम दोनों अनाथ हो गये। धन होने पर भी विद्या-प्राप्ति की अभिलाषा से हमलोग तपस्या द्वारा स्वामी कार्तिक को प्रसन्न करने गये ॥४४॥

तपस्या करते हुए हमलोगों को स्वप्न में स्वामी कार्तिक ने आदेश दिया कि राजा नन्द का पाटलिपुत्र नामक एक नगर है ॥४५॥

उस नगर में वर्ष नाम का एक ब्राह्मण है। उसके समीप जाकर तुमलोग समस्त विद्याओं को प्राप्त कर सकते हो, अतः तुम दोनों वहीं जाओ ॥४६॥

ऐसा जानकर हम दोनों पाटलिपुत्र गये। वहाँ पूछने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ वर्ष नाम का एक मूर्ख रहता है। ऐसा आश्चर्यजनक समाचार लोगों ने दिया ॥४७॥

तब भी संशयान्वित मन से उसी समय हमलोगों ने जाकर वर्ष के जीर्ण-शीर्ण और पुराने घर को देखा ॥४८॥

वर्ष का घर चूहे के बिलों और छाजविहीन भित्तियों के कारण टूटे-फूटे छप्परों से भी हीन ऐसा लगता था मानों आपत्तियों का जन्मस्थान हो ॥४९॥

उस मकान के भीतर हमलोगों ने ध्यानमग्न वर्ष को देखा। उसके पश्चात् हम आतिथ्य सत्कार करनेवाली उसकी स्त्री के समीप गये ॥५ ॥

भूरे और रूखे शरीरवाली फटे पुराने और मलिन वस्त्र पहिने हुई मूर्तिमती दुर्गति के समान उसकी स्त्री थी ॥५१॥

उसकी पत्नी को प्रणाम कर हमलोगों ने अपने आने का कारण और समाचार कहा और यह भी कह दिया कि सारे नगर में आपके पति मूर्ख-रूप में कुख्यात हैं ॥५२॥

हमारी बातें सुनकर वर्ष की पत्नी ने कहा—पुत्रो! तुम मेरे पुत्र के समान हो। तुमसे लज्जा या संकोच करने की क्या आवश्यकता है। ऐसा कहकर उस पतिव्रता ने हमें यह कथा सुनाई ॥५३॥

वर्ष का चरित्र

इस पाटलिपुत्र नगर में शंकर स्वामी नाम का एक ब्राह्मण था। उसके दो पुत्र हुए, एक मेरा पति वर्ष और दूसरा उपवर्ष ॥५४॥

अथ मूर्खो वरिद्रश्च विपरीतोऽस्य मातुलः ।
तेन चास्य नियुक्ताभूत् स्वभार्या गृहपोषणे ॥५५॥
कदाचिदथ सम्प्राप्ता प्रावृट् तस्यां च योषिता ।
सगुड पिष्टरचित गुह्यरूपं जुगुप्सितम् ॥५६॥
कृत्वा मूर्खाय विप्राय दक्त्वा हस्ते हि ता ।
शीतकाले निवाते च स्नानक्लमक्लमापहम् ॥५७॥
दत्त मे प्रतिपद्यस्व इत्याचारो हि कुत्सित ।
सर्वेवरगृहिण्या मे दत्तमस्मै सदक्षिणम् ॥५८॥
तद्गृहीत्वायमायातो मया निर्भर्त्सितो भृशम् ।
मूकमावकुलेनान्तर्मन्युना पयतप्यत ॥५९॥
तत स्वामिकुमारस्य पादमूल गतोऽभवत् ।
तपस्तुष्टेन तेनास्य सर्वा विद्या प्रकाशिता ॥६०॥
सकृच्छ्रुतधर विप्र प्राप्यैतास्त्व प्रकाशय ।
इत्यादिष्ट स तेनैव सहर्षोऽप्यमिहागत ॥६१॥
आगत्यैव च वृत्तान्त सव मह्य न्यवेदयत् ।
सदा प्रभृत्यविरत जपन्ध्यायश्च तिष्ठति ॥६२॥
अत श्रुतधर कश्चिदन्विष्यानयत युवाम् ।
तेन सर्वार्थसिद्धिर्वां भविष्यति न सशय ॥६३॥
श्रुत्वैतद्वर्षपत्नीतस्तूर्ण दौगत्यहामये ।
दत्त्वा हेमशत चास्य निर्गतौ स्वस्तव पुरात् ॥६४॥
अथावा पृथिवी भ्रान्तौ न च श्रुतधर क्वचित् ।
लब्धवन्तौ तत श्रान्तौ प्राप्तावद्य गृह तव ॥६५॥
एकश्रुतधर प्राप्तो बालोऽयं तनयस्तव ।
तदर्न देहि गच्छावो विद्याद्रविण[1]-सिद्धय ॥६६॥
इति व्याडिवच श्रुत्वा म माता मादराऽवदत् ।
सव सङ्गतमेवतदस्त्यत्र प्रत्ययो मम ॥६७॥
तथाहि पूर्वं जातेऽस्मिन्नेकपुत्रे मम स्फुटा ।
गगनादवमुन्मूदशरीरा सरस्वती ॥६८॥

---

१ विद्याद्रविणं धन इविर्ण—धनं तस्य लाभसिद्ध्यर्थं ।

उन दोनों में बड़ा पुत्र मूर्ख और दरिद्र था। छोटा उपवर्ष इसके विपरीत विद्वान् और धनी हुआ। उस उपवर्ष ने प्रारम्भ में वर्ष के घर की व्यवस्था करने के लिए अपनी पत्नी को नियुक्त किया था॥५५॥

इसी क्रम से रहते हुए एक बार वर्षा-ऋतु आ गई, जिसमें स्त्रियाँ गुड़ के साथ आटे से निर्मित गुह्य का रूप बनाकर निन्दनीय रूप से मूर्ख ब्राह्मणों को दान देती हैं। इसी प्रकार शीत और ग्रीष्म-ऋतु में क्रमशः स्नान और पसीने के कष्ट को हरण करने वाली वस्तुएँ दान करती हैं। इस प्रकार के दान को नहीं लिया जाता। यह अत्यन्त कुत्सित आचार है। वह दान तो मेरे देवर की पत्नी ने दक्षिणा-सहित मेरे पति वर्ष को मूर्ख समझकर दिया॥५६, ५७ ५८॥

उसे लेकर जब वे घर आये तो मैंने उन्हें खूब फटकारा। अपनी मूर्खता के कारण होनेवाले सन्ताप से वे अत्यन्त सन्तप्त हुए॥५९॥

इसके पश्चात् वर्ष तपस्या से स्वामी कार्तिक को प्रसन्न करने चले गये। प्रसन्न होकर स्वामि कार्तिक ने उन्हें वरदान द्वारा समस्त विद्याएँ प्रदान की॥६ ॥

और स्वामी कार्तिक ने आदेश दिया कि एक बार सुनकर स्मरण रखनेवाले ब्राह्मण को प्राप्त कर तुम इन विद्याओं को प्रकट करना। इस प्रकार कार्तिकेय से वरदान प्राप्त कर वर्ष हर्षपूर्वक यहाँ आ गये॥६१॥

यहाँ से आकर उन्होंने समस्त वृत्तान्त मुझे बताया और तभी से वे निरन्तर जप और ध्यान में मग्न रहते हैं॥६२॥

इसलिए आपलोग एक बार ही सुनकर स्मरण रखनेवाले किसी छात्र को ढूँढें। इससे तुम दोनों की मनस्कामना पूर्ण होगी इसमें सन्देह नहीं॥६३॥

वर्ष की पत्नी से इस प्रकार सुनकर हम दोनों ने उसकी तात्कालिक दरिद्रता दूर करने के लिए उसे एक सौ स्वर्ण-मुद्राएँ दीं और उस नगर से चले गये॥६४॥

तदनन्तर हम दोनों सारी पृथ्वी पर घूमे किन्तु कहीं भी एक श्रुतधर नहीं मिला। अतः थककर आज तुम्हारे घर विश्राम के लिए रुक गये॥६५॥

आज इस बालक को जो तुम्हारा पुत्र है प्राप्त किया। जो श्रुतधर है। तुम इसे हमें दे दो। हमलोग विद्या-धन की सिद्धि के लिए जायँ॥६६॥

इस प्रकार व्याडि के वचन सुनकर मेरी माता ने आदर के साथ कहा—यह सब ठीक है। मुझे आपकी बातों पर विश्वास है॥६७॥

और भी कारण है। जब यह एकमात्र पुत्र मुझसे उत्पन्न हुआ था उस समय आकाश से देववाणी हुई थी॥६८॥

एष श्रुतधरो जातो विद्यां वर्षादवाप्स्यति।
किञ्च व्याकरणं लोके प्रतिष्ठां प्रापयिष्यति ॥६९॥
नाम्ना वररुचिश्चायं तत्तदस्मै हि रोचते।
यद्यद्वरं भवेत्किञ्चिदित्युक्त्वा वागुपारमत् ॥७०॥
अतएव विवृद्धेऽस्मिन्बालके चिन्तयाम्यहम्।
क्व स वर्ष उपाध्यायो भवेदिति दिवानिशम् ॥७१॥
अद्य युष्मन्मुखाज्ज्ञात्वा परितोषश्च मे परः।
तदेनं नयतं भ्रातः पुत्रयोरस्य का क्षतिः ॥७२॥
इति मन्मातृवचनं श्रुत्वा तौ हर्षनिर्भरौ।
व्याडीन्द्रदत्तौ तां रात्रिमवुध्येतां क्षणोपमाम् ॥७३॥
अथोत्सवार्थमम्बायास्तूर्णं दत्त्वा निजं धनम्।
व्याडिनोपनीतोऽहं वेदाहृत्य ममञ्जसा ॥७४॥
ततो मात्राप्यनुज्ञातं कथञ्चिद्रुद्धवाष्पया।
मामादाय निजोत्साहशमिताध्वपतद्भ्रमम् ॥७५॥
मन्यमानौ च कौमारं पुष्पितं तपनुग्रहम्।
व्याडीन्द्रदत्तौ तरसा नगर्याः प्रस्थितौ ततः ॥७६॥
अथ क्रमेण वर्षस्य वयं प्राप्ता गृहं गतौ।
स्कन्दप्रसादमायान्तं मूर्तं मां सोऽप्यमन्यत ॥७७॥
कृत्वास्मानग्रतोऽन्येद्युरुपविष्टः शुचौ भुवि।
वर्षोपाध्याय ओङ्कारमकरोद्दिव्यया गिरा ॥७८॥
तदनन्तरमेवास्य वेदाः साङ्गा उपस्थिताः।
अध्यापयितुमस्मांश्च प्रवृत्तोऽभूदसौ ततः ॥७९॥
सकृच्छ्रुतं मया तत्र द्विः श्रुतं व्याडिना तथा।
त्रिः श्रुतं चेन्द्रदत्तेन गुरुणोक्तमगृह्यत ॥८०॥
ध्वनिमथ तमपूर्वं दिव्यमाकर्ण्य सद्यः
सपदि विकसदन्तर्विस्मया विप्रवर्गाः।
किमिदमिति समन्तादभ्युपेत्यैत्य वर्षं
स्तुतिमुखरमुखश्रीरर्चति स्म प्रणामम् ॥८१॥

---

१ स्वामिकार्त्तिक सम्बन्धि। २ ओङ्कारोच्चारणम्।

यह पुत्रवर बालक उत्पन्न हुआ है और वर्ष उपाध्याय से विद्या प्राप्त कर संसार में व्याकरण की प्रतिष्ठा करेगा ॥६९॥

यह बालक नाम से वररुचि होगा। संसार में जो भी अच्छा होगा वह इसे अच्छा लगेगा इसीलिए इसका नाम वररुचि होगा। इतना कहकर आकाशवाणी समाप्त हो गई ॥७०॥

इसलिए जैसे जैसे यह बालक बड़ा हो रहा था वैसे ही वैसे मुझे रात-दिन यह चिन्ता सता रही थी कि वह वर्ष उपाध्याय कहाँ होगा ॥७१॥

आज तुमलोगों के मुख से यह वृत्तान्त सुनकर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ। अतः तुम दोनों इसे वर्ष के समीप ले जाओ। यह तुम्हारा भाई है। कोई हानि नहीं ॥७२॥

मेरी माता के ऐसे वचन को सुनकर प्रफुल्लित व्याडि और इन्द्रदत्त ने वह रात एक क्षण के समान व्यतीत की ॥७३॥

प्रातःकाल व्याडि ने उत्सव करने के लिए अपना धन मेरी माता को दे दिया और मुझे वेदाध्ययन के योग्य बनाने के लिए स्वयं ही मेरा उपनयन-संस्कार किया जिससे मैं योग्य बनकर विद्याध्ययन कर सकूँ ॥७४॥

तब किसी प्रकार आँसुओं को रोककर मेरी माता ने मुझे आज्ञा दी। साथ ही मेरे अत्यन्त उत्साह को देखकर मेरी माता का शोक कम हो गया ॥७५॥

मेरी कुमारावस्था को माता का अनुग्रह समझकर व्याडि और इन्द्रदत्त मुझे लेकर उस कौशाम्बी नगरी से शीघ्र चल पड़े ॥७६॥

इसके पश्चात् यथासमय हमलोग वर्ष गुरु के घर पहुँचे और उन्होंने भी मूर्तिमान् स्कन्द के प्रसाद के समान मुझे प्राप्त हुए समझा ॥७७॥

एक शुभ दिन को वर्ष उपाध्याय ने पवित्र भूमि में बैठकर और हमलोगों को आगे बैठाकर दिव्य वाणी से ओंकार का उच्चारण किया ॥७८॥

ओंकार का उच्चारण करते ही कार्तिकेय की कृपा से सांगोपांग वेद उपस्थित हो गये और तब उपाध्याय हम लोगों को पढ़ाने को उद्यत हुए ॥७९॥

गुरु जो एक बार कहते थे उसे मैं स्मरण कर लेता था दूसरी बार के कहने पर व्याडि और तीसरी बार के कहने पर इन्द्रदत्त ग्रहण करते थे ॥८०॥

अध्ययन प्रारम्भ होने पर, वर्ष के मुख से निकलती हुई उस अपूर्व दिव्य ध्वनि को सुनकर फिर 'यह क्या है' इस प्रकार आश्चर्य के साथ वर्ष उपाध्याय के घर पर पाटलिपुत्र नगर से आकर स्वयं नंद स्तुति करते हुए वाङ्मय प्रणामों से उनकी अर्चना करने लगे ॥८१॥

किमपि तदवलोक्य तत्र चित्रं
प्रमदवशान्न परं तदोपवर्षे ।
अपि विततमहोत्सवः समग्रः
समजनि पाटलिपुत्रपौरलोकः ॥८२॥
राजापि स गिरिशसूनुवरप्रभाव—
मालोक्य तस्य परितोषमुपेत्य नन्दः ।
वर्षस्य वेश्म वसुभिः स किलादरेण
तत्कालमेव समपूरयदुन्नतश्रीः ॥८३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके
द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

एवमुक्त्वा वररुचिः शृण्वत्येकाग्रमानसे ।
काणभूतौ वने तत्र पुनरेवेदमब्रवीत् ॥१॥
कदाचिद्याति कालेऽथ कृते स्वाध्यायकर्मणि ।
इति वर्ष उपाध्यायः पृष्टोऽस्माभिः कृताह्निकः ॥२॥
इदमेवंविधं कस्मान्नगरं क्षेत्रतां गतम् ।
सरस्वत्याश्च लक्ष्म्याश्च तदुपाध्याय ! कथ्यताम् ॥३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीदस्माञ्छृणु चैतत्कथामिमाम् ।
तीर्थं कनखलं[1] नाम गङ्गाद्वारे[2]ऽस्ति पावनम् ॥४॥
यत्र काञ्चनपातेन जाह्नवी देवदन्तिना ।
उशीनरगिरिप्रस्थाद् भित्त्वा समवतारिता ॥५॥
दाक्षिणात्यो द्विजः कश्चित्तपस्यन्भार्यया सह ।
तत्रासीत्तस्य चात्रैव जायन्त स्म त्रयः सुताः ॥६॥
कालेन स्वर्गते तस्मिन् सभार्ये ते च तत्सुताः ।
स्थानं राजगृहं[3] नाम जग्मुर्विद्यार्जनेच्छया ॥७॥

---

१ हरद्वारसमीपे कनखल तीर्थं प्रसिद्धं यत्र दक्षप्रजापतिना यज्ञोऽनुष्ठित इति ख्यातम् । २ गङ्गाद्वारमिदानीं हरद्वारेति प्रसिद्धम् । ३ राजगृहं साम्प्रतं बिहारप्रान्ते 'राजगिर' नाम्ना प्रसिद्धं स्थानमस्ति ।

तत्र चाधीतविद्यास्ते मयोध्यायाम्प्ययु सिता ।
ययु स्वामिकुमारस्य दर्शने दक्षिणापथम् ॥८॥
तत्र ते चिञ्चिनीं नाम नगरीमम्बुधेस्तटे ।
गत्वा भोजिकसंज्ञस्य विप्रस्य न्यवसन्गृहे ॥९॥
स च कन्या निजास्तिस्रस्तेभ्यो दत्त्वा धनानि च ।
तपसेऽनन्यसन्तानो गङ्गां याति स्म भोजिक ॥१०॥
अथ तेषां निवसतां तत्र श्वशुरवेश्मनि ।
अवग्रहकृतस्तीव्रो दुर्भिक्ष समजायत ॥११॥
तेन भार्या परित्यज्य साध्वीस्तास्ते त्रयो ययु ।
स्पृशन्ति न नृशंसानां हृदयं बन्धुबुद्धय ॥१२॥
ततस्तु मध्यमा तासां सगर्भाभूत्ततश्च ता ।
भवनं यज्ञदत्तस्य पितृमित्रस्य शिश्रियु ॥१३॥
तत्र तस्थुर्निजान्भर्तृन्ध्यायन्त्य क्लिष्टवृत्तय ।
आपद्यपि सतीवृत्तं किं मुञ्चन्ति कुलस्त्रिय ॥१४॥
कालेन मध्यमा चात्र तासां पुत्रमसूत सा ।
अन्योन्यातिशयात्तस्मिन्स्नेहश्चासामवर्धत ॥१५॥
कदाचिद् व्योममार्गेण विहरन्तं महेश्वरम् ।
अङ्कस्था स्कन्दजननी तं दृष्ट्वा सदयावदत् ॥१६॥
देव[1] पश्य शिशावस्मिन्नेतास्तिस्रोऽपि योषित ।
बद्धस्नेहा दधत्याशामेषोऽस्माञ्जीवयिष्यति ॥१७॥
तत्तथा कुरु येनायमेता बालोऽपि जीवयेत् ।
इत्युक्त प्रियया देवो वरद स जगाद ताम् ॥१८॥
अनुगृह्णाम्यमुं पूर्वं सभार्येणामुना यत ।
आराधितोऽस्मि तेनाय भोगार्थं निर्मितो भुवि ॥१९॥
एतज्जाया च सा जाता पाटली नाम भूपते ।
महेन्द्रवर्मण पुत्री भार्यास्यैव भविष्यति ॥२०॥
इत्युक्त्वा स विभु स्वप्ने साध्वीस्तिस्रो जगाद ता ।
नाम्ना पुत्रक एवाय युष्माकं बालपुत्रक ॥२१॥
अस्य सुप्तप्रबुद्धस्य शीर्षान्ते च दिने दिने ।
सुवर्णलक्षं भविता राजा चायं भविष्यति ॥२२॥

वहाँ पर (राजगृह में) विद्योपार्जन करके वे तीनों अनाथ और दुःखी बालक स्वामी कार्तिक के दर्शन करने के लिए वहाँ से दक्षिण-देश को गये ॥८॥

वे दक्षिण-देश में समुद्र-तट पर स्थित किन्जिनी नामक नगरी में पहुँचे और वहाँ मोचिक नामक ब्राह्मण के घर में निवास करने लगे ॥९॥

उस मोचिक ब्राह्मण के तीन कन्याओं के अतिरिक्त और कोई सन्तान न थी। अतः वह अपनी तीनों कन्याओं को तीनों ब्राह्मणों को दान कर और साथ ही अपना धन भी उन्हें देकर गंगाद्वार (हरद्वार) की ओर चला गया ॥१ ॥

कुछ काल के अनन्तर श्वशुर-गृह में रहते हुए उन तीनों ब्राह्मणों को वर्षाभाव के कारण होनेवाले भीषण अकाल का अनुभव करना पड़ा ॥११॥

अकाल की भीषणता से व्याकुल होकर वे तीनों ब्राह्मण अपनी पतिव्रता पत्नियों को छोड़कर भाग गये। क्रूर व्यक्तियों के हृदयों में बन्धुत्व की भावना स्पर्श भी नहीं करती ॥१२॥

उन तीनों में बिचली बहन गर्भवती थी। अतः वे तीनों इस विपत्ति में अपने पिता के मित्र यज्ञदत्त के घर में शरण लेने चली गईं और वहाँ जाकर अपने अपने पतियों का ध्यान करती हुई कठिनाई से जीवन व्यतीत करने लगी। कुलीन स्त्रियाँ विपत्ति में भी अपने सती-चरित्र का परित्याग नहीं करतीं ॥१३ १४॥

उस बिचली बहन ने समयानुसार पुत्र उत्पन्न किया और तीनों बहनें उस शिशु के प्रति एक दूसरी से अधिक स्नेह करने लगीं ॥१५॥

किसी समय आकाश में भ्रमण करते हुए शिवजी की गोद में बैठी हुई स्कन्दमाता (पार्वती) उस बालक को देखकर दयापूर्वक कहने लगीं ॥१६॥

'देव देखिए। इस बालक पर ये तीनों स्त्रियाँ समान रूप से स्नेह करती हैं और यह आशा करती हैं कि यह बड़ा होने पर हमलोगों का पालन-पोषण करेगा ॥१७॥

इसलिए भगवन्! आप ऐसी कृपा करें कि यह बालक इन तीनों का जीवन-निर्वाह कर सके। पार्वती के इतना कहने पर वरदानी शिवजी ने कहा ॥१८॥

'मैं तो इसे पहले ही अनुगृहीत कर चुका हूँ क्योंकि इसने पूर्वजन्म में पत्नी के साथ मेरी आराधना की थी। उसी का फल भोगने के लिए इसे संसार में यह जन्म दिया गया है ॥१९॥

पाटली नाम की इसकी पत्नी राजा महेन्द्रवर्मा की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई है। वही इसकी पत्नी बनेगी' ॥२ ॥

पार्वती से ऐसा कहकर शिवजी ने उन तीनों पतिव्रताओं से स्वप्न में कहा कि 'यह तुम्हारा शिशु नाम से भी पुत्रक ही रहेगा पुत्रक नाम से प्रसिद्ध होगा। यह जब सोकर उठेगा तब प्रतिदिन इसके सिरहाने में एक लाख स्वर्ण-मुद्रा मिला करेगी और आगे चलकर यह राजा होगा' ॥२१ २२॥

ततः सुप्तोत्थिते तस्मिन्बालः ता प्राप्य काञ्चनम् ॥
यज्ञदत्तसुता साध्व्यो ननन्दुः फलितव्रता ॥२३॥
अथ तेन सुवर्णेन वृद्धकोषोऽचिरेण स ।
बभूव पुत्रको राजा तपोऽधीना हि सम्पदः ॥२४॥
कदाचिद्यज्ञदत्तोऽथ रहः पुत्रकमब्रवीत् ।
राजन्दुर्भिक्षदोषेण क्वापि ते पितरो गताः ॥२५॥
तत्सदा देहि विप्रेभ्यो यनायान्ति निशम्य ते ।
ब्रह्मदत्तकथां चातो कथयामि च ते शृणु ॥२६॥
वाराणस्यामभूत्पूर्वं ब्रह्मदत्ताभिधो नृपः ।
सोऽपश्यद्धंसयुगलं प्रयातं गगने निशि ॥२७॥
विस्फुरत्कनकच्छायं राजहंसशतैर्वृतम् ।
विद्युत्पुञ्जमिवाकाण्डसिताभ्रपरिवेष्टितम् ॥२८॥
पुनस्तद्दर्शनोत्कण्ठा तथास्य ववृधे ततः ।
यथा नृपतिसौख्येषु न बबन्ध रतिं क्वचित् ॥२९॥
मन्त्रिभिः सह संमन्त्र्य ततश्चाकारयत्सरः ।
स राजा स्वमते कान्तं प्राणिनां चाभयं ददौ ॥३ ॥
ततः कालेन तौ प्राप्तौ हंसौ राजा ददर्श स ।
विश्वस्तौ चापि पप्रच्छ हैमे वपुषि कारणम् ॥३१॥
व्यक्तवाचौ ततस्तौ च हंसौ राजानमूचतुः ।
पुरा जन्मान्तरे काकावावां जातौ महीपते ॥३२॥
बल्यर्थं युद्ध्यमानौ च पुण्ये शून्ये शिवालये ।
विनिपत्य विपन्नौ स्वस्तत्स्थानद्रोणिकान्तरे ॥३३॥
जातौ जातिस्मरावावां हंसौ हैममयौ ततः ।
तच्छ्रुत्वा तौ यथाकामं पश्यन् राजा तुतोष सः ॥३४॥
अतोऽनन्यादृशादेव पितृन्दानादवाप्स्यसि ।
इत्युक्तो यज्ञदत्तेन पुत्रकस्तत्तथाकरोत् ॥३५॥
श्रुत्वा प्रदानवार्तां तामाययुस्ते द्विजातयः ।
परिज्ञाता परां लक्ष्मीं पत्नीदत्त सह लेभिरे ॥३६॥
आश्चर्यमपरित्याज्यो दृष्टमप्यापगामपि ।
अविवेकान्धबुद्धीनां स्वानुभावो दुरात्मनाम् ॥३७॥

दूसरे दिन उस बालक के सोकर उठने पर, उसके सिरहाने में सुवर्ण पाकर यज्ञदत्त की पतिव्रता पुत्रियाँ अपने व्रत को सफल समझकर अत्यन्त आनन्दित हो उठीं ॥२३॥

इस प्रकार प्रतिदिन एकत्र होते हुए सोने से खजाना बढ़ जाने पर धीरे-धीरे पुत्रक राजा बन गया। सच है 'सिद्धियाँ तप के अधीन होती हैं' ॥२४॥

एक बार एकान्त में यज्ञदत्त ने पुत्रक से कहा—हे राजन्! तुम्हारे पितर दुर्भिक्ष के कारण यहाँ से कहीं चले गये हैं। इसलिए तुम ब्राह्मणों को सदा दान दिया करो। वे भी तुम्हारी उदारता सुनकर आ जायेंगे। मैं इस विषय में ब्रह्मदत्त राजा की एक कथा सुनाता हूँ सुनो' ॥२५-२६॥

राजा ब्रह्मदत्त की कथा

प्राचीन समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त नाम का राजा था। उसने एक बार रात्रि के समय आकाश में उड़ते हुए हंसों की जोड़ी को देखा जिसके चारों ओर बिजली के समान चमकती हुई, सोने के पंखों की प्रभा छिटक रही थी। उसके चारों ओर श्वेत हंस ऐसे उड़ रहे थे जैसे आकाश में ही श्वेत मेघ-खंडों से व्याप्त विद्युत्पुंज हों ॥२७-२८॥

उस हंस-युगल को देखने की राजा की आकांक्षा ऐसी तीव्र हुई कि वह राज्य के सुखों से भी विरक्त रहने लगा ॥२९॥

तब राजा ने मन्त्रियों के साथ सम्मति करके एक सुन्दर सरोवर बनवाया और अपने राज्य में समस्त प्राणियों को अभयदान दिया ॥३ ॥

कुछ समय के पश्चात् वे हंस पुनः उस सरोवर पर आये और उनके विश्वस्त होने पर राजा ने उनके स्वर्ण के शरीर होने का कारण पूछा ॥३१॥

तब वे हंस स्पष्ट वाणी में राजा से बोले—हे राजन्! पहले जन्म में हम कौए थे ॥३२॥

बलि (भोजन) के लिए लड़ते हुए हम दोनों एक शून्य और पवित्र शिवालय में गये और वहाँ जाकर जल की टंकी में गिरे और मर गये ॥३३॥

इसी कारण इस जन्म में हम लोग सुवर्णमय हंस हुए। राजा इस प्रकार सुनकर और आँखें भर उन्हें देखकर प्रसन्न हुआ ॥३४॥

अतः तुम भी असाधारण रूप से दान करते हुए अपने पितरों को प्राप्त करोगे। ऐसा सुनकर पुत्रक ने असाधारण रूप से दान करके ख्याति प्राप्त की ॥३५॥

इस प्रकार पुत्रक के दान की ख्याति सुनकर वे ब्राह्मण वहाँ आये और पहचाने जाने पर अतुल सम्पत्ति और अपनी पत्नियों को प्राप्त कर सुखी हुए ॥३६॥

यह आश्चर्य है कि अविवेक से अन्धी बुद्धिवाले दुष्ट प्राणियों का नाश और कष्ट होते देखकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते ॥३७॥

कालेन राज्यकामास्ते पुत्रकं तं जिघांसवः ।
निन्युस्तद्दर्शनव्याजाद्विप्रा विन्ध्यनिवासिनीम् ॥३८॥

वधकान्स्थापयित्वा च देवीगर्भगृहान्तरे ।
तमूचुः पूर्वमेकस्त्वं पश्य देवीं व्रजान्तरम् ॥३९॥

ततः प्रविष्टो विश्वासात्स दृष्ट्वा हन्तुमुद्यतान् ।
पुरुषान् पुत्रकोऽपृच्छत्कस्मान्निहथ मामिति ॥४०॥

पितृभिस्ते प्रयुक्ताः स्म स्वर्णं दत्त्वेति चाब्रुवन् ।
ततस्तान्मोहितान्देव्या बुद्धिमान्पुत्रकोऽवदत् ॥४१॥

ददाम्येतदनर्घं वो रत्नालङ्करणं निजम् ।
मां मुञ्चत करोम्यत्र नोद्भेदं यामि दूरतः ॥४२॥

एवमस्त्विति तत्तस्माद्गृहीत्वा वधका गताः ।
'हतः पुत्रकः' इत्यूचुस्तत्पितॄणां पुरो मृषा ॥४३॥

ततः प्रतिनिवृत्तास्ते हता राज्यार्थिनो द्विजाः ।
मन्त्रिभिर्द्रोहिणो बुद्ध्वा कृतघ्नानां शिवं कुतः ॥४४॥

अत्रान्तरे स राजापि पुत्रकः सत्यसङ्गरः ।
विवेश विन्ध्यकान्तारं विरक्तः स्वेषु बन्धुषु ॥४५॥

भ्रमन्ददर्श तत्रासौ बाहुयुद्धैकतत्परौ ।
पुरुषौ द्वौ ततस्तौ स पृष्टवान्कौ युवामिति ॥४६॥

मयासुरसुतावावां तदीयं चास्ति नौ धनम् ।
इदं भाजनमेषा च यष्टिरेते च पादुके ॥४७॥

एतन्निमित्तं युद्धं नौ यो बली स हरेदिति ।
एतत्तद्वचनं श्रुत्वा हसन् प्रोवाच पुत्रकः ॥४८॥

कियदेतद्धनं पुंसस्ततस्तौ समवोचताम् ।
पादुके परिधायैते खेचरत्वमवाप्यते ॥४९॥

यष्ट्या यल्लिख्यते किञ्चित्सत्यं सम्पद्यते हि तत् ।
भाजने यो य आहारश्चिन्त्यते स स तिष्ठति ॥५०॥

तच्छ्रुत्वा पुत्रकोऽवादीत्किं युद्धेनास्त्वयं पणः ।
धावन्बलाधिको यः स्यात्स एवैतद्धरेदिति ॥५१॥

कुछ समय आनन्द का उपभोग करते हुए भी वे ब्राह्मण पुत्रक को मारकर उसका राज्य हड़पने की इच्छा से उसे विन्ध्यवासिनी के दर्शन के बहाने वहाँ ले गये ॥३८॥

वहाँ पर देवी के मन्दिर के भीतरी भाग में वध करनेवालों को रखकर उन्होंने पुत्रक से कहा कि 'पहले तुम अकेले ही देवी के दर्शन करो। भीतर जाओ' ॥३९॥

उनके विश्वास पर मन्दिर के अन्दर प्रवेश करते ही पुत्रक ने प्रहार के लिए उद्यत वधकों को देखकर पूछा कि 'तुमलोग मुझे क्यों मारते हो? ॥४ ॥

उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे पितरों ने सोना देकर हमें मारने के लिए प्रेरित किया है'। भगवती की कृपा से भ्रष्ट बुद्धिवाले उन वधिकों से पुत्रक ने कहा॥४१॥

मैं तुम्हें अपने अमूल्य जवाहिरातों के आभूषण देता हूँ। तुमलोग मुझ छोड़ दो मैं यह बात किसी से न कहूँगा और दूर चला जाता हूँ'॥४२॥

ऐसा कहने पर वधिक लोग उसे छोड़कर चले गये और उसके पितरों से जाकर झूठ कह दिया कि पुत्रक को मार दिया॥४३॥

इस प्रकार पाप-कर्म करके राज्य पाने की इच्छावाले ब्राह्मण लौटकर घर गये तो उन्हें राजद्रोही समझकर पुत्रक के मन्त्रियों ने मार डाला। भला! कृतघ्नों का कल्याण किस प्रकार हो सकता है॥४४॥

इसी बीच राजा पुत्रक भी अपने सम्बन्धियों से विरक्त होकर विन्ध्याचल के गहन वन में चला गया॥४५॥

वन में घूमते हुए उसने दो असुर-युवकों को बाहुयुद्ध के लिए तैयार खड़े देखा और उनसे पूछा कि 'तुम दोनों कौन हो? ॥४६॥

वे कहने लगे—'हम दोनों मयासुर के लड़के हैं। हमारे पास यह पैतृक धन है—एक पात्र एक लाठी और दो खड़ाऊँ' ॥४७॥

इस पैतृक धन के लिए हमलोगों का युद्ध हो रहा है 'कि जो बलवान् हो वह इसे प्राप्त करे। उनकी इन बातों को सुनकर पुत्रक ने हँसकर कहा॥४८॥

'पुरुष के लिए यह कितना धन है, जिसके लिए तुमलोग युद्ध कर रहे हो। तब वे दोनों बोले—'इस खड़ाऊँ को पहनने से मनुष्य आकाशचारी हो जाता है॥४९॥

छड़ी से जो कुछ भी लिखा जाता है वह सत्य होता है और इस पात्र में जिस भोजन का ध्यान करें, वही भोजन रखा हुआ मिलता है' ॥५ ॥

यह सुनकर पुत्रक ने कहा—'इस वस्तुओं के लिए युद्ध की शर्त उचित नहीं है। दौड़ने में जो अधिक बलवान् हो वही इन्हें ले ले' ॥५१॥

---

१ इस कथा से मिलती-जुलती कहानी 'अरेबियन नाइट्स' में है, जिसमें शाहजादा मुहम्मद और परीबानु की कहानी में ऐसा प्रसंग आता है कि तीन शाहजादे, नूर निहार से शादी करने के लिए ऐसी ही तीन चीजें लाये थे उनका फैसला करने के लिए तीर फेंके गये थे।

एवमस्त्विति तौ मूढौ धावितौ सोऽपि पादुके ।
अध्यास्योदपतद् व्योम गृहीत्वा यष्टिभाजने ॥५२॥
अथ दूरं क्षणाद् गत्वा ददर्श नगरीं शुभाम् ।
आकर्षिकाख्यां तस्यां च नभसोऽवततार स ॥५३॥
वञ्चनप्रवणा वेश्या द्विजा मत्पितरो यथा ।
वणिजो धनलुब्धाश्च कस्य गेहे वसाम्यहम् ॥५४॥
इति सञ्चिन्तयन्प्राप स राजा विजनं गृहम् ।
जीर्णं तदन्तरे चैकां वृद्धां योषितमैक्षत ॥५५॥
प्रदानपूर्वं सन्तोष्य तां वृद्धामादृतस्तया ।
उवासाकलितस्तत्र पुत्रकः शीर्णसद्मनि ॥५६॥
कदाचित्तत्र सम्प्रीता वृद्धा पुत्रकमब्रवीत् ।
चिन्ता मे पुत्र ! यद्भार्या नानुरूपा तव क्वचित् ॥५७॥
इह राज्ञस्तु तनया पाटलीत्यस्ति कन्यका ।
उपर्यन्तःपुरे सा च रत्नमित्यभिरक्ष्यते ॥५८॥
एतद्वृद्धावचस्तस्य दत्तकर्णस्य शृण्वतः ।
विवेश तेनैव पथा लब्धरन्ध्रो हृदि स्मरः ॥५९॥
द्रष्टव्या सा मयाद्यैव कान्तेति कृतनिश्चयः ।
निशायां नभसा तत्र पादुकाभ्यां जगाम स ॥६ ॥
प्रविश्य सोऽद्रि शृङ्गाग्र-तुङ्ग-वातायनेन ताम् ।
अन्तःपुरे ददर्शाथ सुप्तां रहसि पाटलीम् ॥६१॥
सेव्यमानामविरतं चन्द्रकान्त्याङ्गलग्नया ।
जित्वा जगदिदं श्रान्तां मूर्तां शक्तिं मनोभुवः ॥६२॥
कथं प्रबोधयाम्येतामिति यावदचिन्तयत् ।
तावदकस्माद् बहिस्तत्र यामिकः पुरुषो जगौ ॥६३॥
आलिङ्ग्य मधुरस्फुटतिमलसामिमपदीक्षण रिह कान्ताम् ।
यद्बोधयन्ति सुप्तां जन्मनि यूनां तदेव फलम् ॥६४॥
श्रुत्वैतदनुपादूभातमङ्गस्पर्शाभिकम्पितं ।
आलिलिङ्ग स तां कान्तां प्राबुध्यत ततश्च सा ॥६५॥

पश्यन्त्यास्तं नृपं तस्या लज्जाकौतुकयोर्दृशि।
अभूदन्योन्यसंमर्दो रचयन्त्यां गतागतम् ॥६६॥
अथालाप इव वृत्ते गान्धर्वोद्वाहकर्मणि।
अवर्धत तया प्रीतिर्दम्पत्योर्न तु यामिनी ॥६७॥
आमन्त्र्याथ वधूमुत्कां तद्गतेनैव चेतसा।
आययौ पश्चिमे भागे तद्वृद्धावेश्म पुत्रकः ॥६८॥
इत्थं प्रतिनिशं तत्र कुर्वाणेऽस्मिन्गतागतम्।
सम्भोगचिह्नं पाटल्या रक्षिभिर्दृष्टमेकदा ॥६९॥
तैस्तदावेदितं तस्याः पित्रे सोऽपि नियुक्तवान्।
गूढमन्तःपुरे तत्र निशि नारीमवेक्षितुम् ॥७०॥
तया च तस्य प्राप्तस्य तत्राभिज्ञानसिद्धये।
पुत्रकस्य प्रसुप्तस्य न्यस्तं वाससस्यलक्तकम् ॥७१॥
प्रातस्तया च विज्ञप्तो राजा चारान्व्यसर्जयत्।
सोऽभिज्ञानाच्च तैः प्राप्तः पुत्रको जीर्णवेश्मनि ॥७२॥
आनीतो राजनिकटं कुपितं वीक्ष्य स नृपम्।
पादुकाभ्यां समुत्पत्य पाटलीमन्दिरेऽविशत् ॥७३॥
विदितौ स्वस्तदुत्तिष्ठ गच्छाव पादुकावशात्।
इत्यङ्के पाटलीं कृत्वा जगाम नभसा ततः ॥७४॥
अथ गङ्गातटनिकटे गगनादवतीर्य स प्रियां श्रान्ताम्।
पात्रप्रभावजातैराहारैर्नन्दयामास ॥७५॥
आलोकितप्रभावः पाटल्या पुत्रकोऽर्थितस्तत्र।
यष्ट्या लिलेख तत्र स नगरं चतुरङ्गबलयुक्तम् ॥७६॥
तत्र स राजा भूत्वा महाप्रभावं च सत्यतां प्राप्ते।
नमयित्वा तं श्वशुरं शशास पृथ्वीं समुद्रान्ताम् ॥७७॥
तदिदं दिव्यं नगरं मायारचितं सपौरमत एव।
नाम्ना पाटलिपुत्रं क्षेत्रं लक्ष्मीसरस्वत्योः ॥७८॥
इति वर्षमुखादिमामपूर्वां वयमाकर्ण्य कथामतीव चित्राम्।
चिरमाभूम काणभूते विलसद्विस्मयमोदमानचित्ताः ॥७९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे प्रथमे कथापीठलम्बके
तृतीयस्तरङ्गः।

उस राजा पुत्रक को देखकर पाटली की आँखों में लज्जा और आश्चर्य का संगम होने लगा। परपुरुष को देखकर लज्जा और उसका ऐसे अवसर पर वहाँ उपस्थित होना आश्चर्य का कारण था ॥६६॥

इसके अनन्तर वार्तालाप और गान्धर्व-विवाह हो जाने पर दोनों में परस्पर प्रीति बढ़ने लगी किन्तु रात नहीं बढ़ी अर्थात् रात समाप्त हो गई ॥६७॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में वह राजा पुत्रक उत्कण्ठित वधू (पाटली) से कहकर तल्लीन भाव से उस वृद्धा के पुराने घर पर लौट आया ॥६८॥

इस प्रकार पुत्रक प्रत्येक रात्रि में पाटली के यहाँ आता-जाता करता रहा। किन्तु एक बार पाटली के रक्षकों ने उसके सम्भोग-चिह्नों को देख लिया ॥६९॥

रक्षकों (पहरेदारों) ने सारी परिस्थिति राजा से बता दी। राजा ने पाटली के भवन में रात्रि का देखने के लिए एक स्त्री-जासूस को नियुक्त कर दिया ॥७०॥

इस प्रकार एक दिन उस गुप्त स्त्री ने पहचान के लिए, सोये हुए पुत्रक के वस्त्र में पाटली की महावर लगा दी ॥७१॥

प्रातःकाल उस जासूस स्त्री ने राजा को बताया और राजा ने भी अपने दूतों को उसे पकड़ने के लिए भेज दिया। दूतों ने उस पुराने घर में महावर से सने कपड़े के सूत्र से उसकी पहचान करके वृद्धा के घर पर पुत्रक को पकड़ लिया ॥७२॥

दूत पुत्रक को पकड़कर उसे राजा के पास ले आये। किन्तु पुत्रक ने जब राजा को क्रुद्ध होते हुए देखा तब खड़ाऊँ के प्रभाव से वह आकाश-मार्ग से पाटली के घर में पहुँच गया ॥७३॥

उसने पाटली से कहा—हमलोग पकड़ गये। तुम उठो, खड़ाऊँ के प्रभाव से निकल भागते हैं। ऐसा कहकर और पाटली को गोद में उठाकर पुत्रक आकाश-मार्ग से निकल गया ॥७४॥

तदनन्तर गंगातट के समीप आकाश-मार्ग से उतरकर पुत्रक ने थकी हुई पाटली को उस पात्र के प्रभाव से मिलनेवाले विविध भोजन से प्रसन्न किया ॥७५॥

पाटली ने पुत्रक के प्रभाव को देखकर प्रार्थना की और उसके प्रार्थनानुसार पुत्रक ने उस छड़ी से चतुरंगिणी सेना-सहित जमीन पर एक नगर का नक्शा बनाया ॥७६॥

छड़ी से लिखे गये और सत्यरूप बने हुए उस प्रभावशाली नगर में वह पुत्रक राजा बनकर बैठा और अपने प्रभाव से श्वसुर (पाटली के पिता) को वश में करके समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का शासक बन गया ॥७७॥

इस प्रकार यह दिव्य नगर पुरवासियों-सहित माया से रचा गया जो पाटलिपुत्र नाम से लक्ष्मी और सरस्वती का धाम हुआ" ॥७८॥

वररुचि ने कहा—हे काणभूते! इस प्रकार उपाध्याय वर्ष के मुख से यह अपूर्व और विचित्र कथा सुनकर हम सब आश्चर्य में आनन्दित हुए ॥७९॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के प्रथम लम्बक का तृतीय तरंग समाप्त।

चतुर्थस्तरङ्गः

इत्याख्याय कथां मध्ये विन्ध्यान्तः काणभूतये।
पुनर्वररुचिस्तस्मै प्रकृतार्थमवर्णयत् ॥१॥
एवं व्याडीन्द्रदत्ताभ्यां सह तत्र वसन् क्रमात्।
प्राप्तोऽहं सर्वविद्यानां पारमुत्क्रान्तशैशवः ॥२॥
इन्द्रोत्सवं कदाचिच्च प्रेक्षितुं निर्गता वयम्।
कन्यामेकामपश्याम कामस्यास्त्रमसायकम् ॥३॥
इन्द्रदत्तो मया पृष्टस्ततः केयं भवेदिति।
उपवर्षसुता सेयमुपकोशेति सोऽब्रवीत् ॥४॥
सा सखीभिश्च मां ज्ञात्वा प्रीतिपेशलया दृशा।
कर्षन्ती मम मनः कृच्छ्रादगच्छद् भवनं निजम् ॥५॥
पूर्णचन्द्रमुखी नीलनीरजोत्तमलोचना।
मृणालनालललितभुजा पीनस्तनोज्ज्वला ॥६॥
कम्बुकण्ठी प्रवालाभरदनच्छदशोभिनी।
स्मरभूपतिसौन्दर्यमन्दिरे वेन्दिरापरा ॥७॥
ततः कामशरापातनिर्भिन्ने हृदये न मे।
निशि तस्यामभून्निद्रा तद्बिम्बोष्ठपिपासया ॥८॥
कथञ्चिल्लब्धनिद्रोऽहमपश्यं रजनीक्षये।
शुक्लाम्बरधरां दिव्यां स्त्रियं सा मामभाषत ॥९॥
पूर्वभार्योपकोशा ते गुणज्ञा नापरं पतिम्।
कञ्चिदिच्छत्यतश्चिन्ता पुत्र ! कार्यात्र न त्वया ॥१०॥
अहं सदा शरीरान्तर्वासिनी ते सरस्वती।
त्वद्दुःखं नोत्सहे द्रष्टुमित्युक्त्वान्तर्हिताभवत् ॥११॥
ततः प्रबुद्धो जाताश्वो गत्वातिष्ठमहं शनैः।
दयिता-मन्दिरासन्न-बालचूत-तरोरधः ॥१२॥
अथागत्य समाख्यातं तत्सख्या मन्निबन्धनम्।
उद्गाढमुपकोशाया मदनाङ्कविजृम्भितम् ॥१३॥
ततोऽहं द्विगुणीभूततापस्तामेवमब्रवम्।
अदत्तां गुरुभिः स्वच्छामुपकोशां कथं भजे ॥१४॥

चतुर्थ तरंग

उपकोसा की कथा

विन्ध्यारण्य में इस प्रकार वररुचि ने काणभूति को कथा सुनाकर पुनः प्रासंगिक विषय का वर्णन प्रारम्भ किया ॥१॥

इसी क्रम से व्याडि और इन्द्रदत्त के साथ पाटलिपुत्र में रहते हुए बाल्यावस्था के समाप्त होते-होते मैं समस्त विद्याओं का पारगामी पंडित हो गया ॥२॥

एक बार इन्द्रोत्सव देखने के लिए हम लोग नगर में निकले तो वहाँ हम लोगों ने एक कन्या देखी जो मानों कामदेव के सायक (बाण) विहीन अस्त्र (धनुष) के समान थी ॥३॥

उसे देखकर मैंने अपने सहपाठी इन्द्रदत्त से पूछा कि 'यह कौन होगी?' उत्तर में उसने मुझसे कहा कि उपवर्ष की कन्या उपकोसा है' ॥४॥

उसने भी अपनी सखियों से मेरा परिचय प्राप्त किया और प्रेमपूर्ण दृष्टि से मेरे मन को खींचती हुई किसी तरह अपने घर को चली गई ॥५॥

उस उपकोसा का मुख पूर्णचन्द्र के समान मनोहर और आकर्षक था। आँखें नील-कमल के समान सुन्दर थी। भुजाएँ, कमलनाल के समान कोमल तथा सुन्दर थी और पीन स्तनों से वह अधिक आकर्षक हो रही थी ॥६॥

उसका कंठ शंख के समान था और प्रवाल या मूँगे के समान रक्ताभ ओठों से उसकी शोभा और बढ़ रही थी। इस प्रकार वह मानो काम-रूपी महीपति के सौन्दर्य-मन्दिर की दूसरी गृह-लक्ष्मी के समान थी ॥७॥

उसके देखने के अनन्तर काम-बाण से मेरे हृदय के बिंध जाने से अतएव उसके बिम्बाधरों की पिपासा के कारण व्याकुल मुझे उस रात को नींद नहीं आई ॥८॥

किसी प्रकार रात्रि के व्यतीत होने पर प्रातःकाल मुझे निद्रा आई। उस समय स्वप्न में श्वेतवस्त्रधारिणी किसी दिव्य स्त्री ने मुझसे कहा ॥९॥

'उपकोसा तुम्हारी पूर्वजन्म की पत्नी है। वह तुम्हारे गुणों पर अनुरक्त है और वह दूसरे को पति नहीं बनाना चाहती। इसलिए हे पुत्र! तुम उसकी चिन्ता मत करो ॥१०॥

मैं तुम्हारे शरीर के अन्दर सदा रहनेवाली सरस्वती हूँ इसलिए मैं तुम्हारा कष्ट नहीं देख सकती'। इतना कहकर वह अन्तर्हित हो गई ॥११॥

प्रातःकाल जगकर मैं विश्वस्त हो गया और धीरे-धीरे उपकोसा के मकान के समीप आम के एक वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया ॥१२॥

कुछ समय के पश्चात् उपकोसा की सखी ने आकर उसकी गम्भीर काम-पीड़ा की मुझे सूचना दी ॥१३॥

उसकी अवस्था को जानकर, दूना सन्तप्त होकर मैंने उसकी सखी से कहा—गुरुजनों के दान के बिना मैं उपकोसा को स्वच्छन्दतापूर्वक कैसे ग्रहण कर सकता हूँ? ॥१४॥

वरं हि मृत्युर्नाकीर्तिस्त्वत्सखीहृदयं तव ।
गुरुभिर्यदि बुध्येत तत्कदाचिच्छिवं भवेत् ॥१५॥

तदेतत्कुरु भद्रे ! त्वं तां सखीं मां च योजय ।
तच्छ्रुत्वा सा गता तस्या मातुः सर्वं न्यवेदयत् ॥१६॥

तया तत्कथितं भर्तुरुपवर्षस्य तत्क्षणम् ।
तेन भ्रातुश्च वर्षस्य तेन तच्चाभिनन्दितम् ॥१७॥

विवाहं निश्चितं गत्वा व्याडिरानयति स्म ताम् ।
वर्षाचार्यनिदेशेन कौशाम्ब्या जननीं मम ॥१८॥

अथोपकोशा विधिवत्पित्रा मे प्रतिपादिता ।
तया मात्रा गृहिण्या च समं तत्रावसं सुखम् ॥१९॥

अथ कालेन वर्षस्य शिष्यवर्गो महानभूत् ।
तत्रैकः पाणिनिर्नाम[1] जडबुद्धितरोऽभवत् ॥२ ॥

स शुश्रूषापरिक्लिष्टः प्रेषितो वर्षभार्यया ।
अगच्छत्तपसे खिन्नो विद्याकामो हिमालयम् ॥२१॥

तत्र तीव्रेण तपसा तोषितादिन्दुशेखरात् ।
सर्वविद्यामुखं तेन प्राप्तं व्याकरणं नवम् ॥२२॥

ततश्चागत्य मामेव वादायाह्वयते स्म सः ।
प्रवृत्ते चावयोर्वादे प्रयाताः सप्त वासराः ॥२३॥

अष्टमेऽह्नि मया तस्मिञ्जिते तत्समनन्तरम् ।
नभःस्थेन महाघोरो हुङ्कारः शम्भुना कृतः ॥२४॥

तेन प्रणष्टमैन्द्रं तदस्मद्व्याकरणं भुवि ।
जिताः पाणिनिना सर्वे मूर्खीभूता वयं पुनः ॥२५॥

अथ सञ्जातनिर्वेदः स्वगृहस्थितये धनम् ।
हस्ते हिरण्यगुप्तस्य विधाय वणिजो निजम् ॥२६॥

उक्त्वा तच्चोपकोशायै गतवानस्मि शङ्करम् ।
तपोभिराराधयितुं निराहारो हिमालयम् ॥२७॥

---

१ अत्रामार्मिकमघटितकल्पनम् । एतद्विवरणं परिशिष्टे विस्तारीकृतम् ।

"निन्दा होने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है। इसलिए उपकोशा के माता पिता तुम्हारी सखी के मनोभाव को यदि समझ लें तो कल्याण हो सकता है ॥१५॥

इसलिए तुम ऐसा करके अपनी सखी और मुझे दोनों को जिलाओ, तुम्हारा कल्याण हो। यह सुनकर वह घर गई और उपकोशा की माता से सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥१६॥

उपकोशा की माता ने यह सब वृत्तान्त अपने पति उपवर्ष से कहा। उपवर्ष ने अपने बड़े भाई वर्ष से कहा और वर्ष ने उसका अनुमोदन किया ॥१७॥

इस प्रकार विवाह का निश्चय हो जाने पर आचार्य वर्ष की आज्ञा से व्याडि कौशाम्बी से मेरी माता को लिवा लाया ॥१८॥

तदनन्तर उसके पिता उपवर्ष ने विवाह तिथि पर विधिपूर्वक उपकोशा मुझे प्रदान कर दी और मैं भी माता तथा पत्नी के साथ पाटलिपुत्र में सुखपूर्वक रहने लगा ॥१९॥

पाणिनि की कथा[1]

कुछ समय के अनन्तर उपाध्याय वर्ष के शिष्यों की संख्या बढ़ी। उनमें पाणिनि नाम का एक शिष्य अत्यन्त जड़बुद्धि था ॥२ ॥

उस गुरु-गृह में सेवा करते हुए अत्यन्त थका-मुख और खिन्न देखकर गुरुपत्नी ने विद्या-प्राप्ति की कामना से तपस्या करने के लिए हिमालय जाने को कहा और वह चला गया ॥२१॥

तब वहाँ उसने अपनी कठोर तपस्या से प्रसन्न हुए शिवजी से सब विद्याओं के मुखस्वरूप नवीन व्याकरण को प्राप्त किया ॥२२॥

हिमालय से लौटने पर पाणिनि ने मुझे शास्त्र-विचार के लिए ललकारा। फलतः हम लोगों का शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ और सात दिन व्यतीत हो गये ॥२३॥

आठवें दिन मेरे द्वारा शास्त्रार्थ में पाणिनि को जीत लेने पर आकाश में शिवजी ने भयंकर हुंकार किया ॥२४॥

इस विचार से हमारा पढ़ा हुआ ऐन्द्र व्याकरण पृथ्वी से नष्ट हो गया। तब पाणिनि ने हम लोगों को जीत लिया और हम सब फिर मूर्ख हो गये ॥२५॥

इस शास्त्र-विचार में पाणिनि से पराजित होने के कारण मुझे अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ और घर का सब खर्च चलाने के लिए कुछ धन हिरण्यगुप्त को देकर और घर वालों उपकोशा को बता-कर तपस्या से शङ्करजी को प्रसन्न करने के लिए मैं निराहार होकर हिमालय को चला गया ॥२६ २७॥

---

१ इसमें वर्णित पाणिनि की कथा ऐतिहासिक तथ्य और प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। पाणिनि और वररुचि के समय में पर्याप्त अन्तर है। परिशिष्ट-प्रकरण में 'पाणिनि' देखिए।

उपकोशा हि म थय काक्षन्ती निजमन्दिरे।
अतिष्ठत्प्रत्यह स्नान्ती गङ्गायां नियतव्रता ॥२८॥
एकदा सा मधौ प्राप्ते क्षामा पाण्डुमनोरमा।
प्रतिपच्चन्द्ररेखेव जनलोचनहारिणी ॥२९॥
स्नातु त्रिपथगां यान्ती दृष्टा राजपुरोधसा।
दण्डाधिपतिना चैव कुमारसचिवेन च ॥३०॥
तत्क्षणात्ते गता सर्वे स्मरसायकलक्ष्यताम्।
सापि तस्मिन्दिने स्नान्ती कथमप्यकरोच्चिरम् ॥३१॥
आगच्छन्ती च सायं तां कुमारसचिवो हठात्।
अग्रहीदथ साप्येनमवोचत्प्रतिभावती ॥३२॥
अभिप्रेतमिदं भद्र! यथा तव तथा मम।
किं त्वहं सत्कुलोत्पन्ना प्रवासस्थितभर्तृका ॥३३॥
कथमेवं प्रवर्तेय पश्येत्कोऽपि कदाचन।
तत्तदथ ध्रुवमश्रयस्त्वया सह भवेन्मम ॥३४॥
तस्मान्मधूत्सवाक्षिप्तपौरलोके गृहं मम।
आगन्तव्यं ध्रुवं रात्रे प्रथमे प्रहरे त्वया ॥३५॥
इत्युक्त्वा कृतसन्धा सा तेन क्षिप्ता विधेर्वशात्।
यावत्किञ्चिद् गता तावन्निरुद्धा सा पुरोधसा ॥३६॥
तस्यापि तद्वदेव दिनं तद्वदेव यथा निशि।
सङ्केतकं द्वितीयस्मिन् प्रहरे पर्यकल्पयत ॥३७॥
मुक्ता कथञ्चित्तेनापि प्रयाता किञ्चिदन्तरम्।
दण्डाधिपो रुणद्धि स्म तृतीमस्तां सुविह्वलाम् ॥३८॥
अथ तस्यापि दिवसं तस्मिन्नेव तथैव सा।
सङ्केतकं त्रियामायां तृतीये प्रहरे व्यधात् ॥३९॥
दैवात्तेनापि निर्मुक्ता सकम्पा गृहमागता।
कर्तव्यं सा स्वचेटीनां संविदं स्वैरमब्रवीत् ॥४०॥
वरं पत्यौ प्रवासस्थे मरणं कुलयोषितः।
न तु रूपाभिलाषेण लोकलोचनपातपात्रता ॥४१॥
इति सञ्चिन्तयन्ती च स्मरन्ती मां निनाय सा।
शोचन्ती स्वं वपुः साध्वी निराहारैव तां निशाम् ॥४२॥

उपकोशा की कथा[1] (चालू)

मेरे तपस्या के लिए चले जाने पर मेरी कल्याण-कामना करती हुई उपकोशा भी नियमित व्रत धारण कर प्रतिदिन गंगा-स्नान करती थी ॥२८॥

एक बार मेरे विरह में दुर्बल पीली अतएव मनोहर और प्रतिपदा के चन्द्र के समान जन-लोचनों के लिए आकर्षक उपकोशा वसन्त-समय में गंगा-स्नान के लिए जा रही थी। मार्ग में उस नयन-मधुर आकृति को राजपुरोहित, नगरपाल तथा युवराज के मन्त्री ने देखा ॥२९-३०॥

उसे देखकर वे तीनों काम-बाण के लक्ष्य बन गये। उनकी अवस्था को समझकर उपकोशा ने भी स्नान करने में जान-बूझकर विलम्ब किया ॥३१॥

सायंकाल गंगा-स्नान से लौटकर आती हुई उपकोशा को कुमारसचिव ने बलपूर्वक रोका किन्तु प्रतिभावती उपकोशा ने उससे कहा ॥३२॥

'भले आदमी! यह ठीक है। जो तुम चाहते हो वही मैं भी चाहती हूँ। किन्तु मैं उच्च कुल में उत्पन्न हुई हूँ और प्रोषितभर्तृका हूँ ॥३३॥

अतः इस प्रकार का कार्य ही क्यों किया जाय। यदि कदाचित् कोई देख ले तो तुम्हारा साथ मेरा भी कल्याण नहीं होगा ॥३४॥

इसलिए वसन्तोत्सव की धूमधाम में नागरिकों के व्यस्त रहने पर तुम रात के पहले पहर मेरे घर पर आओ' ॥३५॥

ऐसा कहकर उससे प्रतिज्ञा करके उपकोशा उससे छूटकर जब कुछ आगे बढ़ी तब दैवयोग से उसे पुरोहित ने आ घेरा ॥३६॥

उपकोशा ने उससे भी उसी दिन उसी प्रकार रात के तीसरे पहर आने का निश्चय किया ॥३७॥

पुरोहित से किसी प्रकार छूटकर वह विह्वल उपकोशा थोड़ी ही कुछ दूर गई थी कि नगर शासक (शहर-कोतवाल) ने भी उसी प्रकार उसे रोका ॥३८॥

इसके बाद उपकोशा ने उस को भी उसी प्रकार, उसी दिन उसी रात के दूसरे पहर में घर पर आने का संकेत किया ॥३९॥

विधिवशात् उससे भी छूटी हुई उपकोशा काँपती हुई अपने घर पहुँची और अपनी दासियों को बुलाकर स्वतन्त्रतापूर्वक कर्तव्य-निर्धारण करते हुए बोली ॥४०॥

'पति के प्रवास में रहने पर कुलस्त्री का मर जाना अच्छा है किन्तु रूप पर मरनेवालों की आँखों पर चढ़ना अच्छा नहीं' ॥४१॥

इस प्रकार सोचती हुई तथा मुझे स्मरण करती हुई उस पतिव्रता उपकोशा ने निराहार रहकर उस रात्रि को व्यतीत किया ॥४२॥

---

१ इस कथा से मिलती-जुलती कहानी बर्टन के अरेबियन नाइट्स में एक मिस्री स्त्री और उसके चार यारों की कहानी में है। अंगरेजी के उपन्यासों में भी परियों की कहानी में ऐसा प्रसंग मिलता है।

प्रातर्ब्राह्मणपूजार्थं व्यसर्जि वणिजस्तया ।
चेटी हिरण्यगुप्तस्य किञ्चिदानयितु धनम् ॥४३॥
आगत्य सोऽपि तामेवमेकान्ते वणिगब्रवीत् ।
भजस्व मां ततो भर्तृस्थापित ते ददामि तत् ॥४४॥
तच्छ्रुत्वा साक्षिरहितां मत्वा भर्तृधनस्थितिम् ।
वणिजश्च पापमालोक्य सदामर्षकदर्थिता ॥४५॥
तस्यामेवात्र सङ्केत रात्रौ तस्यापि पश्चिमे ।
यामे पतिव्रता याम साकरोदथ सोऽगमत् ॥४६॥
तत साकारयद् भूरि चेटीभि कुण्डकस्थितम् ।
कस्तूरिकादिसंयुक्त कज्जल तैलमिश्रितम् ॥४७॥
तल्लिप्तावस्त्रखण्डाश्च चत्वारो विहितास्तथा ।
मञ्जूषा कारिता चाभूत्स्थूला सबहिरर्गला ॥४८॥
अथ तस्मिन्महापर्वे वसन्तोत्सववासरे ।
आययौ प्रथमे याम कुमारसचिवो निशि ॥४९॥
अलक्षित प्रविष्ट तमुपकोशैवमब्रवीत् ।
अस्नात न स्पृशामि त्वां तत्स्नाहि प्रविशान्तरम् ॥५ ॥
अङ्गीकुर्वन्स तां मूढश्चेटिकाभि प्रवेशित ।
अभ्यन्तरगृह गुप्तमन्धकारमय तत ॥५१॥
गृहीत्वा तत्र तस्यान्तर्वस्त्राण्याभरणानि च ।
वस्त्रखण्ड तमेक च दत्त्वान्तर्वासस कृते ॥५२॥
आशिरःपादमङ्गेषु ताभिस्तत्तैलकज्जलम् ।
अभ्यङ्गभङ्ग्या पापस्य न्यस्त घनमपश्यत ॥५३॥
अतिष्ठन्मर्दयन्त्यस्तत्प्रत्यङ्ग यावदस्य ता ।
तावद् द्वितीये प्रहरे स पुरोधा उपागमत् ॥५४॥
मित्र वररुचे प्राप्त किमप्यथ पुरोहित ।
तदिह प्रविशेत्युक्त्वा चेट्यस्तास्त तथाविधम् ॥५५॥
कुमारसचिव नग्न मञ्जूषायां ससम्भ्रमम् ।
निचिक्षिपुरथाबध्नन्नर्गलेन बहिश्च ताम् ॥५६॥
सोऽपि स्नानमिषान्नीतस्तमस्यन्त पुरोहित ।
तथैव हृतवस्त्रादिस्तैलकज्जलमर्दनै ॥५७॥
चैलखण्डधरस्ताभिश्चेटिकाभिर्विमोहित ।
यावत्तृतीये प्रहरे दण्डाधिपतिरागमत् ॥५८॥

सबेरे उठकर उसने ब्राह्मणों का भोजन कराने तथा उनकी पूजा करने के लिए कुछ धन लाने के लिए हिरण्यगुप्त बनिये के पास दासी को भेजा ॥४३॥

वह बनिया भी एकान्त में आकर उससे (उपकोषा से) बोला कि 'यदि तुम मेरी सेवा करो तो मैं तुम्हारे पति का रखा हुआ धन तुम्हें दे दूँगा' ॥४४॥

ऐसा सुनकर और पति के रखे हुए धन में किसी की पक्की साक्षी न होने के कारण उपकोषा दुःख और क्रोध से अधीर हो गई और उसने बनिये को भी उसी दिन उसी रात के चतुर्थ प्रहर में आने का निमन्त्रण दिया जिसे सुनकर प्रसन्न बनिया चला गया ॥४५ ४६॥

तब उसने तेल मिलाकर कुँडों में रखा हुआ बहुत-सा अलकतरा सखियों (दासियों) से मँगाया और उसमें कस्तूरी आदि अनेक सुगन्धित द्रव्य मिलाये ॥४७॥

उस कोलतार से सने हुए उसने चार छोटे-छोटे कपड़े के टकड़े (कमर में लपेटने के लिए) तैयार कराये और एक बड़ा भारी सन्दूक बनवाया जिसमें बाहर से बन्द करने की अर्गला (कुण्डी) लगी हुई थी ॥४८॥

कुछ समय के अनन्तर उस वसन्तोत्सव के दिन रात के पहले प्रहर के समय कुमारसचिव सुन्दर वेष धारण किये हुए सजधज के साथ आया ॥४९॥

चुपचाप घर में आये हुए उस कुमारसचिव से उपकोषा ने कहा—'बिना स्नान किये मैं तुम्हारा स्पर्श न करूँगी ? अतः पहले अन्दर जाकर स्नान करो ॥५ ॥

उस मूर्ख ने स्नान करना स्वीकार किया तो उसे दासियों ने अन्धकारमय स्नानागार में प्रवेश करा दिया ॥५१॥

उसे अन्दर ले जाकर दासियों ने उसके पहले कपड़े उतार लिये और कमर में लपेटने के लिए (काजल से सना) कपड़े का एक टकड़ा दे दिया ॥५२॥

घने अन्धकार में कुछ न देखते हुए उस पापी के मालिश करने के बहाने सिर से पैर तक के सभी अंगों को उन सखियों (दासियों) ने तेल मिले हुए उस अलकतरे से काला कर दिया ॥५३॥

दासियाँ जबतक उसके एक-एक अंग को काजल से मल रही थी तबतक दूसरे पहर में पुरोहित आ गया ॥५४॥

तब दासियों ने कहा अरे ! वररुचि का मित्र राजपुरोहित आ गया। अतः तुम ऐसे ही जाकर इस सन्दूक में छिप जाओ। इस प्रकार उन्होंने घबराहट के साथ उस मन कुमारसचिव को, उस सन्दूक में घुसाकर बाहर से अर्गला लगाकर बन्द कर दिया ॥५५-५६॥

दासियाँ पुरोहित को भी स्नान कराने के बहाने अँधेरे स्नानागार मे ले गईं और उसके कपड़े उतार कर तेल मिले हुए काजल से उसकी भी मालिश करने लगीं। इस प्रकार, एक कपड़े का टुकड़ा लपेटा हुआ वह पुरोहित भी दासियों द्वारा मूर्ख बनाया गया। इतने में तीसरे पहर कोतवाल भी आ गया ॥५७-५८॥

तदागमनजादेव चेटीभिः सहसा भयात् ।
आद्यवस्त्रोऽपि निक्षिप्तो मञ्जूषायां पुरोहितः ॥५९॥
तस्य दत्तार्गलं ताभिः स्नानव्याजात्प्रविश्य सः ।
दण्डाधिपोऽपि तत्रैव तावत्कज्जलमर्दनैः ॥६०॥
अन्धवद् विप्रलब्धोऽभूत्तैललिप्तककर्पटैः ।
यावत्स पश्चिमे यामे वणिक्तत्रागतोऽभवत् ॥६१॥
तद्धनभयं दत्वा क्षिप्तो दण्डाधिपोऽप्यथ ।
मञ्जूषायां स चेटीभिर्दत्तं च बहिरर्गलम् ॥६२॥
ते च त्रयोऽन्धतामिस्रवासाभ्यासोचिता इव ।
मञ्जूषायां भियान्योन्यं स्पृष्ट्वापि नालपन् ॥६३॥
दत्त्वाथ दीपं गेहेऽत्र वणिजं तं प्रवेश्य सा ।
उपकोशावदद्देहि तन्मे भर्त्रार्पितं धनम् ॥६४॥
तच्छ्रुत्वा शून्यमालोक्य गृहं सोऽप्यवदच्छठः ।
उक्तं मया ददाम्येव यद् भर्त्रा स्थापितं धनम् ॥६५॥
उपकोशाऽपि मञ्जूषां श्रावयन्ती ततोऽब्रवीत् ।
एतद्धिरण्यगुप्तस्य वचः शृणुत देवताः ॥६६॥
इत्युक्त्वा चैव निर्वाप्य दीपं सोऽप्यवदद् वणिक् ।
लिप्तः स्नानापदेशेन चेटीभिः कज्जलं चिरम् ॥६७॥
अथ गच्छ गता रात्रिरित्युक्तः स निशाक्षये ।
अनिच्छन्गलहस्तेन ताभिर्निर्वासितस्ततः ॥६८॥
अथ चीरैकवसनो मषीलिप्तः पदे पदे ।
लक्ष्यमाणः श्वभिः प्राप लज्जमानो निजं गृहम् ॥६९॥
तस्य दासजनस्यापि तां प्रक्षालयतो मषीम् ।
नाभवत्सम्मुखे स्थातुं नष्टो ह्यविनयक्रमः ॥७ ॥
उपकोशाप्यथ प्रातश्चेटिकानुगता गता ।
गुरूणामनिवेद्यैव राज्ञो नन्दस्य मन्दिरम् ॥७१॥
वणिग्घिरण्यगुप्तो मे भर्त्रा न्यासीकृतं धनम् ।
जिघृक्षतीति विज्ञप्तस्तत्र राजा तया स्वयम् ॥७२॥

---

१ अथवर्गं दत्वायम ।

उसके आते ही दासियों ने घबराकर उस पुरोहित को भी पहलेवाले सन्दूक में बन्द कर दिया ॥५९॥

पुरोहित के सन्दूक को अर्गला से बन्द कर देने के पश्चात् दासियों ने कोतवाल का भी स्नान के बहाने स्नानागार में ले जाकर उसी प्रकार काजल की मालिश की ॥६० ॥

पहले दोनों के समान उन दासियों द्वारा यह कोतवाल भी एक कपड़े का टुकड़ा पहनाकर मूर्ख बनाया गया। इतने में रात्रि के अन्तिम पहर में वह हिरण्यगुप्त नामक बनियाँ आ पहुँचा ॥६१॥

कोतवाल को वह देख लेगा इस प्रकार का भय दिखाकर दासियों ने उसे भी उसी सन्दूक में बन्द करके बाहर से अर्गला चढ़ा दी ॥६२॥

उस एक ही सन्दूक में वे तीनों मानों अन्धतामिस्र नरक में वास करने का अभ्यास करते हुए-से परस्पर संस्पर्श होते हुए भी बोलते न थे ॥६३॥

उपकोशा ने दिया जलाकर और उस बनिये को स्नानागार में ले जाकर कहा—कि मेरे पति का दिया हुआ धन मुझे लौटा दो ॥६४॥

उपकोशा की बातें सुनकर और एकान्त घर को देखकर वह धूर्त बनिया बोला—'मैंने कह दिया कि तुम्हारे पति का रखा हुआ धन मैं अवश्य दे दूँगा' ॥६५॥

उपकोशा ने बन्द सन्दूक को सुनाते हुए कहा—हे देवताओ। हिरण्यगुप्त का वचन सुनो ॥६६॥

ऐसा कहकर उपकोशा ने दिया बुझा दिया और दासियों ने उस बनिये को भी अन्य तीनों के समान स्नान के बहाने से अलकतरे का लेप किया ॥६७॥

मर्दन में विलम्ब के कारण प्रातःकाल होते ही दासियों ने उससे कहा कि अब जाओ रात समाप्त हो गई। जब उसने जाने में आनाकानी की तो दासियों ने गलहस्त (गर्दनिया) देकर उसे घर से बाहर निकाल दिया ॥६८॥

एक फटा चिथड़ा लपेटे हुए घर से निकाले जाने पर काजल से पुता हुआ अतएव कुत्तों से काटा जाता हुआ बनिया अत्यन्त लज्जा के साथ अपने घर पहुँचा ॥६९॥

घर आकर जब उसके सेवक उसके शरीर की कालिमा छुड़ाने लगे तब तो वह उनके सामने भी मुँह न कर सका। सच है बुरी बातों का परिणाम बुरा ही होता है ॥७० ॥

इसके उपरान्त प्रातःकाल दासी को साथ लेकर उपकोशा भी अपने माता-पिता की आज्ञा के बिना ही राजा नन्द के भवन को चली गई ॥७१॥

राजभवन में जाकर उसने राजा से स्वयं निवेदन किया कि हिरण्यगुप्त नामक बनिया मेरे पति द्वारा उसके पास रखे हुए धन को हड़प लेना चाहता है ॥७२॥

तेन तच्च परिज्ञाय तत्रैवानायितो वणिक् ।
मद्धस्ते किञ्चिदप्यस्या देव नास्तीत्यभाषत ॥७३॥
उपकोशा ततोऽवादीत्सन्ति मे देव साक्षिणः ।
मञ्जूषायां गतं क्षिप्त्वा भर्ता मे गृहदेवताः ॥७४॥
स्ववाचा पुरतस्तासामनेनाङ्गीकृतं धनम् ।
तामानाय्येह मञ्जूषां पृच्छ्यन्तां देवतास्त्वया ॥७५॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयाद्राजा तदानयनमादिशत् ।
ततः क्षणात्सा मञ्जूषा प्रापिता बहुभिर्जनैः ॥७६॥
अथोपकोशा वक्ति स्म सत्यं वदत देवताः ।
यदुक्तं वणिजानेन ततो यात निजं गृहम् ॥७७॥
नो चेद्दहाम्यहं युष्मान्सदस्युद्घाटयामि वा ।
तच्छ्रुत्वा भीतभीतास्ते मञ्जूषास्था बभाषिरे ॥७८॥
सत्यं समक्षमस्माकमनेनाङ्गीकृतं धनम् ।
ततो निरुत्तरः सर्वं वणिक्तत्प्रत्यपद्यत ॥७९॥
उपकोशामथाभ्यर्थ्य राज्ञा स्वतिकुतूहलात् ।
सदस्युद्घाटिता तत्र मञ्जूषा स्फोटितार्गला ॥८०॥
निष्कृष्टास्तेऽपि पुरुषास्तमःपिण्डा इव त्रयः ।
कृच्छ्राच्च प्रत्यभिज्ञाता मन्त्रिभिर्भूभुजा तथा ॥८१॥
प्रहसत्स्वथ सर्वेषु किमेतदिति कौतुकात् ।
राज्ञा पृष्टा सती सर्वमुपकोशा शशंस तत् ॥८२॥
अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरितं कुलयोषिताम् ।
इति चाभिननन्दुस्तामुपकोशां सभासदः ॥८३॥
ततस्ते हृतसर्वस्वाः परदारैषिणोऽखिलाः ।
राज्ञा निर्वासिता देशादशीलं कस्य भूतये ॥८४॥
भगिनी मे त्वमित्युक्त्वा दत्त्वा प्रीत्या धनं बहु ।
उपकोशाऽपि भूपेन प्रेषिता गृहमागमत् ॥८५॥
वर्षोपवर्षौ तद्बुद्ध्वा साध्वीं तामभ्यनन्दताम् ।
सहर्षं विस्मयस्मेरं पुरं तत्राभवज्जनः ॥८६॥
अत्रान्तरे तुषाराद्रौ गत्वा तीव्रतरं तपः ।
आराधितो मया देवो वरदः पार्वतीपतिः ॥८७॥

राजा ने इस बात को जानने के लिए, बनिये को वहीं बुलवाया तो बनिये ने राजा से कहा—'महाराज! मेरे पास इसका कुछ भी नहीं है' ॥७३॥

तब उपकोशा ने कहा—'महाराज! इसके साक्षी मेरे गृह के देवता हैं, जिन्हें मेरे पति सन्दूक में बन्द कर गये हैं ॥७४॥

इस बनिये ने उन देवताओं के आगे अपने मुँह से धन स्वीकार किया है। आप उस सन्दूक को मँगाकर उन देवताओं से पूछिए' ॥७५॥

ऐसा सुनकर राजा को आश्चर्य हुआ और उसने सन्दूक लाने की आज्ञा दी और कुछ ही समय में बहुत व्यक्ति मिलकर उस सन्दूक को राजा के सामने ले आये ॥७६॥

सन्दूक आ जाने पर उपकोशा ने कहा—हे देवताओ! सच बोलो। जो इस बनिये ने कहा है—बताओ और फिर घर को जाओ ॥७७॥

'यदि तुम न बोलोगे तो तुम्हें सन्दूक के साथ ही जला दूँगी या राजसभा में सन्दूक खोलकर तुम्हारा प्रदर्शन करूँगी। यह सुनकर सन्दूक के अन्दर से वे लोग भयभीत होकर बोले ॥७८॥

'सच है, इसने हम लोगों के सामने धन स्वीकार किया है। तब बनिये ने निरुत्तर होकर उसका धन स्वीकार किया ॥७९॥

इसके अनन्तर अत्यन्त कुतूहलवश राजा के साग्रह प्रार्थना करने पर उपकोशा ने अर्गला तोड़कर उस सभा में सन्दूक खोल दिया ॥८०॥

सन्दूक खोलने पर अन्धकार के पिंड के समान वे तीनों पुरुष उसमें से निकले तो बड़ी कठिनता के साथ उन्हें राजा और मन्त्रियों ने पहचाना ॥८१॥

उन्हें देख सभी सभासदों के हँसने पर राजा ने आश्चर्य के साथ उपकोशा से पूछा कि 'यह क्या है ?' तब उपकोशा ने सारा वृत्तान्त सभा में सुना दिया ॥८२॥

'चरित्र की रक्षा करनेवाली कुलीन स्त्रियों के चरित्र अचिन्तनीय होते हैं। इस प्रकार सभी सभासद, उपकोशा के चरित्र की प्रशंसा करने लगे ॥८३॥

राजा ने समस्त वृत्तान्त सुनकर परदाराभिगामी उन तीनों की सम्पत्ति का हरण करके उन्हें देश से निकाल दिया। सच है दुश्चरित्र किसके लिए कल्याणकारक होता है ॥८४॥

तू मेरी बहिन है—ऐसा कहकर तथा प्रसन्नता के साथ बहुत-सा धन देकर राजा ने उपकोशा को वापस भेज दिया। वह अपने घर आ गई ॥८५॥

वर्ष और उपवर्ष भी इस समाचार को जानकर उस पतिव्रता स्त्री का अभिनन्दन करने लगे और सभी नगर-निवासी इस समाचार से आश्चर्यचकित हो मुस्कराने लगे ॥८६॥

इसी बीच मैंने हिमालय में कठोर तपस्या करके वरदानी महादेव की आराधना की ॥८७॥

प्रविश्य स्वस्तिकार च विधाय गुरुदक्षिणाम् ।
योगनन्दो मया तत्र हेमकोटिं स याचित ॥१०३॥
तत स शकटालाख्य सत्यनन्दस्य मन्त्रिणम् ।
सुवर्णकोटिमेतस्मै दापयेति समादिशत् ॥१०४॥
मृतस्य जीवित दृष्ट्वा सद्यश्च प्राप्तिमर्थिन ।
स तत्त्व ज्ञातवान्मन्त्री किमज्ञेय हि धीमताम् ॥१०५॥
देव ! दीयत इत्युक्त्वा स च मन्त्रीत्यचिन्तयत् ।
नन्दस्य तनयो बालो राज्य च बहुशत्रुमत् ॥१ ६॥
तत्सम्प्रत्यत्र रक्षामि तस्य देहमपीदृशम् ।
निश्चित्यैतत्स तत्काल शवान्सर्वानदाहयत् ॥१०७॥
चाररन्विष्य तन्मध्ये लब्ध्वा देवगृहात्तत ।
व्याडि विधूय तद्दग्धमिन्द्रदत्तकलेवरम् ॥१०८॥
अत्रान्तरे च राजान हेमकोटिसमर्पणे ।
त्वरमाणमथाह स्म शकटालो विचारयन् ॥१ ९॥
उत्सवाक्षिप्तचित्तोऽयं सर्व परिजन स्थित ।
क्षण प्रतीक्षतामेष विप्रो यावद्ददाम्यहम् ॥११ ॥
अथैत्य योगनन्दस्य व्याडिनाक्रन्दित पुर ।
अब्रह्मण्यमनुत्क्रान्तजीवो योगस्थितो द्विज ॥१११॥
प्रमादक्षण एवैष दग्धस्तद्देहस्तवोदय ।
तच्छ्रुत्वा योगनन्दस्य तत्क्षणाभवच्छुचा ॥११२॥
देह त्याहात्स्थिरे तस्मिन्ज्ञाते निर्गत्य मे ददौ ।
सुवर्णकोटिं स तत शकटालो महामति ॥११३॥
योगनन्दोऽथ विजने सशोको व्याडिमब्रवीत् ।
शूद्रीभूतोऽस्मि विप्रोऽपि किं श्रिया स्थिरयापि मे ॥११४॥
तच्छ्रुत्वाश्वास्य त व्याडि कालोचितमभाषत ।
ज्ञातोऽसि शकटालेन तदेनं चिन्तयाधुना ॥११५॥
महामन्त्री ह्ययं स्वेच्छमचिरात्त्वां विनाशयेत् ।
पूर्वनन्दसुत कुर्याच्चन्द्रगुप्त हि भूमिपम् ॥११६॥
तस्माद् वररुचि मन्त्रिमुख्यत्वे कुरु येन ते ।
एतद्बुद्ध्या ममराज्य स्थिर दिव्यानुभावया ॥११७॥

राजभवन में जाकर राजा को आशीर्वाद देकर मैंने उस योगनन्द से गुरुदक्षिणा के लिए एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा की याचना की ॥१०३॥

तब योगनन्द ने शकटाल नामक पूर्वनन्द के मन्त्री को आज्ञा दी कि 'तुम इसे एक करोड़ की स्वर्ण-मुद्रा दिला दो'॥१०४॥

मृत राजा का तुरन्त जीवित हो उठना और उसी समय याचक का उपस्थित हो जाना देखकर वह मंत्री सच्ची बात को ताड़ गया। सच है बुद्धिमानों के लिए कौन-सी बात अज्ञेय है॥१०५॥

'राजन्! देता हूँ'—ऐसा कहकर उस मन्त्री ने यह सोचा कि नन्द का लड़का अभी बालक है और राज्य के शत्रु भी बहुत हैं। अतः इस (नकली) राजा के शरीर की अभी रक्षा करनी चाहिए। (कहीं कार्य होने पर यह भाग न जाय) यह निश्चय करके उसने तत्काल राज्य के सभी मुर्दों को जलवा दिया॥१०६ १०७॥

राज्य के गुप्तचरों ने ढूँढ़-ढूँढ़कर मुर्दों को जलाना शुरू किया। इसी प्रसंग में देवालय में पड़े हुए इन्द्रदत्त के शव को भी व्याडि से छीनकर हठात् जला दिया गया॥१०८॥

इस बीच राजा को स्वर्ण देने में शीघ्रता करते हुए देख कर चतुर शकटाल बोला॥१०९॥

महाराज! सारे राज-कर्मचारी उत्सव के कार्यों में व्यस्त हैं। इसलिए यह ब्राह्मण क्षण-भर प्रतीक्षा करे। तबतक मैं अभी देता हूँ॥११०॥

इसी अवसर पर व्याडि ने आकर राजा के सामने रोना प्रारम्भ किया कि आपके इस शुभ उत्सवकाल में अत्यन्त पाप हो गया। प्राणों के शेष रहने पर भी योग-समाधि में स्थित ब्राह्मण के शव को—अनाथ शव कहकर—तुम्हारे नौकरों ने जला डाला। यह सुनकर शोक के कारण योगनन्द[1] की कुछ अद्भुत एवं विचित्र-सी दशा हो गई॥१११ ११२॥

शरीर के दग्ध हो जाने पर नन्द के शरीर में इन्द्रदत्त की आत्मा को स्थिर समझकर महाबुद्धिमान् शकटाल ने उठकर मुझे एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान कीं॥११३॥

इसके अनन्तर वह योगनन्द एकान्त में खेद के साथ व्याडि से बोला—जब मैं ब्राह्मण होकर भी शूद्र हो गया। इसलिए मुझे इस स्थिर राज्यलक्ष्मी से भी क्या लाभ॥११४॥

यह सुनकर व्याडि ने राजा को कालोचित आश्वासन देते हुए कहा—तुम्हारा रहस्य शकटाल को मालूम हो गया है। इसलिए अब पहले इसकी चिन्ता करो॥११५॥

यह महामन्त्री है। अपनी इच्छा से शीघ्र ही यह तुम्हारा नाश करके पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनायेगा॥११६॥

इसलिए तुम वररुचि को अपना प्रधान मन्त्री बनाओ। उसकी दिव्य और प्रतिभाशाली बुद्धि से तुम्हारा राज्य स्थिर रहेगा॥११७॥

---

१ योग के द्वारा पुनः जीवित होने के कारण इसका नाम योगनन्द पड़ा था। असली नन्द का नाम सत्यनन्द या पूर्वनन्द था। इस विषय में विस्तृत विवेचन परिशिष्ट में किया गया है।

तन्मैव तन शास्त्र म पाणिनीय प्रकाशितम्।
तदिच्छानुग्रहादेव मया पूर्णीकृत च तत् ॥८८॥
ततोऽहं गृहमागच्छमज्ञाताध्वपरिश्रम।
निशाकरकलामौलिप्रसादामृतनिर्भर ॥८९॥
अथ मातुर्गुरूणां च कृतपादाभिवन्दन।
तत्रोपकोशावृत्तान्त समश्रौष महाद्भुतम् ॥९०॥
तेन म परमां भूमिमासन्यानन्दविस्मयौ।
तस्यां च सहजस्नेहबहुमानावगच्छताम् ॥९१॥
वर्षोऽथ मन्मुखाच्छ्रोतु व्याकरण नवम्।
तत प्रकाशित स्वामिकुमारेणव तस्य तत् ॥९२॥
ततो व्याडीन्द्रदत्ताभ्यां विज्ञप्तो दक्षिणां प्रति।
गुरुर्वर्षोऽब्रवीत् स्वर्णकोटिर्मे दीयतामिति ॥९३॥
अङ्गीकृत्य गुरोर्वाक्य तौ च मामित्यवोचताम्।
एहि राज्ञ सख! नन्दाद्याचितु गुरुदक्षिणाम् ॥९४॥
गच्छामो नान्यतोऽस्माभिरियत्काञ्चनमाप्यत।
नवाधिकामा नवते कोटीनामधिपो हि स ॥९५॥
याचा तेनोपकोशा च प्रागस्मभगिनी कृता।
अत स्यालः स ते किञ्चित् त्वद्गुण समवाप्यते ॥९६॥
इति निश्चित्य नन्दस्य भूपते कटक वयम्।
मयोध्यास्थमगच्छाम त्रय सब्रह्मचारिण ॥९७॥
प्राप्तमात्रेषु चास्मासु स राजा पञ्चतां गत।
राष्ट्रे कोलाहल जात विषादन सहैव न ॥९८॥
अवोचदिन्द्रदत्तोऽथ तत्क्षण योगसिद्धिमान्।
गतासोरस्य भूपस्य शरीर प्रविशाम्यहम् ॥९९॥
अर्थी वररुचिर्मेऽस्तु दास्याम्यस्मै च काञ्चनम्।
व्याडी रक्षतु मे देह तत प्रत्यागमावधि ॥१००॥
इत्युक्त्वा नन्ददेहान्तरिन्द्रदत्त समाविशत्।
प्रत्युज्जीवति भूपे च राष्ट्रे तत्रोत्सवोऽभवत् ॥१०१॥
शून्य देवगृह देहमिन्द्रदत्तस्य रक्षितुम्।
व्याडौ स्थिते गतोऽभूवमह राजकुल तदा ॥१०२॥

वररुचि का प्रत्यागमन

शिवजी ने मुझे उसी पाणिनीय शास्त्र (व्याकरण) का प्रकाश दिया और उन्हीं की कृपा से मैंने (वार्तिक बनाकर) उसे पूर्ण किया ॥८८॥

तब मैं जगदीश्वर (महादेव) के कृपा-रूपी अमृत से तृप्त होकर मार्ग के श्रम को कुछ भी न समझते हुए अनायास ही घर चला आया ॥८९॥

घर आकर माता और गुरुजनों का चरणस्पर्श करके मैंने उपकोशा के अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त को सुना ॥९ ॥

इस समाचार से मेरे आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही और उपकोशा के प्रति स्वाभाविक स्नेह और सम्मान की भावना भी असीम हो गई ॥९१॥

उपाध्याय वर्ष ने मेरे मुख से इस नवीन व्याकरण को सुनने की इच्छा प्रकट की किन्तु स्वामिकुमार ने उपाध्याय के हृदय में उसे स्वयं ही प्रकाशित कर दिया ॥९२॥

तब व्याडि और इन्द्रदत्त ने गुरु वर्ष से गुरु-दक्षिणा के लिए प्रार्थना की। उत्तर में गुरु वर्ष ने कहा कि 'एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा मुझे दो' ॥९३॥

गुरु वर्ष की आज्ञा को स्वीकार कर व्याडि और इन्द्रदत्त दोनों ने मुझसे कहा—'आओ मित्र! राजा नन्द से गुरु-दक्षिणा माँगने के लिए चलें ॥९४॥

अन्य किसी से इतना सुवर्ण नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि राजा नन्द इस समय निन्यानबे करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं का स्वामी है ॥९५॥

उसने कुछ समय पहले (तुम्हारी धर्मपत्नी) उपकोशा को धर्म की बहिन भी माना है। अतः वह तुम्हारा साला होता है। इस नाते भी तुम्हारे चलने पर धन मिल सकता है ॥९६॥

ऐसा निश्चय करके हम तीनों सहपाठी अयोध्या में लगे हुए नन्द के शिविर में गये ॥९७॥

हम लोगों के वहाँ पहुँचते ही राजा नन्द का देहान्त हो गया और हमारे दुःख के साथ सारे राष्ट्र में कोलाहल मच गया ॥९८॥

इसी समय योग की सिद्धियों को जाननेवाला इन्द्रदत्त बोला—'मैं इस मृत राजा के शरीर में (पर-काय-प्रवेश[1]-विद्या द्वारा) प्रवेश करता हूँ ॥९९॥

वररुचि अर्थी बने मैं इसे धन दूँगा और मेरे पुनः लौटने तक व्याडि मेरे वास्तविक शरीर की रक्षा करे ॥१ ॥

ऐसा कहकर इन्द्रदत्त अपनी विद्या के प्रभाव से राजा नन्द के शव में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार राजा के पुनर्जीवित होने पर सारे राष्ट्र में उत्सव मनाया गया ॥१ १॥

एकान्त देव-मन्दिर में इन्द्रदत्त के शरीर की रक्षा के लिए व्याडि बैठ गया और मैं राजा के समीप गया ॥१ २॥

---

१ योग के द्वारा परकाय-प्रवेश किया जाता था। इसका रहस्य अगले खण्ड में मय दानव के द्वारा प्रकट किया गया है।—अनु॰

प्रविश्य स्वस्तिकारं च विधाय गुरुदक्षिणाम् ।
योगनन्दो मया तत्र हेमकोटिं स याचितः ॥१०३॥
ततः स शकटालाख्यं सत्यनन्दस्य मन्त्रिणम् ।
सुवर्णकोटिमेतस्मै दापयेति समादिशत् ॥१०४॥
मृतस्य जीवितं दृष्ट्वा सद्यश्च प्राप्तिमर्थिनः ।
स तत्त्वं ज्ञातवान्मन्त्री किमज्ञेयं हि धीमताम् ॥१०५॥
देव ! दीयत इत्युक्त्वा स च मन्त्रीत्यचिन्तयत् ।
नन्दस्य तनयो बालो राज्यं च बहुशत्रुमत् ॥१०६॥
तत्सम्प्रत्यत्र रक्षामि तस्य देहमपीदृशम् ।
निश्चित्यैतत्स तत्कालं शवान्सर्वानदाहयत् ॥१०७॥
चारैरन्विष्य तन्मध्ये लब्ध्वा देवगृहात्ततः ।
व्याडिं विधूय सद्दग्धमिन्द्रदत्तकलेवरम् ॥१०८॥
अत्रान्तरे च राजानं हेमकोटिसमर्पणे ।
त्वरमाणमथाह स्म शकटालो विचारयन् ॥१०९॥
उत्सवाक्षिप्तचित्तोऽस्य सर्वः परिजनः स्थितः ।
क्षणं प्रतीक्षतामेष विप्रो यावद्ददाम्यहम् ॥११०॥
अथैत्य योगनन्दस्य व्याडिनाक्रन्दितं पुरः ।
अब्रह्मण्यमनुत्क्रान्तजीवो योगस्थितो द्विजः ॥१११॥
अनाथशव इत्यद्य बलाद्दग्धस्तवोदये ।
तच्छ्रुत्वा योगनन्दस्य काप्यवस्थाभवच्छुचा ॥११२॥
देहे दाहात्स्थिरे तस्मिञ्जाते निर्गत्य मे ददौ ।
सुवर्णकोटिं स ततः शकटालो महामतिः ॥११३॥
योगनन्दोऽथ विजने सशोको व्याडिमब्रवीत् ।
शूद्रीभूतोऽस्मि विप्रोऽपि किं श्रिया स्थिरयापि मे ॥११४॥
तच्छ्रुत्वाश्वास्य तं व्याडिः कालोचितमभाषत ।
ज्ञातोऽसि शकटालेन तदेनं चिन्तयाधुना ॥११५॥
महामन्त्री ह्ययं स्वेच्छमचिरात्त्वां विनाशयेत् ।
पूर्वनन्दसुतं कुर्याच्चन्द्रगुप्तं हि भूमिपम् ॥११६॥
तस्माद् वररुचिं मन्त्रिमुख्यत्वे कुरु येन ते ।
एतद्बुद्ध्या भवेद्राज्यं स्थिरं दिव्यानुभावया ॥११७॥

राजभवन में जाकर राजा को आशीर्वाद देकर मैंने उस योगनन्द से गुरुदक्षिणा के लिए एक करोड़ स्वर्ण-मुद्रा की याचना की ॥१ ३॥

तब योगनन्द ने शकटाल नामक पूर्वनन्द के मन्त्री को आज्ञा दी कि 'तुम इसे एक करोड़ की स्वर्ण-मुद्रा दिला दो' ॥१ ४॥

मृत राजा का तुरन्त जीवित हो उठना और उसी समय याचक का उपस्थित हो जाना देखकर वह मंत्री सच्ची बात को ताड़ गया। सच है बुद्धिमानों के लिए कौन-सी बात अज्ञेय है ॥१ ५॥

'राजन्! देता हूँ'—ऐसा कहकर उस मन्त्री ने यह सोचा कि नन्द का लड़का अभी बालक है और राज्य के शत्रु भी बहुत हैं। अतः इस (नकली) राजा के शरीर की अभी रक्षा करनी चाहिए। (कहीं कार्य होने पर यह भाग न जाय) यह निश्चय करके उसने तत्काल राज्य के सभी मुर्दों को जलवा दिया ॥१ १ १ ७॥

राज्य के गुप्तचरों ने ढूँढ-ढूँढकर मुर्दों को जलाना शुरू किया। इसी प्रसंग में देवालय में पड़े हुए इन्द्रदत्त के शव को भी व्याडि से छीनकर हठात् जला दिया गया ॥१ ८॥

इस बीच राजा को स्वर्ण देने में शीघ्रता करते हुए देख कर चतुर शकटाल बोला ॥१ ९॥

महाराज! सारे राज-कर्मचारी उत्सव के कार्यों में व्यस्त हैं। इसलिए यह ब्राह्मण क्षण-भर प्रतीक्षा करे। तबतक मैं अभी देता हूँ ॥११ ॥

इसी अवसर पर व्याडि ने आकर राजा के सामने रोना प्रारम्भ किया कि आपके इस शुभ उदयकाल में अत्यन्त पाप हो गया। प्राणों के शेष रहने पर भी योग-समाधि में स्थित ब्राह्मण के शव को—अनाथ शव कहकर—तुम्हारे नौकरों ने जला डाला। यह सुनकर शोक के कारण योगनन्द[1] की कुछ अद्भुत एवं विचित्र-सी दशा हो गई ॥१११ ११२॥

शरीर के भस्म हो जाने पर नन्द के शरीर में इन्द्रदत्त की आत्मा को स्थिर समझकर महाबुद्धिमान् शकटाल ने उठकर मुझे एक करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान कीं ॥११३॥

इसके अनन्तर वह योगनन्द, एकान्त में खेद के साथ व्याडि से बोला—अब मैं ब्राह्मण होकर भी शूद्र हो गया। इसलिए मुझे इस स्थिर राज्यलक्ष्मी से भी क्या लाभ ॥११४॥

यह सुनकर व्याडि ने राजा को कालोचित आश्वासन देते हुए कहा—'तुम्हारा रहस्य शकटाल को मालूम हो गया है। इसलिए अब पहले उसकी चिन्ता करो ॥११५॥

यह महामन्त्री है। अपनी इच्छा से शीघ्र ही यह तुम्हारा नाश करके पूर्वनन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बनायेगा ॥११६॥

इसलिए तुम वररुचि को अपना प्रधान मन्त्री बनाओ उसकी दिव्य और प्रतिभाशाली बुद्धि से तुम्हारा राज्य स्थिर रहेगा ॥ ११७॥

---

१ योग के द्वारा पुनः जीवित होने के कारण इसका नाम योगनन्द पड़ा था। असली नन्द का नाम सत्यनन्द या पूर्वनन्द था। इस विषय में विस्तृत विवेचन परिशिष्ट में किया गया है।

इत्युक्त्वैव गते व्याडौ दातुं तां गुरुदक्षिणाम्।
तववामीय वत्ता म योगनन्देन मन्त्रिता ॥११८॥
अमोक्त स मया राजा ब्राह्मण्ये हारितऽपि ते।
राज्य नैव स्थिर मन्ये शकटाले पदस्थिते ॥११९॥
तस्मान्नाशय युक्त्यैनमिति मन्त्रे मयोदिते।
योगनन्दोऽन्धकूपान्त शकटाल तमक्षिपत् ॥१२ ॥
कि च पुत्रशत तस्य तत्रैव क्षिप्तवानसौ।
जीवन् द्विजोऽमुनादग्ध इति दोषानुकीर्तनात् ॥१२१॥
एक शराव सक्तूनामेक प्रत्यहमम्मस।
शकटालस्य तत्रान्त सपुत्रस्य न्यधीयत ॥१२२॥
स चोवाच तत पुत्रानमीभि सक्तुभि सुता।
एकोऽपि कृच्छाद्वर्तेतवहूनां तु कथैव का ॥१२३॥
तस्मात्समक्षयत्वेक प्रत्यह सजश्नानमून्।
य शक्तो योगनन्दस्य कर्तुं वैरप्रतिक्रियाम् ॥१२४॥
त्वमेव शक्तो भुङ्क्ष्वतदिति पुत्रास्तमब्रुवन्।
प्राणम्योऽपि हि धीराणां प्रिया शत्रुप्रतिक्रिया ॥१२५॥
तत स शकटालस्तै प्रत्यह सक्तुवारिभि।
एक एवाकरोद् वृत्ति कष्ट क्रूरा जिगीषव ॥१२६॥
मबुबुध्वा चित्तमप्राप्य विस्रम्म प्रभविष्णुषु।
म स्वेच्छ व्यवहर्तव्यमात्मनो भूतिमिच्छता ॥१२७॥
इति भावितयत्तत्र शकटालोऽन्धकूपग।
तनयानां क्षुधार्तानां पश्यन्प्राणोद्गमव्यथाम् ॥१२८॥
तत सुतशत तस्य पश्यतस्तद्व्यपद्यत।
तत्करङ्कैर्वृतो जीवन्नतिष्ठत्स च केवल ॥१२९॥
योगनन्दश्च साम्राज्ये बद्धमूलोऽभवत्तत।
व्याडिरभ्याययौ तं च गुरव दत्तदक्षिण ॥१३ ॥
अभ्येत्यैव च सोऽब्रवीच्चिर राज्यं सुखऽस्तु ते।
आमन्त्रितोऽसि गच्छामि तपस्तप्तुमहं क्वचित् ॥१३१॥
तच्छ्रुत्वा योगनन्दस्त बाष्पकण्ठो न्यभाषत।
राज्य भ भुङ्क्ष्व भोगांस्त्व मुक्त्वा मां मास्म गा इति ॥१३२॥

ऐसा कहकर व्याडि गुरु-दक्षिणा देने के लिए चला गया और योगनन्द ने मुझे बुलाकर मन्त्रिपद समर्पित किया ॥११८॥

मन्त्रिपद ग्रहण कर लेने पर मैंने राजा से कहा कि 'तुम्हारा ब्राह्मणत्व तो गया। परन्तु उसके जाने पर भी जबतक शकटाल मन्त्री है, तबतक राज्य भी स्थिर नहीं रह सकता ॥११९॥

इसलिए नीति के साथ इसका नाश करो। इस प्रकार मेरी सम्मति से योगनन्द ने शकटाल को अँधेरे कुएँ में डाल दिया ॥१२ ॥

शकटाल के साथ राजा ने उसके सौ पुत्रों को भी उसी अँधेरे कुएँ में डलवा दिया। उसका अपराध यह घोषित किया गया कि उसने जीवित ब्राह्मण को जलवा दिया था ॥१२१॥

मिट्टी के एक पात्रविशेष में सत्तू और ऐसे ही एक पात्र में पानी शकटाल और उसके पुत्रों के लिए कुएँ में रख दिया जाता था ॥१२२॥

शकटाल ने लड़कों से कहा कि 'इस सत्तू और पानी से एक का भी जीवन कठिन है, बहुतों की तो बात ही क्या ? ॥१२३॥

इसलिए जल के सहित इस सत्तू को वही प्रतिदिन खाया करे जो योगनन्द से बदला लेने की शक्ति रखता हो ॥१२४॥

लड़कों ने शकटाल से कहा कि 'राजा से बदला लेने के लिए आप ही समर्थ हैं। अतः आप ही इसे खाया करें'। सच है महान् आत्माओं के लिए शत्रु से बदला लेना प्राणों से भी प्यारा होता है ॥१२५॥

यह निर्णय होने पर वह अकेला शकटाल ही उस सत्तू और पानी से जीवन-निर्वाह करने लगा। सच है, शत्रु से बदला लेनेवाले अत्यन्त क्रूर प्रकृति के होते हैं ॥१२६॥

अपने कल्याण की कामना करनेवाले या उन्नतिशील व्यक्ति को चाहिए कि अपने मालिक की चित्तवृत्ति को बिना समझे और बिना उसका विश्वास प्राप्त किये उसके साथ व्यवहार न करे ॥१२७॥

भूख से प्राण त्यागते हुए बच्चों की पीड़ा देखकर अन्ध-कूप में पड़ा शकटाल इस प्रकार पश्चात्ताप करने लगा ॥१२८॥

उसके देखते-देखते ही सौ-के-सौ पुत्र मर गये। उनके कंकालों से घिरा हुआ एकमात्र शकटाल ही जीवित रह गया ॥१२९॥

इतने में योगनन्द भी धीरे-धीरे साम्राज्य में स्थिर हो गया तो व्याडि गुरु-दक्षिणा देकर उसके पास आया ॥१३ ॥

व्याडि ने आते ही योगनन्द से कहा—'मित्र ! मेरी बनाई नीति के अनुसार तुम चिरकाल तक राज्यभोग करो। मैं अब कहीं तपस्या करने जाता हूँ ॥१३१॥

व्याडि की बातें सुनकर गद्गद कण्ठ से राजा ने कहा—'तुम मेरे राज्य में रहकर सांसारिक भोगों को भोगो। मुझे छोड़कर न जाओ' ॥१३२॥

ध्याविस्ततोऽस्वदग्रावच्छरीरे क्षणनश्वरे।
एव प्रायप्र्वसारेषु धीमान्को माम मज्जति ॥१३३॥
नहि मोहयति प्राज्ञ लक्ष्मीर्मरुमरीचिका।
इत्युक्त्वैव स तत्काल तपसे निश्चितो ययौ ॥१३४॥
अगमवम योगनन्द पाटलिपुत्र स्वराजनगर स ।
भोगाय कारणभूते मत्सहित सकलसैन्ययुत ॥१३५॥
तत्रोपकोशापरिचर्यमाण समुद्वहन्मन्त्रिधुरां च तस्य।
अह जनमा गुरुभिश्च साकमासाद्य लक्ष्मीमवस चिराय ॥१३६॥
वहु तत्र दिने दिन द्युसिन्धु कनक मह्यमदात्तपःप्रसन्ना।
ववति स्म शरीरिणी च साक्षा मम कार्याणि सरस्वती सदैव ॥१३७

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके
चतुर्थस्तरङ्ग ।

पञ्चमस्तरङ्ग

एवमुक्त्वा वररुचि पुनरेतदवर्णयत् ।
कालेन यागमन्दोऽथ कामादिवशमाययौ ॥१॥
गजेन्द्र इव मत्तश्च नापैक्षत स किञ्चन।
अकाण्डपातोपनता क न लक्ष्मीर्विमोहयत् ॥२॥
अचिन्तयं ततश्चाहं राजा तावद् विशृङ्खल ।
तत्कार्यचिन्तयाक्रान्त स्वधर्मो मेऽवसीदति ॥३॥
तस्माद् वर सहाय त शकटाल समुद्धरे।
क्रियेत चेद् विरुद्ध च किं स कुर्या मयि स्थिते ॥४॥
निश्चित्यैतन्मयाभ्यर्थ्य राजानं सोऽन्धकूपत
उद्धृत शकटालोऽथ मृदवो हि द्विजातय ॥५॥
दुर्जयो योगनन्दोऽथ स्थिते वररुचावत ।
आश्रये वैतसीं वृत्ति काल तावत्प्रतीक्षितुम् ॥६॥
इति सञ्चिन्त्य स प्राज्ञ शकटालो मदिच्छया।
अकरोद्राजकार्याणि पुन सम्प्राप्य मन्त्रिताम् ॥७॥
कदाचिद्योगनन्दोऽथ निर्गतो नगराद् बहि ।
विकस्यत्पञ्चाङ्गुलि हस्त गङ्गामध्ये व्यलोकयत् ॥८॥

तब व्याडि ने कहा—हे राजन्! यह शरीर क्षण-भर में नष्ट हो जानेवाला है। अतः कौन बुद्धिमान् इस अनित्य सुख भोगों में डूबता है॥११३॥

लक्ष्मी की मृगतृष्णा किस धीर-पुरुष को मोहित नहीं कर लेती? ऐसा कहकर तपस्या के लिए निश्चय किए हुए वह व्याडि उसी समय चला गया॥११४॥

वररुचि कहता गया—हे काणभूते! इसके अनन्तर योगनन्द अयोध्या-शिविर से समस्त सेना के सहित मेरे साथ चलकर प्रधान राजधानी पाटलिपुत्र में राज-भोग करने के लिए आ गया॥११५॥

इस प्रकार, पाटलिपुत्र में आकर उपकोशा द्वारा मेरी सेवा होती रही। और, साथ ही राजा नन्द के मन्त्रित्व-भार को वहन करता हुआ मैं माता और गुरुजनों के साथ समृद्धि का उपभोग करने लगा॥११६॥

पाटलिपुत्र में तपस्या से प्रसन्न होकर गंगाजी मुझे प्रतिदिन बहुत-सा सुवर्ण देती थीं और साक्षात् शरीरधारिणी सरस्वती मेरे कार्यों में सर्वदा स्वयं सम्मति देती रहती थी॥११७॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का चतुर्थ तरंग समाप्त।

पंचम तरंग

वररुचि की कथा (चालू) वररुचि का वैराग्य

ऐसा कहकर वररुचि ने फिर कहना प्रारम्भ किया कि कुछ समय के अनन्तर योगनन्द काम क्रोध आदि के वशीभूत हो गया॥१॥

वह योगनन्द गजेन्द्र के समान उन्मत्त हो गया और उसे कुछ भी न सूझता था। आकस्मिक रूप से प्राप्त हुई लक्ष्मी किसे उन्मत्त नहीं बना देती॥२॥

तब मैंने सोचा कि राजा अनियन्त्रित स्थिति में हो रहा है। इसके कार्यों की चिन्ता से आक्रान्त होकर मेरा कर्त्तव्य भ्रष्ट हो रहा है। अतः अपनी सहायता के लिए क्यों न शकटाल का उद्धार करूँ? यदि वह राजा के विरुद्ध आक्रमण करेगा भी तो मेरे रहते क्या कर सकता है॥३ ४॥

इसलिए मैंने प्रार्थना करके शकटाल को अन्धकूप से निकलवाया। कारण यह कि ब्राह्मण जाति स्वभावतः कोमल होती है॥५॥

'वररुचि के रहते हुए योगनन्द पर विजय नहीं किया जा सकता। अतः इस समय बेंत के समान नम्र नीति धारण करके कुछ समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए'॥६॥

ऐसा सोचकर शकटाल मेरी सम्मति से पुनः मन्त्रि-भार प्राप्त कर राजकार्य करने लगा॥७॥

किसी समय योगनन्द नगर से बाहर गया और पाँचों अँगुलियों से मिले हुए हाथ को उसने गंगाजी में घूमते हुए देखा॥८॥

किमेतदिति पप्रच्छ मामाहूय स तत्क्षणम् ।
अहं च द्वे निजाङ्गुल्यौ विशि तस्यामदर्शयम् ॥९॥
तेन तस्मिंस्तिरोभूते हस्ते राजातिविस्मयात् ।
भूयोऽपि तदपृच्छन्मां ततश्चाहं समब्रवम् ॥१०॥
पञ्चभिर्मिलितैः किं यज्जगतीह न साध्यते ।
इत्युक्तवानसौ हस्तः स्वाङ्गुलीः पञ्च दर्शयन् ॥११॥
ततोऽस्य राजन्नङ्गुल्यावेते द्वे दर्शिते मया ।
ऐकचित्ये द्वयोरेव किमसाध्यं भवेदिति ॥१२॥
इत्युक्ते गूढविज्ञाने समतुष्यत्ततो नृपः ।
शकटालोऽप्यपीदच्च मद्बुद्धिं वीक्ष्य दुर्जयाम् ॥१३॥
एकदा योगनन्दश्च दृष्टवान्महिषीं निजाम् ।
वातायनाग्रात्पश्यन्तीं ब्राह्मणातिथिमुन्मुखम् ॥१४॥
तन्मात्रादेव कुपितो राजा विप्रस्य तस्य सः ।
आदिशद्वधमीर्ष्या हि विवेकपरिपन्थिनी ॥१५॥
हन्तुं वध्यभुवं तस्मिन्नीयमाने द्विजे तदा ।
महसद्गतजीवोऽपि मत्स्यो विपणिमध्यगः ॥१६॥
तच्च राजा तद् बुद्ध्वा वधं तस्य न्यवारयत् ।
विप्रस्य मामपृच्छच्च मत्स्यहासस्य कारणम् ॥१७॥
निरूप्य कथयाम्येतदित्युक्त्वा निर्गतं च माम् ।
चिन्तितोपस्थितैकान्ते सरस्वत्येवमब्रवीत् ॥१८॥
अस्य तालतरोः पृष्ठे तिष्ठ रात्रावलक्षितः ।
अत्र श्रोष्यसि मत्स्यस्य हासहेतुमसंशयम् ॥१९॥
तच्छ्रुत्वा निशि तत्राहं गत्वा तालोपरि स्थितः ।
अपश्यं राक्षसीं घोरां बालैः पुत्रैः सहागताम् ॥२०॥
सा भक्ष्यं याचमानांस्तानवादीत्प्रतिपाल्यताम् ।
प्रातर्वो विप्रमांसानि दास्याम्यद्य हतो न सः ॥२१॥
कस्मादसौ न हतोऽद्येति पृष्टा तैरब्रवीत्पुनः ।
तं हि दृष्ट्वा मृतोऽपीह मत्स्यो हसितवानिति ॥२२॥
हसितं किमु तेनेति पृष्टा भूयः सुतैश्च सा ।
अवोचद्राक्षसी राज्ञः सर्वा राज्ञ्योऽपि विप्लुताः ॥२३॥

राजा ने उसी समय मुझसे बुलाकर पूछा कि 'यह क्या है? मैंने भी उसी दिशा की ओर अपनी दो अँगुलियाँ दिखा दीं और हाथ अन्तर्हित हो गया ॥९॥

इस प्रकार उस हाथ के तिरोहित हो जाने पर राजा ने अत्यन्त विस्मय के साथ मुझसे फिर पूछा तब मैंने कहा—॥१ ॥

पाँचों अँगुलियों को दिखाते हुए उस हाथ ने कहा कि पाँच के मिलने पर कौन-सा काम सिद्ध नहीं हो सकता ॥११॥

इसीलिए मैंने उसे दो अँगुलियाँ दिखाईं कि यदि दो का एकचित हो तो संसार में असाध्य क्या है? ॥१२॥

राजा योगनन्द का अन्तःपुर मरी मछली का हँसना

इस प्रकार गूढ़ विज्ञान बतलाने पर राजा अति प्रसन्न हुआ और सकटाल मेरी बुद्धि को दुर्गम समझकर दुःखी हुआ ॥१३॥

एक बार राजा योगनन्द ने ऊपर मुँह किये हुए एक ब्राह्मण अतिथि को झरोखे से देखती हुई अपनी महारानी को देखा ॥१४॥

राजा ने ब्राह्मण को दुराचारी जानकर उसके वध की आज्ञा दे दी। क्योंकि ईर्ष्या विवेक की विरोधिनी होती है। ॥१५॥

राजाज्ञानुसार जब ब्राह्मण वध्यभूमि में ले जाया जा रहा था तब बाजार में रखा हुआ मृत मत्स्य उसे देखकर हँसने लगा ॥१६॥

जब राजा को यह मालूम हुआ तब उसने ब्राह्मण का वध रोक दिया और मुझसे मछली के हँसने का कारण पूछा ॥१७॥

'सोचकर कहूँगा' ऐसा कहकर मैं राजभवन से चला गया। जब एकान्त में मैंने सरस्वती का ध्यान किया तब सरस्वती ने उपस्थित होकर यह कहा ॥१८॥

इस ताल के पेड़ पर रात को छिपकर बैठो तब वहाँ मछली के हँसने का कारण निश्चय ही सुनोगे ॥१९॥

यह जानकर मैं रात में वहाँ जाकर ताल-वृक्ष पर बैठा और रात को छोटे-छोटे बालकों के साथ आई हुई एक भीषण राक्षसी को देखा ॥२ ॥

बच्चों के भोजन माँगने पर वह राक्षसी बोली कि अभी प्रतीक्षा करो। प्रातःकाल तुम्हें ब्राह्मण का मांस दूँगी। आज वह मारा नहीं गया ॥२१॥

बच्चों ने पूछा कि आज वह क्यों नहीं मारा गया? तब राक्षसी ने कहा कि उसे देख कर मरा हुआ मत्स्य भी हँसने लगा इसलिए नहीं मारा गया ॥२२॥

बालकों के यह पूछने पर कि 'वह मृत मत्स्य क्यों हँसा? राक्षसी बोली कि 'राजा की सभी रानियाँ भ्रष्ट हो गई हैं' ॥२३॥

सर्वत्रान्तःपुरे ह्यत्र स्त्रीरूपाः पुरुषाः स्थिताः।
हन्यतेऽनपराधस्तु विप्र इत्यहसत्तिमिः ॥२४॥
भूतानां पार्थिवामर्त्यनिर्विवेकत्वहासिनाम्।
सर्वान्तश्चारिणां ह्येषा भवत्येव च विक्रिया ॥२५॥
एतत्तस्या वचः श्रुत्वा ततोऽपक्रान्तवानहम्।
प्रातश्च मत्स्यहासस्य हेतुं राज्ञे न्यवेदयम् ॥२६॥
प्राप्य चान्तःपुरेभ्यस्तान्स्त्रीरूपान्पुरुषांस्ततः।
बह्वमन्यत मां राजा वधाद् विप्रं च मुक्तवान् ॥२७॥
इत्यादि चेष्टितं दृष्ट्वा तस्य राज्ञो विशृङ्खलम्।
खिन्ने मयि कदाचिच्च तत्रागाच्चित्रकृन्नवः ॥२८॥
अलिखत्स महादेवीं योगनन्दं च तं पटे।
सजीवमिव तच्चित्रं वाक्चेष्टारहितं त्वभूत् ॥२९॥
तं च चित्रकरं राजा तुष्टो वित्तैरपूरयत्।
तं च वासगृहे चित्रपटं भित्तावकारयत् ॥३०॥
एकदा च प्रविष्टस्य वासके तत्र सा मम।
सम्पूर्णलक्षणा देवी प्रतिभाति स्म चित्रगा ॥३१॥
लक्षणान्तरसम्बन्धादभ्यूह्य प्रतिभावशात्।
अथाकार्षमहं तस्यास्तिलकं मेखलापदे ॥३२॥
सम्पूर्णलक्षणां तेन कृत्वा तां गतवानहम्।
प्रविष्टो योगनन्दोऽथ तिलकं तदलोकयत् ॥३३॥
केनायं रचितोऽत्रेति सोऽपृच्छच्च महत्तरान्।
ते च न्यवेदयंस्तस्मै कर्तारं तिलकस्य माम् ॥३४॥
देव्या गुप्तप्रदेशस्थमिमं नान्यो मया विना।
वेत्ति तज्ज्ञातवानेषमसौ वररुचिः कथम् ॥३५॥
प्रच्छन्नः स्थितोऽमुना नूनं ममान्तःपुरविप्लवः।
दृष्टवानत एवात्र स्त्रीरूपांस्तत्र तान्नरान् ॥३६॥
इति सञ्चिन्तयामास योगनन्दः क्रुधा ज्वलन्।
जायन्ते बत मूढानां संवादा अपि तादृशाः ॥३७॥
ततः स्वैरं समाहूय शकटालं समादिशत्।
त्वया वररुचिर्वध्यो देवीविध्वंसनादिति ॥३८॥

राजा के रनिवास में अनेक पुरुष स्त्रियों के रूप में भरे[1] हैं किन्तु यह बेचारा ब्राह्मण बिना अपराध ही मारा जा रहा है—ऐसा सोचकर मत्स्य हँसा था ॥२४॥

राजा की अत्यन्त निर्विवेकता पर हँसनेवाले मत्स्य के अन्दर से रहनेवाले प्राणियों का ऐसे विचार होते हैं ॥२५॥

राक्षसी की इन बातों को सुनकर मैं वहाँ से भाग आया और प्रातःकाल मैंने राजा से मछली के हँसने का कारण बता दिया ॥२६॥

मेरे कथनानुसार राजा ने खोज करने पर रनिवास में रहनेवाले स्त्रीवेषधारी अनेक पुरुषों को पकड़ा। तब से मुझे अत्यधिक मानने लगा और ब्राह्मण को भी वध से मुक्त कर दिया ॥२७॥

इस प्रकार की राजकीय समस्याओं को हल करके मैं स्थिर हो रहा था कि एक बार राजा के पास एक नया चित्रकार आया ॥२८॥

उसने एक चित्रपट पर महारानी और योगनन्द का चित्र ऐसा सजीव बनाया कि जो केवल बोलने की चेष्टा से ही रहित था ॥२९॥

राजा ने चित्रकार पर प्रसन्न होकर उसे भरपूर धन दिया और चित्र को अपने निजी भवन (कमरे) की दीवार पर लगवा दिया ॥३०॥

एक बार जब मैं राजा के शयन-कक्ष में गया तब उस चित्र में महारानी के सम्पूर्ण लक्षणों को देखा ॥३१॥

अन्यान्य लक्षणों के सम्बन्ध से मैंने अपनी प्रतिभा के बल से यह जान लिया कि इसकी कमर में तिल का चिह्न होना चाहिए। मैंने चिह्न बना दिया और महारानी को सम्पूर्ण लक्षण से युक्त कर दिया ॥३२॥

कुछ समय के अनन्तर राजा जब उस भवन में आया तब उसने मेरे बनाये हुए तिल-चिह्न को देखा ॥३३॥

राजा ने उस तिल को देखते ही अन्तःपुर के रक्षकों से पूछा कि यह चिह्न किसने बनाया? उन्होंने मेरा नाम बता दिया ॥३४॥

'महारानी के गुप्त अंग के इस चिह्न को मेरे बिना दूसरा नहीं जानता। इसे वररुचि ने कैसे जान लिया?' ॥३५॥

अतः वररुचि ने गुप्त रूप से अवश्य ही मेरी महारानी का भोग किया है और इसीलिए इसने रनिवास में स्त्रियों का रूप धारण किए हुए पुरुषों को भी देखा होगा ॥३६॥

ऐसा सोचकर योगनन्द क्रोध से जलने लगा। सच है, मूर्खों की शंका बड़ी प्रबल ही होती है ॥३७॥

तब महाराज ने शकटाल को एकान्त में बुलाकर कहा कि वररुचि ने महारानी का अतिक्रमण किया है। अतः तुम इसे मार डालो ॥३८॥

---

१ अरेबियन नाइट्स में शहरयार के अन्तःपुर में इसी प्रकार स्त्रीवेषधारी पुरुषों के रहने की चर्चा आती है।

२ शेक्सपियर के नाटक 'सिम्बेलाइन' में भी ऐसी घटना का उल्लेख हुआ दीखता है।

यथाज्ञापयसीत्युक्त्वा शकटालोऽगमद् बहिः ।
अचिन्तयच्च शक्तिः स्याद्धन्तुं वररुचिं न मे ॥३९॥
दिव्यबुद्धिप्रभावोऽसावुपकर्ता च ममापदि ।
विप्रश्च तद्वरं गुप्तं सम्प्रति स्वीकरोमि तम् ॥४ ॥
इति निश्चित्य सोऽभ्येत्य राज्ञः कोपमकारणम् ।
वधान्तं कथयित्वा मे शकटालोऽब्रवीत्ततः ॥४१॥
अथ कश्चित्प्रवादाय हन्म्यहं त्वां च मद्गृहे ।
प्रच्छन्नस्तिष्ठ मामस्माद्रक्षितुं कोपनान्नृपात् ॥४२॥
इति तद्वचनाच्छन्नस्तद्गृहेऽवस्थितोऽभवम् ।
स चान्यं हतवान्कञ्चिन्मद्वधाख्यातये निशि ॥४३॥
एवं प्रयुक्तनीतिं तं प्रीत्याप्रोचमहं तदा ।
एको मन्त्री भवान्येन हन्तुं मां न कृता मतिः ॥४४॥
नहि हन्तुमहं शक्यो राक्षसो मित्रमस्ति मे ।
ध्यातमात्रागतो विश्वं ग्रसते स मदिच्छया ॥४५॥
राजा त्विहेन्द्रदत्ताख्य सखा वध्यो न मे द्विज ।
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीन्मन्त्री रक्षो मे दर्श्यतामिति ॥४६॥
ततो ध्यातागतं तस्मै तद्रक्षोऽहमदर्शयम् ।
तद्दर्शनाच्च वित्रस्तो विस्मितश्च बभूव सः ॥४७॥
रक्षस्यन्तर्हिते तस्मिन् शकटालः स मां पुनः ।
कथं ते राक्षसो मित्रं सञ्जात इति पृष्टवान् ॥४८॥
ततोऽहमवदं पूर्वं रक्षार्थं नगरं भ्रमन् ।
रात्रौ रात्रौ क्षयं प्रापदेकैको नगराधिपः ॥४९॥
तच्छ्रुत्वा योगनन्दो मामकरोन्नगराधिपम् ।
भ्रमंश्चापश्यमत्राहं भ्रमन्तं राक्षसं निशि ॥५ ॥
स च मामवदद् ब्रूहि विद्यते नगरेऽत्र का ।
सुरूपा स्त्रीति तच्छ्रुत्वा विहस्याहं तमब्रवम् ॥५१॥
या यस्याभिमता मूर्ख सुरूपा तस्य सा भवेत् ।
तच्छ्रुत्वैव त्वयैकेन जितोऽस्मीत्यवदत्स माम् ॥५२॥
प्रश्नमोक्षाद् वधोत्तीर्णं मां पुनश्चाब्रवीदसौ ।
तुष्टोऽस्मीति सुहृन्मे त्वं सन्निधास्ये च ते स्मृतः ॥५३॥

'जो आज्ञा'—ऐसा कहकर शकटाल अपने घर आकर सोचने लगा कि मुझमें वररुचि को मारने की शक्ति नहीं है ॥३९॥

उसका बुद्धि प्रभाव अलौकिक है। उसने मुझे मृत्यु से बचाया है। फिर वह ब्राह्मण है। अतः इस समय इस गुप्त व्यवहार (वध की आज्ञा) स्वीकार कर लेता हूँ ॥४०॥

ऐसा सोचकर उसने राजा के अकारण कोप और मेरी वधाज्ञा मुझे सुनाकर कहा ॥४१॥

मैं तुम्हें बचाने के लिए किसी और को मारकर तुम्हारे वध की घोषणा कर देता हूँ। तुम मेरे घर में छिपकर रहो और इस पापी राजा से मत डरा करो' ॥४२॥

इस प्रकार शकटाल के कहने पर मैं गुप्त रूप से उसके घर में रहने लगा। उसने मेरा वध प्रचारित करने के लिए रात में किसी अन्य का वध करा दिया ॥४३॥

इस प्रकार, नीति प्रयोग करनेवाले शकटाल से मैंने एक दिन प्रेमपूर्वक कहा कि 'एक मन्त्री तुम हो जिसने मेरे मारने का विचार नहीं किया ॥४४॥

मैं मारा भी नहीं जा सकता, क्योंकि मेरा मित्र राक्षस है, जो स्मरण करते ही उपस्थित होकर क्षण-भर में मेरी इच्छा से सारे विश्व का नाश कर सकता है ॥४५॥

राजा नन्द मेरा इन्द्रदत्त नामक मित्र है और ब्राह्मण है। अतः वह भी मेरे लिए वध्य नहीं है। शकटाल ने कहा कि उस राक्षस को मुझे दिखाओ ॥४६॥

तब स्मरण करते ही आये हुए राक्षस को मैंने उसे दिखा दिया, उसे देखकर शकटाल आश्चर्य-चकित और भयभीत हुआ ॥४७॥

सुन्दर कौन है?

राक्षस के अन्तर्धान होने पर शकटाल ने फिर पूछा कि यह राक्षस तुम्हारा मित्र कैसे हुआ? ॥४८॥

तब मैंने कहा—एक दिन यह देखा गया कि नगर का भ्रमण (गश्त) करते हुए प्रतिदिन एक-एक नगर-रक्षक (नगर कोतवाल) मारा जाता था ॥४९॥

यह सुनकर योगनन्द ने [illegible] नगर-रक्षक (कोतवाल) बना दिया। रात को घूमते हुए (गश्त लगाते हुए) मैंने एक राक्षस को देखा। उसने मुझे देखकर कहा कि बताओ, इस नगर में सबसे सुन्दरी स्त्री कौन है? तब मैंने हँसकर उससे कहा ॥५०॥

जो जिसे अच्छी लगती है, वही उसके लिए सुन्दरी है। इस प्रश्न का उत्तर [illegible] ॥५१-५३॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्यथागतमगामहम् ।
एवमापत्सहायो मे राक्षसो मित्रतां गतः ॥५४॥
इत्युक्तवानहं भूयः शकटालेन याचितः ।
गङ्गामदर्शयं तस्मै मूर्तां ध्यानादुपस्थिताम् ॥५५॥
स्तुतिभिस्तोषिता सा च मया देवी तिरोदधे ।
बभूव शकटालश्च सहायः प्रणतो मयि ॥५६॥
एकदा च स मन्त्री मां गुप्तस्थं खिन्नमब्रवीत् ।
सर्वज्ञेनापि खेदाय किमात्मा दीयते त्वया ॥५७॥
किं न जानासि यद्राज्ञामविचाररता धियः ।
अचिराच्च भवेच्छुद्धिस्तथा चात्र कथां शृणु ॥५८॥
आदित्यवर्मनामात्र बभूव नृपतिः पुरा ।
शिववर्माभिधानोऽस्य मन्त्री चाभून्महामतिः ॥५९॥
राज्ञस्तस्यैकदा चैका राज्ञी गर्भमधारयत् ।
तद्बुद्ध्वा स नृपोऽपृच्छदिदमन्तःपुररक्षिणः ॥६०॥
वर्षद्वयं प्रविष्टस्य वर्ततेऽन्तःपुरेऽत्र मे ।
तदेषा गर्भसम्भूतिः कुतः सम्प्रति कथ्यताम् ॥६१॥
अथोचुस्ते प्रवेशोऽत्र पुंसोऽन्यस्यास्ति न प्रभो !
शिववर्मा तु ते मन्त्री प्रविशत्यनिवारितः ॥६२॥
तच्छ्रुत्वाचिन्तयद्राजा नूनं द्रोही स एव मे ।
प्रकाशं च हते तस्मिन्नपवादो भवेन्मम ॥६३॥
इत्यालोच्य स तं युक्त्या शिववर्माणमीश्वरः ।
सामन्तस्यान्तिकं तस्य प्राहिणोद्भोगवर्मणः ॥६४॥
तद्वधं तस्य लेखेन सन्दिश्य तदनन्तरम् ।
निगूढं स नृपस्तत्र लेखहारं व्यसर्जयत् ॥६५॥
याते मन्त्रिणि सप्ताहे गते भीत्या पलायिता ।
सा राज्ञी रक्षिभिर्लब्धा पुंसा स्त्रीरूपिणा सह ॥६६॥
आदित्यवर्मा तद्बुद्ध्वा सानुतापोऽभवत्ततः ।
किं मया तादृशो मन्त्री घातितोऽकारणादिति ॥६७॥
अत्रान्तरे स च प्राप निकटं भोगवर्मणः ।
शिववर्मा स योगात्म्यगमाराम पूरग ॥६८॥

इस प्रकार कहकर राक्षस के अन्तर्धान हो जाने पर मैं अपने रास्ते से चला गया। इस प्रकार वह राक्षस मेरा मित्र बना ॥५४॥

ऐसा कहकर शकटाल द्वारा पुनः प्रार्थना किये जाने पर मैंने ध्यान से उपस्थित मूर्तिमती गंगा को दिखाया ॥५५॥

मुझसे स्तुति द्वारा सन्तुष्ट की गई गंगा देवी तिरोहित हो गई। यह सब देख-सुनकर शकटाल मुझे प्रणाम करता हुआ मेरा सहायक बन गया ॥५६॥

एक बार मन्त्री शकटाल ने छिपे हुए और खिन्न मुझे देखकर कहा—"तुम अपनी आत्मा में खेद क्यों कर रहे हो। क्या तुम नहीं जानते कि 'राजाओं की बुद्धि अविचार पूर्ण होती है' इसलिए शीघ्र ही तुम्हारी शुद्धि हो जायगी। मैं इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाता हूँ सुनो" ॥५७-५८॥

राजा आदित्यवर्मा और मन्त्री शिववर्मा की कथा

पूर्वकाल में आदित्यवर्मा नामक एक राजा था। शिववर्मा नामक उसका महा बुद्धिमान् मन्त्री था ॥५९॥

इस राजा की एक रानी एक बार गर्भवती हुई, यह सुनकर राजा ने रक्षकों से पूछा 'मुझे रनिवास में गये हुए दो वर्ष हो गए फिर भी रानी का यह गर्भ-धारण कैसे हुआ—यह बताओ' ॥६०-६१॥

रक्षकों ने कहा— महाराज आपके इस अन्तःपुर में किसी पुरुष का प्रवेश असम्भव है किन्तु आपका मन्त्री शिववर्मा बे-रोक टोक अन्दर आता-जाता है' ॥६२॥

यह सुनकर राजा ने सोचा कि अवश्य यह मन्त्री मेरा द्रोही है, किन्तु इसे प्रकट रूप में मार देने पर मेरी निन्दा होगी ॥६३॥

ऐसा सोचकर राजा ने शिववर्मा को अपने मित्र सामन्त राजा भोगवर्मा के पास भेज दिया ॥६४॥

उसके जाने के अनन्तर राजा ने गुप्त रूप से मन्त्री का वध करने के लिए पत्र लिखकर छिपे तौर पर पत्रवाहक को भेजा ॥६५॥

मन्त्री के चले जाने पर एक सप्ताह व्यतीत होने के अनन्तर वह गर्भवती रानी भय से भाग गई और सिपाहियों ने उसे स्त्री-रूप धारण किये हुए पुरुष के साथ पकड़ा ॥६६॥

यह समाचार जानकर आदित्यवर्मा शोक से पश्चात्ताप करने लगा कि मैंने ऐसे अच्छे मन्त्री को बिना कारण ही मार डाला ॥६७॥

इसी बीच शिववर्मा भोगवर्मा के पास पहुँचा किन्तु राजाज्ञा का पत्र लेकर पत्रवाहक भी तत्काल न पहुँचा ॥६८॥

वाचयित्वा च त लखमेकान्ते शिववर्मण।
शशास वधनिर्देश भोगवर्मा विशेषघात् ॥६९॥
शिववर्माऽप्यवोचत्त सामन्त मन्त्रिसत्तम।
रव व्यापाद मां नो चेच्छिद्र म्यारमानमात्मना ॥७ ॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयाविष्टो भोगवर्मा जगाद तम।
किमवद् ब्रूहि म विप्र! शापितोऽसि न वक्षि चत् ॥७१॥
अथ ववित स्म त मन्त्री हृष्यय यत्र भूपते।
तत्र द्वादश वर्षाणि देश दशो न वर्षति ॥७२॥
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिभि साध भोगवर्मा व्यचिन्तयत्।
दुष्ट स राजा देशस्य नाशमस्माकमिच्छति ॥७३॥
कि हि तत्र न सत्त्यव वधका गुप्तगामिन।
तस्मान्मन्त्री म वध्योऽसौ रक्ष्य स्वात्मवधादपि ॥७४॥
इति सम-त्र्य दत्वा च रक्षका भोगवर्मणा।
शिववर्मा ततो देशात्प्रेषितोऽभूत्तत क्षणात् ॥७५॥
एव प्रत्यायय्यौ जावन्स मन्त्री प्रज्ञया स्वया।
शुद्धिस्तस्यान्यतो जाता नहि धर्मोन्यथा भवेत् ॥७६॥
इत्थ तथापि शुद्धि स्यात्तिष्ठ तावद् गृहे मम।
कार्यामन नृपोऽप्यप सानुतापो भविष्यसि ॥७७॥
इत्युक्त शकटालम च्छन्नोऽहं तस्य वेश्मनि।
प्रतीक्षमाणोऽवसर तान्यहान्यत्यवाहयम् ॥७८॥
तस्याथ योगनन्दस्य काणभूते! कथाक्रम ।
पुत्रो हिरण्यगुप्ताख्यो मृगयाय गतोऽभवत् ॥७९॥
अश्ववेगात्प्रयातस्य कथञ्चिद्दूरमन्तरम्।
एकाकिनो वन तस्य वासर पर्यहीयत ॥८ ॥
ततश्च तां निशां नतु वृक्षमारोहति स्म स।
क्षणात्तत्र चारोहदृक्ष सिंहम भीपित ॥८१॥
स दृष्ट्वा राजपुत्र त भीत मानुषभाषया।
मा भैषीर्मम मित्र त्वमित्युक्त्वा निमय व्यधात् ॥८२॥
विसम्भाद्वृक्षवाक्यम राजपुत्रोऽथ सुप्तवान्।
ऋक्षस्तु जाग्रदेवासीदथ सिंहोऽप्य सोऽब्रवीत् ॥८३

ऋक्ष मानुषमेतं मे क्षिप यावद् व्रजाम्यहम् ।
ऋक्षस्ततोऽब्रवीत्पाप । न मित्रं पातयाम्यहम् ॥८४॥
क्रमादृक्षे प्रसुप्ते च राजपुत्रे च जाग्रति ।
पुनः सिंहोऽब्रवीदेतमृक्षं मे क्षिप मानुष! ॥८५॥
तच्छ्रुत्वात्मभयात्तेन सिंहस्याराधनाय सः ।
क्षिप्तोऽपि नापतत्किंचिदृक्षो दैवप्रबोधितः ॥८६॥
मित्रद्रोहिन् भवोन्मत्त इति शापमदाच्च सः ।
तस्य राजसुतस्यैतद् वृत्तान्तावगमावधिम् ॥८७॥
प्राप्यैव स्वगृहं प्रातरुन्मत्तोऽभून्नृपात्मजः ।
योगनन्दश्च तद्दृष्ट्वा विषादं सहसागमत् ॥८८॥
अब्रवीच्च स कालेऽस्मिञ्जीवेद् वररुचिर्यदि ।
एव ज्ञायेत तत्सर्वं धिङ् मे तद्वधपातकम् ॥८९॥
तच्छ्रुत्वा वचनं राज्ञः शकटालो व्यचिन्तयत् ।
हन्त कात्यायनस्यायं सम्यक् कालः प्रकाशने ॥९०॥
न सोऽत्र मानी तिष्ठेच्च राजा मयि च विश्वसेत् ।
इत्यालोच्य स राजानमब्रवीद्याचिताभयः ॥९१॥
राजन्नलं विषादेन जीवन्वररुचिः स्थितः ।
योगनन्दस्ततोऽवादीद्द्रुतमानीयतामिति ॥९२॥
अथाहं शकटालेन योगनन्दान्तिकं हठात् ।
आनीतस्तं तथाभूतं राजपुत्रमलोकयम् ॥९३॥
मित्रद्रोहः कृतोऽनेन देवेत्युक्त्वा तथैव सः ।
सरस्वतीप्रसादेन वृत्तान्तः कथितो मया ॥९४॥
ततस्तच्छापमुक्तेन स्तुतोऽहं राजसूनुना ।
त्वया कथमिदं ज्ञातमित्यपृच्छत्स भूपतिः ॥९५॥
अथाहमवदं राजँल्लक्षणैरनुमानतः ।
प्रतिभातश्च पश्यन्ति सर्वं प्रज्ञावतां धियः ॥९६॥
तथया तिलकं ज्ञातं तथा सर्वमिदं मया ।
इति मद्वचनात्सोऽभूद्राजा लज्जानुतापवान् ॥९७॥
अथानादृतमस्यार्थं परिशुद्धयशा सामवान् ।
स्वगृहं गतवानस्मि शीलं हि विदुषां धनम् ॥९८॥

हे व्याघ्र तुम इस मनुष्य को पेड़ से नीचे फेंक दो। मैं इसे लेकर चला जाऊँ। भालू बोला—'रे पापी! यह मेरा मित्र है। मैं मित्र को मरवाना नहीं चाहता' ॥८४॥

क्रमशः भालू के सोने और राजपुत्र के जागते रहने पर सिंह ने राजपुत्र से कहा—'हे मनुष्य तुम इस भालू को मेरे लिए पेड़ से नीचे फेंक दो' ॥८५॥

यह सुनकर भय के कारण सिंह को प्रसन्न करने के लिए राजपुत्र ने भालू को नीचे फेंकने का यत्न किया। आश्चर्य है कि दैवयोग से तत्काल जागा हुआ भालू उसके यत्न करने पर भी नीचे न गिर सका ॥८६॥

भालू ने राजपुत्र को शाप दिया कि 'हे मित्रद्रोहिन्! जबतक यह वृत्तान्त प्रकट न होगा तबतक तू पागल बना रहेगा' ॥८७॥

प्रातःकाल राजकुमार राजभवन पहुँचते ही पागल हो गया। योगनन्द, उसकी यह दशा देखकर अकस्मात् अत्यन्त दुःखी हुआ ॥८८॥

राजा ने कहा—'यदि इस समय वररुचि जीवित होता तो इस पागलपन का कारण मालूम होता। उसको मारने में जो मैंने चातुर्य किया इसके लिए मुझे धिक्कार है' ॥८९॥

राजा की बातें सुनकर मन्त्री शकटाल ने सोचा कि यह अवसर वररुचि को प्रकट करने का है ॥९०॥

उसने सोचा कि वररुचि मानी है। अब वह यहाँ मन्त्री बनकर न रह सकेगा और मैं ही *एकमात्र सर्वेसर्वा रहूँगा। राजा मुझ पर विश्वास करेगा।* (तब मैं अपना बदला निर्विघ्न होकर ले सकूँगा) ऐसा सोचकर उसने राजा से अभय की प्रार्थना करके बोला ॥९१॥

इसके अनन्तर शकटाल ने आदरपूर्वक मुझे योगनन्द के पास पहुँचाया और मैंने उन्मत्त राजपुत्र को देखा ॥९२॥

उसे देखकर मैंने राजा से कहा—'इसने मित्रद्रोह किया है' और सरस्वती की कृपा से वन की रात का सारा वृत्तान्त कह दिया ॥९३॥

मेरे वृत्तान्त कहने पर राजपुत्र शाप से मुक्त होकर मेरी स्तुति करने लगा और राजा ने पूछा कि तुमने इस वृत्तान्त को कैसे जान लिया? ॥९४-९५॥

तब मैंने कहा—'राजन्! बुद्धिमानों की बुद्धि लक्षणों से, अनुमान से तथा प्रतिभा से सब कुछ जान लेती है। जैसे मैंने रानी की कमर के तिल को जान लिया था।' यह सुनकर राजा पश्चात्ताप करने लगा ॥९६-९७॥

तदनन्तर राजा के द्वारा दिये गये सम्मान, दान आदि की उपेक्षा करके निर्मलता को ही बड़ा लाभ समझकर मैं अपने घर चला गया। कारण यह कि चरित्र की पवित्रता ही सज्जनों का धन है ॥९८॥

प्राप्तस्यैव च तत्रस्थो जनोऽरोदीत्पुरो मम।
अभ्येत्य मां समुद्भ्रान्तमुपवर्षोऽब्रवीत्ततः ॥९९॥
राजा हत निशम्य त्वामुपकोशाग्निसात्तनुम्।
अकरोदथ मातुस्ते शुचा हृदयमस्फुटत् ॥१ ०॥
तच्छ्रुत्वाभिनवोद्भूतशोकवेगविचेतनः।
सद्योऽहमपतं भूमौ वातरुग्ण इव द्रुमः ॥१०१॥
क्षणाच्च गतवानस्मि प्रलापानां रसज्ञताम्।
प्रियबन्धुविनाशोत्थः शोकाग्निः कं न तापयेत् ॥१०२॥
आसंसारं जगत्यस्मिन्नेका नित्या ह्यनित्यता।
तदेतामैश्वरीं मायां किं जानन्नपि मुह्यसि ॥१०३॥
इत्यादिभिरुपागत्य वर्षेण वचनैरहम्।
बोधितोऽस्मि यथातत्त्वं कथञ्चिद्धृतिमाप्तवान् ॥१०४॥
ततो विरक्तहृदयस्त्यक्त्वा सर्वं निबन्धनम्।
प्रशमैकसहायोऽहं तपोवनमशिश्रियम् ॥१ ५॥
दिवसेष्वथ गच्छत्सु तत्तपोवनमेकदा।
अयोध्यात उपागच्छद् विप्र एको मयि स्थिते ॥१ ६॥
स मया योगनन्दस्य राज्यवार्तामपृच्छ्यत।
प्रत्यभिज्ञाय मां सोऽथ सशोकमिदमब्रवीत् ॥१ ७॥
शृणु नन्दस्य यद्वृत्तं त्वत्सकाशाद् गते त्वयि।
लब्धावकाशस्तत्राभूच्छकटालश्चिरेण सः ॥१०८॥
स चिन्तयन्वधोपायं योगनन्दस्य युक्तितः।
क्षितिं खनन्तमद्राक्षीच्चाणक्याख्यं द्विजं पथि ॥१ ९॥
किं भुवं खनसीत्युक्ते तेन विप्रोऽथ सोऽब्रवीत्।
दर्भमुन्मूलयाम्यत्र पादो ह्येतेन मे क्षतः ॥११ ॥
तच्छ्रुत्वा सहसा मन्त्री कोपनं क्रूरनिश्चयम्।
तं विप्रं योगनन्दस्य वधोपायममन्यत ॥१११॥
नाम पृष्ट्वाब्रवीत्तं च हे ब्रह्मन् दापयामि ते।
अहं त्रयोदशीश्राद्धं गृहे नन्दस्य भूपतेः ॥११२॥
दक्षिणात्वे सुवर्णस्य लक्षं तव भविष्यति।
भोक्ष्यसे धुरि चान्येषामेहि तावद् गृहं मम ॥११३॥

मेरे घर पहुँचते ही वहाँ के सभी मनुष्य मेरे सामने आकर रोने लगे। इस प्रकार, व्याकुल मुझे उपवर्ष (श्वसुर) ने कहा—॥९९॥

'राजा के द्वारा तुम्हारे मारे जाने का समाचार सुनकर उपकोशा ने शरीर को अग्नि में दग्ध कर दिया और तुम्हारी माता का हृदय शोक से फट गया'॥१ ॥

यह सुनकर अभिनव शोक के आक्रमण से मूर्च्छित होकर मैं हवा से गिराये हुए वृक्ष के समान भूमि पर गिर पड़ा॥१ १॥

मूर्च्छित होने के अनन्तर ही पागलों की भाँति प्रलाप करने लगा। प्रियतम बन्धु के विनाश से उत्पन्न शोक-अग्नि किसे उत्तप्त नहीं करती॥१ २॥

'इस अनन्त संसार में अस्थिरता ही एकमात्र नित्य वस्तु है, इस बात (ईश्वरी माया) को जानते हुए भी तुम साधारण मनुष्यों के समान क्यों मोहित हो रहे हो?' आचार्य वर्ष ने आकर ऐसे वचनों से मुझे प्रतिबोधित किया तब किसी प्रकार मुझे धैर्य प्राप्त हुआ॥१ ३-१ ४॥

वररुचि का वैराग्य और महाप्रस्थान

तदनन्तर विरक्तहृदय होकर और सांसारिक सभी बन्धनों को छोड़कर मैं शान्तिपूर्वक तपोवन की शरण में गया॥१ ५॥

कुछ दिनों के अनन्तर मेरे तपोवन में रहते ही उसमें एक ब्राह्मण अयोध्या से आया॥१ ६॥

मैंने उस ब्राह्मण से योगनन्द की राज्य-स्थिति के सम्बन्ध में पूछा। उसने मुझे पहचान कर शोक के साथ कहा॥१ ७॥

'सुनो मन्त्रिपद त्यागकर तुम्हारे चले जाने पर धीरे-धीरे शकटाल को चिरकाल के बाद अवसर मिला॥१ ८॥

शकटाल ने युक्ति द्वारा नन्द के वध का उपाय सोचते-सोचते पृथ्वी को खोदते हुए चाणक्य नामक ब्राह्मण को मार्ग में देखा॥१ ९॥

शकटाल के यह पूछने पर कि 'तुम भूमि क्यों खोद रहे हो?' उस ब्राह्मण ने कहा कि 'मैं कुशाओं का उन्मूलन कर रहा हूँ क्योंकि इसने मेरे पैरों में व्रण (घाव) कर दिया'॥११ ॥

चाणक्य की कथा

शकटाल ने उस ब्राह्मण का नाम पूछकर कहा—हे ब्राह्मण मैं तुम्हें राजा नन्द के घर में त्रयोदशी तिथि को श्राद्ध का निमन्त्रण देता हूँ॥१११॥

भोजन की दक्षिणा से तुम्हें एक लाख सोने की मुहरें प्राप्त होंगी एवं और भी ब्राह्मणों से ऊँचे बैठकर भोजन करोगे। आओ मेरे घर पर'॥११२ ११३॥

---

१ विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में इस वार्ता को प्रकारान्तर से लिया गया है, किन्तु मुद्राराक्षस की कथा का आधार यही है। चाणक्य के विषय में विस्तृत और ऐतिहासिक विवेचन परिशिष्ट में देखिए।

इत्युक्त्वा शकटालस्तं चाणक्यमनयद् गृहम्।
श्राद्धाहेऽदर्शयत्तं च राज्ञे स श्रद्धधे च तम्॥११४॥
ततः स गत्वा चाणक्यो धुरि श्राद्ध उपाविशत्।
सुबन्धुनामा विप्रश्च तामैच्छद्धुरमात्मनः॥११५॥
तद्गत्वा शकटालेन विज्ञप्तो नन्दभूपतिः।
अवादीन्नापरो योग्यः सुबन्धुर्धुरि तिष्ठतु॥११६॥
आगत्यतां च राजाज्ञां शकटालो भयानतः।
न मेऽपराध इत्युक्त्वा चाणक्याय न्यवेदयत्॥११७॥
सोऽथ कोपेन चाणक्यो ज्वलन्निव समन्ततः।
निजां मुक्त्वा शिखां तत्र प्रतिज्ञामकरोदिमाम्॥११८॥
अवश्यं हन्त नन्दोऽयं सप्तभिर्दिवसैर्मया।
विनाश्यो बन्धनीयेयं ततो निर्मन्युना शिखा॥११९॥
इत्युक्तवन्ते कुपिते योगनन्दे पलायितम्।
अलक्षितं स्वगेहे तं शकटालो न्यवेशयत्॥१२०॥
तत्रोपकरणे दत्ते गुप्तं तेनैव मन्त्रिणा।
स चाणक्यो द्विजः क्वापि गत्वा कृत्यामसाधयत्॥१२१॥
तद्वशाद्योगनन्दोऽथ दाहज्वरमवाप्य सः।
सप्तमे दिवसे प्राप्ते पञ्चत्वं समुपागमत्॥१२२॥
हत्वा हिरण्यगुप्तं च शकटालेन तत्सुतम्।
पूर्वनन्दसुते लक्ष्मीश्चन्द्रगुप्ते निवेशिता॥१२३॥
मन्त्रित्वे तस्य चाग्र्यत्वे बृहस्पतिसमं धिया।
चाणक्यं स्थापयित्वा तं स मन्त्री कृतकृत्यताम्॥१२४॥
मन्वानो योगनन्दस्य कृतवैरप्रतिक्रियः।
पुत्रशोकेन निर्विण्णः प्रविवेश महद् वनम्॥१२५॥
इति तस्य मुखाच्छ्रुत्वा विप्रस्य सुतरामहम्।
काणभूते! गतः खेदं सर्वमालोक्य चञ्चलम्॥१२६॥
तदाच्चाहमिमां द्रष्टुमागतो विन्ध्यवासिनीम्।
तत्प्रसादेन दृष्ट्वा त्वां स्मृता जातिर्मया मम॥१२७॥
प्राप्तं दिव्यं च विज्ञानं मयोक्ता त महाकथा।
इदानीं क्षीणशापोऽहं यतिष्ये देहमुज्झितुम्॥१२८॥
त्वं च सम्प्रति तिष्ठेह यावदायाति तेऽन्तिकम्।
शिष्ययुक्तो गुणाढ्याख्यस्त्यक्तभाषात्रयो द्विजः॥१२९॥

ऐसा कहकर शकटाल उस चाणक्य ब्राह्मण को अपने घर ले गया। श्राद्ध के दिन उसे राजा के पास ले गया और राजा ने उसे स्वीकार किया ॥११४॥

तदनन्तर श्राद्ध के अवसर पर आकर चाणक्य सबसे ऊपर बैठ गया किन्तु सुबन्धु नामक ब्राह्मण उस स्थान को अपने लिए चाहता था ॥११५॥

शकटाल ने राजा नन्द के पास जाकर ऊपर बैठने का समाचार सुनाया। नन्द ने कहा— सुबन्धु ही सबसे ऊपर बैठेगा। दूसरा योग्य नहीं है। ॥११६॥

भय से नीचे मुँह किये हुए शकटाल ने श्राद्ध-स्थान में आकर, चाणक्य को यह राजाज्ञा सुना दी और कहा कि इसमें मेरा अपराध नहीं है यह राजाज्ञा है ॥११७॥

राजाज्ञा को अपना अपमान समझते हुए क्रोध से जलकर चाणक्य ने अपनी शिखा को खोलकर यह प्रतिज्ञा की ॥११८॥

सात दिनों के भीतर राजा नन्द को अवश्य मार डालूँगा। तभी मैं क्रोध-रहित होकर शिखा को बाँधूँगा ॥११९॥

ऐसा कहते हुए चाणक्य पर योगनन्द के कुपित होने के कारण वह वहाँ से भागा और शकटाल ने गुप्त रूप से उसे अपने घर मे रख लिया ॥१२ ॥

शकटाल मन्त्री के द्वारा सामग्री दिये जाने पर वह ब्राह्मण कहीं एकान्त मे जाकर कृत्या की साधना करने लगा ॥१२१॥

उस कृत्या के प्रभाव से राजा नन्द दाह-ज्वर से सातवें दिन मर गया ॥१२२॥

योगनन्द के मरने पर शकटाल ने उसके पुत्र हिरण्यगुप्त को मारकर (असल) नन्द के पुत्र चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया ॥१२३॥

चन्द्रगुप्त की मन्त्रिता के लिए बृहस्पति के समान बुद्धिवाले चाणक्य को प्रार्थनापूर्वक स्वीकार कराकर शकटाल पुत्रों के शोक से विरक्त होकर जीवन वन में चला गया ॥१२४ १२५॥

हे काणभूत ! उस ब्राह्मण के मुख से नन्द-राज्य की समस्त कथा सुनकर मुझे अत्यन्त खेद हुआ कि यह सारा प्रपञ्च अनित्य है ॥१२६॥

इसी खेद के कारण मैं विन्ध्यवासिनी का दर्शन करने के लिए यहाँ आया। इनकी कृपा से तुम्हें देखकर मुझे अपना पूर्वजन्म का स्मरण हुआ ॥१२७॥

और जाति-स्मरण होने के कारण दिव्य विज्ञान भी प्राप्त हो गया। अब मैं शापमुक्त होकर शरीर छोड़ने का यत्न करूँगा ॥१२८॥

हे काणभूते ! तुम तबतक यहीं रहो, जबतक तीन भाषाओं को छोड़े हुए गुणाढ्य नामक ब्राह्मण शिष्यों के साथ तुम्हारे पास आता है ॥१२ ॥

सोऽपि ह्यहमिव क्रोधाद्ध्या शप्तो गणोत्तम ।
मात्यवान्नाम मत्पक्षपाती मर्त्यत्वमागतः ॥१३०॥
तस्मै मद्वरोक्तपा कथनीया महाकथा ।
ततस्त्वं शापनिर्मुक्तिस्तस्य चापि भविष्यति ॥१३१॥
एव वररुचिस्तत्र काणभूतिनिवध स ।
प्रतस्थ वहमोक्षाय पुण्य वदरिकाश्रमम् ॥१३२॥
गच्छन्नपश्य गङ्गायां सोऽत्र शाकाशिन मुनम् ।
तत्समक्ष च तस्यर्च कुशनामूत्करक्षति ॥१३३॥
ततोऽस्य रुधिर नियतन शाकरसीकृतम् ।
अहङ्कारपरीक्षार्थं कौतुकास्त्वप्रभावतः ॥१३४॥
तद्दृष्ट्वा हन्त सिद्धोऽस्मीत्यगाद्दर्पमसौ मुनि ।
ततो वररुचि किञ्चिद् विहस्यैव जगाद तम् ॥१३५॥
जिज्ञासनाय रक्तं ते मया शाकरसीकृतम् ।
यावन्नाद्याप्यहङ्कार परित्यक्तस्त्वया मुन ॥१३६॥
ज्ञानमार्गे ह्यहङ्कार परिघो दुरतिक्रम ।
ज्ञान विना च नास्त्येव मोक्षो व्रतशतैरपि ॥१३७॥
स्वगस्तु न मुमुक्षूणां क्षयी चित्त विलोभयत् ।
तस्मादहङ्कृतित्यागाज्ज्ञाने यत्न मुने ! कुरु ॥१३८॥
विनीयैव मुनि तन प्रणतन कृतस्तुति ।
तं बदर्याश्रमोद्देश शान्त वररुचिर्ययौ ॥१३९॥
अथ स निबिडभक्त्या तत्र दवीं शरण्यां
शरणमुपगतोऽसौ मर्त्यभाव मुमुक्षु ।
प्रकटितनिजमूर्त्ति सापि तस्मै शशस
स्वयममलसमुत्थां धारणां दहमुक्त्य ॥१४०॥
दग्ध्वा शरीरमथ धारणया तया तद्-
दिव्यां गति वररुचि स निजां प्रपेद ।
विन्ध्याटवीभुवि तत स च काणभूति-
रासीदभीप्सितगुणाढ्यसमागमोत्कः ॥१४१॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके पञ्चमस्तरङ्गः ।

यह गुणाढ्य भी मेरा पक्षपाती शिवजी का माल्यवान् नामक उत्तम गण है। मेरा पक्षपात करने के कारण पार्वती ने उसे क्रोध से शाप दिया, इसीलिए मानव-योनि में उत्पन्न हुआ है॥१३०॥

उस गुणाढ्य को शिवजी के द्वारा कही गई और मुझसे सुनाई गई यह कथा सुनाना। तब तुम्हारी और उसकी शाप-मुक्ति होगी॥१३१॥

इस प्रकार वररुचि काणभूति को कहकर शरीर-त्याग करने के लिए पवित्र बदरिकाश्रम को गया॥१३२॥

शाकाहारी मुनि की कथा

बदरिकाश्रम जाते हुए वररुचि ने गंगातट पर एक शाकाहारी ब्राह्मण को देखा। वररुचि के सामने ही उस ऋषि का हाथ कुश से कट गया॥१३३॥

उस ऋषि के अहंकार की परीक्षा के लिए तथा कौतुक से उस निकलते हुए रक्त को वररुचि ने अपने प्रभाव से शाक का रस बना दिया॥१३४॥

अपने इस प्रभाव को देखकर उस मुनि को घमंड उत्पन्न हुआ, यह देखकर वररुचि ने मुस्कराते हुए कहा॥१३५॥

मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए रक्त को शाक का रस बना दिया। किन्तु मालूम हुआ कि अभी तक तुमने अहंकार का त्याग नहीं है॥१३६॥

अहंकार, ज्ञानमार्ग में कठिनाई से हटनेवाली बाधा है और ज्ञान के बिना सैकड़ों व्रतों से भी मुक्ति नहीं होती॥१३७॥

पुण्यों के क्षीण होने पर नष्ट हो जानेवाला स्वर्ग मुक्ति चाहनेवालों को आकृष्ट नहीं करता। इसलिए अहंकार का त्याग कर मुक्ति के लिए यत्न करो॥१३८॥

इस प्रकार मुनि को शिक्षा देकर और नम्र होने हुए उससे स्तुति किया गया वररुचि प्रशान्त-पावन बदरिकाश्रम के स्थान को गया॥१३९॥

मनुष्य-देह को छोड़ने की इच्छा से वररुचि बदरिकाश्रम में गाढ़ी भक्ति के साथ देवी की शरण में प्राप्त हुआ। देवी ने स्वयं प्रकट होकर, शरीर की मुक्ति के लिए उसे स्वयं योग द्वारा शरीर से निकली हुई अग्नि से देहदाह करने के लिए कहा — अर्थात् अपने शरीर से उत्पन्न योगानल से अपने शरीर की मुक्ति के लिए इसे भस्म करो॥१४०॥

इस प्रकार वररुचि उसी देवी के द्वारा निर्दिष्ट धारणा से योगाग्नि से मानव-शरीर को दग्ध करके अपनी दिव्य-गति को प्राप्त हुआ और इधर काणभूति इच्छित गुणाढ्य के समागम के लिए उत्कण्ठित था॥१४१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का

पंचम तरंग समाप्त

षष्ठस्तरङ्गः

ततः स मर्त्यवपुषा माल्यवान् विचरन् वने ।
नाम्ना गुणाढ्यः सेवित्वा सातवाहनभूपतिम् ॥१॥
संस्कृताद्यास्तदग्रे च भाषास्तिस्रः प्रतिज्ञया ।
त्यक्त्वा खिन्नमना द्रष्टुमाययौ विन्ध्यवासिनीम् ॥२॥
तदादेशेन गत्वा च काणभूतिं ददर्श सः ।
ततो जातिं निजां स्मृत्वा प्रबुद्धः सहसाऽभवत् ॥३॥
आश्रित्य भाषां पैशाचीं भाषात्रयविलक्षणाम् ।
श्रावयित्वा निजं नाम काणभूतिं च सोऽब्रवीत् ॥४॥
पुष्पदन्ताच्छ्रुतां दिव्यां शीघ्रं कथय मे कथाम् ।
येन शापं तरिष्यावस्त्वं चाहं च समं सखे ॥५॥

गुणाढ्यकथा

तच्छ्रुत्वा प्रणतो हृष्टः काणभूतिरुवाच तम् ।
कथयामि कथां किं तु कौतुकं मे महत्प्रभो ॥६॥
आजन्मचरितं तावच्छंस मे कुर्वनुग्रहम् ।
इति तेनार्थितो वक्तुं गुणाढ्योऽथ प्रचक्रमे ॥७॥
प्रतिष्ठानेऽस्ति नगरं सुप्रतिष्ठितसंज्ञकम् ।
तत्राभूत्सोमशर्माख्यः कोऽपि ब्राह्मणसत्तमः ॥८॥
वत्सश्च गुल्मकश्चेति तस्य द्वौ तनयौ सखे ।
जायते स्म तृतीया च श्रुतार्था नाम कन्यका ॥९॥
कालेन ब्राह्मणः सोऽथ सभार्यः पञ्चतां गतः ।
तत्पुत्रौ तौ स्वसारं तां पालयन्तावतिष्ठताम् ॥१०॥
सा चाकस्मात्ससगर्भाभूत्तद्दृष्ट्वा वत्सगुल्मयोः ।
तत्रान्यपुरुषाभावाच्छङ्कान्योन्यमजायत ॥११॥
ततः श्रुतार्था चित्तज्ञा भ्रातरौ तावभाषत ।
पापशङ्का न कर्तव्या शृणुतं कथयामि वाम् ॥१२॥
कुमारः कीर्तिसेनाख्यो नागराजस्य वासुकेः ।
भ्रातुः पुत्रोऽस्ति तेनाहं दृष्टा स्नातुं गता सती ॥१३॥
ततः स मदनाक्रान्तो निवेद्यान्वयनामनी ।
गान्धर्वेण विवाहेन मां भार्यामकरोत्तदा ॥१४॥

षष्ठ तरंग

वररुचि के चले जाने पर उसका मित्र खिन्नहृदय माल्यवान् नामक गण मर्त्यशरीर में गुणाढ्य नाम से विख्यात होकर वन में घूमता हुआ संस्कृत आदि तीन भाषाओं को प्रतिज्ञापूर्वक छोड़कर और सातवाहन राजा की सेवा करके विन्ध्यवासिनी भगवती के दर्शन के लिए आया ॥१ २॥

विन्ध्यवासिनी की आज्ञा से उसने विन्ध्यारण्य में काणभूति को देखा। काणभूति को देखते ही गुणाढ्य को अपनी पूर्व जाति का स्मरण हो गया और वह मानो अकस्मात् जाग उठा ॥३॥

संस्कृत प्राकृत एवं देशीय (अपभ्रंश)—इन तीनों भाषाओं को छोड़कर पैशाची भाषा में अपना नाम सुनाकर वह काणभूति से बोला ॥४॥

मित्र काणभूते पुष्पदन्त से सुनी हुई उस दिव्य कथा को शीघ्र सुनाओ जिसके सुनने पर मैं और तुम दोनों एक साथ ही शाप से मुक्त हो जायेंगे ॥५॥

गुणाढ्य की कथा

यह सुनकर काणभूति ने गुणाढ्य से कहा—हे स्वामिन्! उस दिव्य कथा को तो मैं सुनाता हूँ। किन्तु मुझे एक महान् कौतूहल है ॥६॥

वह यह कि पहले आप अपने जीवन का वृत्तान्त सुनाओ। इस प्रकार काणभूति के प्रार्थना करने पर गुणाढ्य ने अपनी कथा प्रारम्भ की ॥७॥

प्रतिष्ठान-प्रदेश में सुप्रतिष्ठित नामक नगर है। वहाँ पर सोमशर्मा नामक एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था ॥८॥

उस ब्राह्मण के वत्स और गुल्म नामक दो बालक और तीसरी श्रुतार्था नाम की एक कन्या थी ॥९॥

कालक्रम से सोमशर्मा और उसकी भार्या दोनों मर गये। उनके मरने पर वत्स और गुल्म दोनों भाई बहन श्रुतार्था का पालन-पोषण करने लगे ॥१ ॥

उन्होंने किसी समय बहन को गर्भवती देखा। वहाँ अन्य किसी तीसरे पुरुष के अभाव में उन दोनों को परस्पर शंका हुई ॥११॥

भाइयों को शंकित देखकर चित्त की बात को समझनेवाली श्रुतार्था ने भाइयों से कहा—'तुम्हें किसी प्रकार की शंका न करनी चाहिए। मैं सत्य बात तुम्हें बताती हूँ' ॥१२॥

नागराज वासुकि के भाई का पुत्र कुमार कीर्तिसेन है। मुझे स्नान के लिए जाते हुए उसने देखा ॥१३॥

मुझे देखकर काम पीड़ित हुए कीर्तिसेन ने अपना वंश और नाम बताकर गान्धर्वविधि से मुझे अपनी पत्नी बना लिया ॥१४॥

इसलिए मेरा यह गर्भ ब्राह्मण-जाति से है। इस प्रकार बहन की बात सुनकर वत्स और गुल्म बोले कि इसमें क्या प्रमाण है? ॥१५॥

विप्रभ्रातरय तस्मान्मम गर्भ इति स्वसुः ।
श्रुत्वा क प्रत्ययोऽत्रेति वत्सगुल्मावबोधताम् ॥१५॥
ततो रहसि सस्मार सा त नागकुमारकम् ।
स्मृतमात्रागतः सोऽस्य वत्सगुल्मावभाषत ॥१६॥
भार्या कृता ममय शापभ्रष्टा वराप्सरा ।
युष्मत्स्वसा मुवा चैव शापेनैव च्युतौ भुवि ॥१७॥
पुत्रो जनिष्यते चात्र युष्मत्स्वसुरसशयम् ।
ततोऽस्या शापनिर्मुक्तिर्युवयोश्च भविष्यति ॥१८॥
इत्युक्त्वान्तर्हित सोऽभूतत स्तोकैश्च वासरै ।
श्रुतार्थाया सुतो जातस्त हि जानीहि मा सख ! ॥१९॥
गणावतारो जातोऽय गुणाढ्यो नाम ब्राह्मण ।
इति तत्कालमुदभूदन्तरिक्षात्सरस्वती ॥२०॥
क्षीणशापास्ततस्ते च जननी मातुला मम ।
कालेन पञ्चता प्राप्ता गतश्चाहमधीरताम् ॥२१॥
अथ शोक समुत्सृज्य बालोऽपि गतवानहम् ।
स्वावष्टम्भेन विद्याना प्राप्तये दक्षिणापथम् ॥२२॥
कालेन तत्र सम्प्राप्य सर्वा विद्याः प्रसिद्धिमान् ।
स्वदेशमागतोऽभूव दर्शयिष्यन्निजान् गुणान् ॥२३॥
प्रविशश्च चिरात्तत्र नगरे सुप्रतिष्ठिते
अपश्य शिष्यसहित शोभा कामप्यह तदा ॥२४॥
क्वचित्सामानि छन्दोगा गायन्ति च यथाविधि ।
क्वचिद् विवादो विप्राणामभूद् वेदविनिर्णये ॥२५॥
योऽत्र द्यूतकला वेत्ति तस्य हस्तगतो निधिः ।
इत्यादिकतवैर्द्यूतमस्तुवन्कितवा क्वचित् ॥२६॥
अन्यान्य निजवाणिज्यकलाकौशलवादिनाम् ।
क्वचिच्च वणिजा मध्य वणिगकोऽब्रवीदिदम् ॥२७॥

मूषकवणिक् प्राप्तवती वणिज कथा

अर्थं सयमवानर्थाप्नोति बियदद्भुतम् ।
मया पुनर्विनैवार्थं लक्ष्मीरासादिता पुरा ॥२८॥
गर्भस्थस्य च मे पूर्वं पिता पञ्चत्वमागतः ।
मन्मातुश्च तदा पापैर्गोत्रजै सकल हृतम् ॥२९॥

यह सुनकर श्रुतार्था ने एकान्त में उस नागकुमार का स्मरण किया। नागकुमार स्मरण करते ही आया और वत्स एवं गुल्म से बोला ॥१६॥

इस शापभ्रष्टा अप्सरा को मैंने पत्नी बनाया है जो तुम दोनों की बहन है। तुम दोनों भी शाप के कारण पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हो ॥१७॥

तुम्हारी बहन के इस गर्भ से अवश्य पुत्र उत्पन्न होगा। इसके उत्पन्न होने पर इसकी और तुम दोनों की शाप-मुक्ति होगी ॥१८॥

ऐसा कहकर वह नागकुमार अन्तर्धान हो गया और कुछ ही दिनों बाद श्रुतार्था का पुत्र उत्पन्न हुआ। हे सखे वह श्रुतार्था का पुत्र मुझे ही समझो ॥१९॥

मेरे उत्पन्न होते ही आकाशवाणी हुई कि यह गुणाढ्य नामक ब्राह्मण शिवजी के गण का अवतार है ॥२ ॥

मेरे उत्पन्न होने पर वे—मेरी माता और मामा—भी शापहीन होने के कारण मर गये और एकाकी मैं अधीर हो गया ॥२१॥

कुछ दिनों के अनन्तर शोक का परित्याग करके मैं बालक होने पर भी अपने ही सहारे विद्याओं की प्राप्ति के लिए दक्षिणापथ चला गया ॥२२॥

मैं कुछ समय में दक्षिण देश में समस्त विद्याओं को प्राप्त करके प्रसिद्ध विद्वान् हुआ और अपने गुणों को दिखाने की इच्छा से स्वदेश आया ॥२३॥

बहुत दिनों के अनन्तर शिष्यों के साथ उस सुप्रतिष्ठित नगर में प्रवेश करते हुए मैंने नगर की अपूर्व शोभा देखी ॥२४॥

मैंने उस नगर में देखा कि कहीं सामवेदी विद्वान् विधिपूर्वक साम-गान कर रहे हैं और कहीं वेदों के अर्थ-निर्णय पर विद्वानों का शास्त्रार्थ हो रहा है ॥२५॥

कहीं जुआरी अपनी डींग हाँक रहे थे कि जो जुए की कला जानता है उसके हाथ में खजाना है ॥२६॥

अपनी-अपनी व्यापार-कला का चातुर्य बतलाते हुए कुछ बनिया की मंडली में एक बनिया इस प्रकार बोला ॥२७॥

चूहे से धनी बने सेठ की कथा

'पैसों के विषय में संयम रखनेवाला ही पैसा कमाता है' यह कितने आश्चर्य की बात है। मैं जब गर्भ में था तभी मेरे पिता मर गये। मेरी माता के पास जो कुछ भी धन था वह दुष्ट संबंधियों ने उसे फुसलाकर ले लिया ॥२८ २ ॥

ततः सा तद्भयाद् गत्वा रक्षन्ती गर्भमात्मनः ।
तस्थौ कुमारदत्तस्य पितृमित्रस्य वेश्मनि ॥३०॥
तत्र तस्याश्च जातोऽहं साध्व्या वृत्तिनिबन्धनम् ।
ततश्चापालयत्सा मां कृच्छ्रकर्माणि कुर्वती ॥३१॥
उपाध्यायमथाभ्यर्थ्य तयाकिञ्चन्यदीनया ।
क्रमेण शिक्षितश्चाहं लिपिं गणितमेव च ॥३२॥
वणिक्पुत्रोऽसि तत्पुत्र ! वाणिज्यं कुरु साम्प्रतम् ।
विशाखिलाख्यो देशेऽस्मिन् वणिक्चास्ति महाधनः ॥३३॥
दरिद्राणां कुलीनानां भाण्डमूल्यं ददाति सः ।
गच्छ याचस्व तं मूल्यमिति माताब्रवीच्च माम् ॥३४॥
ततोऽहमगमं तस्य सकाशं सोऽपि तत्क्षणम् ।
इत्यवोचत् क्रुधा कञ्चिद् वणिक्पुत्रं विशाखिलः ॥३५॥
मूषको दृश्यते योऽयं गतप्राणोऽत्र भूतले ।
एतेनापि हि पण्येन कुशलो धनमर्जयेत् ॥३६॥
दत्तास्तव पुनः पाप दीनारा बहवो मया ।
दूरे तिष्ठतु तद्वृद्धिस्त्वया तेऽपि न रक्षिताः ॥३७॥
तच्छ्रुत्वा सहसैवाहं तमवोचं विशाखिलम् ।
गृहीतोऽयं मया त्वत्तो भाण्डमूल्याय मूषकः ॥३८॥
इत्युक्त्वा मूषकं हस्ते गृहीत्वा सम्पुटे च तम् ।
लिखित्वास्य गतोऽभूवमहं सोऽप्यहसद् वणिक् ॥३९॥
चणकाञ्जलियुग्मेन मूल्येन स च मूषकः ।
मार्जारस्य कृते दत्तः कस्यचिद् वणिजो मया ॥४०॥
कृत्वा तांश्चणकान्भृष्टान्गृहीत्वा जलकुम्भिकाम् ।
अतिष्ठं चत्वरे गत्वा छायायां नगराद् बहिः ॥४१॥
तत्र श्रान्तागतायाम्भः शीतलं चणकांश्च तान् ।
काष्ठभारिकसङ्घाय सप्रश्रयमदामहम् ॥४२॥
एकैकः काष्ठिकः प्रीत्या काष्ठे द्वे द्वे ददौ मम ।
विक्रीतवानहं तानि नीत्वा काष्ठानि चापणे ॥४३॥
ततः स्तोकेन मूल्येन क्रीत्वा तांश्चणकांस्ततः ।
तथैव काष्ठिकेभ्योऽहमन्येद्युः काष्ठमाहरम् ॥४४॥

तब मेरी माता उन संबंधियों की लूट-खसोट के भय से गर्भ की रक्षा करती हुई अपने पिता के मित्र कुमारदत्त के घर जाकर रहने लगी ॥३०॥

कुमारदत्त के घर में उस पतिव्रता के जीवन का आधार मैं उत्पन्न हुआ। मेरी माता कष्टसाध्य कार्य करती हुई, मुझे खिलाने लगी ॥३१॥

मेरे कुछ बड़े होने पर उस अकिंचन और दीन माता ने गुरु से प्रार्थना करके मुझे अक्षर लिखना और कुछ गणित (हिसाब-किताब) सिखा दिया ॥३२॥

कुछ पढ़ लेने पर माता ने कहा—बेटा! बनिये के बालक हो व्यापार करो। इस नगर में विशाखिल नाम का एक धनी व्यापारी बनिया है। कुलीन घर के दरिद्र लोगों को वह व्यापार का सामान देता है। अतः तुम उसी के पास जाओ और माँगो ॥३३ ३४॥

माता की आज्ञा से मैं उस बनिये के पास गया। उस समय विशाखिल बनिया क्रोध से किसी बनिये के लड़के से कह रहा था कि यहाँ भूमि पर एक मरा हुआ चूहा पड़ा है। यदि चतुर बनिया हो तो इस सौदे से भी धन कमा सकता है ॥३५ ३६॥

हे दुष्ट, मैंने तुझे बहुत-सी स्वर्ण-मुद्राएँ दी उनकी वृद्धि तो दूर रही तूने उनकी रक्षा भी नहीं की ॥३७॥

बनिये की बातें सुनकर मैंने विशाखिल से कहा—मैंने बेचने के सामान में तुमसे इस चूहे को लिया ॥३८॥

ऐसा कहकर मैंने मरे हुए चूहे को हाथ से उठाकर एक डिब्बे में रख लिया और बनिये की बही में लिखकर चला। मेरे इस कार्य पर वह बनिया भी हँसने लगा ॥३९॥

मैंने दो अँजुली चने के बदले उस चूहे को किसी बनिये की बिल्ली को खाने के लिए दे दिया ॥४०॥

उस चने को भाड़ में भुनाकर और एक घड़ा पानी लेकर मैं शहर के बाहर एक चौराहे पर पेड़ की छाया में जा बैठा ॥४१॥

लकड़ी का बोझ लेकर आनेवाले थके मजदूरों को मैं नम्रता के साथ चना खिलाता और ठंडा पानी पिलाने लगा ॥४२॥

प्रत्येक लकड़हारा अपने-अपने बोझ से दो-दो लकड़ियाँ मुझे प्रेमपूर्वक देने लगा। इस प्रकार कुछ समय में मेरे पास लकड़ी का एक भारा एकत्र हो गया और मैंने उस बाजार में जाकर बेच दिया ॥४३॥

लकड़ी बेचकर प्राप्त हुए मूल्य में से कुछ मूल्य से चने खरीदकर मैंने दूसरे दिन फिर उसी प्रकार चौराहे पर पानी पिलाना प्रारम्भ किया। इस प्रकार मेरे पास पर्याप्त मात्रा में लकड़ियाँ इकट्ठी हो गईं ॥४४॥

एवं प्रतिदिनं कृत्वा प्राप्य मूल्यं क्रमान्मया।
काष्ठिकेभ्योऽखिलं दारु क्रीतं तेभ्यो दिनत्रयम् ॥४५॥
अकस्मादथ सञ्जाते काष्ठच्छेदेऽतिवृष्टिभिः।
मया तद्दारु विक्रीतं पणानां बहुभिः शतैः ॥४६॥
तेनैव विपणिं कृत्वा धनेन निजकौशलात्।
कुर्वन्वणिज्यां क्रमशः सम्पन्नोऽस्मि महाधनः ॥४७॥
सौवर्णो मूषकः कृत्वा मया तस्मै समर्पितः।
विशाखिलाय सोऽपि स्वां कन्यां मह्यमदात्ततः ॥४८॥
अतएव च लोकेऽस्मिन् प्रसिद्धो मूषकाख्यया।
एवं लक्ष्मीरियं प्राप्ता निर्धनेन सता मया ॥४९॥
तच्छ्रुत्वा तत्र तेऽभूवन्वणिजोऽन्ये सविस्मयाः।
धीर्नं चित्रीयते कस्मादभित्तौ चित्रकर्मणा ॥५०॥

मूर्खवैदिकब्राह्मणकथा

कश्चित्प्रतिग्रहप्राप्तहेममाषाष्टको द्विजः।
छन्दोगः कश्चिदित्युक्तो विटप्रायेण केनचित् ॥५१॥
ब्राह्मण्याद् भोजनं तावदस्ति ते सत्त्वयामुना।
लोकयात्रा सुवर्णेन वैदग्ध्यायेह शिक्ष्यताम् ॥५२॥
को मां शिक्षयतीत्युक्ते तेन मुग्धेन सोऽब्रवीत्।
येषा चतुरिका नाम वेश्या तस्या गृहं व्रज ॥५३॥
तत्र किं करवाणीति द्विजेनोक्तो विटोऽब्रवीत्।
स्वर्णं दत्त्वा प्रयुञ्जीथाः रञ्जयन्साम किञ्चन ॥५४॥
श्रुत्वेत्ययमगच्छच्छन्दोगो द्रुतं चतुरिकागृहम्।
उपाविशत्प्रविश्यात्र कृतप्रत्युद्गतिस्तया ॥५५॥
मामद्य लोकयात्रां त्वं शिक्षयैतेन साम्प्रतम्।
इति जल्पंश्च तस्यै स स्वर्णमर्पितवान् द्विजः ॥५६॥
प्रहसत्स्वथ तत्रस्थे जने किञ्चिद् विचिन्त्य सः।
गोकर्णसदृशौ कृत्वा करावाबद्धसारणौ ॥५७॥
तारस्वरं तथा साम गायति स्म जडाशयः।
यथा तत्र मिलन्ति स्म विटा हास्यदिदृक्षवः ॥५८॥
ते चावोचन्शृगालोऽयं प्रविष्टोऽत्र कुतोऽन्यथा।
तच्छीघ्रमर्धचन्द्रोऽस्य गलेऽस्मिन्दीयतामिति ॥५९॥

अथचन्द्र धरं मत्वा शिरश्छेदभयाद्द्रुतम्।
शिक्षिता लोकयात्रेति गर्जन्स निरगात्ततः ॥६०॥
ततस्तस्य ततोऽगच्छद्वनासो प्रपितोऽभवद्।
वृत्तान्तं यावदस्तस्य सोऽपि वनममापत ॥६१॥
साम सान्त्व मयोक्त त वेदस्यावसरोऽत्र क।
किं वा धारायिस्व हि जाड्य वदस्व जने ॥६२॥
एव विहस्य गत्वा च ततोऽस्ता सा विलासिनी।
द्विपदस्य पक्षोरस्य तत्सुवर्णवृष त्यज ॥ ६३ ॥
हसन्त्या च तया त्यक्त सुवर्ण प्राप्य स द्विज।
पुनर्जातमिवात्मान मन्वानो गृहमागत ॥६४॥
एकप्रामाण्यह पश्यन् कौतुकानि पदे पदे।
प्राप्तवान् राजभवन महेन्द्रसदनोपमम् ॥६५॥
ततश्चान्त प्रविष्टोऽह शिष्यैस्त्र निवेदित।
आस्थानस्थितमद्राक्ष राजान सातवाहनम् ॥६६॥
शर्ववर्मप्रमृतिभिर्मन्त्रिभि परिवारितम्।
रत्नसिंहासनासीनममरैरिव वासवम् ॥६७॥
विहितस्वस्तिकार मामुपविष्टमथासने।
राजा कृतादर चैव शर्ववर्मादयोऽस्तुवन् ॥६८॥
अय देव भुवि ख्यात सर्वविद्याविशारद।
गुणाढ्य इति नामास्य यथार्थमतएव हि ॥६९॥
इत्यादि तत्स्तुति श्रुत्वा मन्त्रिभि सातवाहन।
प्रीत सपदि सत्कृत्य मन्त्रित्वे मां न्ययोजयत् ॥७ ॥
अथाह राजकार्याणि चिन्तयन्नवस सुखम्।
शिष्यानध्यापयस्तत्र कृतदारपरिग्रह ॥७१॥
कदाचित्कौतुकाद् भ्राम्यन्स्वैरं गोदावरीतटे।
देवीकृतिरितिख्यातमुद्यानं दृष्टवानहम् ॥७२॥
तच्चातिरम्यमालोक्य क्षितिस्थमिव नन्दनम्।
उद्यानपाल पृष्टोऽभू मया तत्र तदागमम् ॥७३॥

---

१ पृष्टः आहूतः—सम्प्राप्तः समृद्ध इत्यर्थः।

ब्राह्मण सर्पचक्र को साम समझकर सिर कटने के भय से 'मैंने लोकयात्रा (चतुराई) खूब सीख ली'—ऐसा कहता हुआ भय से शीघ्र बाहर भाग गया ॥१० ॥

वैदिक ब्राह्मण वेश्या के घर से भागकर फिर उसी के पास गया जिसने उसे भेजा था और उससे सारा वृत्तान्त भी बताया। उसने कहा कि मैंने तुमसे कहा था कि वहाँ साम (शान्ति) का प्रयोग करना। सामवेद पढ़ने की कौन-सी तुक थी। सचमुच वेदपाठी मूर्ख ब्राह्मणों में मूर्खता कूट-कूट कर भरी गई है॥११ १२॥

इस प्रकार हँसकर और उस वेश्या के पास जाकर उस [illegible] ने कहा कि 'इस दो पैर के पशु को यह सुवर्ण-रूपी घास दे दो अर्थात् इसका सोना लौटा दो' ॥१३॥

वेश्या ने हँसते हुए उस ब्राह्मण का आठ मासा सोना लौटा दिया और वह भी मानो अपना पुनर्जन्म समझता हुआ घर वापस आया ॥१४॥

गुणाढ्य ने काणभूति से कहा कि मैं उस सुप्रतिष्ठित नगर में पग-पग पर इस प्रकार के तमाशे देखता हुआ महेन्द्र भवन के समान राजभवन में पहुँचा ॥१५॥

वहाँ पर मैंने शर्ववर्मा आदि मन्त्रियों से घिरे हुए तथा दरबार में बैठे हुए राजा सातवाहन को देवताओं से घिरे हुए इन्द्र के समान देखा ॥१६॥

आशीर्वाद देकर आसन पर बैठे हुए और राजा के द्वारा सत्कार किये गये शर्ववर्मा आदि मन्त्री मेरी प्रशंसा करने लगे ॥१७॥

हे महाराज, यह सारे भुवन में विख्यात और सभी विद्याओं में पारंगत गुणाढ्य नाम का विद्वान् है। सभी गुणों से पूर्ण होने के कारण गुण-आढ्य इसका नाम यथार्थ है॥१९॥

मन्त्रियों द्वारा मेरी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न राजा सातवाहन ने मुझे भी एक मन्त्री का पद प्रदान किया ॥२०॥

मन्त्री नियुक्त होने पर वहाँ [illegible] और [illegible] हुआ आनन्द के साथ रहने लगा ॥२१॥

देवी उद्यान की कथा

किसी समय [illegible] भ्रमण करता हुआ मैंने [illegible] पर देवी के बनाये हुए उद्यान को देखा ॥२२॥

पृथ्वी पर बने हुए नन्दन वन के समान उस [illegible] रमणीय उद्यान को देखकर मैंने [illegible] (माली) से उसकी उत्पत्ति का कारण पूछा ॥२३॥

स च मामब्रवीत् स्वामिन्वृद्धेभ्यः श्रूयते मया।
पूर्वं मौनी निराहारो द्विजः कश्चित्समाययौ॥७४॥
स दिव्यमिदमुद्यानं सदेवभवनं व्यधात्।
ततोऽत्र ब्राह्मणाः सर्वे मिलन्ति स्म सकौतुकाः॥७५॥
निर्बन्धात स पृष्टः स्व वृत्तान्तमवदद्द्विजः।
अस्तीह भरुकच्छाख्यो[1] विषयो नर्मदातटे॥७६॥
तस्मिन्नहं समुत्पन्नो विप्रस्तस्य च मे पुरा।
न भिक्षामप्यदात् कश्चिद्दरिद्रस्यालसस्य च॥७७॥
अथ खेदाद् गृहं त्यक्त्वा विरक्तो जीवितं प्रति।
भ्रान्त्वा तीर्थान्यहं द्रष्टुमगच्छं विन्ध्यवासिनीम्॥७८॥
दृष्ट्वा ततश्च तां देवीमिति सञ्चिन्तितं मया।
लोकः पशूपहारेण प्रीणाति वरदामिमाम्॥७९॥
अहं त्वात्मानमेवेह हन्मि मूर्खमिमं पशुम्।
निश्चित्येति शिरश्छेत्तुं मया शस्त्रमगृह्यत॥८०॥
तत्क्षणं सा प्रसन्ना मां देवी स्वयमभाषत।
पुत्र सिद्धोऽसि मात्मानं वधीस्तिष्ठ ममान्तिके॥८१॥
इति देवीवरं लब्ध्वा सम्प्राप्ता दिव्यता मया।
ततः प्रभृति नष्टा मे बुभुक्षा च तृषा सह॥८२॥
कदाचिदथ देवी मां तत्रस्थं स्वयमादिशत्।
गत्वा पुत्र प्रतिष्ठाने रचयोद्यानमुत्तमम्॥८३॥
इत्युक्त्वा सैव मे बीजं दिव्यं प्रादात्ततो मया।
इहागत्य कृतं कान्तमुद्यानं तत्प्रभावतः॥८४॥
पाल्यमेतच्च युष्माकमित्युक्त्वा स तिरोदधे।
इति निर्मितमुद्यानमिदं देव्या पुरा प्रभो॥८५॥
उपाध्यायादित्येव तदेतद्देव्यनुग्रहम्।
आकर्ण्य विस्मयाविष्टो गृहाय गतवानहम्॥८६॥
एवमुक्ते गुणाढ्येन काणभूतिरभाषत।
सातवाहन इत्यस्य कस्मान्नामाभवत् प्रभो॥८७॥

---

१ भरुकच्छ—साम्प्रतं गुर्जरदेशे 'भरौंच' इति प्रसिद्धः।

माली ने मुझसे कहा—मालिक ! बूढ़ों से ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन समय में मौनी और निराहारी एक ब्राह्मण यहाँ आया और उसने देव-मन्दिर के साथ इस बाग को बनाया। इसलिए इसमें ब्राह्मणगण बड़े उत्साह के साथ यहाँ एकत्र होते हैं परस्पर मिलते हैं ॥७५॥

अति आग्रह के साथ उनसे पूछे जाने पर उस ब्राह्मण ने कहा कि इस भारतभूमि में नर्मदा के तट पर भरुकच्छ नाम का प्रसिद्ध देश है ॥७६॥

मैं उसी भरुकच्छ देश में उत्पन्न एक ब्राह्मण हूँ। मुझ आलसी और दरिद्र को कोई भिक्षा भी नहीं देता था ॥७७॥

इस कारण अत्यन्त दुःख से मैं जीवन से अति विरक्त होकर क्रमशः तीर्थों का भ्रमण करता हुआ विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए गया ॥७८॥

देवी का दर्शन करके मैंने सोचा कि यहाँ लोग वरदायी देवी को पशुबलि देकर प्रसन्न करते हैं तो मैं मूर्ख और पशु-स्वरूप अपने को ही मारकर बलि क्यों न दे दूँ—ऐसा सोचकर मैंने अपना शिर काटने के लिए शस्त्र उठाया ॥७९-८०॥

उसी क्षण प्रसन्न होकर देवी ने मुझसे स्वयं कहा—पुत्र ! तू सिद्ध हो गया है। अपने को मत मार ! मेरे पास रह ॥८१॥

इस प्रकार देवी का वर प्राप्त करके मैंने विद्वत्ता प्राप्त की। उसी के प्रसाद के साथ मेरी भूख भी नष्ट हो गई ॥८२॥

किसी समय वहीं निवास करती हुई देवी ने मुझसे स्वयं कहा—हे पुत्र ! तुम प्रतिष्ठान नगर में जाकर एक अच्छा उद्यान बनाओ ॥८३॥

ऐसा कहकर देवी ने मुझे [illegible] बीज दिया और उसी के प्रभाव से मैंने यह रमणीय उद्यान बनाया ॥८४॥

[illegible] इस उद्यान की रक्षा करें। ऐसा कहकर वह अन्तर्धान हो गया। हे नरसिंह ! इस प्रकार प्राचीन समय में देवी ने इस उद्यान को बनाया ॥८५॥

उद्यानपाल (माली) से इस प्रकार उस देश में देवी की कृपा का समाचार सुनकर मैं आश्चर्यचकित होकर घर के लिए लौटा ॥८६॥

गुणाढ्य के द्वारा ऐसा कहने पर काणभूति ने कहा कि राजा सातवाहन का नाम क्यों हुआ ? ॥[illegible]॥

सातवाहनकथा

ततोऽब्रवीद्गुणाढ्योऽपि शृणु तत्कथयामि ते ।
दीपकर्णिरिति ख्यातो राजाभूत्प्राज्यविक्रमः ॥८८॥
तस्य शक्तिमती नाम भार्या प्राणाधिकाऽभवत् ।
रतान्तसुप्तामुद्याने सर्पस्तां जातु दष्टवान् ॥८९॥
गतामामथ पञ्चत्वं तस्यां तद्गतमानसः ।
अपुत्रोऽपि स जग्राह ब्रह्मचर्यव्रतं नृपः ॥९०॥
ततः कदाचिद्राज्यार्हपुत्राऽसद्भावदुःखितम् ।
इत्यादिदेश तं स्वप्ने भगवानिन्दुशेखरः ॥९१॥
अटव्यां द्रक्ष्यसि भ्राम्यन्सिंहारूढं कुमारकम् ।
तं गृहीत्वा गृहं गच्छेः स ते पुत्रो भविष्यति ॥९२॥
अथ प्रबुद्धस्तं स्वप्नं स्मरन्राजा जहर्ष सः ।
कदाचिच्च ययौ दूरामटवीं मृगयारसात् ॥९३॥
ददर्श तत्र मध्याह्ने सिंहारूढं स भूपतिः ।
बालकं पद्मसरसस्तीरे तपनतेजसम् ॥९४॥
अथ राजा स्मरन्स्वप्नमवतारितबालकम् ।
जलाभिलाषिणं सिंहं जघानैकशरेण तम् ॥९५॥
स सिंहस्तद्वपुस्त्यक्त्वा सद्योऽभूत्पुरुषाकृतिः ।
कष्टं किमेतद् ब्रूहीति राज्ञा पृष्टो जगाद च ॥९६॥
धनदस्य सखा यक्षः सातो नामास्मि भूपते !
सोऽहं स्नान्तीमपश्यं प्राग्गङ्गायामृषिकन्यकाम् ॥९७॥
सापि मां वीक्ष्य सञ्जातमन्मथाभूदहं तथा ।
गान्धर्वेण विवाहेन ततो भार्या कृता मया ॥९८॥
तच्च तद्बान्धवा बुद्ध्वा तां च मां चाशपन् क्रुधा ।
सिंहौ भविष्यतः पापौ स्वच्छाचारौ युवामिति ॥९९॥
पुत्रजन्मावधि तस्याः शापान्तं मुनयो व्यधुः ।
मम तु त्वच्छराघातपर्यन्तं तदनन्तरम् ॥१००॥
अथावां सिंहमिथुनं सञ्जातौ सापि कालतः ।
गर्भिण्यभवत्ततो जाते सुतेऽस्मिन्व्यपद्यत ॥१०१॥

राजा सातवाहन की कथा

तब सुपार्श्व ने कहा कि यह भी सुनो। प्राचीन समय में दीपकर्णि नामक प्रसिद्ध पराक्रमी राजा हुआ ॥८८॥

उसकी प्राणों से भी प्यारी शक्तिमती नाम की रानी थी। किसी समय रतिकाल के अन्त में उद्यान में सोई हुई रानी को साँप ने काट लिया ॥८९॥

उससे अत्यधिक प्यार करनेवाले राजा ने उसके मर जाने पर, सन्तान-रहित होने पर भी ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने का निश्चय किया ॥९०॥

किसी समय राज्य के योग्य पुत्र के न होने से अत्यन्त दुःखी राजा को भगवान् चन्द्रशेखर ने स्वप्न में आदेश दिया— ॥९१॥

'किसी समय जंगल में घूमते हुए सिंह पर चढ़े हुए बालक को तुम देखोगे उसे लाकर घर लाना वह तुम्हारा पुत्र होगा' ॥९२॥

जागकर उठे हुए राजा ने स्वप्न का स्मरण करते हुए प्रसन्नता प्रकट की। किसी दिन राजा शिकार के सिलसिले में जंगल में दूर तक निकल गया ॥९३॥

जंगल में भ्रमण करते हुए राजा ने मध्याह्न के समय एक पद्म-सरोवर के किनारे सिंह पर चढ़े हुए सूर्य के समान तेजस्वी एक बालक को देखा ॥९४॥

इसके अनन्तर राजा ने स्वप्न का स्मरण करते हुए बालक को उतारकर पानी पीते हुए सिंह को एक बाण मारा ॥९५॥

बाण लगते ही सिंह अपना शरीर छोड़कर तुरन्त पुरुष बन गया। उसे देखकर राजा ने पूछा कि 'तुम्हें यह कष्ट कैसे हुआ' ॥९६॥

सिंह बोला—"मैं कुबेर का मित्र सात नामक यक्ष हूँ। मैंने एक बार स्नान करती हुई एक ऋषि-कन्या को देखा। देखते ही वह और मैं दोनों परस्पर आसक्त हो गये। उसे गान्धर्व विवाह द्वारा मैंने पत्नी बना लिया ॥९७॥

ऋषिकन्या के बन्धुओं ने यह जानकर उसे और मुझे दोनों को शाप दिया कि तुम दोनों पापी स्वेच्छाचारी सिंह बनोगे ॥९८॥

ऋषियों ने उस कन्या को पुत्र उत्पन्न होने तक शाप की अवधि दी और मुझे तुम्हारे बाण का आघात लगने तक की ॥१००॥

तदनन्तर हम दोनों सिंह की जोड़ी बन गये। कुछ समय बाद वह (सिंहनी) गर्भवती हुई और इस बालक के उत्पन्न होने पर मर गई। मैंने इस बालक को अन्यान्य सिंहनियों के दूध से पाला है। आज तुम्हारे बाण के आघात से मैं भी शाप से छूट गया हूँ ॥१०१॥

अयं च वर्धितोऽन्यासां सिंहीनां पयसा मया।
अद्य चाहं विमुक्तोऽस्मि शापाद् बाणाहतस्त्वया ॥१०२॥
तद् गृहाण महासत्त्व मया दत्तममुं सुतम्।
अर्थ ह्यर्थे समादिष्टस्तैरेव मुनिभिः पुरा ॥१०३॥
इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्सातनामनि गुह्यके।
स राजा तं समादाय बालं प्रत्याययौ गृहम् ॥१०४॥
सातेन यस्मादूढोऽभूत्तस्मात्तं सातवाहनम्।
नाम्ना चकार कालेन राज्ये चैनं न्यवेशयत् ॥१०५॥
ततस्तस्मिन्गतेऽरण्यं दीपकर्णौ क्षितीश्वरे।
सवृत्तः सार्वभौमोऽसौ भूपतिः सातवाहनः ॥१०६॥
एवमुक्त्वा कथां मध्ये काणभूत्यनुयोगतः।
गुणाढ्यः प्रकृतं धीमाननुस्मृत्याब्रवीत्पुनः ॥१०७॥
ततः कदाचिदभ्यास्ते वसन्तसमयोत्सवे।
दर्शीकृतं तदुद्यानं स राजा सातवाहनः ॥१०८॥
विहरन् सुचिरं तत्र महेन्द्र इव नन्दने।
वापीजलेऽवतीर्णोऽभूत्क्रीडितुं कामिनीसखः ॥१०९॥
असिञ्चत्तत्र दयिताः सहेलं करवारिभिः।
असिच्यत स ताभिश्च वशाभिरिव वारणः ॥११०॥
मुखश्री तान्यनालान्यनेकजलप्लुतौ।
अङ्गसक्तान्यम्बरभ्यक्तविभागैश्च तमङ्गना ॥१११॥
विदलत्पत्रतिलका स चक्र वनमध्यगा।
च्युताभरणपुष्पास्ता लता वायुरिव प्रिया ॥११२॥
अथैका तस्य महिषी राज्ञः स्तनभरालसा।
शिरीषसुकुमाराङ्गी क्रीडन्ती क्लममभ्ययात् ॥११३॥
सा जलैरभिषिञ्चन्तं राजानमसहा सती।
अब्रवी मोदकैर्देव परिताडय मामिति ॥११४॥
तच्छ्रुत्वा मोदकान् राजा द्रुतमानाययद् बहून्।
ततो विहस्य सा राज्ञी पुनरेवमभाषत ॥११५॥
राजन्नवसरः कोऽत्र मोदकानां जलान्तरे।
उदकैः सिञ्च मा त्वं मामित्युक्तं हि मया तव ॥११६॥

इसलिए तुम इस महाबलवान् बालक को लो। यह बात पहले के ही शाप देनेवाले मुनियों ने कही थी" ॥१ २-१ ३॥

ऐसा कहकर उस सात नामक यक्ष के अन्तर्धान हो जाने पर वह राजा उस बालक को लेकर लौट आया ॥१ ४॥

सात नामक यक्ष ने उसे उठा रखा था। अतः उस बालक का नाम सातवाहन रखा और समय आने पर उसे राज्य-सिंहासन पर बैठा दिया ॥१ ५॥

कुछ समय के बाद राजा दीपकर्णि के वन में चले जाने पर वह सातवाहन राजा सार्वभौम बन गया ॥१ ६॥

इस प्रकार कथा कहकर काणभूति के अनुरोध से बुद्धिमान् गुणाढ्य ने प्रसन्न हो पुनः स्मरण करके कहा ॥१ ७॥

कुछ समय के अनन्तर, वसन्तोत्सव के समय राजा सातवाहन उस देवी के बनाये हुए उद्यान में गया ॥१ ८॥

नन्दन-वन में महेन्द्र के समान बहुत काल तक उस उद्यान म अपनी रानियों के साथ विहार करता हुआ राजा सातवाहन बावली के जल में रानियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए उतरा ॥१ ९॥

जल में वह रानियों को हाथ से फेंके हुए छींटों से सींचने लगा और रानियाँ भी उसे इस प्रकार सींचने लगीं जैसे हथिनियाँ हाथी को सींचती हैं ॥११ ॥

काजल के धुल जाने पर लाल नेत्रों से और पानी से वस्त्रों के अंगों में चिपक जाने के कारण स्पष्ट दीखते हुए शरीर-भिन्न अवयवों से वे राजा का मन-हरण करने लगीं ॥१११॥

वायु के समान राजा ने उन प्रियतमाओं को वन में लताओं के समान कर दिया। वन में वायु, लताओं के पत्र-रूपी तिलक को छुटा देता है और पुष्परूपी आभरणों से रहित कर देता है। उसी प्रकार राजा ने रानियों के पत्रावली-रूपी तिलक को पानी के छींटों की बौछार से धो डाला और पुष्पों के समान शोभित उनके आभरणों को उतरवा डाला ॥११३॥

जलक्रीड़ा करते-करते उस राजा की शिरीष पुष्प के समान एक सुकुमार रानी स्तन-भार से थककर लेस्ती-बेस्ती बन गयी ॥११४॥

वह रानी पानी के छींटों की बौछार करती हुई राजा से बोली— स्वामिन्! मुझे पानी से मत मारो।' (मोदकैः—मा—मत उदकैः—पानी से) ॥११५॥

यह सुनकर राजा ने जल्द ही बहुत-से लड्डू मँगवाये। तब रानी ने हँसकर फिर कहा— राजन्, पानी के अन्दर लड्डुओं की कौन तुक है? मैंने तो तुमसे कहा कि जल से मुझे मत सींचो ॥११६॥

सन्धिमात्रं न जानासि माशब्दोदकशब्दयोः ।
न च प्रकरणं वेत्सि मूर्खस्त्वं कथमीदृशः ॥११७॥
इत्युक्तः स तया राज्ञा शब्दशास्त्रविदा नृपः ।
परिवारे हसत्यन्तर्लज्जाक्रान्तो झगित्यभूत् ॥११८॥
परित्यक्तजलक्रीडो वीतदर्पश्च तत्क्षणम् ।
जातावमानो निर्लक्षः प्राविशन्निजमन्दिरम् ॥११९॥
ततश्चिन्तापरो मुह्यन्नाहारादिपराङ्मुखः ।
चित्रस्थ इव पृष्टोऽपि नैव किञ्चिदभाषत ॥१२०॥
पाण्डित्यं शरणं वा मे मृत्युर्वेति विचिन्तयन् ।
शयनीयपरित्यक्तगात्रः सन्तापवानभूत् ॥१२१॥
अकस्मादथ राज्ञस्तां दृष्ट्वावस्थां तथाविधाम् ।
किमेतदिति सम्भ्रान्तः सर्वः परिजनोऽभवत् ॥१२२॥
ततोऽहं शर्ववर्मा च ज्ञातवन्तौ क्रमेण ताम् ।
अत्रान्तरे स च प्रायः पर्यहीयत वासरः ॥१२३॥
अस्मिन्काले न च स्वस्थो राजेत्यालोच्य तत्क्षणम् ।
आवाभ्यां राजहंसाख्य आहूतो राजचेटकः ॥१२४॥
शरीरवार्तां भूपस्य स च पृष्टोऽब्रवीदिदम् ।
नेदृशो दुर्मना पूर्वं दृष्टो देवः कदाचन ॥१२५॥
विष्णुशक्तिदुहित्रा च मिथ्यापण्डितया तया ।
विलक्षीकृत इत्याहुर्देव्योऽन्याः कोपमिमरम् ॥१२६॥
एतत्तस्य मुखाच्छ्रुत्वा राजचेटस्य दुर्मनाः ।
शर्ववर्मद्वितीयोऽहं सघायादित्यचिन्तयम् ॥१२७॥
व्याधिर्यदि भवेद्राज्ञः प्रविशेयुश्चिकित्सकाः ।
आधिर्वा[1] यदि तत्रास्य कारणं नोपलभ्यते ॥१२८॥
नास्त्येव हि विपक्षोऽस्य राज्ये निहतकण्टके ।
अनुरक्ताः प्रजाश्चैता न हानिः परिदृश्यते ॥१२९॥
तत्कस्मादेव सं स्यादीदृश सहसा प्रभो ।
एवं विचिन्तिते धीमाञ्छर्ववर्मेदमब्रवीत् ॥१३ ॥
अहं जानामि राज्ञोऽस्य मन्युर्मौर्ख्यानुतापतः ।
मूर्खोऽहमिति पाण्डित्यं सदैवायं हि वाञ्छति ॥१३१॥

---

१ आधिः—मानसी रोग ।

तुम इतने मूर्ख हो कि 'मा' शब्द और उदक' शब्द की सन्धि भी नहीं जानते और न बातों का प्रसंग ही समझते हो। तुम कैसे मूर्ख हो?" ॥११७॥

शब्दशास्त्र को जाननेवाली रानी से इस प्रकार फटकारा गया राजा अन्यान्य रानियों के मन-ही-मन हँसने पर लज्जा से चुप हो गया ॥११८॥

ऐसी स्थिति में राजा हतप्रभ होकर जलक्रीड़ा को छोड़कर अपमानित और मलिन-मुख होकर अपने भवन में चला गया ॥११९॥

तब चिन्ताओं से चूर, भोजन आदि को छोड़कर राजा चित्र में लिखा-सा पड़ गया। कुछ भी बोलता नहीं था ॥१२०॥

पाण्डित्य की शरण में जाऊँ या मृत्यु की? ऐसा सोचता हुआ शय्या पर पड़ा हुआ राजा अत्यन्त सन्तप्त होने लगा ॥१२१॥

राजा की अकस्मात् ऐसी अवस्था देखकर यह क्या हुआ? —ऐसा सोचते हुए सभी सेवक-जन व्याकुल हो गये ॥१२२॥

तब मैंने तथा सर्ववर्मा ने क्रमशः परिस्थिति को जाना। इतने में ही दिन समाप्त हो गया ॥१२३॥

'अब रात के समय अस्वस्थ राजा के पास जाना उचित नहीं'—ऐसा विचारकर हम लोगों ने राजहंस नामक राजा के निजी सेवक को बुलवाया ॥१२४॥

उससे राजा की शारीरिक अवस्था पूछने पर उसने कहा कि 'महाराज को इतना अस्वस्थ कभी नहीं देखा। अन्यान्य रानियों ने कहा कि 'झूठी पंडिता बनी हुई विष्णुशक्ति राजा की पुत्री ने महाराज को इतना अस्वस्थ कर दिया है' ॥१२५ १२६॥

राजा के निजी सेवक से यह सुनकर सर्ववर्मा के साथ मैंने यह सोचा ॥१२७॥

यदि शारीरिक व्याधि होती तो वैद्यों का प्रवेश होता। यदि मानसिक व्याधि है, तो उसका कोई कारण मालूम नहीं होता ॥१२८॥

कण्टकों (विद्रोहियों) के चूर कर देने के कारण इस राजा का शत्रु कोई नहीं है और प्रजा भी राजा के प्रति प्रेम रखती है। अतः राजा को कौन-सी मानसिक चिन्ता हो गई ॥१२९॥

अतः 'अकस्मात् स्वामी को कौन-सा खेद उत्पन्न हुआ'—ऐसा सोचने पर बुद्धिमान् सर्ववर्मा बोला ॥१३० ॥

'मैं जानता हूँ। इस राजा को मूर्खता के कारण पश्चात्ताप हुआ है, उसी के शोक से पीड़ित हैं। मैंने उसके इस आशय को पहले ही जान लिया है। 'मैं मूर्ख हूँ' यह समझकर राजा सदा पाण्डित्य चाहता है ॥१३१॥

आज उसी मूर्खता के कारण रानी से अपमानित हुआ है, यह मैंने सुना है।।१३२।।

इस प्रकार परस्पर विचार करते हुए उस रात को व्यतीत कर हमलोग प्रातःकाल राजा के निवास-स्थान पर गये ।।१३३।।

प्रवेश-निषेध रहने पर भी मैं अन्दर गया मेरे आने पर धीरे-धीरे शर्ववर्मा भी आया ।।१३४।।

उसके पास बैठकर मैंने राजा से निवेदन किया कि हे महाराज आप अकारण ही अस्वस्थ क्यों हैं? ।।१३५।।

मेरी बात सुनकर भी राजा उसी प्रकार मौन रहा। तब शर्ववर्मा ने यह अद्भुत वाक्य कहा।।१३६।।

'राजन्, आपने मुझसे कभी सुना होगा। मैंने पहले भी आपसे कहा है। अतः आज मैंने स्वप्न-माणवक बनाया।।१३७।।

आज मैंने स्वप्न में देखा कि एक कमल आकाश से गिरा है। उसे किसी दिव्य कुमार ने विकसित किया और उसमें से श्वेतवस्त्रधारिणी एक स्त्री निकली जो महाराज! आपके मुँह में चली गई।।१३८।।

इतना देखकर मैं जाग गया। मैं समझता हूँ कि वह स्त्री सरस्वती देवी ही थी जो आपके मुख में प्रविष्ट हुई। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।।१३९।।

इस प्रकार शर्ववर्मा के स्वप्न-वृत्तान्त बतलाने पर राजा मौन त्याग कर, स्मित भाव के साथ मुझसे बोला।।१४ ।।

'मुझे विद्या के बिना यह लक्ष्मी अच्छी नहीं लगती। लकड़ी के गहनों के समान मूर्ख को इस वैभव से क्या लाभ? ।।१४१।।

यत्नपूर्वक शिक्षा ग्रहण करता हुआ मनुष्य कितने समय मे पांडित्य प्राप्त कर सकता है, यह मुझे बताओ' ।।१४२ १४३।।

तब मैंने राजा से कहा—'राजन्, सब विद्याओं का मुख नवीन व्याकरण बारह वर्षों में आता है।।१४४।।

लेकिन प्रभो मैं तुम्हें छह वर्षों में व्याकरण सिखा दूँगा। यह सुनकर शर्ववर्मा ईर्ष्या के साथ बोला।।१४५।।

सुख में रहनेवाला राजा-जैसा व्यक्ति इतने समय तक पढ़ने का कष्ट कैसे उठा सकता है? सो महाराज! मैं तुम्हें छह महीनों में व्याकरण पढ़ा दूँगा ।।१४६।।

श्रुत्वैवैतदसम्भाव्यं तमवोचमहं रुषा।
षड्भिर्मासैस्त्वया देव शिक्षितश्चेत्ततो मया॥१४७॥
संस्कृतं प्राकृतं तद्वद्देशभाषा च सर्वदा।
भाषात्रयमिदं त्यक्तं यन्मनुष्येषु सम्भवेत् ॥१४८॥
शर्ववर्मा ततोऽवादीन्न चैवं करोम्यहम्।
द्वादशाब्दान्वहाम्येष शिरसा तव पादुके॥१४९॥
इत्युक्त्वा निर्गते तस्मिन्नहमप्यगमं गृहम्।
राजाप्युभयतः सिद्धिं मत्वाश्वस्तो बभूव सः॥१५०॥
विह्वलः शर्ववर्मा च प्रतिज्ञां तां सुदुस्तराम्।
पश्यन्सानुशयः सर्वं स्वभार्यायै शशंस तत्॥१५१॥
सापि तं दुःखितावोचत्संकटेऽस्मिंस्तव प्रभो! ।
विना स्वामिकुमारेण गतिरन्या न दृश्यते॥१५२॥
तथेति निश्चयं कृत्वा पश्चिमे प्रहरे निशि।
शर्ववर्मा निराहारस्तत्रैव प्रस्थितोऽभवत्॥१५३॥
तच्च चारमुखाद् बुद्ध्वा मया प्रातर्निवेदितम्।
राज्ञे सोऽपि तदाकर्ण्य किं भवेदित्यचिन्तयत्॥१५४॥
ततस्तं सिंहगुप्ताख्यो राजपुत्रो हितोऽब्रवीत्।
त्वयि खिन्ने तदा देव निर्वेदो मे महानभूत् ॥१५५॥
ततः श्रेयो निमित्तं ते चण्डिकाग्रे निजं शिरः।
छेत्तुं प्रारब्धवानस्मि गत्वास्मान्नगराद् बहिः॥१५६॥
मम कृथा नृपस्येच्छा सेत्स्यत्येवेत्यवारयत्।
वागन्तरिक्षाच्च मां तन्मन्ये सिद्धिरस्ति ते॥१५७॥
इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य सत्वरं शर्ववर्मणः।
पश्चाच्चारद्वयं सोऽथ सिंहगुप्तो व्यसर्जयत्॥१५८॥
सोऽपि मारुतभक्षः सन्नासन्नमौनः सुनिश्चयः।
प्राप स्वामिकुमारस्य शर्ववर्मान्तिकं क्रमात्॥१५९॥
शरीरनिरपेक्षेण तपसा तत्र तोषितः।
प्रसादमकरोत्तस्य कार्त्तिकेयो यथेप्सितम्॥१६ ॥
आगत्याथ तदा राज्ञे चाराभ्यां च निवेदितः।
सिंहगुप्तविसृष्टाभ्यामुदयः शर्ववर्मणः॥१६१॥

इस अनहोनी बात को सुनकर मैंने क्रोध से शर्ववर्मा से कहा कि 'यदि तुम छह महीने में राजा को व्याकरण पढ़ा दोगे तो मैं संस्कृत प्राकृत और देशभाषा इन तीनों को सदा के लिए छोड़ दूँगा जो मनुष्यों की बोलचाल में आती हैं ॥१४७-१४८॥

तब शर्ववर्मा ने कहा कि यदि मैं ऐसा न कर सकूँगा तो तुम्हारी पादुका को बारह वर्षों तक सिर पर उठाऊँगा ॥१४९॥

ऐसा कहकर शर्ववर्मा के चले जाने पर मैं भी अपने घर चला गया। राजा ने दोनों ओर से कार्य-सिद्धि समझकर धैर्य धारण किया ॥१५ ॥

प्रतिज्ञा से व्याकुल शर्ववर्मा ने अत्यन्त कठिन प्रतिज्ञा कर ली और उसने यह सारी बात अपनी स्त्री से कही ॥१५१॥

शर्ववर्मा की स्त्री अत्यन्त दुःखित होकर बोली —'हे स्वामिन्! इस कठिन संकट के समय स्वामिकुमार के बिना दूसरी गति नहीं दीखती' ॥१५२॥

शर्ववर्मा ने भी ऐसा ही निश्चय किया और रात के चौथे पहर में उठकर बिना भोजन किये कुमार कार्तिकेय के मन्दिर को चला ॥१५३॥

मैंने भी गुप्तचर के द्वारा शर्ववर्मा का जाना जानकर प्रातःकाल राजा से कहा। राजा भी 'आगे क्या होगा' ऐसा सोचने लगा ॥१५४॥

तब सिंहगुप्त नामक राजपुत्र राजा से बोला कि "हे महाराज! आपका अस्वास्थ्य देखकर उस समय मुझे महान् खेद हुआ ॥१५५॥

और तब मैं नगर के बाहर चंडिका के मन्दिर में अपना सिर काटने के लिए उद्यत हुआ ॥१५६॥

इतने में ही आकाशवाणी ने कहा—ऐसा मत करो। राजा की इच्छा अवश्य ही पूरी होगी। इस प्रकार उसने मुझे रोक दिया। तो मेरी समझ से आपको सिद्धि प्राप्त होगी" ॥१५७॥

ऐसा कहकर और राजा से विचार करके सिंहगुप्त ने शर्ववर्मा के पीछे दो गुप्तचर छोड़ दिये ॥१५८॥

श र्वर्मा भी केवल वायु-भक्षण करता हुआ मौनी और दृढ़निश्चयी होकर क्रमशः स्वामिकुमार के स्थान पर पहुँचा ॥१५ ॥

शरीर की परवाह न करके किये गये कठोर तप से प्रसन्न होकर स्वामिकार्तिक ने शर्ववर्मा पर कृपा की और उसे अभीष्ट वर प्रदान किया ॥१६ ॥

तब सिंहगुप्त के भेजे हुए अनुचरों ने राजा के सामने आकर शर्ववर्मा की सफलता बताई ॥१६१॥

ततोऽध्वनि मनाक्कम्प जाते तीव्रतपः कृशः।
क्लान्तः पतितवानस्मि निःसंज्ञो धरणीतले॥५॥
उत्तिष्ठ पुत्र सर्वं ते सम्पत्स्यत इति स्फुटम्।
शक्तिहस्तः पुमानस्य जाने मामब्रवीत्तदा॥६॥
तेनाहममृतासारसिक्त इव तत्क्षणम्।
प्रबुद्धः क्षुत्पिपासादिहीनः स्वस्थ इवाभवम्॥७॥
अथ देवस्य निकटं प्राप्य भक्तिभराकुलः।
स्नात्वा गर्भगृहं तस्य प्रविष्टोऽभूवमुन्मनाः॥८॥
ततोऽन्तः प्रभुणा तेन स्वप्ने मम दर्शनम्।
दत्तं ततः प्रविष्टा मे मुखे मूर्ता सरस्वती॥९॥
अथासौ भगवान्साक्षात्षड्भिराननपङ्कजैः।
'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' इति सूत्रमुदैरयत्॥१०॥
तच्छ्रुत्वैव मनुष्यत्वसुलभाच्चापलाद् बत।
उत्तरं सूत्रमभ्यूह्य स्वयमेव मयोदितम्॥११॥
अथाब्रवीत्स देवो मां नावदिष्यः स्वयं यदि।
अभविष्यदिदं शास्त्रं पाणिनीयोपमर्दकम्॥१२॥
अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति।
मद्वाहनकलापस्य नाम्ना कालापकं तथा॥१३॥
इत्युक्त्वा शब्दशास्त्रं तत्प्रकाश्याभिनवं लघु।
साक्षादेव स मां देवः पुनरेवमभाषत॥१४॥
युष्मदीयः स राजापि पूर्वजन्मन्यभूदृषिः।
भरद्वाजमुनेः शिष्यः कृष्णसंज्ञो महातपाः॥१५॥
तुल्याभिलाषामालोक्य स चैकां मुनिकन्यकाम्।
यथावकस्मात्पुष्पेषुशरघातरसज्ञताम्॥१६॥
अतः स शप्तो मुनिभिरवतीर्ण इहाधुना।
सा चावतीर्णा देवीत्वे तस्यैव मुनिकन्यका॥१७॥
इत्थमप्यवतारोऽस्य नृपतिः सातवाहनः।
दृष्टे त्वय्यखिला विद्या प्राप्स्यत्येव स्वविच्छया॥१८॥
[illegible] हि भवन्त्युत्तमार्था महात्मनाम्।
जन्मान्तरार्जिताः स्फारसंस्कारादिप्तसिद्धयः॥१९

जब स्वामि कार्तिक के मन्दिर का मार्ग कुछ ही शेष रह गया तब मैं कठोर तप (निराहार) से दुर्बल होकर थका हुआ अचेतन (बेहोश) होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥५॥

तब मुझे अचेतनावस्था में ऐसा लगा कि हाथ में शक्ति (शस्त्र) लिये हुए कोई पुरुष मुझे कह रहा है—'पुत्र उठो तुम्हारा सब कार्य सफल होगा' ॥६॥

अमृतवर्षा से सिक्त-सा मैं उस समय चैतन्य हुआ। भूख-प्यास नष्ट हो जाने के कारण मैं पुनः स्वस्थ-सा हो गया ॥७॥

भक्ति भाव से भरा हुआ मैं देवस्थल पर पहुँचकर और स्नान करके मन्दिर के आन्तरिक भाग में जाकर कुछ व्याकुल हो गया ॥८॥

मन्दिर के अन्तर्गृह में स्कन्द स्वामी ने मुझे दर्शन दिये। उनके दर्शन होते ही मेरे मुँह में साक्षात् मूर्तिमती सरस्वती ने प्रवेश किया ॥९॥

तदनन्तर भगवान् स्कन्द ने अपने छहों मुखकमलों से 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' यह सूत्र कहा ॥१० ॥

यह सुनकर मानव-स्वभाव-सुलभ चंचलता से मैंने इसके आगे का सूत्र स्वयं अपनी कल्पना के आधार पर कह दिया ॥११॥

मेरे स्वयं सूत्र बोल देने पर स्कन्द स्वामी ने कहा कि यदि तुम मानव-स्वभाव-सुलभ चंचलता से स्वयं न बोल बैठते तो यह मेरा बनाया हुआ व्याकरण-शास्त्र पाणिनीय व्याकरण को नीचा दिखा देता ॥१२॥

अब यह स्वल्प विस्तार के कारण कातन्त्र के नाम से प्रसिद्ध होगा। मेरे वाहन मयूर के पंखों के नाम पर इसका दूसरा नाम कालापक या कलाप भी होगा' ॥१३॥

ऐसा कहकर और अभिनव एवं संक्षिप्त व्याकरण को प्रकाशित करके स्कन्ददेव ने मुझसे फिर कहा—॥१४॥

'यह तुम्हारा राजा (सातवाहन) पूर्वजन्म में परम तपस्वी कृष्ण नाम का ऋषि था और भरद्वाज मुनि का शिष्य था ॥१५॥

एक बार वह कृष्णमुनि अपनी ओर आसक्त किसी मुनि कन्या को देखकर सहसा कामवश हो गया ॥१६॥

इसी कारण मुनियों ने उसे शाप दिया और पृथ्वी पर मानव (सातवाहन) के रूप में अवतीर्ण हुआ और वही मुनि-कन्या उसकी महारानी के रूप में अवतीर्ण हुई है ॥१७॥

इस प्रकार यह राजा सातवाहन ऋषि का अवतार है। तुम्हें देखते ही तुम्हारी इच्छा से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर लेगा ॥१८॥

पूर्वजन्म के उत्तम संस्कारों से प्राप्त सिद्धि के कारण भाग्यशाली व्यक्तियों के प्रयोजन बिना कष्ट या विघ्न के ही सिद्ध हो जाते हैं ॥१९॥

तच्छ्रुत्वा मम राज्ञश्च विषादप्रमदौ द्रुतौ ।
अभूतां मेघमालोक्य हंसचातकयोरिव ॥१६२॥
आगत्य शर्ववर्मापि कुमारवरसिद्धिमान् ।
चिन्तितोपस्थिता राज्ञे सर्वा विद्याः प्रदत्तवान् ॥१६३॥
प्रादुरासंश्च तास्तस्य सातवाहनभूपतेः ।
तत्क्षणं किं न कुर्याद्धि प्रसादः पारमेश्वरः ॥१६४॥
अथ तमखिलविद्यालाभमाकर्ण्य राज्ञः
प्रमुदितवति राष्ट्रे तत्रकोऽप्युत्सवोऽभूत् ।
अपि पवनविधूतास्तत्क्षणोल्लास्यमाना
प्रतिवसति पताका बद्धनृत्ता इवासन् ॥१६५॥
राजार्हरत्ननिचयैरथ शर्ववर्मा
सम्पूजितो गुरुरिति प्रणतेन राज्ञा ।
स्वामीकृतश्च विषये मरुकच्छनाम्नि
कूलोपकण्ठविनिवेशिनि नर्मदायाः ॥१६६॥
योऽस्य चारमुखेन षण्मुखवरप्राप्तिं समाकर्णयन्—
स्तत्तुल्यात्मसमं धिया नरपतिस्तं सिंहगुप्तं व्यधात् ।
राज्ञीं तामपि विष्णुशक्तितनयां विद्यागमे कारणं
देवीनामुपरि प्रसह्य कृतवान्प्रीत्याभिषिच्य स्वयम् ॥१६७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके
पञ्चमस्तरङ्गः ।

सप्तमस्तरङ्गः

ततो गृहीतमौनोऽहं राजास्थानमुपागमम् ।
तत्र च श्लोकमपठद्द्विजः कश्चित्स्वयं कृतम् ॥१॥
तं चावष्ट स्वयं राजा सम्यक्संस्कृतया गिरा ।
तत्रालोक्य च तत्रस्थो जनः प्रमुदितोऽभवत् ॥२॥
ततः स शर्ववर्माणं राजा सविनयोऽब्रवीत् ।
स्वयं कथय देवेन कथं तेऽनुग्रहः कृतः ॥३॥
तच्छ्रुत्वानुग्रहं राज्ञः शर्ववर्माभ्यभाषत ।
ततो राजगिराहारो मौनस्थोऽहं तदा गतः ॥४॥

शर्ववर्मा की सफलता का समाचार सुनकर मुझे और राजा को क्रमशः खेद और हर्ष उस प्रकार हुआ जैसे मेघ को देखकर हंस और चातक को होता है ॥१६२॥

इसके अनन्तर स्वामिकुमार के वर से सिद्धि प्राप्त करके आये हुए शर्ववर्मा ने स्मरण करते ही उपस्थित हुई सब विद्याएँ राजा को दीं ॥१६३॥

शर्ववर्मा के पढ़ाने पर राजा को सभी विद्याएँ स्वयं उपस्थित हो गईं। परमात्मा की कृपा से तत्क्षण क्या नहीं होता है ॥१६४॥

इस प्रकार राजा को सभी विद्याओं की प्राप्ति का समाचार सुनकर सारे राष्ट्र में महान् उत्सव मनाया गया। उत्सव के अवसर पर घरों पर फहराती हुई ध्वजाएँ मानों प्रसन्नता से नाच कर रही थीं ॥१६५॥

तदनन्तर प्रणाम करते हुए राजा ने राजाओं के धारण करने योग्य रत्नों से शर्ववर्मा की गुरुपूजा की और उस नर्मदा के सुरम्य तट पर बसे हुए भरुकच्छ (भड़ौंच) देश का राजा बना दिया ॥१६६॥

तदनन्तर सबसे पहले गुप्तचरों द्वारा वर प्राप्ति का समाचार देनेवाले सिंहगुप्त को राजा सातवाहन ने राजा बना दिया और विद्या प्राप्ति का मूल कारण विष्णुशक्ति की पुत्री उस रानी को भी सभी रानियों के ऊपर स्वयं पट्टाभिषिक्त महारानी बनाया ॥१६७॥

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट विरचित कथासरित्सागर के
कथापीठलम्बक का षष्ठ तरंग समाप्त

सप्तम तरंग

शर्ववर्मा की कथा

(कातन्त्र—कालापक व्याकरण की उत्पत्ति)

शर्ववर्मा के सफल हो जाने पर प्रतिज्ञानुसार तीनों भाषाओं के छोड़ देने के कारण मौन धारण करके मैं राजा के समीप आया। उस समय वहाँ पर किसी ब्राह्मण ने राजा के सामने स्व-रचित श्लोक पढ़ा ॥१॥

राजा ने उस श्लोक को विशुद्ध संस्कृत भाषा में स्वयं अनूदित किया। इस कारण सभा में बैठे हुए सभी सदस्य अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥२॥

तब राजा ने शर्ववर्मा से नम्रता के साथ कहा कि 'स्वामि कार्तिक ने आप पर जो कृपा की है इसका वृत्तान्त स्वयं अपने मुख से कहिए' ॥३॥

राजा की इस कृपा से आप्यायित होकर शर्ववर्मा ने कहा—'महाराज मैं उस समय वहाँ से निराहार और मौनी होकर निकल पड़ा ॥४॥

ततोऽभ्यनि ममाक्षय्य जाते तीव्रतपःकृशः।
क्लान्तः पतितवानस्मि निःमणो धरणीतले ॥५॥
उत्तिष्ठ पुत्र सर्वं ते सम्पत्स्यत इति स्फुटम्।
शक्तिहस्तः पुमानस्य जाने मामब्रवीत्तदा ॥६॥
तेनाहममृतासारसिक्त इव तत्क्षणम्।
प्रबुद्धः क्षुत्पिपासाविहीनः स्वस्थ इवाभवम् ॥७॥
अथ देवस्य निकटं प्राप्य भक्तिभराकुलः।
स्नात्वा गर्भगृहं तस्य प्रविष्टोऽभूवमुन्मना ॥८॥
ततोऽन्तः प्रभुणा तेन स्कन्देन मम दर्शनम्।
दत्तं ततः प्रविष्टा मे मुखं मूर्ता सरस्वती ॥९॥
अथासौ भगवान्साक्षात्षड्भिराननपङ्कजैः।
'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' इति सूत्रमुदैरयत् ॥१०॥
तच्छ्रुत्वैव मनुष्यत्वसुलभाच्चापलाद् बत।
उत्तरं सूत्रमभ्यूह्य स्वयमेव मयोदितम् ॥११॥
अथाब्रवीत्स देवो मां नावदिष्यः स्वयं यदि।
अभविष्यदिदं शास्त्रं पाणिनीयोपमर्दकम् ॥१२॥
अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भविष्यति।
मद्वाहनकलापस्य नाम्ना कालापकं तथा ॥१३॥
इत्युक्त्वा शब्दशास्त्रं तत्प्रकाश्याभिनवं लघु।
साक्षादेव स मां देवः पुनरेवमभाषत ॥१४॥
युष्मदीयः स राजापि पूर्वजन्मन्यभूदृषिः।
भरद्वाजमुनेः शिष्यः कृष्णसंज्ञो महातपाः ॥१५॥
तुल्याभिलाषामालोक्य स चैकां मुनिकन्यकाम्।
ययावकस्मात्पुष्पेषुशरघातरसज्ञताम् ॥१६॥
अतः स शप्तो मुनिभिरवतीर्णं इहाधुना।
सा चावतीर्णा देवीत्वे तस्यैव मुनिकन्यका ॥१७॥
इत्थमृष्यवतारोऽयं नृपतिः सातवाहनः।
दृष्टे त्वय्यखिला विद्या प्राप्स्यत्येव त्वदिच्छया ॥१८॥
अक्लेशलभ्या हि भवन्त्युत्तमार्था महात्मनाम्।
जन्मान्तरार्जितास्फारसंस्काराक्षिप्तसिद्धयः ॥१९

जब स्वामि कार्तिक के मन्दिर का मार्ग कुछ ही शेष रह गया तब मैं कठोर तप (निराहार) से दुर्बल होकर थका हुआ अचेतन (बेहोश) होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥५॥

तब मुझे अचेतनावस्था में ऐसा लगा कि हाथ में शक्ति (अस्त्र) लिये हुए कोई पुरुष मुझे कह रहा है—'पुत्र उठो तुम्हारा सब कार्य सफल होगा' ॥६॥

अमृतवर्षा से सिक्त-सा मैं उस समय चैतन्य हुआ। भूख-प्यास नष्ट हो जाने के कारण मैं पुनः स्वस्थ-सा हो गया ॥७॥

भक्ति-भाव से भरा हुआ मैं देवस्थान पर पहुँचकर और स्नान करके मन्दिर के आन्तरिक भाग में जाकर कुछ व्याकुल हो गया ॥८॥

मन्दिर के अन्तर्गृह में स्कन्द स्वामी ने मुझे दर्शन दिये। उनके दर्शन होते ही मेरे मुँह में साक्षात् मूर्तिमती सरस्वती ने प्रवेश किया ॥९॥

तदनन्तर भगवान् स्कन्द ने अपने छहों मुखकमलों से 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' यह सूत्र कहा ॥१०॥

यह सुनकर मानव-स्वभाव-सुलभ चंचलता से मैंने इसके आगे का सूत्र स्वयं अपनी कल्पना के आधार पर कह दिया ॥११॥

मेरे स्वयं सूत्र बोल देने पर स्कन्द स्वामी ने कहा कि यदि तुम मानव-स्वभाव-सुलभ चंचलता से स्वयं न बोल बैठते तो यह मेरा बनाया हुआ व्याकरण शास्त्र पाणिनीय व्याकरण को नीचा दिखा देता ॥१२॥

अब यह स्वल्प विस्तार के कारण कातन्त्र के नाम से प्रसिद्ध होगा। मेरे वाहन मयूर के पंखों के नाम पर इसका दूसरा नाम कालापक या कलाप भी होगा' ॥१३॥

ऐसा कहकर और अभिनव एवं संक्षिप्त व्याकरण को प्रकाशित करके स्कन्ददेव ने मुझसे फिर कहा—॥१४॥

'यह तुम्हारा राजा (सातवाहन) पूर्वजन्म में परम तपस्वी कृष्ण नाम का ऋषि था और भरद्वाज मुनि का शिष्य था ॥१५॥

एक बार वह कृष्णमुनि अपनी ओर आसक्त किसी मुनि-कन्या को देखकर सहसा कामवश हो गया ॥१६॥

इसी कारण मुनियों ने उसे शाप दिया और पृथ्वी पर मानव (सातवाहन) के रूप में अवतीर्ण हुआ और वही मुनि-कन्या उसकी महारानी के रूप में अवतीर्ण हुई है ॥१७॥

इस प्रकार यह राजा सातवाहन ऋषि का अवतार है। तुम्हें देखते ही तुम्हारी इच्छा से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर लेगा ॥१८॥

पूर्वजन्म के उत्तम संस्कारों से प्राप्त सिद्धि के कारण भाग्यशाली व्यक्तियों के प्रयोजन बिना कष्ट या विघ्न के ही सिद्ध हो जाते हैं' ॥१९॥

इत्युक्त्वान्तर्हिते देवे निरगाच्छमहं बहिः ।
तण्डुला मे प्रदत्ताश्च तत्र देवोपजीविभिः ॥२०॥
ततोऽहमागतो राजंस्तण्डुलास्ते च मे पथि ।
चित्रं तावन्त एवासन्भुज्यमाना दिने दिने ॥२१॥
एवमुक्त्वा स्ववृत्तान्तं विरते शर्ववर्मणि ।
उदतिष्ठन्नृप स्नातुं प्रहृष्टः सातवाहनः ॥२२॥
ततोऽहं कृतमौनत्वाद् व्यवहारबहिष्कृतः ।
अनिच्छन्तं समामन्त्र्य प्रणामेनैव भूपतिम् ॥२३॥
निर्गत्य नगरात्तस्माच्छिष्यद्वयसमन्वितः ।
तपसे निश्चितो द्रष्टुमागतो विन्ध्यवासिनीम् ॥२४॥
स्वप्नादेशेन देव्या च तयैव प्रेषितस्ततः ।
विन्ध्याटवीं प्रविष्टोऽहं त्वां द्रष्टुं भीषणामिमाम् ॥२५॥
पुलिन्दवाक्यादासाद्य सार्थं दैवात्कथञ्चन ।
इह प्राप्तोऽहमद्राक्षं पिशाचान् सुबहूनमून् ॥२६॥
अन्योन्यालापमेतेषां दूरादाकर्ण्य शिक्षिता ।
मया पिशाचभाषेयं मौनमोक्षस्य कारणम् ॥२७॥
उपगम्य ततस्त्वां च श्रुत्वोज्जयनीगतम् ।
प्रतिपालितवानस्मि यावदभ्यागतो भवान् ॥२८॥
दृष्ट्वा त्वां स्वागतं कृत्वा चतुर्थ्या भूतभाषया ।
मया जातिः स्मृतेयं च वृत्तान्तो मऽत्र जन्मनि ॥२९॥
एवमुक्ते गुणाढ्येन काणभूतिरुवाच तम् ।
त्वदागमो मया ज्ञातो यथाद्य निशि तच्छृणु ॥३०॥
राक्षसो भूतिवर्माख्यो दिव्यदृष्टिः सखास्ति मे ।
गतवानस्मि चोद्यानमुज्जयिन्यां तदास्पदम् ॥३१॥
तत्रासौ निजक्षपान्तं प्रतिपृष्टो मयाब्रवीत् ।
दिवा नास्ति प्रभावो नस्तिष्ठ रात्रौ वदाम्यतः ॥३२॥
तथेति चाहं तत्रस्थः प्राप्तायां निशि कल्पताम् ।
तमपृच्छं प्रसङ्गेन भूतानां हर्षकारणम् ॥३३॥
पुरा विरिञ्चिमवादे मधुना मकुटेन तत् ।
शृणु वच्मीति मामुक्त्वा भूतिवर्मा च सोऽब्रवीत् ॥३४॥

ऐसा कहकर कार्तिकेय स्वामी के अन्तर्धान हो जाने पर मैं भी मन्दिर से बाहर आया। बाहर आने पर मन्दिर के पुजारियों ने प्रसाद के रूप में मुझे चावल प्रदान किया॥२०॥

महाराज! मैं भी वहाँ से चलकर यहाँ आ गया, किन्तु आश्चर्य यह है कि मार्ग में प्रतिदिन खाये जाने पर भी चावल अन्त तक उतना ही रहा, जितना पुजारियों ने दिया था॥२१॥

इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुनकर शर्ववर्मा के मौन होने पर प्रसन्न राजा सातवाहन स्नान करने के लिए उठा॥२२॥

तब मैं मौनी रहने के कारण राजकार्य तथा सांसारिक व्यवहारों से पृथक् रहता था। इसलिए न चाहते हुए भी, राजा से प्रणाम द्वारा अपने जाने की इच्छा प्रकट करता हुआ मैं दो शिष्यों के साथ उस नगर से निकलकर तपस्या करने के विचार से विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के लिए आया॥२३-२४॥

स्वप्न में विन्ध्यवासिनी देवी के आदेश से उनके द्वारा भेजा हुआ मैं तुम्हें देखने के लिए इस भीषण विन्ध्य-जंगल में प्रविष्ट हुआ॥२५॥

भीलों के कथनानुसार यात्रियों के झुण्ड के साथ किसी प्रकार यहाँ पहुँचा और इन बहुत-से पिशाचों को देखा॥२६॥

मैंने दूर बैठे-बैठे ही पिशाचों के परस्पर वार्त्तालाप से इनकी पिशाच-भाषा सीखी जो मेरे मौन छोड़ने का कारण है, क्योंकि यह भाषा संस्कृत, प्राकृत तथा लोकभाषा से विलक्षण चौथी भाषा थी॥२७॥

इस पैशाची भाषा को जानकर और तुम्हें उज्जैन गया हुआ सुनकर प्रतीक्षा कर रहा था कि इतने में तुम आ ही गये॥२८॥

तुम्हें यहाँ आये हुए देखकर चौथी भूत (पैशाची) भाषा से तुम्हारा स्वागत करके मैंने पूर्व-जन्म का स्मरण किया। यह मेरे इस मानुष्य-जन्म का वृत्तान्त है॥२९॥

गुणाढ्य के इस प्रकार कहने पर काणभूति ने उससे कहा—'मैंने तुम्हारा यहाँ आगमन आज रात को जिस प्रकार जाना, उसे सुनो॥३०॥

भूतिवर्मा नामक राक्षस मेरा मित्र है, जो दिव्य-दृष्टि है। मैं उसे देखने के लिए उज्जयिनी नगरी में उसके निवासस्थान—उद्यान—में गया था॥३१॥

वहाँ मैंने उससे अपने शाप के अन्त के सम्बन्ध में पूछा तो उसने कहा 'दिन में हमलोगों का प्रभाव नहीं रहता। इसलिए ठहरो। रात में तुम्हें बता दूँगा'॥३२॥

अतएव मैं दिन-भर वहाँ रहा और रात होने पर प्रसंगतः राक्षस से पूछा कि 'रात में तुम लोगों के प्रभाव के बढ़ने और हर्षित होने का क्या कारण है?'॥३३॥

भूतिवर्मा राक्षस ने कहा 'प्राचीन समय में ब्रह्मा के प्रश्न पर शंकर ने जो कहा था वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ॥३४॥

दिवा नैषां प्रभावोऽस्ति ध्वस्तानामर्कतेजसा।
यक्षरक्षःपिशाचानां तेन हृष्यन्त्यमी निशि ॥३५॥

न पूज्यन्ते सुरा यत्र न च विप्रा यथोचितम्।
भुज्यते विधिना वापि तत्रैते प्रभवन्ति च ॥३६॥

अमांसभक्षा साध्वी वा यत्र तत्र न यान्त्यमी।
शुचीञ्शूरान्प्रबुद्धांश्च नाक्रामन्ति कदाचन ॥३७॥

इत्युक्त्वा मे स तत्काल भूतिवर्माब्रवीत्पुनः।
गच्छागतो गुणाढ्यस्ते शापमोक्षस्य कारणम् ॥३८॥

श्रुत्वैतदागतश्चास्मि त्वं च दृष्टो मया प्रभो।
कथयाम्यधुना तां ते पुष्पदन्तोदितां कथाम् ॥३९॥

किं त्वेकं कौतुकं मेऽस्ति कथ्यतां केन हेतुना।
स पुष्पदन्तस्त्वं चापि माल्यवानिति विश्रुतः ॥४०॥

काणभूतेरिति श्रुत्वा गुणाढ्यस्तमभाषत।
गङ्गातीरेऽग्रहारोऽस्ति नाम्ना बहुसुवर्णकः ॥४१॥

तत्र गोविन्ददत्ताख्यो ब्राह्मणोऽभूद्बहुश्रुतः।
तस्य भार्याग्निदत्ता च बभूव पतिदेवता ॥४२॥

स कालेन द्विजस्तस्यां पञ्च पुत्रानजीजनत्।
ते च मूर्खाः सुरूपाश्च बभूवुरभिमानिनः ॥४३॥

अथ गोविन्ददत्तस्य गृहानतिथिराययौ।
विप्रो वैश्वानरो नाम वैश्वानर इवापरः ॥४४॥

गोविन्ददत्ते तत्काले गृहादपि बहिः स्थिते।
तत्पुत्राणामुपागत्य कृत तेनाभिवादनम् ॥४५॥

हासमात्रं च तैस्तस्य कृतं प्रत्यभिवादनम्।
ततः स कोपान्निर्गन्तुं प्रारेभे तद्गृहाद्द्विजः ॥४६॥

आगतेनाथ गोविन्ददत्तेन स तथाविधः।
पृष्टोऽनुनीतोऽपि जगाद द्विजोत्तमः ॥४७॥

पुत्रास्ते पतिता मूर्खास्त्वत्सम्पर्काद् भवानपि।
तस्मान्न भोक्ष्ये त्वद्गेहे प्रायश्चित्तं नु मे भवेत् ॥४८॥

दिन में सूर्य के तेज से पराभूत इन सदा राक्षसों और पिशाचों का प्रभाव क्षीण हो जाता है। अतः ये रात में प्रभावशाली होकर हर्षित होते हैं ॥३५॥

जहाँ देवताओं और ब्राह्मणों का पूजन समुचित रूप से नहीं होता या जहाँ अनुचित और भ्रष्ट रूप से भोजन किया जाता है, वहाँ ये प्रबल हो जाते हैं ॥३६॥

जहाँ धर्मात्मभोजी या (पतिव्रता स्त्री) रहती है वहाँ ये नहीं जाते और पवित्र और तथा प्रबुद्ध व्यक्तियों को भी कभी नहीं छेड़ते ॥३७॥

ऐसा कहकर भूतिवर्मा उसी समय बोला—जाओ! तुम्हारे शापमोक्ष का कारण गुणाढ्य आ गया है। यह मालूम होते ही मैं यहाँ आया और तुम्हें देखा। अब मैं पुष्पदन्त द्वारा कही हुई उस कथा को सुनाता हूँ ॥३८ ३९॥

किन्तु मुझे यह एक कौतूहल (जिज्ञासा) है कि यह पुष्पदन्त के नाम से और तुम माल्यवान् के नाम से कैसे प्रसिद्ध हुए, अर्थात् नामकरण का कारण बताओ ॥४ ॥

पुष्पदन्त की पूर्वकथा

काणभूति के प्रश्न को सुनकर गुणाढ्य ने उससे कहा—गंगा के तटपर बहुसुवर्ण नाम का एक गाँव है ॥४१॥

उस गाँव में गोविन्ददत्त नाम का विविध शास्त्रों का जाननेवाला ब्राह्मण रहता था। उसकी अग्निदत्ता नाम की परम पतिव्रता पत्नी थी ॥४२॥

उस ब्राह्मण ने उस ब्राह्मणी से पाँच पुत्र उत्पन्न किये। वे सभी मूर्ख किन्तु सुन्दर और अभिमानी थे ॥४३॥

कुछ समय के अनन्तर गोविन्ददत्त के घर पर दूसरी अग्नि के समान (कोपी) वैश्वानर नाम का एक ब्राह्मण आया ॥४४॥

उस समय गोविन्ददत्त के कहीं बाहर रहने पर उस अतिथि ने घर में जाकर उसके पुत्रों का अभिवादन किया ॥४५॥

इन ब्राह्मणकुमारों ने उस अतिथि के स्वागत-स्वागत में और अभिवादन के उत्तर में केवल हँस दिया। इस प्रकार के व्यवहार से क्रुद्ध होकर वह ब्राह्मण उनके घर से निकल चला ॥४६॥

इसके अनन्तर ही आये हुए गोविन्ददत्त ने इस प्रकार क्रुद्ध ब्राह्मण से पूछा और क्षमा-प्रार्थना आदि द्वारा अनुनय-विनय किया ॥४७॥

'तुम्हारे पुत्र मूर्ख हैं अतएव पतित हैं और उनके सम्पर्क में रहने के कारण तुम भी पतित हो। अतः तुम जैसे पतित के यहाँ मैं भोजन न करूँगा। उसके लिए मुझे प्रायश्चित्त करना होगा'—ब्राह्मण ने उसे इस प्रकार कहा ॥४८॥

अथ गोविन्ददत्तस्तमुवाच शपथोत्तरम् ।
न स्पृशाम्यपि चास्वैतानहं कुनयानिति ॥४९॥
तद्भार्यापि सवैवेत्य तमुवाचातिविप्रिया ।
ततः कथञ्चिदातिथ्य तत्र वश्वानरोऽग्रहीत् ॥५०॥
तद्दृष्ट्वा देवदत्ताख्यस्तस्यैकस्तनयस्तदा ।
अभूद्गोविन्ददत्तस्य नैर्घृण्येनानुतापवान् ॥५१॥
अथ जीवितमाळोक्य पितृभ्यामथ दूषितम् ।
सनिर्वेदः स तपसे ययौ बदरिकाश्रमम् ॥५२॥
ततः पर्णाशनः पूर्वं धूमपश्चाप्यनन्तरम् ।
तस्थौ चिराय तपसे तोषयिष्यन्नुमापतिम् ॥५३॥
ददौ च दर्शन तस्य शम्भुस्तीव्रतपोजितः ।
तस्यैवामुचरत्व च स वव्रे वरमीश्वरात् ॥५४॥
विद्या प्राप्नुहि भोगांश्च भुवि भुङ्क्ष्व ततस्तव ।
भवितामिमत सर्वमिति शम्भुस्तमादिशत् ॥५५॥
तत स गत्वा विद्यार्थी पुर पाटलिपुत्रकम् ।
सिषेवे वेदकुम्भाख्यमुपाध्याय यथाविधि ॥५६॥
तत्रस्य तमुपाध्यायपत्नी जातु स्मरातुरा ।
हठाद् वव्रे यत स्त्रीणां चञ्चलाश्चित्तवृत्तय ॥५७॥
तेन सन्त्यज्य त देशमनङ्गकृतविप्लव ।
स देवदत्तः प्रययौ प्रतिष्ठानमतन्द्रित ॥५८॥
तत्र वृद्धमुपाध्याय वृद्धया भार्ययान्वितम् ।
मन्त्रस्वाम्याख्यमभ्यर्च्य विद्या सम्यगधीतवान् ॥५९॥
कृतविद्य च त तत्र ददर्श नृपते सुता ।
सुशर्माख्यस्य सुभग श्रीर्नाम श्रीरिवाच्युतम् ॥६ ॥
सोऽपि तां दृष्टवान्कन्यां स्थितां वातायनोपरि ।
विहरन्तीं विमानस्थ चन्द्रस्येवाधिदेवताम् ॥६१॥
बद्धाविव तयान्योन्य मारशृङ्खलया दृशा ।
नापसर्तु समर्थौ तौ बभूवतुरुभावपि ॥६२॥
साथ तस्यैत्य यान्त्या मूर्तयेव स्मराज्ञया ।
इतो निकटमेहीति सञ्ज्ञा चक्रे नृपात्मजा ॥६३॥
ततः समीप तस्याश्च ययावन्तःपुराच्च स ।
सा च चिक्षेप दन्तेन पुष्पमादाय तं प्रति ॥६४॥

तब गोविन्ददत्त ने शपथपूर्वक कहा कि मैं इन कुपुत्रों का कभी स्पर्श नहीं करता। गोविन्ददत्त की भार्या ने भी उसी प्रकार कहा। तब वैश्वानर ने किसी प्रकार उनका आतिथ्य ग्रहण किया ॥४९-५ ॥

इस घटना को देखकर गोविन्ददत्त का एक पुत्र देवदत्त अपनी इस स्थिति पर ग्लानि के कारण पश्चात्ताप करने लगा ॥५१॥

माता-पिता के द्वारा इस प्रकार दूषित (तिरस्कृत) जीवन को देखकर और विरक्त होकर देवदत्त तपस्या के लिए बदरिकाश्रम को चला गया ॥५२॥

वह देवदत्त बदरिकाश्रम में पहले पत्ते खाकर, फिर धूमपान करके शिवजी को प्रसन्न करने की इच्छा से चिरकाल तक तपस्या करता रहा ॥५३॥

जब उसकी तीव्र तपस्या से सन्तुष्ट होकर शिवजी ने दर्शन दिये तब उसने उनसे उनका ही अनुचर होने का वर माँगा ॥५४॥

'विद्याओं का अध्ययन करो और ससार के भोगों को भोगो तब तुम्हारी कामना सिद्ध होगी'—शिवजी ने उसे ऐसी आज्ञा दी ॥५५॥

शिवजी का आदेश प्राप्त कर देवदत्त विद्याध्ययन के लिए पाटलिपुत्र नामक नगर में आया और वेदकुंभ नामक अध्यापक की विधिपूर्वक सेवा करके पढ़ने लगा ॥५६॥

जब वह गुरु-गृह में विद्याध्ययन करता हुआ सेवा कर रहा था तब किसी समय कामातुरा गुरु-पत्नी ने हठपूर्वक उसका वरण कर लिया। खेद है कि स्त्रियों की चित्तवृत्ति चंचल होती है ॥५७॥

इस प्रकार काम-व्याकुल देवदत्त पाटलिपुत्र को छोड़कर सावधानी के साथ प्रतिष्ठान नगर को चला गया ॥५८॥

वहाँ पर उसने बूढ़ी भार्यावाले एक वृद्ध गुरु से प्रार्थना करके विद्याओं का अध्ययन किया ॥५९॥

प्रतिष्ठान में रहते हुए विद्वान् सुन्दर देवदत्त को एक बार नगर के राजा सुशर्मा की श्री नामक कन्या ने देखा जो स्वर्ग से अवतीर्ण दूसरी लक्ष्मी के समान थी ॥६ ॥

उसने भी खिड़की पर खड़ी उस कन्या को इस प्रकार देखा मानों विमान पर बैठकर विहार करती हुई चन्द्रमा की अधिष्ठात्री देवी हो ॥६१॥

कामकीलित दृष्टि से परस्पर आबद्ध उन दोनों का वहाँ से हटना असाध्य हो गया ॥६२॥

तब राजकन्या ने कामदेव की मूर्तिमान् आज्ञा के समान एक अंगुली से 'यहाँ समीप आओ' ऐसा संकेत किया ॥६३॥

इधर देवदत्त राजभवन की तरफ गया उधर वह रनिवास से बाहर आई और उसने दाँतों-तले फूल दबाकर फिर उसकी ओर फेंका ॥६४॥

सञ्ज्ञामेतामजानानो गूढां राजसुताकृताम् ।
स कर्तव्यविमूढः सन्नुपाध्यायगृहं ययौ ॥६५॥
लुलोठ तत्र धरणौ न किञ्चिद्वक्तुमीश्वरः ।
तापेन दह्यमानोऽन्तर्मूकः प्रमुषितो यथा ॥६६॥
वितर्क्य कामजं चिह्नमुपाध्यायेन धीमता ।
युक्त्या पृष्टः कथञ्चिच्च यथावृत्तं शशंस सः ॥६७॥
तद्बुद्ध्वा तमुपाध्यायो विदग्धो वाक्यमब्रवीत् ।
दन्तेन पुष्पं मुञ्चन्त्या तया संज्ञा कृता तव ॥६८॥
यदेतत्पुष्पदन्ताख्यं पुष्पाढ्यं सुरमन्दिरम् ।
तत्रागत्य प्रतीक्षेथाः साम्प्रतं गम्यतामिति ॥६९॥
श्रुत्वेति ज्ञातसंज्ञार्थः स तत्याज शुचं युवा ।
ततो देवगृहस्यान्तस्तस्य गत्वा स्थितोऽभवत् ॥७ ॥
साप्यष्टमीं समुद्दिश्य तत्र राजसुता ययौ ।
एकैव देवं द्रष्टुं च गर्भागारमथाविशत् ॥७१॥
दृष्टोऽत्र द्वारपट्टस्य पश्चात्सोऽथ प्रियस्तया ।
गृहीतानेन चोत्थाय सा कण्ठे सहसा ततः ॥७२॥
चित्रं त्वया कथं ज्ञाता सा संज्ञेत्युदिते तया ।
उपाध्यायेन सा ज्ञाता न मयेति जगाद सः ॥७३॥
मुञ्च मामविदग्धस्त्वमित्युक्त्वा तत्क्षणात्क्रुधा ।
मन्त्रभेदभयात्साथ राजकन्या ततो ययौ ॥७४॥
सोऽपि गत्वा विविक्ते तां दृष्टनष्टां स्मरन्प्रियाम् ।
देवदत्तो वियोगाग्निविगलज्जीवितोऽभवत् ॥७५॥
दृष्ट्वा च तादृशं शम्भुः प्राक्प्रसन्नः किलादिशत् ।
गणं पञ्चशिखं नाम तस्याभीप्सितसिद्धये ॥७६॥
स चागत्य समाश्वास्य स्त्रीवेषं तं गणोत्तमः ।
अकारयत्स्वयं चाभूद् वृद्धब्राह्मणरूपभृत् ॥७७॥
ततस्तेन समं गत्वा तं सुशर्ममहीपतिम् ।
जनकं मुग्नाम्नस्या स जगाद गणाग्रणीः ॥७८॥
पुत्रो मे प्रोषितः क्वापि तमन्वेष्टुं व्रजाम्यहम् ।
तन्मे स्नुषेयं निक्षेपो राजन्सम्प्रति रक्ष्यताम् ॥७९॥

राजपुत्री के गुप्त संकेत (इशारे) को न समझकर देवदत्त कर्त्तव्यमूढ़ होकर गुरुगृह को आया ॥६५॥

घर आकर संकोचवश कुछ कहने में असमर्थ वह देवदत्त काम-संताप से अन्दर-ही-अन्दर जलता एवं ठगा हुआ-सा मूक हो गया ॥६६॥

बुद्धिमान् आचार्य ने काम-विकारों से उसकी स्थिति को समझकर युक्ति से उससे पूछा तो उसने जो कुछ हुआ था सब कह डाला ॥६७॥

वृत्तान्त सुनकर चतुर आचार्य ने कहा—'दाँत से फूल फेंकते हुए उसने तुम्हें संकेत किया है—॥६८॥

कि जो यह पुष्पों से शोभित पुष्पदन्त नाम का देव-मन्दिर है उसमें मेरी प्रतीक्षा करना। इस समय जाओ ॥६९॥

गुरु से यह सुनकर और संकेत का अर्थ समझकर उस युवक ने शोक का परित्याग कर दिया और उस मन्दिर के अन्दर जाकर उसकी प्रतीक्षा में बैठ गया ॥७० ॥

वह राजकुमारी भी अष्टमी तिथि के कारण अकेली ही पुष्पदन्तेश्वर के दर्शन करने को मन्दिर में आई और अन्दर गई ॥७१॥

मन्दिर में जाकर उसने द्वार के किवाड़ के पीछे उस प्रियतम को देखा। उसने भी उठकर उसे सहसा गले लगा लिया ॥७२॥

राजपुत्री ने पूछा कि आश्चर्य है, तुमने संकेत को कैसे जान लिया। उसने कहा—'मैंने नहीं मेरे गुरु ने जाना'। यह सुनकर राजकन्या क्रोध करके उससे बोली—'मुझे छोड़ो तुम मूर्ख (गँवार) हो'। ऐसा कहकर गुप्त बात के प्रकट हो जाने के भय से वह राजगृह को चली गई ॥७३-७४॥

देवदत्त भी एकान्त में जाकर, प्राप्त होकर चली गई प्रियतमा का स्मरण करता हुआ वियोग-अग्नि से विनष्टजीवन-सा हो गया ॥७५॥

पूर्व-तपस्या से प्रसन्न होकर शिवजी ने अपने भक्त को इस प्रकार पीड़ित देखकर उसकी अभीष्ट-सिद्धि के लिए पञ्चशिख नामक गण को आज्ञा दी ॥७६॥

पंचशिख नामक गण ने उसे आश्वासन दिया। देवदत्त को स्त्री-वेष धारण कराया और स्वयं बूढ़े ब्राह्मण का रूप धारण किया ॥७७॥

तब वह पंचशिख स्त्री-वेषधारी देवदत्त को साथ लेकर उस सुन्दरी के पिता राजा सुशर्मा के पास जाकर बोला ॥७८॥

मेरा लड़का कहीं चला गया है मैं उसे खोजने के लिए जा रहा हूँ अतः तुम मेरी इस स्नुषा (पतोहू) को धरोहर (अमानत) के रूप में रख लो ॥७९॥

तच्छ्रुत्वा शापभीतेन तेनाथाशु सुधर्मणा ।
स्वकन्यान्तःपुरे गुप्ते स्त्रीति संस्थापितो युवा ॥८०॥
ततः पञ्चशिखे याते स्वप्रियान्तःपुरे वसन् ।
स्त्रीवेषः स द्विजस्तस्या विस्रम्भास्पदतां ययौ ॥८१॥
एकदा चोत्सुका रात्रौ तेनात्मानं प्रकाश्य सा ।
गुप्तं गान्धर्वविधिना परिणीता नृपात्मजा ॥८२॥
तस्यां च धृतगर्भायां तं द्विजं स गणोत्तमः ।
स्मृतमात्रागतो रात्रौ ततोऽन्यैरविलक्षितम् ॥८३॥
ततस्तस्य समुत्सार्य यूनः स्त्रीवेषमाशु सः ।
प्रातः पञ्चशिखः सोऽभूत्पूर्ववद् ब्राह्मणाकृतिः ॥८४॥
तेनैव सह गत्वा च सुधर्मनृपमभ्यधात् ।
अद्य प्राप्तो मया राजन्पुत्रस्तद्देहि मे स्नुषाम् ॥८५॥
ततः स राजा तां बुद्ध्वा रात्रौ क्वापि पलायिताम् ।
तच्छापभयसम्भ्रान्तो मन्त्रिभ्य इदमब्रवीत् ॥८६॥
न विप्रोऽयमयं कोऽपि देवो मद्वञ्चनागतः ।
एवम्प्राया भवन्तीह वृत्तान्ताः सततं भव ॥८७॥

शिबिकथा

तथा च पूर्वं राजाऽभूत्तपस्वी करुणापरः ।
दाता धीरः शिबिर्नाम सर्वसत्त्वाभयप्रदः ॥८८॥
तं वञ्चयितुमिन्द्रोऽथ कृत्वा श्येनवपुः स्वयम् ।
मायाकपोतवपुषं धर्ममन्वपतद्द्रुतम् ॥८९॥
कपोतश्च भयाद् गत्वा शिबेरङ्कमशिश्रियत् ।
मनुष्यवाचा श्येनोऽथ स तं राजानमब्रवीत् ॥९०॥
राजन्भक्ष्यमिदं मुञ्च कपोतं क्षुधितस्य मे ।
अन्यथा मां मृतं विद्धि कस्ते धर्मस्ततो भवेत् ॥९१॥
ततः शिबिरुवाचैनमेष मे शरणागतः ।
अत्याज्यस्तद्ददाम्यन्यन्मांसमेतत्समं तव ॥९२॥
श्येनो जगाद यद्येवमात्ममांसं प्रयच्छ मे ।
तथेति तत्प्रहृष्टः सन्स राजा प्रत्यपद्यत ॥९३॥
यथा यथा च मांसं स्वमुत्कृत्यारोपयन्नृपः ।
तथा तथा तुलायां स कपोतोऽप्यधिकोऽभवत् ।

यह सुनकर राजा सुशर्मा ने ब्राह्मण के शाप के भय से उस युवा को स्त्री समझकर सुरक्षित कन्या के महल में रखवा दिया ॥८०॥

पंचशिख के चले जाने पर वह ब्राह्मण-कुमार, देवदत्त अपनी प्रियतमा के भवन में स्त्री-वेष धारण करके रहता हुआ अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया ॥८१॥

एक बार रात को उसे अत्यन्त उन्मुक्त देखकर देवदत्त ने अपने को प्रकट करके गान्धर्व विधि से उससे विवाह कर लिया ॥८२॥

वह राजकन्या जब गर्भिणी हो गई, तब उस ब्राह्मण ने पंचशिख-गण को स्मरण किया और स्मरण करते ही वह आ गया तब देवदत्त को गुप्त रूप से ले गया ॥८३॥

तब प्रातःकाल पंचशिख पहले के समान ब्राह्मण का वेष बनाकर और उस जवान के स्त्री-वेष को हटाकर राजा सुशर्मा के पास जाकर बोला—'राजन्! आज मुझे लड़का मिल गया। अब मेरी स्नुषा (पतोहू) को लौटा दो' ॥८४-८५॥

जब राजा को यह पता चला कि वह ब्राह्मण-स्नुषा कहीं भाग गई तब वह ब्राह्मण के शाप के भय से मन्त्रियों को बुलाकर परामर्श करने लगा ॥८६॥

राजा ने मन्त्रियों से कहा—'यह ब्राह्मण नहीं कोई देवता है, जो मेरी परीक्षा लेने या वंचना के लिए आया है। देखा जाता है, प्रायः ऐसी बातें सर्वदा हुआ करती हैं' ॥८७॥

राजा शिबि की कथा

इसी प्रकार प्राचीन युग में परम तपस्वी, दयालु, दाता और एवं समस्त प्राणियों को अभय देनेवाला शिबि नामक राजा हुआ। उसकी परीक्षा के लिए स्वयं इन्द्र ने बाज का रूप धारण करके कबूतर-रूपधारी धर्म का पीछा किया ॥८८-८९॥

कबूतर ने बाज के भय से राजा शिबि की गोद में शरण ली। तब बाज मनुष्य की बोली में राजा से बोला—॥९०॥

'राजन्! यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। मैं भूखा हूँ। यदि तुम इसे नहीं छोड़ते तो मुझे मरा हुआ समझो। इस प्रकार मेरी हिंसा करके तुम्हें कौन-सा धर्म प्राप्त होगा? ॥९१॥

तब शिबि ने उससे कहा कि 'यह मेरी शरण में आ गया है, इसलिए इसे अब छोड़ नहीं सकता। तुम्हारी क्षुधा-निवृत्ति के लिए इसके समान दूसरा मांस देता हूँ' ॥९२॥

बाज ने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो अपना मांस मुझे दो।' राजा ने भी प्रसन्न हो 'ऐसा ही सही'—यह कहकर उसकी बात को स्वीकार किया ॥९३॥

राजा जैसे-जैसे अपना मांस काटकर तराजू पर चढ़ाता था वैसे-ही-वैसे कबूतर भारी होता जाता था ॥९४॥

सत शरीरं सकलं पुनः राजाध्यरोपयत् ।
साधु साधु' धर्म स्वतद्दिव्या वागुदभूत्तत ॥९५॥
इन्द्रधर्मौ ततस्त्यक्त्वा रूप श्येनकपोतयो ।
तुष्टावक्षतदेहं त राजानं चक्रतु शिबिम् ॥९६॥
दत्त्वा चास्मै वरानन्यांस्तावन्तर्धानमीयतु ।
एव मामपि कोऽप्येष देवो जिज्ञासुरागत ॥९७॥
इत्युक्त्वा सचिवानस्वैर स सुधर्मा महीपति ।
तमुवाच भयप्रह्वा विप्ररूप गणोत्तमम् ॥९८॥
अभय देहि सावधव स्नुषा स हारिता निशि ।
मामयव गता क्वापि रक्ष्यमाणाप्यहर्निशम् ॥९९॥
कृपालुस्त दययेवाथ विप्ररूपो गणोऽब्रवीत् ।
तर्हि पुत्राय राजन देहि स्वां सममामिति ॥१ ॥
तच्छ्रुत्वा शापभीतेन राज्ञा तस्मै निजा सुता ।
सा दत्ता देवदत्ताय तत पञ्चशिखो ययौ ॥१ १॥
देवदत्तोऽपि तां भूय प्रकाश प्राप्य वल्लभाम् ।
अजृम्भेऽनन्यपुत्रस्य श्वसुरस्य विभूतिषु ॥१ २॥
कालेन तस्य पुत्र च दौहित्रमभिषिच्य स ।
राज्ये महीधर नाम सुधर्मा शिश्रिये वनम् ॥१०३॥
ततो दृष्ट्वा सुतैश्वर्य कृतार्थ स तपोवनम् ।
राजपुत्र्या तया साक देवदत्तोऽप्यशिश्रियत् ॥१ ४॥
तत्राराध्य पुन शम्भु त्यक्त्वा मर्त्यकलेवरम् ।
तत्प्रसादेन तस्यैव गणभावमुपागत ॥१०५॥
प्रियावस्त्रोज्झितात्पुष्पात्सर्वा न शातवान्यत ।
अत स पुष्पदन्ताख्य सम्पन्नो गणसंसदि ॥१ ६॥
तद्भार्या च प्रतीहारी देव्या जाता जयाभिधा ।
इत्थ स पुष्पदन्ताख्यो मदाख्यामधुना शृणु ॥१ ७॥

माल्यवत पूर्वकथा

य स गोविन्ददत्ताख्यो देवदत्तपिता द्विज ।
तस्यैव सोमदत्ताख्य पुत्रोऽहमभव पुरा ॥१०८॥
तेनैव मन्युना गत्वा तपश्चाह हिमाचले ।
अकार्षं बहुभिर्मास्यै शङ्कर नन्दयन्सदा ॥१०९॥

तब राजा ने अपना सारा शरीर तराजू पर चढ़ा दिया और 'साधु-साधु'—इस प्रकार की आकाशवाणी हुई॥९५॥

तब इन्द्र और धर्म ने बाज एवं कबूतर का रूप छोड़कर और प्रसन्न होकर राजा के शरीर को पहले ही जैसा अक्षत कर दिया॥९६॥

इसी प्रकार मेरी परीक्षा करने के लिए यह कोई देवता आया है॥९७॥

मन्त्रियों से इस प्रकार कहकर भय से नम्र राजा सुशर्मा उस ब्राह्मण-रूपी गण से बोला—'महाराज! अभय-दान दो! भली भाँति सुरक्षित यह तुम्हारी स्नुषा (पतोहू) आज की रात किसी माया के द्वारा हरण कर ली गई। क्षमा करो'! ॥९९॥

वह ब्राह्मण कठिनाई और दया भाव से बोला—'राजन्! यदि ऐसा है तो मेरे पुत्र के लिए अपनी कन्या दो'॥१ ॥

यह सुनकर शाप से भस्त राजा ने अपनी कन्या देवदत्त को दे दी और तब पंचशिख भी शिवलोक को गया॥१ १॥

देवदत्त भी अपनी प्यारी राजकन्या को प्रसाद-रूप से प्राप्त करके श्वसुर-संपत्ति का आनन्द लेने लगा क्योंकि राजा को उस कन्या के अतिरिक्त कोई दूसरी सन्तान न थी॥१ २॥

कुछ समय के अनन्तर देवदत्त के पुत्र और अपने दौहित्र महीधर का राज्य में अभिषिक्त करके राजा सुशर्मा अन्तिम अवस्था में वन को चला गया॥१ ३॥

कुछ समय के अनन्तर अपने बालक को राज्य करते हुए देखकर कृतार्थ होकर वह देवदत्त भी उस राजपुत्री के साथ तपोवन में गया॥१ ४॥

देवदत्त तपोवन में पुनः शिवजी की आराधना करके शिवजी को प्रसन्न करके और इस मानव-देह को छोड़कर शिव का गण बन गया॥१ ५॥

प्रिया के बालों से फेंके हुए पुष्प से वह गणेश का न समान सका अतः उसका नाम पुष्पदन्त हुआ और उसकी पत्नी जया नाम से पार्वती की प्रतिहारी बन गई। अब मेरे नाम का कारण सुनो॥१ ६ १ ७॥

माल्यवान् की पूर्वकथा

मैं उसी देवदत्त के पिता गोविन्ददत्त का सोमदत्त नामक बालक था॥१ ८॥

मैं भी उसी पश्चात्ताप के कारण घर से निकलकर हिमालय पर तप करने लगा और उस समय बहुत-सी पुष्पमालाओं से शिवजी का प्रसन्न करता था॥१ ॥

तथैव प्रकटीभूतात्प्रसन्नादिन्दुशेखरात् ।
त्यक्तान्यभोगलिप्सेन तद्गणत्वं मया वृतम् ॥११०॥
यः पूजितोऽस्मि भवता स्वयमाहवेन
माल्येन दुर्गवनभूमिसमुद्भवेन ।
तन्माल्यवानिति भविष्यसि मे गणस्त्व-
मित्यादिदेश च स विभुर्गिरिजापतिर्माम् ॥१११॥
अथ मर्त्यवपुर्विमुच्य पुष्पा सहसा तद्गणतामह प्रपन्न ।
इति धूर्जटिना कृत प्रसादादभिधान मम माल्यवानितीदम् ॥११२॥
सोऽहं गत पुनरिहाद्य मनुष्यभाव ।
शापेन शैलदुहितुर्वत काणभूते ।
तन्मे कथा हरकृतां कथयाधुना त्वं
येनावयोर्भवति शापदशोपशान्ति ॥११३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथापीठलम्बके सप्तमस्तरङ्गः

अष्टमस्तरङ्गः

एवं गुणाढ्यवचसा सा च सप्तकथामयी ।
स्वभाषया कथा दिव्या कथिता काणभूतिना ॥१॥
तथैव च गुणाढ्येन पैशाच्या भाषया तया ।
निबद्धा सप्तभिर्वर्षैर्ग्रन्थलक्षाणि सप्त सा ॥२॥
मैतां विद्याधरा हार्षुरिति तामात्मशोणितैः ।
अटव्यां मष्यभावाच्च लिलेख स महाकविः ॥३॥
तथा च श्रोतुमायातैः सिद्धविद्याधरादिभिः ।
निरन्तरमभूत्तत्र सवितानमिवाम्बरम् ॥४॥
गुणाढ्येन निबद्धां च तां दृष्ट्वैव महाकथाम् ।
जगाम मुक्तशापः सन्काणभूतिर्निजां गतिम् ॥५॥
पिशाचा येऽपि तत्रासन्नन्ये तत्सहचारिणः ।
तेऽपि प्रापुर्दिवं सर्वे दिव्यामाकर्ण्य तां कथाम् ॥६॥
प्रतिष्ठां प्रापणीयेषा पृथिव्यां मे बृहत्कथा ।
अयमर्थोऽपि मे देव्या शापान्तोक्तावुदीरित ॥७॥
तत्कथं प्रापयाम्येनां कस्मै तावत्समर्पये ।
इति चाचिन्तयत्तत्र स गुणाढ्यो महाकविः ॥८॥

उसी प्रकार प्रसन्न हुए शिवजी से मैंने सांसारिक भोगों की लिप्सा छोड़कर उनके गण होने का वर माँगा ॥११०॥

गिरिजापति शंकर भगवान् ने मुझे यह आदेश दिया कि चूँकि तुमने वन में उत्पन्न हुए पुष्पों की मालाओं से मेरी पूजा की है अतः तुम माल्यवान् नामक मेरे गण होगे ॥१११॥

तदनन्तर पवित्र मानव-शरीर को छोड़कर मैं तुरन्त शिवजी का गण बन गया। इस प्रकार स्वयं शिवजी ने मेरा नाम माल्यवान् रखा था ॥११२॥

मैं पार्वती के शाप से इस मर्त्यलोक में पुनः मनुष्यत्व को प्राप्त हुआ। हे काणभूति! अब तुम शिवजी की कही हुई उस कथा को कहो, जिससे मेरी और तुम्हारी—दोनों की शापावस्था समाप्त हो ॥११३॥

महाकवि श्री सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का
सप्तम तरंग समाप्त

अष्टम तरंग

इस प्रकार गुणाढ्य के अनुरोध से काणभूति ने अपनी पिशाच-भाषा में सात कथाओं वाली वह दिव्य कथा सुनाई जो उसने पुष्पदन्त (वररुचि) से सुनी थी ॥१॥

गुणाढ्य ने सात वर्षों में—सात लाख छन्दों में—पैशाची भाषा में कही गई कथा को लिखा ॥२॥

इस कथा को कहीं विद्याधर हरण न कर लें और घोर जंगल में स्याही न मिलने के कारण महाबुद्धिमान् गुणाढ्य ने उसे अपने रक्त से लिखा ॥३॥

इस कथा को सुनने के लिए आए हुए सिद्ध विद्याधर आदि से भरा हुआ आकाश ऐसा मालूम होता था जैसे चँदवा टँगा हो ॥४॥

गुणाढ्य द्वारा उस समस्त महाकथा के लिखे जाने पर उसे देखकर काणभूति शापमुक्त होकर अपनी पूर्वगति को प्राप्त हुआ अर्थात् गण हो गया ॥५॥

काणभूति के साथ जो उसके साथी पिशाच इस दिव्य कथा को सुन रहे थे वे भी इसे सुनकर स्वर्ग चले गये ॥६॥

तदनन्तर महाकवि गुणाढ्य ने यह सोचा कि [illegible] शर्वाणी ने मुझसे कहा था कि पृथ्वी पर इस कथा का प्रचार करना। तो अब मैं इसका प्रचार कैसे करूँ और इसे किसे समर्पित करूँ जो इसका प्रचार कर सके ॥७-८॥

अथैको गुणदेवाख्यो नन्दिदेवाभिधः परः।
तमूचतुरुपाध्याय शिष्यावनुगताबुभौ ॥९॥
तत्काव्यस्यार्पणस्थानमेकः श्रीसातवाहनः।
रसिको हि वहेत्काव्यं पुष्पामोदमिवानिलः ॥१०॥
एवमस्त्विति तौ शिष्यावन्तिकं तस्य भूपतेः।
प्राहिणोत्पुस्तकं दत्वा गुणाढ्यो गुणशालिनौ ॥११॥
स्वयं च गत्वा तत्रैव प्रतिष्ठानपुराद् बहिः।
कृतसङ्केत उद्याने तस्थौ देवीविनिर्मिते ॥१२॥
तच्छिष्याभ्यां च गत्वा तत्सातवाहनभूपतेः।
गुणाढ्यकृतिरेषेति दर्शितं काव्यपुस्तकम् ॥१३॥
पिशाचभाषां तां श्रुत्वा तौ च दृष्ट्वा तदाकृती।
विद्यामदेन सासूयं स राजैवमभाषत ॥१४॥
प्रमाणं सप्तलक्षाणि पैशाचं नीरसं वचः।
शोणितेनाक्षरन्यासो धिक्पिशाचकथामिमाम् ॥१५॥
ततः पुस्तकमादाय गत्वा ताभ्यां यथागतम्।
शिष्याभ्यां तद्गुणाढ्याय यथावृत्तमकथ्यत ॥१६॥
गुणाढ्योऽपि तदाकर्ण्य सद्यः सदवशोऽभवत्।
तत्त्वज्ञेन कृतावज्ञः को नामान्तर्न तप्यते ॥१७॥
सशिष्यश्च ततो गत्वा नातिदूरं शिलोच्चयम्।
विविक्तरम्यभूभागमग्निकुण्डं व्यधात्पुरः ॥१८॥
तत्राग्नौ पत्रमेकैकं शिष्याभ्यां साश्रु वीक्षितः।
वाचयित्वा स चिक्षेप श्रावयन्मृगपक्षिणः ॥१९॥
नरवाहनदत्तस्य चरितं शिष्ययोः कृते।
ग्रन्थलक्षं कथामेकां वर्जयित्वा तदीप्सिताम् ॥२०॥
तस्मिंश्च तां कथां दिव्यां पठत्यपि दहत्यपि।
परित्यक्ततृणाहारा शृण्वन्तः साश्रुलोचनाः ॥२१॥
आसन्नभ्येत्य तत्रैव निश्चलाः बद्धमण्डलाः।
निखिलाः खलु सारङ्गवराहमहिषादयः ॥२२॥
अत्रान्तरे च राजाभूदस्वस्थः सातवाहनः।
दोषं चास्यावदन् वैद्याः शुष्कमांसोपभोगजम् ॥२३॥

तदनन्तर गुणदेव और नन्दिदेव नामक गुणाढ्य के दो शिष्यों ने गुरु गुणाढ्य से कहा ॥९॥

इस काव्य के समर्पण का एकमात्र स्थान राजा सातवाहन है। वह रसिक है। वह, फूलों की सुगन्ध को वायु जिस प्रकार फैला देती है उसी प्रकार इसका प्रसार और प्रचार कर सकता है ॥१ ॥

'यही ठीक है'—ऐसा कहकर गुणाढ्य ने पुस्तक देकर उन दोनों गुणी शिष्यों को राजा सातवाहन के पास भेज दिया ॥११॥

और स्वयं प्रतिष्ठान-नगर के बाहर देवी-उद्यान में मिलने का संकेत करके ठहर गया ॥१२॥

गुणाढ्य के दोनों शिष्यों ने राजा सातवाहन के पास जाकर 'यह गुणाढ्य की रचना है' ऐसा कहकर वह उत्तम काव्य दिखाया ॥१३॥

उस पिशाच-भाषा को सुनकर और उन दोनों शिष्यों को पिशाचाकार देखकर विद्या-मदान्ध राजा ने द्वेष के साथ कहा—सात लाख छन्द नीरस पिशाच-भाषा और रक्त से अक्षरों का लेखन—ऐसी इस पिशाच-कथा को धिक्कार है! ॥१४ १५॥

तब उन शिष्यों ने पुस्तक ले आकर, जो कुछ हुआ था सब उस गुणाढ्य को सुना दिया ॥१६॥

यह सब सुनकर गुणाढ्य को अत्यन्त खेद हुआ। तत्त्वज्ञ गुणग्राही व्यक्ति के द्वारा अपमान होने पर किसका हृदय संतप्त नहीं होता ॥१७॥

गुणाढ्य भी शिष्यों को साथ लेकर समीपवर्ती पर्वत पर चला गया और एक साफ-सुथरे एकान्त स्थान में उसने एक अग्निकुंड बनाया ॥१८॥

गुणाढ्य बृहत्कथा के एक-एक पत्र को पढ़कर और मृग-पक्षियों को सुनाकर उसे आग में जला देता था। शिष्य आँखों से आँसू बहाकर उसकी ओर देखते थे ॥१९॥

शिष्यों के अनुरोध से नरवाहनदत्त-चरित नामक एक भाग को उसने बचा लिया जो एक लाख श्लोकों में था ॥२ ॥

जब गुणाढ्य उस दिव्य कथा के एक-एक पत्र को पढ़ रहा और जला रहा था उस समय जंगल के सभी पशु-हिरन, सूअर, भैंसे आदि—सुख में निमग्न होकर और घास चरना छोड़ कर आँसू बहाते हुए कथा को सुन रहे थे ॥२१-२२॥

इसी बीच राजा सातवाहन अस्वस्थ हो गया। वैद्यों ने बताया कि इसका कारण सूखे मांस का भोजन है ॥२३॥

आक्षिप्तास्तन्निमित्तं च सूपकारा बभाषिरे।
अस्माकमीदृशं मांसं ददते लुब्धका इति ॥२४॥
पृष्टाश्च लुब्धका ऊचुर्नातिदूरे गिरावितः।
पठित्वा पत्त्रमेकैकं कोऽप्यग्नौ क्षिपति द्विजः ॥२५॥
तत्समेत्य निराहाराः शृण्वन्ति प्राणिनोऽखिलाः।
नान्यतो यान्ति तेनैषां शुष्कं मांसमिदं क्षुधा ॥२६॥
इति व्याधवचः श्रुत्वा कृत्वा तानेव चाग्रतः।
स्वयं स कौतुकाद्राजा गुणाढ्यस्यान्तिकं ययौ ॥२७॥
ददर्श तं समाकीर्णं जटाभिर्वनवासतः।
प्रशान्तशेषशापाग्निधूमिकाभिरिवाभितः ॥२८॥
अथैनं प्रत्यभिज्ञाय सबाष्पमुपगम्य च।
नमस्कृत्य च पप्रच्छ तं वृत्तान्तं महीपतिः ॥२९॥
सोऽपि स्वं पुष्पदन्तस्य राज्ञे शापादिचेष्टितम्।
ज्ञानी कथावतारं तं समाचख्यौ भूतभाषया ॥३०॥
ततो गणावतारं तं मत्वा पादानतो नृपः।
ययाचे तां कथां तस्माद्दिव्यां हरमुखोद्गताम् ॥३१॥
अथोवाच स तं भूपं गुणाढ्यः सातवाहनम्।
राजन् षड्ग्रन्थलक्षाणि मया दग्धानि षट् कथाः ॥३२॥
लक्षमेकमिदं त्वस्ति कथैका सैव गृह्यताम्।
मच्छिष्यौ तव चात्रैतौ व्याख्यातारौ भविष्यतः ॥३३॥
इत्युक्त्वा नृपमामन्त्र्य त्यक्त्वा योगेन तां तनुम्।
गुणाढ्यः शापनिर्मुक्तः प्राप दिव्यं निजं पदम् ॥३४॥
अथ तां गुणाढ्यदत्तामादाय कथां बृहत्कथां नाम्ना।
नृपतिरगान्निजनगरं नरवाहनदत्तचरितमयीम् ॥३५॥
गुणदेवनन्दिदेवौ तत्र च तौ तत्कथाकवेः शिष्यौ।
क्षिति-कनक-वस्त्र-वाहन-भवन-धनैः संविभेजे सः ॥३६॥
ताभ्यां सह च कथां तामाश्वास्य स सातवाहनस्तस्याः।
तद्भाषयावतारं वक्तुं चक्रे कथापीठम् ॥३७॥
सा च चित्ररसनिर्भरा कथा विस्मृतामरकथा कुतूहलात्।
तद्विधाय नगरे निरन्तरां ख्यातिमत्र भुवनत्रये गता ॥३८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथापीठलम्बके अष्टमस्तरङ्गः।

समाप्तश्चायं कथापीठलम्बकः प्रथमः।

राजा को सूखा मांस खिलाने के लिए डाँटे गये रसोइयों ने कहा कि इसमें हमारा क्या अपराध है? बहेलिये जैसा मांस लाते हैं वही हम पकाते हैं ॥२४॥

शिकारी बहेलियों ने पूछने पर कहा कि यहाँ से समीप ही एक पहाड़ की चोटी पर कोई ब्राह्मण एक-एक पत्र पढ़कर अग्नि में फेंक रहा है ॥२५॥

इसलिए जंगल के समस्त प्राणी एकत्र होकर और निराहार रहकर उसे सुनते हैं। कहीं चरने के लिए नहीं जाते इसीलिए उनका मांस सूख गया है ॥२६॥

राजा व्याधों के इस प्रकार के वचन सुनकर और उन्हें ही आगे करके अत्यन्त कौतूहल के साथ गुणाढ्य के पास गया ॥२७॥

राजा ने वनवास के कारण बढ़ी हुई जटाओं से आवृत गुणाढ्य को इस प्रकार देखा मानों अवशेष शाप-रूपी अग्नि की पतली धूम-रेखाएँ लटक रही हैं ॥२८॥

आँसू बहाते हुए मृग-पक्षियों के मध्य बैठे हुए गुणाढ्य को पहचानकर राजा ने नमस्कार किया और सब समाचार पूछा। गुणाढ्य द्वारा बृहत्कथा का वृत्तान्त सुनकर और गुणाढ्य को माल्यवान् नामक शिव गण का अवतार जानकर राजा पैरों पर गिर पड़ा और उसने शिवजी के मुख से निकली हुई वह दिव्य कथा उससे माँगी ॥३०-३१॥

गुणाढ्य ने राजा सातवाहन से कहा—'राजन् छह लाख श्लोकों में लिखी गई छह कथाएँ मैंने जला दीं' ॥३२॥

एक लाख श्लोक की एक कथा यह बची है—इसे ले लो। मेरे ये दोनों शिष्य इस कथा के व्याख्याता होंगे ॥३३॥

ऐसा कहकर और योग-समाधि द्वारा अपने मानव-शरीर का त्याग कर शाप-मुक्त गुणाढ्य ने अपने पूर्व पद को प्राप्त किया ॥३४॥

तदनन्तर राजा सातवाहन गुणाढ्य द्वारा दी गई नरवाहनदत्त-चरितमयी बृहत्कथा नामक वह कथा प्रसन्नतापूर्वक लेकर अपने नगर में आया ॥३८॥

राजा ने नगर में आकर, गुणाढ्य के शिष्य गुणदेव और नन्दिदेव को भूमि धन वस्त्र वाहन भवन धन आदि देकर उनकी सेवा की ॥३९॥

राजा सातवाहन ने उन दोनों शिष्यों की सहायता से उस कथा के प्रचार के लिए उसका देव-भाषा में अनुवाद कराकर कथापीठ की रचना की ॥४ ॥

विचित्र रसों से परिपूर्ण एवं देव-कथाओं को भुला देनेवाली यह कथा नगर में निरन्तर प्रसिद्ध होती हुई क्रमशः सारे भूमंडल में प्रसिद्ध हो गई ॥४१॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचित कथासरित्सागर के कथापीठ लम्बक का अष्टम तरंग समाप्त

कथासरित्सागर का प्रथम लंबक समाप्त

कथामुखं नाम द्वितीयो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम् ।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते ॥

प्रथमस्तरङ्गः

सहस्रानीककथा

गौरीनवपरिष्वङ्गे विभोः स्वेदाम्बु पातु वः ।
नेत्राग्निभीत्या कामेन वारुणास्त्रमिवाहितम् ॥१॥

कैलासे धूर्जटेर्वक्त्रात्पुष्पदन्तो गणोत्तमम् ।
तस्माद् वररुचीभूतात् काणभूतिश्च भूतले ॥२॥

काणभूतेर्गुणाढ्यश्च गुणाढ्यात्सातवाहनम् ।
यत्प्राप्तं शृणुतैतत् तत् विद्याधरकथाद्भुतम् ॥३॥

अस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पोपशान्तये ।
स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इव क्षितौ ॥४॥

कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी ।
लक्ष्मीविलासवसतिर्भूतलस्येव कर्णिका ॥५॥

तस्यां राजा शतानीकः पाण्डवान्वयसम्भवः ।
जनमेजयपुत्रोऽभूत्पौत्रो राज्ञः परीक्षितः ॥६॥

अभिमन्युप्रपौत्रश्च यस्यादिपुरुषोऽर्जुनः ।
त्रिपुरारिभुजस्तम्भदृष्टदोर्दण्डविक्रमः ॥७॥

[illegible] भूरभूत्तस्य राज्ञी विष्णुमती तथा ।
एका रत्नानि सुषुवे न तावदपरा सुतम् ॥८॥

कथामुख नामक द्वितीय लम्बक

(मङ्गल-श्लोक का अब ग्रन्थारम्भ के प्रथम पृष्ठ पर रखना चाहिए)

प्रथम तरंग

राजा सहस्रानीक की कथा

पार्वती के प्रथम आलिंगन के समय उत्पन्न शिवजी के स्वेद-कण आपकी रक्षा करें, जो स्वेद-कण ऐसे मालूम होते हैं मानों कामदेव ने शिवजी के नेत्र की अग्नि के भय से उनपर वारुणास्त्र फेंका हो[1] ॥१॥

कैलाश में शिवजी के मुख से पुष्पदन्त गण को, पृथ्वी पर वररुचि के रूप में अवतीर्ण पुष्पदन्त से काणभूति को, काणभूति से गुणाढ्य को और गुणाढ्य से राजा सातवाहन को क्रमशः प्राप्त इस विद्याधर-कथा[2] रूपी अमृत को सुनिए ॥२-३॥

स्वर्ग के अभिमान को दूर करने के लिए विधाता द्वारा शची के समान पृथ्वी पर निर्माण किया गया वत्स नामक देश है ॥४॥

उस देश के मध्यभाग में अत्यन्त समृद्ध कौशाम्बी नाम की नगरी भूमि की कर्णिका (कर्णभूषण) के समान है ॥५॥

उस नगरी मे पाण्डव-वंश में उत्पन्न शतानीक नामक राजा राज्य करता था, जो जनमेजय का पुत्र, परीक्षित का पौत्र और अभिमन्यु का प्रपौत्र था। इस वंश का आदि पुरुष अर्जुन था जिसने शिवजी के स्तम्भ के समान बाहुदंडों का पराक्रम देखा था ॥६-७॥

उस शतानीक की दो रानियाँ थी। एक (पृथ्वी) रत्नों को उत्पन्न करती थी, किन्तु दूसरी ने पुत्र को उत्पन्न नही किया ॥८॥

---

१ शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि-ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया था। अतः पुनः उनके दर्शन के समय उसने आग बुझाने के लिए अग्नि-विरोधी वारुणास्त्र का रखना आवश्यक समझा हो, सम्भव है। नववधू के नव समागम में स्वेद का अधिक मात्रा में होना स्वाभाविक है। अतः कवि ने उस पर असम्भव वारुणास्त्र की सुन्दर उत्प्रेक्षा की है।

२ प्रसिद्ध और प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा कही गई बातें आदरणीय होती हैं, ऐसी शिष्ट-परम्परा है। उसी के अनुसार इस विद्याधर-कथा की प्रामाणिकता के लिए गुणाढ्य ने उसकी महत्त्वपूर्ण परम्परा की सूचना दी है कि यह कथा मेरी कल्पित नहीं, प्रत्युत इसका उद्गम भगवान् शिव के मुख से हुआ है।—अनु

कथामुखं नाम द्वितीयो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

सहस्रानीककथा

गौरीनवपरिष्वङ्गे विभोः स्वेदाम्बु पातु वः।
नेत्राग्निभीरया कामेन वारुणास्त्रमिवाहितम्॥१॥

कैलासे धूर्जटेर्वक्त्रात्पुष्पदन्तं गणोत्तमम्।
तस्माद् वररुचीभूतात् काणभूतिं च भूतले॥२॥

काणभूतेर्गुणाढ्यं च गुणाढ्यात्सातवाहनम्।
यत्प्राप्तं शृणुतेदं तद् विद्याधरकथाद्भुतम्॥३॥

अस्ति वत्स इति ख्यातो देशो दर्पोपशान्तये।
स्वर्गस्य निर्मितो धात्रा प्रतिमल्ल इव क्षितौ॥४॥

कौशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी।
लक्ष्मीविलासवसतिर्भूतलस्येव कर्णिका॥५॥

तस्यां राजा शतानीकः पाण्डवान्वयसम्भवः।
जनमेजयपुत्रोऽभूत्पौत्रो राज्ञः परीक्षितः॥६॥

अभिमन्युप्रपौत्रश्च यस्यादिपुरुषोऽर्जुनः।
त्रिपुरारिभुजस्तम्भस्पृष्टदोर्दण्डविक्रमः॥७॥

कलत्रं भूरभूत्तस्य राज्ञी विष्णुमती तथा।
एका रत्नानि सुषुवे न तावदपरा सुतम्॥८॥

कथामुख नामक द्वितीय लम्बक

(मङ्गल-श्लोक का अर्थ ग्रन्थारम्भ के प्रथम पृष्ठ पर देखना चाहिए)

प्रथम तरंग

राजा सहस्रानीक की कथा

पार्वती के प्रथम आलिङ्गन के समय उत्पन्न शिवजी के स्वेद-कण आपकी रक्षा करें जो स्वेद-कण ऐसे मालूम होते हैं मानो कामदेव ने शिवजी के नेत्र की अग्नि के भय से उनपर वारुणास्त्र छोड़ा हो[1] ॥१॥

कैलाश में शिवजी के मुख से पुष्पदन्त गण को, पृथ्वी पर वररुचि के रूप में अवतीर्ण पुष्पदन्त से काणभूति को, काणभूति से गुणाढ्य को और गुणाढ्य से राजा सातवाहन को क्रमशः प्राप्त इस विद्याधर-कथा[2] रूपी अमृत को सुनिए ॥२-३॥

स्वर्ग के अभिमान को दूर करने के लिए विधाता द्वारा उसी के समान पृथ्वी पर निर्मित किया गया वत्स नामक देश है ॥४॥

उस देश के मध्यभाग में अत्यन्त समृद्ध कौशाम्बी नाम की नगरी भूमि की कर्णिका (कर्णभूषण) के समान है ॥५॥

उस नगरी में पाण्डव-वंश में उत्पन्न शतानीक नामक राजा राज्य करता था जो जनमेजय का पुत्र, परीक्षित का पौत्र और अभिमन्यु का प्रपौत्र था। इस वंश का आदि पुरुष अर्जुन था जिसने शिवजी के स्तम्भ के समान बाहुदण्डों का पराक्रम देखा था ॥६-७॥

उस शतानीक की दो रानियाँ थीं। एक (पृथ्वी) रत्नों को उत्पन्न करती थी किन्तु दूसरी ने पुत्र को उत्पन्न नहीं किया ॥८॥

---

१ शिवजी के तृतीय नेत्र की अग्नि-ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया था। अतः पुनः उनके संयम के समय उसने आग बुझाने के लिए अग्नि-विरोधी वारुणास्त्र का रखना आवश्यक समझा जो असम्भव है। नववधू के नव समागम में स्वेद का अधिक मात्रा में होना स्वाभाविक है। अतः कवि ने उस पर असम्भव वारुणास्त्र की सुन्दर उत्प्रेक्षा की है।

२ प्रत्येय और प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा कही गई बातें आदरणीय होती हैं ऐसी शिष्ट-परम्परा है। इसी के अनुसार इस विद्याधर-कथा की प्रामाणिकता के लिए गुणाढ्य ने उसकी महत्त्वपूर्ण परम्परा की सूचना दी है कि यह कथा मेरी कल्पित नहीं प्रत्युत इसका उद्गम भगवान् शिव के मुख से हुआ है।—अनु

एक बार शिकार खेलने के सिलसिले में उस राजा का वन में शांडिल्य मुनि के साथ परिचय हुआ ॥९॥

शांडिल्य मुनि ने कौशाम्बी में आकर पुत्र की इच्छावाले राजा की रानी को मन्त्र से पवित्र चरु[1] खिलाया ॥१ ॥

शांडिल्य मुनि की कृपा से शतानीक को सहस्रानीक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ उससे पिता ऐसा शोभित हुआ जैसे विनय से गुण शोभित होता है ॥११॥

क्रमशः शतानीक सहस्रानीक को युवराज बनाकर, केवल राज्यसुख भोगने के लिए राजा रह गया। राज्यकार्य की चिन्ता से मुक्त हो गया था ॥१२॥

कुछ समय के अनन्तर असुरों के साथ युद्ध प्रारम्भ होने पर इन्द्र ने सहायता की इच्छा से उसके लिए अपने सारथी मातलि को दूत बनाकर भेजा ॥१३॥

तब शतानीक राज्य-शासन का समस्त भार युगन्धर नाम के मुख्यमंत्री सुप्रतीक नामक प्रधान सेनापति तथा युवराज सहस्रानीक पर देकर मातलि के साथ इन्द्र के समीप गया ॥१४ १५॥

इन्द्र के देखते-देखते यमदंष्ट्र आदि बहुत-से असुरों को उस युद्ध में मारकर वह राजा शतानीक स्वयं भी मर गया ॥१६॥

मातलि द्वारा उसका शव राजधानी में ले आने पर महारानी उसके साथ सती हो गई और राजलक्ष्मी ने उसके पुत्र सहस्रानीक का आश्रय लिया। (अर्थात् सहस्रानीक राजा बन गया) ॥१७॥

आश्चर्य है कि सहस्रानीक के पिता के सिंहासन पर बैठते ही भार से राजाओं के सिर झुक गये अर्थात् सिंहासन को नम्र होना चाहिए, किन्तु राजाओं के सिर नम्र हो गये यह आश्चर्य है! ॥१८॥

असुर-विजय के उपलक्ष में किये गये उत्सव के समय इन्द्र ने अपने मित्र के पुत्र सहस्रानीक को मातलि द्वारा (रथ भेजकर) स्वर्ग में बुलवाया ॥१९॥

स्वर्ग में रहते हुए सहस्रानीक प्रियतमाओं के साथ नन्दन-वन में विहार करते हुए देवताओं को देखकर, अपने लिए अनुरूप पत्नी की चाह में कुछ शोकयुक्त-सा हो गया ॥२ ॥

इन्द्र ने राजा शतानीक के मनोभाव को समझकर कहा—'राजन्! शोक न करो तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी ॥२१॥

राजन्! तुम्हारे पूर्वजन्म की भार्या जो तुम्हारे अनुरूप है पृथ्वी पर जन्म ले चुकी है। इस वृत्तान्त को कहता हूँ सुनो' ॥२२॥

रानी मृगावती के विवाह की कथा

प्राचीन समय में पितामह (ब्रह्मा) का दर्शन करने के लिए मैं उनकी सभा में गया था। मेरे ही पीछे विधूम नाम का एक वसु भी सभा में आ गया ॥२३॥

---

[1] चावल, चीनी और दूध मिला हुआ हवन-द्रव्य।

स्थितेष्वस्मासु तत्रैव विरिञ्चि द्रष्टुमप्सरा ।
आगादलम्बुषा नाम वातविस्रंसितांशुका ॥२४॥
तां दृष्ट्वैव स कामस्य वश वसुरुपागमत् ।
साप्यप्सरा ह्रीगिरयामीसद्रूपाकृष्टलोचना ॥२५॥
तदालोक्य ममापश्यन्मुख कमलसम्भव ।
अभिप्राय विदित्वास्य तावह शप्तवान् रुषा ॥२६॥
मर्त्यलोकेऽवतारोऽस्तु युवयोरविनीतयो ।
भविष्यथश्च तत्रैव युवा भार्यापती इति ॥२७॥
स वसुस्त्व समुत्पन्न सहस्रानीकभूपते ।
शतानीकस्य तनयो भूषण शशिन कुले ॥२८॥
साप्यप्सरा अयोध्याया कृतवर्मनृपात्मजा ।
जाता मृगावती नाम सा ते भार्या भविष्यति ॥२९॥
इतीन्द्रवाक्यपवनैरुद्भूतो हृदि भूपते ।
सस्नेहे तस्य झगिति प्राज्वलन्मदनानल ॥३ ॥
तत सम्मान्य शक्रेण प्रेषितस्तद्रथेन स ।
सह मातलिना राजा प्रतस्थे स्वां पुरीं प्रति ॥३१॥
गच्छन्त चाप्सरा प्रीत्या तमुवाच तिलोत्तमा ।
राजन्वक्ष्यामि ते किञ्चित्प्रतीक्षस्व मनागिति ॥३२॥
तदश्रुत्वैव हि ययौ स तां ध्याय मृगावतीम् ।
तत सा लज्जिता कोपात् शशाप तिलोत्तमा ॥३३॥
यया हृतमना राजन्न शृणोषि वचो मम ।
तस्याश्चतुर्दशसमा वियोगस्ते भविष्यति ॥३४॥
मातलिस्तच्च शुश्राव न च राजा प्रियोत्सुक ।
ययौ रथेन कौशाम्बीमयोध्यां मनसा पुन ॥३५॥
ततो युगन्धरादिभ्यो मन्त्रिभ्यो वासवाच्छ्रुतम् ।
मृगावतीगत सर्व शशंसोत्सुकया धिया ॥३६॥
याचितु तां स कन्यां च तत्पितु कृतवर्मण ।
अयोध्यां प्राहिणोद्दूत वास्त्रोपासहो नृप ॥३७॥
कृतवर्मा च तद्दूताच्छ्रुत्वा सन्देशमभ्यधात् ।
हर्षाद्देव्य कलावत्यै तत साप्यममब्रवीत् ॥३८॥

हमारे वहाँ बैठे रहते ही अलम्बुषा नाम की एक अप्सरा ब्रह्मा के दर्शनार्थ वहाँ आई, उसका वस्त्र वायु से कुछ खिसक गया इधर-उधर हो गया ॥२४॥

उसे देखकर वह विधूम वसु कामातुर हो गया और वह (अलम्बुषा) भी उसके रूप की ओर आँखों के खिंच जाने से स्तब्ध-सी (ठगी-सी) रह गई ॥२५॥

उन दोनों की इस स्थिति को देखकर ब्रह्मा ने मेरी ओर देखा मैंने भी उनके अभिप्राय को समझकर, क्रुद्ध होकर उन दोनों को शाप दिया ॥२६॥

शाप यह दिया कि 'तुम्हारा जन्म मर्त्यलोक में पति-पत्नी के रूप में होगा। इस शाप के कारण है राजन्, तुम चन्द्रवंश में राजा शतानीक के पुत्र हुए और वह अप्सरा अयोध्या के राजा कृतवर्मा की मृगावती नामक कन्या के रूप में अवतीर्ण हुई है। वही तुम्हारी पत्नी होगी ॥२७-२८ २९॥

राजा के स्नेहयुक्त हृदय में पहले से ही सुलगता हुआ मदनानल इन्द्र की बातों से प्रेरित होकर तुरन्त प्रज्वलित हो उठा ॥३ ॥

तदनन्तर इन्द्र के द्वारा भली भाँति स्वागत प्राप्त करके इन्द्र के ही रथ से भेजा गया राजा सहस्रानीक मातलि के साथ अपनी नगरी को लौट आया ॥३१॥

जाते हुए राजा से तिलोत्तमा नाम की अप्सरा ने प्रेमपूर्वक कहा—हे राजन्! जरा ठहरो मैं तुमसे कुछ कहूँगी' ॥३२॥

मृगावती के ध्यान में निमग्न राजा ने तिलोत्तमा का वचन नहीं सुना। इसलिए उसने लज्जित होकर राजा को शाप दिया ॥३३॥

हे राजन्! जिस मृगावती से आकृष्टचित्त होकर तू मेरी बात नहीं सुन रहा है उससे तुझे चौदह वर्षों तक वियोग होगा' ॥३४॥

तिलोत्तमा के शाप को मातलि ने सुना राजा ने नहीं। प्रिया के लिए उत्सुक वह राजा रथ से कौशाम्बी और मन से अयोध्या पहुँचा ॥३५॥

राज्य में पहुँचकर राजा ने मृगावती के सम्बन्ध में इन्द्र से सुना हुआ समस्त वृत्तान्त उत्सुक मन से युगन्धर आदि मन्त्रियों को कह सुनाया ॥३६॥

और विलम्ब को न सहन कर सकनेवाले राजा ने उस कन्या (मृगावती) की मँगनी के लिए अयोध्या में राजा कृतवर्मा के समीप दूत भेजा ॥३७॥

दूत द्वारा सहस्रानीक के सन्देश को सुनकर राजा कृतवर्मा ने हर्ष से वह संवाद अपनी रानी कलावती से कहा ॥३८॥

राजन्सहस्रानीकाय देयावस्य मृगावती ।
इममर्थं च मे स्वप्ने जाने कोऽप्यवदद्द्विजः ॥३९॥
अथ दृष्टो मृगावत्या नृत्तगीतादिकौशलम् ।
रूपं चाप्रतिमं तस्य दूतायादर्शयन्नृप ॥४०॥
ददौ तां च स कान्तानां कलामामेकमास्पदम् ।
कृतवर्मा सुतां तस्मै राज्ञे मूर्तिमिवैन्दवीम् ॥४१॥
परस्परगुणावाप्त्यै स श्रुतप्रज्ञयोरिव ।
अभूत्सहस्रानीकस्य मृगावत्याश्च संगमः ॥४२॥
अथ तस्याचिराद्राज्ञो मन्त्रिणो जज्ञिरे सुताः ।
जज्ञे युगन्धरस्यापि पुत्रो यौगन्धरायणः ॥४३॥
सुप्रतीकस्य पुत्रश्च रुमण्वानित्यजायत ।
योऽन्यो नर्मसुहृत्तस्य पुत्रोऽजनि वसन्तकः ॥४४॥
ततस्तस्यापि दिवसैः सहस्रानीकभूपतेः ।
बभार गर्भमापाण्डुमुखी राज्ञी मृगावती ॥४५॥
ययाचे साथ भर्तारं दर्शनातृप्तलोचनम् ।
दोहदं रुधिरापूर्णलीलावापीनिमज्जनम् ॥४६॥
स चेच्छां पूरयन् राज्या लाक्षादिरसनिर्भराम् ।
चकार धार्मिको राजा वापीं रक्तावृतामिव ॥४७॥
तस्यां स्नान्तीमकस्माच्च लाक्षालिप्तां निपत्य ताम् ।
गरुडान्वयजः पक्षी जहारामिषशङ्कया ॥४८॥
पक्षिणा क्वापि नीतां तामन्वेष्टुमिव तत्क्षणम् ।
ययौ सहस्रानीकस्य धैर्यं विह्वलचेतसः ॥४९॥
प्रियानुरक्तं चेतोऽपि नूनं तस्य पतत्त्रिणा ।
जह्रे यन्न स निःसंज्ञः पपात भुवि भूपतिः ॥५०॥
क्षणाच्च लब्धसंज्ञेऽस्मिन् राज्ञि बुद्ध्वा प्रभावतः ।
अवतीर्य द्युमार्गेण तत्र मातलिराययौ ॥५१॥
स राजानं समाश्वास्य सावधि प्राग्यथा श्रुतम् ।
तस्मै तिलोत्तमाशापं कथयित्वा ततोऽगमत् ॥५२॥
हा प्रिये पूर्णकामा सा जाता पापा तिलोत्तमा ।
इत्यादि च स शोकार्तो विललाप महीपतिः ॥५३॥

रानी ने भी कहा कि 'राजन्! मृगावती को सहस्रानीक के लिए अवश्य देना चाहिए। यह बात स्वप्न में मुझे किसी ब्राह्मण ने कही है ऐसा मालूम होता है' ॥३९॥

रानी की सम्मति प्राप्त कर प्रसन्नचित्त राजा ने दूत को मृगावती का मांगना माना तथा उसका अप्रतिम रूप दिखाया ॥४० ॥

अनुकूल समय में राजा कृतवर्मा ने कमनीय ललित कलाओं की एकमात्र आधार चन्द्रमा की मूर्तिमयी प्रतिमा के समान सुन्दरी उस कन्या मृगावती को विधिपूर्वक राजा शतानीक के लिए दे दिया ॥४१॥

जिस प्रकार शास्त्र और बुद्धि का संगम परस्पर आदान-प्रदान के लिए होता है उसी प्रकार सहस्रानीक और मृगावती का समागम भी परस्पर गुणों के आदान-प्रदान के लिए हुआ ॥४२॥

कुछ समय के अनन्तर राजा के मन्त्रियों के पुत्र उत्पन्न हुए। प्रधान मंत्री युगन्धर का पुत्र यौगन्धरायण सेनापति सुप्रतीक का पुत्र रुमण्वान् और राजा के नर्म सचिव (विदूषक) का पुत्र वसन्तक नामक हुआ ॥४३-४४॥

कुछ दिनों के अनन्तर राजा सहस्रानीक की पीन मुखवाली पत्नी मृगावती ने भी गर्भ धारण किया ॥४५॥

गर्भ-धारण के अनन्तर रानी ने रुधिर से भरी हुई क्रीड़ा-वापी में गोता लगाने की इच्छा उस राजा से प्रकट की जिस (राजा को) देखते-देखते उसकी आँखें तृप्त नहीं होती थी ॥४६॥

धार्मिक राजा सहस्रानीक ने रानी की इच्छा-पूर्ति के लिए लाख आदि लाल वस्तुओं के लाल रस से भरी बावली बनवाई जो रक्त से भरी मालूम होती थी ॥४७॥

उस लाल वापी में स्नान करती हुई लाल लाल के रस से लिपटी हुई रानी को देखकर गरुड़-वंश के किसी पक्षी[1] ने मांसपिंड समझकर उठा लिया ॥४८॥

गरुड़वंशीय पक्षी द्वारा उठाकर ले जाई गई रानी को ढूंढ़ने के लिए व्याकुलचित्त राजा सहस्रानीक का धैर्य नष्ट हो गया ॥४९॥

उस पक्षी ने केवल रानी को ही नहीं रानी के प्रति अनुरक्त राजा के चित्त का भी हरण कर लिया। इसी कारण राजा मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गया ॥५० ॥

कुछ समय के अनन्तर राजा के सचेत होने पर अपने प्रभाव से स्थिति को समझकर मातलि आकाश-मार्ग से उतरकर राजा के पास आया ॥५१॥

मातलि ने राजा को आश्वासन देते हुए पूर्व समय में तिलोत्तमा द्वारा दिये गए शाप का वृत्तान्त और चौदह वर्ष की अवधि का समाचार सुनाया। राजा के कुछ स्वस्थ होने पर मातलि पुनः स्वर्ग को चला गया ॥५२॥

'हा प्रिये अब उस पापिन तिलोत्तमा का मनोरथ पूर्ण हो गया'—इस प्रकार शोक-विह्वल राजा विलाप करता रहा ॥५३॥

---

१ अरेबियन नाइट्स में सिन्दबाद जहाजी की कहानी में ऐसे पक्षी का वर्णन आता है। कुछ लोग इसे कल्पित पक्षी मानते हैं। पर्वतों में ऐसे पक्षी दीखते हैं; जो बड़े-बड़े सांपों और पशुओं के बच्चों को उठा ले जाते हैं।—अनु

विज्ञाततत्प्रवृत्तान्तो बोधितश्च स मन्त्रिभिः ।
कथञ्चिज्जीवितं दध्रे पुनः सङ्गमवाञ्छया ॥५४॥
तां च राज्ञीं स पक्षीन्द्रः क्षणान्नीत्वा मृगावतीम् ।
जीवन्तीं वीक्ष्य तत्याज दैवादुदयपर्वते ॥५५॥
त्यक्त्वा तस्मिन्गते चाथ राज्ञी शोकभयाकुला ।
ददर्शानाथमात्मानं दुर्गमाद्रितटस्थितम् ॥५६॥
एकाकिनीमेकवस्त्रां क्रन्दन्तीमथ तां वने ।
ग्रासीकर्तुं प्रवृत्तोऽभूदुत्थायाजगरो महान् ॥५७॥
निहत्याजगरं तं च शुभोदर्कां समं च सा ।
दिव्येन मोचिता पुंसा दृष्टनष्टेन केनचित् ॥५८॥
ततो वनगजस्याग्रे सा स्वयं मरणार्थिनी ।
आत्मानमक्षिपत्सोऽपि ररक्ष दययेव ताम् ॥५९॥
चित्रं यच्छ्वापदोऽप्यन्तां पतितामपि गोचरे ।
नावधीत्प्रथवा किं हि न भवेदीश्वरेच्छया ॥६ ॥
अथ प्रपाताभिमुखी बाला गर्भभरालसा ।
स्मरन्ती तं च भर्तारं मुक्तकण्ठं रुरोद सा ॥६१॥
तच्छ्रुत्वा मुनिपुत्रोऽत्र तत्रैकस्तां समाययौ ।
आगतः फलमूलार्थं शुचं मूर्तिमतीमिव ॥६२॥
स च पृष्ट्वा यथावृत्तमाश्वास्य च कथञ्चन ।
जमदग्न्याश्रमं राज्ञीं निनायैनां दयार्द्रधीः ॥६३॥
तत्र मूर्तमिवाद्राक्षं जमदग्निं ददर्श सा ।
तेजसा स्थिरतालाभं कुर्वाणमुदयाचलम् ॥६४॥
सोऽपि तां पादपतितां मुनिराश्रितवत्सलः ।
राज्ञीं वियोगदुःखार्तां दिव्यदृष्टिरभाषत ॥६५॥
इह ते जनिता पुत्रि ! पुत्रो वंशधरः पितुः ।
भविष्यति च भर्त्रा ते सङ्गमो मा शुचं कृथाः ॥६६॥
इत्युक्त्वा मुनिना साध्वी सा जग्राह मृगावती ।
आश्रमेऽत्रस्थितिं तस्मिन्नाशां च प्रियसङ्गमे ॥६७॥

उदयनजन्मकथा

ततश्च स्थितगर्भात्र दशापनीयमनिन्दिता ।
सद्गुणैर्निरपायारं पुत्ररत्नमसूत सा ॥६८॥

तिलोत्तमा के शाप का समाचार जानता हुआ और मन्त्रियों द्वारा समझाया-बुझाया गया राजा किसी प्रकार आश्वस्त हुआ ॥५४॥

उधर वह पक्षिराज भी रानी को उड़ाकर ले गया किन्तु जीवित देखकर उसने उदय पर्वत पर उसे (रानी को) छोड़ दिया ॥५५॥

छोड़कर पक्षी के चले जाने पर, शोक और भय से व्याकुल रानी ने दुर्गम पर्वत पर अपने को अनाथ पाया ॥५६॥

अनन्तर एक वस्त्र पहने हुई जंगल में रोती हुई उस एकाकिनी रानी को खाने के लिए एक भारी अजगर तैयार हुआ ॥५७॥

सहसा दिखकर अन्तर्हित हुए किसी दिव्य पुरुष ने अजगर को मारकर उस शुभ भविष्य-वाली रानी की रक्षा की ॥५८॥

रानी ने दुःख के कारण स्वयं मरने की इच्छा से जंगली हाथी के सामने अपना शरीर फेंक दिया (अपने को डाल दिया) किन्तु मानों दया से उसने भी रानी की रक्षा की ॥५९॥

आँखों के सामने पड़ी हुई रानी को हिंस्र जन्तु (हाथी) ने नहीं मारा यह आश्चर्य है ! ईश्वर की इच्छा से क्या नहीं हो सकता ॥६०॥

इसके अनन्तर गर्भभार से अलसाती हुई और पतन (गिरकर प्राण देने) के लिए तैयार वह कोमल बालिका फूट-फूटकर रोने लगी ॥६१॥

उसके करुण क्रन्दन को सुनकर फल-मूल संग्रह करते हुए एक मुनिपुत्र ने मूर्तिमती शोक-रेखा के समान उस रानी को देखा ॥६२॥

दयालु मुनिकुमार रानी से सब वृत्तान्त सुनकर और उसे किसी प्रकार धीरज बँधाकर, जमदग्नि ऋषि के आश्रम में ले गया ॥६३॥

वहाँ पर उसने मूर्तिमान् आश्वासन के समान तेज से उदयाचल पर मानों बालार्क को स्थिर करते हुए जमदग्नि को देखा ॥६४॥

शरणागतों पर दया करनेवाले दिव्यदृष्टि ऋषि ने पैरों पर पड़ी हुई एवं वियोग-दुःख से पीड़ित रानी को कहा—'बेटी ! अपने पिता के वंश को चलानेवाला तेरा पुत्र इसी आश्रम में उत्पन्न होगा और पति के साथ तेरा समागम भी होगा। अब शोक मत करो' ॥६५ ६६॥

जमदग्नि मुनि द्वारा इस प्रकार आश्वस्त पतिव्रता मृगावती ने प्रिय पति के समागम की आशा के साथ-साथ उस आश्रम में निवास स्वीकार किया ॥६७॥

उदयन के जन्म की कथा

कुछ दिनों के बीतने पर सदाचारिणी मृगावती ने सत्संगति सदाचार के समान अनेक गुणों से युक्त पुत्ररत्न उत्पन्न किया ॥६८॥

---

१ उस पर्वत पर मुनि अपने तेजस्वी प्रभामण्डल से उदीयमान सूर्य की भाँति चमकते रहते हैं। — अनु

श्रीमानुदयनो नाम्ना राजा जातो महायशाः ।
भविष्यति च पुत्रोऽस्य सर्वविद्याधराधिपः ॥६९॥
इत्यन्तरिक्षादुदभूत्तस्मिन्काले सरस्वती ।
आदधाना मृगावत्याश्चित्तविस्मृतमुत्सवम् ॥७०॥
क्रमादुदयनः सोऽथ बालस्तस्मिंस्तपोवने ।
अवर्धत निजैः सार्धं वयस्यैरिव सद्गुणैः ॥७१॥
कृत्वा क्षत्रोचितान् सर्वान्संस्कारानाश्रमाग्निना ।
व्यनीयत स विद्यासु धनुर्वेदे च धीमान् ॥७२॥
कृष्ट्वा च स्वकरान्माता तस्य स्नेहान्मृगावती ।
सहस्रानीकनामाङ्कं चकार कटकं करे ॥७३॥
हरिणात्कटके जातु भ्राम्यन्नुदयनोऽथ सः ।
शबरेण हठाक्रान्तमटव्यां सर्पमैक्षत ॥७४॥
सदयः सुन्दरे तस्मिन्सर्पे स शबरं च सः ।
उवाच मुच्यतामेष सर्पो मद्वचनादिति ॥७५॥
ततः स शबरोऽवादीज्जीविकेयं मम प्रभो ।
कृपणोऽहं हि जीवामि भुजगान् दर्शयन् सदा ॥७६॥
विपन्ने पन्नगे पूर्वं मन्त्रौषधिबलादयम् ।
बद्धश्चैष मया लब्धश्चिन्वतैतां महाटवीम् ॥७७॥
श्रुत्वेत्युदयनस्त्यागी दत्त्वास्मै शबराय तम् ।
कटकं जननीदत्तं स तं सर्पममोचयत् ॥७८॥
गृहीतकटके याते शबरे पुरतो गतिम् ।
कृत्वा स भुजगः प्रीतो जगादोदयनं तदा ॥७९॥
वसुनेमिरिति ख्यातो ज्येष्ठो भ्रातास्मि वासुकेः ।
इमां वीणां गृहाण त्वं मत्तः संरक्षितस्त्वया ॥८ ॥
तन्त्रीनिर्घोषरम्यां च श्रुतिभागविभाजिताम् ।
ताम्बूलीश्च सहाम्लानमालातिलकयुक्तिभिः ॥८१॥
तद्युक्तो जमदग्नेस्तु नागोत्क्षिप्तः स चाश्रमम् ।
आगादुदयनो मातुर्दृशि वर्षन्निवामृतम् ॥८२॥
अत्रान्तरे स शबरोऽप्यटवीं प्राप्य पर्यटम् ।
आदायोदयनात्प्राप्तं कटकं तद्विपणपथात् ॥८३॥

पुत्र के उत्पन्न होते ही मृगावती के चित्त को आश्चर्य और हर्ष देनेवाली आकाशवाणी हुई—'यह उदयन नाम का महायशस्वी राजा उत्पन्न हुआ है। इस (रानी) का बालक समस्त विद्याधरों का राजा होगा' ॥६९-७ ॥

तब वह बालक उदयन उस तपोवन में अपने साथ उत्पन्न हुए मित्रों के समान सद्गुणों के साथ-साथ बढ़ने लगा ॥७१॥

जमदग्नि ऋषि ने उसके सभी क्षत्रियोचित संस्कार करने के अनन्तर उसे सभी विद्याओं में और धनुर्वेद (शस्त्रविद्या) में शिक्षित किया ॥७२॥

उसकी माता मृगावती ने स्नेह के कारण सहस्रानीक के नाम से अंकित कंकण (हाथ के कड़े) को अपने हाथ से निकालकर उसके हाथ में पहना दिया ॥७३॥

किसी समय हिरन के शिकार के प्रसंग में घूमते हुए उदयन ने जंगल में एक शबर[1] (एक भील) के द्वारा बलपूर्वक पकड़े हुए सर्प को देखा ॥७४॥

उस सुन्दर सर्प पर दयार्द्र होकर उदयन ने किरात (शबर) से कहा—'मेरे कहने से तुम इस साँप को छोड़ दो' ॥७५॥

तब उस जंगली ने कहा—स्वामी यह मेरी जीविका का साधन है। मैं अत्यन्त निर्धन व्यक्ति हूँ। 'साँपों को खेलाता हुआ जीवित रहता हूँ' ॥७६॥

पहले सर्प के मर जाने के कारण मैंने सारे जंगल में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बड़ी कठिनाई और मन्त्र तथा औषधि के बल से इसे पाया और पकड़ा है' ॥७७॥

सँपेरे की बात सुनकर स्वामी उदयन ने माता का दिया हुआ कड़ा सँपेरे को (साँप के बदले में) दे दिया और उसने साँप को छोड़ दिया ॥७८॥

कड़ा लेकर सँपेरे के चले जाने पर प्रसन्न वह सर्प उदयन के सम्मुख मनुष्य-रूप में खड़ा होकर प्रणाम करके कहने लगा ॥७९॥

मैं वसुनेमि नामक नाग वासुकि नाग का बड़ा भाई हूँ तुमने मेरी रक्षा की है अतः सुगम अत्यन्त रमणीय स्वरवाली और श्रुतिमार्गों से विभक्त यह वीणा ग्रहण करो। साथ ही कभी न कुम्हलानेवाली यह माला तथा तिलक-युक्ति के साथ कभी न मुरझानेवाली यह पान की कला भी ग्रहण करो ॥८०-८१॥

उदयन उस वीणा को लिये हुए माता की आँखों में मानों अमृत बरसाते हुए जमदग्नि के आश्रम में आया ॥८२॥

इस बीच वह सँपेरा भी जंगल में घूमता-घामता दैवयोग से उदयन द्वारा प्राप्त उस सुवर्ण कंगन को बाजार में बेचता हुआ पकड़ा गया ॥८३॥

---

१ 'शबर' एक प्रकार की जाति है, जिसे सँपेरा भी कहते हैं।

विक्रीणानश्च तत्र राजनामाङ्कमापणे।
वष्टभ्य राजपुरुषैर्निन्ये राजकुलं च स ॥८४॥
कुतस्त्वयेदं कटकं सम्प्राप्तमिति तत्र सः।
राज्ञा सहस्रानीकेन स्वयं शोकादपृच्छ्यत ॥८५॥
अथोदयाद्रौ सर्पस्य ग्रहणात्प्रभृति स्वकम्।
कटकप्राप्तिवृत्तान्तं शबरः स जगाद तम् ॥८६॥
तद्बुद्ध्वा शबराद्दृष्ट्वा दयितावलयं च तम्।
विचारदोलामारोहत् सहस्रानीकभूपतिः ॥८७॥
क्षीणः शापः स ते राजन्नुदयाद्रौ च सा स्थिता।
जमदग्न्याश्रमे जाया सपुत्रा ते मृगावती ॥८८॥
इति दिव्या तदा वाणी नन्दयामास तं नृपम्।
विप्रयोगनिदाघार्तं वारिधारेव बर्हिणम् ॥८९॥
अथोत्कण्ठादीर्घे कथमपि दिनेऽस्मिन्नवसिते
तमग्राम कृत्वा शबरमपरस्मिन् स नृपतिः।
सहस्रानीकस्तां सरभसमवाप्तुं प्रियतमां।
प्रतस्थे तरसम्यः । सममुदयक्षलायमपदम् ॥९०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथामुखलम्बके
प्रथमस्तरङ्गः।

द्वितीयस्तरङ्ग

गत्वाथ दूरमध्वानं राजा वसतिमग्रहीत्।
दिनं तस्मिंस्स कस्मिंश्चिदरण्यसरसस्तटे ॥१॥
शयनीयगतः श्रान्तस्तत्र सचारसांगतम्।
नाम सङ्गतकं नाम जगाद कथकं नृपः ॥२॥
कथामाख्याहि मे काञ्चिच्चेतदस्य विनोदिनीम्।
मृगावतीमुखाम्भोजदर्शनोत्सवकाङ्क्षिणः ॥३॥
अथ सङ्गतकोऽवादीद्देव[1] किं तप्यसे वृथा।
आगत एव देव्यास्ते क्षीणशापः समागमः ॥४॥
संयोगा विप्रयोगाश्च भवन्ति बहवो नृणाम्।
तथा चात्र कथामेकां कथयामि शृणु प्रभो[1] ॥५॥

उस (कंकण) पर राजा का नाम लिखा होने के कारण सिपाही उसे पकड़कर राजभवन में ले गये ॥८४॥

राजभवन में 'तुमने यह कड़ा कहाँ पाया' इस प्रकार शोक-संतप्त राजा सहस्रानीक ने उस सँपेरे से पूछा ॥८५॥

राजा के पूछने पर सँपेरे भील ने उदय पर्वत पर साँप पकड़ने से लेकर यहाँ तक का सारा वृत्तान्त राजा से कह सुनाया ॥८६॥

भील द्वारा यह समाचार जानकर और पत्नी के उस कंकण को पहचानकर राजा सहस्रानीक विचारों के हिंडोले में झूलने लगा ॥८७॥

'राजन् ! तुम्हारा शाप नष्ट हो गया है। तुम्हारी रानी मृगावती पुत्र के साथ उदय पर्वत पर जमदग्नि के आश्रम में है। इस प्रकार की आकाशवाणी ने वियोग की अग्नि में जलते हुए राजा को इस प्रकार आनन्दित कर दिया जैसे ग्रीष्मकाल की जलधारा मयूर को आनन्दित कर देती है ॥८८-८९॥

तदनन्तर प्रिया-मिलन की उत्कंठा से दीर्घीभूत उस दिन के किसी प्रकार बीतने पर दूसरे दिन प्रातःकाल बेचैन राजा सहस्रानीक प्रियतमा को प्राप्त करने के लिए उसी सँपेरे (भील) को पथ-प्रदर्शक बनाकर अपनी सेनाओं के साथ उदयाचल के आश्रम की ओर चला ॥९ ॥

प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

उस दिन राजा (सहस्रानीक) कुछ दूर रास्ता चलकर किसी जंगली तालाब के किनारे पड़ाव डालकर ठहर गया ॥१॥

उस शिविर में सन्ध्या के समय सेवा के लिए आये हुए संगतक नामक कथा कहने- (कहानी सुनाने) वाले सेवक[१] से राजा ने कहा ॥२॥

मृगावती के मुखकमल का दर्शन करने के लिए उत्सुक मेरे मन को बहलानेवाली कोई कथा (कहानी) सुनाओ ॥३॥

तब संगतक ने कहा—'राजन् ! क्यों व्यर्थ संताप करते हो। शाप के नष्ट होते ही तुम्हारा महारानी के साथ समागम सुनिश्चित है ॥४॥

हे स्वामिन् ! जीवन में मनुष्य को अनेक संयोग और वियोग हुआ करते हैं। इस सम्बन्ध में तुमको मैं एक कहानी सुनाता हूँ सुनो ॥५॥

---

१ प्राचीन समय में राजाओं के यहाँ ऐसे सेवक होते थे जो रात के समय राजाओं के शरीर-पर आदि दबाते हुए मनोरंजक कहानियाँ सुनाते थे ताकि राजा को शीघ्र और अच्छी नींद आ जाय। अनु

श्रीदत्तमृगाङ्कवत्योः कथा

मालवे यज्ञसोमाख्यो द्विजः कश्चिदभूत्पुरा।
तस्य च द्वौ सुतौ साधोर्जायेते स्म जनप्रियौ॥६॥
एकस्तयोरमुष्नाम्ना कालनेमिरिति श्रुतः।
द्वितीयश्चापि विगतभय इत्याख्ययाऽभवत्॥७॥
पितरि स्वर्गते तौ च भ्रातरौ तीर्णशैशवौ।
विद्याप्राप्त्यै प्रययतुः पुरं पाटलिपुत्रकम्॥८॥
तत्रैवोपात्तविद्याभ्यामुपाध्यायो निजे सुते।
देवशर्मा ददौ ताभ्यां मूर्ते विद्ये इवापरे॥९॥
अथ यान्वीक्ष्य तानाढ्यान्गृहस्थानीर्ष्यया श्रियम्।
होमैः स साधयामास कालनेमिः कृतव्रतः॥१०॥
सा च तुष्टा सती साक्षादेवं श्रीस्तमभाषत।
भूरि प्राप्स्यसि वित्तं च पुत्रं च पृथिवीपतिम्॥११॥
किंत्वन्ते चौरसदृशो वधस्तव भविष्यति।
हुतमग्नौ त्वया यस्मात्समपकलुषात्मना॥१२॥
इत्युक्त्वान्तर्दधे लक्ष्मीः कालनेमिरपि क्रमात्।
महाधनोऽभूत्किं चास्य दिनैः पुत्रोऽप्यजायत॥१३॥
श्रीवरादेष सम्प्राप्त इति नाम्ना तमात्मजम्।
श्रीदत्तमकरोत्सोऽपि पिता पूर्णमनोरथः॥१४॥
क्रमात्स वृद्धिं सम्प्राप्य श्रीदत्तो ब्राह्मणोऽपि सन्।
अस्त्रेषु बाहुयुद्धेषु बभूवाप्रतिमो भुवि॥१५॥
कालनेमेरथ भ्राता तीर्थार्थी सर्पभक्षिताम्।
भार्यामुद्दिश्य विगतभयो देशान्तरं ययौ॥१६॥
श्रीदत्तोऽपि गुणज्ञेन राज्ञा वल्लभशक्तिना।
तत्र विक्रमशक्ते स स्वपुत्रस्य कृतः सखा॥१७॥
राजपुत्रेण तेनास्य सहवासाऽभिमानिना।
यास्य दुर्योधनेनेव भीमस्यासीत्तरस्विना॥१८॥
तावतस्याथ मित्रत्वं विप्रस्यावन्तिदेशजौ।
क्षत्रियौ बाहुशाली च वज्रमुष्टिश्च जग्मतुः॥१९॥
बाहुयुद्धजिताश्चान्ये दाक्षिणात्या गुणप्रियाः।
स्वयंवरसुहृत्त्वेन मन्त्रिपुत्रास्तमाश्रयन्॥२०॥

श्रीदत्त और मृगांकवती की कथा

मालव देश में यज्ञसेन नाम का एक ब्राह्मण था। उस सज्जन ब्राह्मण के दो लोकप्रिय पुत्र थे ॥६॥

उनमें एक कालनेमि के नाम से और दूसरा विगतभय नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥७॥

पिता की मृत्यु के पश्चात् वे दोनों भाई बाल्यावस्था के अनन्तर विद्या प्राप्ति के लिए पाटलिपुत्र नगर को गये ॥८॥

वहाँ पर विद्या-प्राप्ति के अनन्तर उनके अध्यापक देवशर्मा ने मूर्तिमती विद्याओं के समान अपनी दो कन्याएँ उन्हें दान दे दीं ॥९॥

विवाह के अनन्तर कालनेमि ने अन्यान्य पड़ोसी गृहस्थों को अपने से अधिक धनवान् और सुखी देखकर ईर्ष्या के कारण होम के द्वारा नियमपूर्वक लक्ष्मी की आराधना प्रारम्भ की ॥१ ॥

उसकी आराधना से प्रसन्न लक्ष्मी ने स्वयं प्रकट होकर प्रसन्नतापूर्वक उससे कहा कि तुम पर्याप्त धन और पृथ्वीपति पुत्र प्राप्त करोगे ॥११॥

किन्तु इतना सब होते हुए भी अन्त में तुम्हारा वध चोरों के समान होगा क्योंकि तुमने अग्नि में जो हवन किया है वह ईर्ष्या से कलुषितचित्त होकर किया है ॥१२॥

ऐसा कहकर लक्ष्मी अन्तर्धान हो गई और कालनेमि भी धीरे-धीरे महाधनी हो गया। कुछ दिनों बाद उसके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ ॥१३॥

श्री (लक्ष्मी) के वरदान से यह पुत्र उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसका नाम श्रीदत्त रखा और पिता का मनोरथ पूर्ण हुआ ॥१४॥

श्रीदत्त ब्राह्मण होने पर भी क्रमशः बड़ा होने पर, अस्त्र-शास्त्र-विद्याओं में एवं मल्लयुद्ध में अद्वितीय हो गया ॥१५॥

कालनेमि का दूसरा भाई विगतभय पत्नी को सर्प के काट लेने के कारण उसकी सद्गति के निमित्त तीर्थयात्रा के लिए दूसरे देश को चला गया ॥१६॥

श्रीदत्त को वीर और धीर जानकर गुणग्राही राजा वल्लभशक्ति ने अपने पुत्र विक्रमशक्ति का मित्र बना दिया ॥१७॥

अत्यन्त अभिमानी राजपुत्र विक्रमशक्ति के साथ श्रीदत्त की मित्रता इस प्रकार हुई जैसे दुर्योधन के साथ भीमसेन की थी ॥१८॥

तदनन्तर अवन्ति-देश में उत्पन्न हुए बाहुशाली और वज्रमुष्टि नामक दो क्षत्रिय श्रीदत्त के मित्र बन गये ॥१९॥

मल्लयुद्ध में जीते हुए अन्यान्य गुणग्राही दक्षिण देशवासी तथा मंत्रियों के पुत्र श्रीदत्त के स्वयं मित्र बन गये ॥२ ॥

महाबलव्याघ्रभटावुपेन्द्रबल इत्यपि ।
तथा निष्ठुरको नाम सौहार्द तस्य चक्रिरे ॥२१॥
कदाचिदथ वर्षासु विहर्तुं जाह्नवीतटे ।
श्रीदत्त सह तैर्मित्र राजपुत्रसखो ययौ ॥२२॥
स्वभृत्यास्तत्र त चक्रुर्निज राजसुत नृपम् ।
श्रीदत्तोऽपि स तत्काल राजा मित्रैरकल्प्यत ॥२३॥
तावता जातरोषेण राजपुत्रेण तेन स ।
विप्रवीरो रणायाशु समाहूतो मदस्पृशा ॥२४॥
स तेन बाहुयुद्धेन श्रीदत्तेनाथ निर्जित ।
चकार हृदि वध्य तु वर्धमान कलङ्कित ॥२५॥
ज्ञात्वा च तमभिप्राय राजपुत्रस्य शङ्कित ।
श्रीदत्त सह तैर्मित्रैस्तत्समीपादपासरत् ॥२६॥
उपसर्पन्स चापश्यद् गङ्गामध्यगतां स्त्रियम् ।
ह्रियमाणां जलौघेन सागरस्यामिव श्रियम् ॥२७॥
ततश्चावततारैतामुद्धर्तुं जलमध्यत ।
पञ्चबाहुशालिप्रमुखान्स्थापयित्वा तटे सखीन् ॥२८॥
तां च केशेष्वपि प्राप्तां निमग्नां दूरमम्भसि ।
अनुसृत्य स्त्रियं सोऽपि वीरस्तत्रैव मग्नवान् ॥२९॥
निमज्ज्य च ददर्शात्र स श्रीदत्त क्षणादिति ।
शैव देवकुल दिव्य न पुनर्वारि न स्त्रियम् ॥३० ॥
तद्दृष्ट्वा महदाश्चर्यश्रान्तो नत्वा वृषध्वजम् ।
उद्याने सुन्दरे तत्र तां निनाय विभावरीम् ॥३१॥
प्रातश्च देवमीशान सा पूजयितुमागता ।
ददृशे तेन मूर्तेव रूपश्री स्त्रीगुणान्विता ॥३२॥
ईश्वर पूजयित्वा च सा ततो निजमन्दिरम् ।
ययाविन्दुमुखी सोऽपि श्रीदत्तोऽनुजगाम ताम् ॥३३॥
ददर्श मन्दिरं तच्च तस्या सुरपुरोपमम् ।
प्रविवेश च सम्भ्रान्ता सावमानेव मानिनी ॥३४॥
साप्यसम्भाषमाणैव तमन्तर्वासवेश्मनि ।
तन्वी न्यषीदत्पर्यङ्के स्त्रीसहस्रोपसेविता ॥३५॥

श्रीदत्तोऽपि स तत्रैव निषसाद तदन्तिके।
अथाकस्मात्प्रववृते तया साध्व्या प्ररोदितम् ॥३६॥
निपेतु स्तनयोस्तस्याः सम्प्राप्ता बाष्पबिन्दवः।
श्रीदत्तस्य च तत्कालं कारुण्यं हृदयं गतम् ॥३७॥
ततः स चैनां पप्रच्छ का त्वं दुःखं च किं तव।
वद सुन्दरि शक्तोऽहं तन्निवारयितुं यतः ॥३८॥
ततः कथञ्चित्सावादीद् वयं वैत्यपतेर्बलेः।
पौत्र्यो दशशतं तासां ज्येष्ठा विद्युत्प्रभास्म्यहम् ॥३९॥
स नः पितामहो नीतो विष्णुना दीर्घबन्धनम्।
पिता च बाहुयुद्धेन हतस्तेनैव शौरिणा ॥४०॥
ते हृत्वा तेन च निजात्पुरान्निर्वासिता वयम्।
प्रवेशरोधकृत्तत्र सिंहश्च स्थापितोऽन्तरे ॥४१॥
आवृत तत्पदं तेन दुःखेन हृदयं च नः।
स च यक्षः कुबेरस्य शापात् सिंहत्वमागतः ॥४२॥
मर्त्याच्चाभिभवस्तस्य शापान्तः कथितः पुरा।
पुरप्रवेशोपायार्थे विज्ञप्तो विष्णुराविशत् ॥४३॥
अतः स शत्रुरस्माकं केसरी जीयतां त्वया।
तदर्थमेव चानीतो मया वीर! भवानिह ॥४४॥
मृगाङ्ककाख्यं खड्गं च जितात्तस्मादवाप्स्यसि।
पृथिवीं यत्प्रभावेण जित्वा राजा भविष्यसि ॥४५॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्यत्र श्रीदत्तोऽस्थात्तद्दिनः।
अन्यद्युर्दैत्यकन्यास्ता कृत्वाग्रे तत्पुरं ययौ ॥४६॥
जिगाय बाहुयुद्धेन तत्र तं सिंहमुद्धतम्।
सोऽपि शापविमुक्तः सन्नभूत् पुरुषाकृतिः ॥४७॥
दत्त्वा चास्मै स खड्गं स्वं तुष्टः शापान्तकारिणे।
सहासुराङ्गनादुःखभारेणादर्शनं ययौ ॥४८॥
सोऽथ सानुजया सार्धं श्रीदत्तो दैत्यकन्यया।
बहिर्गतमिवामन्त्र तद्विविधं पुरोत्तमम् ॥४९॥
अङ्गुलीयं विषघ्नं च तस्मै दैत्यसुता ददौ।
ततः सोऽत्र स्थितस्तस्यां साभिलाषोऽभवद्युवा ॥५० ॥

साथ आया हुआ श्रीदत्त भी उसी पलंग पर उसके साथ ही बैठ गया। इसके उपरान्त उस सती स्त्री ने सहसा रोना प्रारम्भ किया ॥३६॥

उसके उष्ण अश्रुबिन्दु स्तनों पर गिरने लगे इस प्रकार उसका रुदन देखकर श्रीदत्त के हृदय में दया आ गई ॥३७॥

श्रीदत्त ने उससे पूछा—'तुम कौन हो? तुम्हें क्या दुःख है? बताओ सुन्दरि! मैं तुम्हारे दुःख को दूर करने में समर्थ हूँ' ॥३८॥

तब उसने अत्यन्त कठिनता से कहा—'हम दैत्यराज बलि की एक सहस्र पौत्रियाँ हैं जिनमें सबसे बड़ी विद्युत्प्रभा मैं हूँ' ॥३९॥

विष्णु ने मेरे पितामह (दादा) बलि को लम्बे बन्धन में डाल दिया है और हमारे पिता को मल्लयुद्ध में मार डाला ॥४ ॥

मेरे पिता को मारकर उस विष्णु ने हमें अपने नगर से निर्वासित कर दिया। साथ ही नगर में आने की रोक के लिए बीच में एक सिंह को खड़ा कर दिया है ॥४१॥

उस सिंह ने यह स्थान और हमारा हृदय दोनों आक्रान्त कर दिया। यह सिंह एक यक्ष है, जो कुबेर के शाप से सिंह बन गया है ॥४२॥

जब पुर-प्रवेश के लिए हम लोगों ने विष्णु से प्रार्थना की तब उन्होंने इस यक्ष का शाप नष्ट होने की बात कही थी। (मनुष्य द्वारा इस सिंह की हत्या होगी तब इसका शाप नष्ट होगा) ॥४३॥

इसलिए तुम हमारे शत्रु उस सिंह को जीतो या मार डालो। हे वीर! मैं तुम्हें इसीलिए यहाँ लाई हूँ ॥४४॥

उस सिंह को मार डालने पर उससे मृगांक नामक खड्ग भी तुम्हें प्राप्त होगा जिसके प्रभाव से तुम पृथ्वी को जीतकर राजा बनोगे ॥४५॥

ऐसा सुनकर और ठीक है यह कहकर श्रीदत्त ने वह दिन वहीं व्यतीत किया और अगले दिन उन दैत्य-कन्याओं को आगे करके उस नगर को गया ॥४६॥

वहाँ पर उसने मल्लयुद्ध से उस सिंह को जीत लिया। वह सिंह भी शापमुक्त होकर पुरुष के आकार में बदल गया ॥४७॥

शाप से छुड़ानेवाले श्रीदत्त पर प्रसन्न होकर उस पुरुष ने उसे एक तलवार दी और दैत्यकन्याओं के दुःख के साथ ही अदृश्य हो गया ॥४८॥

तदनन्तर श्रीदत्त छोटी बहनों के साथ उस दैत्य-कन्या को लिये हुए उस नगर में गया ॥४९॥

दैत्य-कन्या ने श्रीदत्त को विषनाश करनेवाली एक अंगूठी दी। वहाँ रहते हुए युवा श्रीदत्त का हृदय उस दैत्य-कन्या की ओर आकृष्ट हुआ ॥५ ॥

एवं निष्ठुरकाश्चक्रुस्त्वा पितरावनुशोच्य सः।
निदधे प्रतिकारास्थामिव खड्गे वृथा मुहुः ॥६७॥
कालं प्रतीक्षमाणोऽथ वीरो निष्ठुरकान्वितः।
प्रतस्थे तान् सखीन् प्राप्तुं स तामुज्जयिनीं पुरीम् ॥६८॥
आमज्जनान्तं वृत्तान्तं सख्युस्तस्य च वर्णयन्।
श्रीदत्तः स ददर्शैकां क्रोशन्तीमबलां पथि ॥६९॥
अबला भ्रष्टमार्गाहं मालवं प्रस्थितेति ताम्।
ब्रुवन्तीं दयया सोऽथ सह प्रस्थापितीं व्यधात् ॥७०॥
तया दयानुरोधाच्च स्त्रिया निष्ठुरकान्वितः।
कस्मिंश्चिच्छून्यनगरे दिनं तस्मिन्नुवास सः ॥७१॥
तत्र रात्रावकस्माच्च मुक्तनिद्रो ददर्श ताम्।
स्त्रियं निष्ठुरकं हत्वा हर्षात्तं मांसमश्नतीम् ॥७२॥
उदतिष्ठत्ससमाकृष्य सोऽथ खड्गं मृगाङ्ककम्।
सापि स्त्री राक्षसीरूपं घोरं स्वं प्रत्यपद्यत ॥७३॥
स च कचेषु जग्राह निहन्तुं तां निशाचरीम्।
तत्क्षणं दिव्यरूपत्वं सम्प्राप्ता समुवाच सा ॥७४॥
मा मां वधीर्महाभाग मुञ्च नैवास्मि राक्षसी।
अयमेवंविधः शापो ममाभूत्कौशिकान्मुने ॥७५॥
तपस्यतो हि तस्याहं धनाधिपतिनामुना।
विघ्नाय प्रहिता पूर्वं तत्पदप्राप्तिकाङ्क्षिणः ॥७६॥
ततः कान्तेन रूपेण तं क्षोभयितुमक्षमा।
लज्जिता भासयन्त्यहमकार्षं भैरवं वपुः ॥७७॥
तद्दृष्ट्वा स मुनिः शापं सदृशं मय्यसौ ददौ।
राक्षसी भव पापे त्वं निघ्नन्ती मानुषानिति ॥७८॥
त्वत्तः कचग्रहे प्राप्ते शापान्तं मे स चाकरोत्।
इत्यहं राक्षसीभावमिमं कष्टमुपागमम् ॥७९॥
ममैव नगरं चैतद् ग्रस्तमद्य च मे चिरात्।
त्वया कृतः स शापान्तस्तद्गृहाणाधुना वरम् ॥८०॥
इति तस्या वचः श्रुत्वा श्रीदत्तः सादरोऽभ्यधात्।
किमन्येन वरेणाद्य जीवत्वेष सखा मम ॥८१॥

निष्ठुरक की बातें सुनकर श्रीदत्त ने माता-पिता की मृत्यु पर शोक किया और मानों बदला लेने की भावना से अपनी आँखों को खड्ग पर डाला ॥६७॥

इसके पश्चात् प्रतिशोध के लिए अवसर की प्रतीक्षा करता हुआ श्रीदत्त निष्ठुरक को साथ लेकर अपने मित्रों से मिलने के लिए उज्जयिनी पुरी को गया ॥६८॥

गंगा में गोता लगाने के बाद का अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त मित्र निष्ठुरक को मार्ग में सुनाते हुए श्रीदत्त ने एक रोती हुई स्त्री को देखा ॥६९॥

'मैं असहाय अबला हूँ मालव देश को जाती हुई मार्ग भूल गई हूँ'—उस अबला के ऐसा कहने पर श्रीदत्त ने दया करके उसे अपने साथ ले लिया ॥७०॥

दया और अनुरोध के कारण उस स्त्री और निष्ठुरक को साथ लेकर श्रीदत्त उस दिन किसी उजड़े हुए, अतएव शून्य नगर में ठहर गया ॥७१॥

इस यात्रा में एक दिन अकस्मात् रात को सोकर उठे हुए श्रीदत्त ने उस स्त्री को जो निष्ठुरक को मारकर उसका मांस खा रही थी देखा ॥७२॥

यह देखते ही श्रीदत्त मृगांक नामक खड्ग को खींचकर उसे मारने के लिए उठा। उधर उस स्त्री ने भी अपना रूप छोड़कर भीषण राक्षसी का रूप धारण कर लिया ॥७३॥

श्रीदत्त ने उस राक्षसी को मारने के लिए उसके केशों को पकड़ा तो इतने ही में वह राक्षसी का रूप छोड़कर दिव्य स्त्री का रूप धारण करके कहने लगी—॥७४॥

"महाभाग! मुझे मत मारो। मैं राक्षसी नहीं हूँ। मुझे कौशिक ऋषि का शाप था ॥७५॥

जब कौशिक मुनि तपस्या कर रहे थे उस समय कुबेर ने मुझे उनकी तपस्या में विघ्न करने के लिए भेजा था क्योंकि वह कुबेर का पद पाने के लिए तपस्या कर रहा था ॥७६॥

इस सुन्दर रूप से मुनि को लुभाने में असमर्थ एवं लज्जित होकर उसे डराने के लिए मैंने यह भीषण रूप धारण किया ॥७७॥

मेरे राक्षसी-रूप को देखकर उस मुनि ने मुझे समुचित शाप दिया कि 'पापिन्! तू मनुष्यों को खाती हुई राक्षसी बन जा' ॥७८॥

उस ऋषि ने तुम्हारे द्वारा बालों के पकड़े जाने पर शाप का अन्त बताया था। इस प्रकार इस दुःखप्रद राक्षसीपन को प्राप्त हुई ॥७९॥

मैंने ही बहुत समय से इस नगर को ग्रस रखा है। आज तुमने मेरे शाप का अन्त कर दिया अतः अब तुम मुझसे वरदान ग्रहण करो' ॥८०॥

उसकी इस प्रकार बातें सुनकर श्रीदत्त ने आदर के साथ कहा—'इस समय और दूसरा वर क्या माँगूँ? यह मेरा मित्र जी जाए यही वर दो' ॥८१॥

साथ युक्त्या जगादैन वाप्यां स्नानमितः कुरु।
आदायन च मज्जस्त्व खड्गं ग्राहमयापहम् ॥५१॥
तथति वाप्यां मग्नः सन् श्रीदत्तो वान्तवीतटात्।
तस्मादेव समुत्तस्थौ यस्मात्पूर्वमवातरत् ॥५२॥
सखड्गाङ्गुलीयक पश्यन्पातालादुत्थितोऽथ सः।
विषण्णो विस्मितश्चासीद् वञ्चितोऽसुरकन्यया ॥५३॥
ततस्तान्सुहृदोऽन्वेष्टुं स्वगृहाभिमुखं ययौ।
गच्छन्निष्ठुरकाख्यं च मित्रं मार्गे ददर्श सः ॥५४॥
स चोपेत्य प्रणम्याथ नीत्वैकान्तं च सत्वरम्।
तं पृष्टस्वजनोवन्तमेव निष्ठुरकोऽब्रवीत् ॥५५॥
गङ्गान्तस्त्वां तदा मग्नमन्विष्य दिवसान्बहून्।
स्वशिरांसि शुचा छत्तुमस्मुम वयमुद्यताः ॥५६॥
न पुत्राः साहसं कार्यं जीवन्नेष्यति वः सखा।
इत्यन्तरिक्षाद् वाणी नस्तमुद्योगं न्यवारयत् ॥५७॥
ततश्च त्वत्पितुः पार्श्वमस्माभिः प्रविगच्छताम्।
मार्गे सत्वरमभ्येत्य पुमानेकोऽब्रवीदिदम् ॥५८॥
नगरं न प्रवेष्टव्यं युष्माभिरिह साम्प्रतम्।
यतो वल्लभशक्तिः स विपन्नोऽत्र महीपतिः ॥५९॥
दत्तो विक्रमशक्तिश्च राज्ये सम्भूय मन्त्रिभिः।
प्राप्तराज्यः स चान्येद्युः कालनेमेरगाद् गृहम् ॥६०॥
श्रीदत्तः क्व स ते पुत्र इति चामर्षनिर्भरः।
समपृच्छत्स चाप्येनं माह वेद्मीत्यभाषत ॥६१॥
प्रच्छादितोऽमुना पुत्र इति तं निषूदितः।
कालनेमिः स शूलायां राज्ञा चौर इति क्रुधा ॥६२॥
तद्दृष्ट्वा तस्य भार्याया स्वयं हृदयमस्फुटत्।
पापं पापान्तरक्षेपक्रूरं हि क्रूरकर्मणाम् ॥६३॥
तत चान्विष्यते हन्तुं सोऽपि विक्रमशक्तिना।
श्रीदत्तस्तद्वयस्याश्च यूयं तद्गम्यतामितः ॥६४॥
इति तेनोदिता पुंसा शोकार्तास्ते निजां भुवम्।
बाहुशाल्यादय पञ्च सम्मन्त्र्योज्जयिनीं गताः ॥६५॥
प्रच्छन्नस्थापिनश्चाह त्वदर्थमिह तं मग।
तदेहि तावद् गच्छामस्तत्रैव सुहृदन्तिकम् ॥६६॥

श्रीदत्त की भावना को समझकर दैत्य-कन्या ने उससे कहा कि 'तुम इस वापी में खड्ग को लेकर स्नान करो जिससे ग्राह का भय न रहे' ॥५१॥

दैत्य-कन्या के कथनानुसार उस वापी में गोता लगाते ही श्रीदत्त फिर उसी गंगा-तट पर जा निकला जहाँ से वह जल में उतरा था ॥५२॥

पाताल से गंगा-तट पर निकला हुआ श्रीदत्त खड्ग और अंगूठी को देखता हुआ दुःखी और चकित हो रहा था क्योंकि उस कन्या ने उसे पुनः यहाँ भेजकर ठग लिया ॥५३॥

गंगा-तट पर उन छोड़े हुए अपने मित्रों को ढूँढ़ने के लिए वह अपने घर की ओर चला। जाते हुए उसने निष्ठुरक नामक मित्र को मार्ग में देखा ॥५४॥

निष्ठुरक उसे देखकर उसके समीप आकर प्रणामपूर्वक उससे अपने मित्रों का समाचार पूछते हुए उसे एकान्त में ले जाकर बोला—॥५५॥

"तुम्हें उस समय गंगा में डूबा हुआ देखकर तुम्हारे शोक के कारण हम लोग अपने-अपने गले काटने के लिए उद्यत हुए ॥५६॥

'बेटो! ऐसा साहस न करो'—इस प्रकार की आकाशवाणी ने हमारे गले काटने के प्रयत्न को रोक दिया ॥५७॥

जब तुम्हारे पिता के समीप समाचार कहने के लिए जाते हुए हम लोगों को मार्ग में मिलकर एक पुरुष ने इस प्रकार कहा—॥५८॥

'तुम लोगों को नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। नगर का राजा बल्लभशक्ति इस समय मर गया है और उसके पुत्र विक्रमशक्ति को मन्त्रियों ने सम्मति करके राजा बना दिया है। विक्रमशक्ति राज्य पाते ही दूसरे दिन कालनेमि (तुम्हारे पिता) के घर पहुँचा और पूछा कि वह तुम्हारा बेटा श्रीदत्त कहाँ है? उत्तर में कालनेमि ने कहा—कि 'मैं नहीं जानता' ॥५९ ६०-६१॥

'इसने अपने लड़के को छिपा दिया'—ऐसा अपराध लगाकर राजा विक्रमशक्ति ने क्रुद्ध होकर कालनेमि को फाँसी दे दी ॥६२॥

पति की इस परिस्थिति को देखकर उसकी स्त्री (तुम्हारी माता) का हृदय स्वयं फट गया। सच है क्रूर व्यक्तियों का पाप उनके लिए किये गये अन्यान्य पापों के कारण अत्यन्त क्रूर हो जाता है ॥६३॥

अब विक्रमशक्ति श्रीदत्त और उसके मित्रों को वध करने के लिए ढूँढ़ रहा है। इसलिए तुम लोग नगर में न जाकर और कहीं चले जाओ' ॥६४॥

इस प्रकार किसी नागरिक पुरुष के कहने पर शोक-सन्तप्त बाहुशाली आदि हम पाँचों मित्र परस्पर सम्मति करके अपनी मातृभूमि उज्जयिनी को चल गये। और तुम्हारे लिए मुझे छिपकर यहाँ रहने का आदेश दे गये। तो चलो उज्जयिनी में मित्रों के समीप चलें" ॥६५ ६६॥

एव निष्ठरकाश्चस्या पितरावनुशोच्य स ।
निदधे प्रतिनारास्थामिव सङ्गे दृश मुहु ॥६७॥
काल प्रतीक्षमाणोऽथ वीरो निष्ठुरकान्वित ।
प्रतस्थे तान् सखीन् प्राप्तु स तामुज्जयिनीं पुरीम् ॥६८॥
आमज्जनान्त वृत्तान्त सख्युस्तस्य च वर्णयन् ।
श्रीदत्त स दर्शकां कौशान्वीमवर्णां पथि ॥६९॥
अबला भ्रष्टमार्गाहं मालवं प्रस्थितेति ताम् ।
श्रवन्तीं वयया सोऽथ सह प्रस्थायिनी भ्यधात् ॥७ ॥
तया दयानुरोधाच्च स्त्रिभा निष्ठुरकान्वित ।
कस्मिश्चिच्छून्यनगरे दिने तस्मिन्नुवास स ॥७१॥
तत्र रात्रावकस्माच्च मुक्तनिद्रो ददर्श ताम् ।
स्त्रिय निष्ठुरक हत्वा हृर्षात मासमश्नतीम् ॥७२॥
उदतिष्ठत्समाकृष्य सोऽथ खड्ग मृगाङ्ककम् ।
सापि स्त्री राक्षसीरूप घोर स्व प्रत्यपद्यत ॥७३॥
स च केशेषु जग्राह निहन्तु तां निशाचरीम् ।
तत्क्षण दिव्यरूपत्व सम्प्राप्ता तमुवाच सा ॥७४॥
मा मां वधीर्महाभाग मुञ्च नैवास्मि राक्षसी ।
अयमत्वविध शापो ममाभूत्कौशिका मुने ॥७५॥
तपस्यतो हि तस्याहं धनाधिपतिनामुना ।
विघ्नाय प्रहिता पूर्व तत्पदप्राप्तिकांक्षिण ॥७६॥
तत कान्तेन रूपेण त क्षोभयितुमक्षमा ।
छज्जिता भासयन्त्यनमकार्ष भैरव वपु ॥७७॥
तद्दृष्ट्वा स मुनि शाप सदृश मय्यथो ददौ ।
राक्षसी भव पापे त्व निघ्नन्ती मानुषानिति ॥७८॥
त्वत्त कचग्रहे प्राप्ते शापान्त मे स चाकरोत् ।
इत्यह राक्षसीभावमिम कष्टमुपागमम् ॥७९॥
मयैव नगर चैतद् ग्रस्तमद्य च मे चिरात् ।
त्वया कृत स शापान्तस्तद्गृहाणामुना वरम् ॥८ ॥
इति तस्या वच श्रुत्वा श्रीदत्त सादरोऽभ्यधात् ।
किमन्येन वरेणाद्य जीवत्वेष सखा मम ॥८१॥

निष्ठुरक की बातें सुनकर श्रीदत्त ने माता-पिता की मृत्यु पर शोक किया और मानों बदला लेने की भावना से अपनी आँखों को खड्ग पर डाला ॥६७॥

इसके पश्चात् प्रतिशोध के लिए अवसर की प्रतीक्षा करता हुआ श्रीदत्त निष्ठुरक को साथ लेकर अपने मित्रों से मिलने के लिए उज्जयिनी पुरी को गया ॥६८॥

गंगा में गोता लगाने के बाद का अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त मित्र निष्ठुरक को मार्ग में सुनाते हुए श्रीदत्त ने एक रोती हुई स्त्री को देखा ॥६९॥

'मैं असहाय अबला हूँ, मालव देश को जाती हुई मार्ग भूल गई हूँ'—उस अबला के ऐसा कहने पर श्रीदत्त ने दया करके उसे अपने साथ ले लिया ॥७ ॥

दया और अनुरोध के कारण उस स्त्री और निष्ठुरक को साथ लेकर श्रीदत्त उस दिन किसी उजड़े हुए, अतएव शून्य नगर में ठहर गया ॥७१॥

इस यात्रा में एक दिन अकस्मात् रात को सोकर उठे हुए श्रीदत्त ने उस स्त्री को जो निष्ठुरक को मारकर उसका मांस खा रही थी देखा ॥७२॥

यह देखते ही श्रीदत्त मृगांक नामक खड्ग को खींचकर उसे मारने के लिए उठा। उधर उस स्त्री ने भी अपना रूप छोड़कर भीषण राक्षसी का रूप धारण कर लिया ॥७३॥

श्रीदत्त ने उस राक्षसी को मारने के लिए उसके केशों को पकड़ा तो इतने ही में वह राक्षसी का रूप छोड़कर दिव्य स्त्री का रूप धारण करके कहने लगी—॥७४॥

"महाभाग! मुझे मत मारो। मैं राक्षसी नहीं हूँ। मुझे कौशिक ऋषि का शाप था ॥७५॥

जब कौशिक मुनि तपस्या कर रहे थे उस समय कुबेर ने मुझे उसकी तपस्या में विघ्न करने के लिए भेजा था क्योंकि वह कुबेर का पद पाने के लिए तपस्या कर रहा था ॥७६॥

इस सुन्दर रूप से मुनि को लुभाने में असमर्थ एवं लज्जित होकर उसे डराने के लिए मैंने यह भीषण रूप धारण किया ॥७७॥

मेरे राक्षसी-रूप को देखकर उस मुनि ने मुझे समुचित शाप दिया कि 'पापिनि! तू मनुष्यों को खाती हुई राक्षसी बन जा' ॥७८॥

उस ऋषि ने तुम्हारे द्वारा बालों के पकड़े जाने पर शाप का अन्त बताया था। इस प्रकार मैं दुःखप्रद राक्षसीपन को प्राप्त हुई ॥७९॥

मैंने ही बहुत समय से इस नगर को ग्रस रखा है। आज तुमने मेरे शाप का अन्त कर दिया अतः अब तुम मुझसे वरदान ग्रहण करो" ॥८ ॥

उसकी इस प्रकार बातें सुनकर श्रीदत्त ने आदर के साथ कहा—'इस समय और दूसरा वर क्या माँगूँ? यह मेरा मित्र जी जाय यही वर दो' ॥८१॥

एवमस्त्विति सा चास्मै वरं दत्त्वा तिरोदधे ।
अक्षताङ्गः स चोत्तस्थौ श्रीदत्तनिष्ठुरकः पुनः ॥८२॥
तेनैव सह च प्रातः प्रहृष्टो विस्मितश्च सः ।
ततः प्रतस्थे श्रीदत्तः प्राप चोज्जयिनीं क्रमात् ॥८३॥
तत्र सम्भावयामास सखीन्मार्गोन्मुखान्स तान् ।
दर्शनेन यथायातो नीलकण्ठानिवाम्बुदः ॥८४॥
कृतातिथ्यविधिश्चासौ स्वगृहं बाहुशालिना ।
नीतोऽभूत् कथिताशेषनिजवृत्तान्तकौतुकः ॥८५॥
तत्रोपचर्यमाणः सन् पितृभ्यां बाहुशालिनः ।
स उवास समं मित्रैः श्रीदत्तः स्वगृहे यथा ॥८६॥
कदाचित्सोऽथ सम्प्राप्ते मधुमासमहोत्सवे ।
यात्रामुपवनं द्रष्टुं जगाम सखिभिः सह ॥८७॥
तत्र कन्यां ददर्शैकां राज्ञः श्रीबिम्बकेः सुताम् ।
आगतामाकृतिमतीं साक्षादिव मधुश्रियम् ॥८८॥
सा मृगाङ्कवती नाम हृदयं तस्य तत्क्षणम् ।
विवेश दत्तमार्गेव दृष्ट्यास्य सविकासया ॥८९॥
तस्या अपि मुहुः स्निग्धा प्रथमप्रेमशंसिनी ।
न्यस्ता तं प्रति दूतीव दृष्टिश्चक्रे गतागतम् ॥९ ॥
प्रविष्टां वृक्षगहनं तामपश्यंस्तथा क्षणात् ।
श्रीदत्तः शून्यहृदयो विज्ञोऽपि न बबुधे सः ॥९१॥
ज्ञातं मया ते हृदयं सखे[1] मा पह्नवं कृथाः ।
तदेहि तत्र गच्छामो यत्र राजसुता गता ॥९२॥
इत्युक्तश्चेङ्गितज्ञेन सुहृदा बाहुशालिना ।
तथेति स ययौ तस्याः सन्निकर्षं सुहृत्सखः ॥९३॥
हा कृष्णाहिना दष्टा राजपुत्रीति तत्क्षणम् ।
आक्रन्द उदभूत्तत्र श्रीदत्तहृदयज्वरः ॥९४॥
विषघ्नमङ्गुलीयं च विद्या च सुहृदोऽस्य मे ।
अस्तीति गत्वा जगदे कञ्चुकी बाहुशालिना ॥९५॥
स च तत्क्षणमभ्येत्य कञ्चुकी चरणानतः ।
निकटं राजदुहितुः श्रीदत्तमनपह्नुतम् ॥९६॥

'ऐसा ही हो'—इस प्रकार वर देकर वह अन्तर्धान हो गई। और वह निष्ठुरक सम्पूर्ण अंगों से अक्षत रहकर जीवित हो उठा ॥८२॥

प्रातःकाल चकित और प्रसन्न श्रीदत्त उठा और निष्ठुरक के साथ क्रमशः उज्जैन पहुँचा ॥८३॥

उज्जैन जाकर उत्सुकतापूर्वक राह देखते मित्रों को उसने ऐसा आनन्दित किया जैसे मेघ मयूरों को आनन्दित करता है ॥८४॥

अपने आश्चर्यपूर्ण समस्त वृत्तान्त को कहने के पश्चात् बाहुशाली विधिपूर्वक आतिथ्य सत्कार करके श्रीदत्त को अपने घर ले गया ॥८५॥

वहाँ पर बाहुशाली के माता-पिता द्वारा अपने बालक के समान उसका प्रेम प्राप्त करता हुआ श्रीदत्त अपने घर के समान ही रहने लगा ॥८६॥

किसी समय वसन्तोत्सव के अवसर पर श्रीदत्त अपने मित्रों के साथ किसी उद्यान में मेला देखने गया ॥८७॥

वहाँ मेले में उसने राजा श्रीबिम्बकि की कन्या को मूर्ति धारण करके आई हुई साक्षात् वसन्त-लक्ष्मी (शोभा) के समान देखा ॥८८॥

तदनन्तर वह मृगांकवती नाम की राजकुमारी विकसित नेत्रों के मार्ग से श्रीदत्त के हृदय में प्रवेश कर गई ॥८९॥

राजकुमारी की प्रेममयी सरस दृष्टि भी दूती के समान श्रीदत्त के साथ आवागमन करने लगी ॥९०॥

घूमती-फिरती राजकुमारी के वृक्षों के झुरमुट में छिप जाने के कारण श्रीदत्त को दिग्भ्रम होने लगा। उसे कुछ सूझता न था ॥९१॥

'मित्र! मैंने तुम्हारा हृदय जान लिया छिपाओ नहीं आओ, इधर ही चलें जिधर राजकुमारी गई है' ॥९२॥

ऐसा कहकर श्रीदत्त को उसका मित्र बाहुशाली राजकुमारी के समीप ले गया ॥९३॥

इतने ही में वहाँ अरे रे राजकुमारी को साँप ने काट लिया—इस प्रकार कोलाहल सुनाई दिया जिसे सुनकर श्रीदत्त के हृदय में ज्वर-सा हो गया ॥९४॥

इतने में बाहुशाली ने राजकुमारी के कंचुकी से कहा कि मेरे इस मित्र के पास विष दूर करनेवाली एक अँगूठी है और यही विष उतारने का मंत्र भी जानता है ॥९५॥

उसी समय वह कंचुकी श्रीदत्त के चरणों में झुककर प्रणाम करके श्रीदत्त को राजकुमारी के समीप ले गया ॥९६॥

सोऽपि तस्यास्तदङ्गुल्यां निक्षिप्याङ्गुलीयकम् ।
ततो जजाप विद्यां च क्षेम प्रत्युज्जिजीव सा ॥९७॥
अथ सर्वजने हृष्टे श्रीदत्तस्तुतितत्परे ।
तत्रैव ज्ञातवृत्तान्तो राजा बिम्बकिरामयौ ॥९८॥
तेनासौ सखिभि सार्धमगृहीताङ्गुलीयक ।
प्रत्याजगाम श्रीदत्तो भवनं बाहुशालिन ॥९९॥
तत्र तस्मै सुवर्णादि यत्प्रीत प्राहिणोन्नृप ।
तद्बाहुशालिन पित्रे समग्रं स समर्पयत् ॥१० ॥
अथ तां चिन्तयन्कान्तां स तथा पर्यतप्यत ।
यथा किङ्कार्यतामूढा वयस्यास्तस्य जज्ञिरे ॥१ १॥
ततो भावनिका नाम राजपुत्र्या प्रिया सखी ।
अङ्गुलीयार्पणव्याजात्तस्यान्तिकमुपाययौ ॥१०२॥
उवाच च मत्सख्यास्तस्या सुभग! साम्प्रतम् ।
त्वं वा प्राणप्रदो भर्ता मृत्युर्वाप्यथ निश्चय ॥१०३॥
इत्युक्ते भावनिकया श्रीदत्त स च सापि च ।
बाहुशाली च तेऽन्ये च मन्त्रं सम्भूय चक्रिरे ॥१०४॥
हरामो निभृतं युक्त्या राजपुत्रीमिमां वयम् ।
निवासहेतोर्गुप्तं च गच्छामो मथुरामित ॥१०५॥
इति सम्मन्त्रित सम्यक्कार्यसिद्ध्यै च संविदि ।
अन्योन्य स्थापितायां सा ययौ भावनिका तत ॥१ ६॥
अन्येद्युर्बाहुशाली च वयस्यत्रितयान्वित ।
वणिज्याव्यपदेशेन जगाम मथुरां प्रति ॥१०७॥
स गच्छन्स्थापयामास वाहनानि पथे पथे ।
राजपुत्र्यभिसाराय गूढानि चतुराणि च ॥१०८॥
श्रीदत्तोऽपि तत काञ्चिद्दुहित्रा सहितां स्त्रियम् ।
माम राजसुतावासे पाययित्वा मधु न्यधात् ॥१ ९॥
ततोऽत्र दीपोद्देशेन दत्त्वाग्नि वासवेश्मनि ।
प्रच्छन्न भावनिकया निन्ये राजसुता बहि ॥११०॥
तत्क्षणं तां च सम्प्राप्य श्रीदत्त स बहि स्थित ।
प्राक्प्रस्थितस्य निकटं प्राहिणोद् बाहुशालिन ॥१११॥
ददौ मित्रद्वयं चास्या पश्चाद्भावनिकां तथा ।

श्रीदत्त ने जाकर राजकुमारी की अँगुली में अंगूठी पहना दी और मंत्र भी पढ़ा। इससे वह पुनर्जीवित हो उठी ॥९७॥

राजकुमारी के स्वस्थ होते ही वहाँ एकत्र सभी व्यक्ति श्रीदत्त की प्रशंसा करने लगे। यह समाचार सुनकर राजा बिम्बकि भी वहाँ आ पहुँचा ॥९८॥

राजा के आने पर श्रीदत्त अपनी अंगूठी बिना लिये ही अपने मित्र बाहुशाली के साथ उसके घर लौट आया ॥९९॥

राजा बिम्बकि ने प्रसन्न होकर श्रीदत्त के लिए जो सोना आदि उपहार के रूप में भेजे थे उन्हें श्रीदत्त ने बाहुशाली के पिता को दे दिया ॥१ ॥

तदनन्तर श्रीदत्त उस राजकुमारी के विरह में इतना व्याकुल रहने लगा कि उसके मित्र भी घबराकर किंकर्तव्यविमूढ़-से हो गये ॥१ १॥

कुछ समय के पश्चात् राजकुमारी की प्रिय सहेली भावनिका अंगूठी लौटाने के बहाने श्रीदत्त के समीप आई ॥१ २॥

और बोली—'हे सौभाग्यशालिन्! मेरी सहेली को प्राणदान करनेवाले तुम उसके स्वामी बनो अन्यथा उसकी मृत्यु हो जायगी इसमें सन्देह नहीं' ॥१ ३॥

भावनिका के इस प्रकार कहने पर श्रीदत्त भावनिका बाहुशाली तथा अन्य मित्र मिलकर गुप्त मंत्रणा करने लगे ॥१ ४॥

हम लोग किसी भी उपाय से राजकुमारी का हरण कर लें और रहने के लिए गुप्त रूप से यहाँ से मथुरा चलें ॥१ ५॥

कार्य सिद्धि के लिए इन लोगों की सम्मति में परस्पर ऐसा निश्चय करके भावनिका अपने घर लौट गई ॥१ ६॥

दूसरे दिन अपने तीन मित्रों के साथ बाहुशाली व्यापार के बहाने मथुरा चला गया ॥१ ७॥

उसने मथुरा जाते हुए मार्ग में स्थान-स्थान पर सवारी का प्रबन्ध करके राजकुमारी के जाने के लिए चारों ओर से गुप्त प्रबन्ध किया ॥१ ८॥

श्रीदत्त ने भी कन्या के साथ किसी पगली स्त्री को सायंकाल राजकुमारी के निवास-स्थान में ठहरा दिया ॥१ ९॥

उधर भावनिका ने दीपक जलाने के बहाने से उस घर में आग लगा दी और गुप्त रूप से राजकुमारी को लेकर बाहर आ गई ॥११ ॥

बाहर प्रतीक्षा करते हुए श्रीदत्त ने उसी समय अपने दो मित्रों के साथ राजकुमारी को आगे बढ़े हुए बाहुशाली के समीप भेज दिया ॥१११॥ और, उसके पीछे (या साथ) भावनिका भी गई।

सन्मन्दिर च दग्धा सा क्षीवा स्त्री सुतया सह ॥११२॥
लोकस्तु तां सखीयुक्तां मन दग्धां नृपात्मजाम्।
प्रातश्च पूर्ववत्तम श्रीदत्तो ददृश जने ॥११३॥
ततो रात्रौ द्वितीयस्यां स गृहीतमृगाङ्कक।
श्रीदत्त प्रययौ पूर्वं प्रस्थितां तां प्रियां प्रति ॥११४॥
तया च रात्र्यातिक्रम्य दूरमध्वानमुत्सुक।
विन्ध्याटवीमथ प्राप स प्रात प्रहरे गते ॥११५॥
तत्रादावनिमित्तानि पश्चात्पथि ददर्श ताम्।
सर्वान्प्रहाराभिहतान्सहभावनिकान् सखीन् ॥११६॥
ते च दृष्ट्वा निजगदुस्त सम्भ्रान्तमुपागतम्।
मुषिता स्मो निपत्याद्य बह्वश्वारोहसेनया ॥११७॥
एकन चाश्वारोहेण राजपुत्री भयाकुला।
अस्मास्वत्तवरस्वेषु नीताश्वमधिरोप्य सा ॥११८॥
दूर न यावन्नीता च तावद् गच्छानया दिशा।
अस्माकमन्तिक मा स्था सर्वथाभ्यधिका च सा ॥११९॥
इति तै प्रेषितो मित्रैर्मुहु पश्यन्निवृत्य स।
जवेन राजतनयां श्रीदत्तोऽनुससार ताम् ॥१२ ॥
गत्वा सुदूर लेभे च तामश्वारोहवाहिनीम्।
युवानमेक तन्मध्ये क्षत्रिय स ददर्श च ॥१२१॥
तेनोपरि तुरङ्गस्य गृहीतां तां नृपात्मजाम्।
अपश्यच्च ययौ चास्य क्षत्रयूनोऽन्तिक क्रमात् ॥१२२॥
सान्त्वेन राजपुत्रीं ताममुञ्चन्त च पादत।
अश्वादाक्षिप्य दृषदि श्रीदत्तस्तमचूर्णयत् ॥१२३॥
त हत्वा च तमेवाश्वमारुह्य निजघान तान्।
अन्यान्यपि बहून्क्रुद्धानश्वारोहान् प्रधावितान् ॥१२४॥
हतशेषास्ततस्ते च तद्दृष्ट्वा तस्य तादृशम्।
वीरस्यामानुष वीर्यं पलाय्य समय ययु ॥१२५॥
स चापि तुरगारूढो राजपुत्र्या तया सह।
मृगाङ्कवत्या श्रीदत्त प्रययौ तान् सखीन् प्रति ॥१२६॥
स्तोक गत्वा च तस्याश्व सङ्ग्रामे व्रणितो भृशम्।
सभायस्यावतीर्णस्य पपात प्राप पञ्चताम् ॥१२७॥

इधर कुमारी के भवन में आग लगने से श्रीदत्त की भेजी हुई वह पागल स्त्री कन्या के साथ जल गई ॥११२॥

वहाँ के लोगों ने भावनिका के साथ राजकुमारी को जला हुआ समझ लिया और प्रातःकाल श्रीदत्त को वहाँ उपस्थित देखा ॥११३॥

दूसरी रात को श्रीदत्त मृगांक नामक खड्ग को हाथ में लेकर पहले से भागी हुई प्रिया (राजकुमारी) से मिलने के लिए चल पड़ा ॥११४॥

उत्सुक श्रीदत्त रात में ही लम्बा रास्ता तै करके प्रातःकाल एक प्रहर व्यतीत होने पर विन्ध्याचल के घोर जंगल में जा पहुँचा ॥११५॥

श्रीदत्त ने प्रस्थान करते हुए पहले अशुभसूचक शकुन देखे और पीछे भावनिका के साथ आक्रमण से आहत अपने मित्रों को देखा ॥११६॥

वे लोग घबराकर आए हुए श्रीदत्त से बोले—'हम लोग बहुत बड़ी घुड़सवार-सेना द्वारा लूट लिये गये हैं ॥११७॥

हम लोगों के घायल होने पर एक घुड़सवार सैनिक राजकुमारी को घोड़े पर बैठा कर ले भागा ॥११८॥

अतः जबतक वे लोग दूर नहीं चले जाते तबतक इसी मार्ग से उस ओर जाओ। हम लोगों के पास न रहो। उस (राजकुमारी) की रक्षा प्रधान कर्तव्य है ॥११९॥

इस प्रकार उन मित्रों का भेजा हुआ श्रीदत्त लौटकर वेग से घोड़ा दौड़ाता हुआ गया। कुछ ही दूर जाने पर उसने घुड़सवार-सेना को देखा और उसके बीच एक युवा क्षत्रिय को भी उसने देखा ॥१२०-१२१॥

उस युवा द्वारा घोड़े पर चढ़ाकर पकड़ी हुई राजकुमारी को भी उसने देखा और क्रमशः उन दोनों के समीप आ गया ॥१२२॥

शान्तिपूर्वक राजकुमारी को न छोड़ते हुए उस युवक को श्रीदत्त ने पैरों से खींचकर पत्थर पर दे मारा और घोड़े से गिराकर चूर चूर कर दिया ॥१२३॥

उसने उसे मारकर और उसी के घोड़े पर सवार होकर अन्यान्य युद्ध एवं मारते हुए उसके सिपाहियों को भी मारा। बचे हुए सिपाही श्रीदत्त के अमानुष पराक्रम को देखकर डर से इधर-उधर भाग गये ॥१२४ १२५॥

तत्पश्चात् श्रीदत्त भी राजकुमारी मृगांकवती को साथ लेकर अपने मित्रों की ओर लौटा ॥१२६॥

कुछ दूर जाने पर लड़ाई में घायल हुआ उसका घोड़ा गिर गया। श्रीदत्त जब अपनी पत्नी को लेकर उससे उतरा तब वह घोड़ा मर गया ॥१२७॥

तत्कालं चास्य तत्रैव सा मृगाङ्कवती प्रिया।
त्रासायासपरिश्रान्ता तृषार्त्ता समपद्यत॥१२८॥
स्थापयित्वा च तां तत्र गत्वा दूरमितस्ततः।
जलमन्विष्यतश्चास्य सवितास्तमुपाययौ॥१२९॥
ततः स लब्धेऽपि जले मार्गनाशवशाद् भ्रमन्।
चक्रवाकवधूकूजस्तां निनाय निशां वने॥१३०॥
प्रातः प्राप च तत्स्थानं पतिताश्वोपलक्षितम्।
न च तत्र क्वचित् कान्तां राजपुत्रीं ददर्श ताम्॥१३१॥
ततः स मोहाद् विन्यस्य भुवि खड्गं मृगाङ्ककम्।
वृक्षाग्रमारुरोहैनामवेक्षितुमितस्ततः ॥१३२॥
तत्क्षणं तेन मार्गेण कोऽप्यगाच्छबराधिपः।
स चागत्यैव जग्राह वृक्षमूलान् मृगाङ्ककम्॥१३३॥
तं दृष्ट्वापि स वृक्षाग्रादवतीर्यैव पृष्टवान्।
प्रियाप्रवृत्तिमत्यार्त्तः श्रीदत्तः शबराधिपम्॥१३४॥
इतस्त्वं गच्छ मत्पल्लीं जाने सा तत्र ते गता।
अहं तत्रैव चैष्यामि दास्याम्यसिमिमं च ते॥१३५॥
इत्युक्त्वा प्रेषितस्तेन शबरेण स चोत्सुकः।
श्रीदत्तस्तां ययौ पल्लीं तदीयैः पुरुषैः सह॥१३६॥
श्रमं तावद् विमुञ्चेति तत्रोक्तः पुरुषैश्च तैः।
प्राप्य पल्लीपतेर्गेहं श्रान्तो निद्रां क्षणाद्ययौ॥१३७॥
प्रबुद्धश्च ददर्श स्वौ पादौ निगडसंयुतौ।
अलब्धतद्गती कान्ताप्राप्त्युपायोद्यमाविव॥१३८॥
अथ क्षणं दत्तसुखां क्षणान्तरविभाविनीम्।
दैवस्येव गतिं तत्र तस्थौ शोचन्स तां प्रियाम्॥१३९॥
एकदा तमुवाचेत्य चेटी मोचनिकाभिधा।
आगतोऽसि महाभाग कुत्रेह बत मृत्यवे॥१४ ॥
कार्यसिद्धये स हि क्वापि प्रयातः शबराधिपः।
आगत्य चण्डिकायास्त्वामुपहारीकरिष्यति॥१४१॥
एतदर्थं हि तेन त्वमितो विन्ध्याटवीतटात्।
प्राप्य युक्त्या विसृष्टश्च नीतः सम्प्रति बन्धनम्॥१४२॥

वहाँ उतरने पर उसकी प्यारी मृगांकवती श्रम और थकावट के कारण प्यास से व्याकुल हो गई ॥१२८॥

श्रीदत्त मृगांकवती को वहीं ठहराकर इधर-उधर पानी ढूँढने लगा। पानी ढूँढते-ढूँढते सन्ध्या हो गई, सूर्य अस्त हो गया ॥१२९॥

जल मिल जाने पर भी राह भूल जाने के कारण श्रीदत्त ने चकवे के समान चिल्लाते-चिल्लाते रात व्यतीत की ॥१३०॥

प्रातःकाल मरे हुए घोड़ेवाले उस स्थान को तो उसने पाया किन्तु उस प्यारी राजकुमारी को कहीं न देखा ॥१३१॥

तब श्रीदत्त व्याकुलता के कारण मृगांक खड्ग को वृक्ष की जड़ में रखकर उसे देखने के लिए पेड़ पर चढ़ गया ॥१३२॥

उसी समय उस मार्ग से कोई जंगली भिल्लराज उधर आ निकला। उसने आते ही पहले पेड़ की जड़ में रखी हुई तलवार उठा ली ॥१३३॥

उसे देखकर श्रीदत्त पेड़ से नीचे उतरा और उसने उतरते ही भिल्लराज से दीनतापूर्वक राजपुत्री का समाचार पूछा ॥१३४॥

'यहाँ से तुम मेरे गाँव पर जाओ सम्भवतः वह वहीं गई होगी मैं वहीं आ रहा हूँ और तुम्हारी तलवार भी साथ ला रहा हूँ' ॥१३५॥

ऐसा कहकर भिल्लराज द्वारा अपने गाँव को भेजा हुआ श्रीदत्त उसके आदमियों के साथ उसके गाँव आ गया ॥१३६॥

वहाँ आकर उसने आदमियों के 'थकावट मिटा लो'—कहने पर श्रीदत्त वहीं सो गया ॥१३७॥

जागने पर उसने अपने पैरों को बेड़ियों से बँधा पाया। मानों वे पैर मृगांकवती का पता न लगा सकने के कारण दंडित किये गये हों ॥१३८॥

क्षण भर में सुख देनेवाली और क्षण भर में दारुण दुःख देनेवाली प्यारी मृगांकवती को दैवगति[1] के समान सोचता हुआ श्रीदत्त बँधे पैरों से पड़ा रहा ॥१३९॥

इस प्रकार सोच में पड़े हुए श्रीदत्त के समीप आकर मोचनिका नामक एक दासी ने कहा—'हे महाभाग ! मृत्यु के लिए तुम यहाँ कहाँ आ गये हो ? ॥१४०॥

वह भिल्लराज अपनी किसी कार्य-सिद्धि के लिए कहीं गया है आकर चंडिका देवी के आगे तुम्हारा बलिदान करेगा ॥१४१॥

इसीलिए तुम्हें विन्ध्य के जंगल से युक्तिपूर्वक यहाँ भेजकर कैद कर दिया गया है ॥ १४२॥

---

१ दैवगति भी क्षण भर में दुःख और दूसरे ही क्षण सुख देती है। उसी प्रकार मृगांकवती भी श्रीदत्त को क्षण-क्षण में सुख और दुःख का अनुभव करा रही थी। —अनु

भगवत्युपहारस्त्व यत एवासि कल्पित ।
अत एव सदा मस्त्रभोजनैश्चोपचयसे ॥१४३॥
एवस्तु मुक्त्युपायस्ते विद्यते यदि मन्यसे।
अस्त्यस्य सुन्दरी नाम शबराधिपते सुता ॥१४४॥
अत्यर्थं सा च दृष्ट्वा त्वां जायते मदनातुरा।
तां भजस्व वयस्यां मे तत क्षेममवाप्स्यसि ॥१४५॥
तमत्युक्तो विमुक्त्यर्थी स श्रीदत्तस्तथेति ताम्।
गान्धर्वविधिना गुप्तं भार्यां व्यधित सुन्दरीम् ॥१४६॥
रात्रौ रात्रौ च सा तस्य बन्धनानि न्यवारयत्।
अचिराच्च सगर्भा सा सुन्दरी समपद्यत ॥१४७॥
तत्सर्वमथ तन्माता बुद्ध्वा मोचनिकामुखात्।
जामातृस्नेहतो गत्वा स्वैरं श्रीदत्तमब्रवीत् ॥१४८॥
पुत्र! श्रीचण्डनामासौ कोपन सुन्दरीपिता।
न त्वां क्षमेत तद् गच्छ विस्मर्तव्या न सुन्दरी ॥१४९॥
इत्युक्त्वा मोचित श्वश्र्वा खड्गं श्रीचण्डहस्तगम्।
सुन्दर्यै निजमावेद्य श्रीदत्त प्रययौ तत ॥१५०॥
विवेश चाथ तामेव चिन्ताक्रान्तो निजाटवीम्।
मृगाङ्कवत्या पदवीं तस्या जिज्ञासितुं पुन ॥१५१॥
निमित्तं च शुभं दृष्ट्वा तमेवोद्देशमाययौ।
यत्रास्याश्वो मृत सोऽत्र यत्र सा हारिता वधू ॥१५२॥
तत्र चैकं ददर्शाराल्लुब्धकं सम्मुखागतम्।
दृष्ट्वा च पृष्टवांस्तस्या प्रवृत्तिं हरिणीदृश ॥१५३॥
किं श्रीदत्तस्त्वमित्युक्तो लुब्धकेन च तत्र स।
स एव मन्दभाग्योऽहमित्युवाच विनिश्वसन् ॥१५४॥
तत स लुब्धकोऽवादीत्तर्हि वच्मि सखे! शृणु।
दृष्टा सा धे मया भार्या क्रन्दन्ती त्वामितस्तत ॥१५५॥
पृष्ट्वा ततश्च वृत्तान्तमाश्वास्य च कृपाकुल ।
गिरा पल्लीमितोऽरण्याद्दीनां तां नीतवानहम् ॥१५६॥
तत्र चालोक्य तरुणान्पुलिन्दान्सभयेन सा।
मथुरानिकटं ग्रामं नीता नागस्थलं मया ॥१५७॥

चूंकि तुम्हें देवी के सम्मुख बलिदान के लिए निश्चित किया गया है इसीलिए अच्छे भोजन और वस्त्रों से तुम्हारा सत्कार किया जा रहा है ॥१४३॥

यदि तुम मानो तो तुम्हारी मुक्ति का एक उपाय है। वह यह कि इस भिल्लराज की सुन्दरी नाम की एक कन्या है॥१४४॥

वह तुम्हें देख अत्यन्त कामातुर हो रही है। मेरी उस सहेली को यदि तुम पत्नी बना लो तो तुम्हारा कल्याण होगा ॥१४५॥

श्रीदत्त ने भी उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर गान्धर्व विधि से उस भिल्लराज की कन्या के साथ गुप्त विवाह कर उसे पत्नी बना लिया॥१४६॥

वह सुन्दरी प्रतिदिन रात में श्रीदत्त के बन्धन खोल देती थी इस प्रकार कुछ दिनों में वह गर्भवती हो गई॥१४७॥

कुछ समय के अनन्तर सुन्दरी की माता ने मोचनिका से सब समाचार जान लिया और वह जामाता के स्नेह से बोली—बेटा! श्रीचण्डनामक सुन्दरी का पिता अति क्रोधी है, वह तुम्हें छोड़ेगा नहीं अतः तुम जाओ किन्तु सुन्दरी को मत भूलना ॥१४८–१४९॥

ऐसा कहकर सास के द्वारा कैद से छुड़ाया गया श्रीदत्त भिल्लराज के हाथ कभी अपने वश के लिए सुन्दरी को समझाकर, चिन्ता से आक्रान्तहृदय होकर, मृगांकवती का पता लगाने के लिए फिर उसी विन्ध्यारण्य में गया॥१५०–१५१॥

चलने के समय शुभ शकुनों को देखकर वह फिर उसी स्थान पर आ गया जहाँ घोड़ा मरा था और जहाँ से मृगांकवती खो गई थी॥१५२॥

वहाँ पर एक व्याध (बहेलिया) को सामने आते हुए देखकर श्रीदत्त ने उससे मृगावती का समाचार पूछा॥१५३॥

'क्या तुम्हीं श्रीदत्त हो? बहेलिये के इस प्रकार पूछने पर श्रीदत्त ने लम्बी साँस लेते हुए कहा 'हाँ मैं ही वह अभागा हूँ' ॥१५४॥

तब बहेलिये ने कहा मित्र बताता हूँ सुनो। तुम्हारा नाम लेकर विलाप करती हुई तुम्हारी भार्या को इधर-उधर भटकते हुए देखा तो मैंने उससे सारा समाचार जानकर और धीरज बँधाकर (समझा-बुझाकर) दयावश उसे मैं अपने गाँव ले गया॥१५५–१५६॥

वहाँ गाँव में जवान भीलों को देखकर उनके भय से मैं उसे मथुरा के समीप नागस्थल नामक स्थान को ले गया॥१५७॥

तत्र च स्थापिता गेहे स्थविरस्य द्विजन्मन ।
विष्णुदत्ताभिधानस्य न्यासीकृत्य सगौरवम् ॥१५८॥
ततस्त्वाहमिहायातो बुद्ध्वा त्वन्नाम तन्मुखात् ।
तामन्वेष्टु ततो गच्छ शीघ्र नागस्थल प्रति ॥१५९॥
इत्युक्तो लुब्धकेनाशु स श्रीदत्तस्ततो ययौ ।
त च नागस्थल प्रापदपरेद्युर्दिनात्यये ॥१६ ॥
भवन विष्णुदत्तस्य प्रविश्याथ विलोक्य तम् ।
ययाचे देहि मे भार्या लुब्धकस्थापितामिति ॥१६१॥
तच्छ्रुत्वा विष्णुदत्तस्त श्रीदत्त निजगाद स ।
मथुराया सुहृन्मेऽस्ति ब्राह्मणो गुणिना प्रिय ॥१६२॥
उपाध्यायश्च मन्त्री च शूरसेनस्य भूपत ।
तस्य हस्ते त्वदीया सा गृहिणी स्थापिता मया १६३॥
अय हि विजनो ग्रामो न तद्रक्षाक्षमो भवेत् ।
तत्प्रातस्तत्र गच्छ त्वमद्य विश्रम्यतामिह ॥१६४॥
इत्युक्तो विष्णुदत्तेन स नीत्वात्र ता निशाम् ।
प्रात प्रतस्थे प्रापच्च मथुरामपरे दिने ॥१६५॥
दीर्घाध्वमलिनस्तस्मिन्नगरे बहिरेव स ।
स्नान चक्रे परिश्रान्तो निर्मले दीर्घिकाजले ॥१६६॥
तत एवाम्बुमध्याच्च वस्त्र चौरनिवेशितम् ।
प्राप्तवानञ्चलग्रन्थिबद्धहारमलक्षितम् ॥१६७॥
अथ तद्वस्त्रमादाय स त हारमलक्षयन् ।
प्रिया दिदृक्षु श्रीदत्तो विवेश मथुरा पुरीम् ॥१६८॥
तत्र तत्प्रत्यभिज्ञाय वस्त्र हारमवाप्य च ।
स चौर इत्यवष्टभ्य निगृह्य नगररक्षिभि ॥१६९॥
दर्शितश्च तथाभूतो नगराधिपतस्त ।
तेनाप्यावेदितो राज्ञे राजाप्यस्यादिशद् वधम् ॥१७०॥
ततो वध्यभुव हन्तु नीयमान ददर्श तम् ।
सा मृगाङ्कवती दूरात् पश्चात्प्रहतडिण्डिमम् ॥१७१॥
सोऽय मे नीयते भर्ता वधायेति ससम्भ्रमम् ।
सा गत्वा मन्त्रिमुख्य तमभ्यवोचद्गृह स्थिता ॥१७२॥

वहाँ (नागस्थल में) मैंने उसे विष्णुदत्त नामक वृद्ध ब्राह्मण के घर में गौरव के साथ धरोहर के रूप में रख दिया है। उसी से तुम्हारा नाम जानकर मैं तुम्हें ढूंढने के लिए यहाँ आया हूँ ॥१५८ १५९॥

बहेलिये से इस प्रकार कहा गया श्रीदत्त शीघ्र ही वहाँ से चल पड़ा और दूसरे दिन सायंकाल नागस्थल पहुँच गया ॥१६ ॥

वहाँ विष्णुदत्त के घर जाकर और उससे मिलकर श्रीदत्त ने कहा कि 'बहेलिये द्वारा रखी गई मेरी भार्या मुझे दे दो' ॥१६१॥

यह सुनकर विष्णुदत्त ने श्रीदत्त से कहा— मथुरा में मेरा एक मित्र गुणग्राही ब्राह्मण है। वह उपाध्याय है और राजा शूरसेन का मन्त्री भी है। मैंने उसी के पास तुम्हारी पत्नी को रख दिया है॥१६२ १६३॥

यह ग्राम निर्जन है अतः यहाँ उसकी रक्षा सम्भव न थी। अब तुम प्रातःकाल वहाँ जाओ। आज यहीं विश्राम करो ॥१६४॥

विष्णुदत्त से इस प्रकार कथित श्रीदत्त उस रात को वहीं बिताकर दूसरे दिन प्रातःकाल मथुरा पहुँचा ॥१६५॥

लम्बे रास्ते के कारण मैला-कुचैला तथा थका हुआ श्रीदत्त नगर के बाहर ही ठहर गया और निर्मल बावली के जल में स्नान करने लगा ॥१६६॥

स्नान करते हुए उसे चोरों द्वारा बावली में छिपाये हुए कुछ वस्त्र मिले जिनकी गाँठ में एक बहुमूल्य हार बँधा हुआ था। उसे श्रीदत्त ने नहीं देखा ॥१६७॥

उन कपड़ों को लेकर मृगाङ्कवती से मिलने की इच्छा से श्रीदत्त ने मथुरा में प्रवेश किया ॥१६८॥

नगर में आने पर सिपाहियों ने उन कपड़ों और उनकी गाँठ में बँधे हुए चोरी के हार को पाकर श्रीदत्त को पकड़ लिया और उसे सामान के सहित नगराधिपति के सामने उपस्थित किया ॥१६९॥

उसने (नगराधिपति ने) राजा से निवेदन किया और राजा ने उसे (श्रीदत्त को) फाँसी के लिए सिपाहियों को आदेश दे दिया ॥१७ ॥

पीछे-पीछे बज रही डम-डमी के साथ फाँसी के स्थान पर ले जाये जाते हुए श्रीदत्त को देखकर मृगाङ्कवती ने राज्य के उस दूसरे मुख्यमंत्री से जिसके घर में वह ठहरी थी, जाकर कहा कि 'मेरा पति फाँसी पर लटकाने के लिए ले जाया जा रहा है' ॥१७१ १७२॥

निवार्य वधकान्सोऽथ मन्त्री विज्ञप्य भूपतिम् ।
श्रीदत्तं मोचयित्वा तं यथावानाययद् गृहम् ॥१७३॥
कथं सोऽथ पितृव्यो मे गत्वा देशान्तरं पुरा ।
इहैव दैवाद्विगतभय प्राप्तोऽद्य मन्त्रिताम् ॥१७४॥
इति तं मन्त्रिणं सोऽथ श्रीदत्तस्तद्गृहागतः ।
प्रत्यभिज्ञासमान्पृष्ट्वा पपातास्य च पादयोः ॥१७५॥
सोऽपि तं प्रत्यभिज्ञाय भ्रातुः पुत्रं सविस्मयः ।
कण्ठे जग्राह सर्वं च वृत्तान्तं परिपृष्टवान् ॥१७६॥
ततस्तस्मै स निखिलं श्रीदत्तः स्वपितुर्वधात् ।
आरभ्य निजवृत्तान्तं पितृव्याय न्यवेदयत् ॥१७७॥
सोऽपि मुक्त्वाश्रु विजने भ्रातुः पुत्रं तमभ्यधात् ।
अधृतिं मा कृथाः पुत्र! मम सिद्धा हि यक्षिणी ॥१७८॥
पञ्च वाजिसहस्राणि हेमकोटीश्च सप्त सा ।
प्रादान्मह्यमपुत्राय तत्तवैवाखिलं धनम् ॥१७९॥
इत्युक्त्वा स पितृव्यस्तां श्रीदत्तायार्पयत् प्रियाम् ।
श्रीदत्तोऽप्यात्तविभवस्तत्र तां परिणीतवान् ॥१८ ॥
ततश्च तस्थौ तत्रैव सङ्गतः कान्तया तया ।
मृगाङ्कवत्या सानन्दो रात्र्येव कुमुदाकरः ॥१८१॥
बाहुशाल्यादिचिन्ता तु तस्याभूत्पूर्णसम्पदः ।
इन्दोः कलङ्कलवव हृदि मालिन्यदायिनी ॥१८२॥
एकदा स पितृव्यस्तं रहः श्रीदत्तमभ्यधात् ।
पुत्र! राज्ञः सुतास्त्यस्य शूरसेनस्य कन्यका ॥१८३॥
मया चावन्तिदेशं सा नेया दातुं तदाज्ञया ।
तत्तेनैवापदेशेन हृत्वा तुभ्यं ददामि ताम् ॥१८४॥
ततस्त्वदनुगे प्राप्ते बले सति च मामके ।
यद् राज्यं ते धियाविष्टं तत्प्राप्स्यस्यचिरादिति ॥१८५॥
निश्चित्यैतच्च तां कन्यां गृहीत्वा चयतुस्ततः ।
श्रीदत्तस्तत्पितृव्यश्च ससैन्यौ सपरिग्रहौ ॥१८६॥
ततो विन्ध्याटवीमेतौ प्राप्तमात्रावधर्षितौ ।
चौरसेनातिमहती शरौघ शरवर्षिणी ॥१८७॥

प्रहारमूर्च्छितं बद्ध्वा श्रीदत्तं भग्नसैनिकम्।
निन्युश्चौरा स्वपल्लीं ते स्वीकृत्य सकलं धनम् ॥१८८॥
ते च तं प्रापयामासुश्चण्डिकासद्म भीषणम्।
उपहाराय बध्नन्तो नावमूर्त्युरिवाह्वयत् ॥१८९॥
तत्रापश्यच्च तं पत्नी सा पल्लीपतिपुत्रिका।
सुन्दरी द्रष्टुमायाता देवीं बालसुतान्विता ॥१९ ॥
निषिद्धवध्या मध्यस्थानदस्यूनानन्दपूर्णया।
स श्रीदत्तस्तया सार्कं तन्मन्दिरमथाविशत् ॥१९१॥
तदैव पल्लीराज्यं तत्राप पिता यदर्पितम्।
प्रागेवानन्यपुत्रेण सुन्दर्या गच्छता दिवम् ॥१९२॥
स च चौरसमाक्रान्तं सार्थवृन्दपरिच्छदम्।
सकलत्र च लभेऽसौ तं खड्गं च मृगाङ्ककम् ॥१९३॥
तत्रैव शूरसेनस्य सुतां तां परिणीय च।
श्रीदत्तोऽपि महान् राजा नगरे समपद्यत ॥१९४॥
प्रजिघाय स दूतांश्च ततः श्वशुरयोस्तयोः।
विम्बकस्तस्य तस्यापि शूरसेनस्य भूपतेः ॥१९५॥
समुपाजग्मतुस्तौ च सनासमुदयान्वितौ।
तं विज्ञाय च सम्बन्धं मुदा दुहितृवत्सलौ ॥१९६॥
तेऽपि स्वभ्रमणात् स्वस्मात्तद्वियुक्ता वयस्यकाः।
बाहुशालिप्रभृतयस्तद्बुद्ध्वा तमुपाययुः ॥१९७॥
अथ श्वसुरसयुक्तो गत्वा तं पितृघातिनम्।
चक्रे विक्रमशक्तिं स वीरः कोपानलाहुतिम् ॥१९८॥
ततश्च साब्धिवलयां श्रीदत्तः प्राप्य मेदिनीम्।
मनन्द विरहोत्तीर्णः स मृगाङ्कवतीसखः ॥१९९॥
इत्थं मरपत दीर्घवियोगव्यसनार्णवम्।
तरन्ति च लभन्ते च कल्याणं धीरचेतसः ॥२० ॥
इति सङ्गतकाच्छ्रुत्वा कथां स दयितोत्सुकः।
तां निनाय निशां मार्गे सहस्रानीकभूपतिः ॥२०१॥
ततो मनोरथारूढः पुरः प्रहितमानसः।
प्रातः सहस्रानीकोऽसौ प्रतस्थे स्वां प्रियां प्रति ॥२ २॥

चोरगण आघात से बेहोश और भागे हुए सैनिकोंवाले अकेले श्रीदत्त को हाथ-पाँव बाँध कर सारे धन के साथ अपने गाँव ले गये ॥१८८॥

उस गाँव में ले जाकर उसे चंडी के एक भीषण मन्दिर में पहुँचा दिया गया जहाँ घंटे अपने शब्दों से मानों उसकी मृत्यु का आह्वान कर रहे थे ॥१८९॥

वहाँ पर भिल्लराज की पुत्री सुन्दरी भी छोटे बच्चों को गोद में लेकर उस बलिदान का दृश्य देखने आई थी। जो पिता की मृत्यु के बाद वहाँ का शासन करती थी ॥१९ ॥

आनन्द-भरी सुन्दरी ने उन डाकुओं को बलिदान करने से रोक दिया और श्रीदत्त भी आनन्दपूर्वक उस सुन्दरी के घर चला गया ॥१९१॥

वहाँ जाकर उसने उस भिल्लपल्ली का राज्य प्राप्त किया जिसे सुन्दरी के पिता ने अपनी मृत्यु के समय अन्य संतान न होने के कारण एकमात्र उत्तराधिकारिणी अपनी कन्या सुन्दरी को दिया था ॥१९२॥

चोरों से आक्रान्त साथी और सेना-सामग्री से युक्त सपत्नीक श्रीदत्त ने वहाँ पर अपने मृगांक नामक खड्ग को भी प्राप्त कर लिया ॥१९३॥

श्रीदत्त वहीं (भिल्लपल्ली में) शूरसेन की उस कन्या से विवाह करके उस नगर में महान् राजा बन गया ॥१९४॥

श्रीदत्त ने राजा बिम्बकि और राजा शूरसेन दोनों ने अपने ससुरों के पास दूत भेज दिये। फलतः अपनी-अपनी कन्याओं के स्नेह के कारण वे दोनों राजा अपनी-अपनी सेना-सामग्री के साथ विवाह-संबंध के लिए वहाँ आये ॥१९५ १९६॥

उधर युद्ध के कारण बिछुड़े हुए बाहुशाली आदि उसके मित्र भी घावों के भर जाने पर स्वस्थ होकर उसके समीप आ गये थे ॥१९७॥

तदनन्तर ससुरों और उनकी सेनाओं के सहित श्रीदत्त ने अपने पिता के हत्यारे एवं विरोधी पाटलिपुत्र के राजा विक्रमशक्ति को अपनी कोपाग्नि की आहुति बना डाला। अर्थात् उसे मारकर अपना बदला चुका लिया ॥१९८॥

इसके पश्चात् मृगांकवती के साथ आसमुद्र पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर श्रीदत्त सम्राट् बन गया और आनन्द-भोग करने लगा ॥१९९॥

राजा सहस्रानीक को कहानी सुनानेवाले संगतक ने इस कथा को सुनाकर कहा—'राजन्! धैर्यशाली व्यक्ति इस प्रकार वियोगजन्य कष्ट के समुद्र को पार करते हुए अभीष्ट को प्राप्त करते हैं ॥२ ॥

प्रिया-समागम के लिए उत्सुक राजा सहस्रानीक ने उस रात को अत्यन्त उत्सुकता के साथ बिताया ॥२ १॥

प्रातःकाल ही मनोरथ पर चढ़े हुए और मन को आगे से ही भेजे हुए राजा सहस्रानीक ने अपनी प्रिया के प्रति प्रस्थान किया ॥२ २॥

प्रहारमूर्च्छितं बद्ध्वा श्रीदत्तं मग्नसैनिकम्।
निन्युश्चौराः स्वपल्लीं ते स्वीकृत्य सकलं धनम् ॥१८८॥
ते च तं प्रापयामासुश्चण्डिकासद्म भीषणम्।
उपहाराय चण्डानां नादैमरयुरिवाह्वयत् ॥१८९॥
तत्रापश्यच्च स पल्ली सा पल्लीपतिपुत्रिका।
सुन्दरी द्रष्टुमायाता वर्वी वात्सल्यान्विता ॥१९ ॥
निषिद्धवरया मध्यस्थान्दस्यूनामन्दपूर्णया।
स श्रीदत्तस्तया साकं तं मन्दिरमवासिसत् ॥१९१॥
तदैव पल्लीराज्यं तत्राप पित्रा यदर्पितम्।
प्रागेवानन्यपुत्रेण सुन्दर्यै गच्छता दिवम् ॥१९२॥
तं च चौरसमाक्रान्तं सर्पितुम्यपरिच्छदम्।
सकलत्रं च प्रेमस्त्रौ स खड्गं च मृगाङ्ककम् ॥१९३॥
सर्वेव शूरसनस्य सुतां तां परिणीय च।
श्रीदत्तोऽपि महान् राजा नगरे समपद्यत ॥१९४॥
प्रजिघाय स दूतांश्च तत श्वशुरयोस्तयो।
बिम्बकेस्तस्य तस्यापि शूरसेनस्य भूपते ॥१९५॥
तमुपाजग्मतुस्तौ च समासमुदयान्वितौ।
तं विज्ञामव सम्बन्ध मुदा दुहितृवत्सलौ ॥१९६॥
तेऽपि स्ववशगा स्वस्थास्तद्वियुक्ता वयस्यका।
बाहुशालिप्रभृतयस्तद्बुद्ध्वा तमुपाययु ॥१९७॥
अथ श्वसुरसयुक्तो गत्वा तं पितृघातिनम्।
चक्रे विक्रमशक्ति स वीर मोघानलाहुतिम् ॥१९८॥
ततश्च साम्बिबल्यां श्रीदत्त प्राप्य मेदिनीम्।
ननन्द चिरहोत्तीर्ण स मृगाङ्कवतीसख ॥१९९॥
इत्थं नरपते धीर्यवियोगव्यसनार्णवम्।
तरन्ति च क्रमन्त च कल्याण धीरचेतस ॥२००॥
इति सङ्कतवाच्छ्रुत्वा कथां स दयितोत्सुक।
तां निनाय निशां मार्गे सहस्रानीकभूपति ॥२०१॥
ततो मनोरथारूढ पुर प्रहितमानस।
प्रात सहस्रानीकोऽसौ प्रतस्थे स्वां प्रियां प्रति ॥२०२॥

कुछ दिनों बाद वह शान्त मृगोंवाले प्रशान्त पावन जमदग्नि ऋषि के आश्रम में पहुँचा॥२ ३॥

वहाँ उसने सस्नेह अतिथि-सत्कार करते हुए, तपस्या के मूर्तिमान् आकार, एवं पवित्र दर्शन जमदग्नि ऋषि के प्रणामपूर्वक दर्शन किये॥२ ४॥

आश्रम में मुनि जमदग्नि ने पुत्री-सहित आनन्दित एवं सुख की मूर्ति रानी मृगावती को राजा के लिए अर्पण कर दिया॥२ ५॥

शाप का अन्त होने पर (चौदह वर्षों के पश्चात्) उन दोनों राजा और रानी का परस्पर दर्शन आनन्द के आँसुओं से छलछलाती आँखों में मानों अमृत-वर्षा कर रहा था॥२ ६॥

प्रथम दर्शन के कारण उदयन को हृदय से लगाये हुए राजा रोमांच के कारण शरीर से बढ़े हुए के समान उसे कठिनता से दूर कर सका॥२ ७॥

तपोवन के अन्त तक आँसू बहाते हुए मृगों से अनुसरण किया गया राजा उदयन और मृगावती को साथ लेकर जमदग्नि ऋषि से आज्ञा प्राप्त कर अपनी नगरी की ओर चला। आश्रम से चलकर प्रिया को अपनी विरह-गाथा सुनाता हुआ राजा मानों नागरिक लोगों के विकसित नेत्रों से पान किया जाता हुआ क्रमशः कौशाम्बी नगरी में पहुँचा॥२ ८२१ ॥

राजधानी में पहुँचते ही सर्वप्रथम उसने उदयन को युवराज-पद पर अभिषिक्त किया। अपने मन्त्रियों के पुत्रों को उसने सम्मतिकार के रूप में नियुक्त कर दिया। उस समय उदयन के अभिषेक के समय आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ यह वाणी हुई कि 'वसन्तक रुमण्वान् और यौगन्धरायण—इन मुख्य मंत्रियों की सहायता से सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य करोगे' ॥२११ २१४॥

तदनन्तर युवराज उदयन पर राज्य का भार देकर राजा चिरकाल से अभिलषित सांसारिक सुखों का मृगावती के साथ उपभोग करने लगा॥२१५॥

कुछ समय आनन्द का उपभोग कर लेने पर शान्ति की दूती वृद्धावस्था के कान के समीप आ जाने पर, उसे देखकर राजा की विषय-वासना मानों कोपित[1] होकर उससे दूर हो गई॥२१६॥

---

[1] सभी स्त्री अपने पति को अन्य स्त्री में अनुरक्त देखकर जो ईर्ष्या करती है, उसे मान, प्रणयकोप या सौतियाडाह कहते हैं।—अनु

ततस्त वत्साख्य तनयमनुरक्तप्रकृतिक
　　निवेश्य स्वे राज्ये जगदुदयहेतोरुदयनम्।
सहस्रानीकोऽसौ सचिवसहित सप्रियतमो
　　महाप्रस्थानाय क्षितिपतिरगच्छद्धिमगिरिम् ॥२१७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथामुखलम्बके द्वितीयस्तरङ्ग

तृतीयस्तरङ्ग

तत स वत्सराज्य च प्राप्य पित्रा समर्पितम्।
कौशाम्ब्यामवस्थित सम्यक्छशासोदयन प्रजा ॥१॥
यौगन्धरायणादिषु भार विन्यस्य मन्त्रिषु।
बभूव स शनै राजा सुखसम्भोगतत्पर ॥२॥
सदा सिषेवे मृगया वीणां घोषवतीं च ताम्।
दत्तां वासुकिना पूर्व भक्तस्तद्दिनमवादयत् ॥३॥
तत्तन्त्रीकलनिर्ह्रादमोहमन्त्रवशीकृतान् ।
आनिनाय च सयम्य सदा मत्तान् वनद्विपान् ॥४॥
स वारनारीवक्त्रेन्दुप्रतिमालङ्कृतां सुराम्।
मन्त्रिणां च मुखच्छायां वत्सराज सम पपौ ॥५॥
कुलरूपानुरूपा मे भार्या क्वापि न विद्यते।
एका वासवदत्ताख्या कन्यका श्रूयते परम् ॥६॥
कथ प्राप्यत सा चेति चिन्तामेकामुवाह स।
सोऽपि चण्डमहासेन उज्जयिन्यामचिन्तयत् ॥७॥
तुल्यो मद्दुहितुर्भर्ता जगत्यस्मिन्न विद्यते।
अस्ति चोदयनो नाम विपक्ष स च मे सदा ॥८॥
तत्कथ नाम जामाता वश्यश्च स भवेन्मम।
उपायस्त्वेक एवास्ति यदटव्यां भ्रमत्यसौ ॥९॥
एकाकी द्विरदान्बध्नन् मृगयाव्यसनी नृप।
तेन च्छिद्रेण त युक्त्यावष्टभ्यानाययाम्यहम् ॥१ ॥
गान्धर्वज्ञस्य तस्यैतां सुतां शिष्यीकरोमि च।
ततश्चास्यां स्वय तस्य चक्षु स्निह्यत्यसशयम् ॥११॥
एव स मम जामाता वश्यश्च नियत भवेत्।
नान्योऽस्त्युपाय कोऽप्यत्र येन वश्यो भवेच्च स ॥१२॥

तदनन्तर कल्याणकारी एवं अनुरक्त प्रजावाले संसार के उदय के लिए उत्तम अपने पुत्र उदयन को राज्य पर बैठाकर राजा सहस्रानीक सचिवों और महारानी के साथ महाप्रस्थान के लिए हिमालय की ओर चला गया॥२१७॥

द्वितीय तरंग समाप्त

तृतीय तरंग

राजा उदयन की कथा

सहस्रानीक के महाप्रस्थान के लिए हिमालय की ओर चले जाने पर, राजा उदयन वत्स प्रदेश का शासन प्राप्त करके राजधानी कौशाम्बी में रहकर सुखपूर्वक प्रजा का शासन करने लगा॥१॥

राजा उदयन यौगन्धरायण रुमण्वान् आदि मन्त्रियों पर शासन भार छोड़कर एकमात्र आमोद करने में तल्लीन हो गया॥२॥

राजा के सुख-साधनों में वासुकि द्वारा बाल्यकाल में दी हुई घोषवती वीणा ही प्रमुख साधन के रूप में थी जिसे वह दिनरात बजाया करता था॥३॥

राजा उदयन वीणा के तारों के मधुर स्वर-रूपी मोहन-मन्त्र से मदोन्मत्त जंगली हाथियों को वश में कर और बाँधकर ले आता था यही उसका एक विनोद था॥४॥

वह वत्सराज उदयन वेश्याओं की मुखचन्द्र की प्रतिमाओं से सुशोभित मदिरा और मन्त्रियों की मुखकान्ति को साथ-साथ पान करता था॥५॥

राजा उदयन को केवल एकमात्र यही चिन्ता थी कि मेरे वंश के अनुसार उच्च वंश की कन्या कहीं नहीं दीखती केवल वासवदत्ता नाम की एक प्रसिद्ध कन्या सुनी जाती है॥६॥

'वह कैसे मिले'—बस यही एक मात्र चिन्ता उसके मन में थी। उधर वासवदत्ता के पिता उज्जैन के राजा चंडमहासेन को भी यह चिन्ता सदा रही थी॥७॥

कि मेरी अनुपम सुन्दरी और गुणवती कन्या के योग्य वर संसार में मिलेगा नहीं। केवल एक योग्य वर उदयन है किन्तु वह मेरा सदा का विरोधी है॥८॥

उसके लिये एक उपाय हो कि जिससे वह मेरे वश में आ जाय और मेरा जामाता भी बन जाय। उदयन प्रायः अकेला ही जंगलों में वीणा बजाकर हाथियों को पकड़ता फिरता है॥९॥

वह शिकार का व्यसनी है, अतः अवसर ढूँढ़कर किसी युक्ति से उसे जंगल से पकड़वाकर वश में किया जाय और यहाँ लाया जाय॥१०॥

वह संगीत-शास्त्र का विशेषज्ञ है। अतः अपनी कन्या वासवदत्ता को उसकी संगीत शिष्या बना दूँगा। इस प्रकार, वासवदत्ता को देखकर वह निस्सन्देह उसका अनुरागी बन जायगा। फलतः वह मेरा वशीभूत और जामाता बन जायगा॥११ १२॥

इति सञ्चिन्त्य तरसैवुध्य स गत्वा चण्डिकागृहम्।
चण्डीमभ्यर्च्य तुष्टाव चक्रेऽस्या उपयाचितम् ॥१३॥

एतत्सम्पत्स्यते राजन्नचिराद् वाञ्छितं तव।
इति शुश्राव तत्रासावशरीरां सरस्वतीम् ॥१४॥

ततस्तुष्टः समागत्य बुद्धदत्तेन मन्त्रिणा।
सह चण्डमहासेनस्तमेवार्थमचिन्तयत् ॥१५॥

मानोद्धतो वीतलोभो रक्तभृत्यो महाबलः।
असाध्योऽपि स सामैव साम्ना तावदभिलप्यताम् ॥१६॥

इति सम्मन्त्र्य स नृपो दूतमेकं समादिशत्।
गच्छ मद्वचनाद् ब्रूहि वत्सराजमिदं वचः ॥१७॥

मत्सुता तव गान्धर्वे शिष्या भवितुमिच्छति।
स्नेहस्तदस्मासु चेत्तत् तामिहैवेत्य शिक्षय ॥१८॥

इत्युक्त्वा प्रहितस्तेन दूतो गत्वा न्यवेदयत्।
कौशाम्ब्यां वत्सराजाय सन्देशं तं तथैव सः ॥१९॥

वत्सराजोऽपि तच्छ्रुत्वा दूतादनुचितं वचः।
यौगन्धरायणस्यैवमेकान्ते मन्त्रिणोऽब्रवीत् ॥२ ॥

किमेतत्तेन सन्दिष्टं सदर्पं मम भूभुजा।
एवं सन्दिशतस्तस्य कोऽभिप्रायो दुरात्मनः ॥२१॥

इत्युक्तो वत्सराजेन तदा यौगन्धरायणः।
उवाचैनं महामन्त्री स स्वामीहितनिष्ठुरः[1] ॥२२॥

भुवि व्यसनितारव्यातिः प्ररूढा ते लतेव या।
इदं तस्या महाराज! कषायकटुकं फलम् ॥२३॥

स हि त्वां रागिणं मत्वा कन्यारत्नेन लोभयन्।
नीत्वा चण्डमहासेनो बद्ध्वा स्वीकर्तुमिच्छति ॥२४॥

तन्मुञ्च व्यसनानि त्वं सुखेन हि परैर्नृपाः।
सीदन्तस्तेषु गृह्यन्ते खातेष्विव वनद्विपाः ॥२५॥

इत्युक्तो मन्त्रिणा धीरः प्रतिदूतं व्यसर्जयत्।
स वत्सराजस्तं चण्डमहासेननृपं प्रति ॥२६॥

सन्दिदेश च यद्यस्ति वाञ्छा मच्छिष्यतां प्रति।
त्वत्पुत्र्यास्तदिहैवैषा भवता प्रेष्यतामिति ॥२७॥

---

१ स्वामिनः हिते कार्ये निष्ठुरः कठिनः, दृढ इति भावः, यौगन्धरायणविशेषणम्।

एवं कृत्वा च सचिवान् वत्सराजो जगाद सः ।
यामि चण्डमहासेनमिह बद्ध्वानयामि तम् ॥२८॥
तच्छ्रुत्वा तमुवाचाग्र्यो मन्त्री यौगन्धरायणः ।
न चैतच्छक्यते राजन् कर्तुं नैव च युज्यते ॥२९॥
स हि प्रभाववान् राजा स्वीकार्यश्च स ते प्रभो ।
तथा च तद्गतं सर्वं शृण्विदं कथयामि ते ॥३०॥

राज्ञश्चण्डमहासेनस्य कथा

अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणं भुवः ।
हसन्तीव सुधाधौतैः प्रासादैरमरावतीम् ॥३१॥
यस्यां वसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम् ।
शिथिलीकृतकैलासनिवासव्यसनो हरः ॥३२॥
तस्यां महेन्द्रवर्माख्यो राजाभूद्भूभृतां वरः ।
जयसेनाभिधानोऽस्य बभूव सदृशः सुतः ॥३३॥
जनमेजयस्य तस्याथ पुत्रोऽप्रतिमदोर्बलः ।
समुत्पन्नो महासेननामा नृपतिकुञ्जरः ॥३४॥
सोऽथ राजा स्वराज्यं तत्पालयन्समचिन्तयत् ।
न मे खड्गोऽनुरूपोऽस्ति न च भार्या कुलोद्गता ॥३५॥
इति सञ्चिन्त्य स नृपश्चण्डिकागृहमागमत् ।
तत्रातिष्ठन्निराहारो देवीमाराधयंश्चिरम् ॥३६॥
उत्कृत्याथ स्वमांसानि होमकर्म स चाकरोत् ।
ततः प्रसन्ना साक्षात्सा देवी चण्डी तमभ्यधात् ॥३७॥
प्रीतास्मि ते गृहाणेमं पुत्र ! खड्गोत्तमं मम ।
एतत्प्रभावाच्छत्रूणामजयस्त्वं भविष्यसि ॥३८॥
किं चाङ्गारवतीं नाम कन्यां त्रैलोक्यसुन्दरीम् ।
अङ्गारकासुरसुतां शीघ्रं भार्यामवाप्स्यसि ॥३९॥
अतीव चण्डकर्मेह कृतं चैतद्यतस्त्वया ।
अतश्चण्डमहासेन इत्याख्या ते भविष्यति ॥४०॥
इत्युक्त्वा दत्तखड्गा सा देवी तस्य तिरोऽभवत् ।
राज्ञः सङ्कल्पसम्पत्तिवृष्टिराविरभूत्ततः ॥४१॥

इस प्रकार सन्देश भेजकर राजा उदयन ने मन्त्रियों से कहा— मैं अभी जाता हूँ और चंडमहासेन को बाँधकर लाता हूँ ॥२८॥

राजा के विचार सुनकर मुख्यमन्त्री यौगन्धरायण बोला—'ऐसा करना न तो सम्भव है और न उचित ही है। वह राजा प्रभावशाली है और उसे तुम्हें अपनाना भी चाहिए। इसके सम्बन्ध में विस्तार से कहता हूँ सुनो' ॥२९-१०॥

राजा चंडमहासेन की कथा

इस भूलोक में उज्जयिनी नाम की नगरी है जो भूलोक का भूषण है और सुधा-धवल प्रासाद-पंक्तियों से वह इन्द्रपुरी अमरावती को मानों हँसती है ॥११॥

जिस नगरी में महाकाल भगवान् शिव कैलास का निवास छोड़कर रहा करते हैं ॥१२॥

इस नगरी में राजाओं में श्रेष्ठ महेन्द्रवर्मा नाम का राजा था और जयसेन नामक उसी के समान उसका पुत्र हुआ ॥१३॥

उस जयसेन का अनुपम बलशाली पुत्र महासेन हुआ ॥१४॥

उस महासेन ने बहुत दिनों तक शासन करते हुए सोचा कि न तो मेरे पास मेरे योग्य खड्ग है और न उच्चकुलप्रसूत पत्नी ही है ॥१५॥

ऐसा सोचकर वह राजा महासेन चण्डिका के मन्दिर में गया और निराहार रहकर चिरकाल तक उसकी (चण्डिका की) आराधना करने लगा ॥१६॥

अपना मांस काटकर जब उसने देवी के लिए हवन किया तब देवी ने प्रसन्न होकर कहा— 'पुत्र! मैं तेरी आराधना से प्रसन्न हूँ। यह उत्तम खड्ग लो, इसके प्रभाव से शत्रु तुम्हें जीत न सकेंगे। तुम उनके लिए अजेय हो जाओगे और अंगारकासुर की अंगारवती नाम की कन्या है जो त्रैलोक्य में अनुपम सुन्दरी है वह शीघ्र ही तुम्हारी पत्नी बनेगी। तुमने अपना मांस काटकर देते हुए अत्यन्त घोर (उग्र) कार्य किया है अतः तुम्हारा नाम चण्डमहासेन होगा। इतना कहकर और खड्ग को देकर देवी अन्तर्धान हो गईं और राजा भी मनोरथ सफल होने से अत्यन्त हर्ष का अनुभव करने लगा ॥१७-२१॥

स खड्गो मत्तहस्तीन्द्रो नडागिरिरिति प्रभोः।
द्वे तस्य रत्ने शक्रस्य कुलिशैरावणाविव ॥४२॥
तयोः प्रभावात् सुचिरं कदाचित्सोऽथ भूपतिः।
अगाच्चण्डमहासेनो मृगयायै महाटवीम् ॥४३॥
अतिप्रमाणं तत्रैकं वराहं घोरमैक्षत।
नैशं तम इवाकाण्डे दिवा पिण्डत्वमागतम् ॥४४॥
स वराहः शरैस्तस्य तीक्ष्णैरप्यकृतव्रणः।
आहत्य स्यन्दनं राज्ञः पलाय्य विवरमाविशत् ॥४५॥
राजापि रथमुत्सृज्य तमेवानुसरन् क्रुधा।
धनुर्द्वितीयस्तत्रैव प्राविशत्तद्बिलान्तरम् ॥४६॥
दूरं प्रविश्य चापश्यत् कान्तं पुरवरं महत्।
सविस्मयो न्यषीदच्च तदन्तर्दीर्घिकातटे ॥४७॥
तत्रस्थः कन्यकामेकामपश्यत् स्त्रीशतान्विताम्।
सञ्चरन्तीं स्मरस्येव धैर्यनिर्भेदिनीमिषुम् ॥४८॥
सापि प्रेमरसासारवर्षिणा चक्षुषा मुहुः।
स्नपयन्तीव राजानं शनकैस्तमुपागमत् ॥४९॥
कस्त्वं सुभग! कस्माच्च प्रविष्टोऽसीह साम्प्रतम्।
इत्युक्तः स तया राजा यथातत्त्वमवर्णयत् ॥५०॥
तच्छ्रुत्वा नेत्रयुगलात् सरागादश्रुसन्ततिम्।
हृदयाद्धीरतां चापि सम कन्या मुमोच सा ॥५१॥
का त्वं रोदिषि कस्माच्च पृष्टा तेनेति भूभृता।
सा तं प्रत्यब्रवीदेवं मन्मथाज्ञानुवर्तिनी ॥५२॥
यो वराहः प्रविष्टोऽत्र स दैत्योऽङ्गारकाभिधः।
अहं चैतस्य तनया नाम्नाङ्गारवती नृप ॥५३॥
वज्रसारमयश्चासौ राजपुत्रीरिमाः शतम्।
आच्छिद्य राज्ञां गेहेभ्यः परिवारं व्यधान्मम ॥५४॥
किं चैष राक्षसीभूतः शापदोषान्महासुरः।
तृष्णाश्रमार्तश्चाद्य त्वां प्राप्यापि त्यक्तवानयम् ॥५५॥
इदानीं स्वापवराहरूपो विश्राम्यति स्वयम्।
सुप्तोत्थितश्च नियतं त्वयि पापं समाचरेत् ॥५६॥

महाराज ! यह खड्ग और गन्धगिरि नाम का हाथी—ये दो उस राजा के उसी प्रकार के अमूल्य रत्न हैं जिस प्रकार इन्द्र के पास वज्र और ऐरावत हाथी। इन रत्नों के प्रभाव से अत्यन्त सुखी राजा चण्डमहासेन एक बार शिकार खेलने के लिए घोर जंगल में गया। वहाँ उसने सहसा अद्भुत लम्बा-चौड़ा एक भीषण शूकर को देखा जो दिन में सिमटे हुए रात के अन्धकार के गोले के समान प्रतीत हो रहा था ॥४२–४४॥

वह शूकर, राजा के तीक्ष्ण बाणों से बिद्ध होकर भी आहत न हुआ और राजा के रथ को टक्कर मारकर एक बिल में जा घुसा ॥४५॥

राजा क्रोध से भरकर और रथ को छोड़कर उसका पीछा करते हुए धनुष के साथ उसी बिल में चला गया ॥४६॥

बिल में दूर तक जाकर राजा ने एक सुन्दर सजा हुआ नगर देखा। थका हुआ राजा विश्राम के लिए वहीं एक बावली के तट पर जा बैठा। राजा ने उस बावली में अनेक सहेलियों के साथ स्नान करती हुई एक सुन्दरी कन्या को देखा जो धैर्य को नष्ट कर देनेवाले कामदेव के एक बाण के समान थी ॥४७–४८॥

वह सुन्दरी अपनी दृष्टि से प्रेम रस बरसाकर मानों राजा को स्नान कराती हुई और रोती हुई राजा के पास आई और बोली—हे सौभाग्यशालिन् ! तुम कौन हो ? और इस समय यहाँ किसलिए आये हो ? यह सुनकर राजा ने उससे सारी सच्ची बात कह दी। राजा की बातें सुनकर, उस सुन्दरी ने आँखों से अविरल अश्रु-धारा और हृदय से धैर्य को एक साथ ही छोड़ दिया। 'तुम कौन हो और क्यों रो रही हो ? राजा के इस प्रकार पूछने पर कामदेव से प्रेरित वह बाला बोली—'जो शूकर इस बिल में घुसा है वह अङ्गारकासुर नाम का दैत्य है और मैं अङ्गारवती नाम की उसकी कन्या हूँ। यह अङ्गारकासुर, वज्र के तरह से बना हुआ अत्यन्त बलवान् है। जिन राजकुमारियों को तुम यहाँ देख रहे हो इन्हें यह दैत्य राजाओं के महलों से बलपूर्वक छीनकर लाया है। इन्हीं से इसने मेरा परिवार बनाया है ॥४९–५४॥

यह असुर शाप के कारण राक्षस बन गया है। शाप के कारण ही प्यासा और थका हुआ इसने तुम्हें पाकर भी छोड़ दिया है। इस समय यह शूकर-रूप को त्याग कर सो रहा है। सोकर उठते ही यह अवश्य तुम्हें मार डालेगा ॥५५–५६॥

---

१ इच्छित रूपवाले निद्रावस्था में अपने वास्तविक रूप में हो जाते हैं। यह प्राकृतिक नियम है। —अनु

इति म तव कल्याणमपश्यन्त्या गलन्त्यमी।
सन्तापक्वथिता प्राणा इव वाष्पाम्बुबिन्दव ॥५७॥
इत्यङ्गारवतीवाक्य श्रुत्वा राजा जगाद ताम्।
यदि मय्यस्ति त स्नेहस्तदिद मद्वच कुरु ॥५८॥
प्रबुद्धस्यास्य गत्वा त्व रुदिहि स्वपितु पुर।
ततश्च नियत स त्वां पृच्छेद्रुदनकारणम् ॥५९॥
त्वां भन्निपातयेत्कश्चित्ततो मे का गतिर्भवेत्।
एतद्ब्रूयास्त्व ममेत्यव स च वाच्यस्त्वया तत ॥६ ॥
एव कृतेऽस्ति कल्याण तवापि च ममापि च।
इत्युक्ता तेन सा राज्ञा तथत्यङ्गीचकार तम् ॥६१॥
त च च्छन्नमवस्थाप्य राजान पापशङ्किनी।
जगामासुरकन्या सा प्रसुप्तस्यान्तिक पितु ॥६२॥
सोऽपि दैत्य प्रबुबुध प्रारेभे सा च रोदितुम्।
कि पुत्रि! रोदिषीत्येव स च तामब्रवीत्तत ॥६३॥
'हन्यात्त्वां कोऽपि चेत्तात! तदा मे का गतिर्भवेत्।
इत्यात्त्वां तमवादीत्सा स विहस्य ततोऽब्रवीत् ॥६४॥
को मां व्यापादयत्पुत्रि! सर्वो वज्रमयो ह्यहम्।
वामहस्तेऽस्ति म छिद्र तच्च चापेन रक्ष्यते ॥६५॥
इत्यमाश्वासयामास स दैत्यस्तां निजां सुताम्।
एतच्च निखिल तन राज्ञा छन्नन शुश्रुव ॥६६॥
तत क्षणादिवोत्थाय कृत्वा स्नान स दानव।
कृतमौन प्रववृते देव पूजयितु हरम् ॥६७॥
तत्काल प्रकटीभूय स राजाकृष्टकार्मुक।
उपेत्य प्रसभ दैत्य रणायाह्वयते स्म तम् ॥६८॥
सोऽप्युत्क्षिप्य कर वाम मौनस्थस्तस्य भूपते।
प्रतीक्षस्वेति सज्ञां तदाकरोत् ॥६९॥
राजापि लघुहस्तत्वात्कर तमेव तत्क्षणम्।
तस्मिन्मर्मणि त दैत्य पृषत्केन जघान स ॥७ ॥
स च मर्माहतो घोर राव कृत्वा महासुर।
अगारक्तोऽपतद् भूमौ निर्यज्जीवो जगाद च ॥७१॥
तृषितोऽह हतो येन स मामद्भिर्न तर्पयत्।
प्रत्यब्द यदि तत्तस्य नश्येयु पञ्च मन्त्रिण ॥७२॥

इसी कारण आँखों से ये आँसू तुम्हारा कल्याण न देखकर शरीर से प्राणों के समान निकल रहे हैं' ॥५७॥

राजा मंगारवती की बात सुनकर उससे बोला—"यदि तुम्हें मुझ पर स्नेह है तो तुम मेरी एक बात मानो ॥५८॥

वह यह कि जब अंगारकासुर सोकर उठे तब तुम उस समय पिता के सामने खूब रोओ तब वह अवश्य ही तुम्हारे रोने का कारण पूछेगा ॥५९॥

तब तुम उससे कहना मुझे यह दुःख हो रहा है कि यदि तुम्हें कोई मार डाले तो मेरी क्या गति होगी? यही दुःख मेरे रोने का कारण है' ॥६ ॥

तुम्हारे ऐसा करने पर मेरा और तुम्हारा दोनों का कल्याण होगा। राजा से यह सुनकर अंगारवती ने उसी प्रकार करना स्वीकार कर लिया ॥६१॥

अंगारवती ने पिता के भय से राजा को पास ही कहीं छिपा दिया और स्वयं सोये हुए पिता के निकट चली गई ॥६२॥

वह दैत्य जब जागा तब कन्या रोने लगी। तब दैत्य ने पूछा—बेटी! क्यों रो रही हो? तब अंगारवती ने कहा—पिता! यदि तुम्हें कोई मार डाले तो मेरी क्या गति होगी। इसी चिन्ता से मैं रो रही हूँ। उसके ऐसा कहने पर वह दैत्य हँसकर कहने लगा—॥६३ ६४॥

बेटी मुझे कौन मारेगा। मेरा सारा शरीर वज्र से बना है। केवल बाईं हथेली में एक छिद्र (दुर्बलता) है उसकी रक्षा धनुष से हो जाती है। इस प्रकार दैत्य ने पुत्री को धीरज बँधाया और यह सब पास ही छिपे हुए राजा ने सुन लिया ॥६५ ६६॥

तदनन्तर कुछ ही समय बाद वह दानव उठा और स्नान करके शिवजी की पूजा-स्तुति करने लगा ॥६७॥

राजा ने भी उस समय प्रकट होकर दानव को युद्ध के लिए ललकारा ॥६८॥

मौन मुद्रा में बैठा हुआ वह दैत्य बायें हाथ को ऊपर उठाकर 'जरा ठहरो' इस प्रकार राजा से संकेत करने लगा। राजा बाण-विद्या में सिद्धहस्त तो था ही उसी समय उसने एक बाण दैत्य के मर्मस्थान (बाईं हथेली) पर मारा। वह दैत्य मर्मस्थान पर आघात होने के कारण भीषण चीत्कार के साथ प्राणों को त्यागता हुआ बोला—॥६९-७१॥

'मुझ प्यासे को जिसने मारा है, वह यदि प्रतिवर्ष पानी से मेरा तर्पण न करेगा तो उसके पाँच मन्त्री मर जायेंगे' ॥७२॥

इत्युक्त्वा पञ्चतां प्राप स दैत्यः साऽपि तत्सुताम्।
तामङ्गारवतीं राजा गृहीत्वोज्जयिनीं ययौ ॥७३॥

परिणीतवतस्तस्य तत्र तां दैत्यकन्यकाम्।
जातौ द्वौ तनयौ चण्डमहासेनस्य भूपतेः ॥७४॥

एको गोपालको नाम द्वितीयः पालकस्तथा।
तयोरिन्द्रोत्सवं चासौ जातयोरकरोन्नृपः ॥७५॥

ततस्तं नृपतिं स्वप्ने तुष्टो वक्ति स्म वासवः।
प्राप्स्यस्यनन्यसदृशीं मत्प्रसादात्सुतामिति ॥७६॥

ततः कालेन जातास्य राज्ञः कन्या तु तन्मयः।
अपूर्वा निर्मिता धात्रा चन्द्रस्येवापरा तनुः ॥७७॥

कामदेवावतारोऽस्याः पुत्रो विद्याधराधिपः।
भविष्यतीति तत्कालमुदभूद् भारती दिवः ॥७८॥

दत्ता मे वासवेनैषा तुष्टेनेति स भूपतिः।
नाम्ना वासवदत्तां तां तनयामकरोत्तदा ॥७९॥

सा च तस्य पितुर्गेहे प्रदेया सम्प्रति स्थिता।
प्राक् मन्थार्णवस्येव कमला कुक्षिकोटरे ॥८०॥

एवंविधप्रभावश्चण्डमहासेनभूपतिः स किल।
देव! न शक्यो जेतुं यथा तथा दुर्गदेशस्थः ॥८१॥

किं च स राजन्वाञ्छति दातुं तुभ्यं सदैव तनयां ताम्।
प्रार्थयते तु स राजा निजपक्षमहोदयं मानी ॥८२॥

सा चावश्यं मन्ये वासवदत्ता त्वयैव परिणेया।
स सपदि वासवदत्ताहृतहृदयो वत्सराजोऽभूत् ॥८३॥

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथामुखलम्बके तृतीयस्तरङ्गः।

चतुर्थस्तरङ्गः

अत्रान्तरे स वत्सेशप्रतिदूतस्तदब्रवीत्।
गत्वा प्रतिवचश्चण्डमहासेनाय भूभृते ॥१॥

इस प्रकार कहते हुए अंगारकासुर ने प्राण छोड़ दिये और राजा भी उसकी पुत्री अंगारवती को लेकर उज्जैन चला गया ॥७३॥

उज्जैन में आकर उस अंगारवती से विवाह करने पर चंडमहासेन राजा के दो पुत्र उत्पन्न हुए, एक गोपालक और दूसरा पालक। राजा ने दोनों का जन्मोत्सव खूब धूमधाम के साथ मनाया ॥७४-७५॥

एक बार सोये हुए राजा को स्वप्न में इन्द्र ने कहा—'राजन्! तुम मेरी कृपा से अपूर्व सुन्दरी कन्या प्राप्त करोगे' ॥७६॥

इस प्रकार इन्द्र की कृपा से राजा को नवीन चन्द्रमा के समान सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई। उसके उत्पन्न होते ही आकाशवाणी हुई कि इस कन्या के गर्भ से कामदेव का अवतार होगा जो सब विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा ॥७७-७८॥

राजा ने प्रसन्न होकर उस कन्या का नाम इसीलिए वासवदत्ता रखा कि उसे वह वासव अर्थात् इन्द्र के प्रसाद से प्राप्त हुई थी ॥७९॥

वह कन्या इस समय राजा के भवन में उसी प्रकार निवास कर रही है जिस प्रकार मन्थन से पहले समुद्र-गर्भ में लक्ष्मी निवास करती थी ॥८०॥

यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज! वह उज्जैन का महाराजा चंडमहासेन इस प्रकार सुदृढ़ दुर्ग में स्थित महाबलवान् है। वह सहज में ही नहीं जीता जा सकता। साथ ही राजन्! वह स्वयं ही तुम्हें कन्या देना चाहता है, किन्तु अत्यन्त आत्माभिमानी होने के कारण अपने पक्ष को ऊँचा रखना भी चाहता है ॥८१-८२॥

इसलिए उस वासवदत्ता से तुम्हें अवश्य ही विवाह करना चाहिए। राजा उदयन मन्त्री यौगन्धरायण की बातें सुनकर वासवदत्ता के प्रति अत्यन्त आकृष्ट होकर आत्मविस्मृत-सा हो गया ॥८३॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथामुखलम्बक का
तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थ तरंग

वत्सराज उदयन की कथा (क्रमशः)

इसी बीच वत्सराज के भेजे हुए दूत ने उसका प्रतिसन्देश चंडमहासेन के पास पहुँचा दिया ॥१॥

सोऽपि चण्डमहासेनस्तच्छ्रुत्वैव व्यचिन्तयत्।
स तावदिह नायाति मानी वत्सेश्वरो भृशम् ॥२॥
कन्या हि तत्र न प्रेष्या भवेदेवं हि लाघवम्।
तस्माद् बद्ध्वैव तं युक्त्या नृपमानाययाम्यहम् ॥३॥
इति सञ्चिन्त्य सम्मन्त्र्य स राजा मन्त्रिभिः सह।
अकारयत्स्वसदृशं महान्तं यन्त्रहस्तिनम् ॥४॥
तं चान्तर्वीरपुरुषैः कृत्वा छन्नैरधिष्ठितम्।
विन्ध्याटव्यां स निदधे राजा यन्त्रमयं गजम् ॥५॥
तत्र तं चारपुरुषाः पश्यन्ति स्म विदूरतः।
गजबन्धरसासक्तवत्सराजोपजीविनः ॥६॥
ते च त्वरितमागत्य वत्सराजं व्यजिज्ञपन्।
देव! दृष्टो गजोऽस्माभिरेको विन्ध्यवने भ्रमन् ॥७॥
अस्मिन्नियति भूलोके नैव योऽन्यत्र दृश्यते।
वर्ष्मणा व्याप्तगगनो विन्ध्याद्रिरिव जङ्गमः ॥८॥
ततश्चारवचः श्रुत्वा वत्सराजो जहर्ष सः।
तेभ्यः सुवर्णलक्षं च प्रददौ पारितोषिकम् ॥९॥
तं चेद् गजेन्द्रं प्राप्स्यामि प्रतिमल्लं नडागिरेः।
ततश्चण्डमहासेनो वश्यो भवति मे ध्रुवम् ॥१०॥
ततो वासवदत्तां तां स स्वयं मे प्रयच्छति।
इति सञ्चिन्तयन्सोऽथ राजा तामनयन्निशाम् ॥११॥
प्रातश्च मन्त्रिवचनं न्यक्कृत्वा गजतृष्णया।
पुरस्कृत्यैव तांश्चारान्ययौ विन्ध्याटवीं प्रति ॥१२॥
प्रस्थानलग्नमस्य फलं कन्यालाभं सबन्धनम्।
यद्दूचुर्गणकास्तस्य तत्स नैव व्यचारयत् ॥१३॥
प्राप्य विन्ध्याटवीं तस्य गजस्य क्षोभशङ्कया।
वत्सराजः स सैन्यानि दूरादेव न्यवारयत् ॥१४॥
चारमात्रसहायस्तु वीणां घोषवतीं दधत्।
निजव्यसनविस्तीर्णां तां विवेश महाटवीम् ॥१५॥
विन्ध्यस्य दक्षिणे पार्श्वे दूरप्रान्तरे प्रदर्शितम्।
गजं सत्यगजाभासं तं ददर्श स भूपतिः ॥१६॥

उदयन के सन्देश को सुनकर चंडमहासेन ने सोचा—कि वह आत्माभिमानी वत्सराज उदयन यहाँ आना नहीं चाहता। मैं भी कन्या को उसके यहाँ नहीं भेज सकता। इसमें मेरी लघुता होगी। इसीलिए चतुराई से कैद कर ही उसे यहाँ बुलाता हूँ—ऐसा सोचकर चंड महासेन ने मन्त्रियों से मन्त्रणा करके अपने हाथी नडागिरि के समान ही एक यन्त्रमय हाथी बनवाया। उसके पेट में योग्य योद्धाओं को छिपाकर उसे विन्ध्याचल के घोर जंगल में रखवा दिया ॥२—५॥

राजा उदयन के शिकारी भृत्यों ने जंगल में घूमते हुए उस यन्त्र-हस्ती को दूर से देखा और राजा उदयन से निवेदन किया—'महाराज हमने विन्ध्यारण्य में घूमता हुआ एक महान् हाथी देखा है। ऐसा हाथी इस विशाल भूमण्डल में नहीं देखा गया। लम्बे-चौड़े एवं विशाल-काय वह जंगम विन्ध्य पर्वत के समान आकाश में व्याप्त हो रहा है'। शिकारी गुप्तचरों की बात सुनकर राजा उदयन अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उन्हें सुवर्ण-मुद्राओं के पुरस्कार देकर विदा किया ॥६—९॥

और सोचा कि मैं नडागिरि के समान उस हाथी को यदि प्राप्त कर लूँगा तो चंडमहासेन अवश्य मेरे वश में आयगा और स्वयं ही मुझे वासवदत्ता का प्रदान करेगा। इस प्रकार सोचते हुए राजा ने किसी प्रकार रात्रि व्यतीत की ॥१०-११॥

प्रातःकाल उठकर मन्त्रियों की बात न मानकर राजा उदयन ने हाथी के लोभ में उन शिकारी गुप्तचरों को आगे करके जंगल में प्रस्थान किया। उसके ज्योतिषियों ने उसकी मृगया यात्रा का फल बताया था कि कन्या-लाभ तो होगा किन्तु बन्धन (कैद) के साथ। इस बात पर भी उसने ध्यान नहीं दिया ॥१२-१३॥

विन्ध्यारण्य में पहुँचकर राजा उदयन ने सेनाओं को दूर ही रोक दिया कि उनकी भीषण ध्वनि से हाथी भड़ककर कहीं भाग न जाय केवल शिकारी गुप्तचरों को साथ लेकर राजा घोषवती वीणा को बजाता हुआ और अपने बन्धन की बात स्मरण करता हुआ घोर जंगल में प्रवेश कर गया ॥१४ १५॥

गुप्तचरों द्वारा दूर से दिखाये हुए तथा विन्ध्यवन की दाहिनी ओर घूमते हुए उस कल्पित हाथी को राजा ने देखा ॥१६॥

एकाकी वादयन्वीणां चिन्तयन् बन्धनानि सः ।
मधुरध्वनि गायंश्च शनैस्समुपजगाम तम् ॥१७॥
गान्धर्वदत्तचित्तत्वात्सन्ध्याध्वान्तवशाच्च सः ।
न तं वनगजं राजा मायागजमलक्षयत् ॥१८॥
सोऽपि हस्ती तमुत्कर्णतालो गीतरसादिव ।
उपेत्योपेत्य विचलन् दूरमाकृष्टवान्नृपम् ॥१९॥
ततोऽकस्माच्च निर्गत्य तस्मात्कृत्रिमयाद् गजात् ।
वत्सेश्वरं तं सन्नद्धाः पुरुषाः पर्यवारयन् ॥२ ॥
तान्दृष्ट्वा नृपतिः कोपादाकृष्टच्छुरिकोऽथ सः ।
अग्रस्थान् योधयन्नन्यैरेत्य पश्चादगृह्यत ॥२१॥
सङ्केतमिलितैश्चान्यैर्योधैस्तैः सचिवैः सह ।
निन्युर्वत्सेश्वरं चण्डमहासेनान्तिकं च तम् ॥२२॥
सोऽपि चण्डमहासेनो निर्गत्याग्रे कृतादरः ।
वत्सेशेन समं तेन विवेशोज्जयिनीं पुरीम् ॥२३॥
स तत्र ददृशे पौरैर्नवमानकलङ्कितः ।
शशीव लोचनानन्दो वत्सराजो नवागतः ॥२४॥
ततोऽस्य गुणरागेण वधमाशङ्क्य तत्र ते ।
पौराः सम्भूय सकलाश्चक्रुर्मरणनिश्चयम् ॥२५॥
न मे वत्सेश्वरो वध्यः सन्धेय इति तान् ब्रुवन् ।
सोऽथ चण्डमहासेनः पौरान् क्षोभादवारयत् ॥२६॥
ततो वासवदत्तां तां सुतां तत्रैव भूपतिः ।
वत्सराजाय गान्धर्वशिक्षाहेतोः समर्पयत् ॥२७॥
उवाच चैनं गान्धर्वं त्वमेतां शिक्षय प्रभो ।
तत्र प्राप्स्यसि कल्याणं मा विषादं कृथा इति ॥२८॥
तस्य दृष्ट्वा तु तां कन्यां वत्सराजस्य मानसम् ।
तथा स्नेहात्समभवद्यथा मन्युमैक्षत ॥२ ॥
तस्याश्च चक्षुर्मनसी सह तं प्रतिजग्मतुः ।
ह्रिया चक्षुर्निववृते मनस्तु न कथञ्चन ॥३०॥
अथ वासवदत्तां तां गायन्गद्गदनेक्षणः ।
तत्र गान्धर्वशालायां वत्सराज उवास सः ॥३१॥

अकेले वीणा बजाता हुआ और मधुर स्वर में गाता हुआ साथ ही अपने बन्धन की बात को भी सोचता हुआ वह राजा धीरे-धीरे हाथी के समीप चला गया ॥१७॥

गीत की ओर तन्मय होने और सन्ध्याकालीन अन्धकार के घने होने के कारण राजा उस कलभ के रूप में निर्मित मायागज को वास्तविक रूप में न पहचान सका ॥१८॥

वह हाथी भी गानों गीतरस में मग्न होकर लम्बे-लम्बे कानों को हिलाता हुआ राजा के समीप आता हुआ-सा धीरे-धीरे उसे दूर एकान्त में ले गया। एकान्त में पहुँचते ही उस मायिक हाथी के उदर से निकलकर पहले से तैयार कुछ वीर सिपाहियों ने राजा को घेर लिया ॥१९-२०॥

उन्हें देखकर क्रुद्ध राजा ने कमर से छुरी खींचकर अगल सिपाहियों से जूझना प्रारम्भ किया। इतने में ही मौका पाकर पीछे छिपे हुए अन्य सैनिक भी जंगल से निकल आये और पीछे से आक्रमण करके वत्सराज राजा उदयन को बन्दी बनाकर चंडमहासेन के पास ले गये ॥२१-२२॥

चंडमहासेन भी वत्सराज को देखकर प्रसन्न हुआ। उसने आगे बढ़कर उसका स्वागत किया और उसे साथ लेकर उज्जयिनी नगरी में गया ॥२३॥

उस नगरी में बन्धनयुक्त एवं नवागत उदयन को उज्जयिनी की जनता ने नयनानन्दकारी चन्द्रमा के समान देखा ॥२४॥

उज्जयिनी की जनता ने वैसे राजा उदयन के वध की आशंका से दुःखी होकर मरने का निश्चय किया ॥२५॥

प्रजा के सत्याग्रह को देखकर राजा चण्डमहासेन ने उसे आश्वासन दिया कि मैं उसका वध नहीं, प्रत्युत उससे मित्रता करना चाहता हूँ। इस प्रकार चंडमहासेन ने प्रजा के उस विप्लव को शान्त किया ॥२६॥

तब राजा ने वहीं पर अपनी पुत्री वासवदत्ता को संगीत-शिक्षा के लिए उदयन को सौंप दिया ॥२७॥

और बोला—हे राजन्! तुम इसे गान्धर्व विद्या की शिक्षा दो। इसमें तुम्हारा कल्याण ही होगा। मन में किसी प्रकार का खेद न करो। चंडमहासेन की कन्या वासवदत्ता को देखकर राजा उदयन मन में इतना प्रसन्न हुआ कि धोखेबाजी और बंधन आदि के खेद दुःख भूल गया ॥२८-२९॥

वासवदत्ता की आँखें और मन के साथ उदयन के हृदय में मानों गड़ गईं। यद्यपि आँखें तो लज्जा के कारण लौट आईं किन्तु मन न लौटा वह उदयन में ही रम गया ॥३०॥

तदनन्तर वत्सराज उदयन चंडमहासेन की संगीत-शाला में वासवदत्ता को संगीत की शिक्षा देता हुआ निवास करने लगा ॥३१॥

अङ्के घोषवती तस्य कण्ठे गीतश्रुतिस्तथा।
पुरो वासवदत्ता च तस्थौ चेतोविनोदिनी ॥३२॥
सा च वासवदत्तास्य परिचर्यापराऽभवत्।
लक्ष्मीरिव तदेकाग्रा वत्सस्याप्यनपायिनी ॥३३॥
अत्रान्तरे च कौशाम्ब्यां वत्सराजानुगे जने।
आवृत्त त प्रभुं बुद्ध्वा बद्ध राष्ट्रं प्रभुक्षुभे ॥३४॥
उज्जयिन्यामवस्कन्दं दातुमैच्छन्समन्ततः।
वत्सस्वरानुरागेण क्रुद्धा प्रकृतयस्तदा ॥३५॥
नैव चण्डमहासेनो वत्साध्यो महाम्हि स।
न चैव वत्सराजस्य शरीर कुशलं भवेत् ॥३६॥
तस्मान्न युक्तोऽवस्कन्दो बुद्धिसाध्यमिदं पुनः।
इति प्रकृतयः क्षोभान्यवायस्त रुमण्वता ॥३७॥
ततोऽनुरक्तमालोक्य राष्ट्रमव्यभिचारि तत्।
रुमण्वदादीनाह स्म धीरो यौगन्धरायणः ॥३८॥
इहैव सर्वैर्युष्माभिः स्थातव्य सततोद्यतैः।
रक्षणीयमिदं राष्ट्रं काले कार्यश्च विक्रमः ॥३९॥
वसन्तकद्वितीयश्च गत्वाहं प्रज्ञया स्वया।
वत्सेशं मोचयित्वा तामानयामि न संशयः ॥४०॥
बलाहृतो विशपणं वैद्युताग्नेरिव द्युतिः।
आपदि स्फुरति प्रज्ञा यस्य धीरः स एव हि ॥४१॥
प्राकारभञ्जनान् योगांस्तथा निगडभञ्जनान्।
अदर्शनप्रयोगांश्च जानाम्युपयोगिनः ॥४२॥
इत्युक्त्वा प्रकृती कृत्वा हस्ते यस्ता रुमण्वतः।
यौगन्धरायणः प्रायात्कौशाम्ब्याः सवसन्तकः ॥४३॥
प्रविवेश च तेनैव सह विन्ध्यमहाटवीम्।
स्वप्रज्ञामिव सत्ताढ्यां स्वनीतिमिव दुर्गमाम् ॥४४॥
तत्र वत्सशमिभस्य विन्ध्यप्राग्भारवासिनः।
गृह पुलिन्दकाख्यस्य पुलिन्दाधिपतेर्गात् ॥४५॥
त सज्ज स्थापयित्वा च यथा तदागमिष्यत।
वत्सराजस्य रक्षार्थं भूरिसैन्यसमन्वितम् ॥४६॥

१ आक्रमणमिति भावः।

संगीत-शाला में राजा उदयन के मनोविनोद के लिए गोद में बजती वीणा, कंठ में संगीत का स्वर और आँखों के सामने वासवदत्ता—यह सामग्री थी ॥१२॥

उस कैदी राजा की सुस्थिरा लक्ष्मी के समान शिष्या वासवदत्ता राजा की सेवा-सुश्रूषा में तन्मय रहने लगी ॥१३॥

इसी बीच उधर शिकार से लौटे हुए सैनिकों तथा गुप्तचरों द्वारा वत्सराज उदयन का कैद होना सुनकर राजा के प्रेम में सारा वत्स राष्ट्र क्षुब्ध हो गया और उज्जयिनी पर आक्रमण की तैयारियाँ होने लगीं ॥१४-१५॥

जनता को क्षुब्ध देखकर मन्त्री रुमण्वान् ने इस प्रकार उसे शान्त किया कि चंडमहासेन युद्ध के द्वारा वश में नहीं किया जा सकता। वह महाबलवान् है। और इस प्रकार आक्रमण करने से वत्सराज की भी खैर न होगी। उसका वध कर दिया जायगा। इसलिए यह कार्य युद्ध से नहीं प्रत्युत बुद्धि से सिद्ध करने योग्य है ॥१६-१७॥

राष्ट्र में राजानुरक्त प्रजा का क्षोभ देखकर परम बुद्धिमान् प्रधान मन्त्री यौगन्धरायण ने रुमण्वान् आदि मन्त्रियों तथा राज्याधिकारियों से कहा—॥१८॥

'तुम सबको सदा तैयार रहना चाहिए और इस राजाहीन राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए। समय आने पर युद्ध के लिए भी तैयार रहना चाहिए और मैं नर्म-सचिव वसन्तक के साथ अपने बुद्धि-बल से वत्सराज को छुड़ा लाता हूँ, इसमें सन्देह नहीं ॥१९-४० ॥

अधिक जल-संघर्ष से जैसे अधिक बिजली उत्पन्न होती है, उसी प्रकार भीषण और गम्भीर संकट के समय जिसकी बुद्धि का स्फुरण होता है, वही धीर है ॥४१॥

प्राकारों के ध्वंस करने के योग (उपाय), बेड़ियाँ काटने के योग और अदृश्य हो जाने के योग (उपाय) भी मैं जानता हूँ। ऐसा कहकर और प्रजा को मन्त्री रुमण्वान् के हाथ सौंपकर यौगन्धरायण कौशाम्बी से वसन्तक के साथ निकल गया ॥४२-४३॥

साथ ही वसन्तक के साथ अपनी बुद्धि के समान सत्त्वपूर्ण तथा अपनी नीति के समान दुर्गम विन्ध्य महावन में वह गया[1] ॥४४॥

वहाँ विन्ध्य-सीमा पर निवास करनेवाले पुलिन्द (जंगली) जाति के राजा वत्सराज के मित्र पुलिन्दक से मिलकर यौगन्धरायण ने उसे प्रबल और बड़ी सेना के साथ तैयार रहने के लिए कहा, जिससे वत्सराज को लेकर लौटते समय यदि पीछे से आक्रमण हो तो पहली युद्धभूमि यही बन ॥४५-४६॥

---

१ जंगल के पक्ष में सत्त्व का अर्थ प्राणी है, यौगन्धरायण के पक्ष में मनोबल है। जिस प्रकार यौगन्धरायण की नीति दुर्गम थी, उसी प्रकार वह जंगल कठिनताओं से भरा, अतएव दुर्गम था।—अनु

गत्वा वसन्तकसखस्ततो यौगन्धरायणः ।
उज्जयिन्यां महाकालश्मशानं प्राप स क्रमात् ॥४७॥
विवेश तच्च वेतालैः क्रव्यगन्धिभिरावृतम् ।
इतस्ततस्तमःश्यामैश्चिताधूमैरिवापरैः ॥४८॥
तत्र च दर्शनप्रीतो मित्रभावाय तत्क्षणम् ।
योगेश्वराख्यो वृतवानस्य ब्रह्मराक्षसः ॥४९॥
तेनोपदिष्टया युक्त्या ततो यौगन्धरायणः ।
स चकारात्मनः सद्यो रूपस्य परिवर्तनम् ॥५०॥
बभूव तेन विकृतः कुब्जो वृद्धश्च तत्क्षणात् ।
उन्मत्तवेशः खल्वाटो हास्यसञ्जननः परम् ॥५१॥
तयैव युक्त्या स तदा सिरानद्धपृथूदरम् ।
चक्रे वसन्तकस्यापि रूपं दन्तुरमुल्बणम् ॥५२॥
ततो राजकुलद्वारमादौ प्रेष्य वसन्तकम् ।
विवेशोज्जयिनीं तां स तादृग्यौगन्धरायणः ॥५३॥
नृत्यन्गायंश्च तत्रासौ बटुभिः परिवारितः ।
दृष्टः सकौतुकं सर्वैर्ययौ राजगृहं प्रति ॥५४॥
तत्र राजावरोधानां समासीत्कृतकौतुकः ।
अगाद् वासवदत्ताया ध्यानं श्रवणगोचरम् ॥५५॥
सा तमानाययामास चेटिकां प्रेष्य सत्वरम् ।
गान्धर्वशालां नर्मैकसादरं हि नवं वयः ॥५६॥
स च तत्र गतो वृद्धो वत्सराजं ददर्श तम् ।
उन्मत्तवेषो विगलद्बाष्पो यौगन्धरायणः ॥५७॥
चकार तस्मै संज्ञां च वत्सराजाय सोऽपि तम् ।
प्रत्यभिज्ञातवान् राजा वपुःप्रच्छन्नमागतम् ॥५८॥
ततो वासवदत्तां च तत्सखीः प्रति चारणः ।
अरञ्जयन् विचित्रलापाद् व्याजाद्यौगन्धरायणः ॥५९॥
गाथा स्वचो दर्शनेन नाट्येन गत्या गतिपरम्परम् ।
वर्त्मनि स्म गताज्जनमादुन्मत्तं ययाप्यमाविति ॥६०॥

---

१ मनुष्याज्ञनमेवैर्भैन भावः ।

तदनन्तर यौगन्धरायण वसन्तक को साथ लिये हुए उज्जयिनी के महाकाल श्मशान में पहुँचा ॥४७॥

वह श्मशान मांस की दुर्गन्धिवाले और चिता-धूम के धुआँरों के समान काले-काले वेतालों से भरा हुआ था ॥४८॥

वहाँ श्मशान में पहुँचने पर मित्रता के कारण उसे देखते ही प्रसन्न होकर योगेश्वर नाम का ब्रह्मराक्षस यौगन्धरायण का मित्र बन गया ॥४९॥

उसी योगेश्वर की बताई हुई युक्ति के अनुसार यौगन्धरायण ने तुरन्त अपना रूप बदल लिया। रूप बदलते ही यौगन्धरायण उसी समय टेढ़े-मेढ़े शरीरवाला कुबड़ा और चिकनी खोपड़ीवाला बूढ़ा लगने लगा। उसका रूप अत्यन्त हास्यजनक हो गया ॥५०–५१॥

उसी युक्ति से उसने वसन्तक की बाहर निकली हुई तोंद (पेट) को चमड़े की डोरियों से बाँधकर बड़े-बड़े और निकले हुए दाँतोंवाला बुरा-सा मुँह बनाकर उसका वेष ही बदल दिया ॥५२॥

वेष बदलने के अनन्तर वसन्तक को राजभवन के द्वार पर पहले भेजकर यौगन्धरायण भी स्वयं उसी वेष में चला। नाचता-गाता और बच्चों से घिरा हुआ एवं नागरिकों के लिए तमाशा सा बना हुआ वसन्तक राजभवन में पहुँचा ॥५३–५४॥

महल में रानियों को तमाशा दिखलाता हुआ वसन्तक वासवदत्ता के कानों में भी पहुँचा ॥५५॥

वासवदत्ता ने सेविका को भेजकर तमाशा देखने के लिए उसे संगीत-शाला में बुलवाया क्योंकि नई अवस्था हास्य-विनोद की ओर अधिक आकृष्ट होती है ॥५६॥

संगीत-शाला में जाकर पागल-वेष में आँसू बहाते हुए (राजा की दशा पर रोते हुए) यौगन्धरायण ने कैदी वत्सराज को देखा ॥५७॥

और राजा ने संकेत भी किया। राजा ने भी वेष बदलकर आये हुए यौगन्धरायण को पहचान लिया ॥५८॥

उधर कुबड़ा यौगन्धरायण अदृश्य होने की युक्ति से वासवदत्ता और उसकी सेविकाओं से अदृश्य हो गया। केवल वत्सराज राजा उदयन ही उसे देख सका। इस प्रकार उसके अदृश्य होने पर सभी सेविकाएँ आश्चर्य करने लगीं कि वह कहाँ चला गया? ॥५ –६ ॥

तच्छ्रुत्वा त च दृष्ट्वाग्रे मत्वा योगबलेन तत् ।
युक्त्या वासवदत्तां तां वत्सराजोऽब्रवीदिदम् ॥६१॥
गत्वा सरस्वतीपूजामादायागच्छ दारिके ।
तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा सवयस्या विनिर्ययौ ॥६२॥
यथोचितमुपेत्याथ ददौ वत्सेश्वराय सः ।
यौगन्धरायणस्तस्मै योगाग्निमवमञ्जनान् ॥६३॥
अन्याम् वासवदत्ताया वीणातन्त्रीनियोजितान् ।
वशीकरणयोगांश्च राज्ञेऽस्मै स समार्पयत् ॥६४॥
व्यधित्सपश्च तं राजभिहायातो वसन्तकः ।
द्वारि स्थितोऽन्यपस्मेण त कुरुष्वान्तिके द्विजम् ॥६५॥
यदा वासवदत्तेय तव विस्रम्भमेष्यति ।
तदा वक्ष्यामि यदहं तत्कुर्यास्तिष्ठ साम्प्रतम् ॥६६॥
इत्युक्त्वा निर्ययौ शीघ्रं ततो यौगन्धरायणः ।
अगाद् वासवदत्ता च पूजामादाय तत्क्षणात् ॥६७॥
सोऽथ तामवदद्राजा बहिर्द्वारि द्विजः स्थितः ।
सरस्वत्यर्पणे सोऽस्मिन् दक्षिणार्थे प्रवेश्यताम् ॥६८॥
तथेति द्वारदेशात्स तत्र वासवदत्तया ।
विरूपामाकृतिं बिभ्रदानाय्यत वसन्तकः ॥६९॥
स चानीतस्समालोक्य वत्सेशमस्रचक्षुषा ।
ततश्चाप्रतिमेवाय स राजा निजगाद तम् ॥७ ॥
हे ब्रह्मन्! रोगवैरूप्य सर्वमेतदहं तव ।
निवारयामि मा रोदीस्तिष्ठेहैव ममान्तिके ॥७१॥
महाप्रसादो देवेति स चोवाच वसन्तकः ।
सोऽथ त विकृतं दृष्ट्वा राजा स्मितमुखोऽभवत् ॥७२॥
तच्चालोक्याशयं बुद्ध्वा तस्य सोऽपि वसन्तकः ।
हसति स्माधिकोद्भूतविरूपाननवैकृतः ॥७३॥
त हसन्तं तथा दृष्ट्वा क्रीडनीयकसन्निभम् ।
तत्र वासवदत्तापि जहास च तुतोष च ॥७४॥
ततः सा नर्मणा बाला त पप्रच्छ वसन्तकम् ।
किं विज्ञानं विजानासि भो ब्रह्मन्! कथ्यतामिति ॥७५॥

सेविकाओं की ऐसी बातें सुनकर और यौगन्धरायण को सामने देखकर राजा ने वासवदत्ता से कहा—कल्ये तुम जाकर सरस्वती-पूजा का सामान लाओ। फलतः गुरु की आज्ञा से सहेलियों के साथ वासवदत्ता वहाँ से चली गई॥६१-६२॥

तब एकान्त देखकर छद्मवेशी यौगन्धरायण ने युक्तिपूर्वक राजा की बेड़ियाँ काट डालीं और वासवदत्ता तथा उसकी सहेलियों को वश में करने के लिए राजा को वशीकरण की औषधियाँ भी दे दीं॥६३-६४॥

और राजा से बोला—हे महाराज! वसन्तक भी छद्म-वेश धारण करके द्वार पर खड़ा है। उसे अपने पास बुलवाओ॥६५॥

जब वासवदत्ता का तुम पर पूरा विश्वास हो जायगा तब मैं तुम्हें जो कहूँगा वह करना। अभी तुम मौन रहो॥६६॥

यौगन्धरायण राजा से इस प्रकार कहकर बाहर चला गया और उसी समय वासवदत्ता सरस्वती-पूजन की सामग्री लेकर आई। उसके आने पर राजा ने वासवदत्ता से कहा कि एक ब्राह्मण द्वार पर खड़ा है। उसे पूजा की दक्षिणा देने के लिए बुलवा लो। वासवदत्ता ने राजा की आज्ञा से विकृत रूप धारण किये हुए उस ब्राह्मण को भीतर बुलवा लिया॥६७-६९॥

वसन्तक राजा उदयन के सामने आते ही रोने लगा। उदयन भी भेद खुल जाने के भय से उससे कहने लगा॥७०॥

हे ब्राह्मण! रोग के कारण तुममें जो यह कुरूपता आ गई है उसे मैं अभी दूर कर देता हूँ। रोओ मत। मेरे पास रहो॥७१॥

तब वसन्तक बोला—देव! यह आपकी बड़ी कृपा है। राजा भी वसन्तक की विकृत आकृति को देखकर मुस्कराने लगा॥७२॥

वसन्तक राजा को प्रसन्नता से मुस्कराते हुए अपने रूप को और भी बिगाड़कर हँसने लगा॥७३॥

खिलौने के समान उस वसन्तक को इस प्रकार विकृत रूप में हँसते हुए देखकर वासवदत्ता भी हँसने लगी और प्रसन्न हुई॥७४॥

तब वासवदत्ता ने अपने हास्य-विनोद के रूप में उससे पूछा कि हे ब्राह्मण! तुम कौन-सा विशेष ज्ञान रखते हो। बतलाओ तो सही॥७५॥

कथा कथयितु देवि जानामीति स चावदत्।
कथां कथय तर्ह्येकामिति सापि ततोऽब्रवीत्॥७६॥
ततस्तां राजतनयां रञ्जयन् स वसन्तकः।
हास्यवचित्रसरसामिमामकथयत्कथाम् ॥७७॥

लोहजङ्घकथा

अस्तीह मथुरा नाम पुरी कंसारिजन्मभूः।
तस्यां रूपणिकेत्यासीत् ख्याता वारविलासिनी॥७८॥
तस्या मकरदंष्ट्राख्या माताभूद् वृद्धकुट्टनी।
तद्गुणाकृष्यमाणानां यूनां दृष्टिविषच्छटा॥७९॥
पूजाकाले सुरकुलं स्वनियोगाय जातु सा।
गता रूपणिका दूरादेकं पुरुषमैक्षत॥८ ॥
स दृष्टः सुभगस्तस्या विवेश हृदयं तथा।
यथा मात्रा कृतास्तेऽस्मादुपदेशा विनिर्ययुः॥८१॥
चेटिकामथ साब्रवीद् गच्छ मद्वचनादमुम्।
पुरुषं ब्रूहि मद्गेहं त्वयाद्यागम्यतामिति॥८२॥
तथेति चेटिका सा च गत्वा तस्मै तदब्रवीत्।
ततः स किञ्चिद् विमृशन् पुरुषस्तामभाषत॥८३॥
लोहजङ्घाभिधानोऽस्मि ब्राह्मणो नास्ति मे धनम्।
तदाढ्यजनगम्ये हि कोऽहं रूपणिकागृहे॥८४॥
न धनं वाञ्छ्यते त्वत्तः स्वामिन्यस्मदिति तया।
स लोहजङ्घस्तद्वाक्यं तथेति प्रत्यपद्यत॥८५॥
ततश्चेटीमुखाद् बुद्ध्वा तच्च सा गृहमुत्सुका।
गत्वा रूपणिका तस्थौ तन्मार्गन्यस्तलोचना॥८६॥
क्षणाच्च लोहजङ्घोऽपि तस्या मन्दिरमाययौ।
कुतोऽयमिति कुट्टन्या दृष्टो मकरदंष्ट्रया॥८७॥
सापि रूपणिका दृष्ट्वा स्वयमुत्थाय सादरा।
वासकाभ्यन्तरं हृष्टा कण्ठे लग्ना निनाय तम्॥८८॥
तत्र सा लोहजङ्घस्य तस्य सौभाग्यसम्पदा।
वशीकृता मती नान्यमन्यं जगम्यमन्यत॥८९॥

तब विदूषक वसन्तक बोला—'मैं अच्छी-अच्छी कहानियाँ कहना जानता हूँ'। तब वासवदत्ता ने कहा—'अच्छा एक अच्छी-सी कहानी सुनाओ तो' ॥७६॥

तब वह वसन्तक राजपुत्री वासवदत्ता का मनोरंजन करता हुआ हास्य के पुट से सरस एवं एक विचित्र कहानी सुनाते हुए कहने लगा ॥७७॥

लोहजंघ की कथा

इस देश में भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा नाम की एक नगरी है। उसमें रूपणिका नाम की एक वेश्या रहती थी ॥७८॥

उसकी माता मकरदंष्ट्रा नाम की बूढ़ी कुट्टनी थी। वह मानों रूपणिका के रूप और गुणों पर आकृष्ट कामुकों की आँखों के लिए विष के समान थी ॥७९॥

एक बार किसी देवता के पूजन के लिए रूपणिका किसी मन्दिर में गई और उसने दूर से ही किसी एक युवा पुरुष को देखा ॥८०॥

रूपणिका को देखते ही वह युवक उसके हृदय में गड़-सा गया और कुट्टनी माता के सभी उपदेश उसके हृदय से दूर हो गये। उनका स्थान मानों उस पुरुष ने ले लिया। रूपणिका ने अपनी सेविका से कहा—'तुम उस पुरुष के पास जाकर कहो कि आज वह मेरे घर पर आवे' ॥८१-८२॥

सेविका ने इस प्रकार स्वामिनी का सन्देश उस पुरुष से कह दिया। वेश्या का सन्देश सुनने पर और कुछ सोचकर वह युवक बोला—॥८३॥

'मैं लोहजंघ नामक ब्राह्मण हूँ। मेरे पास धन नहीं है। इसलिए धनिकों के जाने योग्य रूपणिका के घर में मेरी क्या योग्यता है' ॥८४॥

सेविका ने कहा—'मेरी मालकिन तुमसे धन नहीं चाहती'। सेविका का यह उत्तर सुनकर लोहजंघ ने उसके घर जाना स्वीकार कर लिया ॥८५॥

सेविका से यह समाचार सुनकर, उत्सुकतापूर्वक घर जाकर उसके आने की राह देखती हुई रूपणिका खिड़की में बैठ गई ॥८६॥

कुछ समय के अनन्तर पूर्वनिश्चयानुसार लोहजंघ उसके घर आ गया और वेश्या की माता मकरदंष्ट्रा कुट्टनी को आश्चर्य हुआ कि यह कहाँ से आया ॥८७॥

रूपणिका भी उसका आगमन देखकर प्रसन्न हुई और उठकर उसका स्वागत करती हुई शयनगृह में ले जाकर आनन्दमग्न हो गई। लोहजंघ के सहवास से उसे ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ जिसे पाकर उसने अपना जन्म सफल समझा ॥८८-८९॥

ततस्तया निवृत्तान्यपुंस्यासङ्गतया सह ।
यथासुखं स तत्रैव तस्थौ तन्मन्दिरे युवा ॥९०॥
तद्दृष्ट्वा शिक्षिताशेषवेश्यावृत्तिर्जगाद ताम् ।
माता मकरदंष्ट्रा सा निभृतं रूपणिकां रहः ॥९१॥
किमयं निर्धनः पुत्रि! सेव्यते पुरुषस्त्वया ।
शवं स्पृशन्ति सुजना गणिका न तु निर्धनम् ॥९२॥
क्वानुरागः क्व वेश्यात्वमिति ते विस्मृतं कथम् ।
सन्ध्येव रागिणी वेश्या न चिरं पुत्रि! दीप्यते ॥९३॥
नटीव कृत्रिमं प्रेम गणिकार्थाय दर्शयेत् ।
तदेनं निर्धनं मुञ्च मा कृथा नाशमात्मनः ॥९४॥
इति मातुर्वचः श्रुत्वा रुषा रूपणिकाब्रवीत् ।
मैवं वादीर्मम ह्येष प्राणेभ्योऽप्यधिकः प्रियः ॥९५॥
धनमस्ति च मे भूरि किमन्येन करोम्यहम् ।
तदम्ब! न च वक्तव्या भूयोऽप्येवमहं त्वया ॥९६॥
तच्छ्रुत्वा लोहजङ्घस्य निर्वासनविधौ क्रुधा ।
तस्थौ मकरदंष्ट्रा सा तस्योपायं विचिन्वती ॥९७॥
अथ मार्गागतं कञ्चित्क्षीणकोषं ददर्श सा ।
राजपुत्रं परिवृतं पुरुषैः शस्त्रपाणिभिः ॥९८॥
उपगम्य द्रुतं तं च नीत्वैकान्ते जगाद सा ।
निर्धनेन ममैकेन कामुकेनावृतं गृहम् ॥९९॥
तत्त्वमागच्छ तत्राद्य तथा च कुरु यथा सः ।
गृहान्मम निवर्तेत मदीयां च सुतां भज ॥१ ०॥
तथेति राजपुत्रोऽथ प्रविवेश स तद्गृहम् ।
तस्मिन्क्षणे रूपणिका तस्थौ देवकुले च सा ॥१०१॥
लोहजङ्घश्च तत्कालं बहिः क्वापि स्थितोऽभवत् ।
क्षणान्तरे स निःशङ्कस्तत्रैव समुपाययौ ॥१ २॥
तत्क्षणं राजपुत्रस्य तस्य भृत्यैः प्रधाव्य सः ।
दृढं पादप्रहाराद्यैः सर्वेष्वङ्गेष्वताड्यत ॥१०३॥
ततस्तैरेव चामेध्यपूर्णे क्षिप्तः स खातके ।
लोहजङ्घः कथमपि प्रपलायितवांस्ततः ॥१०४॥

तदनन्तर अन्य पुरुषों के साथ समागम को छोड़कर एकमात्र उसी के साथ प्रेम करनेवाली रूपणिका के साथ वह भी उसी घर में आनन्दपूर्वक रहने लगा। कन्या की यह रीति देखकर नगर की समस्त वेश्याओं की शिक्षिका मकरदंष्ट्रा न अत्यन्त दुःखी होकर एकबार एकान्त में अपनी कन्या रूपणिका से कहा—बेटी तुम इस दरिद्र से क्या प्रेम कर रही हो। अच्छे व्यक्ति मुर्दे को भी छू सकते हैं, पर वेश्या निर्धन को भी नहीं छू सकती। कहाँ सच्चा प्रेम और कहाँ वेश्या-वृत्ति क्या तुम वेश्याओं के इस सिद्धान्त को भी भूल गई। बेटी ! स्नेह करनेवाली वेश्या सन्ध्या के समान अधिक देर तक नहीं चमक सकती। वेश्या को तो केवल धन के लिए अभिनेत्री के समान प्रेम दिखलाना चाहिए। इसलिए तुम इस दरिद्र ब्राह्मण को छोड़ो अपना विनाश न करो। माता के उपदेश को सुनकर रूपणिका क्रोध से बोली—'माता ! तुम ऐसा न कहो। यह मुझे प्राणों से भी अधिक प्यारा है धन तो मेरे पास बहुत है अधिक धन लेकर मैं क्या करूँगी। इसलिए हे माता ! तुम फिर मुझे ऐसा कभी न कहना ॥९०-९६॥

यह सुनकर रूपणिका की माता मकरदंष्ट्रा मन-ही-मन जल गई और लोहजंघ को घर से निकालने का षड्यन्त्र सोचने लगी ॥९७॥

कुछ समय के अनन्तर कुट्टनी ने राह म जाते हुए किसी धनहीन राजपुत्र को देखा जो शस्त्र धारी सिपाहियों से घिरा हुआ जा रहा था ॥९८॥

उसे देखकर कुट्टनी दौड़कर उसके पास आ गई और एकान्त म ले जाकर कहने लगी—'मेरे घर पर एक दरिद्र कामी व्यक्ति ने अधिकार जमा रखा है इसलिए तुम मेरे घर पर आओ और ऐसा उपाय करो कि वह मेरे घर स निकल जाय। इस काय के पुरस्कार-स्वरूप तुम मेरी पुत्री का उपभोग करो ॥९९-१ ॥

राजपुत्र ने कुट्टनी की बात स्वीकार कर ली और उसने रूपणिका के गृह में प्रवेश किया उसी समय रूपणिका किसी देवमन्दिर म दर्शन के लिए चली गई थी ॥१ १॥

लोहजंघ भी दैवयोग से उस समय कहीं बाहर गया हुआ था। क्रमश लोहजंघ आकर निशंक भाव से सदा के अनुसार वेश्या के घर म घुसा ॥१ २॥

उसके घर म घुसते ही राजपुत्र के सिपाहियों ने उसे दौड़ाकर लात-घूंसों से खूब मारा ॥१ ३॥

मार खाकर मरे हुए लोहजंघ को पकड़कर सिपाहियों ने किसी गंदे गड्ढे (संडास) में फेंक दिया। लोहजंघ किर उसमें किसी प्रकार निकल भागा ॥१ ४॥

अथागता स्वभिमा तद्बुद्ध्वा शोकविह्वला।
सामूढीदयाथ स ययौ राजपुत्रो यथागतम्॥१०५॥
लोहजङ्घोऽपि कुट्टन्यां प्रसह्य स खलीकृत।
गन्तु प्रववृते तीर्थं प्राणांस्त्यक्तुं वियोगवान्॥१०६॥
गच्छन्नटव्यां सन्तप्त कुट्टनीमधुना हृदि।
त्वचि च ग्रीष्मतापेन च्छायामभिललाष स॥१ ७॥
तरुमप्राप्नुवन्सोऽथ लेभे हस्तिकलेवरम्।
अथानेन प्रविश्यान्तर्निर्मांसं जम्बुकै कृतम्॥१ ८॥
चर्मविक्षेपे तत्रान्त परिश्रान्त प्रविश्य स।
लोहजङ्घो ययौ निद्रां प्रविशद्वातशीतले॥१ ९॥
अथाकस्मात्समुत्थाय क्षणेनैव समन्तत।
मेघ प्रववृते तत्र धारासारेण वर्षितुम्॥११ ॥
तेन निर्विवरं प्राप सङ्कोचं हस्तिचर्म तत्।
क्षणाच्च तेन मार्गेण जलौघो भृशमाययौ॥१११॥
तेनापहृत्य गङ्गायामक्षेपि गजचर्म तत्।
तज्जलौघेन नीत्वा च समुद्रान्तर्व्यधीयत॥११२॥
तत्र दृष्ट्वा च तत्तथा निपत्यामिषशङ्कया।
हृत्वार्णवे पारमनयत्पक्षी गरुडवंशज॥११३॥
तत्र चञ्च्वा विदार्यैतद् गजचर्म विलोक्य च।
अन्तस्थं मानुषं पक्षी पलाय्य स ततो ययौ॥११४॥
ततश्च चर्मणस्तस्मात्पक्षिसंरम्भबोधित।
तच्चञ्चुरचितद्वारात्लोहजङ्घो विनिर्ययौ॥११५॥
दृष्ट्वा समुद्रपारस्थमात्मानं च सविस्मय।
अनिद्रस्वप्नमिव तत्स समग्रममन्यत॥११६॥
अथ द्वौ राक्षसौ तत्र घोरौ भीतो ददर्श स।
तौ चापि राक्षसौ दूराच्चकितौ समपश्यताम्॥११७॥
रामात्पराभवं स्मृत्वा तथैव च मानुषम्।
दृष्ट्वा तीर्णाम्बुधिं भूयस्तौ भयं हृदि चक्रतु॥११८॥
संमन्त्र्य च तयोर्मध्यादेको गत्वा तथैव तम्।
विभीषणाय प्रभवे यथादृष्टं न्यवेदयत्॥११९॥
दृष्टरामप्रभाव सन्सोऽपि राजा विभीषण।
मानुषागमनाद्भीतो राक्षसं तमभाषत॥१२ ॥
गच्छ मद्वचनाद्भद्र प्रीत्या तं ब्रूहि मानुषम्।
आगम्यतां गृहेऽस्माकं प्रसाद क्रियतामिति॥१२१॥

इस बीच देव-दर्शन करके आई हुई रुपनिका सारा वृत्तान्त देख-सुन अत्यन्त शोक-सन्तप्त हुई और वह राजपुत्र भी यह सब छोड़ करके जिधर आ रहा था उधर ही चला गया॥१०५॥

कुट्टनी पर चढ़े हुए क्रोध से जलता हुआ लोहजंघ भी किसी तीर्थ में प्राण-त्याग करने की इच्छा से किसी ओर चला गया॥१०६॥

लोहजंघ का हृदय कुट्टनी के इस कुकृत्य से जल रहा था ऊपर से पड़ती हुई गर्मी की कड़ी धूप से उसका शरीर भी जल रहा था। वह कहीं ठंडी छाया की खोज में था उस निर्जन भूमि में कहीं वृक्ष तो नहीं दिखाई पड़ा किन्तु एक हाथी की खाली खाल कहीं पड़ी हुई उसे दिखाई दी जिसे शृगालों ने भीतर से खाकर खोखला कर दिया था और दोनों ओर खुली रहने से हवा के आवागमन से वह ठंडी भी थी। लोहजंघ पैरों की ओर से उसमें घुस गया और शीतल वायु के झोंकों से उसी में पड़े हुए लोहजंघ को नींद आ गई॥१०७–१०९॥

इसी बीच सहसा आकाश में बादल उमड़ आये और चारों ओर मूसलाधार वर्षा के कारण नदी-सी बह चली और हाथी की खाल सिकुड़ गई॥११०॥

कुछ समय में ही पानी के प्रवाह में वह खाल बह चली और लुढ़कते-लुढ़कते गंगाजी में जा गिरी। वह वहाँ से भी बहकर समुद्र में गिर गई॥१११॥

समुद्र में डूबती-उतराती हुई उस खाल को मांसपूर्ण समझकर गरुड़वंश का एक पक्षी[1] चोंच से पकड़कर उसे समुद्र के उस पार किसी टापू पर ले गया॥११३॥

टापू के किनारे उस पक्षी ने चोंच से उसे फाड़कर देखा तो वह खोखला हाथी का चमड़ा था और उसके भीतर जीवित मनुष्य को देखकर वह पक्षी उसे वहीं छोड़कर उड़ गया॥११४॥

लोहजंघ भी पक्षी की चोंच से किये हुए छेद के द्वारा बाहर निकलकर चारों ओर देखा और उस घटना को बिना नींद का स्वप्न उसने समझा। इतने में ही उसने समुद्र-तट पर घूमते हुए तथा विस्मय से डरे हुए दो भयानक राक्षसों को देखा॥११५–११६॥

रामचन्द्र द्वारा की हुई लंका की दुर्दशा का स्मरण करके फिर से आये हुए एक मनुष्य को देखकर उन्हें भय हुआ। डरे हुए राक्षसों ने लंका में किसी मनुष्य के आने का समाचार वहाँ के राजा विभीषण से जा कहा। विभीषण रामचन्द्र के प्रभाव को देख चुका था। अतः वह भी मनुष्य के आगमन से भयभीत होकर गुप्तचर राक्षस से बोला—'तुम समुद्र के तट पर जाकर मेरी ओर से उस मनुष्य से कहो कि आओ हमारे घर पर पधारने की कृपा करो'॥११७–१२१॥

---

१ अरेबियन नाइट्स में सिंदबाद जहाजी की कहानी में तीन फकीर और बगदाद की लड़कियों की कथा के प्रसंग में तीसरे फकीर की कहानी, उससे मिलती-जुलती है उसमें इस पक्षी की चर्चा है। —अनु

तयेत्यागत्य ततस्मै स्वप्रभुप्रार्थनावश ।
चकितो लोहजङ्घाय घाघास स च राक्षस ॥१२२॥
सोऽप्यङ्गीकृत्य तद्विप्रो लोहजङ्घ प्रशान्तधी ।
तेनव सद्वितीयेम सह लङ्कां ततोऽगमत् ॥१२३॥
तस्यां च दृष्ट्सौवर्णततत्प्रासादविस्मित ।
प्रविश्य राजभवन स ददर्श विभीषणम् ॥१२४॥
सोऽपि पप्रच्छ राजा त कृतातिथ्य कृताशिषम् ।
ब्रह्मन् ! कथमिमां भूमिमनुप्राप्तो भवानिति ॥१२५॥
तत स धूर्तोऽवादीत्त लोहजङ्घो विभीषणम् ।
विप्रोऽहं लोहजङ्घाख्यो मथुरायां कृतस्थिति ॥१२६॥
सोऽहं दारिद्र्यसन्तप्तस्तत्र नारायणाग्रत ।
निराहार स्थितोऽकार्षं गत्वा देवकुल तप ॥१२७॥
विभीषणान्तिक गच्छ मद्भक्त स हि ते धनम् ।
दास्यतीत्यादिशत् स्वप्ने ततो मां भगवान्हरि ॥१२८॥
क्वाह विभीषण क्वेति मयोक्ते स पुन प्रभु ।
समादिशद्व्रजाद्यैव त द्रक्ष्यसि विभीषणम् ॥१२९॥
इत्युक्त प्रभुणा सद्य प्रबुद्धोऽहमिहाम्बुध ।
पारेऽवस्थितमात्मानमपश्य वद्मि नापरम् ॥१३ ॥
इत्युक्तो लोहजङ्घेन लङ्कामालोक्य दुर्गमाम् ।
सत्य दिव्यप्रभावोऽयमिति मन विभीषण ॥१३१॥
तिष्ठ दास्यामि ते वित्तमित्युक्त्वा ब्राह्मण च तम् ।
मत्वा च रक्षसां हस्ते तमप्रप्य नृघातिनाम् ॥१३२॥
तमस्थात्स्वर्णमूलाख्याद् गिरे सम्प्रेष्य राक्षसान् ।
आनाययत्पक्षिपोत गरुडान्वयसम्भवम् ॥१३३॥
स चास्म लोहजङ्घाय मथुरायां गमिष्यते ।
तत्कालमेव प्रददौ वशीकाराय वाहनम् ॥१३४॥
लोहजङ्घोऽपि लङ्कायां वाहयन्नधिरुह्य तम् ।
कञ्चित्काल विशश्राम स विभीषणसत्कृत ॥१३५॥
एकदा त च पप्रच्छ राक्षसेन्द्र सकौतुक ।
लङ्कायां काष्ठमय्येषा कथ सर्वैव भूरिति ॥१३६॥

आश्चर्यचकित राक्षस ने आकर लोहजंघ को अपने स्वामी विभीषण का सन्देश सुनाया ॥१२२॥

लोहजंघ ने शांतचित्त से विभीषण का सन्देश सुना और उसी राक्षस के साथ लंका को गया ॥१२३॥

लंका में जाकर नगरी के सुवर्णमय अनेक विशाल भवनों को देखकर चकित होते हुए लोहजंघ ने राजमहल में जाकर राजा विभीषण के दर्शन किये ॥१२४॥

लंका के राजा विभीषण ने उसका आतिथ्य-सत्कार किया। उसके द्वारा आशीर्वाद प्राप्त करने पर राजा ने पूछा—हे ब्राह्मण देवता! आप यहाँ कैसे पधारे? ॥१२५॥

यह सुनकर वह धूर्त ब्राह्मण लोहजंघ विभीषण से बोला—'राजन् मैं मथुरा का रहनेवाला ब्राह्मण हूँ ॥१२६॥

दरिद्रता से दुःखी होकर मैंने भगवान् नारायण के मन्दिर में निराहार रहकर तपस्या की ॥१२७॥

तपस्या करते हुए मुझे नारायण ने स्वप्न में आज्ञा दी की तू लंकाधिपति विभीषण के पास जा। वह मेरा भक्त है और तुझे धन देगा ॥१२८॥

जब मैंने उनसे कहा कि 'महाराज कहाँ राजा विभीषण और कहाँ मैं! मैं उन्हें कैसे प्राप्त कर सकूँगा'? इस पर भगवान् नारायण ने कहा कि तू अभी जा विभीषण को देखेगा ॥१२९॥

भगवान् की इस प्रकार स्वप्न में आज्ञा प्राप्त कर मैं ज्यों ही जागा त्यों ही मैंने अपने को समुद्र के पार तट पर पड़ा हुआ पाया ॥१३ ॥

इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। यह सुनकर और साधारण व्यक्ति का लंका में पहुँचना अति कठिन समझकर विभीषण ने उसे सचमुच दिव्य प्रभाववाला व्यक्ति समझा ॥१३१॥

'ठहरो मैं तुम्हें धन दूँगा'—ऐसा कहकर विभीषण ने उसे नरघातियों के लिए अवध्य समझकर राक्षसों को सौंप दिया और वह वहाँ ठहरा रहा ॥१३२॥

तब विभीषण ने राक्षसों को सुमेरु पर्वत पर भेजकर गरुड़-वंश के पक्षी को वाहन के रूप में मँगाया ॥१३३॥

उस वाहन को लोहजंघ को देकर कहा कि—'तुम इसे वश में करो। इसी के द्वारा तुम फिर मथुरा जा सकोगे' ॥१३४॥

लोहजंघ कुछ दिनों तक लंका में ही उस पक्षी पर उड़ने का अभ्यास करता रहा और विभीषण के स्वागत-सत्कार का आनन्द लेता रहा ॥१३५॥

एक बार उसने विभीषण से कौतुक के साथ पूछा कि 'महाराज लंका में यह सारी भूमि काष्ठमयी क्यों मालूम देती है' ॥१३६॥

तच्छ्रुत्वा स च तद्वृत्त समुवाच विभीषण ।
यदि ते कौतुक महांस्तदिद शृणु वच्मि ते ॥१३७॥
पुरा प्रतिज्ञोपनतां नागानां दासभावत ।
निष्क्रान्तुकामो जननीं गरुड कश्यपात्मज ॥१३८॥
स मूल्यभूतां देवेभ्य सुधामाहर्तुमुद्यत ।
बलस्य हेतोर्भक्ष्यार्थी स्वपितुर्निकट ययौ ॥१३९॥
स चैन भाषितोऽभावी महान्तौ गजकच्छपौ ।
भक्ष्यौ स्त पुत्र ! तौ भुङ्क्ष्व गच्छ शापच्युताविति ॥१४०॥
तत स गरुडो गत्वा भक्ष्यावादाय तावुभौ ।
महत कल्पवृक्षस्य शाखायां समुपाविशत् ॥१४१॥
तां च शाखां भरात्तस्य भग्नां बद्ध्वा बभार स ।
अथ स्थिततपोनिष्ठवालखिल्यानुरोधत ॥१४२॥
लोकोपमर्दभीतेन तेनाथ पितुराज्ञया ।
आनीय विजने त्यक्त्वा सा शाखेह गरुत्मता ॥१४३॥
तस्या पृष्ठे कृता लङ्का तेन काष्ठमयीह भू ।
एतद्विभीषणाच्छ्रुत्वा लोहजङ्घस्तुतोष स ॥१४४॥
ततस्तस्मै महार्घाणि रत्नानि सुबहूनि च ।
विभीषणो ददाति स्म मथुरां गन्तुमिच्छते ॥१४५॥
भक्त्या च देवस्य हरेर्मथुरावासिन कृते ।
हस्तेऽस्याब्जगदाशङ्खचक्रान्हेममयान्ददौ ॥१४६॥
तद्गृहीत्वाखिल तस्मिन्विभीषणसमर्पिते ।
आरुह्य विहगे लक्ष योजनानां प्रयातरि ॥१४७॥
उत्पत्य व्योममार्गेण लङ्कायास्तीर्णवारिधि ।
स लोहजङ्घो मथुरामक्लेशेनाजगाम ताम् ॥१४८॥
तस्यां शून्ये विहारे च बाह्ये व्योम्नोऽवतीर्य स ।
स्थापयामास रत्नौघ स बबन्ध च पक्षिणम् ॥१४९॥
आपण रत्नमेक च गत्वा विक्रीतवांस्तत ।
अथ वस्त्राङ्गरागादि क्रीतवान्भोजन तथा ॥१५ ॥
तद्विहारे च तत्रैव भुक्त्वा दत्त्वा च पक्षिणे ।
वस्त्राङ्गरागपुष्पाद्यैरात्मान समभूषयत् ॥१५१॥

उसका प्रश्न सुनकर विभीषण ने कहा— 'यदि तुम्हें यह जानने की जिज्ञासा है, तो सुनो। मैं तुम्हें इसका रहस्य बताता हूँ' ॥१३७॥

प्राचीन समय में कश्यप के पुत्र गरुड़ ने प्रतिज्ञाबद्ध नागों की दासता में पड़ी हुई अपनी माता विनता को दासता से मुक्त करने की इच्छा से उसका मूल्यस्वरूप अमृत का कलश लाने की इच्छा की और उसके लिए शक्ति प्राप्त करने को वह पिता के पास गया ॥१३८ १३९॥

पिता से प्रार्थना करने पर कश्यप ने उससे कहा कि समुद्र में बड़े-बड़े दो हाथी और कछुए हैं, उन्हें तुम जाकर खाओ तो पापमुक्त हो जाओगे ॥१४ ॥

गरुड़ समुद्र में जाकर उन दोनों को लेकर खाने के लिए कल्पवृक्ष की शाखा पर जा बैठा। उसके भार से वह शाखा टूट गई, किन्तु उसके नीचे बालखिल्य मुनि तपस्या कर रहे थे। अतः उनकी रक्षा के लिए गरुड़ ने उस शाखा को अपनी चोंच से रोक रखा। और जनापवाद के भय से गरुड़ ने उस शाखा को यहाँ समुद्र-तट पर लाकर रख दिया ॥१४१ १४२॥

उसी शाखा की पीठ पर यह लंका नगरी निर्मित हुई। इसी कारण यहाँ की भूमि काष्ठ-मयी है। विभीषण से यह कथा सुनकर लोहजंघ सन्तुष्ट हुआ ॥१४३॥

तब विभीषण ने मथुरा जाना चाहते हुए लोहजंघ को बहुत-से बहुमूल्य रत्न मँगाकर दिये और मथुराधिपति भगवान को भेंट देने के लिए सोने के शंख, चक्र, गदा और पद्म बनवाकर भक्ति-पूर्वक उसके द्वारा भेज दिये। विभीषण से प्राप्त समस्त धन को लेकर लोहजंघ एक बार में सौ योजन उड़नेवाले उस गरुड़जातीय पक्षी पर बैठ गया और आकाश में उड़कर समुद्र पार करता हुआ बड़े आराम से मथुरा पहुँच गया ॥१४४ १४८॥

मथुरा पहुँचकर वह नगरी के बाहरी भाग में स्थित किसी बौद्ध विहार में आकाश-मार्ग से उतरा। प्राप्त धन को वहीं भूमि में गाड़कर उसने वहीं उस पक्षी को भी बाँध दिया ॥१४९॥

विभीषण से प्राप्त रत्नों में से एक को बाजार में बेचकर उसने भोजन कपड़े इत्र तैल आदि सजावट के अनेक सामान खरीद लिये। उसने विहार में आकर स्वयं भोजन किया और उस पक्षी को भी भोजन कराया तथा नवीन वस्त्र आदि पहनकर सुन्दर वेश बनाया ॥१५०-१५१॥

प्रदोषे मायया तस्यास्तमथारुह्य पक्षिणि ।
गृहं रूपणिकायास्तां शङ्खचक्रगदा वहन् ॥१५२॥
तत्रोपरि ततः स्थित्वा स्वानविस्तरवच्च स ।
शब्दं चकार गम्भीरं रहस्यां श्रावयन्प्रियाम् ॥१५३॥
सा च श्रुत्वैव निर्याता सापश्यद्रत्नराजितम् ।
एनं नारायणाकल्पं व्योम्नि रूपणिका निशि ॥१५४॥
अहं हरिरिहायातस्त्वदर्थमिति तेन सा ।
उक्ता प्रणम्य वक्ति स्म दयां देव करोत्विति ॥१५५॥
अथावतीर्य संयम्य लोहजङ्घो विहङ्गमम् ।
विवेश वासभवनं स तया कान्तया सह ॥१५६॥
तत्र सम्प्राप्तसम्भोगः स निष्क्रम्य क्षणान्तरे ।
तथैव विहगारूढो जगाम नभसा ततः ॥१५७॥
देवता विष्णुभार्याहं मर्त्यैः सह न मन्त्रये ।
इति रूपणिका प्रातस्तस्थौ मौनं विधाय सा ॥१५८॥
कस्मादेवंविधा पुत्रि ! वर्तसे कथ्यतां त्वया ।
इत्यपृच्छत सा माता ततो मकरदंष्ट्रया ॥१५९॥
निर्बन्धपृष्टा तस्यै च सा मात्रे मौनकारणम् ।
शशंस रात्रिवृत्तान्तं दापयित्वान्तरे पटम् ॥१६०॥
सा तच्छ्रुत्वा ससन्देहा स्वयं तु कुट्टनी निशि ।
ददर्श विहगारूढं लोहजङ्घं ततः क्षणम् ॥१६१॥
प्रभाते च पटान्तःस्थामेत्य रूपणिकां रहः ।
प्रह्वा मकरदंष्ट्रा सा कुट्टनीति व्यजिज्ञपत् ॥१६२॥
देवस्यानुग्रहात् पुत्रि ! त्वं देवीत्वमिहागता ।
अहं च तेऽत्र जननी तन्मे देहि सुताफलम् ॥१६३॥
वृद्धानेनैव देहेन यथा स्वर्गं व्रजाम्यहम् ।
तथा देवस्य विज्ञप्तिं कुरुष्वानुगृहाण माम् ॥१६४॥
तथेति सा रूपणिका तमेवार्थं व्यजिज्ञपत् ।
व्याजविष्णुं पुनर्नक्तं लोहजङ्घमुपागतम् ॥१६५॥

सायंकाल होने पर हाथों में शंख-चक्र धारण करके उसी गरुड़ पक्षी पर बैठकर रूपणिका वेश्या के घर की छत पर आकाश से उतरा ॥१५२॥

उसने वेश्या को गुप्त रूप से सुनाते हुए ऊपर से कुछ शब्द किया ॥१५३॥

उसकी वाणी सुनकर बाहर आई रूपणिका ने रत्नों से अलंकृत एवं भगवान् के स्वरूप में लोहजंघ को उस रात्रि में देखा ॥१५४॥

'मैं भगवान हरि स्वयं तुम्हारे लिए आया हूँ' लोहजंघ के ऐसा कहने पर वेश्या उसे प्रणाम करके बोली—'महाराज आपकी कृपा है। आप दया करें और यहाँ ठहरें'। लोहजंघ ने पक्षी से उतरकर उसे बाँध दिया और वेश्या के साथ उसके शयनकक्ष में प्रवेश किया ॥१५५ १५६॥

कुछ समय के अनन्तर वेश्या-भवन से निकलकर लोहजंघ पक्षी पर बैठकर पुन: अपने निवास पर आ गया ॥१५७॥

प्रातःकाल होते ही रूपणिका वेश्या ने सोचा कि मैं भगवान् विष्णु की प्रेयसी होने के कारण देवता हो गई। अब तो मनुष्यों के साथ बात करना भी अपमान है। ऐसा सोचकर उसने मौन धारण कर लिया और पर्दे में रहने लगी ॥१५८॥

उसकी माता मकरदंष्ट्रा ने उसकी यह स्थिति देखकर पूछा कि 'आज तुम इस प्रकार मौन क्यों हो रही हो? मुझे बताओ'। उसके आग्रहपूर्वक और बारम्बार पूछने पर रूपणिका ने पर्दे की ओट से मौन का सारा भेद बता दिया ॥१५९ १६ ॥

कुट्टनी को बेटी की बातों पर सन्देह हुआ और उसी रात को उसने स्वयं अपनी आँखों से गरुड़ पर बैठे हुए विष्णुरूपी लोहजंघ को देखा ॥१६१॥

प्रातःकाल ही कुट्टनी ने पर्दे में बैठी हुई रूपणिका को बड़े ही नम्रभाव से कहा ॥१६२॥

'हे बेटी! भगवान् की कृपा से तू तो देवता बन गई। मैं तेरी माता हूँ। मुझे भी तो लड़की होने का फल दे' ॥१६३॥

'मैं बूढ़ी इस शरीर से जिस प्रकार स्वर्ग चली जाऊँ, ऐसी कृपा के लिए तुम भगवान् से निवेदन करो'। रात को उसी छद्मरूप में आये हुए लोहजंघ को वेश्या की माता ने प्रार्थना सुना दी ॥१६४ १६५॥

तत स देववेषस्तां लोहजङ्घोऽब्रवीत्प्रियाम् ।
पापा ते जननी स्वर्गं न्याय्यं नेतुं न युज्यते ॥१६६॥
एकादश्यां पुनःप्रातर्द्वारमुद्घाट्यते दिवि ।
तत्र च प्रविशन्त्यग्रे बहव शाम्भवा गणा ॥१६७॥
तन्मध्ये कृततद्वेषा स्वमातासौ प्रवेक्ष्यते ।
तदस्या पञ्चचूडं त्वं क्षुरकल्प्तं शिर कुरु ॥१६८॥
कण्ठे करङ्कमालाढ्यं पार्श्वं चैकं सकज्जलम् ।
अन्यत्सिन्दूरलिप्तं च कुर्वस्या वीत-वासस ॥१६९॥
एवं ह्येनां गणाकारां सुखं स्वर्गं नयाम्यहम् ।
इत्युक्त्वा स क्षणं स्थित्वा लोहजङ्घस्ततोऽगमत् ॥१७०॥
प्रातश्च सा रूपणिका यथोक्तं तमकारयत् ।
वेषं मातुस्तथैवापि तस्थौ स्वर्गैकसम्मुखी ॥१७१॥
आययौ च पुनस्तत्र लोहजङ्घो निशामुखे ।
सा च रूपणिका तस्मै मातरं तां समर्पयत् ॥१७२॥
तत स विहगारूढस्तामादाय च कुट्टनीम् ।
नग्नां विकृतवर्णां च जवादुदपतन्नभ ॥१७३॥
गगनस्थश्च तत्रैव प्रांशु देवकुलाग्रग ।
स ददर्श शिलास्तम्भं चक्रेणोपरि लाञ्छितम् ॥१७४॥
तस्य पृष्ठे स चक्रैकसालम्बे तां न्यवेशयत् ।
खलिकारप्रतीकारपताकामिव कुट्टनीम् ॥१७५॥
इह तिष्ठ क्षणं यावत्सान्निध्यानुग्रहं भुवि ।
गत्वा करोमीत्युक्त्वा च तस्या दृष्टिपथाद्ययौ ॥१७६॥
ततस्तत्रैव देवाग्रे दृष्ट्वा जागरणागतान् ।
रात्रौ यात्रोत्सवे लोकानागमावेवमब्रवीत् ॥१७७॥
हे लोका ! इह युष्माकमुपर्यद्य पतिष्यति ।
सर्वसंहारिणी मारी तदेत शरणं हरिम् ॥१७८॥
श्रुत्वैतां गगनाद् वाणीं भीता सर्वेऽपि तत्र ते ।
माथुरा दवमाश्रित्य तस्थु स्वस्त्ययनादृता ॥१७९॥
सोऽपि व्योम्नोऽवतीर्यैव लोहजङ्घोऽवलोकयन् ।
तस्यावदृष्टस्तन्मध्ये देववेषं निधाय तम् ॥१८०॥

तब वह नकली देवता लोहजंघ रूपणिका से बोला—'तुम्हारी माता पापिनी है उसे साक्षात् रूप से स्वर्ग नहीं ले जाया जा सकता। हाँ एकादशी के दिन स्वर्ग का द्वार खुलता है। उस द्वार से सबसे पहले शिवजी के भक्तगण उसमें प्रवेश करते हैं। यदि उन शिवगणों में उनका-सा वेष बनाकर तुम्हारी माता को भरती करा दी जाय तो वह स्वर्ग में जा सकती है। इसलिए इसके सिर को छुरे से मुंडाकर सिर पर पाँच शिखाएँ या चोटियाँ रखवाओ। और गले में हड्डियों की माला और शरीर का एक भाग काजल से काला तथा दूसरा सिंदूर से लाल करके और नंगी करके उसे शिवगणों में भरती किया जा सकेगा। यदि वह इस प्रकार शिवगण के रूप में मेरे साथ आवे तो मैं उसे स्वर्ग ले जा सकता हूँ॥१६६—१६९॥

ऐसा कहकर और कुछ ठहरकर लोहजंघ चला गया। पूर्वनिश्चयानुसार एकादशी को प्रातःकाल रूपणिका ने स्वर्ग जाने के लिए उत्सुक माता को गणों का वेष बनाकर तैयार कर दिया। सायंकाल लोहजंघ उसी प्रकार वेश्या के घर आया और रूपणिका ने माता को उसे सौंप दिया॥१७०—१७२॥

लोहजंघ भी अपने नित्यकृत्य से निवृत्त होकर उस विकृतवेषा कुट्टनी को अपने साथ गरुड़ पर बैठाकर आकाश में उड़ गया। आकाश में उड़ते हुए उसने एक देव-मन्दिर के सामने गड़े हुए चक्र-चिह्नित पत्थर के स्तम्भ को देखा। उसी स्तम्भ में लगे हुए चक्र के सहारे अपना अपमान करनेवाली ध्वजा के समान उस कुट्टनी को उसने खड़ा कर दिया॥१७३—१७५॥

तब कुट्टनी से उसने कहा कि 'तुम कुछ देर के लिए यहीं ठहरो। मैं तुम्हें गणों में भरती कराने का प्रबन्ध करता हूँ। ऐसा कहकर लोहजंघ उसकी आँखों से ओझल हो गया॥१७६॥

कुछ आगे जाकर उसने एक मन्दिर के समीप रात्रि-जागरण के लिए एकत्र हुए नागरिकों का मेला देखा। उसे देखकर वह आकाश से ही चिल्लाकर बोला—'हे नागरिक लोगो! आज तुम्हारे ऊपर सर्वसंहारकारिणी महामारी गिरेगी। इसलिए भगवान् का भजन करो उन्हीं की शरण में जाओ'॥१७७-१७८॥

इस प्रकार आकाशवाणी सुनकर डरे हुए सभी मथुरावासी स्वस्ति पाठ करते हुए भगवान् के समीप जा बैठे॥१७९॥

वह लोहजंघ भी विहार में उतरकर पक्षी को बाँधकर और देवता का नकली वेष उतारकर साधारण नागरिक के वेष में उसी जन-समाज में चुपचाप आकर मिल गया॥१८०॥

अद्यापि नागतो देवो न च स्वर्गमहं गता।
इति च स्तम्भपृष्ठस्था कुट्टन्येवमचिन्तयत् ॥१८१॥

अक्षमेवोपरि स्थातुं श्रावयन्ती जनानथ।
हा हाऽहं पतितास्मीति सा चक्रन्द च बिभ्यती ॥१८२॥

तच्छ्रुत्वा पतिता सेयं मारीत्याशङ्क्य चाकुला।
देवि मा मा पतत्यूचुस्ते देवाग्रगता जना ॥१८३॥

तत सबालवृद्धास्ते माथुरास्तां विभावरीम्।
मारीपातभयोद्भ्रान्ता कथमप्यत्यवाहयन् ॥१८४॥

प्रातश्च दृष्ट्वा स्तम्भस्थां कुट्टनीं तां तथाविधाम्।
प्रत्यभिज्ञातवान्सर्व पौरलोक सराजक ॥१८५॥

अतिक्रान्तभय तत्र जातहासेऽखिले जने।
आययौ श्रुतवृत्तान्ता तत्र रूपणिकाथ सा ॥१८६॥

सा च दृष्ट्वा तथैवस्थां स्तम्भाग्राज्जननीं निजाम्।
तामवातारयत् सद्यस्तत्रस्थैश्च जनै सह ॥१८७॥

तत सा कुट्टनी तत्र सर्वैस्तै सकुतूहलै।
अपृच्छ्यत यथावृत्त सापि तेभ्य शशंस तत् ॥१८८॥

तत सिद्धाविचरित तच्चरत्वाद्भुतकारकम्।
सराजविप्रवणिजो जनास्ते वाक्यमब्रुवन् ॥१८९॥

यनेय विप्रलब्धा हि वञ्चितानेककामुका।
प्रकट सोऽस्तु तस्याद्य पट्टबन्धो विधीयते ॥१९०॥

तच्छ्रुत्वा लोहजङ्घ स समात्मानमभ्यधात्।
पृष्टश्चामूलत सर्वं वृत्तान्त तमवर्णयत् ॥१९१॥

ददौ च तत्र देवाय शङ्खचक्राद्युपायनम्।
विभीषणप्रहित जनविस्मयकारकम् ॥१९२॥

अथ तस्य सपदि पट्टं बद्ध्वा सन्तुष्य माथुरा सर्वे।
स्वाधीनां रूपणिकां राजादेशेन तां चक्रु ॥१९३॥

ततश्च तत्र प्रियया समं तदा समृद्धकोषो बहुरत्नसञ्चय।
स लोहजङ्घ प्रतिकृत्य कुट्टनीनिकारमस्यां न्यवसद्यथासुखम् ॥१९४॥

उधर चक्र के सहारे खम्भे पर खड़ी कुट्टनी खड़े-खड़े थककर सोचने लगी कि अभी तक न तो भगवान् ही आये और न मैं ही स्वर्ग गई। ऐसा सोचकर त्रस्त कुट्टनी चिल्लाने लगी और गिरने के भय से कहने लगी—'मैं गिरती हूँ'। उसका रोना-धोना सुनकर देव-मन्दिर में एकत्र मथुरा के निवासी उसे ही साक्षात् महामारी समझकर व्याकुल हो गये और कहने लगे कि 'मत गिरो मत गिरो'। ॥१८१—१८३॥

इस प्रकार महामारी के पतन से घबराये हुए मथुरावासियों ने बाल-बच्चों के साथ वह रात किसी प्रकार व्यतीत की ॥१८४॥

प्रातःकाल के प्रकाश में सभी मथुरावासी प्रजा और राजा ने भी उस रूप में खम्भे पर खड़ी कुट्टनी को देखा और पहचाना ॥१८५॥

महामारी का भय दूर होने पर तथा एक बार खूब हँसी हो जाने पर रूपणिका वेश्या माता का समाचार सुनकर वहाँ आई ॥१८६॥

माता को इस प्रकार खम्भे पर खड़ी देखकर उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ और किसी प्रकार उसने उसे ऊपर से उतरवाया ॥१८७॥

वहाँ एकत्र जनसमूह के पूछने पर उस कुट्टनी ने अपनी दुर्दशा का सारा वृत्तान्त लोगों से कह सुनाया ॥१८८॥

इस विस्मयकारी घटना को किसी सिद्ध आदि का विनोद समझकर ब्राह्मण वैश्य और राजा आदि एकत्र लोगों ने कहा—'अनेक कामियों को ठगनेवाली इस कुट्टनी को भी जिसने इस प्रकार ठग किया वह धन्य है। यदि वह इस जनसमाज में है, तो प्रकट हो जाय उसे पुरस्कार-स्वरूप पट्ट-बन्ध[1] किया जायगा' ॥१८९ १९ ॥

इस घोषणा को सुनकर जनसमाज में छिपा हुआ लोहजंघ प्रकट हो गया और उसने जनता के पूछने पर समस्त वृत्तान्त सुना दिया ॥१९१॥

साथ ही उसने वहाँ उपस्थित मथुरा-नरेश को शंख चक्र आदि उपहार भेंट कर दिये जिसे देखकर जनता ने अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया ॥१९२॥

तदनन्तर मथुरा के नागरिकों ने लोहजंघ के इस साहसिक कार्य पर सन्तोष प्रकट करते हुए उसे पट्ट बाँधकर सत्कृत किया और राजा की आज्ञा से वेश्या रूपणिका को स्वाधीन करा दिया अर्थात् उसे वेश्यावृत्ति से मुक्त कर दिया ॥१९३॥

इस प्रकार राजा तथा प्रजा से सम्मानित लोहजंघ लंका से प्राप्त रत्नराशि द्वारा अत्यन्त समृद्ध बनकर और कुट्टनी मकरदंष्ट्रा से बदला चुकाकर सुखपूर्वक मथुरा में निवास करने लगा ॥१९४॥

---

१ प्राचीन समय में जिस व्यक्ति का राजा या जनता से नागरिक सम्मान किया जाता था उसे विशेष प्रकार के मुकुट आदि पहनाकर और रथ में बैठाकर शोभायात्रा (जुलूस) के साथ नगर में घुमाकर सम्मानित किया जाता था।—अनु

इत्यन्यरूपस्य वसन्तकस्य मुखात्समाकर्ण्य कथामवापि।
वत्सस्य वत्साधिपतेः समीपे सोऽपि परो वासवदत्तयान्तः ॥११

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
कथामुखलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

पञ्चमस्तरङ्गः

प्रधानकथा : वासवदत्ताहरणम्

अथ वासवदत्ता सा शनैर्वत्सेश्वरं प्रति।
गाढं बबन्ध सद्भावं पितृपक्षपराङ्मुखी ॥१॥
ततो वत्सेशनिकटं पुनर्यौगन्धरायणः।
विवेशादर्शनं कृत्वा सर्वानन्यान्जनान्प्रति ॥२॥
वसन्तकसमक्षं च विजने तं व्यजिज्ञपत्।
राजन्बद्धो भवांश्चण्डमहासेनेन मायया ॥३॥
सुतां च दत्त्वा सम्मान्य त्वामयं मोक्तुमिच्छति।
तदस्यैनां स्वयं हृत्वा गच्छामस्तनयां वयम् ॥४॥
एवं ह्यस्य प्रतीकारो दृप्तस्य विहितो भवेत्।
अपौरुषकृतं लोके नैव स्याल्लाघवं च नः ॥५॥
अस्ति चैतेन दत्तास्यास्तनयाया करेणुका।
राज्ञा वासवदत्ताया नाम्ना भद्रवती नृप ॥६॥
सा चानुगन्तुं गमने शक्यते नान्येन दन्तिना।
मुक्त्वा नडागिरिं सोऽपि तां दृष्ट्वैव न युध्यते ॥७॥
तस्याश्चाषाढको नाम हस्त्यारोहोऽत्र विद्यते।
स च दत्त्वा धनं भूरि स्वीकृत्य स्थापितो मया ॥८॥
तदारुह्य करेणुं तां सह वासवदत्तया।
सायुधेनापयातव्यं नक्तं गुप्तमितस्त्वया ॥९॥
इहत्यश्च महामात्रो द्विपेङ्गितविशारदः ।
मद्येन क्षीबतां नेयो न लक्ष्यति यथा ॥१०॥
पुलिन्दकस्य सख्युस्तु पार्श्वमग्रे च याम्यहम्।
मार्गरक्षार्थमित्युक्त्वा ययौ यौगन्धरायणः ॥११॥
वत्सराजोऽपि तत्सर्वं तस्थौ हृद्ये व्यधात्।
अथ आगत्य सा तस्यान्तिकमुपाययौ ॥१२॥

इस प्रकार विकृत वेषधारी वसन्तक के मुँह से कथा सुनकर बन्दी उदयन को अत्यन्त सन्तोष हुआ और वासवदत्ता भी हृदय से प्रसन्न हुई ॥१९५॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथामुखलम्बक का
चतुर्थ तरंग समाप्त

पञ्चम तरंग

उदयन की कथा वासवदत्ता-हरण

कुछ समय के अनन्तर पिता के पक्षपात से रहित होकर वासवदत्ता को वत्सराज उदयन के प्रति प्रगाढ़ प्रेम हो गया ॥१॥

यह जानकर मन्त्री यौगन्धरायण अदृश्य रूप से पुनः राजा उदयन के समीप आया। उसकी अदृश्यकारिणी विद्या के प्रभाव से उसे दूसरे व्यक्ति न देख सके ॥२॥

उसने वसन्तक के सामने ही राजा से कहा—'महाराज तुम्हें चंडमहासेन ने छल-कपट करके कैद कर लिया है और अपनी कन्या देकर तुम्हारा सम्मान करके तुम्हें छोड़ देगा ॥३॥

इसलिए हम लोग स्वयं उसकी कन्या का अपहरण करके ले चलते हैं। इस प्रकार इस अभिमानी का मान भंग होगा और संसार में तुम्हारी दुर्बलता का अपवाद भी न होगा ॥४-५॥

राजा चंडसेन ने कन्या वासवदत्ता को भद्रवती नाम की हस्तिनी दी है। वह इतनी शीघ्रता से चलती है कि दूसरे हाथी केवल एक नडागिरि को छोड़कर, उसका पीछा नहीं कर सकते। नडागिरि भी उसे देखकर युद्ध नहीं करता। उस भद्रवती हस्तिनी के पीलवान (महावत) का नाम आषाढ़क है। उसे मैंने पर्याप्त धन देकर अपने पक्ष में कर लिया है ॥६-८॥

इसलिए उसी हस्तिनी की सवारी से वासवदत्ता को साथ लेकर तुम्हें रात के समय यहाँ से छिपकर भागना चाहिए ॥९॥

यहाँ के बड़े हाथीवान को मद्य पिलाकर ऐसा बेसुध कर देना चाहिए कि जिससे उसे होश ही न रहे। अन्यथा वह हाथियों के संकेत समझने में अति निपुण है ॥१ ॥

मार्ग रक्षा के लिए मैं तुम्हारे मित्र पुलिन्दक के पास अभी जाता हूँ। ऐसा कहकर यौगन्धरायण चला गया ॥११॥

वत्सराज ने भी अपना सारा कर्त्तव्य सोच-समझ लिया। कुछ समय के पश्चात् वासवदत्ता उसके समीप आई ॥१२॥

ततस्तास्ता सविस्रम्भा कथा कुर्वंस्तया सह।
यौगन्धरायणोक्त च तस्यै राजा शशस स ॥१३॥
सा च तत्प्रतिपद्यैव निदधे गमन प्रति।
आनाय्याषाढक सज्ज हस्त्यारोह चकार तम् ॥१४॥
देवपूजापदेशेन दत्त्वा मद्य मदान्वितम्।
सर्वाधोरणसयुक्त महामात्र च साकरोत् ॥१५॥
तत प्रदोषे विलसन्मेघशब्दसमाकुले।
आषाढक करेणु तां सज्जीकृत्यानिनाय स ॥१६॥
सज्ज्यमाना च सा शब्द चकार करिणी किल।
त च हस्तिरुताभिज्ञो महामात्रोऽपि सोऽशृणोत् ॥१७॥
त्रिषष्टियोजनान्यद्य यास्यामीत्याह हस्तिनी।
इत्युवाच स चोद्दाममदविस्खलिताक्षरम् ॥१८॥
विचारार्हं पुनस्तस्य मत्तस्याभून्न मानसम्।
तच्च हस्तिपका क्षीबास्तद्वाक्य नच शुश्रुवु ॥१९॥
ततश्च वत्सराजोऽपि वीणामादाय तां निजाम्।
यौगन्धरायणात्प्राप्तैर्योगै सस्थितबन्धन ॥२ ॥
उपनीतप्रहरण स्वैर वासवदत्तया।
करेणुकामारोहत्स तस्यां सवसन्तक ॥२१॥
ततो वासवदत्तापि सह काञ्चनमालया।
सख्या रहस्यधारिण्या तस्यामेवारुरोह सा ॥२२॥
चघोज्जयिन्या निरगात् स हस्तिपकपञ्चम।
वत्सेशो निशि मत्तभिन्नप्राकारवर्त्मना ॥२३॥
तत्स्थानरक्षिणौ वीरौ स्वैर स हतवान्नृप।
वीरबाहु तथा तालभट राजसुतावुभौ ॥२४॥
तत प्रतस्थे वेगेन स राजा दयितासख।
हृष्ट करेणुकारूढो दधत्याषाढकोऽङ्कुशम् ॥२५॥
उज्जयिन्यां च तौ दृष्ट्वा हतौ प्राकाररक्षिणौ।
रात्र न्यवेदयन्राज्ञे क्षुभिता पुररक्षिण ॥२६॥
सोऽप्यन्विष्य क्रमात्पुत्र महासेन पलायितम्।
हृतवासवदत्त त वत्सराजमबुध्यत ॥२७॥
तत्पुत्र पालकाख्योऽथ जातकोलाहले पुरे।
अन्वधावत्स वत्सराजमभिवाह्य नडागिरिम् ॥२८॥

राजा उदयन उसके साथ विविध वार्त्तालाप के प्रसग में वासवदत्ता को यौगन्धरायण की योजना बतला दी। वासवदत्ता ने उसकी योजना स्वीकार करके अपने महावत आषाढ़क को बुलाकर उसे हस्तिनी पर सवार करा दिया और देवता के प्रसाद का बहाना बनाकर प्रधान महावतों को खूब मद्य पिला दिया॥१३ १५॥

इसके पश्चात् सायंकाल के समय आषाढ़क अपनी उस हस्तिनी को सजाकर तैयार करके वहाँ ले आया॥१६॥

सजी हुई हस्तिनी ने एक चिग्घाड़ किया जिसे सुनकर हाथियों की शब्दावली को समझने वाले प्रधान महावत ने मद्य में चूर अतएव अस्पष्ट अक्षरों में कहा–'हस्तिनी कह रही है कि आज मैं तिरसठ योजन जाऊँगी'॥१७-१८॥

इतना ध्यान देने के बाद फिर उसे होश न रहा और न वह कुछ सोच ही सका। दूसरे महावतों ने भी मद्य में चूर रहने के कारण उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तदनन्तर वत्सराज यौगन्धरायण द्वारा दी गई औषधियों से बन्धनमुक्त होकर वीणा और वासवदत्ता के लाये हुए आयुधों के साथ वसन्तक के सहित वह उस हस्तिनी पर आरूढ़ हुआ॥१९ २१॥

इसके पश्चात् वासवदत्ता भी अपनी एकान्त सहेली काञ्चनमाला के साथ उसी हस्तिनी पर सवार हो गई॥२२॥

कुछ ही समय में वत्सराज उदयन अपने साथियों के साथ टूटी हुई चहारदीवारी के मार्ग से उज्जयिनी के बाहर निकल गया॥२३॥

उस स्थान पर पहरा देनेवाले वीरबाहु तथा तालभट नामक दोनों क्षत्रिय सिपाहियों को वत्सराज ने स्वयं ही मार डाला॥२४॥

बाहर निकलकर वासवदत्ता के साथ उदयन प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़ता गया। हस्तिनी पर आषाढ़क ने अंकुश लगा रखा था॥२५॥

उधर उज्जयिनी में पहरेदारों ने दो वीर सिपाहियों की मृत्यु का समाचार राजा के पास पहुँचाया। चंडमहासेन ने चारों ओर खोज करने पर यह मालूम कर लिया कि उदयन वासवदत्ता को लेकर भाग गया। चंडमहासेन का लड़का पालक भी शोरगुल सुनकर और नडागिरि हाथी पर सवार होकर उनका पीछा करने लगा॥२६–२८॥

वत्सेशोऽपि तमायान्तं पथि वामरयोधयत्।
नडागिरिः करेणुं तां दृष्ट्वा न प्रजहार च॥२९॥
ततः स पालको भ्रात्रा पश्चादेत्य न्यवर्त्यत।
गोपालकेन वाक्यज्ञ पितृकार्यानुरोधिना॥३०॥
वत्सराजोऽपि विस्रब्ध गन्तुं प्रववृते ततः।
गच्छतश्चास्य क्षनकैः शर्वरी पयहीयत॥३१॥
ततो विन्ध्याटवीं प्राप्य मध्याह्ने तस्य भूपतेः।
त्रिषष्टियोजनायाता तृषिताभूत्करेणुका॥३२॥
अवतीर्णे सभार्ये च राज्ञि तस्मिञ्जलानि सा।
पीत्वा तद्दोषतः प्राप पञ्चतां हस्तिनी क्षणात्॥३३॥
विषण्णोऽथ स वत्सेशः सह वासवदत्तया।
गगनादुद्गतामेतां शृणोति स्म सरस्वतीम्॥३४॥
अहं मायावती नाम राजन्! विद्याधराङ्गना।
इयन्तं कालमभवं शापदोषेण हस्तिनी॥३५॥
उपकारं च वत्सेश तवाद्य कृतवत्यहम्।
करिष्यामि च भूयोऽपि त्वत्पुत्रस्य भविष्यतः॥३६॥
एषा वासवदत्ता च पत्नी ते नैव मानुषी।
दैवीयं कारणवशादवतीर्णा क्षिताविति॥३७॥
ततः स हृष्टो व्यसृजद्विन्ध्यसानुं वसन्तकम्।
पुलिन्दकाय सुहृदे वक्तुं स्वागमनं नृपः॥३८॥
स्वयं च पादचारी सन् स खड्गैर्यषितान्वितः।
तमेव गच्छन्नुत्थाय दस्युभिः पर्यवार्यत॥३९॥
धनुर्द्वितीयो दस्यूनां तेषां पञ्चोत्तरं शतम्।
पुरो वासवदत्ताया वत्सराजः स चावधीत्॥४०॥
तत्काल सोऽस्य राज्ञोऽत्र मित्रं चागात्पुलिन्दकः।
यौगन्धरायणसखो वसन्तकपुरःसरः॥४१॥
स तान्दस्यून्निवार्यान्यान्वत्सेशं प्रणिपत्य तम्।
नयति स्म निजां पल्लीं भिल्लराजः सवल्लभम्॥४२॥
तत्र तां रात्रिमारण्यदर्भपादितपादया।
स वत्सेशो विशश्राम सह वासवदत्तया॥४३॥

वत्सराज ने उसे पीछा करते हुए देखकर बाणों से युद्ध प्रारम्भ किया। किन्तु नडागिरि ने महवती हाथी को देखकर प्रहार नहीं किया ॥२९॥

तदनन्तर पिता की आज्ञा से आये हुए दूसरे राजकुमार गोपालक ने आकर पालक को लौटा लिया। उसके लौट जाने पर वत्सराज भी सुख और शान्तिपूर्वक सारा दिन यात्रा करता रहा। धीरे-धीरे रात समाप्त हुई। तब मध्याह्न समय तिरसठ योजन चल लेने पर हस्तिनी को प्यास लगी ॥३ १२॥

राजा और रानी के उतर जाने पर हस्तिनी ने पेट भर पानी पिया और इसी कारण वह मर भी गई ॥१३॥

घोर विन्ध्यारण्य में खड़े और हस्तिनी के मर जाने से दुःखित राजा ने आकाशवाणी सुनी—॥१४॥

हे राजन्! मैं मायावती नाम की विद्याधरी हूँ। शाप के कारण हस्तिनी बन गई थी। मैंने अपने जीवन के रहते तुम्हें भागने में सहायता दी। भविष्य में भी तुम्हारे होनेवाले पुत्र का उपकार करूँगी ॥१५ १६॥

कुमारी वासवदत्ता जो तुम्हारी पत्नी होनेवाली है यह भी मानव नहीं है प्रत्युत शाप के कारण मनुष्य-रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुई है ॥१७॥

तब राजा ने अपने नर्म-सचिव वसन्तक को विन्ध्य-शिखर पर स्थित अपने मित्र पुलिन्दक को अपने आगमन की सूचना देने के लिए भेजा ॥१८॥

और स्वयं भी राजा वासवदत्ता के साथ पदयात्रा करता हुआ धीरे-धीरे उसी ओर जाता हुआ डाकुओं से घेर लिया गया। हाथ में धनुष लिये हुए राजा अकेला था और डाकू संख्या में एक सौ पाँच थे। राजा उदयन ने वासवदत्ता के देखते-देखते सबको एक-एक करके मार डाला ॥१९ ४ ॥

उसी समय वत्सराज का मित्र पुलिन्दक वसन्तक को आगे किये हुए यौगन्धरायण के साथ आ पहुँचा ॥४१॥

पुलिन्दक ने आते ही बचे-खुचे डाकुओं को भगाकर वत्सराज को प्रणाम किया और वासवदत्ता के साथ उसे अपने ग्राम में ले गया ॥४२॥

जंगली कुशाओं के आघात से छिले हुए कोमल चरणोंवाली वासवदत्ता के साथ राजा ने उस रात्रि को भिल्लपल्ली में ही व्यतीत किया ॥४३॥

प्रातः सेनापतिस्तस्य रुमण्वान्प्रापदन्तिकम् ।
यौगन्धरायणेन प्राग्दूतं सम्प्रेष्य बोधितः ॥४४॥
आगात्स्व कटकं सर्वं तया व्याप्तदिगन्तरम् ।
यथा विन्ध्याटवी प्राप सा सम्बाधरसज्ञताम् ॥४५॥
प्रविश्य कटकं तस्मिंस्तस्यामेवाटवीभुवि ।
तस्थावुज्जयिनीवार्तां ज्ञातुं वत्सेश्वरोऽत्र सः ॥४६॥
तमत्र च समभ्यागादुज्जयिन्या वणिक्तदा ।
यौगन्धरायणसुहृत्स चागत्याब्रवीदिदम् ॥४७॥
देव चण्डमहासेनः प्रीतो जामातरि त्वयि ।
प्रेषितश्च प्रतीहारस्तेनेह भवदन्तिकम् ॥४८॥
स चागच्छन् स्थितः पश्चादहमग्रत एव तु ।
प्रच्छन्नं सत्वरं देवि ! विज्ञापयितुमागमम् ॥४९॥
एतच्छ्रुत्वा स वत्सेशो जहर्ष च शशंस च ।
सर्वं वासवदत्तायै सापि हर्षमगात्परम् ॥५ ॥
कृतबन्धुपरित्यागा विवाहविधिसत्वरा ।
अथ वासवदत्ता सा सलज्जा चोत्सुका तथा ॥५१॥
ततः स्वात्मविनोदाय निकटस्थं वसन्तकम् ।
सा जगाद कथा काचित्त्वया मे कथ्यतामिति ॥५२॥
स च मुग्धदृशस्तस्या भर्तृभक्तिविवर्धिनीम् ।
वसन्तकस्तदा धीमानिमामकथयत्कथाम् ॥५३॥

गुहसेनदेवस्मितयोः कथा

अस्तीह नगरी लोके ताम्रलिप्तीति विश्रुता ।
तस्यां च धनदत्ताख्यो वणिगासीन्महाधनः ॥५४॥
स चापुत्रो बहून्विप्रान्सङ्घटय्य प्रणतोऽब्रवीत् ।
तथा कुरुत पुत्रो मे यथा स्यादचिरादिति ॥५५॥
ततस्तमूचुर्विप्रास्ते नैतत्किंचन दुष्करम् ।
सर्वं हि साधयन्तीह द्विजाः श्रौतेन कर्मणा ॥५६॥
तथा च पूर्वमभवद्राजा कश्चिदपुत्रकः ।
पञ्चोत्तरं शतं चाभूत्तस्यान्तःपुरयोषिताम् ॥५७॥
पुत्रीयेष्ट्या च तस्यैको जन्तुर्नाम सुतोऽजनि ।
तत्पत्नीनामशेषाणां नूतनश्चन्द्रमा दृशि ॥५८॥

यौगन्धरायण द्वारा दूत के मुँह से पहले से ही सूचित वत्सराज का प्रधान सेनापति रुमण्वान् भी वहाँ आ पहुँचा ॥४४॥

उसके साथ ही चारों दिशाओं को व्याप्त करती हुई सेनाएँ भी आ पहुँचीं ॥४५॥

उस विन्ध्यभूमि में स्थित अपनी सेना के शिविर में प्रवेश करके उज्जयिनी का समाचार प्राप्त करने के लिए उसने स्थिर रूप से निवास किया। जब उदयन उसी शिविर में निवास कर रहा था उसी समय यौगन्धरायण का मित्र एक बनिया उज्जयिनी से वहाँ आया और कहने लगा—'महाराज! उज्जयिनी-नरेश चंडमहासेन आप जामाता पर बहुत प्रसन्न हैं। उसने आपके पास अपने सन्देशवाहक प्रतिहार (चपरास) को भेजा है ॥४६ ४८॥

वह आकर यहीं ठहरा है। पहले मैं यहाँ आया हूँ। वह गुप्त रूप से आपसे निवेदन करना चाहता है। इनका आगमन जानकर वत्सराज प्रसन्न हुआ और राजा की उसने प्रशंसा की। वासवदत्ता भी उससे प्रसन्न थी। यह समाचार सुनते समय अपने बन्धुओं को छोड़कर आई हुई और विवाह के लिए शीघ्रता करती हुई वासवदत्ता लज्जित और उत्सुक हुई। उसने निकट बैठे हुए वसन्तक से कहा कि तुम एक कहानी सुनाओ ॥४९—५२॥

वसन्तक ने भी उस सुलोचना वासवदत्ता को पतिभक्ति बढ़ानेवाली कहानी सुनाना प्रारम्भ किया ॥५३॥

गुहसेन और देवस्मिता की कथा

इस देश में ताम्रलिप्ति नाम से प्रसिद्ध एक नगरी है। उसमें बहुत बड़ा धनी धनदत्त नाम का एक वैश्य रहता था ॥५४॥

वह पुत्रहीन था अतः उसने बहुत-से ब्राह्मणों को बुलाकर उन्हें प्रणाम करके निवेदन किया कि आप लोग ऐसा उपाय करें जिससे मुझे पुत्र लाभ हो ॥५५॥

यह सुनकर ब्राह्मणों ने कहा 'यह कोई कठिन काम नहीं है। ब्राह्मण लोग वैदिक कर्मों से सभी दुष्कर कामों को सुकर बना सकते हैं' ॥५६॥

प्राचीन समय में एक पुत्रहीन राजा था उसकी एक सौ पाँच रानियाँ थीं। पुत्रेष्टि यज्ञ करने के पश्चात् राजा के घर जन्तु नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ जो सभी रानियों की आँखों के लिए दूज के चाँद के समान था ॥५७-५८॥

जानुभ्यां पयटन्त्या च बाल जातु पिपीलिका।
ऊरुस्थले ददंशन मुक्तचूत्कारकातरम् ॥५९॥
तावता तुमुलाक्रन्दमन्तःपुरमजायत।
राजापि पुत्र पुत्रेति चक्रन्द प्राकृतो यथा॥६०॥
क्षणात्तस्मिन्समाश्वस्ते बालेऽपास्तपिपीलिके।
दुःखकारण राजा स निनिन्दैकपुत्रताम् ॥६१॥
अस्ति कश्चिदुपायो म येन स्युर्बहव सुता।
इति तत्परितापेन पप्रच्छ ब्राह्मणाश्च स ॥६२॥
त त प्रत्यब्रुवन् राजन्नुपायोऽत्र तवास्त्ययम।
हत्वैत त्वत्सुत वह्नौ तन्मास हूयतेऽखिलम् ॥६३॥
तद्गन्धाघ्राणतो राज्ञ सर्वा प्राप्स्यन्ति त सुतान्।
एतच्छ्रुत्वा स राजा तत्तथा सर्वमकारयत् ॥६४॥
स्वपत्नी समसख्यांश्च स पुत्रान् प्राप्तवान्नृप।
अतस्तवापि होमेन साधयामो वय सुतम् ॥६५॥
इत्युक्त्वा धनदत्त त ब्राह्मणा कल्पतदक्षिणम्।
होम चक्रुस्ततस्तस्य वणिजो जातवान्सुत ॥६६॥
गुहसेनाभिधानश्च स बालो ववृध क्रमात्।
पिताऽस्य धनदत्तोऽस्य भार्यामन्विष्यति स्म स ॥६७॥
तत स तत्पिता तेन तनयेन सम ययौ।
द्वीपान्तर स्नुषाहेतोर्वणिज्याव्यपदेशत ॥६८॥
तत्र देवस्मितां नाम धर्मगुप्ताद्वणिग्वरात्।
स्वपुत्रगुहसेनस्य कृते कन्यामयाचत ॥६९॥
धर्मगुप्तस्तु सम्बन्ध न तमङ्गीचकार स।
आलोच्य ताम्रलिप्तीं तां दूरां दुहितृवत्सल ॥७०॥
सा तु देवस्मिता दृष्ट्वा गुहसेन तदैव तम्।
तद्गुणाकृष्टचित्तत्वाद् बन्धुत्यागैकनिश्चया ॥७१॥
धर्मीमुखन कृत्वा च सङ्केत सह तेन सा।
प्रियेण पितृयुक्तेन रात्रौ द्वीपात्ततो ययौ ॥७२॥
ताम्रलिप्तीमथ प्राप्य तयो कृतविवाहयो।
जायापत्योर्मिथ प्रेमपाशबद्धमभून्मन ॥७३॥

किसी समय घुटनों के बल रेंगते हुए उस बालक की जाँघ में एक चींटी ने काट लिया। फलतः बच्चा चिल्लाकर व्याकुल हो गया ॥५९॥

इतने में ही रनिवास में कोलाहल मच गया। राजा भी 'पुत्र-पुत्र' कहते हुए साधारण व्यक्तियों के समान रोने लगा ॥६०॥

कुछ समय के उपरान्त चींटी को हटा देने और बालक को चुप करा देने पर राजा एक-पुत्रता की निन्दा करने लगा। एक पुत्र का होना दुःख का कारण होता है। क्या कोई ऐसा भी उपाय है कि मेरे बहुत-से पुत्र उत्पन्न हो जायँ सन्ताप के कारण राजा ने पुनः ब्राह्मणों को बुलाकर इस प्रकार पूछा ॥६१॥

ब्राह्मणों ने उससे कहा—'हाँ एक उपाय है। वह यह कि तुम्हारे इस लड़के को मारकर उसके मांस से हवन किया जाय। उस हवन-धूम की गन्ध को पाकर तुम्हारी सभी रानियाँ गर्भवती हो जायेंगी और तुम्हें अपनी रानियों की संख्या के बराबर पुत्र उत्पन्न होंगे। ब्राह्मणों की यह बात सुनकर राजा ने उनके कथनानुसार कार्य करना स्वीकार किया और तदनुरूप सारी व्यवस्था की। ब्राह्मणों ने पुत्र-साधना के लिए दक्षिणा का निश्चय करके यज्ञ किया और उससे गुहसेन नामक बालक उत्पन्न हुआ ॥६२ ६६॥

बड़े होने पर उसके पिता ने उसके विवाह के लिए स्त्री ढूँढ़ना प्रारम्भ किया ॥६७॥

इसी प्रसंग में व्यापार के बहाने बनवत्त उसे लेकर पुत्रवधू लाने के लिए दूसरे द्वीप में चला गया ॥६८॥

दूसरे द्वीप में जाकर उसने धर्मगुप्त नामक बनिये से उसकी देवस्मिता नाम की कन्या को अपने पुत्र गुहसेन के लिए माँगा ॥६९॥

कन्या के अत्यन्त प्रिय होने के कारण और ताम्रलिप्ति को बहुत दूर समझकर धर्मगुप्त ने अपनी कन्या उसे नहीं दी ॥७०॥

किन्तु उसकी कन्या देवस्मिता गुहसेन को देखकर उसके गुणों से आकृष्ट होकर और अपने परिवारवालों को त्याग कर उसके साथ जाने के लिए तैयार हो गई ॥७१॥

किसी सहेली के द्वारा गुहसेन से गुप्त निश्चय करके देवस्मिता गुहसेन और उसके पिता के साथ रात के समय ताम्रलिप्ति चली आई ॥७२॥

ताम्रलिप्ति पहुँचकर उन दोनों का विवाह-सम्बन्ध हो जाने पर उन दोनों का मन परस्पर प्रेमपाश में दृढ़तापूर्वक बँध गया ॥७३॥

अथास्त पितरि प्राप्य प्रेरितोऽभूत्स बन्धुभिः।
कटाहद्वीपगमने गुहसेनो यदृच्छया ॥७४॥
तच्चास्य गमनं भार्या तदा नाङ्गीचकार सा।
सेर्ष्या देवस्मिता कामं यन्त्रीसङ्गशङ्किनी ॥७५
ततः पत्न्यामनिच्छन्त्यां प्ररयत्सु च बन्धुषु।
कर्तव्यनिश्चलो मूढो गुहसेनो बभूव सः ॥७६॥
अथ गत्वा निराहारश्चक्रे देवकुले व्रतम्।
उपायमिह देवो मे निर्दिशत्विति चिन्तयन् ॥७७॥
सापि देवस्मिता तद्वत्तेन सार्धं व्यधाद् व्रतम्।
ततोऽन्नयो शिवः स्वप्ने दम्पत्योर्दर्शनं ददौ ॥७८॥
द्वे च रक्ताम्बुजे दत्त्वा स दवस्ताबभाषत।
हस्ते गृह्णीतमकैकं पद्ममेतद्युभावपि ॥७९॥
दूरस्थयते च यद्येकः शीलत्याग करिष्यति।
तदन्यस्य करे पद्म म्लानिमेष्यति सत्वरम् ॥८०॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धयैव दम्पती तावपश्यताम्।
अन्योन्यस्येव हृदयं हस्तस्थं रक्तमम्बुजम् ॥८१॥
ततः स चक्रे प्रस्थानं गुहसेनो धृताम्बुजः।
सा तु देवस्मिता तत्र तस्थौ पद्मार्पितेक्षणा ॥८२॥
गुहसेनोऽपि तं प्राप कटाहद्वीपमाशु सः।
कर्तुं प्रववृते चात्र रत्नानां क्रयविक्रयौ ॥८३॥
हस्ते च तस्य तद्दृष्ट्वा सदैवाम्लानमम्बुजम्।
तत्र कश्चिद् वणिक्पुत्राश्चत्वारो विस्मयं ययुः ॥८४॥
ते युक्त्या त गृहं नीत्वा पाययित्वा भृशं मधु।
पप्रच्छुः पद्मवृत्तान्तं सोऽपि क्षीबः शशंस तम् ॥८५॥
ततस्तं चिरनिर्वाह्यरत्नादिक्रयविक्रयम्।
विचिन्त्य गुहसेनं ते चत्वारोऽपि वणिक्सुताः ॥८६॥
समन्त्र्य कौतुकात्तत्पापास्तद्भार्याशीलविप्लवम्।
चिकीर्षवो ययुः शीघ्रं ताम्रलिप्तीमलक्षिताः ॥८७॥
तत्रोपायं विचिन्वन्तः सुगतायतनस्थिताम्।
प्रव्राजिकामुपाजग्मुर्नाम्ना योगकरण्डिकाम् ॥८८॥

प्रीतिपूर्वं च तामूचुर्भगवत्यस्मदीप्सितम्।
साध्यते चत्त्वया तत्ते दास्यामोऽर्थान् बहूनिति ॥८९॥
साप्युवाच ध्रुव मूर्ना कापि स्त्री वाञ्छितेह च।
तद्ब्रूत साधयाम्येव धनलिप्सा च नास्ति म ॥९ ॥
अस्ति सिद्धिकरी नाम शिष्या मे बुद्धिशालिनी।
तत्प्रसादेन सम्प्राप्तमसख्य हि धन मया ॥९१॥

सिद्धि कथा

कथ शिष्याप्रसादेन भूरि प्राप्त धन त्वया।
इति तै सा वणिक्पुत्रै पृष्टा प्रव्राजिकाब्रवीत् ॥९२॥
कौतुक यदि तत्पुत्रा श्रूयतां वर्णयामि व ।
इह कोऽपि वणिक्पूर्वमाययादुत्तरापथात् ॥९३॥
तस्यहस्थस्य मच्छिष्या सा गत्वा छिद्रिय गृहे।
युक्त्या कर्मकरीभाव कृतरूपविवर्तना ॥९४॥
विश्वास्य वणिज त च तद्गृहात् स्वर्णसञ्चयम्।
सर्व मुषित्वा प्रच्छन्न प्रत्यूषे साथ निर्ययौ ॥९५॥
नगरीनिर्गतां दृष्ट्वा शङ्काशीघ्रगति च ताम्।
मृदङ्गहस्तो मार्गाय डोम्ब कोऽप्यन्वगाद्द्रुतम् ॥९६॥
न्यग्रोधस्य तल प्राप्य सा दृष्ट्वा तमुपागतम्।
डोम्ब सिद्धिकरी धूर्ता सदैन्यमेवमब्रवीत् ॥९७॥
भर्त्रा सहाद्य कलह कृत्वाह निर्गता गृहात्।
भद्र तद्भद्र पाशोऽत्र त्वया मे बध्यतामिति ॥९८॥
पाशेन म्रियतामेषा किमेनां हन्म्यह स्त्रियम्।
मत्वेति तत्र वृक्षोऽसौ डोम्ब पाशमसञ्जयत् ॥९९॥
तत सिद्धिकरी डोम्ब सा मुग्धेव जगाद तम्।
म्रियते कथमुद्बन्धस्त्वया मे दर्श्यतामिति ॥१००॥
तत स डोम्बस्त दत्वा मृदङ्ग पादयोरध ।
इत्थ म्रियत इत्युक्त्वा स्वकण्ठे पाशमर्पयत् ॥१ १॥
सापि सिद्धिकरी सद्यस्त मृदङ्गमचूर्णयत्।
पादाघातेन डोम्बोऽपि सोऽपि पाश व्यपद्यत ॥१ २॥
तत्कालमागतोऽन्वेष्टुं वृक्षमूले ददर्श स ।
मुषिताशषकोषां तां दूरात्सिद्धिकरीं वणिक् ॥१ ३॥

और उससे कहने लगे—'हे देवि, यदि तुम हमारा कार्य सिद्ध कर दोगी, तो तुम्हें हम बहुत-सा धन देंगे'॥८९॥

वह स्त्री बोली—'यदि तुम लोग किसी स्त्री को चाहते हो तो कहो। मैं तुम्हारा कार्य कर दूँगी। मुझे धन का लालच नहीं है॥९०॥

सिद्धिकरी नाम की मेरी एक बुद्धिमती शिष्या है। उसकी कृपा से मैंने असंख्य धन प्राप्त किया है॥९१॥

सिद्धि की कथा

'तुमने शिष्या की कृपा से असंख्य धन कैसे प्राप्त किया?' वैश्यपुत्रों द्वारा इस प्रकार पूछने पर संन्यासिनी बोली—॥९२॥

बेटे! यदि तुम्हें सुनने की इच्छा है तो सुनो, कहती हूँ। एक बार उत्तरापथ से कोई बनिया यहाँ आया था॥९३॥

मेरी शिष्या किसी उपाय से उसके घर जाकर टिक गई। उसने अपना रूप छिपाकर सेविका (मजदूरनी) का रूप धारण किया॥९४॥

धीरे-धीरे वह उस बनिये का विश्वास जमाकर उसके घर में रखे हुए समस्त स्वर्ण भार को लेकर अपने प्रात काल में छिपकर निकल गई॥९५॥

नगर से बाहर पकड़े जाने के भय से शीघ्रतापूर्वक भागती हुई उसे देखकर मार्ग में एक डोम उसका धन छीनने के लिए उसका पीछा करने लगा॥ ९६॥

कुशल सिद्धिकरी ने समझ लिया और एक पीपल के वृक्ष के नीचे पहुँचकर उसने [illegible] दीनता के साथ उस डोम से कहा—आज मैं अपने पति के साथ कलह करके मरने के लिए घर से भाग आई हूँ। इसलिए हे भले आदमी! तुम मेरे लिए फाँसी का फन्दा बाँध दो। 'यह फाँसी के फन्दे से स्वयं ही मर जाय मैं स्त्री-हत्या क्यों करूँ'—यह सोचकर उसने वृक्ष से फाँसी का फन्दा लटका दिया॥९७— ॥

तब वह सिद्धिकरी अनजान और भोली [illegible] — [illegible] के कैसे डाला जाता है? जरा [illegible] दिखलाओ॥१ ॥

तब उस मूर्ख डोम ने [illegible] किया॥१ १॥

[illegible] सिद्धिकरी ने [illegible]॥१ ३॥

[illegible] सिद्धिकरी को [illegible] देखा॥१ ॥

---

१ [illegible]

सिद्धिकरी भी उसे देखकर वृक्ष पर चढ़ गई और घने पत्तों में अपने को छिपाकर बैठ गई ॥१ ४॥

नौकर के साथ उस बनिये ने आकर देखा तो केवल डोम फाँसी के फन्दे में झूल रहा है। उसने सिद्धिकरी को कहीं नहीं देखा। 'वह कहीं वृक्ष पर न चढ़ी हो' ऐसा सोचकर बनिये का नौकर वृक्ष पर चढ़ गया। उसे पेड़ पर चढ़कर समीप आया हुआ देखकर सिद्धिकरी बोली—हे सुन्दर, मैं सचमुच तुम पर आसक्त हूँ। आओ यह धन भी लो और मेरे शरीर का भोग भी करो। ऐसा कहकर उसने उस भृत्य का आलिंगन करके चुम्बन लेते हुए उसकी जीभ को दाँतों से काट लिया॥१ ५–१ ८॥

वेदना से पीड़ित और मुँह से रक्त बहाता हुआ बनिये का वह नौकर उस वृक्ष से नीचे गिरा और ल ल ल करता हुआ अस्पष्ट भाषण करने लगा॥१ ९॥

उसे देखकर बनिया डरा कि इसपर भूत सवार हो गया है और बचे हुए नौकरों को लेकर शीघ्रता से घर की ओर भागा॥११ ॥

उसके भागते ही वह तपस्विनी सिद्धिकरी वृक्ष से नीचे उतरी और धन की गठरी लेकर अपने घर पहुँची॥१११॥

हे बेटे! इस प्रकार मेरी शिष्या अति प्रतिभाशालिनी है और उसी की कृपा से मैंने बहुत-सा धन प्राप्त किया है॥११२॥

ऐसा कहकर उस परिव्राजिका ने उसी समय आई हुई अपनी शिष्या को उन्हें दिखाया और उसका परिचय उनसे कराया॥११३॥

इसके पश्चात् उनसे बोली—बेटे! अब तुम अपना कार्य बताओ। किस स्त्री को तुमलोग चाहते हो। मैं उसे अभी सिद्ध करती हूँ॥११४॥

उसकी बातें सुनकर वैश्यपुत्र बोले—'गुहसेन व्यापारी की देवस्मिता नाम की जो स्त्री है, उससे हम लोगों का संगम कराओ'॥११५॥

उनकी बात सुनकर परिव्राजिका ने कार्य साधने की प्रतिज्ञा की और उन वैश्यपुत्रों के ठहरने का प्रबन्ध अपने ही घर में कर दिया॥११६॥

उनके वहाँ ठहरने पर उन्हें भोजन आदि सत्कार से प्रसन्न करके वह कुट्टनी अपनी तपस्विनी शिष्या के साथ गुहसेन के घर गई॥११७॥

जब वह देवस्मिता के द्वार पर पहुँची तब जंजीर में बँधी हुई कुतिया ने भूँकते हुए भीतर जाने से रोका॥११८॥

ततो देवस्मिता दृष्ट्वा सा तां प्रावेशयत्स्वयम् ।
भिक्षागता स्यादेषेति विचिन्त्य प्रेष्य चेटिकाम् ॥११९॥
प्रविष्टा चाशिषं दत्त्वा कृत्वा व्याजकृतादराम् ।
सा तां देवस्मितां साध्वीं पापा प्रव्राजिकाब्रवीत् ॥१२०॥
सदैव त्वद्दिदृक्षा मे भवत्यद्य पुनर्मया ।
स्वप्ने दृष्टासि तेनाहमुत्का त्वां द्रष्टुमागता ॥१२१॥
भर्त्रा विनाकृतां त्वां च दृष्ट्वा मे दूयते मनः ।
प्रियोपभोगवन्ध्ये हि विफले रूपयौवने ॥१२२॥
इत्यादिभिर्वचोभिस्तां साध्वीमाश्वास्य सा चिरम् ।
आमन्त्र्य चाययौ तावद् गृहं प्रव्राजिका निजम् ॥१२३॥
द्वितीयेऽह्नि गृहीत्वा च मरिचक्षोदनिर्भरम् ।
मांसखण्डं पुनः सा तद्ययौ देवस्मितागृहम् ॥१२४॥
द्वारस्थायै ददौ तस्यै मांसखण्डं च तत्र तम् ।
सापि तं भक्षयामास सद्यः समरिचं शुनी ॥१२५॥
ततो मरिचदोषेण तस्या दृग्भ्यामवारितम् ।
अश्रु प्रववृते तस्याः प्रस्नौति स्म च नासिका ॥१२६॥
सापि प्रव्राजिका तस्मिन् क्षणे देवस्मितान्तिकम् ।
प्रविश्य तत्कृतातिथ्या प्रारेभे रोदितुं शठा ॥१२७॥
पृष्टा च देवस्मितया सा कृच्छ्रादेवमब्रवीत् ।
पुत्रि ! सम्प्रति पश्यैतां बहिः प्ररुदतीं शुनीम् ॥१२८॥
एषा ह्यद्य परिज्ञाय मां जन्मान्तरसङ्गताम् ।
प्रवृत्ता रोदितुं तेन कृपयाश्रु ममोद्गतम् ॥१२९॥
तच्छ्रुत्वा बहिरालोक्य शुनीं तां रुदतीमिव ।
किमेतच्चित्रमिति सा दध्यौ देवस्मिता क्षणम् ॥१३०॥
प्रव्राजिकाथ सावादीत् पुत्रि पूर्वत्र जन्मनि ।
अहमेषा च भार्ये द्वे विप्रस्याभूव कस्यचित् ॥१३१॥
स चावयोः पतिर्दूरं देशान्तरमितस्ततः ।
वारं वारं प्रयाति स्म राजादेशेन दूत्यया ॥१३२॥
तत्प्रवासे च कुर्वन्त्या स्वेच्छं पुरुषसङ्गमम् ।
मया भूतेन्द्रियग्रामो नोपभोगैरवञ्च्यत ॥१३३॥
भूतेन्द्रियानभिद्रोहो धर्मो हि परमो मतः ।
अतो जातिस्मरा पुत्रि ! जाताहमिह जन्मनि ॥१३४॥
एषा तु मौग्ध्येनैव ररक्षाज्ञानतस्तदा ।
तेन श्वयोनौ पतिता किन्तु जातिं स्मरत्यसौ ॥१३५॥

कोऽप्य धर्मो ध्रुव धूर्तरचनेय कृतानया ।
इति सञ्चिन्त्य सुप्रज्ञा सा तां देवस्मितामवोच् ॥१३६॥
इयच्चिर मया धर्मो न ज्ञातो भगवत्ययम् ।
तस्य केनापि कान्तेन पुसा मे सङ्गम कुरु ॥१३७॥
तत प्रव्राजिकावादीत्सन्ति द्वीपान्तरागता ।
इह स्थिता वणिक्पुत्रास्तर्हि तानानयामि ते ॥१३८॥
इत्युक्त्वा सा प्रमुदिता ययौ प्रव्राजिका गृहम् ।
सा च देवस्मिता स्वैर स्वचटीरित्यभाषत ॥१३९॥
नून दृष्ट्वा तदम्लान हस्त मद्भर्तुरम्बुजम् ।
पृष्ट्वा च स यथावृत्त मद्यप जातु कौतुकात् ॥१४०॥
मद्विध्वसाय कथ्यते द्वीपात्तस्मादिहागता ।
वणिक्पुत्रा शठास्तस्य प्रयुक्तेय कुतापसी ॥१४१॥
तद्धत्तूरकसयुक्त मद्यमानयत द्रुतम् ।
गत्वाथ कारयध्व च शुन पादमयोमयम् ॥१४२॥
इति देवस्मितोक्तास्ताश्चेटचश्चक्रुस्तथैव तद् ।
एका च चेटी तद्रूप तद्वाक्यादकरोत्तदा ॥१४३॥
सापि प्रव्राजिका तस्माद् वणिक्पुत्रचतुष्टयात् ।
मह प्रथमिकादिष्टादादायैकमथाययौ ॥१४४॥
स्वशिष्यावेषसच्छन्न त च देवस्मितागृहे ।
तत्र साय प्रवेश्यैव निर्गत्याप्रकट ययौ ॥१४५॥
ततोऽत्र स वणिक्पुत्र तत्सधत्तूरक मधु ।
चेटी देवस्मिताख्या सा सादरमपाययत् ॥१४६॥
तेन सोऽविनयेनेव मधुना हृतचेतन ।
कृत्वा वस्त्रादिकर्षीमिस्तत्र चक्रे दिगम्बर ॥१४७॥
शुन पादेन दत्त्वाङ्क ललाटे ताभिरेव च ।
नीत्वा सोऽशुचिसम्पूर्णे क्षिप्तोऽभूत् खातके निशि ॥१४८॥
यामेऽन्त्य पश्चिमे सञ्ज्ञा लब्ध्वा रेमान पश्यति स ।
स्वपापोपनते मग्नमवीचाविव खातके ॥१४९॥
अथोत्थाय कृतस्नानो ललाटेऽङ्क परामृशन् ।
नग्न सन्स वणिक्पुत्रो ययौ प्रव्राजिकागृहम् ॥१५ ॥
मामैवैकस्य हास्यत्व मा भूदिति स तत्र तान् ।
आगच्छन् मुषितोऽस्मीति सखीनन्यानभाषत ॥१५१॥

'अथवा यह भी कोई धर्म है—कुट्टिनी ने मेरे साथ यह धूर्तता की चाल चली है। ऐसा सोचकर बुद्धिमती देवस्मिता परिव्राजिका से बोली— भगवति! इतने दिनों तक मैं इस धर्म को नहीं जानती थी किन्तु आज जान गई। इसलिए तुम किसी सुन्दर पुरुष के साथ मेरा संगम कराओ॥१३६-१३७॥

तब परिव्राजिका कहने लगी कि दूसरे द्वीप से कुछ वैश्य-पुत्र आये हैं। यहीं ठहरे हैं। अतः मैं उन्हें तुम्हारे लिए लाती हूँ॥१३८॥

ऐसा कहकर प्रसन्न होती हुई कुट्टिनी अपने घर गई और इधर बुद्धिमती देवस्मिता ने अपनी सेविकाओं से निःशंक होकर कहा—मेरे पति के हाथ में सदा खिले हुए कमल-पुष्प को देखकर और उस मद्यप से सारा वृत्तान्त पूछकर दूसरे द्वीप से कुछ दुष्ट वैश्यपुत्र मेरा सतीत्व बिगाड़ने के लिए यहाँ आये हैं। उन्होंने ही इस कुट्टनी दुष्टा तपस्विनी को नियुक्त किया है। इसलिए तुमलोग धतूरा मिला हुआ मद्य शीघ्रता से लाओ और बाजार में जाकर कुत्ते के लोहे का पैर बनवा लाओ॥१३९-१४२॥

देवस्मिता के आज्ञानुसार सेविकाओं ने ऐसा ही किया और एक सेविका ने उसके आज्ञानुसार देवस्मिता का रूप धारण किया॥१४३॥

उधर परिव्राजिका भी 'पहले मैं' 'पहले मैं' करते हुए उन चारों में से एक को अपनी शिष्या के वेष में छिपाकर गुप्त रूप से देवस्मिता के घर पर आई॥१४४॥

इस प्रकार सायंकाल ही उसे देवस्मिता के घर में प्रविष्ट कराकर वह धीरे-से गुप्त रूप से लौट गई। वैश्यपुत्र के घर आने पर देवस्मिता के रूप में बैठी हुई दासी ने उसे धतूरा मिला हुआ पर्याप्त मद्य-पान कराया। मद्य के नशे से उन्मत्त वैश्यपुत्र के शरीर के सारे वस्त्र और आभूषण उतरवाकर दासियों ने उसे नंगा कर दिया। फिर उन्हीं दासियों ने कुत्ते के लोहे के पैर को आग में लाल करके उससे उसका ललाट दग्ध (दाग) करके उस रात्रि के अन्धकार में किसी मल के कुंड (गड्ढा) में फेंक दिया। उसी कुंड में पड़े हुए उस वैश्यपुत्र ने रात्रि बीतने के बाद होश आने पर अपने को देखा कि वह अपने पापों के फलस्वरूप नरककुंड में पड़ा है॥१४५—१४९॥

किसी प्रकार उस गड्ढे से निकलकर और स्नान करके ललाट के दागों पर हाथ फेरता हुआ वह मानो अपनी परिव्राजिका के घर पहुँचा। अकेला मैं ही इसका पात्र (बेवकूफ) न बनूँ—यह सोचकर उसने कहा कि रात को उसके घर से आते हुए मुझे चोरों ने लूट लिया और चोटें मार दी॥१५०-१५१॥

जागरेणातिपानेन शिरोऽस्ति व्यपदिश्य च।
प्रातः स तस्थौ वस्त्रेण वेष्टयित्वाङ्कितं शिरः ॥१५२॥

तथैव च पुनः सायं द्वितीयोऽपि वणिक्सुतः।
एत्य देवस्मितागेहं खलीकारं समवाप्तवान् ॥१५३॥

सोऽप्यत्य नम्नो वक्ति स्म तत्रैवाभरणान्यहम्।
स्थापयित्वापि निर्यातो मुषितस्तस्करैरिति ॥१५४॥

प्रातः सोऽपि शिरःशूलव्यपदेशेन वेष्टनम्।
कृत्वा प्रच्छादयामास ललाटतटमङ्कितम् ॥१५५॥

एवं सापन्नुवा सर्वे वणिक्पुत्राः क्रमेण ते।
प्रापुः साङ्कं खलीकारमर्थनाशं च लज्जिताः ॥१५६॥

अस्या अपि भवत्वेवमिति ते च खलीकृतिम्।
तस्याः प्रव्राजिकायास्तामप्रकाश्य ततो ययुः ॥१५७॥

साथ प्रव्राजिकान्येद्युर्जगाम सह शिष्यया।
कृतप्रयोजनास्मीति हृष्टा देवस्मितागृहम् ॥१५८॥

तत्र देवस्मिता सा तां कृत्वावरमपाययत्।
मधु धत्तूरसंयुक्तं परितोषादिवाहृतम् ॥१५९॥

तेन मत्तां सशिष्यां च छिन्नश्रवणनासिकाम्।
तामप्यशुचिपङ्कान्तः क्षेपयामास सा सती ॥१६०॥

गत्वा मैते वणिक्पुत्राः पतिं हन्युः कदाचन।
इत्याकुला च सा श्वश्र्वस्तं वृत्तान्तमवर्णयत् ॥१६१॥

ततः श्वश्रूरवादीत्तां पुत्रि! साधु कृतं त्वया।
किं तु पुत्रस्य मे तस्य कदाचिदहितं भवेत् ॥१६२॥

ततो देवस्मितावोचद्यथा शक्तिमती पतिम्।
ररक्ष प्रज्ञया पूर्वममुं रक्षाम्यहं तथा ॥१६३॥

---

१ अति दुर्बलात्मित्यर्थः।
२ मा—ऐते—इति सन्धिः।

'रात्रि के जागरण और अति मद्यपान से मेरे सिर में वेदना हो रही है'—ऐसा कहकर वह कपड़े के टुकड़े से मस्तक को बाँधकर सो गया ॥१५२॥

इसी प्रकार दूसरे दिन दूसरा वैश्यपुत्र गया। उसने भी उसी प्रकार दुर्दशा भोगी ॥१५३॥

वह नंगा ही कुट्टिनी के घर पहुँचकर बोला कि चोरों ने मेरी यह दुर्दशा की है ॥१५४॥

वह भी सिर-दर्द का बहाना करके सिर में कपड़ा लपेटकर सो गया ॥१५५॥

इस प्रकार क्रमशः वे चारों वैश्यपुत्र वंचित और अपमानित हुए, किन्तु एक दूसरे से अपनी व्यथा छिपाता ही रहा ॥१५६॥

वे इस प्रकार दुर्मति और धन-नाश होने से अत्यन्त लज्जित थे। उन्होंने उस कुट्टिनी परिव्राजिका से भी यह बात प्रकाशित नहीं की और उसके घर से अपने घर चले गये ॥१५७॥

उनके चले जाने पर वह परिव्राजिका कुट्टिनी भी सफल-मनोरथ होने के कारण अपनी धूर्त शिष्या सिद्धिकरी के साथ अभिनन्दन करने के लिए देवस्मिता के घर पर गई ॥१५८॥

देवस्मिता ने भी उसका भलीभाँति स्वागत करके मानों प्रसन्नता और सन्तोष प्रकट करने के लिए धतूरे के चूर्ण से मिला हुआ वही मद्य खूब पिलवाया ॥१५९॥

उसके पश्चात् मद्यपान से उन्मत्त उस कुट्टिनी और उसकी शिष्या के भी नाक-कान कटवा कर उन्हें उसी मल-कुंड में फेंकवा दिया जिसमें वैश्यपुत्रों को फेंका गया था ॥१६ ॥

देवस्मिता ने इस भय से कि वे लज्जित और अपमानित वैश्यपुत्र अपने देश जाकर बदला लेने के लिए मेरे पति को मार न डालें इसलिए उसने यह सारा वृत्तान्त अपनी सास को सुना दिया ॥१६१॥

तब सास ने कहा—बेटी! तुमने बहुत अच्छा कार्य किया। किन्तु इस कांड से मेरे पुत्र (तुम्हारे पति) को हानि हो सकती है ॥१६२॥

तब देवस्मिता ने कहा—"जैसे पहले समय में शक्तिमती ने अपने पति की रक्षा की थी उसी प्रकार मैं भी 'उनकी' रक्षा करती हूँ" ॥१६३॥

कथं शक्तिमती पुत्रि! ररक्ष पतिमुच्यताम्।
इति पृष्टा तया श्वश्र्वा साथ देवस्मिताब्रवीत्॥१६४॥
अस्मद्देशे पुरस्यान्तर्मणिभद्र इति श्रुतः।
पूर्वैः कृतप्रतिष्ठोऽस्ति महायक्षः प्रभावितः॥१६५॥
तस्योपयाचितान्यत्र तत्रत्याः कुर्वते जनाः।
तत्तद्वाञ्छितसंसिद्धि-हेतोस्तैस्तैरुपायनैः॥१६६॥
यो नरः प्राप्यते तत्र रात्रौ सह परस्त्रिया।
स्थाप्यते सोऽस्य यक्षस्य गर्भागारे तया समम्॥१६७॥
प्रातस्तथैव सस्त्रीकः स नीत्वा राजसंसदि।
प्रकटीकृत्य तद्वृत्तं निगृह्यत इति स्थितिः॥१६८॥
एकदा तत्र नक्तं च सङ्गतः परजायया।
वणिक्समुद्रदत्ताख्यः प्राप्तोऽभूत्पुररक्षिणा॥१६९॥
नीत्वा च तेन क्षिप्तोऽभूत्सपरस्त्रीक एव सः।
यक्षवेश्मगृहे तस्मिन् दृढदत्तार्गलो वणिक्॥१७०॥
तत्क्षणं वणिजस्तस्य महाप्रज्ञा पतिव्रता।
भार्या शक्तिमती नाम तं वृत्तान्तमबुध्यत॥१७१॥
साथ धैर्यान्वयस्यैव तद्यक्षायतनं निशि।
पूजामादाय साश्वासा सखीजनयुता ययौ॥१७२॥
तत्रैत्य दक्षिणालोभादेतस्या एव पूजकः।
ददौ प्रवेशमुद्घाट्य द्वारमुक्त्वा पुराधिपम्॥१७३॥
सा च प्रविश्य सस्त्रीके दृष्टे पत्यौ विलक्षिते।
स्ववेषं कारयित्वा तां निर्याहीत्यवदत्स्त्रियम्॥१७४॥
सा च निर्गत्य रात्रौ स्त्री तद्वेषेण ततो ययौ।
तस्थौ शक्तिमती तत्र तेन भर्त्रा समं तु सा॥१७५॥
प्रातश्च राजाधिकृतैरेत्य यावन्निरूप्यते।
तावत्स्वपत्न्यैव युतः सर्वैः स ददृशे वणिक्॥१७६॥
तद्बुद्ध्वा यक्षभवनान्मृत्योरिव मुखान्नृपः।
वञ्चयित्वा पुराध्यक्षं वणिजं तममोचयत्॥१७७॥
एवं शक्तिमती पूर्वं ररक्ष प्रज्ञया पतिम्।
अहं तथैव भर्तारं गत्वा रक्षामि युक्तितः॥१७८॥

सेठ समुद्रदत्त और शक्तिमती की कथा

बेटी शक्तिमती ने कैसे अपने पति की रक्षा की थी ?—सास के इस प्रकार प्रश्न करने पर देवस्मिता ने कहा—'हमारे देश में नगर के भीतर मणिभद्र नाम के एक महायक्ष की मूर्ति एक मन्दिर में प्रतिष्ठित है। नगर-निवासी अपनी-अपनी कार्यसिद्धि के लिए उस मणिभद्र-मन्दिर में जाकर मन्नतें मानते हैं, और अपने-अपने कार्य के अनुसार वहाँ उपहार चढ़ाते हैं। जो व्यक्ति उस मन्दिर में दूसरी स्त्री के साथ पाया जाता था उसे रात में मन्दिर के भीतरी भाग में बन्द कर दिया जाता था। वह प्रातःकाल उसी स्त्री के साथ राजसभा में ले जाया जाता था। वहाँ उसका वृत्तान्त प्रकट करके उसे मार डालने का दण्ड दिया जाता था। ऐसी व्यवस्था वहाँ थी ॥१६४–१६८॥

एक बार उस मन्दिर में रात के समय दूसरी स्त्री के साथ समुद्रदत्त नामक बनिये को नगर-रक्षक (कोतवाल) ने पकड़ा और उसे मन्दिर के भीतर उस स्त्री के साथ बन्द करके सुदृढ़ ताला लगवा दिये ॥१६९–१७ ॥

उसी समय समुद्रदत्त की अत्यन्त बुद्धिमती और पतिव्रता पत्नी ने यह समाचार सुना। और साथियों के साथ पूजा-सामग्री आदि उपहार लेकर वह मन्दिर में गई ॥१७१–१७२॥

मन्दिर के पुजारी ने लम्बी दक्षिणा के लोभ से कोतवाल को कहकर मन्दिर का द्वार खुलवा दिया ॥१७३॥

उसने मन्दिर के भीतर जाकर किसी स्त्री के साथ अपने पति को देखा और अपने कपड़े उस स्त्री को पहिनाकर कहा—'तुम जाओ' ॥१७४॥

वह स्त्री शक्तिमती के वेष में बाहर निकल गई और शक्तिमती उस स्त्री के वेष में पति के पास रह गई ॥१७५॥

प्रातःकाल राजा के अधिकारियों ने जब जाकर देखा तो वह बनिया अपनी स्त्री के साथ पाया गया ॥१७६॥

यह वृत्तान्त जानकर राजा ने मृत्यु-मुख से उसे मुक्त कर दिया और प्रमाद करने के कारण कोतवाल को दंड दिया ॥१७७॥

समुद्रदत्त की कथा समाप्त

जिस प्रकार पूर्वकाल में शक्तिमती ने बुद्धि से अपने पति की रक्षा की थी उसी प्रकार मैं भी उपाय करके अपने पति की रक्षा करूँगी ॥१७८॥

अपनी सास से एकान्त में इस प्रकार बातें करके देवस्मिता ने अपनी सहेलियों के साथ व्यापारी बनियों का-सा वेष बनाया। और व्यापार करने के बहाने से जहाज पर चढ़कर कटाह द्वीप में पहुँची जहाँ उसका पति ठहरा था। कटाह-द्वीप के जौहरी-बाजार में व्यापारियों के मध्य बैठे हुए उसने मूर्तिमान् धैर्य के समान अपने पति को देखा ॥१७९ १८०॥

गुप्तसेन ने भी पुरुष के वेष में अपनी पत्नी देवस्मिता को भलीभाँति पहिचाना तो नहीं किन्तु 'यह उसी के समान कौन है ?'—देखकर इस चिन्ता में निमग्न हो गया ॥१८१ १८२॥

देवस्मिता ने कटाह-द्वीप के राजा के पास जाकर प्रार्थनापूर्वक निवेदन किया कि आप अपने नगर की सारी जनता को एकत्र करें ॥१८३॥

उसकी प्रार्थना स्वीकार करके राजा ने सभी नागरिकों को कौतूहल के साथ एकत्र किया और बनिये के वेष में स्थित देवस्मिता से कहा—'नागरिक एकत्र हैं तुम अपनी प्रार्थना सुनाओ' ॥१८४॥

उत्तर में देवस्मिता ने कहा—'यहाँ मेरे चार दास भागकर आये हैं। महाराज ! उन्हें मुझे सौंप दें' ॥१८५॥

तब राजा ने उससे कहा कि ये सभी नागरिक यहाँ उपस्थित हैं। इनमें से तुम अपने चारों दासों को पहचानकर पकड़ो ॥१८६॥

तब देवस्मिता ने अपने घर में दंडित अतएव अपने-अपने माथे पर दुपट्टा बाँधे हुए उन चारों वैश्यपुत्रों को पहचानकर पकड़ लिया ॥१८७॥

उनके पकड़े जाने पर वहाँ एकत्र सभी बनिये क्रोध से बोले—'ये तो बड़ाभारी व्यापारियों के पुत्र हैं। तुम्हारे दास कैसे हो सकते हैं ?' तब उसने उन्हें प्रत्युत्तर दिया कि 'यदि आपलोगों को विश्वास नहीं है तो इनके मस्तकों को देखें। मैंने कुत्ते के पदचिह्नों से इन्हें दाग दिया है' ॥१८८ १८९॥

तब सभी ने उसकी बात सुनकर दुपट्टे हटाकर देखा कि उनके मस्तकों पर कुत्ते के पैर दागे गये थे ॥१९ ॥

इस स्थिति से वैश्य लज्जित हो गये और राजा को अत्यन्त आश्चर्य हुआ ॥१९१॥

इसके पश्चात् राजा ने स्वयं देवस्मिता से पूछा कि 'यह क्या बात है ?' ॥१९२॥

राजा के पूछने पर देवस्मिता ने सारा और सत्य वृत्तान्त सबको सुना दिया जिसे सुनकर जनता हँसने लगी और तब राजा ने कहा कि 'न्यायतः ये तेरे दास हैं' तब वहाँ के वैश्यों ने धन-संग्रह करके देवस्मिता को दिया और उन चारों को दासता से मुक्ति दिलाई। राजा ने भी उस पतिव्रता को पर्याप्त धन और वैश्यपुत्रों को दंड दिया ॥१९३॥

आदाय तद्धनमवाप्य पतिं च स स्वं
देवस्मिता सकलसज्जनपूजिता सा।
प्रत्याययौ निजपुरीमथ ताम्रलिप्तीं
नास्या बभूव च पुनः प्रियविप्रयोगः ॥१९४॥

इति स्त्रियो देवि! महाकुलोद्गता विशुद्धधीरश्चरितैरुपासते।
सदैव भर्तारमनन्यमानसाः पतिः सतीनां परमं हि दैवतम् ॥१९५॥

इत्याकर्ण्य वसन्तकस्य वदनादेतामुदारां कथां
मार्गे वासवदत्तया नवपरित्यक्ते पितुर्वेश्मनि।
तल्लज्जासदनं विधाय विदधे वत्सेश्वरे भर्तरि
प्राक्प्रौढप्रणयानुबद्धमपि सद्भक्त्येकतानं मनः ॥१९६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथा मुख लम्बके
पंचमस्तरङ्गः

षष्ठस्तरङ्गः

अथ विन्ध्यान्तरे तत्र वत्सराजस्य तिष्ठतः।
पार्श्वं चण्डमहासनप्रतीहारः समाययौ ॥१॥
स चागत्य प्रणम्यैनं राजानमिदमब्रवीत्।
राजा चण्डमहासेनस्त्वां सन्दिष्टवानिदम् ॥२॥
युक्तं वासवदत्ता यत्स्वयमेव त्वया हृता।
तदर्थमेव हि मया त्वमानीत इहाभवः ॥३॥
समतस्य च नैवेह दत्तैषा ते मया स्वयम्।
नैवमस्मासु ते प्रीतिर्भवेन्नित्ति विशङ्किना ॥४॥
तदिदानीमविधिना ममास्या दुहितुर्यथा।
न विवाहो भवेद्राजन् प्रतीक्षेथास्तथा मनाक् ॥५॥
गोपालको हि न चिरादत्रैवैष्यति मत्सुतः।
स चास्याः स्वसुरुद्वाहं यथाविधि विधास्यति ॥६॥
इतीमं वत्सराजाय सन्देशमवधार्य सः।
तत्राप्रासवदत्तायै प्रतीहारी न्यवदयत् ॥७॥

इस प्रकार समस्त जनता से प्रशंसित वह पतिव्रता देवस्मिता मन और पति को साथ लेकर अपनी नगरी ताम्रलिप्ति को लौट आई और फिर कभी उसे पति-वियोग नहीं हुआ ॥१९४॥

हे देवि ! इस प्रकार अच्छे कुल में उत्पन्न एसे धीर और उदार चरितवाली होती हैं जो अनन्य मन से पतिपरायण होती हैं क्योंकि पति ही सती स्त्रियों का परम देवता है ॥१९५॥

वसन्तक के मुख से इस प्रकार की कथा को सुनकर वासवदत्ता ने तुरन्त छोड़े हुए पिता के घर को लज्जा-गृह समझकर वत्सेश्वर के प्रति प्रौढ़ प्रेम में पगे हुए मन को भक्ति-प्रवण बना दिया ॥१९६॥

महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर के कथामुख लम्बक का
पंचम तरंग समाप्त।

षष्ठ तरंग

वत्सराज की कथा

कुछ दिनों बाद उसी विन्ध्य-शिविर में रहते हुए वत्सराज के पास चंडमहासेन का प्रतिहार (दूत) आया ॥१॥

आकर और राजा को प्रणाम करके उसने कहा—'महाराज ! चंडमहासेन ने सन्देश देकर मुझे आपके पास भेजा है और कहलाया है—"तुमने जो वासवदत्ता का हरण किया है यह उचित ही किया है। इसीलिए तुम मेरे द्वारा अपहरण कराकर उज्जैन के लाये गये थे ॥२ ३॥

कैद में बँधे हुए मैंने तुम्हें कन्या स्वयं इस शंका से नहीं दी थी कि तुम सम्भवतः इस प्रकार प्रसन्न न होगे। इसलिए हे राजन् ! मेरी कन्या का विवाह अवैवाहिक न हो इसलिए कुछ प्रतीक्षा करो शीघ्र ही मेरा पुत्र गोपालक यहाँ आवेगा और विधिपूर्वक अपनी बहिन का विवाह तुमसे करेगा" ॥४ ५॥

इस प्रकार प्रतिहार ने वत्सराज को यह सन्देश सुनाकर वासवदत्ता को भी सुनाया। तब प्रसन्न वासवदत्ता के साथ प्रसन्नचित्त राजा ने कौशाम्बी जाने की इच्छा प्रकट की ॥७॥

तत सानन्दया साम तया वासवदत्तया।
हृष्टो वत्सदवरश्चक्र कौशाम्बीगमन मन ॥८॥
गोपालकस्यागमन प्रतीक्षमो युवामिह।
तनैव सह पश्चाच्च कौशाम्बीमागमिष्यथ ॥९॥
इत्युक्त्वा स्थापयामास स तत्रव महीपति।
श्वासुर त प्रतीहार स्वमित्र च पुलिन्दकम् ॥१ ॥
ततोऽनुयातो नागन्द्र सर्वाम्भिर्मदनिर्भरान्।
अनुरागागतविन्ध्यप्राग्भारैरिव जङ्गमै ॥११॥
तुरङ्गसैन्यसङ्घातखुराघातसशब्दया ।
स्तूयमान इवोत्क्रान्तवन्दिसन्दमया भुवा ॥१२॥
नभोविलङ्घिभि सनारजोराशिभिरुद्धत ।
सपक्षभूभृदुल्लासशङ्कां कुर्व शतक्रतो ॥१३॥
स प्रतस्थ ततो देव्या सह वासवदत्तया।
स्वपुरी प्रति राजेन्द्र प्रातरेवापरेऽहनि ॥१४॥
ततश्च दिवसैर्द्वित्रैर्विषय तमवाप्य स।
विशश्राम निशामेकां रुमण्वन्मन्दिरे नृप ॥१५॥
अन्येद्युस्तां च कौशाम्बीं चिरात्प्राप्तमहोत्सव।
मार्गोत्सुको मुखजनां प्रविवेश प्रियासख ॥१६॥
तदा च स्त्रीभिरारब्धमङ्गलस्नानमण्डना।
चिरादुपागते पत्यौ बभौ नारीव सा पुरी ॥१७॥
ददृशुश्चात्र पौरास्त वत्सराज वधूसखम्।
प्रह्वास्तथोत्का शिखिन सविद्युतमिवाम्बुदम् ॥१८॥
हर्म्याग्रस्थाश्च पिबधु पौरनार्यो मुखर्नभ।
व्योमगङ्गातटोत्फुल्लहेमाम्बुरुहविभ्रमै ॥१९॥
तत स्व राजभवन वत्सराजो विवेश स।
नृपश्रियमिवापरया सह वासवदत्तया ॥२ ॥
ऐकामतनृपाकीर्णमागधोद्गीतमङ्गलम् ।
सुप्तप्रबुद्धमिव तद्रेजे राजगृह तदा ॥२१॥
अथ वासवदत्ताया भ्राता गोपालकोऽचिरात्।
माययौ सह कृत्वा तौ प्रतीहारपुलिन्दकौ ॥२२॥

तुम दोनों यहीं रहकर गोपालक के आगमन की प्रतीक्षा करो उसके आने पर साथ ही आ जाना—उदयन ने ससुराल के प्रतिहार और अपने मित्र पुलिन्दक को ऐसा कहकर वहीं ठहरा दिया ॥८—१ ॥

तब दूसरे दिन प्रातःकाल ही राजा ने धूमधाम के साथ कौशाम्बी की ओर प्रस्थान किया। राजा की सवारी के पीछे मदों का झरना बहाते हुए मदोन्मत्त हाथी झूम रहे थे जो प्रेम से राजा का अनुगमन करती हुई विन्ध्य की घाटी-से प्रतीत हो रहे थे। पीछे चलते हुए घोड़ों के पदाघातों से मानों पृथ्वी राजा के वन्दियों का काम कर रही थी। सेना के पैरों से उड़ी हुई और आकाश में पहुँची हुई धूल के बड़े-बड़े गुब्बारों से इन्द्र के लिए विपक्षी पर्वतों को भ्रम उत्पन्न करते हुए राजा ने प्रस्थान किया ॥११—१३॥

निरन्तर यात्रा करके दूसरे दिन प्रातःकाल राजा अपनी राजधानी में पहुँचा और पहली रात को सेनापति रुमण्वान् के घर विश्राम किया। दूसरे दिन चिरकालीन विरह से उत्सुक प्रजा के लिए महोत्सव के समान वह राजा अपनी प्रिया वासवदत्ता के साथ अपने भवन में पहुँचा। उस समय मार्ग के दोनों ओर से उत्सुक जनता राजा का दर्शन कर रही थी ॥१४-१६॥

राजा के आगमन की प्रसन्नता से नगर की स्त्रियों ने मङ्गलगान प्रारंभ किया जिससे मालूम होता था कि मानों नगरी अपने स्वामी के आगमन की प्रसन्नता में मङ्गलगान कर रही है ॥१७॥

महारानी वासवदत्ता के साथ उदयन को देखकर नगर की जनता शोक और क्षोभ से रहित होकर इस प्रकार प्रसन्न होकर नाचने लगी जैसे बिजली-सहित मेघों को देखकर मयूर नाच उठते हैं ॥१८॥

नगरी के ऊँचे मकानों पर राजदर्शनार्थ खड़ी हुई रमणियों ने आकाश-गंगा में खिले हुए कमलों के समान अपने मुख-कमलों से सारे आकाश को घेर लिया ॥१९॥

इस प्रकार नगर-यात्रा करता हुआ राजा उदयन दूसरी राजलक्ष्मी के समान वासवदत्ता के साथ राजप्रासाद में आया ॥२ ॥

सेवा में आये हुए सामन्त-राजाओं से भरा हुआ वन्दियों और गायकों के गीत-स्वर से गूँजता हुआ राजप्रासाद ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो अभी वह सोकर जगा हो ॥२१॥

राजा के राजभवन में पहुँच जाने के बाद शीघ्र ही चंडमहासेन का बड़ा पुत्र गोपालक प्रतिहार और पुलिन्दक के साथ कौशाम्बी आ पहुँचा ॥२२॥

कृतप्रत्युद्गम राज्ञा समानन्दमिवापरम् ।
प्राप वासवदत्ता सा प्रहर्षोत्फुल्ललोचना ॥२३॥

अमु भ्रातरमेतस्याः पश्यन्त्या मास्म भूत्क्षमा ।
इत्येव तस्यास्तत्काल रुरोधाश्रु विलोचने ॥२४॥

पितृसन्देशवाक्यैश्च तेन प्रोत्साहिताथ सा ।
मेने कृतार्थमात्मानं स्वजनेन समागतम् ॥२५॥

ततो यथावद्वधूटेस्तया वत्सेश्वरस्य च ।
व्यग्रो गोपालकोऽन्येद्युस्तत्रोद्वाहमहोत्सव ॥२६॥

रतिवल्लीनवोद्भिन्नमिव पल्लवमुज्ज्वलम् ।
पाणिं वासवदत्ताया सोऽथ वत्सेश्वरोऽग्रहीत् ॥२७॥

सापि प्रियकरस्पर्शसान्द्रानन्दनिमीलिता ।
सकम्पस्वेदविग्धाङ्गी गाढरोमाञ्चचर्चिता ॥२८॥

सुसमोहनवायव्यवारुणास्त्रैर्निरन्तरैः
विद्धेव पुष्पचापेन तत्क्षण समकम्प्यत ॥२९॥

वृष्टिं धूमाभिताम्राक्षी तस्या वह्नि प्रदक्षिणे ।
मदिरा मदमाधुर्यसूत्रपातमिवाकरोत् ॥३ ॥

गोपालकार्पितै रत्नै राज्ञां चोपायनैस्तथा ।
पूर्णकोषो बभौ सत्यां वत्सेशो राजराजताम् ॥३१॥

निर्वर्तितविवाहौ तावादौ लोकस्य चक्षुषि ।
वधूवरौ विविशतु पश्चात्स्व वासवेश्मनि ॥३२॥

अथ सम्मानयामास पट्टबन्धादिना स्वयम् ।
निजोत्सवे वत्सराजो गोपालकपुलिन्दकौ ॥३३॥

राज्ञां सम्माननार्थं च पौराणां च यथोचितम् ।
यौगन्धरायणस्तेन रुमण्वांश्च न्ययुज्यत ॥३४॥

ततोऽब्रवीद्रुमण्वन्तमेव यौगन्धरायणः ।
राज्ञा कष्टे नियुक्तौ स्वो लोकचित्तं हि दुर्ग्रहम् ॥३५॥

अरञ्जितश्च बालोऽपि रोषमुत्पादयेद्ध्रुवम् ।
तथा च शृण्विमां बालविनष्टककथां सखे ॥३६॥

राजा ने आगे जाकर उसका स्वागत किया और उसके आ जाने पर आनन्द से खिले हुए लोचनोंवाली वासवदत्ता दूसरे आनन्द के समान भाई से मिली। भागी हुई वासवदत्ता को भाई के साथ लज्जा का अनुभव न करना पड़े मानों इसीलिए उसकी आँखें प्रेमाश्रुओं से डबडबा आईं। पिता के सन्देश-वचनों से प्रोत्साहित वासवदत्ता ने अपने भाई से मिलकर अपने को कृतकृत्य समझा ॥२१—२५॥

दूसरे दिन दोनों का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। गोपालक सारे दिन विवाह-महोत्सव के प्रबन्ध में व्यस्त रहा। रतिरूपी लता से नवीन निकले हुए पल्लव के समान कोमल वासवदत्ता के हाथ को वत्सेश्वर ने ग्रहण किया। उदयन का स्पर्श होने पर वासवदत्ता उस स्पर्श के गम्भीर आनन्द में निमग्न हो गई। उसके सारे शरीर में कम्प और पसीना होने लगा। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों कामदेव ने सम्मोहन करनेवाले वायव्य और वारुण अस्त्रों की निरन्तर वर्षा से उसे बेध डाला हो (वायव्यास्त्र के प्रभाव से कम्प और वारुणास्त्र के प्रभाव से स्वेद बह रहा था।) ॥२६—२९॥

अग्नि की प्रदक्षिणा करते समय धुएँ से कुछ लाल हुई आँखों में मानों मदिरा के मधुर मद ने सूत्रपात कर दिया हो ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥३ ॥

इस अवसर पर गोपालक द्वारा दिये गये रत्नों तथा अन्य मित्र-राजाओं के बहुमूल्य उपहारों से वत्सराज राजराज कुबेर-सा लग रहा था ॥३१॥

विवाहित वे दोनों वर और वधू पहले तो दर्शकों की आँखों में प्रविष्ट हुए, पश्चात् अपने शयनागार में ॥३२॥

तदनन्तर अपने विवाह-महोत्सव में राजा ने गोपालक और पुलिन्दक को भेंट देकर पट्टबन्ध आदि से सम्मानित किया ॥३३॥

राजाओं तथा प्रतिष्ठित नागरिकों के सम्मान का कार्य यौगन्धरायण और रुमण्वान् को सौंपा गया था ॥३४॥

इस अवसर पर यौगन्धरायण ने रुमण्वान् से कहा कि 'राजा ने हमलोगों को बड़े ही कठिन कार्य पर नियुक्त किया है क्योंकि सभी लोगों के चित्तों को प्रसन्न करना दुष्कर है ॥३५॥

असन्तुष्ट बालक भी मन में क्षोभ और क्षीभ उत्पन्न कर देता है। इस सम्बन्ध में बाल-विनष्टक की कथा कहता हूँ सुनो ॥३६॥

बभूव रुद्रशर्माख्य कश्चन ब्राह्मण पुरा।
बभूवतुश्च तस्य द्वे गृहिण्यौ गृहमेधिन ॥३७॥
एका सुत प्रसूयैव तस्य पञ्चत्वमाययौ।
तत्सुतोऽपरमातुश्च हस्त सेनापितोऽथ स ॥३८॥
सा च किञ्चिद्विवृद्धस्य रूक्ष तस्याशन ददौ।
सोऽपि तनाभवद् बालो धूसराङ्ग पृथूदर ॥३९॥
मातृहीनस्त्वयाय मे कथ शिशुरुपेक्षित।
इति सामपरा पत्नीं रुद्रशर्माथ सोऽभ्यधात् ॥४०॥
सेव्यमानोऽपि हि स्नहैरीदृगेष किमप्यसौ।
किं करोम्यहमस्येति साप्येव पतिमब्रवीत् ॥४१॥
नूनमेवस्वभावोऽयमिति मेने च स द्विज।
स्त्रीणामलीकमधुरं हि वच को मन्यत मृषा ॥४२॥
बाल एव विनष्टोऽयमिति बालविनष्टक।
नाम्ना स बालस्तत्र सवृत्तोऽभूत्पितुर्गृहे ॥४३॥
असावपरमाता मां कदथयति सर्वदा।
तद प्रतिक्रियां काञ्चित्तावेतस्या करोम्यहम् ॥४४॥
इति सञ्चिन्तयामास सोऽथ बालविनष्टक।
व्यतीतपञ्चवर्षोऽपि वयसा बत बुद्धिमान् ॥४५॥
अथागत राजकुलाज्जगाद पितर रह।
तात द्वौ मम तातौ स्त इत्यविस्पष्टया गिरा ॥४६॥
एव प्रत्यहमाह स्म स बाल सोऽपि तत्पिता।
तां सोपपतिमाशङ्क्य भार्या स्पर्शेऽप्यवर्जयत् ॥४७॥
सापि दध्यौ विना दोष कस्मान्मे कुपित पति।
किञ्चिद् बालविनष्टेन कृत किञ्चिद् भवेदिति ॥४८॥
सादर स्नपयित्वा च दत्त्वा स्निग्ध च भोजनम्।
कृत्वोत्सङ्ग च पप्रच्छ सा त बालविनष्टकम् ॥४९॥
पुत्र किं रोपितस्तातो रुद्रशर्मा त्वया मयि।
तच्छ्रुत्वैव स तां बालो जगादापरमातरम् ॥५०॥
अतोऽधिक ते कर्तास्मि न चेदद्यापि शाम्यसि।
स्वपुत्रपोषिणी कस्मात्त्व मां क्लिश्नासि सर्वदा ॥५१॥

बाल-विनष्टक की कथा

प्राचीन समय में रुद्रशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। उस गृहस्थ की दो स्त्रियाँ थीं। उनमें से एक पुत्र प्रसव करके मर गई अतः रुद्रशर्मा ने उसके बालक को दूसरी माता के हाथ सौंप दिया ॥१७-१८॥

जब वह बालक कुछ बड़ा हुआ तब उसकी माता उसे रूखा-सूखा भोजन देने लगी। इसी कारण वह बालक धूमिल शरीरवाला और बड़े पेट (तोंद) वाला हो गया ॥३९॥

बालक की शारीरिक स्थिति देखकर रुद्रशर्मा ने उस पत्नी से कहा कि 'तुम इस मातृहीन बच्चे की उपेक्षा की है। उत्तर में उसने पति से कहा कि 'स्नेह से लालन-पालन करने पर भी यह ऐसा ही रहता है। इसके लिए मैं क्या करूँ? उसके ऐसा कहने पर रुद्रशर्मा ने समझा कि यह इस बालक की प्रकृति ही है। स्त्रियों के झूठे और मोहकारी वचनों को कौन नहीं मान जाता? यह बालक ही विनष्ट है—यह बालक पिता के घर में बढ़ने लगा इसलिए उसका नाम ही बाल-विनष्टक पड़ गया। एक बार बालक ने सोचा कि यह मेरी माता मेरी दुर्दशा करती है और अपने पुत्र का भलीभाँति लालन-पालन करती है अतः मैं इसका बदला लूँगा। बाल-विनष्टक की अवस्था यद्यपि पाँच वर्ष की ही थी किन्तु बहुत बुद्धिमान् था ॥४०—४५॥

एक बार राजगृह से आये हुए अपने पिता को एकान्त में उसने अस्पष्ट स्वर में कहा—'पिता! मेरे दो पिता हैं। उसके कहने पर रुद्रशर्मा ने अपनी पत्नी को उपपतिवाली समझकर उससे स्पर्श करना भी छोड़ दिया। वह भी चिन्ता करने लगी कि 'मेरा पति सहसा कुपित क्यों है? अवश्य ही इस बाल-विनष्टक ने कुछ किया होगा' ॥४६—४८॥

एक बार उसने बड़े ही प्रेम से बाल-विनष्टक को स्नान कराया और सुन्दर तथा स्निग्ध आहार खिलाकर, उसे गोद में बैठाकर प्यार के साथ कहा—'बेटा! तुमने अपने पिता रुद्रशर्मा को मुझपर कुपित क्यों करा दिया है? यह सुनते ही बालक विमाता से कहने लगा। अभी मैं उनमें भी अधिक कुछ करूँगा क्योंकि तुम अपने लड़के के ही पालन-पोषण में ध्यान देती हो और मुझे सदा कष्ट देती हो ॥४९-५१॥

तच्छ्रुत्वा प्रणता सा च समाधे शपथोत्तरम्।
पुनर्नैव करिष्यामि तत्प्रसादाय मे पतिम् ॥५२॥
तत स बालोऽप्यादीर्ता तद्भार्यातस्य मत्पितु।
आदर्शं दर्शयत्वेका स्वच्छेटी वेदम्याह परम् ॥५३॥
तथेत्युक्त्वा तया चटी नियुक्ता रुद्रशर्मण।
आगतस्य क्षणात्तस्य दर्शयामास दर्पणम् ॥५४॥
तत्र तस्यैव तत्काल प्रतिबिम्ब स दर्शयन्।
सोऽयं द्वितीयस्तातो मे तातेत्याह स्म बालक ॥५५॥
तच्छ्रुत्वा विगताशङ्कस्तामकारणदूषिताम्।
पत्नीं प्रति प्रसन्नोऽभूद्रुद्रशर्मा तदैव स ॥५६॥
एवमुत्पादयेद्दोषं बालोऽपि विकृतिं गत।
तदयं रञ्जनीयो न सम्यक्परिकरोऽखिल ॥५७॥
इत्युक्त्वा सरुमण्वत सोऽथ यौगन्धरायण।
सर्वं सम्मानयामास वत्सराजोत्सवे जनम् ॥५८॥
तथा च राजलोक तौ रञ्जयामासतुर्यथा।
मदेकप्रवणावेताविति सर्वोऽप्यमन्यत ॥५९॥
तौ चाप्यपूजयद्राजा सचिवौ स्वकरार्पितै।
वस्त्राङ्गरागाभरणग्रामैश्च सवसम्मतौ ॥६०॥
कृतोद्वाहोत्सव सोऽथ मुक्तो वत्सेश्वरस्तया।
मनोरथफलान्येव मेने वासवदत्तया ॥६१॥
चिरादुन्मुद्रित स्नेहात्कोऽप्यभूत्सततं तयो।
निशान्तविश्लिष्टचक्राङ्कुरीतिद्भुतो रसक्रम ॥६२॥
यथा यथा च दम्पत्यो प्रौढिं परिचयो ययौ।
तयोस्तथा तथा प्रेम नवीभावमिवाययौ ॥६३॥
गोपालकोऽथ वीवाहकर्तुं सन्देशत पितु।
प्रथमो दीक्षमावृत्ति वत्सराजेन याचित ॥६४॥
सोऽपि वत्सेश्वरो जातु चपल पूर्वसङ्गताम्।
गुप्तं विरचितां नाम मेनेऽन्त पुरचारिकाम् ॥६५॥
तद्गोत्रस्खलितो देवी पादलग्न प्रसादयन्।
लेभे सुभगसाम्राज्यमभिषिक्तस्तदश्रुभि ॥६६॥

उसका यह उत्तर सुनकर ब्राह्मणी सौभाग्य लाकर नम्रतापूर्वक उससे बोली—'अब मैं ऐसा न करूँगी। तुम मेरे पति को प्रसन्न करा दो। तब वह बालक बोला—'अब मेरे पिता आयें तब तुम्हारी दासी उसे एक शीशा दिखावे उसके बाद मैं सब कर लूँगा ।।५२-५३।।

उसकी विमाता ने दासी को इसके लिए तैयार किया। फलतः उसने ब्रह्मशर्मा के आते ही उसे शीशा दिखलाया ।।५४।।

उसी समय शीशे में अपने पिता के प्रतिबिम्ब को दिखाते हुए बालक ने कहा—'यही मेरा दूसरा पिता है' ।।५५।।

बालक की बात सुनकर ब्राह्मण शंका-रहित हो गया और निष्कारण दूषित अपनी पत्नी के प्रति प्रसन्न हो गया ।।५६।।

इस प्रकार एक बच्चा भी बिगड़कर दोष उत्पन्न कर सकता है'। अतः हम दोनों को इन सभी बालकों को प्रसन्न रखना चाहिए ।।५७।।

ऐसा कहकर रुमण्वान् के साथ यौगन्धरायण ने वत्सराज के विवाहोत्सव में सम्मिलित समस्त जनों का सावधानी से ऐसा स्वागत किया कि प्रत्येक व्यक्ति यही समझता कि सारा प्रबन्ध मेरे ही लिए हो रहा है ।।५८।।

अन्त में राजा ने यौगन्धरायण रुमण्वान् और वसन्तक को स्वयं उत्तमोत्तम वस्त्र आभूषण इत्र पान और ग्राम दान (जागीर) करके सादर पुरस्कृत किया (इनाम बाँटे) ।।५९।।

विवाह हो जाने पर वासवदत्ता से युक्त वत्सराज ने इसे अपने मनोरथों का फल समझा ।।६ ।।

चिरकाल की प्रतीक्षा के उपरान्त उमड़ा हुआ उनका प्रेम प्रातःकाल के समय रात-भर के सन्तप्त चकवा-चकवी के समान सुखद हुआ ।।६१।।

उस दम्पती का प्रेम जैसे-जैसे प्रौढ़ होता गया वैसे-वैसे उसमें नवीनता आती गई ।।६२।।
गोपालक भी विवाहकर्त्ता पिता का सन्देश पाकर वत्सराज से पुनः आने का निश्चय करके उज्जयिनी चला गया ।।६३।।

चंचल वृत्तिवाला वत्सराज रनिवास की विरचिता नाम की दासी से गुप्त प्रेम करता था। अतः कभी भ्रम से उसका नाम लेने के कारण कुपित वासवदत्ता के चरणों पर गिरकर उसे प्रसन्न करता हुआ और उसके आँसुओं से सींचा जाता हुआ अपने को सौभाग्य-साम्राज्य में अभिषिक्त समझता था ।।६५ ६६।।

किं च बन्धुमतीं नाम राजपुत्रीं भुजार्जिताम्।
गोपालकेन प्रहितां कन्यां देव्या उपायनम्॥६७॥
तया मञ्जुलिकेत्येव नाम्नान्येनैव गोपिताम्।
अपरामिव लावण्यजलधेरुद्गतां श्रियम्॥६८॥
वसन्तकसहायः सन्दृष्ट्वोद्यानलतागृहे।
गान्धर्वविधिना गुप्तमुपयेमे स भूपतिः॥६९॥
तच्च वासवदत्तास्य ददर्श निभृतस्थिता।
प्रचुकोप च बद्ध्वा च सा निनाय वसन्तकम्॥७०॥
ततः प्रव्राजिकां तस्याः सखीं पितृकुलागताम्।
स सांकृत्यायनीं[1] नाम शरणं शिश्रिये नृपः॥७१॥
सा तां प्रसाद्य महिषीं तया नैव कृताग्रया।
ददौ बन्धुमतीं राज्ञे पेशलं हि सतीमनः॥७२॥
ततस्तं बन्धनाद्देवी सा मुमोच वसन्तकम्।
स चागत्याग्रतो राज्ञीं हसन्निति जगाद ताम्॥७३॥
बन्धुमत्यापराद्धं च किं मया देवि ते कृतम्।
डुण्डुभेषु प्रहरथ क्रुद्धा यूयमहीन्प्रति॥७४॥
एतत्त्वमुपमानं मे व्याचक्ष्वेति कुतूहलात्।
देव्या पृष्टस्तया सोऽथ पुनराह वसन्तकः॥७५॥
पुरा कोऽपि रुरुर्नाम मुनिपुत्रो यदृच्छया।
परिभ्रमन्ददर्शैकां कन्यामद्भुतदर्शनाम्॥७६॥
विद्याधरात्समुत्पन्नां मेनकायां सुयोषिति।
स्थूलकेशेन मुनिना वर्धितामाश्रमे निजे॥७७॥
सा च प्रमद्वरा नाम दृष्टा तस्य रुरोर्मनः।
जहार सोऽथ गत्वा तां स्थूलकेशादयाचत॥७८॥
स्थूलकेशोऽपि तां तस्मै प्रतिशुश्राव कन्यकाम्।
आसन्ने च विवाहे तामकस्माद्दष्टवानहिः॥७९॥
ततो विषण्णहृदयः शुश्रावेमां गिरं दिवि।
एतां क्षीणायुषं ब्रह्मन् स्वायुषोऽर्धेन जीवय॥८ ॥

---

१ राजान्तःपुरे राज्ञीनां धर्मोपदेशाय प्रव्राजिकाश्चेत्प्रवेशिताः, कात्यायनीसमाः, चिरम् स्थिरं तिष्ठन्तीत्यपि प्रायो दृश्यते।

इसके अतिरिक्त गोपालक द्वारा वासवदत्ता के लिए उपहार में भेजी हुई बन्धुमती नाम की राजकुमारी को वत्सराज ने गान्धर्व विधि से विवाहित किया। उसे मंजुलिका के नाम से छिपाकर भेजा गया था। वह लावण्य-समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी के समान सुन्दर थी। इस गुप्त विवाह को वासवदत्ता ने छिपकर देख लिया था। फलतः उस कार्य के प्रधान आयोजक वसन्तक पर वह अत्यन्त क्रुद्ध हुई और उसे बँधवाकर ले गई ॥६७-७ ॥

तब राजा ने वासवदत्ता के पितृकुल से आई हुई सांकृत्यायनी नाम की परिव्राजिका की शरण ली ॥७१॥

राजा ने परिव्राजिका को प्रसन्न करके महारानी को मनाया। परिव्राजिका की आज्ञा से वासवदत्ता ने बन्धुमती को राजा के लिए दे दिया और वसन्तक को कैद से मुक्त कर दिया। सभी स्त्रियों का हृदय कोमल होता है ॥७२॥

बन्धन से छूटने पर विदूषक वसन्तक ने हँसते हुए कहा कि अपराध तो बन्धुमती ने (विवाह करकर) किया मैंने क्या किया (जो कैद किया गया) ? विषधर साँपों का क्रोध बेचारे डेड़हों (पानी के निर्विष साँपों) पर निकलती हो ॥७३-७४॥

उसके यह कहने पर वासवदत्ता ने कौतुक से पूछा—इस उदाहरण को विस्तृत रूप से समझाओ ॥७५॥

रुरु और प्रमद्वरा की कथा

वसन्तक ने समझाते हुए फिर कहा —प्राचीन समय में रुरुकुमार नाम का एक मुनिकुमार था। उसने भ्रमण करते हुए एक अद्भुत सुन्दरी कन्या को देखा ॥७६॥

वह कन्या किसी विद्याधर द्वारा स्वर्गीय अप्सरा मेनका से उत्पन्न की गई थी और स्थूलकेशा नाम के ऋषि ने अपने आश्रम में उसका पालन-पोषण किया था ॥७७॥

उस रुरु नामक ऋषिकुमार ने उस प्रमद्वरा नाम की कन्या को स्थूलकेशा ऋषि से माँगा क्योंकि उस कन्या ने उसका मन हर लिया था ॥७८॥

स्थूलकेशा ने भी उसे कन्या देना स्वीकार कर लिया था। किन्तु विवाह-समय के निकट ही उस कन्या को सर्प ने काट लिया था ॥७९॥

तब दुःखी ऋषिकुमार ने आकाशवाणी सुनी कि 'तुम अपनी आयुष्य का आधा भाग देकर इसे जीवित करो अन्यथा इसकी आयु क्षीण हो चुकी है' ॥८ ॥

तच्छ्रुत्वा स ददौ तस्य तदर्धं निजायुषः।
प्रत्युज्जिजीव सा तेन सोऽपि तां परिणीतवान्॥८१॥

अथ क्रुद्धो रुरुर्नित्यं यं यं सर्पं ददर्श सः।
तं तं जघान भार्या मे दष्टाभीभिर्भवेदिति॥८२॥

अथैकस्तं जिघांसन्तं मर्त्यवाचाह डुण्डुभः।
अहिभ्यः कुपितो ब्रह्मन्हंसि त्वं डुण्डुभान्कथम्॥८३॥

अहिना ते प्रिया दष्टा भिन्ना ह्यहिडुण्डुभौ।
अहयः सविषाः सर्वे निर्विषा डुण्डुभा इति॥८४॥

तच्छ्रुत्वा प्रत्यवादीत्तं सखे को नु भवानिति।
डुण्डुभोऽप्यवदद्ब्रह्मन्नहं शापच्युतो मुनिः॥८५॥

भवत्संवादपर्यन्तः शापोऽयमभवच्च मे।
इत्युक्त्वान्तर्हिते तस्मिन्भूयस्तान्नावधीद्रुरुः॥८६॥

तदित्थमुपमानाय तव देवि मयोदितम्।
डुण्डुभेषु प्रहरस क्रुद्धा भूयमहिष्विति॥८७॥

एवमभिधाय वचनं सनर्महासं वसन्तके विरते।
वासवदत्ता तं प्रति तुतोष पार्श्वे स्थिता पत्युः॥८८॥

इति मधुमधुराणि वत्सराजश्चरणगतः कुपितानुनायनानि।
सततमुदयनश्चकार देव्या विविधवसन्तककौशलानि कामी॥८९॥

रसना मदिरारसैकसक्ता कलवीणारवरागिणी श्रुतिश्च।
दयितामुखनिश्चला च दृष्टिः सुखिनस्तस्य सदा बभूव राज्ञः॥९ ॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे कथामुखलम्बके षष्ठस्तरङ्गः।
समाप्तश्चायं कथामुखलम्बको द्वितीयः।

ऐसा सुनकर ऋषिपुत्र ने अपनी आयु का आधा भाग देकर उसे जीवित किया और उसके साथ विवाह कर लिया ॥८१॥

विवाह के अनन्तर रुरु मुनि सर्पों पर इतना क्रुद्ध हुआ कि वह यहाँ भी किसी सर्प को देखता था उसे मार डालता था—यह समझकर कि इन सर्पों ने मेरी प्रियतमा के प्राणों का हरण किया ॥८२॥

एक बार अपने को मारते हुए ऋषि को देखकर डुंडुम (पानी का निर्विष साँप) मनुष्य की वाणी में बोला कि 'तुम साँपों पर क्रुद्ध हो तो हम डुंडुमों को क्यों मारते हो? तुम्हारी प्रियतमा को सर्प ने काटा है ॥८३॥

सर्प और डुंडुम दोनों पृथक् जातियाँ हैं। अहि (सर्प) सदा विषवाले और डुंडुभ सदा विष-हीन होते हैं। यह दोनों में भेद है। तब रुरु ने उससे पूछा कि 'तुम कौन हो?' उत्तर में उसने कहा—'मैं शाप के कारण पतित मुनि हूँ। यह शाप तुमसे वार्तालाप करने तक ही था। ऐसा कहकर उसके अन्तर्धान हो जाने पर रुरु ने डुंडुमों को मारना छोड़ दिया ॥८४–८६॥

महारानी! यही मैंने उपमा के लिए आपसे कहा कि अहियों पर क्रुद्ध आप डुंडुमों को व्यर्थ मारती हैं॥८७॥

इस प्रकार विनोद-मिश्रित हास्य के साथ कहकर वसन्तक के चले जाने पर पति के साथ बैठी हुई वासवदत्ता उसके प्रति सन्तुष्ट हुई॥८८॥

इस प्रकार कामी उदयन कुपिता वासवदत्ता के चरणों में मधुर-मधुर याचना (प्रार्थना) करता हुआ विदूषक वसन्तक के हास्य-कौशलों से रंजित होकर देवी वासवदत्ता के साथ समय व्यतीत करने लगा॥८९॥

उस सुखी राजा की रसना सदा मद्य में निरत कान वीणा की मधुर झंकारों में तल्लीन और दृष्टि सदा वासवदत्ता के मुख पर निश्चल रहती थी॥९०॥

महाकवि सोमदेवभट्ट-विरचित कथासरित्सागर का कथामुख
नामक द्वितीय लम्बक समाप्त।

लावाणको नाम तृतीयो लम्बकः

इद गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृत हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुर दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

राज उदयनस्य कथा (पूर्वानुवृत्त)

निर्विघ्नविश्वनिर्माणसिद्धये यदनुग्रहम्।
मन्ये स वव्रे धातापि तस्मै विघ्नजिते नमः॥१॥
आश्लिष्यमाण प्रियया स्मरोऽपि यदाज्ञया।
उत्कम्पते स भुवनं जयत्यसममायकः॥२॥
एवं स राजा वत्सेशः क्रमेण सुतरामभूत्।
प्राप्यवासवदत्तास्तत्सुखासक्तैकमानसः॥३॥
यौगन्धरायणश्चास्य महामन्त्री दिवानिशम्।
सेनापती रुमण्वांश्च राज्यभारमुदूहतुः॥४॥
स कदाचिच्च चिन्ताक्रान्तोऽनीय रजनौ गृहम्।
मिथोऽगाद रुमण्वन्तं मन्त्री यौगन्धरायणः॥५॥
पाण्डवान्वयजातोऽयं वत्सेशोऽस्य च मेदिनी।
कुलक्रमागता कृत्स्ना पुरं च गजसाह्वयम्॥६॥
तत्सर्वमजिगीषेण त्यक्तमेतेन भूभृता।
इहैव चास्य सञ्जातं राज्यमत्र मण्डले॥७॥
स्त्रीपानमृगयासक्तो निश्चिन्तो ह्येष तिष्ठति।
अस्मासु राज्यचिन्ता च सर्वानेन समर्पिता॥८॥
तदस्माभिः स्वबुद्ध्यैव तथा कार्यं यथैव तत्।
समग्रपृथिवीराज्यं प्राप्नोत्येव क्रमागतम्॥९॥
एवं कृते हि भक्तिश्च मन्त्रिता च कृता भवेत्।
सर्वं च साध्यते बुद्ध्या तथा चात्र कथां शृणु॥१०॥

---

१ हस्तिनापुर मित्यर्थः।
२ धीर कमिव नायक स्वकार्यमिदमविनिश्चिन्तो मुहुर्दिनं कलापरो धीरललित स्यात्

महासेननृपगुल्मरोगमोक्षकथा

आसीत्कश्चिन्महासेन इति नाम्ना पुरा नृपः।
स चान्येनाभियुक्तोऽभूद्भूपेनातिबलीयसा ॥११॥
ततः समेत्य सचिवैः स्वकार्यप्रसरेक्षिभिः।
दापितः स महासेनो दण्डं तस्मै किल द्विषे ॥१२॥
दत्तदण्डश्च राजासौ मानी भृशमतप्यत।
किं मया विहितः शत्रोः प्रणाम इति चिन्तयन् ॥१३॥
तेनैव चास्य गुल्मोऽन्तः[1] शोकेन समुदपद्यत।
गुल्माक्रान्तश्च शोकेन स मुमूर्षुरभून्नृपः ॥१४॥
ततस्तदौषधासाध्यं मत्वैको मतिमान्भिषक्।
मृता ते देव देवीति मिथ्या वक्ति स्म तं नृपम् ॥१५॥
तच्छ्रुत्वा सहसा भूमौ पततस्तस्य भूपतेः।
शोकावेगेन वह्निना स गुल्मः स्वयमस्फुटत् ॥१६॥
रोगोत्तीर्णश्चिरं दृष्ट्वा तथैव च सहेप्सितान्।
भोगान्स बुभुजे राजा जिगाय च रिपून् पुनः ॥१७॥
तद्यथा स भिषग्युक्त्या चक्रे राजहितं तथा।
वयं राजहितं कुर्मः साधयामोऽस्य मेदिनीम् ॥१८॥
परिपन्थी च तत्रैकः प्रद्योतो मगधेश्वरः।
पार्ष्णिग्राहः स हि सदा पश्चात्कोपं करोति नः ॥१९॥
तत्तस्य कन्यकारत्नमस्ति पद्मावतीति यत्।
तदस्य वत्सराजस्य कृते याचामहे वयम् ॥२ ॥
छन्नां वासवदत्तां च स्थापयित्वा स्वबुद्धितः।
दत्त्वाग्निं वासके भूमौ देवी दग्धेति सर्वतः ॥२१॥
नान्यथा तां सुतां राज्ञे ददाति मगधाधिपः।
एतदर्थं स हि मया प्रार्थितः पूर्वमुक्तवान् ॥२२॥
नाहं वत्सेश्वरायैतां दास्याम्यात्मसमाधिकां सुताम्।
तस्य वासवदत्तायां स्नेहो हि सुमहानिति ॥२३॥

---

१ गुल्मरोगो नाम ग्रन्थिविशेषः स च पंचसु स्थानेषु भवति कण्ठे हृदये उदरे नाभौ बस्तौ चेति। शोकजो गुल्मो वातेनोत्पद्यते। यथोक्तं माधवनिदाने—रुक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च। शोकाभिघातोऽति मलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः इति। तत्र शोकाभिघातजो गुल्मोऽत्र राज्ञ उदरे संजातः।

निपुण वैद्य की कथा

पूर्व समय में महासेन नाम का एक राजा था। वह अत्यन्त बलवान् दूसरे किसी राजा से पराजित कर दिया गया। उसके मन्त्रियों ने स्वार्थवश अपने स्वामी राजा को शत्रु से दंड दिलवा दिया। दंड प्राप्त होने पर वह आत्माभिमानी राजा—'मुझे शत्रु के आगे प्रणाम करना पड़ा'—इस चिन्ता से अत्यन्त सन्तप्त रहने लगा। इसी शोक के कारण राजा के शरीर में एक गुल्म उत्पन्न हुआ। उससे आक्रान्त राजा मरणासन्न हो गया। एक वैद्य ने उस फोड़े को औषधियों से असाध्य समझकर राजा से झूठ कह दिया कि 'महाराज! आपकी महारानी मर गई' ॥११–१५॥

भीषण संवाद को सुनकर शोक से भूमि पर गिरते हुए राजा का फोड़ा धक्का लगने से स्वयं फूट गया। फोड़ा फूट जाने से राजा धीरे-धीरे स्वस्थ होकर रानी के साथ सांसारिक भोगों का उपभोग करता हुआ पूर्व-शत्रु पर विजय प्राप्त कर सका ॥१६ १७॥

उस वैद्य ने अपनी बुद्धि से उस अवसर पर जिस प्रकार राजहित का साधन किया था उसी प्रकार हमलोग भी करें ॥१८॥

हमारे पृथ्वी-विजय करने में सबसे बड़ा बाधक मगध का राजा प्रद्योत है जो हमारे पीछे का राजा है। आगे हम विजय करते चल पड़ें पीछे से वह हमारे मूल राज्य पर ही कब्जा कर ले ऐसा सम्भव है ॥१९॥

उससे हमारा प्रेम भी नहीं है वह अवश्य क्रोध करके आक्रमण कर देगा। इसलिए उसकी कन्या पद्मावती है, जो कन्याओं में रत्न है, उसे हम वत्सराज के लिए माँगते हैं ॥२ ॥

वासवदत्ता को बुद्धि-बल से कहीं छिपाकर निवास-स्थान में आग लगाकर कह देंगे कि 'वासवदत्ता जल गई' ॥२१॥

वासवदत्ता के रहते मगधराज अपनी कन्या उदयन को न देगा। मेरे एक बार प्रार्थना करने पर उसने यही कहा था कि प्राणों से प्यारी कन्या वत्सराज को न दूँगा क्योंकि वासवदत्ता पर राजा का स्नेह आत्यधिक है ॥२२ २३॥

तस्यां दग्धा च वत्सेशो नवाम्यां परिणेष्यति।
देवी दग्धेति जातायां ख्यातौ सर्वं तु सेत्स्यति॥२४॥
पद्मावत्यां च लब्धायां सम्बन्धी मगधाधिपः।
पश्चात्कोपं न कुरुते सहायत्वं च गच्छति॥२५॥
ततः पूर्वां दिशं यातु गच्छामोऽन्याश्च तत्क्रमात्।
इत्थं वत्सेश्वरस्यैतां साधयामोऽखिलां भुवम्॥२६॥
कृतोद्योगेषु चास्मासु पृथिवीमेष भूपतिः।
प्राप्नुयादेव पूर्वं हि देव्या वागेवमब्रवीत्॥२७॥
श्रुत्वेति मन्त्रिवृषभाद् वचो यौगन्धरायणात्।
साहसं चकिताशङ्क्य रुमण्वांस्तमभाषत॥२८॥
व्याजः पद्मावतीहेतोः क्रियमाणः कथंचन।
दोषायास्माकमेव स्यात्तथा ह्यत्र कथां शृणु॥२९॥

धूर्तमठाधीशकथा

अस्ति माकन्दिका नाम नगरी जाह्नवीतटे।
तस्यां मौनव्रतः कश्चिदासीत्प्रव्राजकः पुरा॥३०॥
स च भिक्षाशनोऽनेकपरिव्राट्परिवारितः।
आस्ते देवकुलस्यान्तर्मठिकायां कृतस्थितिः॥३१॥
प्रविष्टो जातु भिक्षार्थमेकस्य वणिजो गृहे।
स ददर्श शुभां कन्यां भिक्षामादाय निर्गताम्॥३२॥
दृष्ट्वा चाद्भुतरूपां तां स कामवशगः शठः।
'हा हा कष्ट'मितिस्माह वणिजस्तस्य शृण्वतः॥३३॥
गृहीतभिक्षश्च ततो जगाम निलयं निजम्।
ततस्तं स वणिग्गत्वा रहः पप्रच्छ विस्मयात्॥३४॥
किमद्यैवमकस्मात्त्वं मौनं त्यक्त्वोक्तवानिति।
तच्छ्रुत्वा वणिजं तं च परिव्राडेवमब्रवीत्॥३५॥
दुर्लक्षणेयं कन्या ते विवाहोऽस्या यदा भवेत्।
तदा ससुतदारस्य क्षयः स्यात्तव निश्चितम्॥३६॥
तदेतां वीक्ष्य दुःखं मे जातं भक्तो हि मे भवान्।
तेनैवमुक्तवानस्मि त्यक्त्वा मौनं भवत्कृते॥३७॥
तदेषा कन्यका नक्तं मञ्जूषायां निवेशिता।
उपरि न्यस्तदीपायां गङ्गायां क्षिप्यतां त्वया॥३८॥

वासवदत्ता के रहते वत्सराज भी दूसरा विवाह न करेगा। उसका अत्यधिक स्नेह है। 'महारानी जल गई' ऐसा घोषित करने पर सब कुछ सिद्ध हो जायगा ॥२४॥

पद्मावती के साथ वत्सराज का विवाह हो जाने पर सम्बन्धी मगध-नरेश पीछे से आक्रमण न करेगा बल्कि सहायक ही बनेगा ॥२५॥

इसलिए हम पहले पूर्व दिशा की ओर आक्रमण करेंगे और क्रमशः अन्य दिशाओं की ओर जायेंगे इस प्रकार वत्सराज के लिए सारी भूमि को वश में करेंगे ॥२६॥

'हमारे उद्योग करने पर राजा समस्त पृथ्वी का शासक बन सकेगा'—ऐसी आकाशवाणी भी पहले हो चुकी है' ॥२७॥

मन्त्रिश्रेष्ठ यौगन्धरायण की उस योजना को सुनकर और इसे एक साहस-मात्र समझकर रुमण्वान् उससे बोला—पद्मावती के लिए किया हुआ बहाना कदाचित् हमारे लिए प्रतिकूल बैठे? और कहीं हमीं न दोषी ठहराये जायें? यह सम्भव है। इस सम्बन्ध में एक कथा सुनो—॥२८ २९॥

धूर्त साधु की कथा

गंगा-तट पर माकन्दिका नाम की एक नगरी है। उस नगरी में मौनव्रत धारण किये हुए एक परिव्राजक रहता था ॥१ ॥

भिक्षाटन द्वारा भोजन करनेवाला वह संन्यासी अनेक संन्यासी चेलों के साथ किसी देव-मन्दिर के अन्दर मठिया में रहता था ॥११॥

एक बार वह भिक्षा माँगते-माँगते किसी वैश्य के घर में गया और उसने वहाँ भिक्षा लेकर निकली हुई एक सुन्दरी कन्या को देखा। उस अद्भुत सुन्दरी कन्या को देखकर वह दुष्ट परिव्राजक काम के वशीभूत होकर 'हाय रे! मर गया!' इस प्रकार बोला जबकि वह वैश्य (कन्या का पिता) सुन रहा था ॥१२ १३॥

तदनन्तर भिक्षा लेकर अपने स्थान पर लौट आया। तब वह वैश्य उसके समीप जाकर एकान्त व आश्चर्य से पूछने लगा कि हे संन्यासी! आज तुमने अकस्मात् अपना मौन-व्रत क्यों भंग किया और चिल्ला उठा। यह सुनकर संन्यासी बोला—तुम्हारी कन्या के लक्षण अशुभ हैं। इसका जब विवाह होगा तब तुम्हारा स्त्री पुत्र आदि के साथ अवश्य नाश हो जायगा। अतः उस कन्या को देखकर मुझे दुःख हुआ क्योंकि तुम मेरे भक्त हो। मैं तुम्हारी हानि नहीं देख सकता। अतः तुम्हारे लिए ही मैंने मौन का त्याग किया। इसलिए इस कन्या को काठ के सन्दूक में बन्द करके उसपर दिया जलाकर नदी में बहा दो ॥१४ १८॥

तथेति प्रतिपद्यैतद् गत्वा सोऽथ वणिग्भयात् ।
नक्तं चक्रे तथा सर्वं निर्विमर्शा हि भीरवः ॥३९॥
प्रव्राजकोऽपि तत्कालमुवाचानुचराञ्छिष्यान् ।
गङ्गां गच्छत तत्रान्तर्वहन्ती यां च पश्यथ ॥४०॥
पृष्ठस्थदीपां मञ्जूषां गुप्तमानयतेह ताम् ।
उद्घाटनीया न च सा श्रुतेऽप्यन्तर्ध्वनाविति ॥४१॥
तथेति चागता यावद् गङ्गां न प्राप्नुवन्ति ते ।
राजपुत्रः किमप्येकस्तावत्तस्यामवातरत् ॥४२॥
सोऽत्र तां वणिजा क्षिप्तां मञ्जूषां वीक्ष्य दीपतः ।
भृत्यैरानाय्य सहसा कौतुकादुदघाटयत् ॥४३॥
ददर्श चान्तः कन्यां तां हृदयोन्मादकारिणीम् ।
उपयेमे च गान्धर्वविधिना तां च तत्क्षणम् ॥४४॥
मञ्जूषां तां च गङ्गायां तथैवोर्ध्वस्थदीपिकाम् ।
कृत्वा तस्यां च निक्षिप्य, घोरं वानरमन्तरे ॥४५॥
गतेऽथ तस्मिन्सम्प्राप्तकन्यारत्ने नृपात्मजे ।
आययुस्तस्य चिन्वन्तः शिष्याः प्रव्राजकस्य ते ॥४६॥
ददृशुस्तां च मञ्जूषां गृहीत्वा तस्य चान्तिकम् ।
निन्युः प्रव्राजकस्यैनां सोऽथ हृष्टो जगाद तान् ॥४७॥
एकोऽहं साधये मन्त्रमादायैतामिहोपरि ।
अधस्तूष्णीं च युष्माभिः शयितव्यमिमां निशाम् ॥४८॥
इत्युक्त्वा तां स मञ्जूषामारोप्य मठिकोपरि ।
स परिव्राड् विवृतवान् वणिक्कन्याभिलाषुकः ॥४९॥
ततश्च तस्या निर्गत्य वानरो भीषणाकृतिः ।
तमभ्यधावत् स्वकृतो मूर्तिमानिव दुर्नयः ॥५ ॥
स तस्य दशनैर्नासां नखैः कर्णौ च तत्क्षणम् ।
चिच्छेद पापस्य कपिर्विग्रह इव क्रुधा ॥५१॥
तथाभूतोऽथ स ततः परिव्राडवतीर्णवान् ।
यत्नस्तम्भितहासाश्च शिष्यास्तं ददृशुस्तदा ॥५२॥
प्रातर्बुद्ध्वा च तत्सर्वं जहास सकलो जनः ।
ननन्द स वणिक् सा च तत्सुता प्राप्तसत्पतिः ॥५३॥

---

१ प्राप्तः सत्पतिर्यया सेति बहुव्रीहिः ।

वह बनिया उसी प्रकार स्वीकार करके घर गया और भय के कारण रात में उसने उसी प्रकार किया—अर्थात् कन्या को सन्दूक में बन्द करके नदी में बहा दिया क्योंकि भीरु (डरपोक) लोग विवेकहीन होते हैं ॥३९॥

सन्यासी ने भी मठ में रहनेवाले अपने चेलों से कहा कि जाओ नदी में देखो। यदि पीठ पर जलते हुए दीयेवाले बहते हुए सन्दूक को देखाये तो उसे चुपचाप मेरे पास लाओ। यदि उसके अन्दर से आवाज भी आती हो तो उसे खोलना मत ॥४०-४१॥

जब साधु के चेले गंगा-तट पर पहुँचे तब उससे पहले ही कोई राजपुत्र गंगा तट पर उतरा और उसने उस बनिये के द्वारा दीप जलाकर गंगा में बहाई हुई पेटी को देखा तथा अपने नौकरों से पेटी को मँगाकर खोला तो उसमें हृदय को उन्मत्त कर देनेवाली सुन्दरी कन्या को देखा। राजकुमार ने उस सुन्दरी को निकालकर वहीं उसके साथ तुरन्त गन्धर्व-विवाह कर लिया और पेटी में एक भयानक बन्दर को बन्द करके उसी प्रकार दीप-सहित पेटी को नदी में छोड़ दिया ॥४२—४५॥

उस कन्यारत्न को लेकर राजकुमार के चले जाने पर उसी पेटी को खोजते हुए संन्यासी चेलों ने उस पेटी को देखा और उसे निकालकर गुरु के पास ले गये तथा प्रसन्न मुद्रा में गुरु ने उनसे कहा — अकेला ही इस पेटी पर बैठकर मन्त्र सिद्ध करता हूँ और तुमलोग नीचे जाकर रातभर चुपचाप सो जाओ ॥४६—४८॥

ऐसा कहकर उस संन्यासी ने सुन्दरी वैश्य-कन्या की प्राप्ति की उत्कंठा से एकान्त में उस पेटी को खोला। उसे खोलते ही संन्यासी की दुर्नीति के मूर्तिमान स्वरूप के समान एक भीषण बन्दर उससे निकलकर उछला ॥४९-५ ॥

बन्दर ने निकलते ही दाँतों से सन्यासी की नाक और नखों से उसके कान काट लिये। मानों वानर संन्यासी की दुष्टता का दंड देने के लिए ही आया हो। तदनन्तर वह संन्यासी उसी रूप में नीचे उतरा। उसे उस रूप में देखकर उसके शिष्यों ने बड़ी ही कठिनाई से हँसी को रोका ॥५१-५२॥

प्रातःकाल यह समाचार जानकर वह बनिया तथा अन्य सभी लोग खूब हँसने लगे। वह वैश्य-कन्या एक राजकुमार को सुन्दर पति के रूप में प्राप्त कर आनन्द करने लगी ॥५३॥

एवं यथा स हास्यत्वं गतः प्रद्योतकस्तथा।
व्याजप्रयोगस्यासिद्धौ वयं गच्छेम जातुचित् ॥५४॥
महद्दोषो हि विरहो राज्ञो वासवदत्तया।
एवं रुमण्वतोक्तः सन्नाह यौगन्धरायणः ॥५५॥
नान्यथोद्योगसिद्धिः स्यादनुद्योगे च निश्चितम्।
राजनि व्यसनिन्येतत्स्वयेदपि यथास्थितम् ॥५६॥
ख्यापि मन्त्रिताख्यातिरस्माकं चान्यथा भवेत्।
स्वामिसम्भावनानाशश्च भवेम व्यभिचारिणः ॥५७॥
स्वायत्तसिद्धेः[1] राज्ञो हि प्रज्ञोपकरणं मता।
सचिवः को भवत्पार्श्वे कृते वाऽप्यथवाहव ॥५८॥
सचिवायत्तसिद्धेस्तु तत्प्रज्ञावावसाधनम्।
तं एव चान्निरुत्साहा श्रियो दत्तो जलाञ्जलिः ॥५९॥
अथ देवी पितुर्दण्डमहासनाद् विघ्नकृते।
स सपुत्रश्च देवी च वध कुरुत एव मे ॥६०॥
इत्युक्तवन्तं धीराणां धुर्यं यौगन्धरायणम्।
प्रमादशङ्कितहृदयो रुमण्वान्पुनरब्रवीत् ॥६१॥
अभीष्टस्त्रीवियोगार्त्या सविवेकोऽपि बाध्यते।
किं पुनर्वत्सराजोऽयमत्र चैतां कथां शृणु ॥६२॥
पुराभूद्देवसेनाख्यो राजा मतिमतां वरः।
श्रावस्तीति पुरी तस्य राजधानी बभूव च ॥६३॥
तस्यां च पुर्यामभवद् वणिगेको महाधनः।
तस्योदपद्यतानन्यसदृशी दुहिता किल ॥६४॥
उन्मादिनीति नाम्ना च सन्यथा सापि पप्रथे।
उन्मादयति गतस्तस्या रूपं दृष्ट्वाखिलो जनः ॥६५॥
सनयमनावद्य राज्ञे देया कथंचित् म।
रा हि कुप्येदिति पिता तस्या सोऽभिज्ञमयद् वणिक ॥६६॥
मतश्च गत्वा राजानं देवसेनं व्यजिज्ञपत्।
देवास्ति कन्यारत्नं मे गृह्यतामुपयोगि चेत् ॥६७॥

---

१ त्रिविधा हि राजानः—१ स्वायत्तसिद्धिः, २ सचिवायत्तसिद्धिः उभयायत्तसिद्धिश्चेति। तत्रायमुदयनः सचिवायत्तसिद्धिः।

इसी प्रकार इस कूर प्रयोग की असफलता होने पर कहीं हम भी हँसी के पात्र न बनें। राजा के लिए वासवदत्ता का वियोग अत्यन्त असह्य है, इस कारण और कुछ अनर्थ भी सम्भव है। राजा के रहते हुए जो भी है उससे भी हाथ धोना पड़ेगा। रुमण्वान् के इस प्रकार कहने पर यौगन्धरायण ने कहा—'बिना उद्योग के सिद्धि नहीं प्राप्त होती। यदि उद्योग न किया जायगा तो उस व्यसनी राजा का जो शेष राज्य है वह भी न रह जायगा' ॥५४–५७॥

जिन राजाओं की सफलता मन्त्रियों के अधीन होती है उनके लिए मन्त्रियों की बुद्धि ही कार्य-साधन करती है इसलिए राजा का उपकार न करने के कारण हम दोषी होंगे। स्वायत्त-सिद्धि राजाओं के कर्तव्य या अकर्तव्य के लिए उनकी निजी बुद्धि ही साधन होती है। उनके लिए कुछ करने या न करने में मन्त्रियों का उत्तरदायित्व नहीं होता। सचिवायत्त सिद्धिवाले राजा यदि निरुत्साह और निरुद्योग रहें तो राजलक्ष्मी को तिलांजलि देनी होगी। यदि तुम महारानी के पिता चंडमहासेन से शंका करते हो तो व्यर्थ है। वह राजा और उसका पुत्र गोपालक मेरी बात मानते ही हैं ॥५८–९ ॥

धीर-धुरन्धर यौगन्धरायण के ऐसा कहने पर प्रमाद से शंकित चित्तवाला रुमण्वान् फिर बोला—बड़े-बड़े विवेकी पुरुष भी अति प्रिय स्त्री के वियोग से पीड़ित होते हैं फिर वत्सराज की तो बात ही क्या ? इस प्रसंग में यह कथा सुनो—॥६१ ६२॥

राजा देवसेन और उन्मादिनी की कथा

पूर्व समय में देवसेन नाम का बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा था। श्रावस्ती नाम की नगरी उसकी राजधानी थी। उस नगरी में एक अत्यन्त धनी बनिया था। उसकी एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या थी। वह कन्या उन्मादिनी के नाम से प्रसिद्ध हुई क्योंकि उसे देखकर, देखनेवाले उन्मत्त हो जाते थे ॥६४–६५॥

वैश्य ने सोचा कि राजा को सूचना दिये बिना इस कन्या को कहीं न दूँगा नहीं तो राजा कुपित होगा ॥६६॥

तब उसने राजा देवसेन के पास जाकर निवेदन किया कि राजन् मेरे यहाँ एक कन्यारत्न है। यदि आपके उपयोगी हो तो आप उसे ग्रहण करें ॥६७॥

तच्छ्रुत्वा व्यसृजद्राजा सोऽपि प्रत्ययितान् द्विजान्।
गत्वा सुलक्षणा सा वा न वत्यालोक्यतामिति ॥६८॥
तथेति ते द्विजा गत्वा तां दृष्ट्वैव वणिक्सुताम्।
उन्मादिनीं ययुः क्षोभं सद्यः सञ्जातमन्मथाः ॥६९॥
राजास्यां परिणीतायामतत्कमनास्त्यजेत्।
राजकार्याणि नश्येच्च सर्वं तस्मात्किमेतया ॥७०॥
इति च प्रकृतिं प्राप्ता द्विजाः सम्मन्त्र्य ते गताः।
कुलक्षणा सा कन्येति मिथ्या राजानमब्रुवन् ॥७१॥
ततो राज्ञा परित्यक्तां स तामुन्मादिनीं वणिक्।
तत्सेनापतये प्रादादन्तर्जातविमानिताम् ॥७२॥
भर्तृ वेश्मनि हर्म्यस्था साथ जातु समागतम्।
राजानं तेन मार्गेण बुद्धचारमानमदर्शयत् ॥७३॥
दृष्ट्वैव च स तां राजा जगत्सम्मोहनौषधिम्।
प्रयुक्तामिव कामेन जातोन्माद इवाभवत् ॥७४॥
गत्वा स्वभवनं ज्ञात्वा तां च पूर्वविधीरिताम्।
उन्मना ज्वरसन्तापपीडां गाढमवाप सः ॥७५॥
सा दासी मे परस्त्री ति गृहाणैतां यदि वाप्यहम्।
त्यजामि तां देवकुले स्वीकरोतु ततः प्रभुः ॥७६॥
इति तेन च तद्भर्त्रा स्वसेनापतिना ततः।
अभ्यर्थ्यमानो यत्नेन जगादैव स भूपतिः ॥७७॥
नाहं परस्त्रीमादास्ये त्वं वा त्यक्ष्यसि तां यदि।
ततो नक्ष्यति ते धर्मो वध्यो मे च भविष्यसि ॥७८॥
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणोऽन्ये च तूष्णीमासन्स च क्रमात्।
स्मरज्वरेण तेनैव नृपः पञ्चत्वमाययौ ॥७९॥
एवं स राजा नष्टोऽभूद्धीरोऽप्युन्मादिनीं विना।
विना वासवदत्तां तु वत्सराजः कथं भवेत् ॥८०॥

---

१ अत्र प्राचीन भारते प्रचलितायाः देवदासित्व प्रथायाः आभास उपलभ्यते साम्प्रतमपि दक्षिणदेशे प्रान्तेष्वपि सैवा प्रथा दृश्यते।

यह सुनकर राजा ने विश्वस्त ब्राह्मणों को कन्या को देखने के लिए भेजा कि जाकर देखो कि कन्या सुलक्षणा और विवाह के योग्य है या नहीं। ब्राह्मणों ने वहाँ जाकर जैसे ही उन्मादिनी को देखा वैसे ही वे स्वयं उस पर आसक्त होकर क्षुब्ध हो गये। उन्होंने सोचा कि इसे पाकर राजा इसपर आसक्त होकर राज्य-काज करना भी छोड़ देगा। अतः इससे क्या लाभ? ॥६८-७०॥

सावधानतापूर्वक ऐसा सोचकर ब्राह्मणों ने राजा से झूठ कह दिया कि 'महाराज! कन्या कुलक्षणा है' ॥७१॥

इस प्रकार राजा ने उसे छोड़ दिया। इस कारण बनिये ने बलधर से दुहिता कन्या का राजा के सेनापति से विवाह कर दिया ॥७२॥

एक बार अपने घर में बैठी हुई उस कन्या ने ऊपर से आते हुए राजा को जानकर खिड़की से अपने रूप को दिखा दिया ॥७३॥

राजा विश्व-वशीकरण औषधि के समान उस सुन्दरी को देखकर कामवश से पागल-सा हो गया ॥७४॥

महल पर आकर और पहले स्वयं छोड़ी हुई उस वैश्य-कन्या का पता पाकर व्याकुल राजा गहरे कामज्वर से पीड़ित हो गया ॥७५॥

इस वृत्तान्त को जानकर सेनापति ने राजा से कहा कि वह आपकी दासी है परस्त्री नहीं है। अतः आप उसे स्वीकार करें। मैं उसे देवमन्दिर में छोड़ देता हूँ। आप उसे वहीं से ग्रहण कर लें।[1] ॥७६॥

सेनापति के द्वारा इस प्रकार हठपूर्वक प्रार्थित राजा बोला—यदि तू उसे त्याग देगा तो भी मैं परस्त्री को ग्रहण न करूँगा। यदि तू ऐसा करेगा तो तेरा धर्म नष्ट होगा और मैं तुझे स्त्री-परित्याग करने के कारण दण्ड भी दूँगा॥ ऐसा सुनकर सभी मन्त्री चुप हो गये और राजा कामज्वर से मर गया ॥७७-७ ॥

वह राजा धैर्यवान् और विवेकी होने पर भी जिस प्रकार उन्मादिनी के बिना मर गया उसी प्रकार वासवदत्ता के बिना उदयन की क्या स्थिति होगी? ॥८ ॥

---

१ प्राचीन काल में मंदिरों को देवता की भेंट करने की प्रथा थी। विशेष रूप से कन्याओं को भेंट किया जाता था। कहा जाता है कि गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव की पत्नी पद्मावती भी इसी प्रकार देवताओं को भेंट की गई कन्या थी। दक्षिण के तंजोर मन्दिर में उड़ीसा के जगन्नाथ के मन्दिर में नक्काल के अनुसार तथा कलिंग के मन्दिर में अभी कुछ दिन पहले तक यह प्रथा थी। दक्षिण भारत में नाच गानेवालों को भी कन्याएँ भेंट की जाती थीं, किन्तु यह प्रथा अनर्थकारी होने से अब प्रायः समाप्त सी हो रही है।

एतद्रुमण्वतः श्रुत्वा पुनर्यौगन्धरायणः ।
उवाच सह्यते क्लेशो राजभिः कार्यदर्शिभिः ॥८१॥
रावणोच्छित्तये देवैः कृत्वा युक्तिं वियोजितः ।
सीतादेव्या न किं रामो विषेहे विरहव्यथाम् ॥८२॥
एतच्छ्रुत्वा च भूयोऽपि वत्सेशानम्यभाषत ।
न हि रामादयो देवास्तेषां सर्वसहं मनः ॥८३॥
असह्यं तु मनुष्याणां तथा च श्रूयतां कथा ।
अस्तीह बहुरत्नाढ्या मथुरेति महापुरी ॥८४॥
तस्यामभूद् वणिक्पुत्रः कोऽपि नाम्ना महल्लकः ।
तस्य चाभूत्प्रिया भार्या तदेकाबद्धमानसा ॥८५॥
तया सह वसन्तोऽयं कदाचित्कार्यगौरवात् ।
द्वीपान्तरं वणिक्पुत्रो गन्तुं व्यवसितोऽभवत् ॥८६॥
तद्भार्यापि च तेनैव सह गन्तुमियेष सा ।
स्त्रीणां भावानुरक्तं हि विरहासहनं मनः ॥८७॥
ततः स च वणिक्पुत्रः प्रतस्थे कृतमङ्गलः ।
न च तां सह जग्राह भार्यां क्लृप्तप्रसाधनाम् ॥८८॥
सा च तं प्रस्थितं पश्चात्पश्यन्ती साश्रुलोचना ।
अतिष्ठत्प्राङ्गणद्वारकपाटान्तविलम्बिनी ॥८९॥
गते दृष्टिपथात्तस्मिन्सा वियोगासहा ततः ।
निर्गन्तुं नाशकन्मुग्धा प्राणास्तस्या विनिर्ययुः ॥९ ॥
तद्बुद्ध्वा च वणिक्पुत्रः प्रत्यावृत्य च तत्क्षणम् ।
ददर्श विह्वलः कान्तामेतामुत्क्रान्तजीविताम् ॥९१॥
सुन्दरापाण्डुरच्छायां विलोलालककलाञ्छनाम् ।
भुवि चान्द्रमसीं लक्ष्मीं दिवः सुप्तच्युतामिव ॥९२॥
अङ्के कृत्वा च तां सद्यः क्रन्दतस्तस्य निर्ययुः ।
शोकाग्निज्वलिताद्देहाद्द्रुतं भीता इवासवः ॥९३॥
एवमन्योन्यविरहाद्दम्पती तौ विनेशतुः ।
अतोऽस्य राज्ञो देव्याश्च रक्ष्यान्योन्यवियोगिता ॥९४॥
इत्युक्त्वा विरते तस्मिन्व्यथाशङ्के रुमण्वति ।
जगाद धैर्यजलधिर्धीमान्यौगन्धरायणः ॥९५॥
मयैतन्निश्चितं सर्वं कार्याणि च महीभृताम् ।
भवन्त्यवश्यमान्यत्र तथा चात्र कथां शृणु ॥९६॥

रुमण्वान् से इस प्रकार का उदाहरण सुनकर यौगन्धरायण फिर बोला कि अपनी कार्यसिद्धि का ध्यान रखते हुए राजा लोग कष्टों को सहन करते हैं। रावण के विनाश के लिए देवताओं द्वारा सीता से वियुक्त किये गए राम ने कितनी भीषण विरह-वेदना सहन की थी। ऐसा सुनकर रुमण्वान् फिर भी बोला—वे राम आदि राजा देवता थे मनुष्य नहीं अतः उनका मन वियोग को सहन कर सकता था किन्तु मानव-हृदय उसे सहन नहीं कर सकता। इस पर एक कथा सुनो—॥८१-८१॥

यशस्कर सेठ की कथा

इस देश में अनेक रत्नों से पूर्ण मथुरा नाम की महानगरी है। उसमें 'यशस्कर' नाम का एक वैश्य-पुत्र था। उसकी स्त्री उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थी॥८४-८५॥

उसके साथ रहते हुए उसे आवश्यक कार्य के कारण वैश्य-पुत्र दूसरे द्वीप को जाने को उद्यत हुआ। उसकी प्यारी पत्नी भी उसके साथ जाने के लिए तैयार हुई। कारण यह कि प्रेमपूर्ण स्त्रियों का हृदय पति के विरह को सहन नहीं कर सकता॥८६—८७॥

वह वैश्य-पुत्र मंगलाचरण करके यात्रा के लिए चल पड़ा किन्तु जाने के लिए तैयार बैठी हुई पत्नी को साथ न ले गया। उसकी पत्नी जाते हुए पति को आँसुओं से पूर्ण नेत्रों से देखती हुई गृह-द्वार के किवाड़ के सहारे खड़ी रही। धीरे धीरे उसके आँखों से ओझल हो जाने पर वियोग को सहन न कर सकने के कारण वह गिर पड़ी और [illegible] उसके प्राण निकल गए॥८८—९ ॥

वैश्य-पुत्र यह जानकर पीछे लौटा और उसने वियोग-व्याकुल अनाथ निर्जीव पत्नी को देखा॥ १॥

भूमि पर निर्जीव पड़ी हुई उसके पीले मुख पर मुस्कान शेष रही थी [illegible] हिलती हुई उसकी घुंघराली लटें लहरा रही थीं। ऐसा मालूम होता था कि मानो चन्द्रमा की [illegible] शोभा [illegible] के कारण पृथ्वी पर गिर पड़ी हो॥ ॥

वैश्य-पुत्र ने उसे अपनी गोद में [illegible] लिया और रोने लगा। [illegible] उसकी [illegible] से [illegible] हुए शरीर से मानो [illegible] प्राण-पखेरू निकल भागे कि कहीं हम भी [illegible] न जाएँ॥ ३॥

इस प्रकार [illegible] के [illegible] से [illegible] मर गए। [illegible] पत्नी की [illegible] वियोग-व्यथा से भी [illegible] होगी॥९०॥

[illegible] रुमण्वान् के इस प्रकार कहने पर [illegible] यौगन्धरायण बोला—[illegible] [illegible] है। [illegible] के साथ [illegible] है। इस [illegible] से कथा सुनो—॥ ५—६॥

राज्ञः पुण्यसेनस्य कथा

उज्जयिन्यामभूत्पूर्वं पुण्यसेनाभिधो नृपः।
स जातु बलिनान्येन राज्ञा गत्वाभ्ययुज्यत॥९७॥
अथ तन्मन्त्रिणो धीरास्तमरिं वीक्ष्य दुर्जयम्।
मिथ्या 'राजा मृत' इति प्रवादं सर्वतो व्यधुः॥९८॥
प्रच्छन्नं स्थापयामासुः पुण्यसेनं नृपं च ते।
अन्यं कञ्चिद्वधाक्षुण्णं[1] राजार्हविधिना शवम्॥९९॥
अराजकानामधुना भव राजा त्वमेव नः।
इति दूतमुखेनाथ तमरिं जगदुश्च ते॥१००॥
तथेत्युक्तवतस्तस्य रिपोस्तुष्टस्य ते ततः।
मिलित्वा सैन्यसहिताः कटकं बिभिदुः क्रमात्॥१०१॥
भिन्ने च सैन्ये राजानं पुण्यसेनं प्रकाश्य तम्।
ते सम्प्राप्तजयाः शत्रुं तं निजघ्नुः स्वमन्त्रिणः॥१०२॥
ईदृशि राजकार्याणि भवन्ति सदैव चमम्।
देवीदाहप्रवादेन कार्यं धर्मेण कुर्महे॥१०३॥
इत्येतन्निश्चितमते श्रुत्वा यौगन्धरायणात्।
रुमण्वानब्रवीदेवं तर्हि यद्येष निश्चयः॥१०४॥
तद्गोपालकमानीय देव्या भ्रातरमादृतम्।
सम्मन्त्र्य च समं तेन सम्यक्तत्र विधीयताम्॥१०५॥
एवमस्त्विति वक्ति स्म ततो यौगन्धरायणः।
तत्प्रत्ययाद्रुमण्वांश्च चक्रे कर्तव्यनिश्चयम्॥१०६॥
अन्येद्युर्मन्त्रिमुख्यौ तौ दूतं व्यसृजतां निजम्।
गोपालकं समानेतुमुत्कण्ठाभ्यपदेशतः॥१०७॥
कार्यहेतोर्मतं पूर्वं तद्दूतवचनाच्च सः।
आगाद् गोपालकस्तत्र स्वयं मूर्त इवोत्सवः॥१०८॥
आगतं तदहश्चैनं स्वैरं यौगन्धरायणः।
निनाय सरुमण्वत्कं गृहं गोपालकं निशि॥१०९॥
तत्र चास्मै सदुरसाहं पाथसं स्वचिकीर्षितम्।
यत्पूर्वं मन्त्रितं तेन सख सह रुमण्वता॥११०॥

---

१ वधाक्षुण्ण — हतं शव।

राजा पुष्पसेन की कथा

प्राचीन काल में उज्जयिनी में पुष्पसेन नाम का राजा था। वह किसी बलवान् शत्रु राजा से आक्रान्त हो गया। उसके बैर्यशाली मन्त्रियों ने शत्रु को अजेय समझकर यह झूठी घोषणा कर दी कि राजा मर गया और अन्य किसी मुर्दे का राजा के समान धूमधाम से संस्कार करा दिया ॥९९॥

तदनन्तर मन्त्रियों ने एक दूत द्वारा शत्रु राजा को यह सन्देश भेजा कि हमलोग बिना राजा के अनाथ हो गये हैं। अब आप ही हमारे राजा बनिए ॥१ ॥

सन्देश सुनकर राजा सन्तुष्ट एवं युद्ध के लिए शिथिल हो गया और उसने स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के अवसर से लाभ उठाकर मन्त्रियों ने उसकी शिथिल सेना पर छापा मार दिया ॥१ १॥

सेना के पैर उखड़ गये और वह भाग गई। तब मन्त्रियों ने अपने राजा पुष्पसेन को प्रकट करके शत्रु-राजा को भी पकड़कर मार दिया। राज्य-संबंधी काम इसी प्रकार छल-कपटों से सिद्ध किये जाते हैं। इसी प्रकार महारानी के जल जाने का हल्ला मचाकर हमलोग धैर्यपूर्वक कार्य करते हैं ॥१ १॥

इस कार्य के लिए दृढ़ निश्चय किये हुए यौगन्धरायण से यह सुनकर रुमण्वान् ने कहा कि यदि ऐसी बात है तो मैं तैयार हूँ। महारानी के भाई गोपालक को आदर बुलाकर उसके साथ भलीभाँति विचार कर लो ॥१ ४ १ ५॥

तब यौगन्धरायण ने 'ऐसा ही हो'—यह कहकर दूसरे ही दिन गोपालक को मिलने के बहाने बुलाने के लिए दूत भेजा ॥१ ६॥

प्रथम बार विवाह के लिए आया गोपालक इस बार दूत के कहने से मूर्तिमान् उत्सव के समान कौशाम्बी आया। उसके आने के दिन ही यौगन्धरायण उसे रात में रुमण्वान् के साथ अपने घर ले गया ॥१ ७—१ ९॥

वहाँ ले जाकर यौगन्धरायण ने रुमण्वान् के साथ परामर्श करके जो कार्य निर्धारित किया था वह गोपालक को कह सुनाया ॥११ ॥

स च राजहितैषी सन् दुःखावहमपि स्वसुः ।
गोपालकोऽनुमेने तत्सर्वस्य हि सतां वचः ॥१११॥
सर्वमेतत्सुविहितं देवी दग्धामयस्य तु ।
प्राणांस्त्यजन् न च रक्ष्यो वत्सेश इति चिन्त्यताम् ॥११२॥
सदुपायाग्निसामर्थ्यसम्भवे किल सत्यपि ।
मुख्यमङ्गं हि मन्त्रस्य विनिपातप्रतिक्रिया ॥११३॥
इति भूयोऽपि तत्कालमुक्ते तत्र रुमण्वता ।
उवाचालोचिताशेषकार्यो यौगन्धरायणः ॥११४॥
नास्त्यत्र चिन्ता यद्राजपुत्री गोपालकस्य सा ।
कनीयसी स्वसा देवी प्राणेभ्योऽप्यधिका प्रिया ॥११५॥
एतस्य चाल्पमालोच्य शोकं वत्सेश्वरस्तदा ।
जीवत्क्वाचिद्देवीति मत्वा धैर्यमवाप्स्यति ॥११६॥
अपि चोत्तमसत्त्वोऽयं शीघ्रं च परिणीयते ।
पद्मावती ततो देवी दर्श्यते चाचिरादिति ॥११७॥
एवमेतद् विनिश्चित्य ततो यौगन्धरायणः ।
गोपालको रुमण्वांश्च ततो मन्त्रमिति व्यधुः ॥११८॥
युक्त्या लावाणकं याम सह देव्या नृपेण च ।
पर्यन्तो मगधासन्नवर्ती हि विषयोऽस्ति सः ॥११९॥
सुभगाखेटभूमित्वाद्राजस्यासन्निधानकृत् ।
तत्रान्तःपुरमादीप्य क्रियते मन्त्रचिन्तितम् ॥१२ ॥
देवी च स्थाप्यते नीत्वा युक्त्या पद्मावतीगृहे ।
छन्नस्थिताया येनास्याः सैव स्याच्छीलसाक्षिणी ॥१२१॥
एवं रात्रौ मिथः कृत्वा मन्त्रं सर्वेऽपरेऽहनि ।
यौगन्धरायणाद्यास्ते प्राविशन् राजमन्दिरम् ॥१२२॥
तत्रैवमथ विज्ञप्तो वत्सराजो रुमण्वता ।
देव ! लावाणकेऽस्माकं गतानां वर्तते चिरम् ॥१२३॥
स चातिरम्यो विषयस्तत्र चाखेटभूमयः ।
शोभनाः सन्ति ते राजन्कक्षाघासाश्च सुग्रहाः ॥१२४॥
बाधते तं च नैकट्यात्सर्वं स मगधेश्वरः ।
तत्तत्र रक्षाहेतोश्च विनोदाय च गम्यताम् ॥१२५॥

उस राजा के हितैषी योगन्धरायण ने बहिन के लिए अति कष्टप्रद होने पर भी उस योजना को सुनकर अपनी सहमति प्रकट की क्योंकि हितैषी सज्जनों के वचन तो मानने ही चाहिए। इस योजना में सब बातें तो ठीक हैं, किन्तु देवी को मरी जानकर अपने प्राणों को त्यागने की चेष्टा करते हुए वत्सराज की रक्षा कैसे की जाय यह विचारणीय प्रश्न है। अच्छे उपाय आदि सभी सामग्री के रहते हुए भी योजना को नष्ट होने से बचाना योजकों का मुख्य भाग है। अर्थात् यदि राजा का अस्तित्व ही न रहा तो योजना का आधार नष्ट हो जायगा॥११२—११३॥

रुमण्वान् के उस समय पूर्व एसा कहने पर सारे कार्य पर भलीभांति सोचे-समझे हुए यौगन्धरायण बोला—'इस विषय में चिन्ता न करनी चाहिए कि महारानी योगन्धरायण की छोटी बहिन राजा को प्राणों से प्रिय है॥११४—११५॥

उस समय राजा के शोक के कुछ कम होने पर कदाचित् रानी जीवित हो जाय। ऐसी आशा से राजा धैर्य धारण करेगा। और राजा उच्चतम कोटि का जीव है अतः उसका विवाह भी शीघ्र ही हो जायगा फिर उसे शीघ्र ही पद्मावती भी दिखा दी जायगी॥११६ ११७॥

इस प्रकार योगन्धरायण रुमण्वान् और यौगन्धरायण परस्पर विचार-विनिमय करते रहे। अन्त में निश्चय हुआ कि हमलोग कोई बहाना बनाकर राजा और रानी के साथ लावाणक गाँव को चलें। वह हमारा स्थान सीमा पर तथा मगध के समीप है। सुन्दर शिकारगाह होने के कारण राजा भी शिकार में लगा रहेगा इसी बीच हमलोग रनिवास में आग लगा देंगे किसी उपाय से महारानी को गुप्त रूप से पद्मावती के पास ही छिपा देंगे जिससे वह वासवदत्ता के स्वभाव और चरित्र से परिचित हो जायगी॥११८—१२१॥

इस प्रकार रात्रि के समय सम्मति करके दूसरे दिन वे सब राजभवन को गये। वहाँ जाकर रुमण्वान् ने वत्सराज से निवेदन किया कि देव! हमलोग लावाणक ग्राम में जायें तो बहुत अच्छा हो। वह अति रमणीय स्थान है। वहाँ अच्छे-अच्छे शिकारगाह हैं और वहाँ घास की भी बहुतायत है। समीप होने से शत्रु मगध-नरेश वहाँ सदा बाधा पहुँचाता रहता है। इसलिए उसकी रक्षा के लिए और मनोरंजन के लिए वहाँ चलिए॥१२२—१२५॥

एतच्छ्रुत्वा च वत्सेशः सह वासवदत्तया।
क्रीडत्कलासस्वपत्रे गन्तुं श्रावणके मतिम् ॥१२६॥
निश्चिते गमनेऽन्येद्युर्लग्ने च परिकल्पिते।
अकस्मान्नारदमुनिः कान्तिद्योतितदिङ्मुखः ॥१२७॥
अवतीर्य नभोमध्यात् प्रदत्तनयनोत्सवः।
शशीव स्वकुलप्रीत्या तं वत्सेश्वरमभ्यगात् ॥१२८॥
गृहीतातिथ्यसत्कारः पारिजातमयीं स्रजम्।
प्रीतः स च मुनिस्तस्मै ददौ प्रह्वाय भूभृते ॥१२९॥
विद्याधराधिपं पुत्रं कामदेवांशमाप्स्यसि।
इति वासवदत्तां च सोऽभ्यनन्दत्तदन्तरः ॥१३ ॥
ततश्चोवाच वत्सेशं स्थिते यौगन्धरायणे।
राजन् वासवदत्तां ते दृष्ट्वा हन्त स्मृतं मया ॥१३१॥
युधिष्ठिरादयोऽभूवन्पुरा ते प्रपितामहाः।
पञ्चानां द्रौपदी तेषामेका पत्नी बभूव च ॥१३२॥
सा च वासवदत्तेव रूपेणाप्रतिमाभवत्।
ततस्तद्दोषमाशङ्क्य तानेवमहमभ्यधाम् ॥१३३॥
स्त्रीवैरं रक्षणीयं वस्तद्धि मूलमिहापदाम्।
तथा हि शृणुतैतां च कथां वः कथयाम्यहम् ॥१३४॥

सुन्दोपसुन्दकथा

सुन्दोपसुन्दनामानौ भ्रातरौ द्वौ बभूवतुः।
असुरौ विक्रमाक्रान्तलोकत्रितयदुर्जयौ ॥१३५॥
तयोर्विनाशकामेन दत्ताज्ञो विश्वकर्मणा।
ब्रह्मा निर्मापयामास दिव्यनारीं तिलोत्तमाम् ॥१३६॥
रूपमालोकितुं यस्याश्चतुर्दिक्कं चतुर्मुखः।
बभूव किल शर्वोऽपि कुर्वाणाया प्रदक्षिणम् ॥१३७॥
सा पद्मयोनेरादेशात्पार्श्वं सुन्दोपसुन्दयोः।
प्रलोभनाय प्रययौ कैलासोद्यानवर्तिनोः ॥१३८॥

---

१ महाभारतस्यादिपर्वणि कथेयमुपक्रम्यते।

यह सुनकर एकमात्र वीणा का प्रेमी राजा वासवदत्ता के साथ कौशाम्बी जाने के लिए उद्यत हो गया ॥१२६॥

किसी दिन जाने का निश्चय होने और यात्रा का शुभ मुहूर्त निकलने पर अपनी कान्ति से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए नारद मुनि आकाश से उतरकर दर्शकों की आँखों को आनन्दित करने लगे। मानों चन्द्रमा अपने वंश (चन्द्रवंश) के प्रेम के कारण आकाश में उतर आया हो ॥१२७-१२८॥

राजा के द्वारा आतिथ्य-सत्कार ग्रहण किये हुए नारद मुनि ने नम्रता से झुके हुए राजा उदयन को प्रसन्नता से पारिजात के फूलों की माला प्रदान की ॥१२९॥

ऋषि ने नमस्कार करती हुई वासवदत्ता से कहा—'तुम कामदेव के अंश से उत्पन्न एक पुत्र को प्राप्त करोगी जो विद्याधरों का राजा होगा'॥१३ ॥

तब यौगन्धरायण के सामने नारद ने वत्सराज से कहा—हे राजन्! तुम्हारी रानी वासवदत्ता को देखकर मुझे स्मरण हो गया कि प्राचीन समय में तुम्हारे पर दादा युधिष्ठिर भीम आदि पाँच भाई थे। उन पाँचों की एक ही पत्नी द्रौपदी थी। वह वासवदत्ता के समान ही अनुपम सुन्दरी थी। इस दोष को देखकर मैंने उन लोगों से कहा कि तुम लोगों को स्त्री के सम्बन्ध से परस्पर वैर न करना चाहिए। इस प्रसंग में एक कथा कहता हूँ सुनो ॥१३१ १३४॥

सुन्द और उपसुन्द की कथा

प्राचीन काल में सुन्द और उपसुन्द नाम के दो असुर थे जो अपने अतुल बल के कारण तीनों लोकों को जीतने के कारण अजेय थे ॥१३५॥

उन दोनों भाइयों के विनाश की इच्छा से ब्रह्मा ने विश्वकर्मा से तिलोत्तमा नामक दिव्य नारी का निर्माण कराया ॥१३६॥

चारों ओर से उसके रूप को देखने के लिए ब्रह्मा चतुर्मुख हो गए। जब वह प्रदक्षिणा कर रही थी तब शिव भी उसे चारों ओर से देखने के लिए ही चतुर्मुख हो गये ॥१३७॥

वह तिलोत्तमा ब्रह्मा की आज्ञा से कैलास के उद्यान में स्थित उन असुरों के प्रलोभन के लिए गई ॥१३८॥

तौ चासुरौ जगृहतुस्तां दृष्ट्वैवान्तिकागताम्।
उभावप्युभयोर्बाह्वोः सुन्दरीं काममोहितौ॥१३९॥
परस्परविरोधेन हरन्तौ तां च तत्क्षणम्।
प्रवृत्तसम्प्रहारत्वाद्द्वावपि क्षयमीयतुः॥१४०॥
एवं स्त्रीनाम विषयो निदानं कस्य नापदाम्।
युष्माकं द्रौपदी चैका बहूनामिह वल्लभा॥१४१॥
तत्तन्निमित्तं समयः सरक्ष्यो भवतां किल।
मद्वाक्यादयमत्रास्याः समयश्चास्तु वः सदा॥१४२॥
ज्येष्ठान्तिकगता माता मन्तव्येयं कनीयसा।
ज्येष्ठेन च स्नुषा ज्ञेया कनिष्ठान्तिकवर्तिनी॥१४३॥
इत्युक्तं मद्वचो राजंस्तव ते प्रपितामहाः।
तथेति प्रत्यपद्यन्त कल्याणकृतबुद्धयः॥१४४॥
ते च मे सुहृदोऽभूवंस्तत्प्रीत्या चाहमागतः।
त्वां द्रष्टुमिह वत्सेश[1] तदिदं शृणु वच्मि ते॥१४५॥
यथा तैर्मे कृतं वाक्यं कुर्यास्त्वं मन्त्रिणां तथा।
अचिरेण च कालेन महतीमृद्धिमाप्स्यसि॥१४६॥
कंचित्कालं च दुःखं ते भविष्यति न च त्वया।
तत्रातिमोहः कर्तव्यः सुखान्तं भविता हि तत्॥१४७॥
सम्यगेवमभिधाय तत्क्षणं वत्सराजमुदयस्य भाविनः।
भूमिसूचनविधौ विशारदो नारदो मुनिरदर्शनं ययौ॥१४८॥
सर्वे च तस्य वचसा मुनिपुङ्गवस्य
यौगन्धरायणमुखाः सचिवास्ततस्ते।
सम्भाव्य सिद्धमुदयमारभचिकीर्षितस्य
सम्पादनाय सुतरां जगृहुः प्रयत्नम्॥१४९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
लावाणक लम्बके प्रथमस्तरङ्गः

उसे एकान्त में समीप आई हुई देखकर उन काम-मोहित दोनों असुरों ने उसे दोनों बाहुओं से पकड़ा। उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हुए वे दोनों परस्पर लड़ पड़े और नष्ट हो गये[1] ॥१३९ १४०॥

इस प्रकार स्त्री किसके लिए विपत्तियों का कारण नहीं बनती। तुम बहुतों की एक ही प्यारी स्त्री द्रौपदी है॥१४१॥

इसको लेकर होनेवाले आपसी कलह से तुमलोगों को बचना चाहिए। मेरे कहने से आप लोग उसका एक नियम निर्धारण कर लें॥१४२॥

बड़े भाई के पास गई हुई उसे छोटे भाई, माता के समान समझें और छोटे भाइयों के समीप जाने पर बड़े भाई उसे बहू (पुत्र-वधू) के समान समझें। हे राजन्! शुभ बुद्धि वाले तुम्हारे परदादों ने मेरे वचन को उसी प्रकार स्वीकार कर लिया। वे लोग मेरे मित्र थे मैं तुम्हारे पास उसी प्रेम से तुम्हें देखने आया हूँ और यह कहता हूँ सुनो॥१४३ १४५॥

जैसे तुम मेरी बात को मानते हो उसी प्रकार अपने मंत्रियों की बात को भी मानना। इस प्रकार तुम शीघ्र ही महान् ऐश्वर्य प्राप्त करोगे॥१४६॥

कुछ समय तक तुम्हें कष्ट होगा उस समय तुम अधिक मोह न करना क्योंकि यह दुःख सुखान्त होगा अर्थात् अन्त में सुख मिलेगा॥१४७॥

'आप जो कहते हैं ठीक है' वत्सराज के ऐसा कहने पर भावी अभ्युदय में चिह्नों की सूचना देने में विशारद नारद मुनि अन्तर्धान हो गये॥१४८॥

यौगन्धरायण आदि सभी राज-मन्त्री मुनिप्रवर नारद के वचनों से अपनी योजना की सफलता समझ कर उसे कार्यान्वित करने का प्रयत्न करने लगे॥१४९॥

महाकवि सोमदेव भट्ट-विरचित कथा सरित्सागर के लावाणक लम्बक का
प्रथम तरंग समाप्त।

---

१ यह कथा महाभारत के आदि पर्व में भी आती है।

द्वितीयस्तरङ्गः

वत्सराज-पद्मावत्योःपरिचयः

ततः पूर्वोक्तया युक्त्या वत्सराजं सवल्लभम् ।
यौगन्धरायणाद्यास्ते निन्युर्लावाणकं प्रति ॥१॥
स राजा प्राप तं देशं सैन्यघोषेण मूर्च्छता ।
अभिवाञ्छितसंसिद्धिं वदन्तमिव मन्त्रिणाम् ॥२॥
तत्र प्राप्तं विदित्वा च वत्सेशं सपरिच्छदम् ।
अवस्कन्दभयाशङ्की चकम्पे मगधेश्वरः ॥३॥
यौगन्धरायणोपान्तं सद्बुद्धिर्विससर्ज च ।
स दूतं सोऽपि सन्मन्त्री कार्यज्ञोऽभिननन्द तम् ॥४॥
वत्सेश्वरोऽपि निवसंस्तस्मिन्देशे यवीयसीम् ।
आखेटकार्थमटवीमटति स्म दिने दिने ॥५॥
एकस्मिन् दिवसे तस्मिन् राजन्याखेटकं गते ।
कर्तव्यसंविदं कृत्वा गोपालकसमन्वितः ॥६॥
यौगन्धरायणो धीमान् सरुमण्वद्वसन्तकः ।
देव्या वासवदत्ताया विजने निकटं ययौ ॥७॥
तत्र तां राजकार्येऽत्र साहाय्ये तैस्तैरुक्तिभिः ।
प्रज्ञामभ्यर्थयामास भ्राता पूर्वं प्रबोधिताम् ॥८॥
सानुमेने च विरह-क्लेश-दायि तदात्मनः ।
किं नाम न सहन्ते हि भर्तृभक्ताः कुलाङ्गनाः ॥९॥
ततस्तां ब्राह्मणीरूपां देवीं यौगन्धरायणः ।
स चकार कृती दत्त्वा योगं रूपविवर्तनम् ॥१०॥
वसन्तकं च कृतवान् काणं बटुकरूपिणम् ।
आत्मना च तथैवाभूत्स्थविर-ब्राह्मणाकृतिः ॥११॥
तथा रूपां गृहीत्वाथ तां देवीं स महामतिः ।
वसन्तकसखः स्वैरं प्रतस्थे मगधान् प्रति ॥१२॥
तथा वासवदत्ता सा स्वगृहान्निर्गता सती ।
जगाम चेतसा भर्तारं पन्थानं वपुषा पुनः ॥१३॥
तन्मन्दिरमथादीप्य दहनेन समन्ततः ।
हा हा वसन्तकयुता देवी दग्धेत्यघोष्यत ॥१४॥
तथा च दहनाक्रन्दौ समं तत्रोदतिष्ठताम् ।
शमं शशाम दहनो न पुनः क्रन्दितध्वनिः ॥१५॥

द्वितीय तरंग

राजा उदयन और पद्मावती के विवाह की कथा

नारद मुनि के प्रस्थान करने पर यौगन्धरायण आदि मन्त्री पूर्व-निर्धारित राजा को रानी के साथ लावाणक ग्राम ले गये ॥१॥

राजा उदयन चारों ओर फैलते हुए सेना के शब्दों के साथ लावाणक पहुँचा। सेना की कलकल ध्वनि से वह स्थान मानों मन्त्रियों की सफलता की घोषणा कर रहा था ॥२॥

सीमा पर सेना के साथ आये हुए उदयन का पता पाकर मगध का राजा आक्रमण के भय से काँप उठा ॥३-४॥

वत्सराज भी वहाँ रहते हुए शिकार के लिए प्रतिदिन गहरे वनों में घूमता था ॥५॥

मगध-नरेश ने सद्भावना-प्रदर्शन के लिए यौगन्धरायण के पास अपना दूत भेजा। उस चतुर मन्त्री ने भी दूत का समुचित रूप से अभिनन्दन किया ॥६॥

वासवदत्ता के जलने की कथा

एक दिन राजा उदयन के शिकार के लिए चले जाने पर यौगन्धरायण गोपालक रुमण्वान और वसन्तक के साथ समिति करके एकान्त में वासवदत्ता के समीप गया। भाई द्वारा पहले ही तैयार की गई रानी से उसने राजकार्य में सहायता के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें समझाई ॥७-८॥

वासवदत्ता ने उस अत्यन्त विरह-क्लेश देनेवाली योजना को भी राजा के अभ्युदय के लिए स्वीकार कर लिया। पतिभक्त कुल-रमणियाँ पति के लिए कौन-सा कष्ट सहन नहीं करतीं ॥९॥

तब राजनीति-कुशल यौगन्धरायण ने वेश बदलने का सामान देकर वासवदत्ता को ब्राह्मणी का रूप धारण कराया ॥१ ॥

वसन्तक को काने ब्रह्मचारी शिष्य का रूप धारण कराया और स्वयं बूढ़े ब्राह्मण का रूप धारण किया ॥११॥

इस प्रकार कृत्रिम वेष से यौगन्धरायण उन दोनों को साथ लेकर धीरे-धीरे मगध देश की ओर चला ॥१२॥

उस रूप में घर से निकली हुई वासवदत्ता मन से पति की ओर और शरीर से मगध-मार्ग की ओर चली ॥१३॥

उन लोगों के चले जाने पर दूसरे मन्त्री रुमण्वान् ने लावाणक के राजगृह में आग लगा दी और यह घोषणा कर दी कि वसन्तक के साथ महारानी जल गईं। समूचे लावाणक में आग और क्रन्दन की ध्वनि एक साथ ही उठी। आग धीरे-धीरे बुझ गई, किन्तु क्रन्दन-ध्वनि बन्द न हुई ॥१४-१५॥

यौगन्धरायणं सोऽथ सह वासवदत्तया।
वसन्तकेन च प्राप मगधाधिपतेः पुरम् ॥१६॥
तत्रोद्यानगतां दृष्ट्वा सम ताम्यामुपाययौ।
पद्मावतीं राजसुतां वार्यमाणोऽपि रक्षिभिः ॥१७॥
पद्मावत्याश्च दृष्ट्वैव ब्राह्मणीरूपधारिणीम्।
दर्शीं वासवदत्तां तां वृत्तो प्रीतिरजायत ॥१८॥
सा रक्षिणो निषिध्यैव ततो यौगन्धरायणम्।
आनाययद्राजकन्या ब्राह्मणाकृतिमन्तिकम् ॥१९॥
पप्रच्छ च महाब्रह्मन्! का ते बाला भवत्यसौ।
किमर्थमागतोऽसीति सोऽपि तां प्रत्यभाषत ॥२ ॥
इयमावन्तिका नाम राजपुत्रि सुता मम।
अस्याश्च भर्ता व्यसनी त्यक्त्वेमां कुत्रचिद् गतः ॥२१॥
तदेतां स्थापयाम्यद्य तव हस्ते यशस्विनि।
यावत्तामानयाम्यस्या गत्वान्विष्याचिरात् पतिम् ॥२२॥
भ्राता काणवटुश्चायमिहैवास्याः समीपगः।
तिष्ठत्वेकाकिनीभावदुःखं येन न यात्यसौ ॥२३॥
इत्युक्त्वा राजतनयामभ्यर्थीकृतवांस्तया।
तामामन्त्र्य स सन्मन्त्री द्रुतं लावाणकं ययौ ॥२४॥
ततो वासवदत्तां तां स्थितामावन्तिकाख्यया।
वसन्तकं चानुगतं तं काणवटुरूपिणम् ॥२५॥
सहादाय कृतोदारसत्कारा स्नेहशालिनी।
पद्मावती स्वभवनं विवेश बहुकौतुकम् ॥२६॥
तत्र वासवदत्ता च प्रविष्टा चित्रभित्तिषु।
पश्यन्ती रामचरिते सीतां सहे स्म मध्यगाम् ॥२७॥
आकृत्या सौकुमार्येण शयनासनसौष्ठवैः।
शरीरसौरभेणापि नीलोत्पलसुगन्धिना ॥२८॥
तामुत्तमां विनिश्चित्य महार्हशयने समैः।
पद्मावती यथाकाममुपचारमुपाचरत् ॥२९॥
अचिन्तयच्च काप्येषा छन्ना नूनमिह स्थिता।
गूढा हि द्रौपदीमासीद् विराटभवनेऽपि वा ॥३ ॥

इधर यौगन्धरायण उन दोनों को साथ लिए हुए मगध-नरेश की राजधानी में प्रविष्ट हुआ॥१६॥

वहाँ राजकुमारी को उद्यान में घूमते देखकर सिपाहियों के रोकने पर भी यौगन्धरायण उन दोनों के साथ अन्दर घुस गया॥१७-१८॥

पद्मावती ने उधर देखा और वासवदत्ता की ओर उसकी आँखें बरबस उलझ गईं तथा उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। उसने सिपाहियों को मना करके उन ब्राह्मणी के रूप में स्थित राजकन्या को अपने समीप बुलाया। और बूढ़े ब्राह्मण से पूछा कि हे ब्रह्मदेव! यह बालिका कौन है? तथा यहाँ मेरे पास किस लिए आये हो? यौगन्धरायण ने उत्तर दिया। हे राजकुमारी! यह अवन्तिका नाम की मेरी बेटी है। इसका व्यसनी पति इसे छोड़ कर कहीं चला गया। इसलिए इसे मैं तुम्हारे हाथ सौंपता हूँ। तब तक उस जामाता को शीघ्र ही ढूँढ़कर लाता हूँ॥१९ २२॥

इसका भाई यह कालबटु भी यब तक उसके पास ही रहेगा जिससे इसे अकेलापन का कष्ट-अनुभव न हो॥२३॥

ऐसा सुनकर पद्मावती ने बूढ़े ब्राह्मण की प्रार्थना स्वीकार कर ली और वह बूढ़ा यौगन्धरायण पद्मावती से आज्ञा लेकर लावणक लौट आया॥२४॥

उसके जाने पर स्नेहशीला पद्मावती अवन्तिका का उदार हृदय से स्वागत करके काने के साथ कालबटु और वासवदत्ता को अपने आश्चर्यमय भवन में ले गई॥२५ २६॥

राज-भवन में जाकर दीवारों पर लिखे हुए रामचरित के चित्रों को देखकर विरह-वेदना को सीता के समान सहन करने लगी॥२७॥

स्वरूप से सुकुमारता से उठने-बैठने सोने आदि के सुन्दर ढंग से नील कमल के समान शरीर की सुगन्धि से उसे उच्च श्रेणी की महिला समझकर पद्मावती उसके साथ अपने ऐसे राजोचित व्यवहार करने लगी और मन में सोचती थी कि यह कोई (छिपाई हुई) रमणी है जैसे विराट् के राजभवन में द्रौपदी छिपी थी॥२८ १ ॥

अथ वासवदत्तास्याश्चक्रे देव्याः प्रसङ्गतः ।
अम्लानमालातिलकौ वत्सेशात्पूर्वशिक्षितौ ॥३१॥
तद्भूषितां च दृष्ट्वा तां माता पद्मावतीं रहः ।
पप्रच्छ मालातिलकौ केनेमौ निर्मिताविति ॥३२॥
ऊचे पद्मावती चैनामत्र मन्मन्दिरे स्थिता ।
काचिदावन्तिका नाम तया कृतमिदं मम ॥३३॥
तच्छ्रुत्वा सा जगाद तां मातापुत्रि ! न सा हि सा ।
मानुषी कापि देवी सा यस्या विज्ञानमीदृशम् ॥३४॥
देवता मुनयश्चापि वञ्चनार्थं सतां गृहे ।
तिष्ठन्त्येव तथा चात्र पुत्रि ! कथां शृणु ॥३५॥

कुन्तीकथा

बभूव कुन्तिभोजाख्यो राजा तस्यापि वेश्मनि ।
आगत्य तस्थौ दुर्वासा वञ्चनैकरसो मुनिः ॥३६॥
स तस्य परिचर्यार्थं राजा कुन्तीं निजां सुताम् ।
आदिदेश मुनेः सापि यत्नेनोपचचार तम् ॥३७॥
एकदा स मुनिः कुन्तीं जिज्ञासुः समभाषत ।
परमान्नं पचेः शीघ्रं स्नात्वा यावदुपैम्यहम् ॥३८॥
इत्युक्त्वा त्वरितं स्नात्वा स चर्षिर्भोक्तुमाययौ ।
कुन्ती तदन्नपूर्णां च तस्मै पात्रीमढौकयत् ॥३९॥
अतितप्तेन चान्नेन ज्वलन्तीमिव तां मुनिः ।
मत्वा हस्तग्रहायोग्यां कुन्त्याः पृष्ठे दृशं ददौ ॥४०॥
सापि पृष्ठेन तां पात्रीं दधौ तस्याशया मुनेः ।
ततः स बुभुजे स्वच्छं कुन्तीपृष्ठं त्वदह्यत ॥४१॥
दह्यमानापि गात्रे सा यत्तस्थावविकारिणी ।
तेन तुष्टो मुनिर्भुक्त्वा ददौ तस्यास्ततो वरम् ॥४२॥
इत्यासीत्स मुनिस्तत्र तद्वदेषावन्तिकापि ते ।
तद्वदेव स्थिता कापि तत्त्वमाराधयेरिमाम् ॥४३॥
इति मातुर्मुखाच्छ्रुत्वा पद्मावत्यन्यरूपिणीम् ।
तत्र वासवदत्तां तां सुतरां बह्वमन्यत ॥४४॥
सापि वासवदत्तात्र निजनाथविनाकृता ।
तस्थौ विधुरविच्छाया निशीथस्येव पद्मिनी ॥४५॥

वासवदत्ता भी वत्सराज से सीखी हुई एवं कभी न मुरझाने वाली माला और तिलक-रचना से पद्मावती को प्रसन्न करती थी। उसकी माला और तिलक-रचना को देखकर पद्मावती की माता ने एकान्त में उससे पूछा कि यह माला और तिलक की रचना किसने की है॥११ १२॥

पद्मावती ने कहा कि मेरे भवन में अवन्तिका नाम की एक महिला ठहरी है। उसी ने यह मेरी तिलक रचना की है। यह सुनकर माता ने पद्मावती से कहा—बेटी! यदि ऐसा है तो वह मानुषी नहीं है वरन् देवी है जो ऐसा विज्ञान जानती है। देवता और मुनि भी कभी-कभी ठगने के लिए लोगों के घरों में आ जाते हैं। इस प्रसंग में यह एक कथा सुनो॥११ १५॥

कुन्ती और दुर्वासा की कथा

प्राचीन समय में कुन्ती भोज नाम का एक राजा था। उसके घर में ठगने के लिए दुर्वासा ऋषि आकर ठहरे॥१६॥

राजा ने ऋषि की सेवा के लिए अपनी कन्या कुन्ती को नियुक्त किया। वह भी बड़ी ही सावधानी से ऋषि की सेवा करती थी॥१७॥

एक बार उस मुनि ने कुन्ती की परीक्षा के लिए कहा—तू खीर पका मैं स्नान करके आता हूँ। ऐसा कहकर और शीघ्र ही स्नान करके ऋषि आ गये। कुन्ती ने खीर से भरी कड़ाही उनके सम्मुख उपस्थित की। अत्यन्त जलती हुई (गरम-गरम) खीर को हाथ से खाने योग्य न समझकर ऋषि ने कुन्ती की पीठ पर दृष्टि डाली। कुन्ती ने भी ऋषि का मनोभाव समझकर उस कड़ाही को पीठ पर धारण कर लिया। तब ऋषि तो खीर खाने लगे किन्तु कुन्ती की पीठ जलने लगी। जलती हुई भी कुन्ती बिना हिले-डुले अविचल भाव से बैठी रही उसके धैर्य से प्रसन्न होकर दुर्वासा ने उसे वरदान दिया। उसी दुर्वासा के समान यह अवन्तिका भी तेरे समीप देवता-रूप में है तू इसकी भली-भाँति सेवा कर। माता के मुँह से ऐसा सुनकर पद्मावती वासवदत्ता से बहुत अधिक स्नेह करने लगी और अधिक सम्मान करने लगी। पतिविरहिता वासवदत्ता अर्धरात्रि की कमलिनी के समान दीन और मलिन रहती थी। कभी-कभी विदूषक वसन्तक की बालकों के समान विविध चेष्टाएँ, उस वियोगिनी के मुख पर मुस्कान का अवसर प्रदान करती थी॥१८ ४५॥

वसन्तक-विकारैश्च त ते बालोपिता मुहु ।
मुखे तस्या वियोगिन्या स्मितस्यावसर ददु ॥४६॥
अत्रान्तरेऽतिदूरासु भ्रान्त्वाखेटकभूमिषु ।
वत्सराजश्चिरादागात्साय लावाणक पुन ॥४७॥
भस्मीभूतमपश्यच्च सम्भ्रान्त पुरमग्निना ।
देवीं दग्धां च शुश्राव मन्त्रिभ्य सवसन्तकाम् ॥४८॥
श्रुत्वैव चापतद् भूमौ मोहेन हृतचेतन ।
तद्दुखानुभव-क्लेशमपाकर्तुमिवेच्छया ॥४९॥
क्षणाच्च लब्धसंज्ञ सन्, जज्वाल हृदये शुचा ।
आविष्ट इव तत्रस्थ-देवी-दाहक्षणाग्निना ॥५०॥
विलपश्च स दुखार्तो देहत्यागैकसम्मुख ।
क्षणान्तरे स नृपति सस्मृत्यैवमचिन्तयत् ॥५१॥
विद्याधराधिप पुत्रो देव्यास्तस्या भविष्यति ।
एतन्मे नारदमुनिर्वक्ति स्म न च तन्मृषा ॥५२॥
कञ्चित्काल च दुख मे तेनैव मुनिनोदितम् ।
गोपालकस्य भ्रातुश्च शोक स्वल्प इवेक्ष्यते ॥५३॥
यौगन्धरायणादीनां न चापारमिव स्थिता ।
दृश्यते तेन जाने सा देवी जीवत्यसंशयम् ॥५४॥
इय किमपि नीतिस्तु प्रयुक्ता मन्त्रिभिर्मम ।
अतो मम भवेज्जातु तया देव्या समागम ॥५५॥
तत्पश्याम्यत्र पर्यन्त पर्यालोच्य स भूपति ।
निदधे हृदये धैर्य बोध्यमानश्च मन्त्रिभि ॥५६॥
गोपालकश्च सन्दिश्य यथावस्तु तत्क्षणम् ।
प्रजिघाय ततश्चार भूतिहृतोरलक्षितम् ॥५७॥
एव गते स्ववृत्तान्ते लावाणकगतस्तदा ।
गत्वा मगधराजाय चारै सर्व निवेदितम् ॥५८॥
स तद्बुद्ध्वैव कालज्ञो वत्सराजाय तां सुताम् ।
दातु पद्मावतीमैच्छत्पूर्व सन्मन्त्रिमार्गिताम् ॥५९॥
ततो दूतमुखेनमर्थ वत्सेश्वराय स ।
यौगन्धरायणायापि सन्दिदेश यथेप्सितम् ॥६० ॥
यौगन्धरायणोऽस्या च वत्सशोऽङ्गीचकार तत् ।
प्रच्छादितैतदर्थं स्याद्देवी जातेति चिन्तयन् ॥६१॥

उधर शिकार के लिए दूर-दूर जंगलों का चक्कर लगाकर उदयन बहुत विलम्ब से लावाणक को लौटा। लौटने पर उसने रानी के महल को आग से जला हुआ देखा और मन्त्रियों से महारानी का वसन्तक के साथ जल जाना भी सुना। सुनते ही राजा मूच्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। कुछ समय बाद होश में आने पर शोक से हृदय में जलने लगा और महारानी को जलानेवाली अग्नि में जलकर प्राण-त्याग के लिए उद्यत हुआ ॥४६-४९॥

कुछ समय के अनन्तर कुछ स्मरण करके सोचने लगा कि 'इस रानी से मेरा पुत्र उत्पन्न होगा जो विद्याधरों का राजा होगा—ऐसा नारद मुनि ने कहा था वह झूठ नहीं हो सकता ॥५०-५२॥

मुनि ने यह भी कहा था कि कुछ समय तक कष्ट झेलना पड़ेगा। और रानी के भाई इस गोपालक को भी अधिक शोक नहीं मालूम देता ॥५३॥

यौगन्धरायण आदि मन्त्री भी अत्यन्त दुःखी नहीं दीखते। इससे यह कल्पना होती है कि रानी जीवित हो जाय यह सम्भव है ॥५४॥

मेरे मन्त्रियों ने यह किसी नीति का प्रयोग किया हो यह भी सम्भव है। अतः कभी-न-कभी देवी के साथ समागम हो सकता है ॥५५॥

तो अब मैं इस घटना का अन्त देखता हूँ—ऐसा सोचकर मन्त्रियों द्वारा आश्वासित राजा हृदय में धैर्य धरकर कुछ शान्त हुआ ॥५६॥

लावाणक में यह दुर्घटना होने पर लावाणक स्थित गुप्तचरों ने यह समाचार मगध-नरेश के समीप पहुँचाया। समय-ज्ञ मगधराज ने भी इस अवसर को उपयुक्त समझकर अपनी कन्या पद्मावती देने की इच्छा की जिसे वत्सराज के मन्त्री यौगन्धरायण ने पहले ही माँगा था। मगधेश ने अपने दूत द्वारा अपने धैर्य के लिए यौगन्धरायण को भी सन्देश भेजा ॥५७-६ ॥

वत्सराज ने यह सोचकर कि 'यौगन्धरायण ने कदाचित् वासवदत्ता को छिपा रखा हो' इसलिए यौगन्धरायण का प्रस्ताव स्वीकार करके पद्मावती से विवाह करना स्वीकार कर लिया ॥६१॥

ततो लग्नं विनिश्चित्य गूढं यौगन्धरायणः ।
तस्मै मगधराजाय प्रतिदूतं व्यसर्जयत् ॥६२॥
त्वदिच्छाकृतोऽस्माभिस्त्वदितः सप्तमे दिने ।
पद्मावतीविवाहाय वत्सेशोऽत्रागमिष्यति ॥६३॥
शीघ्रं वासवदत्तां च येनासौ विस्मरिष्यति ।
इति चास्मै महामन्त्री सन्दिदेश स भूभृते ॥६४॥
प्रतिदूतः स गत्वा च यथासन्दिष्टमभ्यधात् ।
ततो मगधराजाय स चाप्यभिननन्द तम् ॥६५॥
ततः स दुहितुस्नेहनिजच्छाविभवोचितम् ।
विवाहोत्सव-सम्भारं चकार मगधेश्वरः ॥६६॥
सा चामीप्स्वरश्रुत्या मुदं पद्मावती ययौ ।
प्राप वासवदत्ता च तद्वार्ताश्रवणाच्छुचम् ॥६७॥
सा चार्ता क्षणमागत्य तस्या वैवर्ण्यदायिनी ।
प्रच्छन्नवासवैरस्यसाह्यमनमिवाकरोत् ॥६८॥
दत्तं मित्रीकृतं चाभूर्नं च भर्त्तान्यथा त्वयि ।
वसन्तकोक्तिरित्यस्याः सखीव विदधे धृतिम् ॥६९॥
अथासन्नविवाहाया पद्मावत्या मनस्विनी ।
अम्लानमालातिलकौ दिव्यौ भूयश्चकार सा ॥७०॥
ततो वत्सेश्वरस्तत्र सम्प्राप्ते सप्तमेऽह्नि ।
ससैन्यो मन्त्रिभिः साकं परिणेतुं किलाययौ ॥७१॥
मनसापि तदुद्योग विरही स कथं स्पृशत् ।
देवीं लभेय तामेवमित्याशा न भवत्यदि ॥७२॥
प्रत्युद्ययौ च तं सद्यः सानन्दो मगधेश्वरः ।
प्रजानेत्रोत्सवं चन्द्रमुदयस्थमिवाम्बुधिः ॥७३॥
विवेशाथ स वत्सेशो मगधाधिपतेः पुरम् ।
समन्तात्पौरलोकस्य मानसं च महोत्सवः ॥७४॥
विरहक्षामवपुषं मनःसम्मोहदायिनम् ।
ददृशुस्तत्र नार्यस्तं रतिहीनमिव स्मरम् ॥७५॥
प्रविश्य मगधेशस्य वत्सराजोऽप्यथ मन्दिरम् ।
समाप पतिवत्नीभिः कौतुकागारमाप्यौ ॥७६॥

यौगन्धरायण ने तुरन्त लग्न निकलवाकर मगधराज के पास अपना दूत भेजा कि 'हम लोगों ने आपका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अतः आज के सातवें दिन वत्सराज विवाह के लिए आपके यहाँ बरात लेकर आयेगा' ॥६२-६३॥

महामन्त्री ने यह भी कहलाया कि 'यदि राजा का विवाह शीघ्र ही हो जाय तो वह वासवदत्ता को भूल जायगा।' मगधराज ने सन्देश सुनकर उसका अभिनन्दन किया और कन्या के स्नेह अपने उदार हृदय वैभव एवं मर्यादा आदि के अनुरूप विवाह की तैयारी में लग गया ॥६४-६६॥

पद्मावती मनचाहे अनुरूप पति के मिलने की आशा से प्रसन्न हुई और इस वृत्तान्त को सुनकर वासवदत्ता का हृदय शोक से सन्तप्त हो गया ॥६७॥

वासवदत्ता को मलिन कर देनेवाला यह समाचार, उसके गुप्तनिवास और विकृत परिस्थिति के लिए सहायक हुआ ॥६८॥

'इस प्रकार यौगन्धरायण ने शत्रु को मित्र बना लिया। पति का प्रेम तो तुमपर उसी प्रकार है' इत्यादि बातें समझाकर वसन्तक ने रानी को धैर्य बँधाया ॥६९॥

पद्मावती का विवाह

कुछ समय के अनन्तर विवाह का समय समीप आने पर वासवदत्ता ने अम्लान माला और तिलक-रचना से पद्मावती को पुनः सजा दिया ॥७० ॥

सात दिन व्यतीत होने पर वत्सराज उदयन अपने मन्त्रियों और सेनाओं के साथ विवाह के लिए मगध की राजधानी में धूमधाम से आ पहुँचा ॥७१॥

वत्सराज उदयन के मन में यदि यह आशा न होती कि वासवदत्ता प्राप्त हो जायगी तो वह इस विवाह-प्रपंच में मन से भी उत्साहित न होता ॥७२-७३॥

इधर राजा ने मगध की राजधानी में प्रवेश किया और उधर नागरिकों के हृदय में महान् आनन्द ने प्रवेश किया ॥७४॥

नागरिक स्त्रियों ने विरह से दुर्बल शरीरवाले तथापि मन को मोहन करनेवाले राजा को रति-हीन कामदेव के समान देखा। पुर प्रवेश के अनन्तर राजा राजमहल में जाकर सौभाग्यवती स्त्रियों से भरे हुए विवाहगृह (कौतुकागार) में पहुँचा ॥७५-७६॥

वहाँ जाकर राजा ने अपने पूर्णचन्द्र के समान मुख से पूर्णिमा के चन्द्र को लजानेवाली पद्मावती को देखा। उसके शरीर पर, अपनी दिव्य माला और तिलक देखकर उसे यह चिन्ता हुई कि ये वस्तुएँ इसे कैसे प्राप्त हुईं॥७७-७८॥

तदनन्तर विवाह-वेदी पर बैठकर उसने जो पद्मावती का हाथ पकड़ा वही मानों समस्त पृथ्वी के कर-ग्रहण का प्रारम्भ था॥७९॥

यह वासवदत्ता के अतिरिक्त दूसरी पत्नी को देखना भी नहीं चाहता मानों इसीलिए धुएँ ने उसकी आँखें बन्द कर दीं॥८० ॥

अग्नि की प्रदक्षिणा के समय धुएँ से लाल पद्मावती का मुख मानों इसीलिए क्रोध से तमतमाने लगा था॥८१॥

विवाह-विधि सम्पन्न हो जाने पर, वत्सराज ने वधू के हाथ को त्याग दिया। किन्तु हृदय से वासवदत्ता को नहीं छोड़ा। विवाह के दहेज में मगध-नरेश ने राजा को इतने रत्न भेंट दिये कि मालूम होता था कि समूची पृथ्वी के रत्न छुप गये॥८२-८३॥

उसी अवसर पर यौगन्धरायण ने अग्नि को साक्षी करके मगधेश्वर से यह विश्वास प्राप्त किया कि वह जामाता वत्सराज से कभी भी विरोध न करेगा॥८४॥

विवाहोत्सव में कपड़े और गहने बाँटे गए चारणों ने सुन्दर गीत गाये और वेश्याओं ने नृत्य किये॥८५॥

पति का अभ्युदय चाहनेवाली वासवदत्ता सोई हुई की तरह एकान्त में स्थित होकर उस समय वैसी प्रतीत होती थी जैसी दिन में चन्द्रमा की कान्ति॥८६॥

तब अन्तःपुर में वत्सराज उदयन के आ जाने पर बुद्धिमान यौगन्धरायण को आशंका हुई कि कहीं राजा वासवदत्ता को न देख ले॥८७॥

वासवदत्ता के छिपाने का भेद न खुल जाय इस भय से यौगन्धरायण ने मगधेश से कहा कि राजा आज ही तुम्हारे यहाँ से विदा हो जायगा॥८८॥

मगध-नरेश ने इसे स्वीकार कर लिया उसी प्रकार वत्सराज ने भी इसे स्वीकार किया॥८९॥

बरातियों के खाने-पीने के अनन्तर वत्सराज उदयन रानियों के साथ पद्मावती को लेकर लौट आया॥९० ॥

पद्मावत्या विसृष्टं च सुखमारुह्य वाहनम्।
तद्वत्तत्र च समादिष्टैस्तैर्महत्तरकैः सह ॥९१॥
आगाद् वासवदत्तापि गुप्तं सैन्यस्य पृष्ठतः।
कृतकार्पटिकाकारं सा पुरस्कृत्य वसन्तकम् ॥९२॥
क्रमाल्लावाणकं प्राप वत्सेशो वसतिं निजाम्।
प्रविवेश समं सख्या तस्थौ चिन्तयन् कथम् ॥९३॥
एत्य वासवदत्तापि सा गोपालकमन्दिरम्।
विवेशाथ निशीथे च परिस्थाप्य महत्तरान् ॥९४॥
तत्र गोपालकं दृष्ट्वा भ्रातरं दर्शितादरम्।
कण्ठे जग्राह रुदती बाष्पव्याकुललोचनम् ॥९५॥
तत्क्षणं स्थितसंविच्च तत्र यौगन्धरायणः।
आययौ सरुमण्वत्कस्तया देव्या कृतादरः ॥९६॥
सोऽस्याः प्रोत्साहविश्लेषदुःखं यावदपोहति।
तावत्पद्मावती-पार्श्वं प्रययुस्ते महत्तराः ॥९७॥
आगतावन्तिका देवि किमप्यस्मान्विहाय तु।
प्रविष्टा राजपुत्रस्य गृहं गोपालकस्य सा ॥९८॥
इति पद्मावती सा तैर्विज्ञप्ता स्वमहत्तरैः।
वत्सेश्वराग्रे साशङ्का तानेव प्रत्यभाषत ॥९९॥
गच्छतावन्तिका ब्रूत निक्षेपस्त्वं हि मे स्थिता।
तदत्र किं ते यत्राहं तत्रैवागम्यतामिति ॥१ ॥
तच्छ्रुत्वा तेषु यातेषु राजा पद्मावतीं रहः।
पप्रच्छ मालातिलकौ केनेमौ तौ कृताविति ॥१ १॥
साब्रवीत्तव मद्गेहे न्यस्ता विप्रेण केनचित्।
आवन्तिकाभिधा यैषा तस्याः शिल्पमिदं महत् ॥१०२॥
तच्छ्रुत्वैव स वत्सेशो गोपालगृहमाययौ।
नूनं वासवदत्ता सा भवदत्रेति चिन्तयन् ॥१ ३॥
प्रविवेश च गत्वा तद्द्वारस्थितमहत्तरम्।
अन्तस्थदेवीगोपालमन्त्रिद्वयवसन्तकम् ॥१०४॥
तत्र वासवदत्तां तां ददर्श प्रोषितागताम्।
उपप्लवविनिर्मुक्तां मूर्तिं चान्द्रमसीमिव ॥१ ५॥

पद्मावती के द्वारा दिये गये सुन्दर रथ पर उसी के नौकरों के साथ वासवदत्ता भी सेना के पीछे रूप बदले हुए वसन्तक को आगे बैठाकर गुप्त रूप से चली॥९१ ९२॥

क्रमशः वत्सराज अपने निवास-स्थान लावाणक नामक गाँव में पहुँचा और नवीन वधू पद्मावती के साथ राज-भवन में प्रविष्ट हुआ किन्तु वासवदत्ता के हृदय में अकेला ही प्रविष्ट हुआ॥९३॥

वासवदत्ता भी आधी रात के समय सवारों को ठहराकर अपने भाई गोपालक के निवास स्थान (डेरे) में चली गई॥९४॥

सबसे पीछे आती हुई वासवदत्ता ने भी लावाणक में पहुँचकर भाई गोपालक का स्वागत करते हुए देखा और रोते हुए भाई के गले से लिपटकर रोने लगी॥९५॥

उसी समय इस योजना का नेता यौगन्धरायण रुमण्वान् के साथ आया और वासवदत्ता ने उसका स्वागत किया। इधर यौगन्धरायण उधर वासवदत्ता के कष्ट के प्रति सहानुभूति प्रकट कर रहा था और उधर वासवदत्ता के पहरेदार पद्मावती के पास पहुँचे। और उन्होंने कहा कि 'देवि! अवन्तिका हमलोगों के साथ आई, किन्तु यहाँ आते ही हमलोगों को छोड़कर वह राजकुमार गोपालक के घर में चली गई'॥९६-९८॥

वत्सराज के सामने ही पहरेदारों (सवारों) द्वारा इस प्रकार निवेदित पद्मावती सशंक होकर उनसे बोली—'जाओ अवन्तिका से कहो कि तुम मेरे पास धरोहर के रूप में रखी गई हो इसलिए यहाँ तुम्हारा क्या है? जहाँ मैं हूँ वहीं तुम भी रहो। जाओ'॥९९ १ ॥

यह सुनकर उनके चले जाने पर राजा ने एकान्त में पद्मावती से पूछा कि 'तुम्हें यह माला और तिलक किसने दिया?॥१ १॥

पद्मावती बोली—'किसी ब्राह्मण ने मेरे पास अवन्तिका नाम की एक कन्या धरोहर के रूप में रखी है उसी की यह कारीगरी है॥१ २॥

यह सुनकर उदयन वहाँ से उठकर सीधे गोपालक के घर पर आया कि अवश्य ही वासवदत्ता उसके घर पर होगी॥१ ३॥

राजा पहरा लगे हुए गोपालक के द्वार पर पहुँचा। अन्दर वासवदत्ता गोपालक यौगन्धरायण रुमण्वान और वसन्तक बैठे हुए थे। वहाँ उसने प्रवास से मुक्त चन्द्र-मूर्ति के समान प्रवास से लौटी हुई वासवदत्ता को देखा॥१ ४ १ ५॥

उसे देखते ही शोक के विष से व्याकुल राजा भूमि पर अचेत होकर गिर गया और वासवदत्ता के हृदय में कम्पन होने लगा। विरह से क्षीण और निर्बल अंगोंवाली वासवदत्ता भी उसी समय अचेत होकर गिर गई और अपने किये हुए कार्य के लिए विलाप करने लगी ॥१ ६-१०७॥

इस प्रकार दोनों दम्पती शोक से विकल होकर रोने लगे। यौगन्धरायण का मुँह भी आँसुओं से मानों धुल गया ॥१ ८॥

इधर इस प्रकार का कोलाहल सुनकर व्याकुल पद्मावती भी वहीं पहुँच गई ॥१ ९॥

राजा और वासवदत्ता की हालत देखकर पद्मावती भी उन्हीं के समान शोकाकुल हो गई क्योंकि अच्छी स्त्रियाँ स्नेह-युक्त और सरल होती हैं ॥११ ॥

पति को दुःख देनेवाले मेरे जीवन का क्या प्रयोजन! इस प्रकार वासवदत्ता रोती हुई बार-बार प्रलाप करती थी ॥१११॥

'मगध-नरेश की कन्या की प्राप्ति से तुम्हें साम्राज्य का लाभ हो'—यह सोचकर मैंने यह सब काम किया इसमें महारानी का कोई भी दोष नहीं। इनके प्रवास-काल में महारानी के चरित्र की साक्षी स्वयं महारानी की बहिन पद्मावती है—इस प्रकार पुण्यपर यौगन्धरायण ने कहा ॥११२ ११३॥

विशुद्ध हृदया पद्मावती ने कहा कि वासवदत्ता की सच्चरित्रता को सिद्ध करने के लिए मैं स्वयं अग्नि में प्रवेश करने को उद्यत हूँ ॥११४॥

राजा ने कहा—'इस सारे अपराध का अपराधी एकमात्र मैं ही हूँ जिसके लिए महारानी ने इतना कष्ट-सहन किया ॥११५॥

वासवदत्ता ने दृढ़तापूर्वक कहा कि महाराजा की हृदय-शुद्धि के लिए मुझे अग्नि-प्रवेश करना चाहिए ॥११६॥

यह सब सुनकर नीति में श्रेष्ठ यौगन्धरायण पूर्व मुख बैठकर विशुद्ध मन से आचमन करके बोला—'हे लोकपालो! यदि मैं राजा का हितकारी हूँ और महारानी भी सच्चरित्रा है तो आप लोग साक्षी कहें नहीं तो मैं शरीर-त्याग करता हूँ ॥११७-११८॥

ऐसा कहकर यौगन्धरायण के मौन होने पर आकाशवाणी हुई—'यह राजा धन्य है, जिसके मन्त्री तुम्हारे जैसे हैं और जिसकी स्त्री वासवदत्ता पूर्वजन्म की देवता है। इसमें कुछ भी दोष नहीं है ॥११ १२ ॥

घने मेघों के गर्जन के समान चारों दिशाओं को गुंजित करनेवाली आकाशवाणी को, मोरों के समान ऊँची गर्दन किये हुए उन सब लोगों ने सुना।।१२१।।

गोपालक के साथ राजा वत्सराज ने यौगन्धरायण के कार्य की प्रशंसा की और समस्त पृथ्वी को अपने अधीन माना।।१२२।।

परमसुखी वत्सराज मूर्तिमान् रति और निर्वृति (सुख)-स्वरूप और निरन्तर सद्भाव के कारण परस्पर अनुरक्त उन दोनों पत्नियों के साथ अत्यन्त सुख का अनुभव करने लगा।।१२३।।

महाकवि श्रीसोमदेव भट्ट-रचित कथासरित्सागर के लावाणक लम्बक का
द्वितीय तरंग समाप्त

तृतीय तरंग

वत्सराज की कथा (चालू)

किसी एक दिन एकान्त में वत्सराज ने वासवदत्ता और पद्मावती के साथ पान क्रीडा करके गोपालक रुमण्वान् और वसन्तक के साथ यौगन्धरायण को बुलाया और गुप्त गोष्ठी करने लगा।।१ २।।

उस अवसर पर अपने विरह के प्रसंग में वत्सराज ने उन सब के सुनते रहने पर यह कथा कहना प्रारम्भ किया।।३।।

पुरूरवा और उर्वशी की कथा

प्राचीन युग में परमवैष्णव (विष्णु-भक्त) पुरूरवा नाम का राजा था। पृथ्वी के समान स्वर्ग में भी उसकी बे-रोक-टोक गति थी।।४।।

एक बार नन्दन-उद्यान में घूमते हुए उसे उर्वशी अप्सरा ने देखा जो कामदेव के सम्मोहन नामक दूसरे अस्त्र के समान थी।।५।।

पुरूरवा को देखते ही उर्वशी संज्ञाहीन (बेहोश) हो गई। उसके कारण रम्भा आदि उसकी सखियों का हृदय काँपने लगा।।६।।

राजा पुरूरवा भी लावण्य-रस की निर्झरिणी के समान उर्वशी को देखकर भी जो उसका आलिंगन प्राप्त न कर सका उस प्यास से मानों मूर्च्छित हो गया।।७।।

अथादिदेश सर्वज्ञो हरि क्षीराम्बुधिस्थित ।
नारदाख्य मुनिवर दर्शनायमुपागतम् ॥८॥
देवर्षे ! नन्दनोद्यानवर्त्ती राजा पुरूरवा ।
उर्वशीहृतचित्त सन् स्थितो विरहिणि सह ॥९॥
तद्गत्वा मम वाक्येन बोधयित्वा शतक्रतुम् ।
दापय त्वरित तस्मै राज्ञे तामुर्वशीं मुने ! ॥१०॥
इत्यादिष्ट स हरिणा तथेत्यागत्य नारद ।
प्रबोध्य त यथाभूत पुरूरवसमब्रवीत् ॥११॥
उत्तिष्ठ त्वत्कृते राजन्प्रहितोऽस्मीह विष्णुना ।
स हि निर्व्याजभक्तानां नैवापदमुपेक्षते ॥१२॥
इत्युक्त्वाश्वासितेनाथ स पुरूरवसा सह ।
जगाम देवराजस्य निकट नारदो मुनि ॥१३॥
हरेर्निदेशमिन्द्राय निवेद्य प्रणतात्मने ।
उर्वशीं दापयामास स पुरूरवसे तत ॥१४॥
तदमुत्रोर्वशीदान निर्जीवकरण दिव ।
उर्वश्यास्तु तदेवासीन्मृतसञ्जीवनौषधम् ॥१५॥
अथाजगाम भूलोक तमादाय पुरूरवा ।
स्वर्वधू-दर्शनाश्चर्यमर्पयन्मर्त्यचक्षुषाम् ॥१६॥
ततोऽनपायिनौ तौ द्वावुर्वशी च नृपश्च स ।
अन्योन्यदृष्टिपाशेन निबद्धाविव तस्थतु ॥१७॥
एकदा दानवै साक प्राप्तयुद्धेन वज्रिणा ।
साहाय्यार्थमाहूतो ययौ नाक पुरूरवा ॥१८॥
तत्र तस्मिन् हते मायाधरनाम्न्यसुराधिपे ।
प्रवृत्तस्तर्वभूमाप पात्रन्याभवदुत्सव ॥१९॥
तत्र च रम्भा नृत्यन्तीमाचार्ये तुम्बरौ स्थिते ।
चलिताभिनया दृष्ट्वा जहास स पुरूरवा ॥२०॥
जान न्दिव्यमिद नृत्त किं त्व जानामि मानुष ।
इति रम्भापि तत्राह सासूयं तमभाषत ॥२१॥

राजा को इस प्रकार सन्तप्त जानकर क्षीर-समुद्र में विश्राम करते हुए सर्वज्ञ भगवान् विष्णु ने दर्शन के लिए आये नारद मुनि को आदेश दिया ॥८॥

हे देवर्षि! नन्दन-उद्यान में स्थित राजा पुरूरवा उर्वशी पर मोहित हो गया है और उर्वशी के विरह को सहन नहीं कर पा रहा है ॥९॥

इसलिए तुम मेरी ओर से इन्द्र के पास जाकर और उसे समझाकर उर्वशी को राजा के लिए तुरन्त दिलवा दो ॥१ ॥

भगवान् हरि से इस प्रकार आज्ञापित नारद ने आकर पुरूरवा को होश में लाकर कहा—'राजन्! उठो तुम्हारे लिए मुझे भगवान् विष्णु ने भेजा है। वे अपने निश्छल भक्तों के कष्ट की उपेक्षा नहीं करते ॥११ १२॥

इस प्रकार आश्वासित पुरूरवा के साथ नारद मुनि इन्द्र के पास गये और प्रणाम करते हुए इन्द्र को हरि की आज्ञा सुनाकर, उर्वशी को राजा पुरूरवा के लिए, दिला दिया ॥१३-१४॥

इस प्रकार उर्वशी का दान स्वर्ग को निर्जीव करने और उर्वशी को मानों मृत-संजीवन औषधि देने के समान था ॥१५॥

स्वर्गीय पत्नी का ग्रहण करके मर्त्यलोकवासियों की आँखों को आश्चर्य में डालते हुए पुरूरवा उसे लेकर भू-लोक में आ गया ॥१६॥

इस प्रकार कभी नष्ट न होनेवाले पुरूरवा और उर्वशी—दोनों परस्पर आकृष्ट होकर बँधे हुए-से रहने लग ॥१७॥

एक बार मायाधर नामक असुरराज के साथ इन्द्र का युद्ध होने पर इन्द्र ने अपनी सहायता के लिए पुरूरवा को बुलाया और पुरूरवा स्वर्ग को गया ॥१८॥

इस युद्ध में मायाधर के मारे जाने पर इन्द्र के यहाँ उत्सव हुआ जिसमें सभी स्वर्गीय स्त्रियों ने भाग लिया। उस उत्सव में आचार्य तुम्बुरु के उपस्थित रहते हुए रम्भा नाम की अप्सरा नृत्य कर रही थी उसके नृत्य में कुछ त्रुटि होने पर पुरूरवा ने हँस दिया। उसकी हँसी से चिढ़कर रम्भा ने कहा—'यह देव नृत्य है इसे मैं जानती हूँ। हे मनुष्य! तू इसे क्या जाने ॥१ २१॥

गानेऽद्यमुर्वशीसङ्क्रान्तचेतोऽसीति न तुम्बुरुः।
युष्मद्गुरुरपीत्यनामुवाचाथ पुरूरवाः ॥२२॥
तच्छ्रुत्वा तुम्बुरुः कोपात्तस्मै शापमथादिशत्।
उर्वश्या ते वियोगः स्यादाकृष्णाराधनादिति ॥२३॥
श्रुतशापश्च गत्वैव तमुर्वश्यै पुरूरवाः।
अकालाशनिपातोग्रं स्ववृत्तान्तं न्यवेदयत् ॥२४॥
ततोऽकस्मान्निपत्यैव निन्ये क्वाप्यपहृत्य सा।
अदृष्टैस्तेन भूपेन गन्धर्वैरुर्वशी किल ॥२५॥
अवेत्य शापदोषं तं सोऽपि गत्वा पुरूरवाः।
हरेराराधनं चक्रे ततो बदरिकाश्रमे ॥२६॥
उर्वशी तु वियोगार्ता गन्धर्वविषयस्थिता।
आसीन्मृतेव सुप्तेव लिखितेव विचेतना ॥२७॥
आश्चर्यं यन्न सा प्राणैः शापान्ताशावलम्बिनी।
मुक्ता विरहदीर्घासु चक्रवाकीव रात्रिषु ॥२८॥
पुरूरवाश्च तपसा तेनाच्युतमतोषयत्।
तत्प्रसादेन गन्धर्वा मुमुचुस्तस्य चोर्वशीम् ॥२९॥
शापान्तलब्धया युक्तः पुनरप्सरसा तया।
दिव्यान् स राजा बुभुजे भोगान् भूतलवर्त्यपि ॥३०॥
इत्युक्त्वा विरते राज्ञि श्रुतोर्वश्यनुरागया।
सापि सोढवियोगत्वाद् व्रीडा वासवदत्तया ॥३१॥
तां दृष्ट्वा युक्त्युपालब्धां राज्ञा देवीं विलक्षिताम्।
अथाप्यामर्षितं भूपमाह यौगन्धरायणः ॥३२॥
न श्रुता यदि तद्राजन्कथेयं श्रूयतां त्वया।
अस्तीह तिमिरा नाम नगरी मन्दिरं श्रियः ॥३३॥
तस्यां विहितसेनाख्यः ख्यातिमानभवन्नृपः।
तस्य तेजोवतीत्यासीद् भार्या क्षितितलाप्सराः ॥३४॥
तस्याः कण्ठग्रहैकाग्रः स राजा स्पर्शलोलुपः।
न सेहे कञ्चुकेनापि क्षिप्रमाच्छुरितं वपुः ॥३५॥
कदाचित्तस्य राज्ञश्च जज्ञे जीर्णज्वरामयः।
वैद्या निवारयामासुस्तया देव्यास्य सङ्गमम् ॥३६॥

राजा ने कहा—'उर्वशी के सम्पर्क से जो कुछ मैं जानता हूँ उसे तुम्हारे गुरु तुम्बुरु भी नहीं जानते'। यह सुनकर तुम्बुरु ने क्रोध में भरकर राजा को शाप दिया कि जबतक कृष्ण की आराधना न करोगे तबतक उर्वशी से तुम्हारा वियोग हो जायगा ॥२२-२३॥

शाप को सुनकर राजा पुरूरवा ने अकाल में वज्रपात के समान यह शाप उर्वशी को कह सुनाया ॥२४॥

तदनन्तर अकस्मात् गन्धर्वों ने तुम्बुरु की आज्ञा से आकर गुप्त रूप से उर्वशी का अपहरण कर लिया ॥२५॥

पुरूरवा ने इसे शाप का फल समझ कर बदरिकाश्रम में जाकर भगवदाराधन प्रारम्भ किया ॥२६॥

गन्धर्व-लोक में राजा के वियोग से सन्तप्त उर्वशी निर्जीव-सी सोई-सी चित्रलिखित-सी एवं संज्ञाहीन होकर पड़ रही। वह शाप के अन्त की आशा पर अवलम्बित विरह से लम्बी रात्रियों में चकवी के समान तड़पती-सी रहती किन्तु प्राणों से विरक्त न हुई ॥२७-२८॥

इधर पुरूरवा ने भगवान् विष्णु को तप से प्रसन्न किया। भगवान् की कृपा से गन्धर्वों ने उसकी उर्वशी को छोड़ दिया ॥२९॥

शाप के अन्त में पुनः प्राप्त हुई उर्वशी के साथ राजा भूलोक में स्वर्गीय आनन्द का उपभोग करता था ॥३०॥

इस प्रकार कथा सुनाकर राजा के चुप होने पर उर्वशी की विरह-वेदना की सहन-शक्ति को जानकर वासवदत्ता मन-ही-मन लज्जित हुई ॥३१॥

राजा के द्वारा युक्तिपूर्वक उपालम्भ दी गई वासवदत्ता को कुछ लज्जित देखकर उसे आश्वासन देने के लिए यौगन्धरायण ने कहा ॥३२॥

विहितसेन और तेजोवती की कथा

हे राजन्! यदि तुमने यह कथा न सुनी हो तो सुनो। भू-लोक में लक्ष्मी के निवास भवन के समान तिमिरा नाम की समृद्ध नगरी है ॥३३॥

उसमें विहितसेन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी तेजस्वती भूतल की अप्सरा थी। उसके कण्ठालिंगन में संलग्न-हृदय वह राजा अपने शरीर पर कुर्ते का आवरण भी सहन नहीं करता था ॥३४-३५॥

एक बार राजा को जीर्ण ज्वर हुआ। वैद्यों ने उस रानी के साथ मिलने से मना कर दिया ॥३६॥

देवी सम्पर्कहीनस्य हृदये तस्य भूभृत।
औषधोपक्रमासाध्यो व्याधि समुदपद्यत ॥३७॥
भयाच्छोकाभिघाताद् वा राज्ञो रोग कदाचन।
स्फुटेदयमितिस्माहुर्भिषजो मन्त्रिण रह ॥३८॥
य पुरा पृष्ठपतिते न तत्रास महोरगे।
नान्त पुरप्रविष्टेऽपि परानीके च भूभुजे ॥३९॥
तस्यास्य राज्ञो जायेत भय सत्त्ववत कथम्।
नास्त्यत्रोपायबुद्धर्नि कि कुर्मस्तेन मन्त्रिण ॥४०॥
इति सञ्चिन्त्य समन्त्र्य ते देव्या सह मन्त्रिण।
तां प्रच्छाद्य तमूचुश्च मृता देवीति भूपतिम् ॥४१॥
तेन शोकातिभारेण मध्यमानस्य तस्य स।
पुस्फोट हृदयव्याधिर्विह्वलस्य महीभृत ॥४२॥
उत्तीर्णरोग-विपदे तस्मै राज्ञेऽथ मन्त्रिभि।
अर्पिता सा महादेवी सुखसपदिवापरा ॥४३॥
बहु मेने च सोऽप्येनां राजा प्राणप्रदामिमीम्।
न पुनर्मतिमानस्यै चुक्रोधाच्छादितात्मने ॥४४॥
हितैषिता हि या पत्यु सा देवीत्वस्य कारणम्।
प्रियकारित्वमात्रेण देवीशब्दो न लभ्यते ॥४५॥
सा मन्त्रिता च यद्राज्यकार्यभारैकचिन्तनम्।
चित्तानुवसन यत्तदुपजीवकलक्षणम् ॥४६॥
अतो मगधराजेन सन्धातु परिपन्थिना।
पृथ्वीविजयहतोस्ते यत्नोऽस्माभिरय कृत ॥४७॥
तेन देव! भवद्भक्तिसोढासह्यवियोगया।
दव्या नैवापराद्ध ते पूर्णाद्भुपकृति कृता ॥४८॥
एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य यथार्थ मुख्यमन्त्रिण।
मेनेऽपराद्धमात्मान वत्सराजस्तुतोष च ॥४९॥
उवाच चतज्जानेऽह देव्या मुख्यप्रयुक्तया।
आकारवत्या नीत्यव मम दत्तेव मेदिनी ॥५०॥
कि त्वविप्रणयादेतन्मयोक्तमसमञ्जसम्।
अनुरागाधमनसा विचारसहता कुत ॥५१॥

देवी के सम्पर्क से रहित उस राजा का रोग भीतर-ही-भीतर बढ़ने लगा जो औषधियों के उपचार से असाध्य हो गया। 'मन शोक या अभिघात से सम्भव है, राजा का रोग अच्छा हो सके'—ऐसा वैद्यों ने एकान्त में मन्त्रियों से कहा। मन्त्रियों ने सोचा कि राजा अत्यन्त धीरज वाला है, एक बार पीठ पर भीषण सर्प के गिरने पर और शत्रुओं के रनिवास तक घुस आने पर भी जो न डरा उसे किस प्रकार डराया जा सकता है। इसके लिए कोई उपाय नहीं सूझता। हमारी बुद्धि काम नहीं करती ॥३७-४० ॥

इस प्रकार सोच-विचार कर मन्त्रियों ने रानी के साथ परामर्श करके और उसे समक्ष से हटाकर राजा से कह दिया कि 'महारानी मर गई' ॥४१॥

इस भीषण शोक-संवाद से राजा का हृदय मथित और व्यथित हो गया और शोक-विह्वल राजा का हृदय-रोग नष्ट हो गया ॥४२॥

उस रोग-रूपी विपत्ति से छूट जाने पर मन्त्रियों ने दूसरी सुख-सम्पत्ति के समान महारानी को राजा के लिए भेंट कर दिया ॥४३॥

उस प्राणदायिनी रानी को राजा बहुत मानने लगा और बुद्धिमान् राजा ने छिपी हुई रानी पर क्रोध भी नहीं किया ॥४४॥

पति की हितैषिता ही महारानीपन है। केवल राजा को प्रसन्न रखना ही रानीपन नहीं है ॥४५॥

मन्त्रिपन भी यही है—राज-कार्य की समुचित चिन्ता रखना। राजा की 'हाँ-में-हाँ' मिलाना तो केवल नौकरी-मात्र है ॥४६॥

इसीलिए विरोधी मगधराज से सन्धि करने तथा समस्त पृथ्वी पर विजय करने के लिए इस रानी ने यह यत्न किया ॥४७॥

अपनी भारी शक्ति के कारण असह्य वियोग को सहन करनेवाली महारानी वासवदत्ता ने अपराध नहीं किया प्रत्युत उपकार ही किया ॥४८॥

प्रधान मन्त्री के वचन सुनकर वत्सराज ने रानी को अनपराधी समझा और इस पत्नी पर सत्कार प्रकट किया और कहा—आपने तो मुझे, मूर्तिमती नीति के समान महारानी ने मुझे सारी पृथ्वी प्रदान की ॥४९-५० ॥

मैंने जो कुछ कहा वह प्रेम की अधिकता के कारण कहा—प्रेम से अन्ध हृदयवाले लोगों में विचार करने की शक्ति कहाँ हो सकती है? ॥५१॥

इत्यादिभिः समालापैर्वत्सराजः स तद्दिनम्।
लब्धोपरागं देव्याश्च सममेवापनीतवान्॥५२॥
अन्येद्युर्मगधेशेन प्रेषितो ज्ञातवस्तुना।
दूतो वत्सेशमभ्येत्य सद्वाक्येन व्यजिज्ञपत्॥५३॥
मन्त्रिर्भिस्ते वयं तावद् वञ्चितास्तत्तथाधुना।
कुर्या शोकमयो येन जीवलोको भवेन्न नः॥५४॥
एतच्छ्रुत्वाथ सम्मान्य वत्सेशः प्रजिघाय तम्।
दूतं पद्मावतीपार्श्वे प्रतिसन्देशलब्धये॥५५॥
सापि वासवदत्तैकनाम्ना तत्सन्निधौ ददौ।
दूतस्य दर्शनं तस्य विनयो हि सतीव्रतम्॥५६॥
व्याजेन पुत्रि नीता त्वमन्यासक्तश्च ते पतिः।
इति शोकान्मया लब्धं कन्याजनकताफलम्॥५७॥
इत्युक्तपितृसन्देशा दूतं पद्मावती तदा।
अवाद भद्र! विज्ञाप्यस्तातोऽम्बा च गिरा मम॥५८॥
किं शोकेनार्यपुत्रो हि परमं सदयो मयि।
देवी वासवदत्ता च सस्नेहा भगिनीव मे॥५९॥
तत्तातेनार्यपुत्रस्य भाव्यं नव विकारिणा।
निजसत्यमिवारक्ष्यं मदीयं जीवितं यदि॥६०॥
इत्युक्ते प्रतिसन्देशे पद्मावत्या यथोचिते।
दूतं वासवदत्ता तं सत्कृत्य प्राहिणोत्ततः॥६१॥
दूते प्रतिगते तस्मिन् स्मरन्ती पितृवेश्मनः।
किञ्चित् पद्मावती तस्मादुत्कण्ठाविमना इव॥६२॥
ततस्तस्या विनोदाय युक्तो वासवदत्तया।
वसन्तकोऽन्तिकप्राप्तः कथामित्थमवर्णयत्॥६३॥

सोमप्रभागुहसेनयोः कथा

अस्ति पाटलिपुत्राख्यं पुरं पृथ्वीविभूषणम्।
तस्मिंश्च धर्मगुप्ताख्यो बभूवनो महावणिक्॥६४॥
तस्य चन्द्रप्रभाख्यासीद् भार्या सा च कदाचन।
सगर्भा सुषुवे कन्यां सर्वाङ्गसुन्दरीम्॥६५॥

इस प्रकार वत्सराज ने महारानी की लज्जा और उस दिन को एक साथ ही समाप्त कर दिया ॥५२॥

दूसरे ही दिन समाचार जानकर मगध-नरेश ने दूत भेजा। उसने वत्सराज से उसका सन्देश कहा कि तुम्हारे मन्त्रियों ने हमें धोखा दिया। इसलिए ऐसा न करना कि हमारा संसार शोक-मय हो जाय ॥५३ ५४॥

यह सुनकर वत्सराज ने उस दूत को पद्मावती के पास भेज दिया। वासवदत्ता के सम्मुख नम्रता प्रकट करती हुई पद्मावती ने भी उसी के पास जाकर सन्देश सुनाने के लिए उस दूत का दर्शन किया। नम्रता ही सती स्त्रियों का व्रत है ॥५५ ५६॥

दूत ने राजा का संदेश कहा—बेटी! छल-कपट से वत्सराज तुम्हें विवाह करके ले गये। तुम्हारा पति दूसरी स्त्री में अधिक अनुराग रखता है 'इस शोक से मैंने कन्या के पिता होने का फल पा लिया। इस प्रकार पिता का सन्देश सुनाते हुए दूत से पद्मावती ने कहा—'हे भद्र! मेरे वचन से पिता और माता को निवेदन करना कि आप लोग शोक वृथा करते हैं। आर्यपुत्र (मेरे पति) मुझ पर अत्यन्त दया और स्नेह रखते हैं। वासवदत्ता भी बहिन के समान मुझसे स्नेह रखती है। यदि अपने सत्य के समान मेरे जीवन की रक्षा चाहते हो तो तुम्हें आर्यपुत्र (वत्सराज) के प्रति वैमनस्य न रखना चाहिए ॥५७-६ ॥

इस प्रकार पद्मावती के द्वारा पिता के प्रति सन्देश दिये जाने पर, वासवदत्ता ने आतिथ्य-सत्कार करके दूत को विदा किया ॥६१॥

दूत के चले जाने पर पद्मावती अपने पितृगृह की बातों का स्मरण करके कुछ अनमनी-सी हो गई। उसे अनमनी देखकर वासवदत्ता के द्वारा बुलाये गए विदूषक वसन्तक ने वहाँ आकर कहानी कहना प्रारम्भ किया ॥६२ ६३॥

सोमप्रभा और गुहसेन की कथा

पृथ्वी का अलङ्कार पाटलिपुत्र नाम का एक नगर है। वहाँ पर धर्मगुप्त नाम का एक धनी व्यापारी वैश्य रहता था। ॥६४॥

उसकी चन्द्रप्रभा नाम की पत्नी एक बार गर्भवती हुई और उसने एक सर्वांग सुन्दरी कन्या उत्पन्न की ॥६५॥

सा कन्या जातमात्रैव कान्तिद्योतितवासका।
चक्रे सम्पक्तमालाप[1] मुत्थायोपविवेश च ॥६६॥
ततो विस्मितवित्रस्त स्त्रीजने जातवेश्मनि।
दृष्ट्वा स धर्मगुप्तोऽत्र सभयः स्वयमाययौ ॥६७॥
पप्रच्छ कन्यकां तां च प्रणतस्तत्क्षणं रहः।
भगवत्यवतीर्णासि का त्वं मम गृहेष्विति ॥६८॥
साप्यवादीत्त्वया नैव देया कस्यचिदप्यहम्।
गृहस्थिता शुभाहं ते पृष्टेनान्येन तात! किम् ॥६९॥
इत्युक्तः स तया भीतो धर्मगुप्तः स्वमन्दिरे।
गुप्तं तां स्थापयामास मृतेति ख्यापितां बहिः ॥७०॥
ततः सोमप्रभा नाम सा कन्या ववृधे क्रमात्।
मानुषेण शरीरेण रूपकान्त्या तु दिव्यया ॥७१॥
एकदा तु प्रमोदेन मधूत्सवविलोकिनीम्।
हर्म्यस्थां गुहचन्द्राख्यो वणिक्पुत्रो ददर्श ताम् ॥७२॥
स मनोभवभल्ल्येव सद्यो हृदयलग्नया।
तया मूर्च्छन्निव तदा कृच्छ्राच्च गृहमाययौ ॥७३॥
स्मरार्तिविधुरस्तत्र पित्रोरस्वास्थ्यकारणम्।
निर्बन्धपृष्टो वक्ति स्म स्ववयस्यमुखेन सः ॥७४॥
ततोऽस्य गुहसेनाख्यः पिता स्नेहेन याचितुम्।
तां कन्यां धर्मगुप्तस्य वणिजो भवनं ययौ ॥७५॥
तत्र तं याचमानं स गुहसेनं स्नुषार्थिनम्।
कन्या कुतो मे मूढेति धर्मगुप्तो निराकरोत् ॥७६॥
निह्नुतां तेन कन्यां तां मत्वा गत्वा गृहे सुतम्।
दृष्ट्वा स्मरज्वराक्रान्तं गुहसेनो व्यचिन्तयत् ॥७७॥
राजानं प्रार्थयाम्यत्र स हि मे पूर्वसेवितः।
दापयत्यपि पुत्राय मे कन्यां तां मुमूर्षवे ॥७८॥
इति निश्चित्य गत्वा च दत्त्वाऽस्मै रत्नमुत्तमम्।
नृपं विज्ञापयामास स वणिक्स्वाभिवाञ्छितम् ॥७९॥

---

१ न तयोक्तस्य बालकस्य भाषणं मनुष्यानुगम्।

अपनी अनुपम कान्ति से प्रसूति-गृह को आलोकित करती हुई वह कन्या उत्पन्न होते ही स्पष्ट वाणी में वार्तालाप करने लगी और उठने-बैठने लगी ॥६६॥

कन्या की इस स्थिति से चकित और व्याकुल स्त्रियों का कोलाहल सुनकर डरता हुआ धर्मगुप्त प्रसूतिगृह में आया। धर्मगुप्त ने आकर प्रणाम करने के अनन्तर उसी समय एकान्त में उस कन्या से पूछा—हे देवि ! तू कौन मेरे घर में अवतीर्ण हुई है ? ॥६७-६८॥

वह कन्या बोली—'तू मुझे किसी को देना नहीं मैं तेरे घर में रहकर ही कल्याण करती रहूँगी' ॥६९॥

यह सुनकर भयभीत बनिये ने उस कन्या को घर में ही छिपाकर रख दिया और बाहर उसके मर जाने की घोषणा कर दी। इस प्रकार सोमप्रभा नाम की वह कन्या मनुष्य-शरीर और दिव्य कान्ति के साथ क्रमशः घर में ही बढ़ने लगी ॥७० ॥

अपने घर की खिड़की से एक बार प्रसन्नता के कारण वसन्तोत्सव देखती हुई उस कन्या को गुहचन्द्र नामक वैश्यपुत्र ने देख लिया ॥७१॥

लगे हुए कामदेव के भाले की नोक के समान हृदय में धँसी हुई उसे देखकर वह मूर्छित-सा हो गया और अत्यन्त कठिनता से घर पहुँच सका ॥७२॥

काम-वेदना से अत्यन्त अस्वस्थ उस गुहचन्द्र ने अत्यन्त आग्रह करने पर, अपनी अस्वस्थता के कारण अपने मित्र के द्वारा माता-पिता को कहलाया ॥७३॥

तब उसका पिता पुत्र-स्नेह के कारण उस कन्या की मँगनी करने के लिए धर्मगुप्त के घर पर गया ॥७४॥

इस प्रकार अपनी बहू बनाने के लिए कन्या की प्रार्थना करते हुए गुहसेन को धर्मगुप्त ने यह कहकर निराश कर दिया कि मेरी वह कन्या कहाँ है ? वह तो होकर मर गई ॥७५॥

गुहसेन ने कन्या को घर में छिपाए हुए धर्मगुप्त को और कामज्वर से पीड़ित अपने पुत्र को देखकर मन में सोचा— मैं इस विषय में राजा से सहायता लेता हूँ उसे प्रेरित करता हूँ क्योंकि मैं बहुत राजा की सेवा कर चुका हूँ। राजा अवश्य ही मेरे मरणासन्न पुत्र को कन्या दिलवा देगा ॥७६-७८॥

ऐसा निश्चय करके और एक उत्तम रत्न राजा को भेंट करके उसने राजा से अपनी इच्छा प्रकट की ॥७९॥

नृपोऽपि प्रीतिमानस्य साहाय्ये नगराधिपम्।
ददौ तेन समं चासौ धर्मगुप्तगृहं ययौ ॥८०॥
रुरोध च गृहं तस्य धर्मगुप्तस्य तद्बलैः।
असुभिः कण्ठगैश्च च सर्वनाशविशङ्किनः ॥८१॥
ततः सोमप्रभा सा तं धर्मगुप्तमभाषत।
देहि मां तात माऽभूत्ते मन्निमित्तमुपद्रवः ॥८२॥
आरोपणीया शय्यायां नाहं भर्त्रा कदाचन।
ईदृक्तु वाचा नियमो ग्राह्यः सम्बन्धिना त्वया ॥८३॥
इत्युक्तः स तया पुत्र्या वाढं तां प्रत्यपद्यत।
धर्मगुप्तस्तथाभाष्य शय्यारोपणवर्जनम् ॥८४॥
गुहसेनोऽनुमेने च सान्तर्हासः स्वयं तत्।
विवाहो मम पुत्रस्य तावदस्त्विति चिन्तयन् ॥८५॥
अथादाय कृतोद्वाहां तां स सोमप्रभां वधूम्।
गुहसेनसुतः प्रायाद् गुहचन्द्रो निजं गृहम् ॥८६॥
तत्र चैनं पितावादीत् पुत्र ! शय्यामिमां वधूम्।
आरोपय स्वभार्यां हि कस्याः शय्या भविष्यति ॥८७॥
तच्छ्रुत्वा श्वशुरं तं सा वधूः सोमप्रभा क्रुधा।
विलोक्य भ्रामयामास यमाज्ञामिव तर्जनीम् ॥८८॥
तां दृष्ट्वैवाङ्गुलिं तस्याः स्नुषायास्तस्य तत्क्षणम्।
वणिजः प्रययुः प्राणा अन्येषामाययौ भयम् ॥८९॥
गुहचन्द्रोऽपि सम्प्राप्ते तस्मिन् पितरि पञ्चताम्।
मारी मम गृहं भार्या प्रविष्टेति व्यचिन्तयत् ॥९ ॥
ततस्तामनुपभुञ्जानो भार्यां तां गृहवर्तिनीम्।
सिषेवे गुहचन्द्रोऽसावासिधारमिव व्रतम् ॥९१॥
तद्दुःखदह्यमानोऽन्तर्विरक्तो भोगसम्पदि।
ब्राह्मणान् भोजयामास प्रत्यहं स कृतव्रतः ॥९२॥
तद्भार्यापि च सा तेभ्यो द्विजेभ्यो मौनधारिणी।
भुक्तवद्भ्यो ददौ नित्यं दक्षिणां विस्मयस्पृक् ॥९३॥
एकदा ब्राह्मणो वृद्धस्तामेको भोजनागतः।
ददर्श जगदाश्चर्यजननीं रूपसम्पदा ॥९४॥
सकौतुको द्विजोऽप्राक्षीद् गुहचन्द्रं रहस्तदा।
का ते भवति बालेयं त्वया मे कथ्यतामिति ॥९५॥

राजा का भी उसके प्रति स्नेह था अतः उसने नगर के कोतवाल को गुहसेन के साथ कर दिया और उसने उसके साथ धर्मगुप्त का घर घेर लिया तथा साथ ही सर्वनाश की शंका से भयभीत धर्मगुप्त के प्राणों ने उसके गले को घेर लिया ॥८०-८१॥

पिता की इस स्थिति को देखकर सोमप्रभा ने उससे कहा कि 'तुम मुझे दे दो मेरे लिए यह उपद्रव हो रहा है किन्तु यह शर्त रख्या दो कि मेरा पति मुझे शैया पर कभी न चढ़ावे'। ऐसी मौखिक शर्त तुम सबकी से करा लो ॥८२-८३॥

कन्या के इस प्रकार कहने पर धर्मगुप्त ने शर्त के साथ कन्या का देना स्वीकार कर लिया। गुहसेन ने मन-ही-मन हँसते हुए उसकी शर्त स्वीकार कर ली कि किसी प्रकार मेरे लड़के का विवाह तो हो फिर देखा जायगा ॥८४-८५॥

तदनन्तर गुहसेन का पुत्र गुहचन्द्र विवाह करके सोमप्रभा को लेकर अपने घर आ गया ॥८६॥

सायंकाल होने पर गुहसेन ने अपने पुत्र से कहा कि 'बेटा तुम इसे शैय्या पर चढ़ा दो। किसकी पत्नी शैया पर नहीं चढ़ती ॥८७॥

श्वसुर की ऐसी बात सुनकर सोमप्रभा ने क्रोध से अपनी तर्जनी अंगुली को यमराज की आज्ञा के समान घुमाया ॥८८॥

बहू की उस घूमती हुई उंगली को देखकर ससुर के प्राण उसी समय निकल गये। पिता के मरने पर गुहचन्द्र ने भी समझा कि यह स्त्री महामारी के रूप में मेरे घर आ गई है ॥८९ ९ ॥

अतः उसका सेवन न करके घर में रहती हुई भी उससे दूर रहकर मानो असिधारा-व्रत का पालन करता था ॥९१॥

उस दुःख से दुःखी गुहचन्द्र सांसारिक भोगों से विरक्त होकर प्रतिदिन व्रत करता और ब्राह्मणों को भोजन कराता था ॥९२॥

उसकी दिव्यरूप-धारिणी स्त्री भी मौनव्रत धारण करती हुई भोजन किये हुए ब्राह्मणों को दक्षिणा देती थी ॥९३॥

एक दिन भोजन के लिए आये हुए एक बूढ़े ब्राह्मण ने संसार को चकित करनेवाले अनुपम सौन्दर्यशालिनी उस स्त्री को देखा। और एकान्त में गुहचन्द्र से पूछा कि यह बालिका तुम्हारी कौन है? मुझे बताओ' ॥९४ ९५॥

विधन्यपृष्टः सोऽप्यस्य गुहचन्द्रो द्विजन्मने।
शशंस तद्गतं सर्वं वृत्तान्तं खिन्नमानसः॥९६॥
तद्बुद्ध्वा स ततस्तस्मै सानुकम्पो द्विजोत्तमः।
अग्नेराराधनं मन्त्रं ददावीप्सितसिद्धये॥९७॥
तेन मन्त्रेण तस्याश्च जपं रहसि कुर्वतः।
उदभूद् गुहचन्द्रस्य पुरुषो वह्निमध्यतः॥९८॥
स चाग्निर्द्विजरूपी तं जगाद चरणानतम्।
अद्याहं त्वद्गृहे भोक्ष्ये रात्रौ स्थास्यामि तत्र च॥९९॥
दर्शयित्वा च तत्त्वं ते साधयिष्यामि वाञ्छितम्।
इत्युक्त्वा गुहचन्द्रं स ब्राह्मणस्तद्गृहं ययौ॥१००॥
तत्रान्यविप्रवद् भुक्त्वा गुहचन्द्रान्तिके च सः।
सिषेवे शयनं रात्रौ याममात्रमतन्द्रितः॥१ १॥
तावच्च ससुप्तजनात् सा तस्मात्तस्य मन्दिरात्।
निययौ गुहचन्द्रस्य भार्या सोमप्रभा निशि॥१ २॥
तत्काल ब्राह्मण सोऽत्र गुहचन्द्रमबोधयत्।
एहि स्वभार्यावृत्तान्तं पश्यत्येनमुवाच च॥१ ३॥
योगेन भृङ्गरूप्यं च कृत्वा तस्यात्मनस्तथा।
निर्गत्यावसथात्तस्य भार्यां तां गृहनिर्गताम्॥१ ४॥
सा जगाम सुदूरं च सुन्दरी नगराद् बहिः।
गुहचन्द्रेण साकं च द्विजोऽप्यनुजगाम ताम्॥१ ५॥
ततस्तत्र महाभोगं सच्छायस्कन्धसुन्दरम्।
गुहचन्द्रो ददर्शासावेकं न्यग्रोधपादपम्॥१ ६॥
तस्याधस्ताच्च शुश्राव वीणावेणुरवान्वितम्।
उल्लसद्गीतमधुरं दिव्यं सङ्गीतकध्वनिम्॥१०७॥
स्कन्धदेशे च तस्यैकां स्वभार्यासदृशाकृतिम्।
अपश्यत् कन्यकां दिव्यामुपविष्टां महासने॥१०८॥
निकान्तिजितज्योत्स्नां शुभ्रचामरवीजिताम्।
इन्दोर्लावण्य-सर्वस्व-कोषस्येवाधिदेवताम्॥१ ९॥
अत्रवारुह्य वृक्षे च तस्या अर्धासने तथा।
उपविष्टां स्वभार्यां तां गुहचन्द्रो ददर्श सः॥११ ॥

आग्रहपूर्वक बार-बार पूछने पर गुहचन्द्र ने दुःखित मन से उस सोमप्रभा का सारा वृत्तान्त सुना दिया ॥९६॥

सारा समाचार सुनकर उस पर दयालु ब्राह्मण ने उसे कहा कि मैं तुम्हें अग्नि की उपासना का मन्त्र देता हूँ जिससे तुम्हारी कामना पूरी होगी ॥९७॥

इस प्रकार एकान्त में जप करते हुए गुहचन्द्र के सम्मुख अग्नि के मध्य से एक पुरुष निकला ॥९८॥

वह ब्राह्मण-रूपी अग्नि देवता चरण में पड़े हुए गुहचन्द्र से बोला— आज मैं तुम्हारे घर में भोजन करूँगा और रात में वहीं रहूँगा और तुम्हें तत्त्व बताकर तुम्हारा कार्य सिद्ध करूँगा ॥९९ १ ॥

इस प्रकार दूसरे ब्राह्मणों की भाँति गुहचन्द्र के यहाँ भोजन करके वह ब्राह्मण उसी के पास सावधानता से एक पहर तक सोया। कुछ समय के अनन्तर घर के सब लोगों के गाढ़ी निद्रा में सो जाने पर गुहचन्द्र की स्त्री सोमप्रभा रात में घर से निकली ॥१ १ १ २॥

उसी समय उस ब्राह्मण ने गुहचन्द्र को जगाया और कहा कि आओ अपनी स्त्री का हाल देखो'। योगशक्ति से उसे और अपने को भौंरे का रूप बनाकर उसके घर से निकली हुई उसकी स्त्री को दिखाया ॥१ ३-१ ४॥

वह सुन्दरी घर से निकलकर, नगर के बाहर दूर तक चली गई। वह ब्राह्मण भी गुहचन्द्र के साथ उसके पीछे-पीछे चला ॥१ ५॥

नगर के बाहर गुहचन्द्र ने विशाल विस्तृत तनोवाले तथा छायावाली शाखाओं से युक्त और निकलती हुई मधुर संगीत-ध्वनि से युक्त एक वट-वृक्ष को देखा। उस वृक्ष के नीचे उसने वीणा और बाँसुरी के मधुर स्वर से युक्त दिव्य संगीत-ध्वनि सुनी। उस वृक्ष की एक विशाल शाखा पर अपनी पत्नी (सोमप्रभा) के समान आकृतिवाली दिव्यकन्या का एक ऊँचे आसन पर बैठे हुए देखा। वह दिव्यकन्या अपनी उज्ज्वल कान्ति से चाँदनी का जीत रही थी और उसके दोनों ओर चवल चाँवर डुल रहे थे। वह कन्या मानो चन्द्रमा के लावण्य-कोष (खजाने) की अधिष्ठात्री देवी थी ॥१ ६-१ ०॥

गुहचन्द्र ने देखा कि उसकी पत्नी सोमप्रभा भी वृक्ष पर चढ़कर उसी प्रकार उसके साथ आसन पर आ बैठी ॥११ ॥

उस समय एक समान सौन्दर्यवाली उन दोनों कन्याओं को एक साथ बैठे देखकर गुहचन्द्र को वह रात तीन चन्द्र वाली दीखती थी॥१११॥

इस दृश्य को देखकर गुहचन्द्र सोचने लगा कि 'क्या यह स्वप्न है या भ्रम है अथवा यानों है। मेरे सन्मार्ग-वृक्ष की जो विद्वत्संगति-रूपी मंजरी है, उसी में यह उचित फल देने वाला पुष्पोद्गम हुआ है'। वह जब ऐसा सोच ही रहा था कि उन दोनों दिव्य कन्याओं ने अपने योग्य भोजन करके आसव (मद्य) का पान प्रारम्भ किया। 'बहिन ! आज मेरे घर में कोई अति तेजस्वी ब्राह्मण आया है। इस कारण मैं शंकित हो रही हूँ। अतः शीघ्र ही घर जाती हूँ'। ऐसा कहकर सोमप्रभा दूसरी से पूछकर वृक्ष पर से नीचे उतरी॥११२ ११६॥

यह सब कुछ देखते हुए भ्रमर के रूप में विद्यमान गुहचन्द्र और ब्राह्मण पहले ही घर पर आकर रात में पहले के समान सो गये॥११७-११८॥

तब उस ब्राह्मण ने स्वस्थतापूर्वक गुहचंद्र से कहा कि 'देखा तुमने यह तुम्हारी पत्नी देव-जाति की है मनुष्य-जाति की नहीं। उसकी दूसरी बहिन को भी तुमने देख लिया अतः दिव्य स्त्री मनुष्य के साथ संगम कैसे चाहेगी? इसलिए इसकी सिद्धि के लिए मैं तुम्हें द्वार पर लिखने योग्य मन्त्र बताता हूँ। उसका प्रभाव बढ़ानेवाले बाहरी उपचार (उपाय) भी तुम्हें बताता हूँ। जैसे आग अकेले ही जलती है और जलाने की शक्ति रखती है, यदि उसे वायु मिल जाय तो क्या कहना? उसी प्रकार अकेला मन्त्र ही सिद्धि प्रदान करता है यदि उसके साथ और उपाय भी किये जायें तो फिर क्या कहना है? ऐसा कह कर, गुहचन्द्र को मन्त्र बताकर और उसकी युक्ति समझाकर वह ब्राह्मण प्रातःकाल ही अन्तर्धान हो गया॥११९ १२३॥

गुहचन्द्र ने भी पत्नी के गृह-द्वार पर वह मन्त्र लिख दिया और सायंकाल ब्राह्मण के बताये उपाय का प्रयोग किया। तदनन्तर गुहचन्द्र अपनी पत्नी के देखते-ही-देखते खूब सजधज के साथ किसी वेश्या से वार्तालाप करने लगा॥१२४ १२५॥

उस वेश्या को देखकर मन्त्र के प्रभाव से मौन सोमप्रभा ने गुहचन्द्र को बुलाकर ईर्ष्या के साथ पूछा कि यह कौन है? गुहचन्द्र ने उससे झूठ ही कहा कि 'यह एक वेश्या है जो मुझसे प्रेम करती है और मैं भी इससे प्रेम करता हूँ अब उसी के घर जा रहा हूँ'॥१२६ १२७॥

ततः साचीकृतमुखा मुखेन चलितभ्रुणा ।
दृष्ट्वा निवार्य वामनं करेण समुवाच सा ॥१२८॥
दु ज्ञातमेतदर्थोऽस्य चपलस्तत्र च मा स्म गाः ।
किं तया मामुपेहि त्वमहं हि तव गेहिनी ॥१२९॥
इत्युक्तः पुलकोत्कम्पसक्षोभाकुलया तया ।
आविष्ट्येव तं मन्त्रद्रुतदुर्ग्रहयापि सः ॥१३०॥
प्रविश्य वासकं तस्यास्तयैव सममन्वभूत् ।
मर्त्योऽपि दिव्यसम्भोगमसंस्पृष्टं मनोरथैः ॥१३१॥
इत्थं तां प्राप्य सप्रेमां मन्त्रसिद्धिप्रसाधिताम् ।
त्यक्तदिव्यस्थितिं तस्थौ गृहयन्त्रो यथासुखम् ॥१३२॥
एवं यागप्रदानादिसुकृतैः शुभकर्मणाम् ।
दिव्याः शापच्युता नार्यस्तिष्ठन्ति गृहिणीपदे ॥१३३॥
देवद्विजसपर्या हि कामधेनुर्मता सताम् ।
किं हि न प्राप्यते तस्याः सपा सामाविवषना ॥१३४॥
युष्मत्तु त्वयि दिव्यानामत्युच्चपदजन्मनाम् ।
प्रपातमिव पुण्यानामथ पातककारणम् ॥१३५॥
इत्युक्त्वा राजपुत्र्याः स पुनराह वसन्तकः ।
किं चात्र मदहल्याया वृत्तं तच्छ्रूयतामिदम् ॥१३६॥

अहल्याकथा

पुराभूद् गौतमो नाम त्रिकालज्ञो महामुनिः ।
अहल्येति च तस्यासीद् भार्या रूपजिताप्सराः ॥१३७॥
एकदा रूपलुब्धस्तामिन्द्रः प्रार्थितवान् रहः ।
प्रभूणां हि विभूत्यन्धा धावत्यविषये मतिः ॥१३८॥
सानुमेने च तं मूढा वृषस्यन्ती शचीपतिम् ।
तच्च प्रभावतो बुद्ध्वा तत्रागाद् गौतमो मुनिः ॥१३९॥
मार्जारस्य च चक्रे च भयादिन्द्रोऽपि तत्क्षणम् ।
कः स्थितोऽत्रेति सोऽपृच्छदहल्यामथ गौतमः ॥१४०॥
एसो[1] ठिओ खु मज्जारो इत्यपभ्रष्टवक्रया ।
गिरा सत्यानुरोधिन्या सा तं प्रत्यब्रवीत्पतिम् ॥१४१॥

---

१ 'एषस्थित खलु मार्जार' इतिच्छाया।

तब भौंहें चढ़ाकर आँखें तिरछी करके और बायें हाथ से उसे रोक कर सोमप्रभा ने कहा—"हूँ अब मैंने समझा वेश्या के यहाँ जाने के लिए तुमने यह रूप पहना है, अब तुम वहाँ न जाओ मेरे पास आओ मैं तुम्हारी पत्नी हूँ" ॥१२८ १२९॥

रोमांच कम्पन और व्याकुलता से भरी एवं मन्मथरूपी दूत द्वारा प्रेरित उस सोमप्रभा के वचन सुनकर गुहचन्द्र उसके कमरे में जाकर मन से भी दुर्लभ दिव्य भोगकर सुख अनुभव करने लगा ॥१३० १३१॥

इस प्रकार मन्त्र-द्वारा सिद्ध की गई सप्रेम और दिव्य स्थिति को छोड़कर रहती हुई सोमप्रभा को उसे प्राप्त कर गुहचन्द्र सुखपूर्वक रहने लगा ॥१३२॥

इस प्रकार यज्ञ दान आदि शुभ कर्मों के प्रभाव से दिव्यता को प्राप्त कर, शाप-भ्रष्ट होने के कारण स्त्रियाँ गृहिणी का पद प्राप्त करती हैं ॥१३३॥

देवता और ब्राह्मणों की पूजा सज्जनों के लिए कामधेनु के समान है। उससे क्या प्राप्त नहीं होता? अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है। जिस प्रकार आँधी अत्यन्त ऊँचे दिव्य स्थान पर कम्प देनेवाले पुष्पों के अधःपात का कारण होती है, उसी प्रकार तुम्हारे लिए पाप-कर्म अधःपात के कारण होते हैं ॥१३४ १३५॥

राजकुमारी से इस प्रकार कहा गया विदूषक वसन्तक बोला—इस प्रसंग में मैंने अहल्या की कथा सुनी है सुनो ॥१३६॥

इन्द्र और अहल्या की कथा

प्राचीन युग में त्रिकालज्ञ गौतम नामक एक महामुनि थे। अप्सराओं से भी अधिक रूपवती अहल्या नाम की उनकी पत्नी थी ॥१३७॥

एक बार उसकी सुन्दरता पर मोहित हो इन्द्र ने उससे एकान्त की प्रार्थना की क्योंकि वैभव से अंधे राजाओं की बुद्धि अनुचित कार्यों की ओर दौड़ जाती है। इन्द्र को चाहती हुई उस मूर्खा ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तप के प्रभाव से इस बात को जानकर गौतम मुनि उसी समय वहाँ आ गये। उनके भय से इन्द्र ने उसी समय मार्जार (बिल्ली) का रूप धारण कर लिया तदनन्तर गौतम ने अहल्या से पूछा कि यहाँ कौन है? उसने अपभ्रंश भाषा में सत्य का ध्यान रखते हुए कहा यह 'मज्जार'[1] है। हँसते हुए मुनि ने कहा कि सचमुच यह तुम्हारा जार है ऐसा कहकर मुनि ने उसे शाप दिया परन्तु उसने सत्य का ध्यान रखते हुए छल से कहा था इसलिए मुनि ने उसके शाप का अन्त भी कहा ॥१३८ १४१॥

---

१ अपभ्रंश भाषा में मार्जार (बिल्ली) का रूप 'मज्जार' होता है और संस्कृत में उसका अर्थ; 'मत्—मेरा, जार—यार' यह अर्थ होता है। अतः अहल्याने अपभ्रंश भाषा में जो असत्य कहा था संस्कृत भाषा में वह सत्य होगया कि 'मेरा जार' है॥

सत्य त्वज्जार इत्युक्त्वा विहसन्स ततो मुनिः।
सत्यानुरोधक्लृप्तान्तं शाप तस्यामपातयत् ॥१४२॥
पापशील ! शिलाभाव भूरिकालमवाप्नुहि।
आ वनान्तरसञ्चारिराघवालोकनादिति ॥१४३॥
वराङ्गलुब्धस्याङ्ग[1] ते तत्सहस्र[2] भविष्यति।
दिव्य स्त्रीं विश्वकर्मा यां निर्मास्यति तिलोत्तमाम् ॥१४४॥
तां विलोक्य तदैवाक्ष्णां सहस्र भविता च ते।
इतीन्द्रमपि तत्काल शपति स्म स गौतमः ॥१४५॥
दत्तशापो यथाकाम तपसे स मुनिर्ययौ।
अहल्यापि शिलाभाव दारुण प्रत्यपद्यत ॥१४६॥
इन्द्रोऽप्यावृतसर्वाङ्गो वराङ्गैरभवत्तत।
अशील कस्य नाम स्यान्न खलीकारकारणम् ॥१४७॥
एव कुकर्म सर्वस्य फलत्यात्मनि सर्वदा।
यो यद् वपति बीज हि लभते सोऽपि तत्फलम् ॥१४८॥
तस्मात्परविरुद्धेषु नोत्सहन्ते महाशयाः।
एतद्वृत्तमसत्त्वानां विधिसिद्ध हि सद्व्रतम् ॥१४९॥
युवां पूर्वभगिन्यौ च देव्यौ शापच्युते उभे।
तद्वदन्योन्यहितकृन्निर्व्याज हृदय हि वाम् ॥१५ ॥
एतद्वसन्तकाच्छ्रुत्वा मिथो वासवदत्तया।
पद्मावत्या च सुतरामीर्ष्यालेशोऽप्यमुच्यत ॥१५१॥
देवी वासवदत्ता च कृत्वा साधारण पतिम्।
आत्मनीव प्रिय चक्रे पद्मावत्यां हितोन्मुखी ॥१५२॥
तस्या महानुभावत्व तत्ताप्रच्छमगधेश्वरः।
बुद्ध्वा पद्मावतीसृष्टदूतेभ्योऽपि तुतोष सः ॥१५३॥
अन्यद्युरथ वत्सेश मन्त्री यौगन्धरायणः।
उपेत्य सन्निधौ देव्याः स्थितेष्वन्येष्वभाषत ॥१५४॥
उद्योगायाधुना देव कौशाम्बी किं न गम्यते।
नाशङ्का मगधेशाच्च विद्यते वञ्चितादपि ॥१५५॥

---

१ वराङ्ग—स्त्रियः प्रजननेन्द्रियम्।
२ भग सहस्रमित्यर्थः।

हे दुराचारिणी! वन में घूमते हुए रामचन्द्र के दर्शन पर्यन्त तू पत्थर हो जा' साथ ही इन्द्र को भी शाप दिया कि जिस स्त्री-वराँग[1] के लोभ से तूने पाप किया है उस अंग के तेरे शरीर में हजारों चिह्न हो जायेंगे। इस प्रकार दोनों को शाप दे कर मुनि स्वेच्छा से तपस्या करने चले गये। अहल्या भी कठोर शिला बन गई, इन्द्र का शरीर, भी चारों ओर से स्त्री-योनि के चिह्नों से भर गया। दुश्चरित्रता किसकी दुर्गति का कारण नहीं होती॥१४२-१४७॥

इसी प्रकार मनुष्य जीवन में जो भी कुकर्म करता है, उसका फल उसे जीवन में ही भोगना है। जो जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है॥१४८॥

इसलिए उदार चित्तवाले व्यक्ति दूसरों के विरुद्ध कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते। उच्च कोटि के व्यक्तियों का यह स्वाभाविक नियम है॥१४९॥

तुम दोनों महारानियाँ पूर्वजन्म की दिव्य बहिनें हो किसी शाप के कारण मर्त्यलोक में आ गई हो उसी प्रकार तुम दोनों के हृदय परस्पर सन्देह-रहित एवं शुद्ध हैं॥१५ ॥

वसन्तक से इस प्रकार सुनकर दोनों रानियों के हृदय में जो थोड़ी ईर्ष्या की क्षीण रेखा-सी थी वह भी उन्होंने मिटा दी॥१५१॥

महारानी वासवदत्ता भी पति को दोनों के लिए समान मानकर पद्मावती को इसमें उसी प्रकार उचत रखती थी जैसे आत्महित में॥१५२॥

मन में कुछ शंकित मगध-नरेश ने भी रानी की महानुभावता का परिचय उसके भेजे हुए दूतों से जानकर सन्तोष प्रकट किया॥१५३॥

किसी दिन महामन्त्री यौगन्धरायण महारानियाँ तथा अन्य स्नेही मित्रों के साथ बैठे हुए वत्सराज के समीप जाकर बोला—'महाराज! अब कौशाम्बी क्यों नहीं चलते? अब तो ठगे हुए भी मगध-नरेश से किसी प्रकार की शंका नहीं है॥१५४-१५५॥

१.वर—उत्तम, अंग स्त्री की जननेन्द्रिय।

कन्यासम्बन्धनाम्ना हि साम्ना सम्यक्स भाषित।
विगृह्य च कथ जह्याज्जीवितादधिकां सुताम् ॥१५६॥
सत्य तस्यानुपाल्य च त्वया च स न वञ्चित।
मया स्वय कृत छ्रेतश्च च तस्यासुखावहम् ॥१५७॥
चारेभ्यश्च मया ज्ञात यथा विक्रुद्ध न स।
तदर्थमेव चास्माभि स्थित च दिवसानमून् ॥१५८॥
एव वदति निर्व्यूढकार्ये यौगन्धरायण।
मगधेश्वरसम्बन्धी दूतोऽत्र समुपाययौ ॥१५९॥
तत्क्षण स प्रविष्टोऽत्र प्रतीहारनिवेदित।
प्रणामान्तरमासीनो वत्सराज व्यजिज्ञपत् ॥१६ ॥
देवीपद्मावतीवृत्तसन्देशपरितोषिणा ।
मगधेशेन निर्दिष्टमिद देवस्य साम्प्रतम् ॥१६१॥
बहुना किं मया सर्वं ज्ञात प्रीतोऽस्मि च त्वयि।
तद्यदर्थोऽयमारम्भस्तत्कुरु प्रणता वयम् ॥१६२॥
एतद् वच स्वच्छ वत्सशोऽभिननन्द स।
यौगन्धरायणीयस्य पुष्प नयतरोरिव ॥१६३॥
तत पद्मावतीं राज्ञ्या समानाय्य सम तया।
त दत्तप्राभृत दूत स सम्मान्य व्यसर्जयत् ॥१६४॥
अथ चण्डमहासेनदूतोऽप्यत्र समाययौ।
प्रविश्य स यथावच्च राजान प्रणतोऽब्रवीत् ॥१६५॥
देव ! चण्डमहासेनभूपति कार्यतत्त्ववित्।
तव विज्ञात-वृत्तान्तो हृष्ट सन्दिष्टवानिदम् ॥१६६॥
प्राशस्त्य भवतस्तावदियतैवोपवर्णितम्।
यौगन्धरायणो यस्य मन्त्री किमधिकोक्तिभि ॥१६७॥
धन्या वासवदत्ता तु त्वद्भक्त्या तत्कृत तया।
येनास्माभि सतां मध्ये चिरमुन्नमित शिर ॥१६८॥
न च वासवदत्तातो भिन्ना पद्मावती मम।
तयोरेक हि हृदय तच्छीघ्र कुरुतोद्यमम् ॥१६९॥

कन्या-सम्बन्ध नामक सन्धि से मगधेश बाधित हो गया है अतः विरोध करके प्राणों से भी अधिक प्यारी पुत्री से कैसे हाथ धो लेगा॥१५६॥

उसे अपने सत्य का पालन करना चाहिए और तुम्हें भी। वास्तव में तुमने तो उसे ठगा नहीं। उसके लिए जो कुछ किया मैंने किया किन्तु वह भी उसके लिए दुःखकारक नहीं है॥१५७॥

इतने दिनों तक मैं गुप्तचरों से यह जानने का यत्न कर रहा था कि वह इस घटना के कारण विद्वेष-क्रिया तो नहीं कर रहा है। इसीलिए हम इतने दिनों तक यहाँ ठहरे भी रहे॥१५८॥

इस प्रकार उत्तरदायित्व की रक्षा करनेवाले यौगन्धरायण के कहते ही मगधराज का दूत वहाँ आ पहुँचा॥१५९॥

पहरेदार के द्वारा सूचना प्राप्त होने पर उसी समय अन्दर बुलाये गये और प्रणाम करके बैठे हुए मगध दूत ने निवेदन किया॥१६ ॥

रानी पद्मावती द्वारा भेजे गये जबाबी सन्देश से सन्तोष प्रकट करते हुए मगधेश ने महाराजा को यह कहा है— अधिक कहने की आवश्यकता नहीं मैंने सब कुछ जान लिया है, तुम पर प्रसन्न हूँ जिस कार्य के लिए यह सब प्रयत्न किया गया है उसे प्रारम्भ करो। मैं तो तुम्हारे लिए नम्र हूँ अर्थात् अब तुम्हारा साथी हूँ॥१६१ १६२॥

उदयन ने मगधेश के इस स्पष्ट निर्देश का अभिनन्दन किया। यह सन्देश मानों यौगन्धरायण के नीति-वृक्ष के लगे हुए पुष्प के समान था॥१६३॥

तब यौगन्धरायण ने उदयन के द्वारा पद्मावती का वहीं बुलाकर उसके साथ ही दूत को उपहार, पुरस्कार आदि के द्वारा सम्मान करके विदा किया॥१६४॥

इसके अनन्तर ही उज्जयिनी से चण्डमहासेन का भी दूत आ गया, नियमानुसार राजा के सामने पेश होकर और प्रणाम करके बोला–महाराज! तुम्हारी वास्तविक स्थिति को जानते हुए राजा चण्डमहासेन ने प्रसन्नता के साथ सन्देश दिया है कि तुम्हारा महत्त्व इसी से विदित होता है कि तुम्हारा मन्त्री यौगन्धरायण है। इसमें अधिक और क्या कहा जाय। वैसी वासवदत्ता भी धन्य है, जिसके कारण राजन्य-समाज में हमारा सिर ऊँचा हुआ है। मेरे लिए पद्मावती वासवदत्ता से दूसरी नहीं है। उन दोनों का हृदय एक ही है इसलिए शीघ्र अपने उद्योग का प्रारम्भ करो॥१६५ १६६॥

एतन्निजस्वसुरुदन्तवचो निशम्य
वत्सेश्वरस्य हृदयं सपदि प्रमोदः ।
देव्यां च कोऽपि ववृधे प्रणयप्रकर्षो
भूयांश्च मन्त्रिवृषभे प्रणयानुबन्धः ॥१७०॥

ततस्तं देवीभ्यां सममुचितसत्कारविधिना
कृतातिथ्यं दूतं सरभसमनाः प्रेष्य मुदितम् ।
विधास्यन्नुद्योगं त्वरितमथ संमन्त्र्य सचिवैः
स चक्रे कौशाम्बीं प्रति गमनबुद्धिं नरपतिः ॥१७१॥

इति महाकवि श्रीसोमदेवभट्ट-विरचिते कथासरित्सागरे
लावाणक लम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

चतुर्थस्तरङ्गः

वत्सराजस्य कौशाम्बींप्रति प्रत्यावर्तनम्

ततो लावाणकात्तस्मादन्येद्युः सचिवैः सह ।
वत्सराजः स कौशाम्बीं प्रतस्थे दयितान्वितः ॥१॥
प्रससार च सैन्यौघैस्तस्यापूरितभूतलैः ।
प्रलयसमयोद्वेलजलराशिजलैरिव ॥२॥
उपमा[1] नृपतेस्तस्य गजेन्द्रस्थस्य गच्छतः ।
भवेद्यदि रवियायाद् गगने सोदयाचलः ॥३॥
स सितेनातपत्रेण कृतच्छायो बभौ नृपः ।
जितार्कतेज प्रीतेन सेव्यमान इवेन्दुना ॥४॥
तेजस्विनं स्वकक्षाभिस्तं सर्वोपरिवर्तिनम् ।
सामन्ताः परितो भेमुर्ध्रुवं ग्रहगणा इव ॥५॥
पश्चात्करेणुकारूढे देव्यौ द्वे तस्य रेजतुः ।
श्रीभुवावनुरागेण साक्षादनुगते इव ॥६॥

---

१ अत्र अद्भुतोपमालंकारः। यथा च काव्यादर्शे—यदि स्युः ! भवेत किञ्चिद्
विभान्त कौपनम्। तत्तेमुखमिदं भातामित्यत्ताद्भुतोपमा—इति।

अपने श्वसुर के इस प्रकार के वचन सुनकर वत्सराज का हृदय आनन्द से भर गया महारानी वासवदत्ता पर प्रेम बढ़ गया और मन्त्री यौगन्धरायण पर भी स्नेह दृढ़ हो गया ॥१७ ॥

तदनन्तर दोनों महारानियों के साथ उस दूत को सम्मान-सहित विदा करके उत्साहित-हृदय वत्सराज ने मन्त्रियों से परामर्श करके दिग्विजय-यात्रा के प्रसंग में कौशाम्बी जाने का निश्चय किया ॥१७१॥

महाकवि श्री सोमदेव भट्ट-रचित कथा सरित्सागर के लावाणक लम्बक का
तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थतरंग

वत्सराज का कौशाम्बी में पुनरागमन

तदनन्तर एक दिन वत्सराज ने अपनी पत्नियों तथा मन्त्रियों के साथ लावाणक से कौशाम्बी की ओर प्रस्थान किया ॥१॥

असमय में उछलती हुई समुद्र की लहरों के समान कोलाहल से दिशाओं को गुंजित करती हुई उसकी सेनाओं ने साथ ही प्रस्थान किया ॥२॥

यदि सूर्य उदयाचल पर्वत के साथ आकाश में गमन करे तो हाथी पर बैठे हुए राजा उदयन की उपमा उसम दी जा सके[1] ॥३॥

सिर पर लगे हुए श्वेत छत्र से ऐसा मालूम होता था कि राजा ने सूर्य के तेज को जीत लिया था इसलिए प्रसन्न होकर चन्द्रमा मानो छत्र के व्याज से राजा की सेवा कर रहा था ॥४॥

उन सर्वोपरि विराजमान (हाथी पर बैठे हुए) तेजस्वी उदयन के चारों ओर सामन्तगण इस प्रकार चक्कर लगा रहे थे जैसे अन्य ग्रह ध्रुव-नक्षत्र के चारों ओर भ्रमण करते हैं ॥५॥

राजा के पीछे हथिनियों पर बैठी हुई दोनों रानियाँ लक्ष्मी और पृथ्वी के समान राजा का अनुगमन कर रही थीं ॥६॥

---

१ इसका नाम अद्भुतोपमा है। इसका उदाहरण दण्डी के काव्यादर्श में इस प्रकार है—हे मुग्ध ! यदि सुन्दर नेत्रों वाला कमल हो तो तेरे मुँह की शोभा धारण कर सके। काव्य प्रकाशकार ने इस अलंकार को अतिशयोक्ति का एकभेद माना है।

स्वङ्गतुरङ्गसङ्घातसुराग्राङ्कमसङ्गता ।
पथि तस्याभवद्भूमिरप्यमुक्तैव भूपते ॥७॥
एवं वत्सेश्वरो गच्छन् स्तूयमानः स बन्दिभिः ।
दिनैः कतिपयैः प्राप कौशाम्बीं विततोत्सवाम् ॥८॥
ध्वजरक्तांशुकच्छन्ना गवाक्षोत्फुल्ललोचना ।
प्रद्वारदर्शितोत्तुङ्गपूर्णकुम्भकुचद्वया ॥९॥
जनकोलाहलानन्दसल्लापा सौधहासिनी ।
सा प्रवासागते पत्यौ तत्काले शुशुभे पुरी ॥१०॥
देवीद्वयानुयातश्च स राजा प्रविवेश ताम् ।
पौरस्त्रीणां च कोऽप्यासीत्तत्र तद्दर्शनोत्सवः ॥११॥
अपूरि हारिहर्म्यस्थरामाननशतैर्नभः ।
देवीमुखजितस्येन्दोः सख्यै समागतैरिव ॥१२॥
वातायनगताश्चान्याः पश्यन्त्योऽनिमिषेक्षणाः ।
चक्रुः सकौतुकायातविमानस्थाप्सरोभ्रमम् ॥१३॥
काश्चिद् गवाक्षजालाग्रलग्नपक्ष्मललोचनाः ।
ससृजुरिव नाराचपञ्जराणि मनोभुवः ॥१४॥
एकस्याः सोत्सुका दृष्टिर्नृपालोकविकस्वरा ।
श्रुते पार्श्वमपश्यन्त्यास्तदाक्रष्टुमिवाययौ ॥१५॥
द्रुतागतायाः कस्याश्चिन्मुहुरुच्छ्वसितौ स्तनौ ।
कञ्चुकादिव निर्गन्तुमीषतुस्तद्दिदृक्षया ॥१६॥
अन्यस्याः सम्भ्रमच्छिन्नहारमुक्ताकणा बभुः ।
गलन्तो हृदयस्येव हर्षबाष्पाम्बुसीकराः[1] ॥१७॥
यद्यस्यामाचरेत् पापमग्निर्निर्वाणके तदा ।
प्रकाशकोऽप्यसावर्कस्तमो जगति पातयेत् ॥१८॥
इति वासवदत्तां च दृष्ट्वा स्मृत्वा च तत्तथा ।
वह्निप्रवादं सोत्कण्ठा इव काश्चिद् बभाषिरे ॥१९॥

---

१ हर्षाश्रव शीता शोकाश्रव उष्णा भवन्ति। तथा च कालिदासः—आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद। गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः॥ रघु १४-३।

मार्ग में ऊँचे-ऊँचे घोड़ों के खुरों के आघात से क्षत-विक्षत भूमि राजा के द्वारा उपभोग की हुई नायिका-सी मालूम होती थी ॥७॥

इस प्रकार वन्दिगणों से स्तुति किया जाता हुआ उदयन कुछ दिनों के अनन्तर कौशाम्बी पहुँच गया ॥८॥

जिस प्रकार पति के प्रवास से लौटने पर पत्नी प्रसन्नता का प्रदर्शन करती हुई, शोभित हो रही थी उसी प्रकार स्वामी के लौटकर आने पर कौशाम्बी-नगरी शोभित हो रही थी। नगरी नायिका ऊँचों में लगे हुए लाल वस्त्रों से ढँकी हुई थी मकानों के झरोखे मानों उसके खिले हुए नेत्र थे। पुष्प द्वारों पर रखे हुए पूर्ण कुम्भ नगरी के पीन स्तनों के समान दीखते थे। जन-समाज के कोलाहल के बहाने मानों नगरी स्वामी के आगमन पर प्रसन्नता-सूचक शब्द बोल रही थी। सुधा-धवल स्वच्छ भवन नगरी-नायिका के हास-स्वरूप मालूम होते थे ॥९॥

राजा के प्रवास से लौटने पर प्रसन्न कौशाम्बी नगरी ऐसी प्रसन्न थी जैसे पति के प्रवास से लौटने पर पत्नी प्रसन्न होती है ॥१ ॥

दोनों पत्नियों से अनुगमन किया जाता हुआ वह राजा नगरवासिनी स्त्रियों के लिए अत्यन्त उल्लास और प्रसन्नता का विषय रहा ॥११॥

सुन्दर भवनों से देखती हुई सहस्रों नारियों के मुखचन्द्रों से आकाश भर गया मानों वासवदत्ता के मुखचन्द्र से पराजित चन्द्रों की सेना उसकी सेवा के लिए एकत्र हो रही थी ॥१२॥

मकानों के झरोखों (खिड़कियों) से अपलक देखती हुई नागरिक रमणियाँ राजा को देखने के लिए स्वर्ग से उतरी हुई विमानस्थ अप्सराओं का भ्रम उत्पन्न करती थी॥ झरोखों के आगे लगी हुई सपलक आँखोंवाली कुछ स्त्रियाँ मानों कामदेव के पत्रयुक्त बाणों के जाल (कटाक्ष) छोड़ रही थी॥ किसी सुन्दरी की बड़ी आँखें राजा को देखकर प्रसन्नता से फैलकर न देखते हुए कानों को मानों समाचार देने के लिए उसके पास दौड़कर चली गई थीं ॥१३ १५॥

दौड़कर आई हुई किसी सुन्दरी के हाँफने से उछलते हुए स्तन राज-दर्शन के लिए मानों चोली से बाहर निकलना चाहते थे ॥१६॥

घबराहट से दौड़कर खिड़की पर जाती हुई किसी सुन्दरी का मुक्ताहार मानो हर्ष के आँसुओं की लड़ी-सा टूटकर बिखर गया[1]॥ कुछ महिलाएँ, लावाणक में वासवदत्ता के जल जाने के समाचार पर टीका-टिप्पणी करती हुई आपस में कहने लगीं कि यदि लावाणक में आग ने इसे सचमुच जला दिया होता तो सचमुच वह जगत् प्रकाशक अग्नि संसार को अन्धेरे में डाल देती ॥१७—१९॥

१.आलम्बानु शीतल और शोकाश्रु गरम होते हैं। देखिए कालिदास—आनन्दजः शोकजमश्रुबाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद। गङ्गा-सरय्वोर्जलमुष्ण तप्तं हिमाद्रिनिष्यन्द इवावतीर्ण।—रघुवंश १४-३।

दिष्ट्या म लज्जिता देवी सपत्न्या सखितुल्यया।
इति पद्मावतीं वीक्ष्य वयस्या जगदेऽन्यया ॥२०॥

नून हरमुरारिभ्या न दृष्ट रूपमेतयो।
किमन्यथा भजेतां तौ बहुमानमुमाश्रियौ ॥२१॥

इत्यूचुरपरास्तत्र दृष्ट्वा वध्वौ परस्परम्।
क्षिपन्त्य प्रमदोत्फुल्ललोचनेन्दीवरस्रज ॥२२॥

एव वत्सेश्वर कुर्वञ्जनतानयनोत्सवम्।
स्वमन्दिर सदेवीक प्राविशत्कृतमङ्गल ॥२३॥

प्रभाते याम्बसरसो याम्बेरिन्दूदये तथा।
तत्काल तस्य सा कापि शोभाभूद्राजवेश्मन ॥२४॥

क्षणादपूरि सामन्तमङ्गलोपायनैश्च तत्।
सूचयद्भिरिवाशेष-भूपालोपायनागमम् ॥२५॥

समान्य राजलोक च वत्सराज कृतोत्सव।
चित्त सर्वजनस्येव विवेशान्तःपुर तत ॥२६॥

देव्योर्मध्यस्थितस्तत्र रतिप्रीत्योरिव स्मर।
पानादिलीलया राजा दिनशेष निनाय स ॥२७॥

अपरेद्युश्च तस्यैको नृपस्यास्थानवर्तिन।
मन्त्रिणा सन्निधौ विप्रो द्वारि चक्रन्द कश्चन ॥२८॥

गोपालककथा

अब्रह्मण्यमटव्या म पापैर्गोपालकै प्रभो।
पुत्रस्य चरणोच्छेदो विहित कारण विना ॥२९॥

तच्छ्रुत्वा तत्क्षण द्वित्रानवष्टभ्यानाय्य भूपति।
गोपालकान्स पप्रच्छ ततस्तेऽप्येवमब्रुवन् ॥३०॥

देव! गोपालका भूत्वा क्रीडामो विजने वयम्।
तत्रैको देवसेनाख्यो मध्ये गोपालकोऽस्ति न ॥३१॥

एकदेशे च सोऽटव्यामुपविष्ट. शिलासने।
राजा युष्माकमस्तीति वदत्यस्माननुशास्ति च ॥३२॥

अस्म मध्ये च केनापि तस्याज्ञा न विलङ्घ्यते।
एव गोपालकोऽरण्ये राज्य स कुरुते प्रभो ॥३३॥

अद्य चैतस्य विप्रस्य तनयस्तेन वर्त्मना।
गच्छन् गोपालराजस्य प्रणाम तस्य नाकरोत् ॥३४॥

मा गास्त्वमप्रणम्येति राजादेशेन जल्पत।
अस्मान्विधूय सोऽप्यासीद्धासितोऽपि हसन्बटु ॥३५॥

पद्मावती को देखकर एक सहेली दूसरी से बोली कि सहेली के समान अपनी सौत से ब्यथित नहीं हुई।।२ ।।

सम्मुख शिव और कृष्ण ने इन दोनों (वासवदत्ता और पद्मावती) का रूप नहीं देखा यदि वे देख लेते तो पार्वती और लक्ष्मी को कदापि प्यार न करते।।२१।।

सुगन्धित और नवविकसित नीलकमल के समान कोमलवाली नगर रमणियाँ दोनों रानियों को देखकर इसी प्रकार की चर्चा करती रहीं।।२२।।

इस प्रकार जनता को आँखों को राजा रानियों के साथ मंगलयुक्त आनन्द देता हुआ उदयन मंगलाचरण करके अपने राज-मन्दिर में गया।।२३।।

राजा के भवन में प्रवेश करने पर उस भवन की शोभा ऐसी हुई जैसे प्रभात के समय कमल सरोवर की और चन्द्रोदय होने पर समुद्र की होती है।।२४।।

क्षण-भर में ही राजभवन सामन्त-नरेशों के मांगलिक उपहारों से ऐसा भर गया मानों पृथ्वी के समस्त राजाओं ने उपहार भेजे हों।।२५।।

राजा उदयन ने सभी समागत सामन्त-नरेशों का सम्मान करके जनता के चित्त के समान उस राज-भवन में प्रवेश किया।।२६।।

अपने भवन में रति और प्रीति के मध्य कामदेव के समान बैठे हुए, राजा उदयन ने पान-लीला (मद्यपान) में उस बचे हुए दिन को व्यतीत किया।।२७।।

ग्वालों की कथा

दूसरे दिन राज-सभा में मन्त्रियों के साथ बैठे हुए राजा के सभी द्वार पर एक ब्राह्मण चिल्लाने लगा। महाराज! महान् अनर्थ है कि जंगल में ग्वालों ने बिना कारण ही मेरे पुत्र के पैर काट डाले।।२८ २९।।

यह सुनकर राजा ने दो-तीन ग्वालों को पकड़वा कर बुलाया और पूछने पर वे बोले—महाराज! हमलोग गौएँ चराते और निर्जन वन में खेलते हैं हमलोगों के बीच देवसेन नामक एक ग्वाला है। वह जंगल के एक स्थान पर पत्थर की चट्टान पर बैठकर कहता है कि मैं तुम्हारा राजा हूँ और हमारा शासन भी करता है। हमलोगों में कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। इस प्रकार वह गोपालक जंगल में राज्य करता है। आज इस ब्राह्मण के लड़के ने उस रास्ते से जाते हुए उस ग्वाले राजा को प्रणाम नहीं किया। हमलोगों ने उससे कहा भी कि तुम बिना प्रणाम किये न जाओ फिर भी हँसते हुए उस बालक ने हमलोगों की बात न मानी।।३०-३५।।

तब उस व्याघ्रराज ने हमलोगों को आज्ञा दी कि इसके पैर काटकर इसे दंड दो। तब हमलोगों ने दौड़कर इसके पैर काट दिये। राजा की आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता है॥१६ १७॥

इस प्रकार ग्वालों के निवेदन करने पर उसका रहस्य समझकर बुद्धिमान् यौगन्धरायण ने राजा से एकान्त में कहा—महाराज! अवश्य ही उस स्थान में खजाना आदि है। उसी के प्रभाव से ग्वाला भी वहाँ राजा बनने की योग्यता है। अतः आप वहाँ चलें। मंत्री के ऐसा कहने पर राजा सेना और सामान के साथ वहाँ गया॥१८ ४ ॥

वत्सराज को खजाना और सिंहासन की प्राप्ति

जंगल में जाकर और भूमि की परीक्षा करके जब कर्मकर (मजदूर) भूमि को खोदने लगे तब उस गड्ढे के नीचे से एक पर्वताकार यक्ष निकला। और राजा से बोला कि 'राजन्! तुम्हारे दादा का रखा हुआ यह खजाना है। मैंने बहुत समय तक उसकी रक्षा की। अब तुम इसे सम्हालो'॥४१ ४२॥

वत्सराज को इस प्रकार कहकर और उसके दिये हुए उपहारों को स्वीकार कर यक्ष अन्तर्धान हो गया और राजा को उस गड्ढे में बहुत बड़ा खजाना मिला॥४३॥

राजा ने उसकी प्रसन्नता में उत्सव मनाया और उस धन को एवं बहुमूल्य रत्न-सिंहासन को लेकर तथा उन ग्वालों को समुचित दंड देकर वह अपनी राजधानी कौशाम्बी को लौट आया॥४४॥

उन्नति का समय आने पर अनेक प्रकार की शुभ बातें होती हैं। कौशाम्बी में राजा द्वारा लाकर राजभवन में रखे गये उस सिंहासन को नागरिक जनता देखने लगी। और बजते हुए बाद्य के समान सुन्दर आनन्द शब्द 'वाह्-वाह्' करने लगे॥४५॥

वह सिंहासन जड़ी हुई लाल मणियों की किरणों के प्रसार से मानों राजा द्वारा चारों दिशाओं में फैलनेवाले अभ्युदय की सूचना दे रहा था॥४६॥

चाँदी के तारों से पिरोये हुए मोतियों की शुभ्र लड़ियों की उज्ज्वल प्रभा से वह सिंहासन राजा के मन्त्रियों के अत्यन्त आश्चर्य पर मानों हँस रहा था॥४७॥

उस सिंहासन के प्रभाव को देखकर मन्त्रियों को राजा के दिग्विजय का निश्चय हो गया। अतः वे भी उत्सव मनाने लगे॥४८॥

---

१ सिंहासन बत्तीसी की कथा में भोजराज के विषय में इसी ढंग की कथा मिलती है। उसे भी उसी प्रकार सिंहासन की प्राप्ति हुई थी।

मन्त्रिणोऽप्युत्सव चकुर्जय निश्चित्य भूपते।
आनुकूल्यापातिकस्याणं कार्यसिद्धिं हि शंसति ॥४९॥

तत पताकाविद्युद्भिराकीर्णे गगनान्तरे।
ववर्ष राजजलद कनकं सोऽनुजीविषु ॥५०॥

उत्सवेन च नीतेऽस्मिन्दिने यौगन्धरायण।
चित्त जिज्ञासुरन्येद्युर्वत्सेश्वरमभाषत ॥५१॥

एतत्कुलक्रमायात महासिंहासनं त्वया।
यत्प्राप्त तत्समारुह्य देवालङ्क्रियतामिति ॥५२॥

विजित्य पृथ्वीमास्था यत्र मे प्रपितामहा।
तत्राजित्वा दिश सर्वा का ममारोहत प्रथा ॥५३॥

वत्सराजस्य दिग्विजीषा

जित्वैवेमा समुद्रान्ता पृथ्वीं पृथुविभूषणाम्।
अलङ्करोमि ! पूर्वेषा रत्नसिंहासनं महत् ॥५४॥

इत्यूचिवान्नरपतिर्नारुरोह स सम्प्रति।
समवत्यभिजातानामभिमानो ह्यकृत्रिम ॥५५॥

तत प्रीतस्तमाह स्म नृप यौगन्धरायण।
साधु देव! कुरु प्राच्या तर्हि पूर्वं जयोद्यमम् ॥५६॥

तच्छ्रुत्वैव प्रसङ्गात्त राजा पप्रच्छ मन्त्रिणम्।
स्थितास्वप्युत्तराद्यासु प्राक्प्राचीं यान्ति किं नृपा ॥५७॥

एतच्छ्रुत्वा जगादैनं पुनर्यौगन्धरायण।
स्फीतापि राजन्कौबेरी म्लेच्छसंसर्गगर्हिता ॥५८॥

अनर्थास्तमये हेतु पश्चिमापि न पूज्यते।
मासभ्रराक्षसा दुष्टा दक्षिणाप्यन्तकाधिता ॥५९॥

प्राच्यामुदेति सूर्यस्तु प्राचीमिन्द्रोऽधितिष्ठति।
जाह्नवीं याति च प्राचीं तेन प्राची प्रशस्यते ॥६०॥

देशेष्वपि च विन्ध्याद्रिहिमवन्मध्यवर्तिषु।
जाह्नवीजलपूतो य स प्रशस्यतमो मत ॥६१॥

तस्मात्प्राचीं प्रयान्त्याद्यौ राजानो मङ्गलैषिण।
निवसन्ति च देशेऽपि सुरसिन्धुसमाश्रित ॥६२॥

तदनन्तर सिंहासन और खजाना मिलने की प्रसन्नता में राजा रूपी मेघ पताका-रूपी बिजली-से चमकते हुए नगरी के आकाश से सेवकों पर सोने की वृष्टि करने लगे। (राजा ने खूब धन लुटाया) ॥४९-५ ॥

इस प्रकार उत्सव पुरस्कार-वितरण आदि में उस दिन के व्यतीत हो जाने पर दूसरे दिन राजा का मन टोहने (जाँचने) की इच्छा से यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज! तुमने अपनी कुल-परम्परा से आये हुए सिंहासन को प्राप्त किया है, अतः अब उसपर बैठो।॥५१-५२॥

वत्सराज का दिग्विजय के लिए विचार

राजा ने कहा—मेरे परदादा सारी पृथ्वी को जीतकर जिस सिंहासन पर बैठे थे उसपर बिना चारों दिशाओं की विजय किये बैठने से मेरा क्या महत्त्व है? ऐसा कहकर राजा सिंहासन पर नहीं बैठा कारण यह कि कुलीनों को आत्माभिमान स्वाभाविक होता है।॥५३-५५॥

तब प्रसन्न यौगन्धरायण ने कहा—'ठीक है, महाराज! तब पहले पूर्व दिशा में विजय का उद्यम कीजिएगा'॥५६॥

यह सुनकर राजा ने यौगन्धरायण से प्रसंगवश पूछा कि 'उत्तर आदि अनेक दिशाओं के रहते हुए राजा लोग पहले पूर्व दिशा की ओर क्यों जाते हैं? यौगन्धरायण ने कहा—'महाराज! उत्तर दिशा यद्यपि प्रशस्त है, किन्तु म्लेच्छों के संपर्क से दूषित है। सूर्य का अस्त होने के कारण पश्चिम को भी अच्छा नहीं माना जाता और दक्षिण दिशा यमराज की दिशा होने तथा उसमें राक्षसों का निवास होने के कारण उसे भी अच्छा नहीं समझा जाता॥५७-५९॥

पूर्व में सूर्य का उदय होता है। उसमें इन्द्र का निवास है। गंगा नदी भी पूर्व की ओर जाती है, इसलिए पूर्व दिशा पवित्र और प्रशस्त मानी जाती है॥६ ॥

भारतीय प्रदेशों में भी विन्ध्याचल और हिमाचल के मध्य का देश जो गंगा-जल से पवित्र है, सर्वश्रेष्ठ माना जाता है॥६१॥

इसलिए मंगलकांक्षी राजा लोग पहले पूर्व की ओर प्रयाण करते हैं और गंगा-तटवर्ती देशों में निवास भी करते हैं॥६२॥

पूर्वजैरपि हि प्राचीप्रक्रमेण जिता दिश।
गङ्गोपकण्ठे वासश्च विहितो हस्तिनापुरे ॥६३॥
शतानीकस्तु कौशाम्बीं रम्यभावेन शिश्रिये।
साम्राज्ये पौरुषाधीने पश्यन्देशमकारणम् ॥६४॥
इत्युक्त्वा विरते तत्र तस्मिन्यौगन्धरायणे।
राजा पुरुषकारैकबहुमानादभाषत ॥६५॥
सत्य न देशनियम साम्राज्यस्येह कारणम्।
सम्पत्सु हि सुसत्त्वानामेकहेतु स्वपौरुषम् ॥६६॥
एकोऽप्याश्रयहीनोऽपि लक्ष्मीं प्राप्नोति सत्त्ववान्।
श्रुता किं मात्र युष्माभि पुस सत्त्ववत कथा ॥६७॥
एवमुक्त्वा स वत्सेशः सचिवाभ्यर्थित शुभाम्।
विचित्रां सन्निधौ देव्योरिमामकथयत्कथाम् ॥६८॥

राज्ञ आदित्यसेनस्य तेजोवत्याश्च कथा

अस्ति भूतलविख्याता येयमुज्जयिनी पुरी।
तस्यामादित्यसेनाख्य पूर्वमासीन्महीपति ॥६९॥
आदित्यस्येव यस्याह न चस्खाल किल क्वचित्।
प्रतापमिलयस्यैकचक्रवर्तितया रथ ॥७०॥
भासयत्युच्छ्रिते व्योम यच्छत्रे तुहिनत्विषि।
न्यवर्तन्तातपत्राणि राज्ञामपगतोष्मणाम् ॥७१॥
समस्तभूतलाभोगसम्भवानां बभूव स।
भाजन सर्वरत्नानामम्बुराशिरिवाम्भसाम् ॥७२॥
स कदाचन कस्यापि हेतोर्यात्रागतो नृप।
ससैन्यो जाह्नवीकूलमासाद्यावस्थितोऽभवत् ॥७३॥
तत्र स गुणवर्माख्य कोऽप्याढ्यस्तत्प्रदेशज।
अभ्यगान्नृपमादाय कन्यारत्नमुपायनम् ॥७४॥
रत्न त्रिभुवनेऽप्येषा कन्योत्पन्ना गृह मम।
नान्यस्य दातु शक्या च देवो हि प्रभुरीदृश ॥७५॥
इत्यावेद्य प्रतीहारमुखेनाथ प्रविश्य स।
गुणवर्मा निजां तस्मै राज्ञे कन्यामदर्शयत् ॥७६॥
स तां तेजस्वतीं नाम दीप्तिद्योतित-दिङ्मुखाम्।
अनङ्गमङ्गलावास-रत्न-दीपशिखामिव ॥७७॥
पश्यन्स्नेहमयो राजा श्लिष्टस्तत्कान्तितेजसा।
कामाग्निनेव सन्तप्त स्विन्नो विगलति स्म स ॥७८॥

तुम्हारे पूर्वज पाण्डवों ने भी पूर्व की दिशा से ही विजय प्रारम्भ की थी और गंगातटवर्ती हस्तिनापुर को राजधानी बनाया था क्योंकि साम्राज्य पौरुष के अधीन है, उसमें किसी देश-विशेष का कोई महत्त्व नहीं है ॥६३-६४॥

यौगन्धरायण के इस प्रकार कहकर चुप हो जाने पर राजा उदयन पुरुषार्थ को बहुमान देने के कारण बोला—यह सत्य है कि देश-विशेष साम्राज्य का कारण नहीं होता। उच्च कोटि के व्यक्तियों के सम्पत्ति प्राप्त करने में अपना पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण है ॥६५-६६॥

किन्तु बलवान् उच्च व्यक्ति आश्रयहीन होकर भी लक्ष्मी प्राप्त करता है। क्या आपलोगों ने सत्त्ववान् (जीवटवाले) व्यक्ति की कथा नहीं सुनी है? ॥६७॥

इतना कहकर मन्त्रियों से प्रार्थित वत्सराज ने महारानियों के सामने ही कथा कहना प्रारम्भ किया ॥६८॥

वीर विदूषक ब्राह्मण की कथा

समस्त भूतल में प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की नगरी है। पूर्व समय में उसमें आदित्यसेन नाम का राजा राज्य करता था ॥६९॥

आदित्य के ही समान महाप्रतापी आदित्यसेन का रथ भी कभी कहीं रुकता न था ॥७०॥

चन्द्रमा के समान उस राजा का छत्र ऊँचा होने पर अन्य सभी राजाओं के छत्र दूर हो जाते थे क्योंकि उन (राजाओं) की गर्मी शान्त हो जाती थी। वह राजा भूतल में प्राप्त हो सकनेवाले सभी भोगों का वैसे ही आश्रय-स्थान था जैसे समस्त रत्नों का आश्रय समुद्र होता है। वह राजा किसी समय यात्रा के लिए निकला और सेना के साथ गंगा के तट पर जाकर ठहर गया। वहाँ ठहरे हुए राजा के समीप वहीं का रहनेवाला गुणवर्मा नाम का कोई धनी साहूकार कन्यारत्न को उपहार-स्वरूप लेकर राजद्वार में उपस्थित हुआ ॥७१-७४॥

वह साहूकार ने बोला—देव! यह तीनों लोकों की रत्न-स्वरूपा कन्या मेरे घर में उत्पन्न हुई है। इस मैं अन्य कहीं प्रदान नहीं कर सकता। आप ही इस उपहार के योग्य हैं। साहूकार से इस प्रकार निवेदन करकर गुणवर्मा ने राजा को अपनी कन्या दिखाई। मीनध्वज राजा उसके कामाग्नि के समान सौन्दर्य प्रभाव से पिघलकर पानी पानी हो गया ॥७५-७८॥

वह तेजस्वती नाम की कन्या अपनी उज्ज्वल कान्ति से दिशाओं को ऐसे प्रकाशित कर रही थी मानों कामदेव के मंगल-भवन की रत्नदीप-शिखा हो। आदित्यसेन ने महारानी-पद के योग्य उस कन्या को ग्रहण कर और प्रसन्न होकर गुणवर्मा को अपने समान राजा बना दिया ॥७९॥

राजा ने उसके साथ विवाह करके अपने को कृत-कृत्य समझा और उसे लेकर उज्जयिनी आया ॥८०॥

उज्जयिनी आकर राजा रात-दिन उसका मुँह निहारने में ही लगा रहता था। इसी कारण राज्य-सम्बन्धी बड़े-बड़े कामों को भी देखता न था ॥८१॥

तेजस्वती के मधुर वचनों से कीलित राजा के कानों को दुःखित प्रजा का चीत्कार-शब्द अपनी ओर आकृष्ट न कर सका ॥८२॥

बहुत काल से अन्तःपुर में गया हुआ राजा बाहर न निकला किन्तु उसकी इस स्थिति से शत्रुओं के हृदय का भय निकल गया ॥८३॥

कुछ समय के अनन्तर उस राजा से महादेवी में अति सुन्दरी कन्या और बुद्धि में विजय करने की इच्छा उत्पन्न हुई ॥८४॥

तदनन्तर राजा किसी विद्रोही सामन्त-राजा पर चढ़ाई करने के लिए उज्जयिनी से बाहर निकला। उसके साथ हथिनी पर चढ़ी हुई महारानी तेजस्वती भी सेना के देवता के समान चली। राजा हर्ष से पसीने के झरने बहाते हुए, जंगम पर्वत के समान शीघ्रगामी नाम के घोड़े पर सवार हुआ। कुछ दूर जाकर समतल भूमि मिलने पर राजा ने तेजस्वती को अपना कौशल दिखाने के लिए घोड़े को तेज कर दिया। जिस प्रकार धनुष से फेंका हुआ बाण सरसराकर वेग से जाता है, उसी प्रकार राजा की चाबुक से प्रेरित वह घोड़ा तीर के समान उड़ चला और लोगों की आँखों से ओझल हो गया ॥८५ २॥

इस कारण व्याकुल मन्त्रिगण इस घटना को अनिष्ट समझ कर सेनाओं के साथ उज्जयिनी लौट आये॥९३-९४॥

वहाँ आकर नगर-रक्षा के वे घेरे (परकोटे) के द्वारों को बन्द करके और उनकी रक्षा का प्रबन्ध करके प्रजा को आश्वासन देते रहे। उधर वह घोड़ा सरपट दौड़ता हुआ राजा को भीषण सिंहों से भरे हुए विन्ध्याचल के घोर जंगल में ले गया। दैवयोग से उस घोड़े के सहसा रुकने पर राजा को चारों ओर दृष्टि फैलाने पर, दिशाओं का ज्ञान न रहा और वह भूख से व्याकुल हो गया॥९५-९७॥

ऐसे समय कोई चारा न देखकर घोड़ों की नस्ल का जाननेवाला राजा घोड़े से नीचे उतर पड़ा और उसे प्रणाम करके बोला—हे ईश्वर! तुम घोड़ नहीं वास्तव में देवता हो तुम्हारे ऐसे उच्च जाति के घोड़े स्वामी-द्रोह नहीं करते। यहाँ पर तुम ही मेरी शरण (रक्षक) हो। इसलिए मुझे कल्याण-मार्ग से ले जाओ। पूर्वजन्म का स्मरण करता हुआ घोड़ा मन में पछताता हुआ राजा की बात मान गया। ऊँचे (कुलीन) घोड़े सचमुच देवता ही होते हैं॥९८-१ ॥

तब राजा के पुन सवार होने पर वह घोड़ा स्वच्छ शीतल जल से भरे हुए और मार्गों श्रम को दूर करनेवाले रास्ते से चला॥१ १॥

सायंकाल तक चार सौ कोस की दूरी पर उज्जयिनी के समीप उसने राजा को पहुँचा दिया॥१ २॥

सायंकाल होने पर जबकि अँधेरा फैलने लगा उज्जैन नगर के द्वार बन्द हो गय और उस घोड़े के वेग से अपने घोड़ों के पराजित हो जाने की लज्जा से मानो सूर्य के अस्ताचल की कन्दरा में छिप जाने पर वह घोड़ा नगरी के बाहर रात में भीषण दीखनेवाले श्मशान में राजा को ले गया। बुद्धिमान् घोड़ा राजा को ठहराने के लिए श्मशान के समीप एक ब्राह्मण के शून्य मठ में ले गया॥१ ३ १ ५॥

राजा ने उस मठ को रात बिताने के योग्य देखकर उसमें प्रवेश किया राजा का घोड़ा थक गया था॥१ ६॥

यह श्मशान का रक्षक सिपाही है या चोर है ऐसा कहकर उस मठवासी ब्राह्मण ने राजा को अन्दर आने से रोका॥१ ७॥

निर्ययुस्ते च ससक्तकण्ठा क्लोरनिष्ठुरा।
भयकाकस्यकोपाना गृह हि च्छान्दसा द्विजा ॥१०८॥

विदूषक-ब्राह्मणस्य कथा

एटस्सु तेषु तमको निजगाम ततो मठात्।
विदूषकाख्यो गुणवान्धुर्य सत्त्ववता द्विज ॥१०९॥
यो युवा बाहुशाली च तपसाराध्य पावकम्।
प्राप खड्गोत्तम सम्माध्यातमात्रोपगामिनम् ॥११० ॥
स दृष्ट्वा त निशि प्राप्त धीरो भव्याकृति नृपम्।
प्रच्छन्न कोऽपि दवोऽयमिति दध्यौ विदूषक ॥१११॥
विधूय विप्रांश्चान्यांस्तान्स सर्वानुचिताशय।
नृप प्रवेशयामास मठान्त प्रश्रयानत ॥११२॥
विश्रान्तस्य च दासीभिर्धूताध्वरजस क्षणात्।
आहार कल्पयामास राज्ञस्तस्य निजोचितम् ॥११३॥
स चापनीतपर्याण तदीय तुरगोत्तमम्।
यवसादिप्रदानन चकार विगतश्रमम् ॥११४॥
रक्षाम्यह शरीर ते तत्सुख स्वपिहि प्रभो।
इत्युवाच च त श्रान्तमास्तीर्णशयन नृपम् ॥११५॥
सुप्ते च तस्मिन्द्वारस्थो जागरामास स द्विज।
चिन्तितोपस्थिताग्नेयखड्गहस्तोऽखिलां निशाम् ॥११६॥
प्रातश्च तस्य नृपते प्रबुद्धस्यैव स स्वयम्।
अमुक्त एव तुरग सज्जीचक्र विदूषक ॥११७॥
राजापि स समामन्त्र्य समारुह्य च वाजिनम्।
विवेशोज्जयिनीं दूराद्दृष्टो हर्षाकुलर्जने ॥११८॥
प्रविष्टमभिजग्मुस्त सर्वा प्रकृतय क्षणात्।
तथागममजानन्दकसत्त्वरुकारवा ॥११९॥
आययौ राजभवन स राजा सचिवान्वित।
ययौ तेजस्वती देव्या हृदयाच्च महाज्वर ॥१२०॥
वाताहतोत्सवाक्षिप्तपताकांशुकपङ्क्तिभि ।
उत्सारिता इवाभूवन्नगर्यास्तत्क्षण शुच ॥१२१॥

इस प्रकार कहते-समझते वे लोभी और निष्ठुर ब्राह्मण मठ के बाहर निकल आये क्योंकि वेदपाठी ब्राह्मण स्वभावतः भय कठोरता और क्रोध के घर होते हैं॥१ ८॥

उनके चिल्लाने पर उस मठ से एक मृगी और यौवन (जीवट) वाला विदूषक नाम के ब्राह्मण ने अग्नि-देवता की आराधना से ऐसा उत्तम खड्ग प्राप्त किया था जो स्मरण करते ही स्वयं हाथ में आ जाता था॥१ ९-११ ॥

उस धीर-वीर ब्राह्मण ने भव्य स्वरूपवाले राजा को देखकर सोचा कि यह कोई देवता आया है॥१११॥

वह सब अनुचित विचार रखनेवाले उन मूर्ख ब्राह्मणों को दूर करके (हटाकर) नम्रता से स्वागत करता हुआ राजा को मठ में ले गया॥११२॥

मठ में आकर दासियों द्वारा रास्ते की धूल झाड़ने-पोंछने के अनन्तर उसने राजा के लिए उसके योग्य भोजन बनवाया। राजा के लिए भोजन आदि की व्यवस्था करके विदूषक ने स्वयं ही घोड़े की जीन-लगाम आदि खोलकर और उसे दाना-दाना आदि देकर उसकी थकावट दूर कर दी॥११३-११४॥

बिस्तर पर लेटे हुए राजा से उसने कहा—स्वामि! आप निश्चिन्त होकर सोइए, मैं रात-भर आपके शरीर की रक्षा करूँगा। ऐसा कहकर स्मरण-मात्र से आये हुए खड्ग को हाथ में लेकर वह सारी रात द्वार पर पहरा देता हुआ जागता रहा॥११५-११६॥

प्रात काल जैसे ही राजा उठा विदूषक ने स्वयं ही आकर घोड़े की जीन-लगाम कसकर उसे तैयार कर दिया॥११७॥

राजा भी विदूषक से मिलकर और घोड़े पर सवार होकर उज्जैन गया। वहाँ हर्ष भरे नागरिक आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने लगे॥११८॥

राजा के नगर मे प्रवेश करते ही उसके आगमन के आनन्द से विभोर नागरिक कोलाहल करते हुए राजा के समीप आये॥११९॥

तब वह राजा मन्त्रियो से घिरा हुआ राजभवन में गया और उधर रानी तेजस्वती के हृदय से महान् शोक-ज्वर निकल गया॥१२ ॥

राजा के पुनरागमन-महोत्सव के उपलक्ष्य में लगी हुई ध्वजाओं के वस्त्रों के वायु से हिलाये जाने के कारण मानों नगरी का सारा शोक झाड़-बहारकर दूर कर दिया गया॥१२१॥

अकरोदा ग्निनान्त च ददौ ताव महोत्सवम्।
यावन्नगरलोको भूस्थान सिन्दूरपिञ्जरः॥१२२॥
अन्यद्यु स समाविश्यसनो राजा विदूषकम्।
मठादानाययामास तस्मात् सर्वद्विज सह॥१२३॥
प्रख्याप्य रात्रिवृत्तान्त ददौ तस्मै च तत्क्षणम्।
विदूषकाय ग्रामाणां सहस्रमुपकारिणे॥१२४॥
पौरोहित्ये च चक्रे त प्रदत्तच्छत्रवाहनम्।
विप्र कृतज्ञो नृपति कौतुकालोकित जन॥१२५॥
एव सर्वैव सामन्ततुल्य सोऽभूद् विदूषक।
माया हि नाम जायत महत्सूपकृति कुत॥१२६॥
याश्च प्राप नृपाद् ग्रामोस्तान्सर्वान् स महाशय।
त मठाश्रयिभिर्विप्रै सम साधारणान् व्यधात्॥१२७॥
तस्थौ च सवमानस्त राजान च तदाश्रित।
भुञ्जानश्च सहान्यस्तद्ब्राह्मणग्रामसम्पदम्॥१२८॥
काले गच्छति चान्य से सर्वे प्राधान्यमिच्छव।
मद त गणयामासुर्द्विजा धनमदोद्धता॥१२९॥
विभिन्नै सप्त सस्थाक रैकस्थानाश्रयमिव।
सङ्कुर्यातिरबाध्यन्त ग्रामा दुष्टैर्ग्रहैरिव॥१३ ॥
उच्छृङ्खलपु तेष्वासीदुदासीनो विदूषक।
अल्पभावपु धीराणामवज्ञव हि शोभते॥१३१॥
एकदा कलहासक्तान् दृष्ट्वा तानभ्युपाययौ।
चक्रिचक्रधरो नाम विप्र प्रकृतिनिष्ठुर॥१३२॥
परार्थस्यायवादपु काणोऽप्यम्लानदर्शन।
कुब्जोऽपि वाचि सुस्पष्टो विप्रस्तानित्यभाषत॥१३३॥
प्राप्ता भिक्षाचरर्भूत्वा भवद्भि श्रीरिय शठा।
तदाशयम कि ग्रामानन्योन्यमसहिष्णव॥१३४॥
विदूषकस्य दापोऽय यन यूयमुपक्षिता।
तदस ङ्गिघमचिरात्पुनर्भिक्षां भ्रमिष्यथ॥१३५॥

---

१ सप्तभिर्मुहैरेक स्थान स्थिते प्रकमो भवती ति सिद्धान्तविदोमतम्।

उस दिन तबतक (सारा दिन) महारानी उत्सव में मग्न रही जबतक सूर्य के साथ सारी नागरिक जनता सिन्दूर से लाल न हो गई, अर्थात् सायंकाल तक आमोद प्रमोद के उत्सव चलते रहे॥१२२॥

दूसरे दिन राजा आदित्यसेन ने उस मठ से विदूषक व साथ उसमें रहनेवाले सभी ब्राह्मणों को बुलवाया॥१२३॥

सभा में रात का समस्त वृत्तान्त सुनाकर राजा ने उपकार करनेवाले विदूषक को एक हजार गाँव पुरस्कार (इनाम) में दिये। और उस उस कृतज्ञ राजा ने अपने पुरोहितों में नियुक्त करके लगाने के लिए छत्र और सवारी के लिए घोड़ा दिया। सभी सभासद् राजा की इस उदारता को आश्चर्य से देखते रहे॥१२४-१२५॥

इस प्रकार वह ब्राह्मण उसी समय राजा के सामन्तों के समान हो गया। सच है, महान् व्यक्तियों का उपकार करना निष्फल नहीं होता॥१२६॥

उस महान् हृदय विदूषक ने भी राजा से पाये हुए गाँवों को मठ में रहनेवाले सभी ब्राह्मणों में समान भाव से बाँट दिया। और स्वयं राजा का आश्रित होकर उसकी सेवा में रहने लगा एवं उन सभी ब्राह्मणों के साथ गाँव की आय द्वारा समान रूप से जीवन-निर्वाह करने लगा॥१२७-१२८॥

कुछ समय के अनन्तर बिना परिश्रम प्राप्त राजवृत्ति की आय से मदोन्मत्त वे सभी मठ-वासी ब्राह्मण अपनी-अपनी प्रधानता चाहते हुए परस्पर झगड़ने लगे। उसमें दुष्ट ग्रह के समान सात ब्राह्मण एक गुट बनाकर गाँवों के कार्यों में बाधा पहुँचाने लगे। उन ब्राह्मणों की इस प्रकार उच्छृंखलता करने पर विदूषक उदासीन (तटस्थ) हो गया। धैर्यशाली व्यक्तियों के लिए छोटी बातों में तटस्थता ही अच्छी रहती है॥१२९-१३१॥

इस प्रकार जब वे आपस में झगड़ रहे थे तब चक्रधर नाम का एक स्पष्ट वक्ता ब्राह्मण मठ में आया। वह (ब्राह्मण) काना होने पर भी दूसरों के न्याय के लिए स्पष्ट दृष्टि था और कुबड़ा होने पर भी वाणी में स्पष्ट वक्ता था॥१३२-१३३॥

वह उनसे बोला— अरे मूर्खों! तुम भिक्षावृत्ति से किसी तरह पर लक्ष्मी (सम्पत्ति) प्राप्त की है उस आपस में लड़कर क्यों नष्ट कर रहे हो। यदि इस प्रकार लड़ोगे तो फिर भीख माँगोगे॥१३४-१३५॥

---

१. सृष्टि के प्रारम्भ में सात ग्रह एक राशि में थे और प्रलयकाल में भी वे एक राशि में एकत्र होंगे—ऐसा ज्योतिष-सिद्धान्तवादियों का मत है। ज्योतिष-सिद्धान्त में अनेक ग्रहों का एक राशि पर एकत्र होना अनिष्टकारी होता है।

वर हि दत्तायसैव बुद्धिस्थानमनायकम् ।
न तु विप्लुतसर्वार्थं विभिन्नबहुनायकम् ॥१३६॥
तदेक नायक धीर कुरुध्व वचसा मम ।
स्थिरया यदि कृत्य वो धुरक्षितया धिया ॥१३७॥
तच्छ्रुत्वा नायकत्व ते सर्वेऽप्यच्छन्यदात्मन ।
तदा विचिन्त्य मूढांस्तान्पुनश्चक्रधरोऽब्रवीत् ॥१३८॥
सत्त्वोत्कर्षशालिना तर्हि समय वो वदाम्यहम् ।
इत श्मशाने शूलायां त्रयश्चौरा निषूदिता ॥१३९॥
नासास्तेषां निशि च्छित्त्वा य सुसत्त्व इहानयत् ।
स युष्माक प्रधान स्याद् धीरो हि स्वाम्यमर्हति ॥१४ ॥
इति चक्रधरेणोक्तान् विप्रांस्तानन्तिकस्थित ।
कुरुध्वमेतत् को दोष इत्युवाच विदूषक ॥१४१॥
ततस्तमस्यावदन्विप्रा नैतत्कर्त्तुं क्षमा वयम् ।
यो वा शक्त स कुरुतां समये च वय स्थिता ॥१४२॥
ततो विदूषकोऽवादीदहमेतत्करोमि भो ।
आनयामि निशि च्छित्त्वा नासास्तेषां श्मशानत ॥१४३॥
ततस्तद्दुष्कर मत्वा तेऽपि मूढास्तमब्रुवन् ।
एव कृते त्वमस्माक स्वामी नियम एष न ॥१४४॥
इत्येवास्थाप्य समय प्राप्तायां रजनौ च तान् ।
आमन्त्र्य विप्रान् प्रययौ श्मशान स विदूषक ॥१४५॥
प्रविवेश च तद्वीरो निज कर्मेव भीषणम् ।
चिन्तितोपस्थिताग्नेयकृपाणैकपरिग्रह ॥१४६॥
डाकिनीनादसवृद्धगृध्रवायस-वाशिते ।
उल्कामुखमुखोल्काग्निविस्फारितचितानले ॥१४७॥
ददर्श तत्र मध्ये च स तान् शूलाधिरोपितान् ।
पुरुषान्नासिकाच्छेदभियेवोर्ध्वीकृताननान् ॥१४८॥
यावच्च निकट तेषां प्राप तावत्त्रयोऽपि ते ।
वेतालाधिष्ठितास्तस्मिन्प्रहरन्ति स्म मुष्टिभि ॥१४९॥
निष्कम्प एव खड्गेन सोऽपि प्रतिजघान तान् ।
न शिक्षित प्रयत्नो हि धीराणां हृदये भिया ॥१५०॥

बिना नेता का और भाग्य के आधार पर छोड़ा हुआ एक स्थान अच्छा है किन्तु सर्वनाश करनेवाले बहुत नेताओं का होना अच्छा नहीं ॥१३६॥

यह विदूषक का दोष है कि उसने तुमलोगों की उपेक्षा करके तुम्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया। इसलिए मेरे कहने से किसी एक को नेता बना लो इसके द्वारा तुम्हारी सम्पत्ति स्थिर रहेगी और बढ़ती रहेगी। चक्रधर के एसा कहने पर वे सभी अपने-अपने को नेता मानने के लिए तैयार हुए। तब चक्रधर ने उन्हें महामूर्ख समझ कर कहा—आपस में झगड़ते हुए तुमलोगों के लिए मैं शर्त निश्चित करता हूँ यहाँ के श्मशान में फाँसी से मारे गये तीन चोर झूल रहे हैं॥१३७-१३९॥

उन तीनों की नाक काटकर जो वीर ले आये वह तुममें प्रधान (नेता) हो सकता क्योंकि वीर ही स्वामी बन सकता है'॥१४ ॥

चक्रधर द्वारा इस प्रकार कहे गये ब्राह्मणों को विदूषक ने कहा—'इस शर्त को मान लो क्या हानि है'? ॥१४१॥

इस कार्य के करने में असमर्थ वे बोले—'हम यह नहीं कर सकते जो समर्थ हो वह करे, हम शर्त मानने को तैयार हैं। तब विदूषक बोला—'मैं यह कार्य करता हूँ। रात को श्मशान से उनकी नाक काटकर लाता हूँ'॥१४२-१४३॥

तब वे मूर्ख उससे बोल उठे—'ऐसा करने पर तुम हमारे नेता बनोगे—इस निश्चय पर हम दृढ़ हैं'॥१४४॥

इस प्रकार शर्त लगाकर रात आने पर उन ब्राह्मणों से कहकर विदूषक श्मशान में गया॥१४५॥

स्मरण करते ही उपस्थित होनेवाले खड्ग को हाथ में लेकर अपने काम के समान भीषण श्मशान में गया॥१४६॥

डाकिनी साकिनी आदि के शब्दों से युक्त गीध और कौआ के शब्दों-से भीषण मुँह से आग उगलते हुए गीदड़ों की अग्नि-ज्वाला से फैलती हुई चिता-अग्नि से कराल उस श्मशान के बीच उसने शूली पर चढ़े हुए, नाक कटने के भय से मानों ऊपर की ओर मुँह किये हुए, तीन चोरों को देखा॥१४७—१४८॥

विदूषक जब उनके समीप पहुँचा तब बैतालों से आक्रान्त वे तीनों मुर्दे उसे मुक्कों से मारने लगे॥१४९॥

फिर विदूषक ने भी उन्हें खड्ग से मारा। यह सच है कि वीर पुरुषों के हृदय भय से विचलित ही नहीं होते॥१५ ॥

तलवार की मार से बैताल मुर्दों को छोड़कर भाग गये बैतालों का आवेश हट जाने पर विदूषक ने उन तीनों चोरों की नाक काट ली और उन्हें एक वस्त्र-खंड में बाँध लिया ॥१५१॥

वहाँ से लौटते हुए विदूषक ने श्मशान में मुर्दे पर बैठकर जप करते हुए एक प्रव्राजक (साधु) को देखा ॥१५२॥

विदूषक उसकी चेष्टा और कार्यक्रम देखने की लालसा से उसकी पीठ की ओर जाकर छिप गया ॥१५३॥

कुछ ही समय के अनन्तर मुर्दे ने साधक के नीचे फूत्कार किया उसके मुँह से अग्नि की ज्वाला और नाभि से सरसों निकले ॥१५४॥

साधक संन्यासी ने सरसों के उन दानों को हाथ में ले लिया और उठकर मुर्दे को थप्पड़ मारा ॥१५५॥

तदनन्तर बैताल से आविष्ट वह मुर्दा उठा और वह साधक उसके ही कन्धे पर बैठ गया। उसपर चढ़कर वह सहसा चलने लगा तो कौतूहलवश विदूषक भी छिपे-छिपे उसकी पीठ के पीछे चला। कुछ ही दूर जाने पर साधु, दुर्गा की मूर्तिवाले शून्य मन्दिर के अन्तगृह में गया और वह बैतालवाला शव भूमि पर गिर गया ॥१५६ १५९॥

विदूषक भी युक्ति से छिपकर उसकी गति-विधि देखता रहा। साधक ने देवी की पूजा करके प्रार्थना की—हे देवि यदि तुम मुझपर प्रसन्न हो तो मुझे मेरा इच्छित वर प्रदान करो। नहीं तो मैं अपना बलिदान करके तुम्हें प्रसन्न करता हूँ ॥१६०-१६१॥

उस कठोर अनन्यभावना से भवित उस साधक को उस गर्भगृह से निकली हुई वाणी ने कहा—'राजा आदित्यसेन की लड़की को लाकर उसका बलिदान करो तो तुम अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकते हो' ॥१६२ १६३॥

यह सुनकर उस साधक ने बाहर निकल कर उस मुर्दे को फिर थप्पड़ लगाकर उठाया और वह कूक करने लगा ॥१६४॥

तस्य च स्कन्धमारुह्य निर्ययावग्रामतोऽधिपः।
आनतु राजपुत्रीं तामुत्पत्य नभसा ययौ ॥१६५॥
विदूषकोऽपि तत्सर्वं दृष्ट्वा तत्र व्यचिन्तयत्।
कथं राजसुतानेन ह्रियते मयि जीवति ॥१६६॥
इहैव तावत्तिष्ठामि यावदायात्यसौ शठः।
इत्यालोच्य स तत्रैव तस्थौ छन्नो विदूषकः ॥१६७॥
प्रव्राजकश्च गत्वैव वातायनपथेन सः।
प्रविश्यान्तःपुरं प्राप सुप्तां निशि नृपात्मजाम् ॥१६८॥
आययौ च गृहीत्वा तां गगनेन समीमयः।
कान्तिप्रकाशितदिशां राहुः शशिकलामिव ॥१६९॥
हा तात हाम्बेति च तां क्रन्दन्तीं कन्यकां वहन्।
तत्रैव देवीभवने सोऽन्तरिक्षादवातरत् ॥१७०॥
प्रविवेश च तत्कालं बेतालं प्रविमुच्य सः।
कन्यारत्नं तदादाय देवीगर्भगृहान्तरम् ॥१७१॥
तत्र यावन्निहन्तुं तां राजपुत्रीमियेष सः।
तावदाकृष्टखड्गोऽत्र प्रविवेश विदूषकः ॥१७२॥
आः पाप! मालतीपुष्पमश्मना हन्तुमीहसे।
यदस्यामाकृतौ शस्त्रं व्यापारयितुमिच्छति ॥१७३॥
इत्युक्त्वाकृष्य केशेषु शिरस्तस्य विवस्वतः।
प्रव्राजकस्य चिच्छेद खड्गेन स विदूषकः ॥१७४॥
आश्वासयामास च तां राजपुत्रीं भयाकुलाम्।
प्रविशन्तीमिवाङ्गानि किञ्चित्प्रत्यभिजानतीम् ॥१७५॥
कथमन्तःपुरं राज्ञो राजपुत्रीमिमामितः।
नययमिति तत्कालमसौ धीरो व्यचिन्तयत् ॥१७६॥
भो विदूषक! शृण्वेतद्योऽयं प्रव्राट् त्वया हतः।
महानेतस्य बेतालः सिद्धोऽभूत्सर्षपास्तथा ॥१७७॥
ततोऽस्य पृथ्वीराज्ये च वाञ्छा राजात्मजासु च।
उदपद्यत तेनायमेवं मूढोऽद्यवञ्चितः ॥१७८॥
तद्गृहाणसवीर्यांस्त्वं सर्षपान्वीर यन् ते।
इमामेकां निशामद्य भविष्यत्यम्बरे गतिः ॥१७९॥

मुँह से आग की ज्वाला उगलते हुए उसके कन्धे पर बैठकर साधक प्रव्राजक राजकुमारी को लाने के लिए आकाश-मार्ग से चला ॥१६५॥

विदूषक यह सारी घटना देखकर सोचने लगा कि मेरे जीते-जी यह राजकुमारी का वध कैसे करेगा? ॥१६६॥

इसलिए मैं तबतक यहीं ठहरता हूँ जबतक वह नीच आता है। ऐसा सोचकर वह वहीं छिपा रहा ॥१६७॥

इस प्रकार आकाश में उड़ता हुआ प्रव्राजक खिड़की के रास्ते से राजकुमारी के भवन में जा पहुँचा ॥१६८॥

उसने उसे इस प्रकार पकड़ा जिस प्रकार अंधकारपूर्ण आकाश में कान्ति फैलानेवाली चन्द्रिका को राहु पकड़ता है ॥१६९॥

इतने में ही अरे बाप! अरी मां! इस प्रकार चिल्लाती हुई राजकन्या को लिये हुए वह नीच आकाश से नीचे उतरा। उस बैताल (मुर्दे) को उसी प्रकार छोड़कर कन्या को लेकर देवी की मूर्ति के समीप पहुँचा ॥१७०-१७१॥

वह जब राजकुमारी का वध करने के लिए तैयार हुआ इतने में ही तलवार खींचे हुए विदूषक भी मन्दिर में घुसा और बोला—'ओ पापी! मालती के फूल को पत्थर से पीसना चाहता है जो इस कोमल कन्या पर घस्त्र प्रहार करना चाहता है' ॥१७२-१७३॥

ऐसा कहकर और उसकी जटा पकड़कर विदूषक ने साधक संन्यासी का वध कर डाला और भय से काँपती हुई एवं अत्यन्त सिकुड़ती हुई राजकन्या को धीरज बँधाया ॥१७४ १७५॥

वह सोचने लगा कि अब इसे (राजकुमारी को) फिर रनिवास में कैसे पहुँचाऊँ? ॥१७६॥

इतने में ही आकाशवाणी हुई—हे विदूषक! तुमने इस प्रव्राजक को मारा है इसे यह बैताल और सरसों सिद्ध थे ॥१७७॥

इसीलिए इसकी पृथ्वी का राज्य और राजकुमारी को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हो गई थी। किन्तु आज यह ठगा गया ॥१७८॥

इसलिए हे वीर! तुम उसके सरसों के दाने ले लो इससे केवल एक आज की रात तुम्हारी आकाश में गति हो जायगी' ॥१७९॥

इत्याकाशगता वाणी जातहर्षं जगाद तम्।
अनुगृह्णन्ति हि प्रायो देवता अपि साहसम्॥१८०॥
ततो वस्त्राञ्चलात्तस्य स परिव्राजकस्य तान्।
अग्राह सर्षपान्हस्ते तामङ्के च नृपात्मजाम्॥१८१॥
यावच्च देवी भवनात्स तस्मान्निर्ययौ बहिः।
उच्चचार पुनस्तावदन्या नभसि भारती॥१८२॥
इहैव देवीभवने मासस्यान्ते पुनस्त्वया।
आगन्तव्यं महावीर! विस्मर्तव्यमिदं न ते॥१८३॥
तच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा सद्यो देवीप्रसादतः।
उत्पपात नभो बिभ्रद्राजपुत्रीं विदूषकः॥१८४॥
गत्वा च गगनेनाशु स तामन्तःपुरान्तरम्।
प्रावेशयद्राजसुतां समाश्वस्तामुवाच च॥१८५॥
न मे भविष्यति प्रातर्गतिर्व्योम्नि ततश्च माम्।
सर्वे द्रक्ष्यन्ति निर्यान्तं तत्सम्प्रत्येव याम्यहम्॥१८६॥
इति तेनोदिता बाला बिभ्यती सा जगाद तम्।
गते त्वयि मम प्राणास्त्रासाक्रान्ता प्रयान्त्यमी॥१८७॥
तन्महाभाग मा गास्त्वं देहि मे जीवितं पुनः।
प्रतिपन्नार्थनिर्वाहः सहजं हि सतां व्रतम्॥१८८॥
तच्छ्रुत्वा चिन्तयामास स सुसत्त्वो विदूषकः।
यद्यस्तु मे न गच्छामि मुञ्चेत्प्राणान् भयादियम्॥१८९॥
ततश्च नृपतेर्भक्तिः का मया विहिता भवेत्।
इत्यालोच्य स तत्रैव तस्थावन्तःपुरे निशि॥१९०॥
व्यायामजागरश्रान्तो ययौ निद्रां शनैश्च सः।
राजपुत्री त्वनिद्रैव भीता तामनयन्निशाम्॥१९१॥
विश्राम्यतु क्षणं तावदिति प्रेमार्द्रमानसा।
सुप्तं प्रबोधयामास सा प्रभातेऽपि नैव तम्॥१९२॥
ततः प्रविष्टा ददृशुस्तमन्तःपुरचारिकाः।
ससम्भ्रमाश्च गत्वैव राजानं तं व्यजिज्ञपन्॥१९३॥
राजाप्यवधितुं तत्त्वं प्रतीहारं व्यसर्जयत्।
प्रतीहारश्च गत्वान्तस्तत्रापश्यद्विदूषकम्॥१९४॥

यह सुनकर वह प्रसन्न हुआ। सच है ऐसे वीर और सत्कार्यकर्त्ताओं को देवताओं की भी कृपा प्राप्त होती है॥१८०॥

तब विदूषक ने उस मृत साधु के आँचल से सरसों निकालकर एक हाथ में लिये और दूसरे हाथ से राजकन्या का गोद में लेकर बाहर निकला॥१८१॥

जब वह देवी के मन्दिर से बाहर निकला तब उसे पुनः दूसरी आकाशवाणी सुन पड़ी—हे महावीर! महीने के अन्त में तुम इस मन्दिर में फिर आना यह भूलना नहीं॥१८२-१८३॥

यह सुनकर और उसे स्वीकार करके देवी की कृपा से राजकुमारी को लिये हुए विदूषक आकाश की ओर उड़ा॥१८४॥

आकाशमार्ग से आकर राजकन्या को उसके भवन में पहुँचाकर और उसे धीरज बँधाकर बोला—'सवेरे आकाश में उड़ने की मेरी शक्ति न रहेगी। यह केवल इसी रात के लिए प्राप्त थी। तब इस घर से निकलते हुए मुझे सब लोग देखेंगे। इसलिए मैं अभी ही जा रहा हूँ॥१८५ १८६॥

विदूषक के भलीभाँति समझाने पर भी डरती हुई बालिका उससे बोली—'तुम्हारे जाने पर भय से काँपते हुए मेरे प्राण अब निकल रहे हैं। इसीलिए हे महापुरुष! तुम न जाओ। स्वीकार किये हुए कार्य का निर्वाह करना सज्जनों का स्वाभाविक व्रत (नियम) है॥१८७-१८८॥

यह सुनकर महा प्राणवान् विदूषक सोचने लगा—'जो भी हो मैं नहीं जाता। यह भय से प्राणों को छोड़ देगी। तब मेरी राज-सेवा ही क्या हुई? । ऐसा सोचकर वह वहीं राजकन्या के भवन में ठहर गया। धीरे-धीरे श्रम और जागरण से थका हुआ वह रात में भी सो गया। किन्तु डरी हुई राजकुमारी ने जाग करके ही सारी रात व्यतीत की॥१८९ १९१॥

'यह कुछ देर विश्राम कर ले'—इस प्रकार स्नेहपूर्ण-हृदया राजकन्या ने उसे प्रातःकाल नहीं जगाया। तब रनिवास की सेविकाओं ने अन्दर आकर उसे देखा और घबराकर राजा से निवेदन किया॥१९२—१९३॥

राजा ने भी तत्त्व जानने की इच्छा से अपने निजी सेवक को भेजा। उसने अन्दर आकर उस विदूषक को देखा॥१९४॥

शुश्राव च यथावृत्त स तद्राजसुतामुखात् ।
तथैव गत्वा राज्ञे च स समग्र न्यवेदयत् ॥१९५॥
विदूषकस्य सत्त्वज्ञस्तच्छ्रुत्वा स महीपतिः ।
किमेतत् स्यादिति क्षिप्र समुद्भ्रान्त इवाभवत् ॥१९६॥
आनाययच्च दुहितुर्मन्दिरात्त विदूषकम् ।
तत्रानुयाम मनसा तस्या स्नेहानुपातिना ॥१९७॥
पप्रच्छ च यथावृत्त स राजा तमुपागतम् ।
आ मूलतश्च सोऽप्यस्मै विप्रो वृत्तान्तमब्रवीत् ॥१९८॥
भदर्शयच्च वस्त्रान्ते निबद्धाश्चौरनासिका ।
प्रद्याद्सम्बधिनस्तांश्च सर्वेषा भूमिभेदिन ॥१९९॥
तत सम्भाव्य सत्य तत्ताश्चानाय्य मठद्विजान् ।
सर्वाश्चक्षुरोपेतान् पृष्ट्वा तन्मूलकारणम् ॥२० ॥
स्वय श्मशाने गत्वा च दृष्ट्वा तांश्छिन्ननासिकान् ।
पुरुषांस्त च निर्लूनकण्ठ प्रव्राजकाधमम् ॥२०१॥
उत्पन्नप्रत्ययो राजा स तुतोष महाशय ।
विदूषकाय कृतिने सुताप्राणप्रदायिने ॥२ २॥
ददौ तस्मै च तामेव तत्रैव तनया निजाम् ।
किमदेयमुदाराणामुपकारिषु तुष्यताम् ॥२ ३॥
श्रीश्चासाम्बुजप्रीत्या नून राजसुताकरे ।
गृहीतपाणिर्येनास्या लेभे लक्ष्मीं विदूषक ॥२ ४॥
ततो राजोपचारेण स तया कान्तया सह ।
आदित्यसेननृपतेस्तस्थौ श्लाघ्ययशा गृहे ॥२ ५॥
अथ यातेषु दिवसेष्वेकदा दैवचोदिता ।
तमुवाच निशायां सा राजपुत्री विदूषकम् ॥२ ६॥
नाथ स्मरसि यत्तत्र तव देवीगृहे निधि ।
मासान्ते त्वमिहागच्छेरित्युक्त दिव्यया गिरा ॥२०७॥
तत्र चाद्य गतो मासो भवतस्तच्च विस्मृतम् ।
इत्युक्त प्रियया स्मृत्वा स जहर्ष विदूषक ॥२०८॥
साधु स्मृत त्वया तन्वि । विस्मृत तन्मया पुन ।
इत्युक्त्वालिङ्गन चास्यै स ददौ पारितोषिकम् ॥२०९॥

राज-सेवक ने राजकुमारी के मुँह से सुना हुआ सारा समाचार राजा से कह दिया ॥१९५॥

विदूषक के मन और बल को जाननेवाला राजा 'यह क्या बात है ? —ऐसा सोचता हुआ व्याकुल-सा हो गया। और कन्या के भवन से विदूषक को बुला ठीक-ठीक समाचार पूछा। उसने भी प्रारम्भ से अन्त तक सारा समाचार कह डाला। और कपड़े के कोने में बँधे हुए उन चोरों की कटी हुई नाक भी दिखा दी साथ ही प्रासाद के उन भूमिभेदी सर्पों के दाँतों को भी दिखाया ॥१९६–१९९॥

राजा ने सारी घटना का सत्य समझकर सभी मठवासी ब्राह्मणों को चक्रधर के साथ बुलाया और उनसे मूल कारण जानकर श्मशान में जाकर उन दोनों नक-कटों को देखा और कटे हुए गलेवाले उस दुष्ट साधक को (देवी-मन्दिर में) देखा ॥२ ०–२ १॥

इन प्रमाणों से विश्वस्त राजा ने कन्या को सावधान करनेवाले विदूषक को अपनी कन्या प्रदान कर दी। सच है उदार व्यक्तियों के उपकारों के लिए कौन-सी वस्तु अदेय है ? ॥२ २-२ ३॥

राजकुमारी के हाथ में लक्ष्मी का निवास था इसी कारण विदूषक ने उसका पाणि-ग्रहण करते ही लक्ष्मी को प्राप्त किया ॥२ ४॥

वह यशस्वी विदूषक अपनी पत्नी के साथ आदित्यसेन के घर राजाओं के समान रहने लगा ॥२ ५॥

कुछ दिनों के बाद देर से प्रसन्न राजकन्या ने रात्रि में विदूषक से कहा कि 'हे स्वामिन् ! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है कि देवी-मन्दिर में आकाशवाणी ने कहा था कि 'एक बार तुम यहाँ आओ'। तदनुसार आज मास समाप्त हो गया आज उसे भूल गए। पत्नी से यह सुनकर विदूषक प्रसन्न हुआ। और बोला—प्रिये ! तुमने अच्छा स्मरण दिया मैं उसे भूल ही गया था । ऐसा कहकर उसने उसे पुरस्कार में आलिंगन दिया ॥२ ६–२ ॥

सुप्तायां च ततस्तस्यां निर्गत्यान्तःपुरान्निशि ।
आदाय खड्गं स्वस्थः सन्स्तद्देवीभवनं ययौ ॥२१० ॥
प्राप्तो विदूषकोऽत्र भोरिति तत्र वदन् बहिः ।
प्रविशेत्यशृणोद् वाचमन्तः केनाप्युदीरिताम् ॥२११॥
प्रविश्य चान्तरे सोऽथ दिव्यमावासमैक्षत ।
तदन्तर्दिव्यरूपां च कन्यां दिव्यपरिच्छदाम् ॥२१२॥
स्वप्रभाभिन्नतिमिरां रजनिज्वलितामिव ।
हरकोपाग्निनिर्दग्धस्मरसञ्जीवनौषधिम् ॥२१३॥
किमेतदिति साश्चर्यं स तया हृष्टया स्वयम् ।
सस्नेहबहुमानेन स्वागतेनाभ्यनन्द्यत ॥२१४॥
उपविष्टं च सञ्जातविस्रम्भं प्रेम-दर्शनात् ।
तत्स्वरूपपरिज्ञानसोत्सुकं सा तमब्रवीत् ॥२१५॥
अहं विद्याधरी कन्या भद्रा नाम महान्वया ।
इह कामचरत्वाच्च त्वामपश्यमहं तदा ॥२१६॥
त्वद्गुणाकृष्टचित्ता च तत्कालमहमेव ताम् ।
अदृश्यवाणीमसृजं पुनरागमनाय ते ॥२१७॥
अद्य विद्या प्रयोगाच्च समोह्य प्रेरिता मया ।
सा ते राजसुतेवाऽस्मिन् कार्ये स्मृतिमजीजनत् ॥२१८॥
त्वदर्थं च स्थितास्मीह तत्तुभ्यमिदमर्पितम् ।
शरीरं सुन्दर ! मया कुरु पाणिग्रहं मम ॥२१९॥
इत्युक्तो भद्रया भव्यो विद्याधर्या विदूषकः ।
तथेति परिणिन्ये तां गान्धर्वविधिना तदा ॥२२० ॥
अतिष्ठच्च तत्रैव दिव्यं भोगमवाप्य सः ।
स्वपौरुषफलम्येव प्रियया सङ्गतस्तया ॥२२१॥
अत्रान्तरे प्रबुद्धा सा राजपुत्री निशाक्षये ।
भर्तारं तमपश्यन्ती विषादं सहसागमत् ॥२२२॥
उत्थाय चान्तिकं मातुः प्रस्खलदङ्घ्रिः पर्येययौ ।
विह्वला सङ्गलद्वाष्पतरङ्गितविलोचना ॥२२३॥
स पतिर्मे गतः क्वापि रात्राविति च मातरम् ।
आत्मापराधसभया सानुतापा च साभ्यधात् ॥२२४॥

उसके सो जाने पर रात में वह विदूषक तलवार लेकर स्वस्थतापूर्वक देवी-मन्दिर को गया ॥२१ ॥

मन्दिर के बाहर पहुँचकर उसने आवाज दी—'हे ! मैं विदूषक आ गया'। अन्दर से किसी की आवाज आई कि 'अन्दर आओ' ॥२११॥

उसने अन्दर जाकर दिव्य स्थान देखा। उसके अन्दर दिव्य रूप और दिव्य वस्त्रधारिणी सुन्दरी को देखा। वह अपनी कान्ति से अन्धकार को ऐसे दूर कर रही थी मानों शिव के कोप से जले हुए कामदेव को जिलाने के लिए जलती हुई सजीवनी औषधि हो ॥२१२-२१३॥

'यह क्या देख रहा हूँ'—इस प्रकार आश्चर्यचकित विदूषक का उस प्रसन्न सुन्दरी ने बड़े ही मान-सम्मान के साथ स्वागत किया ॥२१४॥

कुछ समय के अनन्तर आश्वस्त होकर बैठे हुए और उस सुन्दरी का परिचय प्राप्त करने के लिए उत्सुक विदूषक को वह सुन्दरी स्वयं कहने लगी— 'मैं महान् वंश में उत्पन्न भद्रा नाम की विद्याधरी हूँ अभी अविवाहिता कन्या हूँ। स्वेच्छाचारिणी होने के कारण उस दिन मैं यहाँ आई और तुम्हें देखा। तुम्हारे गुणों से आकृष्ट होकर मैंने ही अदृश्य रूप से तुम्हें बुलाने के लिए आकाशवाणी की थी। मेरी विद्या से प्रेरित राजकुमारी ने आज तुम्हें याद दिलाई ॥२१५-२१८॥

भद्रा से कहे गये विदूषक ने 'ठीक है'—ऐसा स्वीकार करके गान्धर्व-विधान से उसके साथ विवाह कर लिया। और, वहीं रात-भर ठहरकर, पौरुष-समृद्धि के फलस्वरूप उस प्रिया के साथ दिव्य आनन्द लेने लगा ॥२१९-२२१॥

इसी बीच रात के अन्त में उठी राजकुमारी पति को न देखकर सहसा दुःखी हो गई ॥२२२॥

उठकर व्याकुल और आँसुओं से डबडबाते आँखोंवाली कुमारी लड़खड़ाती पैरों से माता के पास गई ॥२२३॥

अपने द्वारा किये गये अपराध पर पश्चात्ताप करती हुई राजकुमारी ने माता से कहा कि 'मेरा पति रात में कहीं चला गया' ॥२२४॥

ततस्तु मातरि स्नेहात् सम्भ्रान्तायां क्रमेण तत् ।
भुक्त्वा राजापि तत्रस्थ परमाकुलतामगात् ॥२२५॥
जाने श्मशानबाह्य स गतोऽसौ देवतागृहम् ।
इत्युक्ते राजसुतया राजा तत्र स्वयं ययौ ॥२२६॥
तत्र विद्याधरीविद्याप्रभावेण तिरोहितम् ।
विचिन्त्यापि न लेभे तं स क्षितीशो विदूषकम् ॥२२७॥
ततो राज्ञि परावृत्ते निराशां तां नृपात्मजाम् ।
देहत्यागोन्मुखीमेत्य ज्ञानी कोऽप्यब्रवीदिदम् ॥२२८॥
नारिष्टशङ्का कर्तव्या स हि ते वर्तते पतिः ।
युक्तो दिव्येन भोगेन त्वामुपैष्यति चाचिरात् ॥२२९॥
तच्छ्रुत्वा राजपुत्री सा धारयामास जीवितम् ।
हृदि प्रविष्टया रुद्ध तत्प्रत्यागमवाञ्छया ॥२३०॥
विदूषकस्यापि ततस्तिष्ठतस्तत्र तां प्रियाम् ।
भद्रां योगेश्वरी नाम सखी काचिदुपाययौ ॥२३१॥
उपेत्य सा रहस्येनामिव भद्रामथाब्रवीत् ।
सखि ! मानुषसंसर्गात् क्रुद्धा विद्याधरास्त्वयि ॥२३२॥
पापं च ते चिकीर्षन्ति तदितो गम्यतां त्वया ।
अस्ति पूर्वाम्बुधेः पारे पुरं कार्कोटकाभिधम् ॥२३३॥
तदतिक्रम्य च नदी शीतोदा नाम पावनी ।
तीर्त्वा तामुदयाख्यश्च सिद्धक्षेत्रं महागिरिः ॥२३४॥
विद्याधरैरनाक्रम्यस्तत्र त्वं गच्छ साम्प्रतम् ।
प्रियस्य मानुषस्यास्य कृते चिन्ता च मा कृथाः ॥२३५॥
एतद्धि सर्वमेतस्य कथयित्वा गमिष्यसि ।
येनैष पश्चात्तत्रैव त्वत्सकाशमागमिष्यति ॥२३६॥
इत्युक्ता सा तया सख्या भद्रा भयवशीकृता ।
विदूषकानुरक्तापि प्रतिपेदे तथेति तत् ॥२३७॥
उक्त्वा च तस्य तद्युक्त्या दत्त्वा च स्वाङ्गुलीयकम् ।
विदूषकस्य रात्र्यन्तसमये सा तिरोदधे ॥२३८॥
विदूषकश्च पूर्वस्मिन् शून्ये देवगृहे स्थितम् ।
क्षणादपश्यदात्मानं न भद्रां न च मन्दिरम् ॥२३९॥

पुत्री के स्नेह से माता के व्याकुल हो जाने पर क्रमशः राजा भी उठा और बहुत व्याकुल हो गया ॥२२५॥

मालूम होता है कि 'वह (मेरा पति) श्मशान के बाहरवाले देवी-मन्दिर में गया होगा'—राजकुमारी के ऐसा कहने पर राजा आदित्यसेन स्वयं मन्दिर की ओर गया ॥२२६॥

वहाँ पर विद्याधरी की विद्या के प्रभाव से तिरोहित विदूषक को राजा ने नहीं देखा ॥२२७॥

तब राजा के लौट जाने पर निराश हुई उस राजकन्या से किसी ज्ञानी ने आकर कहा—'तुम किसी प्रकार के अनिष्ट की शंका न करो। वह तुम्हारा पति जीवित है और शीघ्र ही दिव्य भोगों से युक्त तुम्हें मिलेगा' ॥२२८-२२९॥

यह सुनकर हृदय में बैठी हुई पति के लौटने की आशा से राजकन्या ने किसी तरह अपने जीवन की रक्षा की ॥२३ ॥

इधर जब विदूषक भद्रा नाम की विद्याधरी के साथ दिव्य भोगों का आनन्द ले रहा था इसी बीच भद्रा की योगेश्वरी नामक सखी वहाँ आई ॥२३१॥

वह आकर भद्रा से एकान्त में बोली कि हे सखि! तुमने मनुष्य के साथ सम्पर्क कर लिया है। इसलिए विद्याधर तुमपर बहुत क्रुद्ध हैं और तुम्हारा अहित करना चाहते हैं इसलिए तुम यहाँ से भाग जाओ ॥२३२-२३३॥

पूर्व समुद्र के पार कार्कोटक नामक नगर है। उसे पार करके शीतोदा नाम की पवित्र नदी है। उसे पार करके उदयनामक महान पर्वत है जो सिद्धों का क्षेत्र है ॥२३४॥

वह उदय पर्वत विद्याधरों से आक्रमण नहीं किया जा सकता। वहाँ तुम जाओ और अपने प्यारे इस पुरुष के लिए चिन्ता न करो ॥२३५॥

यह सब इस मनुष्य को बता देना तब यह प्राणवान् वीर पुरुष तुम्हारे जाने के अनन्तर वहाँ पहुँच जायगा ॥२३६॥

उस सखी के द्वारा डराई गई उस भद्रा ने विदूषक के प्रति अत्यन्त अनुरक्त होने पर भी उसकी बात मान ली ॥२३७॥

भद्रा विदूषक को सारी बातें समझाकर और अपनी अंगूठी उसे देकर रात्रि के अन्त में स्वयं अन्तर्धान हो गई ॥२३८॥

विदूषक ने उस उठने पर न अपने को, न भद्रा को और न मन्दिर को देखा ॥२३९॥

स्मरन्विद्याप्रपञ्चं स पश्यश्चैवाङ्गुलीयकम्।
विषादविस्मयावशवशः सोऽभूद् विदूषकः ॥२४०॥
अचिन्तयच्च तस्याः स क्व स्वप्नमिव स्मरन्।
गता तावन्निवेशैव सा ममोदयपर्वतम् ॥२४१॥
तन्मयाप्याशु तत्रैव गन्तव्यं तदवाप्तये।
न चैव लोकदृष्टं मां लब्ध्वा राजा परित्यजेत् ॥२४२॥
तस्माद्युक्तिं करोमीह कार्यं सिद्ध्यति मे यथा।
इति सञ्चिन्त्य मतिमान् रूपमन्यरसं शिश्रिये ॥२४३॥
जीर्णवासा रजोलिप्तो भूत्वा देवीगृहात्ततः।
निरगात्स 'हा भद्रे! हा भद्रे इति स ब्रुवन् ॥२४४॥
तत्क्षणं च विलोक्यैनं जनास्तद्वासवर्तिनः।
सोऽयं विदूषकः प्राप्त इति कोलाहलं व्यधुः ॥२४५॥
बुद्ध्वा च राजा निर्गत्य स्वयं दृष्ट्वा तथाविधः।
उन्मत्तचेष्टोऽप्रष्टव्यः स नीतोऽभूत् स्वमन्दिरम् ॥२४६॥
तत्र स्नेहाकुलैर्यद्वत्सोऽभूद् भृत्यबान्धवैः।
तत्र तत्र स 'हा भद्रे' इति प्रत्युत्तरं ददौ ॥२४७॥
यथोपविष्टैरभ्यङ्गैरभ्यक्तोऽपि स तत्क्षणम्।
अङ्गमुद्धूलयामास भूरिणा भस्मरेणुना ॥२४८॥
स्नेहेन राजपुत्र्या च स्वहस्ताभ्यामुपाहृतः।
आहारस्तेन सहसा पादेनाहृत्य चिक्षिपे ॥२४९॥
एवं स तस्थौ कतिचिद्दिवसांस्तत्र निःस्पृहः।
पाटयन्निजवस्त्राणि कृतोन्मादो विदूषकः ॥२५०॥
असाध्यप्रतिकारोऽयं तत्किमर्थं कदर्थ्यते।
त्यजेत् कदाचन प्राणान् ब्रह्महत्या भवेत्तत ॥२५१॥
स्वच्छन्दचारिणस्त्वस्य कालेन कुशलं भवेत्।
इत्यालोच्य स आदित्यसेनो राजा मुमोच तम् ॥२५२॥
ततः स्वच्छन्दचारी सन्नन्यद्युः साङ्गुलीयकः।
चोरो मद्रां प्रति स्वैरं स प्रतस्थे विदूषकः ॥२५३॥
गच्छन्नहरहः प्राच्यां दिशि प्राप स च क्रमात्।
मध्ये मागधरायातं नगरं पौण्ड्रवर्धनम् ॥२५४॥

यह सब विद्याधरी की विद्या का प्रभाव समझकर और अंगूठी को देखता हुआ विदूषक खेद और आश्चर्य के वशीभूत हो गया। उसकी बात को स्वप्न के समान स्मरण करता हुआ विदूषक सोचने लगा कि वह उदय पर्वत का पता बताकर गई है। इसलिए उसे प्राप्त करने के निमित्त मुझे भी वहीं शीघ्र जाना चाहिए ॥२४०–२४१॥

यदि मैं न जाऊँगा और लोग मुझे देखेंगे तो राजा मेरी इस स्थिति को देखकर मुझे छोड़ देगा ॥२४२॥

इसलिए ऐसी युक्ति करता हूँ कि जिससे मेरा काम सिद्ध हो सके—ऐसा सोचकर बुद्धिमान् विदूषक ने अपना रूप बदल लिया। फटे-पुराने कपड़े पहिने शरीर में धूल लपेटे हुए वह देवीमन्दिर से बाहर निकलकर 'हा माँ! हे माँ'—इस प्रकार रटने लगा ॥२४३–२४४॥

उस समय उसे इस स्थिति में देखकर उस देश के निवासी 'यह तो वही विदूषक है'—ऐसा हुल्लड़ मचाने लगे। राजा आदित्यसेन ने यह समाचार जानकर उसे उस रूप में देख कर पकड़वाकर अपने घर बुलाया ॥२४५–२४६॥

वहाँ स्नेह-भरे भृत्यों एवं बन्धुओं के विविध प्रश्नों पर केवल हा माँ' 'हा माँ' ही कहता रहा ॥२४७॥

वैद्यों द्वारा बतायें गये उबटनों के लगाने पर भी वह पुनः बहुत-सी धूल उठाकर शरीर में लपेट लेता था ॥२४८॥

राजकुमारी द्वारा प्रेमपूर्वक लाई गई भोजन की थाली को वह पैरों से मारकर फेंक देता था ॥२४९॥

इस प्रकार पागलपन का प्रदर्शन करता हुआ अपने कपड़ों को फाड़ता हुआ वह विदूषक लापरवाही से कुछ दिनों तक वहाँ रहा ॥२५ ॥

'इसका रोग असाध्य है इसे व्यर्थ कष्ट क्यों दिया जाय? यदि कहीं इसने प्राण त्याग दिये तो व्यर्थ की ब्रह्महत्या लगेगी वह स्वच्छन्दचारी अपने समय से ही आरोग्य होगा'—राजा आदित्यसेन ने ऐसा सोचकर उसे छोड़ दिया ॥२५१ २५२॥

वह स्वच्छन्दचारी पागल विदूषक उँगली में अंगूठी पहने हुए धीरे-धीरे भद्रा की ओर चला (उदय पर्वत) ॥२५३॥

पूर्व दिशा की ओर दिन-रात चलते-चलते उसे मार्ग में पौण्ड्रवर्धन नाम का नगर मिला ॥२५४॥

मातरं च वसाम्येकां रात्रिमित्यभिधाय सः।
ब्राह्मण्यास्तत्र कस्याश्चिद् वृद्धाया प्राविशद् गृहम्॥२५५॥
प्रतिपन्नाश्रया सा च कृतातिथ्या क्षणान्तरे।
ब्राह्मणी समुपेत्यैव सान्तर्दुःखा जगाद तम्॥२५६॥
तुभ्यमेव मया दत्तं पुत्र! सर्वमिदं गृहम्।
तद् गृहाण यतो नास्ति जीवितं मम साम्प्रतम्॥२५७॥
कस्मादेवं ब्रवीषीति तेनोक्ता विस्मितेन सा।
श्रूयतां कथयाम्येतदित्युक्त्वा पुनरब्रवीत्॥२५८॥
अस्तीह वेमसनाख्ये नगरे पुत्र! भूपतिः।
तस्य चैका समुत्पन्ना कन्या भूतलभूषणम्॥२५९॥
मया दुःखेन लब्धेयमिति तां दुःखलब्धिकाम्।
नाम्ना चकार स नृपस्तनयामतिवत्सलः॥२६०॥
कालेन यौवनारूढामानीतायं स्ववेश्मनि।
राज्ञे कन्दर्पनाथाय तां प्रादादथ भूपतिः॥२६१॥
स कन्दर्पेश्वरस्तस्या वध्वा वासगृहं निशि।
प्रविष्ट एव प्रथमं तत्काल पञ्चतां ययौ॥२६२॥
ततो विमनसा राज्ञा भूयोऽप्येतेन सा सुता।
दत्ता यस्मै नृपायाभूत्सोऽपि तद्वद् व्यपद्यत॥२६३॥
तद्भयाच्च तदान्येऽपि नृपा वाञ्छन्ति नैव ताम्।
तदा सेनापतिं राजा निजमेवं समादिशत्॥२६४॥
इतो देशात्त्वयैकैकः क्रमादेकैकतो गृहात्।
पुत्रान् प्रत्यहमानेयो ब्राह्मणः क्षत्रियोऽथवा॥२६५॥
आनीय च प्रवेश्योऽत्र रात्रौ मत्पुत्रिकागृहे।
पश्यामोऽत्र विपद्यन्ते कियन्तोऽत्र कियच्चिरम्॥२६६॥
उत्तरिष्यति यश्चात्र सोऽस्या भर्ता भविष्यति।
गतिः शक्या परिच्छेत्तुं नह्यद्भुतविधेर्विधेः॥२६७॥
इति सेनापती राज्ञा समादिष्टो दिने दिने।
वारक्रमेण गेहेभ्यो नयत्येव नरानिह॥२६८॥
एवं च तत्र यातानि क्षयं नरशतान्यपि।
मम चाकृतपुण्याया एकः पुत्रोऽत्र वर्तते॥२६९॥

'माता! एक रात मैं यहाँ निवास करना चाहता हूँ'—ऐसा कहकर वह किसी बूढ़ी के मकान में घुसा ॥२५५॥

आमय देना स्वीकार करके तुरन्त ही उसका स्वागत करके दु खित-हृदया ब्राह्मणी उसके समीप आकर बोली —'बेटा! यह सारा घर मैंने तुम्हें ही दे दिया तुम इसे ले लो क्योंकि मेरा जीवन अब समाप्त हो रहा है' ॥२५६ २५७॥

'तुम ऐसा क्यों कह रही हो?—विदूषक से इस प्रकार पूछी गई वृद्धा फिर बोली—'सुनो मैं तुम्हें सब सुनाती हूँ' ॥२५८॥

बेटा इस नगर में देवसेन नामक राजा है। उसके एक परम सुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई, जो भू-तल का भूषण थी ॥२५९॥

राजा ने 'मैंने इसे बड़े ही दु ख से पाया है'—ऐसा सोच अत्यन्त वात्सल्य-स्नेह-युक्त होकर उसका नाम 'दु खलब्धिका' रखा ॥२६ ॥

कुछ समय व्यतीत होने पर, यौवन को प्राप्त उस कन्या को अपने घर पर आये हुए कच्छप-देश के राजा के लिए दे दिया ॥२६१॥

वह कच्छपनाथ उसके साथ वास घर में प्रवेश करते ही तत्काल मर गया ॥२६२॥

इस घटना से दुखी होकर देवसेन ने वह कन्या दूसरे राजा को दी किन्तु वह भी इसी प्रकार मर गया ॥२६३॥

जब इस भय के कारण अन्य किसी राजा ने उस कन्या को लेना स्वीकार नहीं किया तब राजा ने अपने सेनापति को आज्ञा दी कि तुम इसी नगर से प्रतिदिन एक-एक ब्राह्मण या क्षत्रिय पुरुष को लाकर इस कन्या के शयनागार में भेजो। देखते हैं कि कबतक कितने मरते हैं। जो इसमें सफल हो जायगा नहीं मरेगा वही इसका पति होगा। आश्चर्यकारी दैव की गति-विधि जानी नहीं जा सकती ॥२६४ २६७॥

इस प्रकार राजा की आज्ञा से सेनापति प्रतिदिन पारी के क्रम से एक-एक युवा पुरुष को लाता रहा ॥२६८॥

इस प्रकार क्रमशः एक सौ व्यक्ति मारे गये मुझ अभागिन का भी एक ही पुत्र है ॥२६९॥

तस्य वारोऽद्य सम्प्राप्तस्तत्र गन्तुं विपत्तये।
तदभावे मया कार्यं प्रातरग्निप्रवेशनम् ॥२७०॥
तज्जीवन्ती स्वहस्तेन तुभ्यं गुणवते गृहम्।
ददामि सर्वं येन स्यां न पुनर्दुःखभागिनी ॥२७१॥
एवमुक्तवतीं धीरस्तामवोचद् विदूषकः।
यद्येवमम्ब तर्हि त्वं मास्म विह्वलतां कृथाः ॥२७२॥
अहं तत्राद्य गच्छामि जीवत्वेकसुतस्तव।
किमेतं घातयामीति कृपा ते मयि मा च भूत् ॥२७३॥
सिद्धियोगादिदं नास्त्येव भयं तत्र गतस्य मे।
एवं विदूषकेणोक्ता ब्राह्मणी सा जगाद तम् ॥२७४॥
तर्हि पुण्यैर्ममायातः कोऽपि देवो भवानिह।
तत्प्राणान्देहि मे पुत्र! कुशलं च तवात्मनि ॥२७५॥
एवं तया सोऽनुमतः सायं राजसुतागृहम्।
सेनापतिनियुक्तेन किङ्करेण समं ययौ ॥२७६॥
तत्रापश्यन्नृपसुतां तां यौवनमदोद्धताम्।
लतामनुन्मिषत्स्फीतपुष्पभारानतामिव ॥२७७॥
ततो निशायां शयने राजपुत्र्या समाश्रिते।
ध्यातोपनतमादाय खड्गं विभ्रत्करेण सः ॥२७८॥
वासवेश्मनि तत्रासीज्जाग्रदेव विदूषकः।
पश्यामि तावत्को हन्ति मनुजानत्रेति चिन्तयन् ॥२७९॥
प्रसुप्ते च जने क्षिप्रावपावृतकपाटकम्।
स द्वारदेशादायान्तं घोरं राक्षसमैक्षत ॥२८०॥
स च द्वारि स्थितस्तत्र राक्षसो वासकान्तरे।
भुजं मरणताकाण्डयमदण्डं न्यवेशयत् ॥२८१॥
विदूषकश्च निष्क्रम्य धावित्वा तस्य तं क्रुधा।
एकखड्गप्रहारेण बाहुं सपदि च्छेदयत् ॥२८२॥
छिन्नबाहुः पलाय्याशु जगाम स निशाचरः।
भूयोऽनागमनायैव तत्सत्त्वोत्कर्षभीतितः ॥२८३॥
प्रबुद्धा वीक्ष्य पतितं रक्षोबाहुं नृपात्मजा।
भीता च जातहर्षा च विस्मिता च बभूव सा ॥२८४॥

उसकी पारी आज है। आज वह मरने के लिए जायगा। इसके मर जाने पर मैं प्रातःकाल आग में प्रवेश करके जल मरूँगी ॥२७ ॥

इसलिए जीवित अवस्था में तुम्हारे ऐसे गुणवान् को सारा धर दान देती हूँ जिससे फिर इस प्रकार का कष्ट न भोगना पड़े। ऐसा कहती हुई बूढ़ा से धीरे-धीरे विदूषक बोला— अम्मा! तुम घबराओ मत। आज पारी में मैं जाऊँगा तुम्हारा एकलौता बेटा जीवित रहे। इसे क्यों मरवाऊँ—इस प्रकार तुम मुझपर दया भी न करना मेरे पास ऐसे सिद्धियोग हैं जिससे मुझे वहाँ जाकर मरने का भय नहीं है। ब्राह्मण के ऐसा कहने पर बूढ़ी बोली—॥२७१ २७४॥

मालूम होता है कि मेरे पुण्य-प्रभाव से तुम किसी देवता के रूप में आये हो इसलिए मेरे पुत्र को प्राण-दान करो और अपना भी कल्याण करो ॥२७५॥

इस प्रकार बूढ़ा की सम्मति प्राप्त करके वह विदूषक सायंकाल सेनापति से नियुक्त किये गये दूत के साथ राजकन्या के यहाँ गया ॥२७६॥

वहाँ जाकर उसने यौवन के मद से मदमाती और फूलों के न तोड़ने के कारण भार से झुकी हुई लता के समान राजकन्या को देखा ॥२७७॥

तब रात्रि में राजकन्या के भी सो जाने पर पलंग पर म्यान से प्राप्त अपनी तलवार को लिये हुए विदूषक जाग रहा था और यह सोच रहा था कि देखता हूँ यहाँ कौन है, जो मनुष्यों को मार देता है ॥२७८-२७९॥

सब लोगों के सो जाने पर उसने किवाड़ों को खोलकर दरवाजे से घुसते हुए भीषण राक्षस को देखा ॥२८ ॥

उसने द्वार पर खड़े-खड़े ही सैकड़ों पुरुषों के लिए यम-दण्ड के समान भीषण भुजा को घर के अन्दर डाला ॥२८१॥

विदूषक ने दौड़कर क्रोध से उसकी भुजा को एक ही खड्ग-प्रहार से काट डाला ॥२८२॥

कटे हुए हाथवाला वह राक्षस मानों उसके उत्कृष्ट बल से डरकर फिर न आने के लिए शीघ्रता से भाग गया ॥२८३॥

राजकन्या ने जागकर उस कटकर गिरे हुए राक्षस के हाथ को देखा और उसे देखकर बड़ी प्रसन्न हुई तथा आश्चर्य से चकित-सी रह गई ॥२८४॥

प्रातश्च ववृधे राज्ञा देवसेनेन तत्र सः।
स्वसुतान्तःपुरद्वारि स्थितश्छिन्नभुजो भुवः ॥२८५॥
इतः प्रभृति नेहार्यैः प्रवेष्टव्यं नरैरिति।
दत्तो विदूषकेणैव सुवीर्यः परिघार्गलः ॥२८६॥
ततो दिव्यप्रभावाय तस्मै प्रीतः स पार्थिवः।
विदूषकाय तनयां तां ददौ विभवोत्तरम् ॥२८७॥
ततस्तया समं तत्र कान्तया स विदूषकः।
तस्थौ दिनानि कतिचिन्नृपवर्यस्य सम्मतः ॥२८८॥
एकस्मिंश्च दिने सुप्तां राजपुत्रीं विहाय ताम्।
स ततः प्रययौ रात्रौ तां भद्रां प्रति सत्वरः ॥२८९॥
राजपुत्री च सा प्रातस्तदपश्यन्दुःखिता।
आसीदाश्वासिता पित्रा तत्प्रत्यावर्तनाशया ॥२९०॥
सोऽपि गच्छन्नहरहः क्रमात् प्राप विदूषकः।
पूर्वाम्बुधेरदूरस्थां नगरीं ताम्रलिप्तिकाम् ॥२९१॥
तत्र चक्रे स केनापि वणिजा सह सङ्गतिम्।
स्कन्ददासाभिधानेन पारमब्धेर्यियासता ॥२९२॥
तेनैव सह सोऽनल्पतदीयधनसम्भृतम्।
यानपात्रं समारुह्य प्रतस्थेऽम्बुधिवर्त्मना ॥२९३॥
ततः समुद्रमध्यं तद्यानपात्रमुपागतम्।
अकस्मादभवद्रुद्धं व्यासक्तमिव केनचित् ॥२९४॥
अर्चितेऽप्यर्णवे रत्नैर्यदा न विचचाल तत्।
तदा स वणिगार्तः सन् स्कन्ददासोऽब्रवीदिदम् ॥२९५॥
यो मोचयति रुद्धमिदं प्रवहणं मम।
तस्मै निजधनार्धं च स्वसुतां च ददाम्यहम् ॥२९६॥
तच्छ्रुत्वैव जगादैवं धीरचेता विदूषकः।
अहमत्रावतीर्यान्तर्विचिनोम्यम्बुधेर्जलम् ॥२९७॥
क्षणाच्च मोचयाम्येतद्रुद्धं प्रवहणं तव।
यूयं चाप्यवलम्बध्वं बद्ध्वा मां पाशरज्जुभिः ॥२९८॥
विमुक्ते च प्रवहणे तत्क्षणं वारिमध्यतः।
उद्धर्तव्योऽस्मि युष्माभिरवलम्बन-रज्जुभिः ॥२९९॥

प्रातःकाल राजा ने कन्या के शयनागार के द्वार पर पड़े हुए और कटकर गिरे हुए हाथ को देखा ॥२८५॥

राजा ने समझा कि विदूषक ने अब से लेकर यहाँ दूसरों का प्रवेश न हो ऐसा मानकर द्वार पर परिघ (अस्त्र) के समान भुजा की अगला लगा दी है ॥२८६॥

तब अत्यन्त प्रसन्न राजा ने दिव्य प्रभावशाली विदूषक को धन के साथ कन्या प्रदान की ॥ वह विदूषक भी मूर्तिमती सम्पत्ति के समान उस सुन्दरी राजकन्या के साथ कुछ दिनों तक रहा ॥२८७-२८८॥

एक बार भद्रा से मिलने की शीघ्रता के कारण विदूषक रात में उठकर चल पड़ा ॥२८९॥

दूसरे दिन प्रातःकाल राजकुमारी उसे न देखकर अत्यन्त दुःखी हुई किन्तु राजा ने उसके पुनः लौटने की आशा दिलाकर उसे धीरज बँधाया ॥२९ ॥

वह विदूषक भी दिनरात चलते-चलते पूर्व समुद्र के समीप ताम्रलिप्ति नामक नगरी में पहुँचा ॥२९१॥

उसने वहाँ पर समुद्र-पार जाने की इच्छा रखनेवाले स्कन्ददास नामक व्यापारी वैश्य से मित्रता की ॥२९२॥

और अत्यधिक धन से भरे हुए उसके जहाज पर चढ़कर विदूषक ने समुद्र-मार्ग से यात्रा की ॥२९३॥

क्रमशः जहाज समुद्र के बीच पहुँच गया और किसी वस्तु से फँसकर वहीं रुक गया ॥२९४॥

रत्नों से समुद्र की पूजा करने पर भी जब जहाज हिला नहीं तब अत्यन्त दीनता से बनिये ने कहा कि मेरे इस फँसे हुए जहाज को जो छुड़ा देगा उसे मैं अपनी सम्पत्ति का आधा हिस्सा और अपनी कन्या दे दूँगा ॥२९५-२९६॥

यह सुनकर धैर्यशाली विदूषक ने कहा कि मैं पानी में उतरकर खोज करता हूँ और तुरन्त इस फँसे जहाज को छुड़ाता हूँ ॥२ ९७॥

तुम लोग मुझे ढाल और रस्सियों से कसकर दोनों ओर ऊपर से पकड़े रहो ॥२९८॥

जब जहाज छूटकर चलने लगे तब तुम लोग उन रस्सियों द्वारा मुझे ऊपर खींच लेना ॥२९८॥

तयति तेन वणिजा तद्वचस्त्वभिनन्दित ।
ववन्धु कर्णधारास्त रज्जुबन्धेन कक्षयो ॥३० ॥
तद्मद्धोऽवततारैव वारिधौ स विदूषक ।
न ह्यात्ववसरे प्राप्ते सत्त्ववानवसीदति ॥३ १॥
ध्यातोपस्थितसमाग्नेय खड्ग कृत्वा च त करे ।
धीरः प्रवहणस्याधो मध्यवारि विवेश स ॥३ २॥
तत्र चैक महाकाय सुप्त पुरुषमैक्षत ।
जङ्घायां तस्य रुद्ध च यानपात्र व्यलोकयत् ॥३०३॥
चिच्छेद तां स जङ्घां च तस्य खड्गेन तत्क्षणम् ।
चचाल स प्रवहण रोधमुक्त तदैव तत् ॥३०४॥
तद्दृष्ट्वैव वणिक्पापश्छेदयामास तस्य तत् ।
विदूषकस्य रज्जूस्ता प्रक्षिपन्नार्थलोभत ॥३०५॥
धृतनव च मुक्तेन द्रुत प्रवहणेन स ।
स्वलोभस्येव महत पारमम्बुनिधेर्ययौ ॥३ ६॥
विदूषकोऽपि स च्छिन्नरज्ज्वालम्बोऽम्बुमध्यग ।
उन्मज्ज्य तत्तथा दृष्ट्वा धीरः क्षणमचिन्तयत् ॥३०७॥
किमिद वणिजा तेन कृत किमथवोच्यते ।
कृतघ्ना धनलोभान्धा मोपकारेक्षणक्षमा ॥३ ८॥
तदेष काल सुतरामधैर्यस्यास्य साम्प्रतम् ।
नहि सत्त्वावसादेन स्वाल्पाप्यापद् विलङ्घ्यते ॥३ ९॥
इति सचिन्त्य तत्काल जङ्घां तामारुरोह स ।
या सान्तर्जलसुप्तस्य पुसस्तस्य व्यकृत्यत ॥३१०॥
तया ततार नावेव हस्ताभ्यस्ताम्बुरम्बुधिम् ।
दैवमेव हि साहाय्य कुरुते सत्त्वशालिनाम् ॥३११॥
त मारुतिमिवाम्भोधिपार रामार्थमागतम् ।
असम्बद्धमुवाचवमन्तरिक्षात्सरस्वती ॥३१२॥

---

१ रामार्थ सम्म क्लिष्टः, मारुतिपक्षे रामस्यार्थे, विदूषक पक्षे च रामा — स्त्री, तदर्थमिति बोध्यम् ।

साधु साधु मुसत्त्वोऽसि कोऽन्यस्त्वत्तो विदूषक ।
अनेन तव धैर्येण तुष्टोऽस्मि तदिदं शृणु ॥३१३॥
प्राप्तोऽसि भग्नविषयमिमं सम्प्रत्यतोऽपि च ।
कार्कोटकाख्यं नगरं दिनैः प्राप्स्यसि सप्तभिः ॥३१४॥
ततो रम्यभूतिर्गत्वा शीघ्रं प्राप्स्यसि चेप्सितम् ।
अहं चाराधितः पूर्वं भवता हृष्यकम्पमुक् ॥३१५॥
मद्राज्ञ तवेदानीं क्षुत्तृष्णा न च वर्त्स्यति ।
तद्गच्छ सिद्धय विसब्धमित्युक्त्वा विरराम वाक् ॥३१६॥
विदूषकश्च तच्छ्रुत्वा प्रणम्याग्निं प्रहर्षितः ।
प्रतस्थे सप्तमं चाह्नि प्राप कार्कोटकं पुरम् ॥३१७॥
तत्र च प्रविवेशैकं मठमार्यैरधिष्ठितम् ।
नानादेशोद्भवस्तस्यैर्द्विजरभ्यागतप्रियं ॥३१८॥
श्रीमता निर्मितं राज्ञा तत्रत्यनार्यवमणा ।
महत् समग्रसौवर्णहृद्यवक्कुलान्वितम् ॥३१९॥
तत्र सर्वे कृतातिथ्यमकस्त ब्राह्मणोऽतिथिम् ।
स्नानेन भोजनैर्वस्त्रैर्नीत्वा गृहमुपाचरत् ॥३२ ॥
सायं च तं मठस्थः सन् पुरे शुश्राव तत्र सः ।
विदूषकः सपटह घोष्यमाणमिदं वचः ॥३२१॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि परिणेतु नृपात्मजाम् ।
प्रातरिच्छति यः सोऽद्य रात्रौ वसतु तद्गृहे ॥३२२॥
तच्छ्रुत्वा सनिमित्तं स तदाश्चर्यस्य च तत्क्षणम् ।
गन्तुं राजसुतावासमियेष प्रियसाहस ॥३२३॥
अभुक्त मठविप्रास्ते ब्रह्मन् मा साहसं कृथाः ।
तत्र राजसुतासद्म तन्मृत्योर्विवृतं मुखम् ॥३२४॥
यो हि तत्र प्रविशति क्षपायां न स जीवति ।
गताः सुबहवस्तेवमत्र साहसिकाः क्षयम् ॥३२५॥
इत्युक्तोऽपि स तैर्विप्रैरनङ्गीकृत्य तद्वचः ।
विदूषको राजगृहं ययौ तत्किङ्करैः सह ॥३२६॥
तभार्यवमणा राज्ञा स्वयं दृष्टवाभिनन्दितः ।
विवेश तत्सुतावासं नक्तमर्क इवाम्बरम् ॥३२७॥

हे विदूषक ! बहुत अच्छा तुम सच्चे वीर पुरुष हो। तुम्हारे जैसा और दूसरा कौन है। तुम्हारे इस धैर्य से मैं बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम सुनो ॥११३॥

'इस समय तुम नगनगेश में आये हो यहाँ से सात दिनों में कर्कोटक नगर में पहुँचोगे। वहाँ पहुँचकर तुम्हें धैर्य प्राप्त होगा तब अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करोगे। तुमने हव्य-कव्य लाने वाले मेरी पहले आराधना की थी ॥११४ ११५॥

अब मेरे ही वरदान से तुम्हें भूख-प्यास नहीं सतायेगी। तुम अपनी कार्य-सिद्धि के लिए जाओ'—ऐसा कहकर आकाशवाणी बन्द हो गई ॥११६॥

विदूषक इस आकाशवाणी को सुनकर हर्षित हुआ और अग्नि को प्रणाम करके चला एवं सातवें दिन कर्कोटक नगर में पहुँच गया ॥११७॥

वहाँ पहुँचकर वह एक मठ में घुसा जिसमें श्रेष्ठ जन तथा अतिथियों से स्नेह रखने वाले भिन्न-भिन्न देशों के निवासी ब्राह्मण निवास करते थे ॥११८॥

वह मठ वहाँ के राजा आर्यवर्मा ने बनवाया था और बहुत समृद्ध था ॥११९॥

उसमें सुवर्ण की सुन्दर देव प्रतिमा थी। मठ के निवासियों ने विदूषक का स्वागत किया। एक ब्राह्मण उस अतिथि (विदूषक) को घर ले गया और घर ले जाकर स्नान भोजन और वस्त्रों से उसकी सेवा की ॥१२ ॥

सायंकाल उस मठ में आकर ठहरे हुए उसने नगाड़े के साथ की जाती हुई यह घोषणा सुनी ॥१२१॥

कि जो कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रिय राजकुमारी को ब्याहने के लिए चाहता हो वह आज रात को राजकुमारी के घर में निवास करे ॥१२२॥

यह सुनकर साहसी विदूषक को इस घोषणा में किसी कारण की आशंका न करके रात में वहाँ जाने के लिए तैयार हो गया ॥१२३॥

उसे उद्यत देखकर मठ-निवासी ब्राह्मण ने उससे कहा—हे ब्राह्मण ! ऐसा साहस न करना। यह राजकुमारी का भवन नहीं वह मृत्यु का खुला हुआ मुँह है। उसमें रात को जो प्रवेश करता है वह जीवित नहीं रहता अनेक साहसी व्यक्ति गये और मर गए ॥१२४ १२५॥

उन मठवासी ब्राह्मणों के बहुत मना करने पर भी उनकी बात को अस्वीकार करके विदूषक राजसेवकों के साथ वहाँ गया ॥१२६॥

वहाँ पर राजा आर्यवर्मा ने उसे देखकर अभिनन्दन (स्वागत) किया और रात को वह राजकन्या के शयनागार में इस प्रकार घुसा जैसे रात्रि का अग्नि में सूर्य प्रवेश करता है ॥१२७॥

ददर्श राजकन्यां च तामाकृत्यानुरागिणीम् ।
नरास्थ्यद्भुतविधुरं पश्यन्तीं सास्रया दृशा ॥३२८॥
आसीच्च जाग्रदेवात्र स रात्राववलोकयन् ।
करे कृपाणमाग्नेयं चिन्तितोपगतं दधत् ॥३२९॥
अकस्माच्च महाघोरं ददर्श द्वारि राक्षसम् ।
छिन्नदक्षिणबाहुत्वात् प्रसारितभुजान्तरम् ॥३३०॥
दृष्ट्वा व्यचिन्तयच्चासौ हन्त सोऽयं निशाचरः ।
यस्य बाहुर्मया छिन्नो नगरे पौण्ड्रवर्धने ॥३३१॥
तदेष न पुनर्बाहौ प्रहरिष्याम्यसौ हि मे ।
पलाय्य पूर्ववद्गच्छेत्तस्मात्साधु निहन्म्यमुम् ॥३३२॥
इत्यालोच्य प्रधाव्यैव कचेष्वाकृष्य तस्य सः ।
राक्षसस्य शिरश्छेत्तुं समारेभे विदूषकः ॥३३३॥
तत्क्षणं भीतभीतश्च समुवाच स राक्षसः ।
मा मां वधीः सुसत्त्वस्त्वं तत्कुरुष्व कृपामिति ॥३३४॥
किं नामा त्वं च केयं च तव चेष्टेति तेन सः ।
मुक्त्वा पृष्टश्च वीरेण पुनराह स राक्षसः ॥३३५॥
यमदंष्ट्राभिधानस्य ममाभूतां सुते इमे ।
इयमेका तथान्या च पौण्ड्रवर्धनवासिनी ॥३३६॥
अवीरपुरुषासङ्गाद्रक्षणीये नृपात्मजे ।
शङ्कराज्ञाप्रसादो हि ममाभूदयमीदृशः ॥३३७॥
तत्रादौ बाहुरेकेन छिन्नो मे पौण्ड्रवर्धने ।
त्वया चाद्य जितोऽस्मीह तत्समाप्तमिदं मम ॥३३८॥
तच्छ्रुत्वा स विहस्यैनं प्रत्युवाच विदूषकः ।
ममैव स भुजस्तत्र लूनस्ते पौण्ड्रवर्धने ॥३३९॥
राक्षसोऽप्यवदत्तर्हि देवांशस्त्वं न मानुषः ।
मन्ये त्वदर्थमेवाभूच्छर्वाज्ञानुग्रहः स मे ॥३४०॥
तदिदानीं सुहृन्मे त्वं यदा मां च स्मरिष्यसि ।
तदाहं संनिधास्ये ते सिद्धये संकटेष्वपि ॥३४१॥
एवं स राक्षसो मैत्र्या वरयित्वा विदूषकम् ।
तेनाभिनन्दितवचा यमदंष्ट्रस्तिरोदधे ॥३४२॥

उसने वहाँ जाकर आकार से प्रेममयी और निद्रा के दुःख से व्याकुल एवं आँसू भरे नेत्रों से निहारती हुई राजकन्या को देखा ॥१२८॥

विदूषक वहाँ सतर्क होकर स्मरणमात्र से उपस्थित होनेवाले अग्नि देवता के खड्ग को हाथ में लिये हुए रात-भर जागता रहा। सहसा उसने शयनागार के द्वार पर एक अत्यन्त भीषण राक्षस को देखा जो दाहिना हाथ कट जाने से उसी को फैलाये हुए था ॥१२९-१३ ॥

उसे देखकर विदूषक ने सोचा कि आह! यह तो वही राक्षस है जिसका हाथ मैंने पौण्ड्रवर्धन नगर में काटा था ॥१३१॥

तो आज इसका हाथ नहीं काटता नहीं तो यह पहले की तरह भागकर कहीं चला जायगा। अतः इसे भली भाँति मार डालता हूँ ॥१३२॥

ऐसा सोचकर और दौड़कर उसने उसके बालों को पकड़ा और गला काटने के लिए तलवार उठाई ॥१३३॥

तब वह डरा हुआ राक्षस बोला—'तुम मुझे मत मारो तुम साहसी वीर पुरुष हो। मुझ पर दया करो' ॥१३४॥

'तुम कौन हो? और तुम्हारा यह क्या कार्य है?' इस प्रकार वीर विदूषक के पूछने पर वह राक्षस फिर बोला ॥१३५॥

'मैं यमदंष्ट्र नामक राक्षस हूँ। मेरी दो कन्याएँ हैं, एक तो यह और दूसरी पौण्ड्रवर्धन राजा की ॥१३६॥

'इन दोनों कन्याओं की कायर पुरुषों के संसर्ग से रक्षा करना' —इस प्रकार भगवान् शिव की आज्ञा हुई। इसमें एक वीर ने पहले पौण्ड्रवर्धन में मेरी भुजा काटी और आज तुमने मुझे जीत लिया। अब मेरा यह कार्य समाप्त हुआ' ॥१३७-१३९॥

राक्षस ने और कहा कि 'तुम पुरुष नहीं देवता का अंश हो। समझता हूँ तुम्हारे लिए ही शिवजी की आज्ञा की कृपा हुई थी ॥१४ ॥

अब तुम मेरे मित्र हो गये। तुम जब कभी संकट में स्मरण करोगे तब मैं तुम्हारी सफलता के लिए उपस्थित रहूँगा' ॥१४१॥

इस प्रकार विदूषक को मित्रता से वरण करके और उसकी स्वीकृति प्राप्त करके राक्षस यमदंष्ट्र अन्तर्धान हो गया ॥१४२॥

विदूषकोऽपि सानन्दमभिनन्दितविक्रमः।
राजपुत्र्या तया तत्र हृष्टस्तामनयन्निशाम्॥३४३॥
प्रातश्च ज्ञातवृत्तान्तस्तुष्टस्तस्मै ददौ नृपः।
विभवैः सह शौर्यैकपताकामिव तां सुताम्॥३४४॥
स तया सह तत्रासीद्रात्रीः काश्चिद् विदूषकः।
पदात्पदममुञ्चन्त्या लक्ष्म्येव गुणबद्धया॥३४५॥
एकदा च निशि स्वैरं तत्र प्रायात्प्रियोत्सुकः।
लब्धदिव्यरसास्वादः को हि रज्येद्रसान्तरे॥३४६॥
नगराच्च विनिर्गत्य स तं सस्मार राक्षसम्।
स्मृतमात्रागतं तं च जगाद रचितानतिम्॥३४७॥
सिद्धक्षेत्रे प्रयातव्यमुदयाद्रौ मया सखे।
भद्राविद्याधरीहेतोस्तच्च तत्र मां नय॥३४८॥
तथेत्युक्तवतस्तस्य स्कन्धमारुह्य रक्षसः।
ययौ च स तया गत्या दुर्गमां षष्टियोजनीम्॥३४९॥
प्रातश्च तीर्त्वा शीतोदामलक्ष्यां मानुषैर्नदीम्।
उदयाद्रेरथ प्रापत्सन्निकर्षमयत्नतः॥३५०॥
अथ स पर्वतः श्रीमानुदयाख्यः पुरस्तव।
अत्रोपरि च नास्त्येव सिद्धधाम्नि गतिर्मम॥३५१॥
इत्युक्त्वा राक्षसे तस्मिन्प्राप्तानुज्ञे तिरोहिते।
दीर्घिकां स ददर्शैकां रम्यां तत्र विदूषकः॥३५२॥
ददत्या स्वागतमिव भ्रमद्भ्रमरगुम्फितैः।
तस्यास्तीरे न्यषीदच्च फुल्लपद्माननश्रियः॥३५३॥
स्त्रीणामिवात्र चापल्यमल्पवर्णित सुविस्तरात्।
अथ प्रियागमे मार्गस्तवेति ब्रुवतीमिव॥३५४॥
अलक्ष्योऽस्य गिरिर्मर्त्यैस्तद्विहृत्य वर क्षणम्।
स्थितो भवामि पश्यामि कस्यैष पदपद्धतिः॥३५५॥
इति चिन्तयतस्तस्य तत्र तोयार्थमाययुः।
गृहीतकाञ्चनघटा भव्याः सुबह्वः स्त्रियः॥३५६॥
वारिपूरितकुम्भाश्च ताः स पप्रच्छ योषितः।
कस्येदं नीयते तोयमिति प्रणयपेशलम्॥३५७॥

राजकुमारी से साहस और वीरता के लिए प्रशंसित प्रसन्नचित्त विदूषक ने वहीं रात बिताई ॥१४३॥

प्रातःकाल राजा ने सब वृत्तान्त जानकर विदूषक के शौर्य की अद्वितीय पताका के समान उस राजपुत्री को पर्याप्त दहेज (धन) के साथ उसके लिए दे दिया ॥१४४॥

विदूषक ने उसके गुणों से बँधी हुई अतएव उसका साथ न छोड़ती हुई लक्ष्मी के समान उन कुछ रात्रियों को राजकुमारी के साथ व्यतीत किया ॥१४५॥

एक दिन भद्रा के प्रति उत्सुक विदूषक रात में चुपचाप चल दिया। सच है, दिव्य रस का आस्वाद प्राप्त कर लेने पर कौन दूसरे रसों की चाह करता है? ॥१४६॥

नगर से बाहर निकलकर विदूषक ने राक्षस का स्मरण किया। स्मरण करते ही उपस्थित और नमस्कार करते हुए राक्षस को विदूषक ने कहा ॥१४७॥

'मित्र! मुझे उदय पर्वत पर सिद्धक्षेत्र में भद्रा नाम की विद्याधरी के लिए जाना है, इस लिए तुम मुझे वहाँ ले चलो' ॥१४८॥

ठीक है, चलो ऐसा कहते हुए राक्षस के कन्धे पर चढ़कर वह विदूषक रातो-रात दुर्गम और साठ योजन लम्बी सीतोदा नदी के किनारे पहुँचा। प्रातःकाल मनुष्यों के लिए अलंघ्य सीतोदा नामक नदी को पार करके, बिना परिश्रम ही उदयाचल के समीप जा पहुँचा ॥१४९ १५ ॥

उदय पर्वत के समीप पहुँच कर राक्षस ने कहा—श्रीमान्! यह तुम्हारे सामने उदय पर्वत है। सिद्धों के निवास-स्थान इस पर्वत पर मेरी गति नहीं है' ॥१५१॥

ऐसा कहकर और विदूषक की आज्ञा पाकर राक्षस के अन्तर्धान होने पर विदूषक ने वहाँ एक सुन्दर बावली देखी ॥१५२॥

खिले हुए कमलों से मुख-शोभा को धारण करती हुई वह बावली गुंजारते हुए भौंरों के शब्दों से मानो उसका स्वागत कर रही थी ॥१५३॥

उस बावली के तट पर उसने स्त्रियों के पैरों की पंक्तियाँ देखीं जो मानों उसे यह कह रही थीं कि तुम्हारी प्रियतमा के मिलने का मार्ग यही है ॥१५४॥

विदूषक ने सोचा कि यह पर्वत मनुष्यों के लिए अलङ्घनीय है। अतः यहीं बैठकर देखता हूँ कि यह पैरों की पंक्तियाँ किस की हैं? ॥१५५॥

वह ऐसा सोच ही रहा था कि बहुत-सी सुन्दरियाँ सोने के घड़े लिये हुए जल भरने के लिए बावली पर आईं ॥१५६॥

पानी से घड़े भर लेने के अनन्तर विदूषक ने उन सुन्दरियों से स्नेह-भरम शब्दों में पूछा कि यह जल किसके लिए ले जा रही हो ॥१५७॥

आस्ते विद्याधरी भद्रा भद्रानामात्र पर्वते।
इदं स्नानोदकं तस्या इति तास्च तमब्रुवन् ॥१५८॥
चित्रं धातैव धीरासामारब्धोद्दामकर्मणाम्।
परितुष्यति सामग्रीं घटयत्युपयोगिनीम् ॥३५९॥
यदेका सहसा स्त्री तासां मध्यादुवाच तम्।
महाभाग! मम स्कन्धे कुम्भं उत्क्षिप्यतामिति ॥३६०॥
तथेति च घटे तस्याः स्कन्धोत्क्षिप्ते स बुद्धिमान्।
निदधे भद्रया पूर्वं दत्तं रत्नाङ्गुलीयकम् ॥३६१॥
उपाविशच्च तत्रैव स पुनर्वापिकातटे।
तास्च तज्जलमादाय ययुर्भद्रागृहं स्त्रियः ॥३६२॥
तत्र ताभिश्च भद्राया यावत्स्नानाम्बु दीयते।
तावत्तस्यास्तदुत्सङ्गे निपपाताङ्गुलीयकम् ॥३६३॥
तद्दृष्ट्वा प्रत्यभिज्ञाय भद्रा पप्रच्छ ताः सखीः।
दृष्टः किं कोऽपि युष्माभिरिहापूर्वः पुमानिति ॥३६४॥
दृष्ट एको युवास्माभिर्मानुषो वापिकातटे।
तेनोत्क्षिप्तो घटश्चायमिति प्रत्यब्रुवंश्च ताः ॥३६५॥
ततो भद्रा ब्रवीच्छीघ्रं प्रकल्पतस्नानमण्डनम्।
इहानयत गत्वा तं स हि भर्ता समागतः ॥३६६॥
इत्युक्ते भद्रया गत्वा यथावस्तु निवेद्य च।
स्नातश्च तद्वयस्याभिस्तत्रानिन्ये विदूषकः ॥३६७॥
प्राप्तश्च स ददर्शात्र भद्रां मार्गोन्मुखीं चिरात्।
निजसंचिततरो साक्षात् पक्वामिव फलश्रियम् ॥३६८॥
सापि दृष्ट्वा तमुत्थाय हर्षबाष्पाम्बुसीकरैः।
दत्तार्घेव बबन्धास्य कण्ठे भुजलतास्रजम् ॥३६९॥
परस्परालिङ्गितयोस्तयो स्वेदच्छलादिव।
अतिपीडनतः स्नेहः सस्यन्दे चिरसंभृतः ॥३७०॥
अथोपविष्टावन्योन्यमतृप्तौ विलोकने।
उभौ शतगुणीभूतामिवोत्कण्ठामुदूहतुः ॥३७१॥
आगतोऽसि कथं भूमिमिमामिति च भद्रया।
परिपृष्टः स तत्कालमुवाचैवं विदूषकः ॥३७२॥

उन सुन्दरियों ने कहा—भद्र ! इस पर्वत पर भद्रा नाम की विद्याधरी निवास करती है। यह उसके स्नान का जल है ॥१५८॥

यह सत्य है कि साहसिक कार्यों को प्रारम्भ करनेवाले वीरों के लिए विधाता स्वयं ही उपयोगी सामग्री घटित कर देता है ॥१५९॥

इतने में ही उन सुन्दरियों में से एक बोली—हे महापुरुष ! घड़े को मेरे कन्धे पर रख दो ॥१६०॥

उस बुद्धिमान् विदूषक ने घड़े को उसके कन्धे पर रखते हुए, भद्रा की दी हुई रत्नों की अंगूठी को उस (घड़े) में धीरे से रख दिया ॥१६१॥

और उसी बावली के किनारे फिर बैठ गया। वे स्त्रियाँ पानी लेकर भद्रा के घर चली गई॥ वहाँ जब वे भद्रा को पानी देकर स्नान कराने लगीं तब वह अंगूठी (भद्रा) उसकी गोद में गिर पड़ी ॥१६२-१६३॥

उसे देखकर भद्रा ने सहेलियों से पूछा कि क्या तुम लोगों ने किसी नये मनुष्य को देखा है ॥१६४॥

उन्होंने कहा—हाँ हम लोगों ने नदी के किनारे एक जवान मनुष्य को देखा है उसने ही यह घड़ा भी उठवा दिया था ॥१६५॥

तब भद्रा बोली—तुम लोग उसे स्नान और वेष-भूषा आदि से सज्जित करके शीघ्र ही मेरे पास ले आओ वह मेरा पति आया है ॥१६६॥

भद्रा के इस प्रकार कहने पर और सब कुछ विदूषक से निवेदन करके उसकी सहेलियाँ स्नान किये विदूषक को भद्रा के पास ले आई ॥१६७॥

विदूषक ने उत्सुकता के साथ राह देखती हुई भद्रा को अपने साहस-रूपी वृक्ष के पके हुए फल के समान देखा ॥१६८॥

भद्रा भी उसे देखकर हर्ष के आँसुओं से मानों अर्घ्य देती हुई उसके गले में लिपट गई और उसे अपनी भुज-लता रूपी पाश से बाँध लिया ॥१६९-१७० ॥

तदनन्तर बैठे हुए दोनों परस्पर देखते हुए अघाते नहीं थे। मानों सैकड़ोंमुनी बढ़ी हुई उत्कण्ठा (चाह) उनमें भरी थी ॥१७१॥

'इस स्थान पर कैसे आये ? भद्रा के इस प्रकार पूछने पर विदूषक उसी समय बोला—॥१७२॥

समालम्ब्य भवत्स्नेहमारूढ प्राणसंशयान्।
सुबहूनागतोऽस्मीह किमन्यद् वच्मि सुन्दरि! ॥१७३॥
तच्छ्रुत्वा तस्य दृष्ट्वा तामनपक्षितजीविताम्।
प्रीति काष्ठागतस्नेहा सा भद्रा समभाषत ॥१७४॥
आर्यपुत्र न मे कार्यं सखीभिर्न च सिद्धिभि।
त्वं मे प्राणा गुणक्रीता दासी चाहं तव प्रभो! ॥१७५॥
विदूषकस्ततोऽवादीत्तर्ह्यागच्छ मया सह।
मुक्त्वा दिव्यमिमं भोगं वस्तुमुज्जयिनीं प्रिये ॥१७६॥
तथेति प्रतिपेदे सा भद्रा सपदि तद्वच।
तत्सङ्कल्पपरिभ्रष्टा विद्यास्तृणवज्जहौ ॥१७७॥
ततस्तया समं तत्र स विशश्राम तां निशाम्।
क्लृप्तोपचारस्तत्सख्या योगेश्वर्या विदूषक ॥१७८॥
प्रातश्च भद्रया साकमवतीर्योदयाद्रित।
सस्मार यमदंष्ट्रं तं राक्षसं स पुन कृती ॥१७९॥
स्मृतमात्रागतस्योक्त्वा गन्तव्याध्वक्रमं निजम्।
तस्यारुरोह स स्कन्धे भद्रामारोप्य तां पुर ॥१८० ॥
सापि सेहे तदस्पृश्यराक्षसांसाधिरोहणम्।
अनुराग-परायत्ता कुर्वते किं न योषित ॥१८१॥
रक्षोधिरूढश्च तत स प्रतस्थे प्रियासख।
विदूषक पुन प्राप तच्च कार्कोटकं पुरम् ॥१८२॥
रक्षोदर्शनसत्रास तत्र चालोकितो जन।
दृष्ट्वार्यवर्मनृपतिं स्वां भार्यां मार्गति स्म स ॥१८३॥
दत्तां तेन गृहीत्वा च तत्सुतां तां भुजार्जिताम्।
तत्रैव राक्षसारूढ स प्रतस्थे पुरात्तत ॥१८४॥
गत्वाम्बुधेस्तटे प्राप पापं तं वणिजं च स।
येनास्य वारिधौ पूर्वं क्षिप्ता क्षिप्तस्य रज्जव ॥१८५॥
जहार तस्य च सुतां वणिजः स धनै सह।
प्रागम्बुधौ प्रवहणप्रमोचनधनार्जिताम् ॥१८६॥
धनापहारमेवास्य वधं मेने च पाप्मन।
कदर्याणां पुरे प्राणा प्रायेण ह्यर्थसञ्चया ॥१८७॥

ततो रक्षोरथारूढस्तामानीय वणिक्सुताम् ।
स भद्रां राजपुत्रीभ्यां सहैवोत्पतन्नभः ॥३८८॥
दर्शयन्निजकान्तानां द्युमार्गेण चचार च ।
विस्मयस्तब्ध-संरम्भं स्वपौरुषमिवाम्बुधिम् ॥३८९॥
प्राप तच्च स भूयोऽपि नगरं पौण्ड्रवर्धनम् ।
दृष्टः सविस्मयं सर्वैर्वाहनीकृतराक्षसः ॥३९ ॥
तत्र तां देवसेनस्य सुतां राज्ञश्चिरोत्सुकाम् ।
भार्यां सम्भावयामास राक्षसाक्रमयार्जिताम् ॥३९१॥
रुध्यमानोऽपि तत्पित्रा स स्ववासमुत्सुकः ।
गृहीत्वा तामपि ततः प्रायादुज्जयिनीं प्रति ॥३९२॥
अचिरेण च तां प्राप पुरीं राक्षसयोगतः ।
बहिर्गतामिवात्मीयदेशदर्शननिर्वृतिम् ॥३९३॥
अथोपरिस्थितस्तस्य महाकायस्य राक्षसः ।
अस्यतद्भूपचक्रकान्तिप्रकटितात्मनः ॥३९४॥
स जनैर्ददृशे तत्र शिखरे ज्वलितौषधौ ।
शशाङ्क इव पूर्वाद्रिस्थयस्थो विदूषकः ॥३९५॥
ततो विस्मितविस्रस्ते जने बुद्ध्वाथ भूपतिः ।
आदित्यसेनो निरगाच्छ्वशुरोऽस्य तदा पुरः ॥३९६॥
विदूषकस्तु दृष्ट्वा तमवतीर्याशु राक्षसात् ।
प्रणम्य नृपमभ्यागान्नृपोऽप्यभिननन्द तम् ॥३९७॥
अवतार्यैव तत्स्कन्धात्ताः स्वभार्यास्ततोऽम्बरात् ।
मुमोच कामचाराय राक्षसं स विदूषकः ॥३९८॥
गते च राक्षसे तस्मिन्स तेन सह भूभुजा ।
श्वशुरेण सभार्यः सन् प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥३९९॥
तत्र तां प्रथमां भार्यां तनयां तस्य भूपतेः ।
आनन्दयदुपागम्य चिरोत्कण्ठाकृशीकृताम् ॥४ ॥
कथमेतास्त्वया भार्याः प्राप्ताः कश्च राक्षसः ।
इति पृष्टः स राज्ञाथ सर्वमस्मै शशंस तत् ॥४०१॥
ततः प्रभावतुष्टेन तेन तस्य महीभुजा ।
जामातुर्निजराज्यार्धं प्रदत्तं कार्यवेदिना ॥४०२॥

आकाश-मार्ग से समुद्र में किये गये अपने पौरुष का वर्णन करता हुआ विदूषक क्रमशः समुद्र पार कर गया ॥१८८॥

इस प्रकार, वह क्रमशः पौण्ड्र-वर्धन नगर में पहुँचा। राक्षस को वाहन बनाये हुए उस विदूषक को सभी पुरवासी आश्चर्य से देख रहे थे ॥१८९ ९०॥

पौण्ड्रवर्धन नगर में विदूषक ने राक्षस को पराजित की हुई चिरकाल से उत्सुक देवसेन राजा की कन्या का स्वागत किया ॥१९१॥

राजा देवसेन द्वारा रोका जाता हुआ भी विदूषक उज्जैन जाने के लिए उत्सुक हो रहा था अतः वहाँ रुका नहीं और उसे भी साथ लेकर उज्जैन पहुँचा ॥१९२ १९३॥

विशाल शरीरवाले राक्षस के ऊपर बैठे हुए और कन्धे पर बैठी हुई अपनी वधू की शोभा से शोभित होते हुए विदूषक का उज्जयनी की जनता ने चमकती हुई औषधियोंवाले पूर्वाचल के शिखर पर चमकते हुए चन्द्रमा के समान देखा ॥१९४ १९५॥

नागरिकों के आश्चर्यचकित और व्याकुल होने पर समस्त वृत्तान्त जानकर विदूषक का श्वसुर राजा आदित्यसेन उसके सम्मुख आया ॥१९६॥

तब विदूषक ने राक्षस के कन्धे से शीघ्र ही उतरकर राजा को प्रणाम किया। राजा ने भी उसका अभिनन्दन किया ॥१९७॥

तदनन्तर विदूषक ने राक्षस के कन्धे पर बैठी हुई सभी पत्नियों को उतारकर उसे स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करने के लिए छोड़ दिया ॥१९८॥

राक्षस के चले जाने पर विदूषक अपनी पत्नियों को लिये हुए राजा के साथ राजभवन में गया। राजभवन में जाकर राजा की कन्या और अपनी प्रथम पत्नी से मिला जो चिरकालीन विरह के कारण अत्यन्त उत्कण्ठित हो रही थी ॥१९९ ४ ॥

उज्जयिनी-नरेश आदित्यसेन ने विदूषक के प्रभाव को देखकर उसे अपने जामाता का आधा राज्य प्रदान कर दिया ॥४ १॥

राजा ने विदूषक से पूछा कि मैं इतनी पत्नियाँ कैसे प्राप्त कीं और यह राक्षस कौन है? विदूषक ने क्रमशः सारा वृतान्त सुना दिया ॥४ २॥

तत्प्रभावाच्च स राजाभूद् विप्रो भूत्वा विदूषकः।
समुच्छ्रितसितच्छत्रो विधूतोभयचामरः ॥४०३॥
सदा च मङ्गलातोद्य-वाद्यनिर्ह्रादनिर्भरा।
प्रहर्षमुक्तनादेव रराजोज्जयिनी पुरी ॥४०४॥
इत्याप्तराज्यविभवः क्रमशः स कृत्स्नां
जित्वा महीमखिलराजकपूजिताङ्घ्रिः।
ताभिः समं विगतमत्सररागिभिर्वृताभि-
र्भद्रासमर्पितरमस्त निजप्रियाभिः ॥४०५॥
इत्यनुकूलं दैवं भजति निजं सत्त्वमेव धीराणाम्।
लक्ष्मीरभसाकर्षणसिद्धमहामोदमन्त्रत्वम् ॥४०६॥
इत्थं श्रुत्वा वत्सराजस्य वक्त्राच्चित्रामेतामद्भुतार्थां कथां ते।
पार्श्वासीनामन्त्रिणश्चास्य सर्वे देव्यौ चापि प्रीतिमग्र्यामवापुः ॥४

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
लावाणकलम्बके चतुर्थस्तरङ्गः।

पञ्चमस्तरङ्गः

वत्सराजकृतं विचारणम्

ततो वत्सेश्वरं प्राह तत्र यौगन्धरायणः।
राजन्! दैवानुकूल्यं च विद्यते पौरुषं च ते ॥१॥
नीतिमार्गे च वयमप्यत्र किञ्चित् कृतश्रमाः।
तद्यथा चिन्तितं शीघ्रं कुरुष्व विजयं दिशाम् ॥२॥
इत्युक्ते मन्त्रिमुख्येन राजा वत्सेश्वरोऽब्रवीत्।
अस्त्वेतद् बहुविघ्नास्तु सदा कल्याणसिद्धयः ॥३॥
अतस्तदर्थं तपसा शम्भुमाराधयाम्यहम्।
विना हि तत्प्रसादेन कुतो वाञ्छितसिद्धयः ॥४॥
तच्छ्रुत्वा च तपस्तस्य मन्त्रिणोऽप्यनुमेनिरे।
सेतुबन्धोद्यतस्याब्धौ रामस्येव कपीश्वराः ॥५॥

---

१ चतुर्विध वाद्यानां सम्मिलितः शब्द 'आतोद्य' इत्युच्यते।

आधा राज्य प्राप्त करके वह विदूषक उसी क्षण राजा बन गया। उसके मस्तक पर ऊँचा छत्र लग गया और चारों ओर चँवर डुलने लगे॥४ ३॥

मांगलिक बाजों के शब्द से भरी हुई नगरी ऐसी मालूम हो रही थी मानों हर्ष के कारण प्रसन्नता प्रकट कर रही हो॥४ ४॥

इस प्रकार राज्य-वैभव प्राप्त करके विदूषक धीरे-धीरे सारी पृथ्वी को विजय करके स्नेह से एक साथ रहती हुई भद्रा आदि पत्नियों के साथ चिरकाल तक आनन्द का अनुभव करता रहा॥४ ५॥

इस प्रकार, दैव के अनुकूल होने पर मनुष्य का अपना ही बल और साहस लक्ष्मी को हठ पूर्वक आकृष्ट करने का महामन्त्र हो जाता है॥४ ६॥

आश्चर्यमयी इस कथा को वत्सराज के मुँह से सुनकर वे सभी यौगन्धरायण आदि मन्त्री तथा दोनों महारानियाँ (वासवदत्ता पद्मावती) अत्यन्त प्रसन्न हुईं॥४ ७॥

चतुर्थ तरङ्ग समाप्त

पंचम तरंग

वत्सराज के द्वारा शिव की आराधना

तब यौगन्धरायण ने वत्सराज से कहा—'महाराज! इस समय आपका दैव (भाग्य) अनुकूल है और पुरुषार्थ (बल) तुममें है ही। इधर हमलोग (मन्त्रिगण) भी राजनीतिक दाँव-पेंचों के जानकार हैं इसलिए जैसा सोचा गया है तदनुसार पृथ्वी का विजय करो'॥१ २॥

यह सुनकर वत्सराज ने कहा—'यह ठीक है, किन्तु कल्याण-साधना में विघ्न बहुत होते हैं'॥३॥

इसलिए मैं इस विजय की सिद्धि के लिए मैं तप द्वारा शिव जी की आराधना करता हूँ क्योंकि उनकी कृपा के बिना इष्ट सिद्धि कैसे हो सकती है'॥४॥

राजा की इस इच्छा का सभी मन्त्रियों ने इस प्रकार अनुमोदन किया जिस प्रकार सेतु बाँधने के लिए उद्यत रामजी के शिवाराधन के लिए कभी वानरों ने अनुमोदन किया था॥५॥

ततस्त सह देवीभ्यां सचिवश्च तपःस्थितम्।
त्रिरात्रोपोषितं भूपं शिवः स्वप्ने समादिशत् ॥६॥
तुष्टोऽस्मि ते तदुत्तिष्ठ निर्विघ्नं जयमाप्स्यसि।
सर्वविद्याधराधीशं पुत्रं चवाप्चिरादिति ॥७॥
तत स बुबुधे राजा तत्प्रसादहृतक्लम।
अर्काशुरचिताप्याय प्रतिपच्चन्द्रमा इव ॥८॥
आनन्दयच्च सचिवान् प्रात स्वप्नेन तेन स।
व्रतोपवासक्लान्त च देव्यौ द्व पुष्पकोमले ॥९॥
तत्स्वप्नवर्णनेनैव श्रोत्रपेयेन तृप्तयो।
तयोश्च विगतायत जात स्वाद्वौषधक्रम ॥१०॥
लेभे स राजा तपसा प्रभाव पूर्वज समम्।
पुण्यां पतिव्रतानां च तत्पत्न्यौ कीर्तिमापतु ॥११॥
उत्सवव्यग्रपौरे च विहितव्रतपारणे।
यौगन्धरायणोऽभ्ययुरिसि राजानमब्रवीत् ॥१२॥
धन्यस्त्व यस्य चैवेत्थ प्रसन्नो भगवान् हर।
तदिदानीं रिपून् जित्वा भज लक्ष्मीं भुजार्जिताम् ॥१३॥
सा हि स्वधर्मसम्भूता भूभृतामन्वये स्थिरा।
निजधर्मार्जितानां हि विनाशो नास्ति सम्पदाम् ॥१४॥
तथा च चिरभूमिष्ठो निधि पूर्वजसम्भृत।
प्रणष्टो भवता प्राप्त किं चात्रैतां कथां शृणु ॥१५॥

देवदासवैश्यस्य कथा

बभूव देवदासाख्य पुरे पाटलिपुत्रके।
पुरा कोऽपि वणिक्पुत्रो महाधनकुलोद्गत ॥१६॥
अभवत्तस्य भार्या च नगरात् पौण्ड्रवर्धनात्।
परिणीता समृद्धस्य कस्यापि वणिज सुता ॥१७॥
गते पितरि पञ्चत्व क्रमेण व्यसनाश्रित।
स देवदासो द्यूतेन सर्वं धनमहारयत् ॥१८॥
ततश्च तस्य सा भार्या दु खदारिद्र्यदु खिता।
एत्य नीता निज गेह स्वपित्रा पौण्ड्रवर्धनम् ॥१९॥

तदनन्तर दोनों रानियों और मन्त्रियों के साथ तीन रात तक उपवास करते हुए राजा को शिवजी ने स्वप्न में आदेश दिया॥६॥

'मैं तुमसे प्रसन्न हूँ उठो तुम बिना किसी विघ्न-बाधा के विजय प्राप्त करोगे'॥७॥

शिवजी के प्रसाद से कष्ट रहित राजा इस प्रकार उदित हुआ जिस प्रकार सूर्य की किरणों से वृद्धि प्राप्त करके प्रतिपदा का चन्द्रमा शोभित होता है॥८॥

प्रभातकाल में उठकर राजा ने मन्त्रियों तथा व्रत-उपवास से क्लान्त फूल के समान कोमल दोनों पत्नियों को स्वप्न का वर्णन करके हर्षित कर दिया॥९॥

कानों के द्वारा पीने (सुनने) के योग्य उस स्वप्न के कथन से दोनों महारानियों को मानों मीठी औषधि का उपचार हुआ॥१०॥

राजा वत्सराज ने तपस्या के प्रभाव से अपने पूर्वजों के समान प्रभाव प्राप्त किया। और, उसकी दोनों पत्नियों ने पतिव्रताओं की पवित्र कीर्ति प्राप्त की॥११॥

व्रत की समाप्ति के उत्सव पर समस्त नगरवासी उत्सव में व्यग्र रहे। उसके दूसरे दिन यौगन्धरायण ने राजा को कहा॥१२॥

स्वामी! तुम धन्य हो जिस पर शिवजी इस प्रकार प्रसन्न हैं। इसलिए तुम अब शत्रुओं को जीतकर अपनी भुजा से अर्जित लक्ष्मी प्राप्त करो॥१३॥

अपने धर्म से प्राप्त सम्पत्ति का विनाश नहीं होता॥१४॥

इसीलिए तुमने अपने पूर्वजों की चिरकाल से भूमि में गड़ी हुई नष्ट लक्ष्मी को प्राप्त किया है। इस पर एक कथा सुनो॥१५॥

देवदास वैश्य की कथा

पाटलिपुत्र नगर में बड़े धनी कुल में उत्पन्न देवदास नामका वैश्य-पुत्र था॥१६॥

उसकी पत्नी पौण्ड्रवर्धन नगर के किसी धनी वैश्य की कन्या थी॥१७॥

पिता के मर जाने पर व्यसनी देवदास ने जुए में सारा धन गँवा दिया॥१८॥

उसके दरिद्र हो जाने पर उसकी पत्नी दुःख से कष्ट में रहती थी। इसलिए उसका धनी पिता आकर उसे अपने घर (पौण्ड्रवर्धन) ले गया॥१९॥

धने सोऽपि विपत्तिषु स्थातुमिच्छन् स्वकर्मणि।
भार्यार्थी देवदासस्तं श्वशुरं याचितुं ययौ ॥२०॥
प्राप्तश्च सन्ध्यासमये तत्पुरं पौण्ड्रवर्धनम्।
रजोरूक्षो विवस्त्रश्च वीक्ष्यात्मानमचिन्तयत् ॥२१॥
ईदृशः प्रविशामीह कथं श्वशुरवेश्मनि।
वरं हि मानिनो मृत्युर्न दैन्यं स्वजनाग्रतः ॥२२॥
इत्यालोच्यापणे गत्वा स क्वापि विपणेर्बहिः।
नक्तं सङ्कुचितस्तस्थौ तत्कालं कमलोपमः ॥२३॥
क्षणाच्च तस्यां विपणौ प्रविशन्तं व्यलोकयत्।
युवानं वणिजं कञ्चिदुद्घाटितकपाटकम् ॥२४॥
क्षणान्तरे स तत्रैव निःशब्दपदमागताम्।
द्रुतमन्तःप्रविष्टां च स्त्रियमेकां ददर्श सः ॥२५॥
ज्वलत्प्रदीपे यावच्च ददौ दृष्टिं तदन्तरे।
प्रत्यभिज्ञातवांस्तावत्तां निजामेव गेहिनीम् ॥२६॥
ततः सोऽर्गलितद्वारां भार्यां तामन्यगामिनीम्।
दृष्ट्वा दुःखाशनिहतो देवदासो व्यचिन्तयत् ॥२७॥
धनहीनेन देहोऽपि हार्यते स्त्रीषु का कथा।
निसर्गनियतं यासां विद्युतामिव चापलम् ॥२८॥
तदियं सा विपत्पुंसां व्यसनार्णवपातिनाम्।
गतिः सैव स्वतन्त्राया स्त्रिया पितृगृहे स्थिते ॥२९॥
इति सञ्चिन्तयंस्तस्या भार्याया स बहिः स्थितः।
रतान्तविस्रम्भजुषः कथालापमिवाशृणोत् ॥३०॥
उपेत्य च ददौ द्वारि स कर्णं सापि तत्क्षणम्।
इत्यब्रवीदुपपतिं पापा स वणिजं रहः ॥३१॥
शृण्विदं कथयाम्यद्य रहस्यं तेऽनुरागिणी।
मद्भर्तुर्वीरवर्माख्यः पुराऽभूत्प्रपितामहः ॥३२॥
स्वगृहस्याङ्गणे तेन चत्वारः स्वर्णपूरिताः।
कुम्भाश्चतुर्षु कोणेषु निगूढाः स्थापिता भुवि ॥३३॥
तदेकस्याः स्वभार्यायाः स चक्रे विदितं तदा।
तद्भार्या चान्तकाले सा स्नुषायै तदवोचत ॥३४॥
सापि स्नुषायै मच्छ्वश्र्वै मच्छ्वश्रूरब्रवीच्च मे।
इत्ययं मत्पतिकुले श्वश्रूक्रमभुवागमः ॥३५॥

कुछ दिनों तक स्वयं कष्ट पाता हुआ और कुछ व्यापार के लिए श्वसुर से धन पाने की इच्छा से देवराग उसके पास गया ॥२० ॥

और मैला-कुचैला धूल से भरा हुआ वह सायंकाल पौण्ड्रवर्धन नगर में पहुँचा। अपनी ऐसी स्थिति देखकर सोचने लगा कि इस हालत में ससुराल कैसे जाऊँ। दरिद्र व्यक्ति के लिए मर जाना अच्छा है, किन्तु अपने सम्बन्धियों के आगे दीनता प्रदर्शन उचित नहीं ॥२१ २२॥

ऐसा सोचकर वह बाजार में जाकर किसी दुकान के बाहर चौतरे पर रात में कमल के समान सिमटकर पड़ा रहा ॥२३॥

कुछ ही देर बाद उसने दुकान का दरवाजा खोलकर उसमें घुसते हुए किसी युवक वैश्य को देखा। कुछ ही समय के बाद एक दासी आई हुई और जल्दी से दुकान में घुसी किसी स्त्री को देखा ॥२४-२५॥

दुकान के अन्दर जलते हुए दीप के प्रकाश से दरवाजे की दरार से जब उसने अन्दर झाँका तब अपनी पत्नी को देखा और पहचान लिया ॥२६॥

अन्दर से द्वार बन्द करके अन्य पुरुष के संसर्ग में अपनी पत्नी को देखकर उस पर मानों वज्रपात-सा हुआ और वह सोचने लगा ॥२७॥

बुरे व्यसनों के समुद्र में पड़े हुए पुरुषों के लिए ऐसी विपत्तियाँ सुलभ हैं। धनहीन व्यक्ति शरीर को भी बेच देता है स्त्रियों की तो बात ही क्या जिसका जीवन स्वभावतः विद्युत् के समान चंचल होता है? ॥२८॥

पिता के घर में रहनेवाली स्वतन्त्र स्त्री की यही गति होती है ॥२९॥

ऐसा सोचता वह बाहर बैठा हुआ अपनी स्त्री तथा उसके उपपति का गुप्त वार्तालाप सुनने लगा ॥३० ॥

उसने दुकान के द्वार पर जाकर कान लगाया तो वह पापिन स्त्री एकान्त में उस अपने उपपति वैश्य से कह रही थी कि तेरे प्रति मेरा प्रेम है, इसलिए कहती हूँ सुनो ॥३१॥

मेरे पति का परदादा वीरवर्मा था उसने अपने घर के आँगन के चारों कोनों में सोने की अशर्फियों से भरे चार घड़े छिपाकर गाड़े हैं। यह बात उसने अपनी एक स्त्री से कही थी उस स्त्री ने मरने के समय उसकी बहू (पतोहू) से बता दी। उसने अपनी बहू (मेरी सास) को यह बतलाया और मेरी सास ने मुझसे कहा। इस प्रकार मेरे पति के कुल में सासों के द्वारा इस धन की जानकारी के लिए परम्परा चल रही है ॥३२-३५॥

स्वभर्तुस्तच्च न मया दरिद्रस्यापि वणिजम् ।
स हि धूर्तरतो द्वेष्यस्त्व तु मे परम प्रिय ॥३६॥
तत्तत्र गत्वा मद्भर्तु सकाशात्तद्गृह धनै ।
क्रीत्वा तत्प्राप्य च स्वर्णमिहैत्य भज मां सुखम् ॥३७॥
एवमुक्त कुटिलया स तयोपपतिर्वणिक ।
तुतोष तस्य मन्वानो निधि लब्धमयत्नत ॥३८॥
देवदासोऽपि कुवधूवाक्शल्यैस्तैर्बहिर्गत ।
कीलितामिव तत्काल धनाशां हृदये दधौ ॥३९॥
जगाम च तत सद्य पुर पाटलिपुत्रकम् ।
प्राप्य च स्वगृह लब्ध्वा निधान स्वीचकार तत् ॥४०॥
अथाजगाम स वणिक्तद्भार्याच्छन्नकामुक ।
तमेव तत्र वाणिज्यव्याजेन निधिलोलुप ॥४१॥
देवदाससकाशाच्च क्रीणाति स्म स तद्गृहम् ।
देवदासोऽपि मूल्येन भूयसा तस्य तद्ददौ ॥४२॥
ततो गृहस्थिति कृत्वा युक्त्या श्वशुरवेश्मन ।
स देवदास शीघ्र तामानिनाय स्वगेहिनीम् ॥४३॥
एव कृते च तद्भार्याकामुक स वणिक्छठ ।
असम्पन्ननिधिरभ्येत्य देवदासमुवाच तम् ॥४४॥
एतद्भवद्गृह जीर्ण मह्य न खलु रोचते ।
तद्देहि मे निज मूल्य स्वगृह स्वीकुरुष्व च ॥४५॥
इति जल्पश्च स वणिक् देवदासश्च विब्रुवन् ।
उभौ विवादसक्तौ तौ राजाग्रमुपजग्मतु ॥४६॥
तत्र स्वभार्यावृत्तान्त वक्त्रस्थविषदु सहम् ।
देवदासो नरेन्द्राय कृत्स्नमुद्गिरति स्म तम् ॥४७॥
ततस्तामाह्वाय्य तद्भार्यां तत्त्व चान्विष्य भूपति ।
अदण्डयत्स सर्वस्व वणिज पारदारिकम् ॥४८॥
देवदासोऽपि कुवधू कृत्वा तां छिन्ननासिकाम् ।
अन्यां च परिणीयात्र तस्थौ लब्धनिधि सुखम् ॥४९॥

---

१ परदाराभिगमनमस्य स्वम् ।

वत्सराजस्य दिग्विजयप्रयाणम्

इत्थं धर्मार्जिता लक्ष्मीरा सन्तत्यनपायिनी ।
इतरा तु जलापाततुषारकणनश्वरी ॥५ ॥
अतो यतेत धर्मेण धनमर्जयितुं पुमान् ।
राजा तु सुतरां येन मूलं राज्यतरोर्धनम् ॥५१॥
तस्माद्यथावत्सम्मान्य सिद्धये मन्त्रिमण्डलम् ।
कुरु दिग्विजयं देव लब्धुं धर्मोत्तरां श्रियम् ॥५२॥
श्वशुरद्वयबन्धूत्था प्रसक्तानुप्रसक्तितः ।
विकुर्वते न बहवो राजानस्ते मिलन्ति च ॥५३॥
यस्त्वेष ब्रह्मदत्ताख्यो वाराणस्यां महीपतिः ।
नित्यं वैरी स ते तस्माद् विजयस्व तमग्रतः ॥५४॥
तस्मिञ्जिते जय प्राचीप्रक्रमेणाखिला दिशः ।
उच्चैः कुरुष्व च पाण्डोर्यशश्च कुमुदोज्ज्वलम् ॥५५॥
इत्युक्तो मन्त्रिमुख्येन तथेति विजयोद्यतः ।
वत्सराजः प्रकृतिषु प्रयाणारम्भमादिशत् ॥५६॥
ददौ वैदेहदेशं च राज्यं गोपालकाय सः ।
सत्कारहेतोर्नृपतिः श्वशुर्यायानुगच्छते ॥५७॥
किं च पद्मावतीभ्रात्रे प्रायच्छत्सिंहवर्मणे ।
सम्मान्य चेदिविषयं सख्ये समनुपेयुषे ॥५८॥
आनाययच्च स विभुर्भिल्लराजं पुलिन्दकम् ।
मित्रं बलैर्व्याप्तदिशं प्रावृट्कालमिवाम्बुदैः ॥५९॥
अमुष्य यात्रासंरम्भो राष्ट्रे तस्य महाप्रभोः ।
आकुलस्य तु चामुना हृदि चित्रमजायत ॥६ ॥
यौगन्धरायणश्चाथ चारान्वाराणसीं प्रति ।
प्राहिणोद् ब्रह्मदत्तस्य राज्ञो ज्ञातुं विचेष्टितम् ॥६१॥
ततः शुभेऽह्नि प्रीतो निमित्तजयशंसिभिः ।
ब्रह्मदत्तं प्रति प्राच्यां पूर्वं वत्सेश्वरो ययौ ॥६२॥
आरूढः प्रोच्छ्रितच्छत्रं प्रोत्तुङ्गजयकुञ्जरम् ।
गिरिं प्रफुल्लैकतरुं मृगेन्द्र इव दुर्मदः ॥६३॥

प्राप्तया सिद्धिदूत्येव शरदा व्रतसमय ।
दर्शयन्त्यातिसुगमं मार्गं स्वल्पाम्बुनिम्नगम् ॥६४॥
पूरयन्बहुनादाभिर्वाहिनीभिर्भुवस्तलम् ।
कुर्वन्नकाण्ड निर्मेघ-वर्षा-समय-सम्भ्रमम् ॥६५॥
तदा स सैन्य-निर्घोष प्रतिशब्दाकुलीकृता ।
परस्परमिवाचख्युस्तदागमभयं दिश ॥६६॥
चलुश्च हेमसनाहसम्भृतार्कप्रभा हया ।
तस्य नीराजनप्रीतपावकानुगता इव ॥६७॥
विरेजुर्वारणाश्चास्य सितध्वजचामरा ।
विगलद्गण्डसिन्दूरशोणदानजला पथि ॥६८॥
शरत्पाण्डुपयोदाङ्का सधातुरसनिर्झरा ।
यात्रानुप्रेषिता भीतैरारगजा इव भूधरै ॥६९॥
नैवैष राजा सहते परेषा प्रसृत मह ।
इतीव तद्बमूरेणुरर्कतेजस्तिरोदधे ॥७०॥
पश्चात्पथ च द्वे देव्यौ मार्गे समनुजग्मतु ।
नृप नयगुणाकृष्टे इव कीर्तिजयश्रियौ ॥७१॥
नमताश्च पलायध्वमित्यूच विद्विषामिव ।
पवनाक्षिप्तविक्षिप्तैस्तस्य सनाध्वजांशुकै ॥७२॥
एव ययौ स दिग्भागान् पश्यन् फुल्लसिताम्बुजान् ।
महीमर्दभयोद्भ्रान्तकपोतक्षिप्तपक्मानिव ॥७३॥
अत्रान्तरे च ते चारा धूर्तकापालिकव्रता ।
योगन्धरायणादिष्टा प्रापुर्वाराणसीं पुरीम् ॥७४॥
तेषा च कुहकाभिज्ञो ज्ञानित्वमुपदर्शयन् ।
शिष्यैव गुरुतामेक शेषास्तच्छिष्यतां ययु ॥७५॥
आचार्योऽस्य भिक्षाभक्ष इति ख्यापयन्त च तम् ।
शिष्यास्ते स्थापयामासुर्भिक्षाशिनमितस्तत ॥७६॥
यदुवाचाग्निदाहादि स ज्ञानी भावि पृच्छताम् ।
तच्छिष्यास्तथा गुप्त चक्रुस्तेन स पप्रथ ॥७७॥
रञ्जित क्षुद्रविद्यया च सत्रस्य नृपवल्लभम् ।
स्वीचक्र स कम्प्येकं राजपुत्रमुपागतम् ॥७८॥

सफलता की दूती के समान आई हुई बलाकाओं और नदियों को सुखाकर¹ मार्गों को सुखद और सुगम बनाती हुई शरद ऋतु ने राजा को उत्साह प्रदान किया ॥६४॥

विविध प्रकार के शब्द करती हुई सेनाओं से भूतल को भरता हुआ और आकाश में ही वर्षा-काल का भ्रम करता हुआ वह राजा विजय के लिए अग्रसर हुआ ॥६५॥

उसकी सेना के महान् कलकल शब्द की प्रतिध्वनियों से मानों दिशाएँ परस्पर उसके आगमन की सूचनाएँ देने लगी ॥६६॥

सोने के साजों से सजे हुए, अतएव सूर्य की किरणों से चमकते हुए उसकी सेना के घोड़े ऐसे मालूम होते थे मानों नीराजन-विधि से प्रसन्न अग्नि का अनुगमन कर रहे हैं ॥६७॥

दोनों कानों के समीप झूलते हुए सफेद चामरों से शोभित और मस्तक पर लगे हुए सिन्दूर के कारण लाल मद-जल बहाते हुए उसके हाथी मार्ग में चलते हुए ऐसे मालूम होते थे मानों राजा के भय से डरे हुए पर्वतों ने शरत्कालीन श्वेत मेघ-खण्डों से मण्डित एवं धातु-रसों के झरने बहाते हुए अपने पुत्र सेना की सहायता के लिए भेजे हों ॥६८ ६९॥

यह राजा अपने सामने फैलते हुए दूसरे के तेज को सहन नहीं कर सकता। इसीलिए मानों सेना से उड़ी हुई धूल ने सूर्य के तेज को ढाँप दिया ॥७ ॥

राजा के पीछे-पीछे उसकी दोनों महारानियाँ इस प्रकार चल रही थी मानों राजा की नीति और गुणों से आकृष्ट होकर कीर्ति और विजय-लक्ष्मी चल रही हों ॥७१॥

वायु से इधर-उधर उड़ाये जाते हुए सेना की ध्वजाओं के शब्दे मानों शत्रुओं को चेतावनी दे रहे थे कि या तो नम्र होकर अधीनता करो या भाग जाओ ॥७२॥

वह राजा खिले हुए श्वेत-कमलों से शोभित जगल-जमल के भू-भागों को शेषनाग के उठे हुए फणों के समान देखता हुआ जा रहा था ॥७३॥

इसी बीच यौगन्धरायण से प्रेरित गुप्तचर, कापालिक का वेश बनाकर, वाराणसी नगरी में पहुँचे ॥७४॥

उनमें एक भूत भविष्य का हाल जाननेवाला ज्ञानी (ज्योतिषी) बन गया और दूसरे सब उसके शिष्य बन गये ॥७५॥

वे उसके शिष्य नगर में इधर-उधर घूमते हुए अपने गुरु के सम्बन्ध में यह प्रचार करते थे कि यह हमारा आचार्य भिक्षान्न और केवल भिक्षा लेकर ही जाता है ॥७६॥

वह ज्ञानी गुरु पूछनेवालों को जो भविष्य में होनेवाली अग्निदाह आदि की बातें बताता था उसके शिष्य उन बातों को गुप्त रूप से स्वयं प्रचारित करके उनका पता बताते थे। इस प्रकार वह मिथ्या सिद्ध काशी नगरी में प्रसिद्ध सिद्ध बन गया। इस प्रकार उस सिद्ध ने एक छोटे-से चमत्कार से राजा के अत्यन्त प्यारे एक राजपुत्र को अपना उपासक बना लिया ॥७७-७८॥

---

१ देखिए रघु सर्ग ४ श्लो २४—
सरितः कुर्वती गाधा पथश्चाश्यानकर्दमान्।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥

तमुक्तनैव राज्ञश्च ब्रह्मदत्तस्य पृच्छतः ।
सोऽभूत्तत्र रहस्यज्ञः प्राप्ते वत्सेशविग्रहे ॥७९॥
अथास्य ब्रह्मदत्तस्य मन्त्री योगकरण्डकः ।
चकार वत्सराजस्य व्याजानागच्छतः पथि ॥८० ॥
अदूषयत्प्रतिपथं विषादिद्रव्ययुक्तिभिः ।
वृक्षान् कुसुमवल्लीश्च तोयानि च तृणानि च ॥८१॥
विदधे विषकन्याश्च सैन्ये पण्यविलासिनीः ।
प्राहिणोत्पुरुषांश्चैव निशासु छद्मघातिनः ॥८२॥
तच्च विज्ञाय स ज्ञानिलिङ्गी चारो न्यवेदयत् ।
यौगन्धरायणायाशु स्वसहायमुखस्तदा ॥८३॥
यौगन्धरायणोऽप्येतद् बुद्ध्वा प्रतिपदं पथि ।
दूषितं तृणतोयादि प्रतियोगैरशोधयत् ॥८४॥
अपूर्वस्त्रीसमायोगं कटके निषिषेध च ।
अवधीद् वधकांस्तांश्च लब्ध्वा सह रुमण्वता ॥८५॥
तद्बुद्ध्वा ध्वस्तमायः सन् सैन्यपूरितदिङ्मुखम् ।
वत्सेश्वरं ब्रह्मदत्तो मेने दुर्जयमेव तम् ॥८६॥
सम्मन्त्र्य दत्त्वा दूतं च शिरोभिरचिताञ्जलिः ।
ततः स निकटीभूतं वत्सेशं स्वयमभ्यगात् ॥८७॥
वत्सराजोऽपि तं प्राप्तं प्रदत्तोपायनं नृपम् ।
प्रीत्या सम्मानयामास शूरा हि प्रणतिप्रियाः ॥८८॥

वत्सराजस्य दिग्विजयकथा

इत्थं तस्मिञ्जिते प्राचीं शमयन्नमयन् नृपान् ।
उन्मूलयंश्च कठिनान्भूपान्वायुरिव द्रुमान् ॥८९॥
प्राप च प्रबलः प्राच्यं चलद्वीचीविघूर्णितम् ।
वङ्गावजयविभासवपमानमिवाम्बुधिम् ॥९ ॥
तस्य वेलातटान्ते च जयस्तम्भं[1] चकार सः ।
पातालाभययाच्ञार्थं नागराजमिवोद्गतम् ॥९१॥

---

१ तुलना कार्या—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥
—रघुवंश, ४ सर्ग।

उसी राजपुत्र के द्वारा राजा ब्रह्मदत्त की युद्ध-सम्बन्धी गति-विधियों का ज्ञान प्राप्त करता था ॥७९॥

तदनन्तर योग नामक ब्रह्मदत्त के मन्त्री ने जाते हुए वत्सराज के मार्ग में विविध प्रकार के विनाश के जाल बिछा दिये ॥८०॥

यात्रा में आनेवाली प्रत्येक सड़क पर आनेवाले पेड़ लताओं कुंओं तालाबों घास फूस आदि में जहरीले द्रव्यों का योग करा दिया ॥८१॥

वत्सराज की सेना में विषकन्या[1] को बाजारू वेश्याओं के रूप में और रात में चोरी के बहाने कत्लेआम करनेवाले गुप्तचरों को वत्सराज की सेना में भेजा ॥८२॥

उस बनावटी सिद्ध कापालिक ने राजपुत्र से सारी बातें जानकर अपने सहायकों द्वारा यौगन्धरायण को शीघ्र सूचनाएँ प्रेषित की ॥८३॥

यौगन्धरायण जासूसों से यह सब जानकर मार्ग में विष से दूषित घास जल आदि का विपरीत योगों से शोधन कर देता था। उसने सेना-शिविर में आनेवाली अपूर्व स्त्रियों के वध की आज्ञा दे दी और गुप्त घातकों को सेनापति रुमण्वान् के साथ खोज-खोजकर मरवा डाला ॥८४ ८५॥

यह जानकर कूटनीति के विफल होने पर ब्रह्मदत्त ने विशाल सेना के साथ सब दिशाओं को घेरकर आक्रमण करते हुए वत्सराज को अजेय समझा ॥८६॥

ऐसा सोचकर और मन्त्रियों से सम्मति करके सन्धि-दूत को भेजकर सिर पर अंजलि रखकर प्रणाम करता हुआ ब्रह्मदत्त निकट आये हुए वत्सराज के समीप स्वयं गया ॥८७॥

वत्सराज ने भी उपहार लेकर स्वयं आये हुए राजा ब्रह्मदत्त का समुचित सम्मान किया क्योंकि वीर पुरुष प्रणति से प्रसन्न हो जाते हैं ॥८८॥

वत्सराज के दिग्विजय की कथा

इस प्रकार, काशी-नरेश के विजित हो जाने पर पूर्व दिशा को शान्त करता हुआ मृदु नम्र राजाओं को झुकाता हुआ और कठोर शत्रुओं को वृक्षों को वायु के समान उखाड़ता हुआ वत्सराज बढ़ती हुई लहरों से सूखते हुए एवं बंग-देश के विजय भय से मानों काँपते हुए पूर्व समुद्र के तट पर पहुँचा ॥८९ ९ ॥

वत्सराज ने पूर्व समुद्र-तट पर एक जयस्तम्भ गाड़ दिया मानों पाताल के लिए अभय की प्रार्थना करने के निमित्त नागराज उठकर आया हो ॥९१॥

---

१ विषकन्याएँ दो प्रकार की होती हैं, एक तो ऐसे नक्षत्र या लग्न में उत्पन्न होती हैं कि जिनके सहवास से व्यक्ति तुरन्त मर जाता है। दूसरी, प्रारम्भ से ही विष खिलाकर कृत्रिम विषकन्याएँ बनाई जाती हैं, जिनके सम्पर्क में आते ही पुरुष की मृत्यु हो जाती है।—अनु

अवनम्य करे दत्ते कलिङ्गैरग्रगैस्ततः ।
आरुरोह महेन्द्राद्रिं यशस्तस्य यशस्विनः ॥९२॥

महेन्द्राभिभवाद् भीतैर्विन्ध्यकूटैरिवागतैः ।
गजैर्विन्ध्याटवीं राजा स ययौ दक्षिणां दिशम् ॥९३॥

तत्र चक्रे स निःसारपाण्डुरानपराजितान् ।
पर्वसाश्रयिणः शत्रून् शरत्काल इवाम्बुदान् ॥९४॥

उल्लङ्घ्यमाना कावेरी तेन समर्दकारिणा ।
चोलकस्वरकीर्तिश्च कालुष्यं ययतुः समम् ॥९५॥

न परं मुरलानां स सेहे मूर्धसु नोन्नतिम् ।
करैराहन्यमानेषु यावत्कान्ताकुचेष्वपि ॥९६॥

यत्तस्य सप्तधा भिन्नं पपुर्गोदावरीपयः ।
मातङ्गास्तन्मदव्याजात् सप्तधैवामुचन्निव ॥९७॥

अथोत्तीर्य स वत्सेशो रेवामुज्जयिनीमगात् ।
प्रविवेश च तां चण्डमहासेनपुरस्कृतः ॥९८॥

स माल्यश्लथधम्मिल्लशोभाद् वैगुण्यशालिनाम् ।
मालवस्त्रीकटाक्षाणां ययौ पात्रैव लक्ष्यताम् ॥९९॥

तस्थौ च निर्वृतस्तत्र तथा श्वशुरसत्कृतः ।
विसस्मार यथाभीष्टानपि भोगान् स्वदेशजान् ॥१० ॥

आसीद् वासवदत्ता च पितुः पार्श्वनिवर्तिनी ।
स्मरन्ती बालभावस्य सौख्येऽपि विमना इव ॥१ १॥

राजा चण्डमहासेनस्तया तनयया यथा ।
तथैव पद्मावत्यापि नन्दति स्म समागतः ॥१०२॥

विश्रम्य च दिनान् कांश्चित्प्रीतो वत्सेश्वरस्ततः ।
अन्वितः श्वशुरैः सैन्यैः प्रययौ पश्चिमां दिशम् ॥१०३॥

---

१ अनुपचेव तमाला सप्तधैव प्रभुस्तुषः—रघु ४ सर्ग।

कलिंग-देशों का राजाओं ने नम्र-होकर कर दे देने पर (पराजित होकर अधीनता स्वीकार कर लेने पर) उस यशस्वी वत्सराज का यश महेन्द्र पर्वत पर गड़ गया ॥९२॥

महेन्द्र पर्वत के अपमान से डरे हुए, अतएव अनुगमन करते हुए विन्ध्य-पर्वत के शिखरों के समान हाथियों से उस देश के राजाओं को जीतकर (वत्सराज) दक्षिण दिशा की ओर गया ॥९३॥

दक्षिण दिशा में शरत्काल के समान राजा ने मेघों के समान शत्रुओं का (दक्षिण के राजाओं को) निस्सार और श्वेत बदनवाले गर्जना-रहित और पर्वतों पर आश्रय लेनेवाला बना दिया ॥९४॥

भीषण संघर्ष करनेवाले उस राजा उदयन ने कावेरी का उल्लंघन करके उसे और चोल देश के राजा की कीर्ति को कलुषित कर डाला अर्थात् चोल[1] राजा को पराजित कर दिया ॥९५॥

राजा उदयन ने करों से मारे हुए मुरल देश के राजाओं के सिरों की उन्नति का ही सहन नहीं किया प्रत्युत करों से विताडित उस देश की स्त्रियों की कुचोन्नति को भी सहन नहीं किया ॥९६॥

राजा उदयन के हाथियों ने सात धाराओं में विभक्त गोदावरी का जल पीया था वह उन्होंने उस जल को मद के बहाने सात स्थानों से निकाल दिया[3] ॥९७॥

दक्षिण-विजय करने के अनन्तर वत्सराज नर्मदा नदी को पार करके उज्जयिनी में आया। वहाँ उसके श्वसुर (वासवदत्ता के पिता) ने उसकी अगवानी की ॥९८॥

वहाँ राजा उदयन मालाओं से ग्रथित केशपाशों से दुनी शोभा धारण करते हुए मालव रमणियों के कटाक्षों का लक्ष्य (शिकार) बन गया ॥९९॥

श्वसुर द्वारा सत्कार किया गया उदयन उज्जयिनी में कुछ दिनों तक ठहर गया। वहाँ उसकी ऐसी आवभगत हुई कि वह अपने घर के सुखों को भी भूल गया ॥१ ॥

पिता की गोद में लोटती हुई वासवदत्ता अपने बाल्यकाल का स्मरण करके महारानी के सुख में भी निःस्पृह हो गई ॥१ १॥

राजा चण्डमहासेन भी जैसे वासवदत्ता से आनन्दित हुआ वैसे ही पद्मावती से भी आनन्द अनुभव करता था ॥१ २॥

कुछ रातें उज्जयिनी में व्यतीत करके, ससुर की सेनाओं से युक्त वत्सराज पश्चिम दिशा की ओर चला ॥१ ३॥

---

१ देखिए परिशिष्ट। २ देखिए परिशिष्ट। ३ देखिए रघु सर्ग ४—ससृजुर्मद तमतारा सप्तधैव मसृज्जतुः।

तस्य खड्गलता नून प्रतापानलधूमिका।
यच्चक्रे लाट'नारीणामुदश्रुकलुषा दृशः ॥१०४॥
असौ मथितुमम्भोधिं मा मामुन्मूलयिष्यति।
इतीव सवृगजाधूतवनोऽस्वेपत मन्दरः ॥१०५॥
तस्य स कोऽपि तेजस्वी भास्वतादिविलक्षणः।
प्रतीच्यामुदयं प्राप प्रकृष्टमपि यज्जयी ॥१०६॥
ततः कुबेरतिलकामलकावासभासिनीम्।
कैलासहाससुभगामाशामभिससार सः ॥१०७॥
सिन्धुराजं वशीकृत्य हरिसैन्यैरनुद्रुतः।
क्षपयामास च म्लेच्छान् राघवो राक्षसानिव ॥१०८॥
तुरुष्क'तुरगव्राताः क्षुब्धस्याब्धेरिवोर्मयः।
तद्गजेन्द्रघटा वेलावनेषु दलशो ययुः ॥१०९॥
गृहीतारिकरः' श्रीमान् पापस्य पुरुषोत्तमः।
राहोरिव स चिच्छेद पारसीकपतेः शिरः ॥११०॥
हूणहानिकृतस्तस्य मुखरीकृतदिङ्मुखा।
कीर्तिर्द्वितीया गङ्गेव विचचार हिमाचले ॥१११॥
नदन्तीष्वस्य सेनासु भयस्तिमितविद्विषः।
प्रतीपः शुश्रुवे नादः शैलरन्ध्रेषु केवलम् ॥११२॥
अपच्छत्रेण शिरसा कामरूपेश्वरोऽपि तम्।
समन्विच्छायतां भेजे यत्तदा न तदद्भुतम् ॥११३॥
तद्दत्तैरन्वितो नाम सम्राड् विववृतेऽथ सः।
अद्रिभिर्जङ्गमैः शालं करीकृत्यार्पितैरिव ॥११४॥
एवं विजित्य वत्सशो वसुधां सपरिच्छदः।
पद्मावतीपितुः प्राप पुरं मगधभूभृतः ॥११५॥
मगधेशश्च देवीभ्यां सहितेऽस्मिन्नुपस्थिते।
सारथ्योऽभूत्प्रियाभ्यां ज्योत्स्नावति चन्द्र इव स्मरः ॥११६॥
अविज्ञातस्थितामादौ पुनश्च व्यक्तिमागताम्।
मेने वासवदत्तां च सोऽधिकप्रश्रयास्पदम् ॥११७॥

---

१ लाटविषयः परिश्चिमो विधृतः।
२ अयमपि परिश्चिमो विधृतः।
३ हरिवत्सराजयोः विशेषविशेषणमिदम् वत्सराजपक्षे गृहीतः अरीणां करः येन, हरिपक्षे च—गृहीतं अरिः सुदर्शनं करे येन।

अवश्य ही राजा उदयन की तलवार उसके प्रतापानल की धूमरेखा के समान थी क्योंकि उसने लाट देश की स्त्रियों की आँखों को उमड़ते हुए आँसुओं से कलुषित कर दिया था ॥१०४॥

यह राजा समुद्र-मन्थन के लिए कहीं मुझे उखाड़ न ले इसी भय से वायु से काँपते हुए वनोंवाला मन्दराचल पर्वत मानों काँपने लगा ॥१०५॥

राजा उदयन सचमुच सूर्य से विलक्षण कोई तेजस्वी है जिसका पश्चिम में उदय हुआ ॥१०६॥

पश्चिम-विजय करने पर राजा उदयन कुबेर से अलकृत अलका-नगरी से विभूषित कैलास के हास से सुन्दर उत्तर दिशा को चला ॥१०७॥

वहाँ पर घोड़ों की सेना से युक्त उदयन ने सिन्धुराज को वश में करके म्लेच्छों का इस प्रकार संहार किया जैसे राम ने राक्षसों का किया था। विक्षुब्ध समुद्र की लहरों के समान पारसी घोड़ों के झुण्ड उदयन के हाथी-रूपी तटवनों से आकर टकराये। शत्रुओं से कर लेने वाले उस महापुरुष उदयन ने हाथ में चक्र लिये हुए विष्णु के समान पापी पारस के राजा का सिर राहु के समान काट डाला ॥१०८-११०॥

हूणों का विनाश करनेवाले राजा उदयन की कीर्ति दूसरी गंगा के समान हिमालय पर विचरण करने लगी ॥१११॥

हिमालय में कन्दराओं में भय से त्रस्त (छिपे हुए) शत्रुवाले राजा की सेना के कोलाहल की केवल प्रतिध्वनि ही सुन पड़ती थी ॥११२॥

कामरूप (आसाम) देश का राजा बिना छत्र के सिर से उसे (उदयन को) प्रणाम करता हुआ जो छत्रप्रभ हो गया यह आश्चर्य की बात नहीं ॥११३॥

उस (कामरूप-नरेश) द्वारा जंगम पर्वतों के समान कर के रूप में दिये गये हाथियों के साथ सम्राट् उदयन दिग्विजय-यात्रा से लौट आया ॥११४॥

वह वत्सराज इस प्रकार पृथ्वी को जीतकर सेना के साथ पद्मावती के पिता मगध नरेश के नगर (राजगृह) लौट आया ॥११५॥

मगध-नरेश दोनों महारानियों के साथ उसे उपस्थित देखकर इस प्रकार प्रसन्न हुआ जैसे निशा में चाँदनी-युक्त चन्द्रमा के होने पर कामदेव प्रसन्न होता है ॥११६॥

पहले छिपे रूप में और पश्चात् प्रकट रूप में स्थित वासवदत्ता को उसने नम्रता के कारण अधिक रूप में माना ॥११७॥

ततो मगधभूभृता सनगरेण तेनार्चितः
समग्रजनमानसैरनुगतोऽनुरागागतः ।
निर्गीर्णवसुधातलो बलभरेण लावाणकं
जगाम विषयं निजं स किल वत्सराजो जयी ॥११८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
लावाणकलम्बके पञ्चमस्तरङ्गः ।

षष्ठस्तरङ्गः

वत्सराजकथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततः स सेनाविश्रान्त्यै तत्र लावाणके स्थितः ।
रहस्युवाच वत्सेशो राजा यौगन्धरायणम् ॥१॥
त्वद्बुद्ध्या निर्जिताः सर्वे पृथिव्यां भूभृतो मया ।
उपायस्वीकृतास्ते च नैव व्यभिचरन्ति मे ॥२॥
वाराणसीपतिस्त्वेष ब्रह्मदत्तो दुराशयः ।
जाने व्यभिचरत्येको विश्वासः कुटिलेषु कः ॥३॥
इति वत्सेश्वरेणोक्त आह यौगन्धरायणः ।
न राजन् ब्रह्मदत्तस्ते भूयो व्यभिचरिष्यति ॥४॥
आक्रम्योपनतस्त्वेव भूयः सम्मानितस्त्वया ।
शुभाचारस्य कः कुर्यादशुभं हि सचेतनः ॥५॥
कुर्वीत वा यस्तस्यैव तदात्मन्यशुभं भवेत् ।
तथा च श्रूयतामत्र कथां ते वर्णयाम्यहम् ॥६॥

फलभूतेः कथा

बभूव पद्मविषये पुरा कोऽपि द्विजोत्तमः ।
ख्यातिमानग्निदत्ताख्यो भूभृद्दत्ताग्रहार[1]भुक् ॥७॥
तस्यैकः सोमदत्ताख्यः पुत्रो ज्यायानजायत ।
द्वितीयश्चाभवद् वैश्वानरदत्ताख्यया सुतः ॥८॥

---

१ राजभिः ब्राह्मणेभ्यो मर्यादितत्वाजावसथिने दानक्रमेण प्रदत्ता भूमिरग्रहार इत्युच्यते । यस्मिन्देशेऽग्रहाराणां प्राचुर्यं वर्तते ।

तदनन्तर नगरवासियों के साथ मगध-नरेश द्वारा सत्कार किया गया लौहमय समस्त वर्णों से अभिमण्डित सेना के भार से समस्त पृथ्वी को वश में किये हुए विजयी सम्राट् उदयन अपने देश गया ॥११८॥

पञ्चम तरंग समाप्त

षष्ठ तरंग

वत्सराज की कथा (क्रमशः)

विजय-यात्रा से थकी हुई सेना का विश्राम कराने के लिए लावाणक में ठहरे हुए वत्सराज उदयन ने एक बार एकान्त में यौगन्धरायण से कहा ॥१॥

तुम्हारे बुद्धि-वैभव से मैंने पृथ्वी के सभी राजाओं को जीत लिया। उपाय से वश में किये गये वे राजा कभी विरोधी नहीं हो सकते ॥२॥

किन्तु वाराणसी का यह राजा ब्रह्मदत्त अब भी विरोध करता है। कुटिल मनुष्यों पर क्या विश्वास ? ॥३॥

वत्सराज के इस प्रकार कहने पर यौगन्धरायण ने कहा कि महाराज! ब्रह्मदत्त अब फिर विरोध न करेगा ॥४॥

आक्रमण करके दबाया हुआ वह तुमसे अत्यधिक सम्मानित हुआ है। कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो अपना भला करनेवाले के साथ बुरा बर्ताव करेगा ॥५॥

यदि करता भी है तो अपनी ही आत्मा का अकल्याण करता है। इस प्रसंग में एक कथा कहता हूँ सुनो ॥६॥

ब्रह्मभूति की कथा

प्राचीन काल में पद्म प्रदेश में प्रसिद्ध नामवाला अग्निदत्त नाम का ब्राह्मण था जो राजा के द्वारा दान दिये गये अग्रहार[1] (ग्राम) से जीवन-निर्वाह करता था ॥७॥

उसका बड़ा लड़का सोमदत्त और छोटा वैश्वानरदत्त था ॥८॥

---

[1] प्राचीन समय में राजा लोग ब्राह्मणों को जीवन निर्वाह के लिए जल-सिंचाई आदि सुविधावाली भूमि दान देते थे। उसे अग्रहार कहते हैं। दक्षिण-भारत में अब भी ऐसे सहस्रों अग्रहार मिलते हैं।

आद्यस्तयोरभू मूर्ख स्वाकृतिर्दुर्विनीतक ।
अपरश्चाभवद् विद्वान्विनीतोऽध्ययनप्रिय ॥९॥
कृतदारावुभौ तौ च पितर्यस्तङ्गते तत ।
तदीयस्याग्रहारावेर्भमर्घ विभेजतु ॥१ ॥
तन्मध्यात्स कनीयांश्च राज्ञा सम्मानितोऽभवद् ।
ज्येष्ठस्तु सोमदत्तोऽभूच्चपल क्षमकर्मकृद् ॥११॥
एकदा मद्यगोष्ठीक शूद्रै सह विलोक्य तम् ।
सोमदत्त पितृसुहृद् द्विज कोऽप्येवमब्रवीत् ॥१२॥
अग्निदत्तसुतो भूत्वा शूद्रवन्मूर्ख[1] चष्टसे ।
निजमवानुज दृष्ट्वा राजपूज्य न सज्जसे ॥१३॥
तच्छ्रुत्वा कुपित सोऽथ सोमदत्त प्रधाव्य तम् ।
विप्र पादप्रहारेण चखानोज्झितगौरव ॥१४॥
तत्र विप्र स कृत्वान्यान् साक्षिणस्तत्क्षण द्विजान् ।
गत्वा पादाहतिक्रुद्धो राजान त व्यजिज्ञपत् ॥१५॥
राजापि सोमदत्तस्य बन्धाय प्राहिणोद् भटान् ।
ते च निर्गत्य तन्मित्रैर्जघ्निरे शस्त्रपाणिभि ॥१६॥
ततो भूयो बल प्रेष्यावष्टब्धस्याय भूपति ।
क्रोधान्ध सोमदत्तस्य शूलारोपणमादिशत् ॥१७॥
आरोप्यमाण शूलायामथाकस्मात्स च द्विज ।
प्रक्षिप्त इव केनापि निपपात तत क्षितौ ॥१८॥
रक्षन्ति भाविकल्याण भाग्यान्यव यतोऽस्य ते ।
अन्धीबभूवुर्वधका पुनरारोपणोद्यता ॥१९॥
तत्क्षण श्रुतवृत्तान्तस्तुष्टो राजा कनीयसा ।
भ्रात्रास्य कृतविज्ञप्तिर्वधादेनममोचयत् ॥२०॥
ततो मरणनिस्तीर्ण सोमदत्तो गृहे सह ।
गन्तु राजावमानेन देशान्तरमियेष स ॥२१॥
यदा च नैच्छन्गमन समवास्तस्य बान्धवा ।
त्यक्तराजाग्रहारार्घा प्रतिपेदे तदा स्थितिम् ॥२२॥
ततो वृत्यन्तराभावात्स तु स चकमे कृषिम् ।
तद्योग्यां च भुवं द्रष्टुं शुभेऽहन्यटवीं ययौ ॥२३॥

उनमें ज्येष्ठ पुत्र सोमदत्त सुन्दर होने पर भी मूर्ख और उद्दण्ड था तथा छोटा पुत्र विद्वान् विनयी और अध्ययनप्रेमी था। दोनों विवाहित थे अतः पिता की मृत्यु हो जाने पर दोनों ने गाँव का आधा-आधा बाँट लिया ॥९–१ ॥

दोनों में छोटा वैश्वानरदत्त विद्वान् होने के कारण राजा से सम्मानित था और बड़ा सोमदत्त उद्दण्ड एवं क्षत्रिय कर्म (लड़ने-भिड़ने) करनेवाला था ॥११॥

एक बार मूर्ख शूद्रों के साथ गोष्ठी बनाकर बैठे हुए सोमदत्त को उसके पिता के किसी मित्र ने कहा हे मूर्ख! अग्निदत्त के पुत्र होकर शूद्रों का-सा व्यवहार करते हो। राजा से सम्मानित अपने छोटे भाई को देखकर लज्जित नहीं होते ॥१२ १३॥

यह सुनकर क्रुद्ध सोमदत्त ने दौड़कर उस ब्राह्मण को लात मारी ॥१४॥

लात खाकर क्रुद्ध ब्राह्मण ने वहाँ बैठे हुए लोगों को गवाह बनाकर राजा के समीप जाकर निवेदन किया ॥१५॥

तब राजा ने सोमदत्त को बाँधकर लाने के लिए सिपाहियों को भेजा। सोमदत्त के मूर्ख मित्रों ने शस्त्रों से उन सिपाहियों को मारा ॥१६॥

यह सुनकर क्रोध में राजा ने सेना के द्वारा पकड़वाकर उसे फाँसी की आज्ञा दे दी ॥१७॥

सूली पर चढ़ा हुआ वह ब्राह्मण मानो किसी के द्वारा फेंका हुआ-सा पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥१८॥

भाग्य ही भविष्य में होनेवाले कल्याण की रक्षा करते हैं। उसे फिर सूली पर चढ़ाने के लिए तैयार बधिक अन्धे हो गये। उसी समय उसके छोटे भाई के अनुनय-विनय करने पर राजा ने उसे फाँसी से छुड़ा दिया ॥१ ९ ॥

मृत्यु-मुख से छूटे हुए सोमदत्त ने राजा के द्वारा किये गये अपमान के कारण अपनी गृहस्थी के साथ उस देश को छोड़कर दूसरे देश जाने की इच्छा प्रकट की ॥२१॥

जब उसके एकत्र हुए बन्धुओं ने उसे देश-त्याग के लिए मना किया तब उसने राजा के बाँटे ग्राम का अधिकार छोड़ दिया और वहीं रहने लगा ॥२२॥

काम छूट जाने से जीवन-निर्वाह का उपाय न देखकर उसने कृषि (खेती) करने का निश्चय किया और कृषि-योग्य भूमि ढूँढ़ने के लिए किसी शुभ दिन जंगल में गया ॥२३॥

तत्र लेभे शुभां भूमिं सम्भाव्य फलसम्पदम् ।
तन्मध्ये च महाभोगमश्वत्थतरुमैक्षत ॥२४॥
स कल्याणघनच्छायाच्छन्नभूमीशुशीतलम् ।
प्रावृट्कालमिवालोक्य कृष्यर्थी तोषमाप स ॥२५॥
योऽधिष्ठाताऽत्र तस्यैव भक्तोऽस्मीत्यभिधाय च ।
कृतप्रदक्षिणोऽश्वत्थवृक्षं तं प्रणनाम स ॥२६॥
संयोज्याथ बलीवर्दयुगं रचितमङ्गलः ।
कृत्वा बलिं तस्य तरोरारेभे कृषिमत्र स ॥२७॥
तस्थौ तस्यैव चाधस्ताद्द्रुमस्य स दिवानिशम् ।
भोजनं तस्य चानिन्ये तत्रैव गृहिणी सदा ॥२८॥
काले तत्र च पक्वेषु तस्य सस्येष्वशङ्कितम् ।
सा भूमिः परराष्ट्रेण दैवादेत्य व्यलुण्ठ्यत ॥२९॥
ततः परबले याते नष्टे सस्ये च सत्त्ववान् ।
आश्वास्य रुदतीं भार्यां किञ्चिच्छेषं तदा ददौ ॥३ ॥
प्रागवत्कृतबलिस्तस्थौ तथैव च तरोरधः ।
निसर्गः स हि धीराणां यदापद्यधिकं दृढा ॥३१॥
अथ चिन्ताविनिद्रस्य स्थितस्यैकाकिनो निशि ।
तस्याश्वत्थतरोस्तस्मादुच्चचार सरस्वती ॥३२॥
भो सोमदत्त ! तुष्टोऽस्मि तव तद्गच्छ भूपतेः ।
आदित्यप्रभसंज्ञस्य राष्ट्रं श्रीकण्ठनागम् ॥३३॥
तत्र तस्यानवरतं द्वारदेशे महीपतेः ।
वदेः पठित्वा सन्ध्याग्निहोत्रमन्त्रानिदं वचः ॥३४॥
फलभूतिरहं नाम्ना विप्रः शृणुत वच्मि यत् ।
भद्रकृत्प्राप्नुयाद्भद्रमभद्रं चाप्यभद्रकृत् ॥३५॥
एवं वदंश्च तत्र त्वं महतीमृद्धिमाप्स्यसि ।
सन्ध्याग्निहोत्रमन्त्रांश्च मत्त एव पठाधुना ॥ ६॥
सह च यत इत्युक्त्वा स्वप्रभावेण तत्क्षणम् ।
तमध्याप्य च तान्मन्त्रान् वटे वाणी तिरोऽभवत् ॥३७॥
प्रातः स सोमदत्तश्च प्रतस्थे भार्यया सह ।
फलभूतिरिति प्राप्य नाम यक्षकृतं कृती ॥३८॥
अतिक्रम्याटवीस्तास्ता विषमाः परिवर्तिनीः ।
दुर्गा इव सम्प्राप श्रीकण्ठविषयं च सः ॥३९॥

जंगल में उसने अच्छी फसल होने योग्य एक भूमि देखी और उसके मध्य में बड़ी विस्तृत (लम्बी-चौड़ी) घनी छाया के कारण (सूर्य-किरणों को रोकने के कारण) शीतल एक पीपल के वृक्ष को वर्षाकाल के समान देखकर वह कृषक अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ ॥२४-२५॥

तब सोमदत्त ने इस वृक्ष में रहनेवाला जो भी देवता है मैं उसका भक्त हूँ ऐसा कहकर वृक्ष की प्रदक्षिणा कर उसे प्रणाम किया ॥२६॥

तदनन्तर बैलों को जोड़कर मंगल के लिए पूजा-पाठ आदि करके और वृक्ष का प्रसाद चढ़ाकर उसने खेती प्रारम्भ कर दी ॥२७॥

खेती करता हुआ वह सोमदत्त उसी वृक्ष के नीचे दिन-रात रहने लगा। उसकी पत्नी प्रतिदिन उसे वहीं भोजन लाकर देती थी ॥२८॥

कुछ समय के बाद जब उसकी खेती पककर तैयार हुई, तो दूसरे राजा के राष्ट्र पर आक्रमण करने के कारण लूट ली गई। शत्रु-सेना के चले जाने पर और धन के नष्ट होने पर उसने रोती हुई पत्नी को समझा-बुझाकर कुछ बचा-खुचा अन्न समेट लिया ॥२९-३०॥

और पहले के समान पीपल के वृक्ष में रहनेवाले देवता की बलि (प्रसाद) चढ़ाकर धैर्य के साथ वहीं रहने लगा, क्योंकि धैर्यशाली जीव विपत्ति के समय स्वभावतः अधिक दृढ़ हो जाते हैं ॥३१॥

तदनन्तर एक दिन रात में चिन्ता से निद्रा न आने के कारण जागते हुए सोमदत्त ने पीपल के वृक्ष से निकली हुई यह वाणी सुनी—हे सोमदत्त! मैं तुम से प्रसन्न हूँ। तुम श्रीकंठ-देश में आदित्यप्रभ नामक राजा के राष्ट्र में जाओ। उस राजा के द्वार पर निरन्तर सन्ध्या और अग्निहोत्र के मन्त्र का पाठ करते हुए यह कहना कि मैं फलभूति नामक ब्राह्मण हूँ जो कहता हूँ उसे सुनिए— शुभ कार्य करनेवाला कल्याण प्राप्त करता है और अशुभ कार्यकारी अशुभ प्राप्त करता है। तुम्हें सन्ध्या और अग्निहोत्र के मन्त्र नहीं आते, उन्हें अभी मुझसे पढ़ो मैं यक्ष हूँ। ऐसा कहकर यक्ष ने अपने प्रभाव से उसी समय मन्त्र पढ़ा दिये। मन्त्र पढ़ाकर वाणी मौन हो गई ॥३२-३३॥

प्रातःकाल सोमदत्त यक्ष द्वारा दिये गये फलभूति नाम को पाकर अपनी पत्नी के साथ श्रीकंठ-देश की ओर चल पड़ा। वह अनेक बड़े-बड़े भीषण जंगलों को पारकर दुर्दशा के साथ श्रीकंठ-देश में पहुँचा ॥३४॥

तत्र सन्ध्याग्निकार्यादि पठित्वा द्वारि भूपतेः।
यथावसरं सम्प्राप्य फलभूतिरिति स्वकम् ॥४०॥
सोऽवादीद् भद्रकृद् भद्रमभद्र चाप्यभद्रकृत्।
प्राप्नुयादिति लोकस्य कौतुकोत्पादकं वचः ॥४१॥
मुहुश्च तद्वदन्त स तत्रादित्यप्रभो नृपः।
बुद्ध्वा प्रवेशयामास फलभूतिं कुतूहली ॥४२॥
सोऽपि प्रवेश्य तस्याग्रे तदेव मुहुरब्रवीत्।
जहास तेन स नृपस्तदा पार्श्वस्थितैः सह ॥४३॥
समामन्तश्च वस्त्राणि दत्त्वा चाभरणानि सः।
ग्रामान् राजा ददौ तस्मै न तोषो महतां मृषा ॥४४॥
एवं च तत्क्षणं प्राप गुह्यकानुग्रहेण सः।
फलभूतिः कृशो भूत्वा विभूतिं भूभृदर्पिताम् ॥४५॥
सदा तदेव च वदन् पूर्वोक्तं प्राप भूपते।
वाल्लभ्यमीश्वराणां हि विनोदरसिकं मनः ॥४६॥
क्रमाद्राजगृहे चास्मिन् राष्ट्रेष्वन्तःपुरेषु च।
राजप्रिय इति प्रीतिं बहुमानामवाप सः ॥४७॥
कदाचिदथ सोऽन्यस्मात् कस्माद्धकटकमागतः।
आदित्यप्रभभूपालः सहसान्तःपुरं ययौ ॥४८॥
द्वास्थसम्भ्रमसाशङ्कः प्रविश्यैव ददर्श सः।
देवी देवार्चनव्यग्रां नाम्ना कुवलयावलीम् ॥४९॥
दिगम्बरामूर्ध्वकेशीं निमीलितविलोचनाम्।
स्थूलसिन्दूरतिलकां जपप्रस्फुटिताधरम् ॥५ ॥
विविधवर्णकन्यस्तमहामण्डलमध्यगाम्।
असृक्सुरामहामांसकल्पितोग्रबलिक्रियाम् ॥५१॥
साऽपि प्रविष्टे नृपतौ सम्भ्रमाकलितांशुका।
तेन पृष्टा क्षणादेवमवोचद्याचिताभया ॥५२॥
त्वदैवोदयलाभाय कृतवत्यस्मि पूजनम्।
अत्र चागमवृत्तान्तं सिद्धिं च शृणु मे प्रभो ! ॥५३॥

कुवलयावलीकथिता वार्ता

पुराहं पितृवेश्मस्था कन्या मधुमहोत्सवे।
एवमुक्ता वयस्याभिः समदयोद्यानवर्तिनी ॥५४॥
अस्तीह प्रमदोद्याने तरुषण्डस्य मध्यगः।
दृष्टप्रभावो वरदो देवदेवो विनायकः ॥५५॥

वहाँ राजद्वार पर सन्ध्या अग्निहोत्र आदि के मन्त्र पढ़कर और अपना फलभूति नाम सुनाकर बोला—'कल्याणकारी कल्याण प्राप्त करता है और अशुभकर्ता अशुभ प्राप्त करता है। शास्त्रों में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले ये वचन बोलने लगा ॥४०-४१॥

उसे बार बार ऐसा कहते हुए सुनकर चकित हुए राजा आदित्यप्रभ ने उसे अन्दर बुलवाया ॥४२॥

वह फलभूति भीतर राजा के समीप आकर भी बार-बार वही वाक्य कहने लगा जिसे सुनकर राजा और उसके समीप बैठे हुए व्यक्ति हँसने लगे। इस प्रकार प्रसन्न राजा ने उसे अच्छे-अच्छे वस्त्र गहने और अनेक गाँव पुरस्कार में दिये। बड़ों की प्रसन्नता झूठी (व्यर्थ) नहीं होती ॥४३-४४॥

इस प्रकार यश की कृपा से निर्धन फलभूति ने राजा द्वारा दी गई विभूति प्राप्त की और सदा इसी प्रकार बकता हुआ राजा का प्रेमपात्र बन गया। राजाओं का मन विनोद का सदा रसिक होता है। क्रमशः वह फलभूति (सोमदत्त) धीरे-धीरे राज्य में रनिवास में और सर्वत्र ही राजप्रिय होने के कारण सम्मानित हुआ ॥४५-४७॥

किसी समय राजा आदित्यप्रभ जंगल से शिकार खेलकर एकाएक रनिवास में चला गया। द्वारपाल की घबराहट से शंकित राजा ने रानी के भवन में प्रवेश करते ही रानी कुवलयावली को देव-पूजा में संलग्न देखा ॥४८-४९॥

राजा ने वहाँ खड़े हुए बालोंवाली आँखें मूँदे हुए, मोटा सिन्दूर का तिलक लगाये हुए, मुख से फड़कते हुए ओंठोंवाली रंग-बिरंगे बड़े-से मण्डल के भीतर बैठी हुई तथा रक्त मद्य और मांस से उग्र बलि देती हुई नंगी रानी को देखा ॥५०-५१॥

रानी भी राजा के सहसा आ जाने पर घबराहट से धोती पहनने लगी। राजा के पूछने पर अभय प्रार्थना करके बोली—महाराज! तुम्हारी उन्नति के लिए ही यह पूजन कर रही हूँ। इस पूजा की प्राप्ति और सिद्धि का वृत्तान्त सुनो ॥५२-५३॥

रानी कुवलयावली द्वारा कही गई कथा

पहले पिता के घर में जब मैं कन्या (अविवाहित) थी तब एक बार वसन्तोत्सव के समय सूने उद्यान में बैठी हुई सखियों ने आकर कहा—'इस बगीचे उद्यान में पेड़ों की झुरमुट में सिद्धिदाता वरदायी गणपति की मूर्ति है। वह भक्तों की मनःकामना पूर्ण करते हैं ॥५४-५५॥

उनकी पूजा कर, तो अवश्य ही अपने अनुकूल पति को प्राप्त करोगी' ॥५६॥

यह सुनकर मैंने अपने स्वाभाविक भोलेपन से सखियों से पूछा कि क्या विनायक (गणेश) की पूजा से कुमारियाँ अपने योग्य पति को प्राप्त करती हैं? ॥५७॥

मेरे पूछने पर उन्होंने कहा—'तुम क्या कह रही हो? उनकी पूजा के बिना किसी को कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। हम गणपति का प्रभाव तुम्हें बतलाती हैं, सुनो।' ऐसा कहकर सहेलियों ने मुझे यह कथा सुनाई ॥५८-५९॥

गणपति की कथा

प्राचीन काल में देवता लोग सेनापतित्व के लिए शिवजी के पुत्र को चाहते थे। तारकासुर ने इन्द्र को भगा दिया और शिवजी ने कामदेव को दग्ध कर दिया। ऊर्ध्वरेता (आजन्म ब्रह्मचारी) अत्यन्त उग्र एवं लम्बी तपस्या में बैठे हुए शिवजी को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए पार्वती ने तप किया और पुत्र की प्राप्ति एवं कामदेव का पुनर्जन्म माँगा, किन्तु उसने कार्य-सिद्धि के लिए गणेशजी के पूजन का स्मरण नहीं किया ॥६०—६२॥

तब अपना अभीष्ट चाहनेवाली पार्वती से शिव ने कहा—'प्रिये! सबसे पहले प्रजापति ब्रह्मा के मन से कामदेव उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न होते ही मद से बोला किसे उन्मत्त करूँ? तब प्रजापति ने उसका नाम कन्दर्प रख दिया और उससे बोले—'बेटा तुम्हें अत्यन्त दर्प हो गया है तो एक त्रिनेत्र शिव से अपनी रक्षा करना। कहीं उससे तुम्हारी मृत्यु न हो'। ब्रह्मा से इस प्रकार समझाया हुआ भी दुष्ट कामदेव मुझे क्षुब्ध करने के लिए आया और मैंने उसे दग्ध कर दिया। वह पुनः देह के साथ जीवित नहीं हो सकता ॥६३—६६॥

तुम्हें तो मैं अपनी ही शक्ति से पुत्र उत्पन्न कर दूँगा। साधारण सांसारिक जनों के समान मुझे कामदेव की प्रेरणा से प्रजोत्पादन-शक्ति की आवश्यकता नहीं है ॥६७॥

जब शिवजी पार्वती से इस प्रकार कह रहे थे, तभी उनके सम्मुख ब्रह्मा इन्द्र के साथ प्रकट हुए। उन्होंने स्तुति करके शिवजी से तारकासुर से शान्ति के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने भी पार्वती की कोख से सन्तान उत्पन्न करना स्वीकार किया ॥६८-६९॥

अनुमेने च कामस्य जन्म चेतसि देहिनाम् ।
सर्गविच्छेदरक्षार्थममूर्तस्यैव तद्गिरा ॥७०॥
ददौ च मिश्रचित्तोऽपि सोऽवकाशं मनोभुवः ।
तेन तुष्टो ययौ धाता मुदं प्राप च पार्वती ॥७१॥
ततो यातेषु दिवसेष्वेकदा रहसि स्थितः ।
सिषेवे सुरतक्रीडामुमया सह शङ्करः ॥७२॥

कुमारजन्मकथा

यदा नाभूद्रतान्तोऽस्य गतेष्वब्दशतेष्वपि ।
तदा तदुपमर्देन चकम्पे भुवनत्रयम् ॥७३॥
ततो जगन्नाशभयाद्रतविघ्नाय शूलिनः ।
वह्निं स्मरन्ति स्म सुराः पितामहनिदेशतः ॥७४॥
सोऽप्यग्निः स्मृतमात्रः सन्नधृष्यं मदनान्तकम् ।
मत्वा पलाय्य देवेभ्यः प्रविवेश जलान्तरम् ॥७५॥
तत्तेजोदह्यमानाश्च तत्र भेका दिवौकसाम् ।
विचिन्वतां शशंसुस्तमग्निमन्तर्जलस्थितम् ॥७६॥
ततस्ताननभिव्यक्तवाचः शापेन तत्क्षणम् ।
भेकान्कृत्वा तिरोभूय भूयोऽग्निर्मन्दरं ययौ ॥७७॥
तत्र तं कोटरान्तःस्थं देवाः शम्बूकरूपिणम् ।
प्रापुर्गजशुकाख्यानात्स तेभ्यो दर्शनं ददौ ॥७८॥
कृत्वा जिह्वाविपर्यासं शापेन शुकदन्तिनाम् ।
प्रतिपेदे च देवानां स कार्यं तैः कृतस्तुतिः ॥७९॥
गत्वा च स्वोष्मणा सोऽग्निर्निवार्य सुरताच्छिवम् ।
शापभीरुः प्रणम्यास्मै देवकार्यं न्यवेदयत् ॥८ ॥
शर्वोऽप्यास्यगतेऽग्नौ तस्मिन्वीर्यं स्वमादधे ।
तद्धि धारयितुं शक्तो न वह्निर्नाम्बिकापि वा ॥८१॥
न मया तनयस्त्वत्तः सम्प्राप्त इति वादिनीम् ।
खेदकोपाकुलां देवीमित्युवाच ततो हरः ॥८२॥
विघ्नोऽत्र तव जातोऽयं विना विघ्नेशपूजनम् ।
तदर्चयस्व येनाशु वह्नौ नो जनिता सुतः ॥८३॥

इत्युक्ता शम्भुना देवी चक्रे विघ्नेश्वरार्चनम्।
अनलोऽपि सगर्भोऽभूत्तेन वीर्येण धूर्जटेः ॥८४॥
ततश्च शाम्भवं बिभ्रत्स सदा दिवसेष्वपि।
अन्तःप्रविष्टतिग्मांशुरिव सप्तार्चिराबभौ ॥८५॥
उद्ववाम च गङ्गायां ततस्तं सोऽथ दुर्धरम्।
गङ्गनमरयज्जमेरौ वह्निकुण्डे हराज्ञया ॥८६॥
तत्र संरक्ष्यमाणः सन् स गर्भः शाम्भवैर्गणैः।
निःसृत्याब्दसहस्रेण कुमारोऽभूत्षडाननः ॥८७॥
ततो गौरीनियुक्तानां कृत्तिकानां पयोधरान्।
षण्णां षड्भिर्मुखैः पीत्वा स्वल्पैः स ववृधे दिनैः ॥८८॥
अत्रान्तरे देवराजस्तारकासुरनिर्जितः।
शिश्रिये मेरुशृङ्गाणि दुर्गाण्युज्झितसङ्गरः ॥८९॥
देवाश्च साकमृषिभिः षण्मुखं शरणं ययुः।
षण्मुखोऽपि सुरान् रक्षन्नासीत्तैः परिवारितः ॥९ ॥
तद्बुद्ध्वा हारितं मत्वा राज्यमिन्द्रोऽथ चुक्षुभे।
योधयामास गत्वा च कुमारं स समत्सरः ॥९१॥
तद्वज्राभिहतस्याङ्गात् षण्मुखस्योद्बभूवतुः।
पुत्रौ शाखविशाखाख्यावुभावतुलतेजसौ ॥९२॥
सपुत्रं च तमाक्रान्तशक्रमतुपराक्रमम्।
उपेत्य तनयं शर्वः स्वयं युद्धादवारयत् ॥९३॥
जातोऽसि तारकं हन्तुं राज्यं चेन्द्रस्य रक्षितुम्।
तत्कुरुष्व निजं कार्यमिति चैनं शशास सः ॥९४॥
ततः प्रणम्य प्रीतेन तत्क्षणं वृत्रवैरिणा।
सैनापत्याभिषेकोऽस्य कुमारस्योपचक्रमे ॥९५॥
स्वयमुत्क्षिप्तकलशस्तम्भबाहुरभूत्तदा।
ततः शक्रः सुषमगावर्येनमवदम्भिञ्च ॥९६॥
न पूजितो गजमुखः सेनान्यं वाञ्छता त्वया।
तेनैव विघ्नो जातस्ते तत्कुरुष्व तदर्चनम् ॥९७॥
तच्छ्रुत्वा तत्तथा कृत्वा मुक्तबाहुः शचीपतिः।
अभिषेकोत्सवं सम्यक्सेनान्ये निरवर्तयत् ॥९८॥

शिवजी से इस प्रकार कही गई पार्वती ने विघ्ननाशक गणेश का पूजन किया और उस शिवजी के अमोघ वीर्य से अग्नि का गर्भ रह गया ॥८४॥

शिवजी के तेज को धारण किये हुए अग्नि ऐसा चमक रहा था जैसे सूर्य के तेज के अन्दर प्रविष्ट होने से आग चमकती है ॥८५॥

कुछ समय के अनन्तर अग्नि ने उस असह्य शिव के तेज को गंगा में वमन करके मिटा दिया और गंगा ने शिव की आज्ञा से उसे सुमेरु पर्वत पर वह्नि-कुंड में छोड़ दिया ॥८६॥

वहाँ पर शिवजी के गणों से रक्षा किया जाता हुआ वह तेज एक हजार वर्ष के अनन्तर छह मुँहवाले कुमार के रूप में उत्पन्न हुआ ॥८७॥

तब गौरी (पार्वती) के द्वारा नियुक्त छह कृत्तिकाओं के स्तनों से छह मुखों द्वारा दूध पीकर वह कुमार कुछ दिनों में बड़ा हो गया ॥८८॥

इसी बीच तारकासुर से भगाया हुआ इन्द्र युद्ध छोड़कर सुमेरु पर्वत की घाटियों में छिप गया था ॥८९॥

बृहस्पति के साथ दयनीय षण्मुख कुमार की शरण में गये कुमार ने भी उनकी रक्षा की ॥९०॥

यह जानकर और राज्य को हरा हुआ समझकर इन्द्र को क्रोध हुआ और उसने ईर्ष्या-पूर्वक हठात् कुमार से युद्ध किया ॥९१॥

इन्द्र के वज्र के प्रहार से षण्मुख के अंग से शाख और विशाख दो अनुपम तेजस्वी बालक उत्पन्न हुए ॥९२॥

पुत्रों के साथ इन्द्र के पराक्रम को दबाते हुए बालक षण्मुख को देखकर शिवजी स्वयं आये और उन्हें युद्ध करने से रोक लिया और कहा—यह तारकासुर को मारने और इन्द्र की रक्षा करने के लिए उत्पन्न हुआ है। [illegible] उसी कारण यथार्थ कार्य करो ॥ ९३॥

इसी प्रकार प्रसन्न हुए इन्द्र ने कुमार को सेनापति के लिए अभिषिक्त किया ॥ ९४॥

अभिषेक के लिए कलश उठाते हुए इन्द्र का हाथ जब स्तम्भित हो गया तब इन्द्र को भय हुआ। उसे देखकर शिवजी ने कहा—इन्द्र! कुमार सेनापति का निरादर करते हुए तुमने इसकी पूजा नहीं की थी उसी से यह स्तम्भ हुआ तब इसका पूजन करो ॥ ९५-९६॥

ऐसा सुनकर [illegible] पूजन करके [illegible] और कुमार के सेनापतित्व का अभिषेक [illegible] ॥ ९७॥

ततो जगाम नचिरात् सेनानीस्तारकासुरम्।
ननन्दु सिद्धकार्याश्च देवा गौरी च पुत्रिणी ॥९९॥
तदेवं देवि देवानामपि सन्ति न सिद्धयः।
हेरम्बेऽनर्चिते तस्मात्पूजयन वरवर्णिनी ॥१० ॥
इत्युक्ताऽहं वयस्याभिस्त्वानैकान्तवर्तिनम्।
आर्यपुत्र पुरा गत्वा विघ्नराजमपूजयम् ॥१ १॥
पूजावसाने चापश्यमकस्माद् गगनाङ्गणे।
उत्पत्य विहरन्तीस्ता स्वसखीर्निजसिद्धित ॥१०२॥
तद्दृष्ट्वा कौतुकाद् व्योम्न समाहूयावतार्य च।
मया सिद्धिस्वरूपं सा पृष्टा सख्योऽब्रुवन्निदम् ॥१०३॥
इमा नृमांसाशनजा डाकिनीमन्त्रसिद्धयः।
कालरात्रिरिति ख्याता ब्राह्मणी गुरुरत्र नः ॥१०४॥
एवं सखीभिरुक्ताहं खेचरी सिद्धिलोलुपा।
नृमांसाशनभीता च क्षणमासं ससंशया ॥१ ५॥
अथ तत्सिद्धिलुब्धत्वादवोचं ताः सखीरहम्।
उपदेशो ममाप्येष युष्माभिर्दाप्यतामिति ॥१ ६॥
ततो मदभ्यर्थनया गत्वा तत्क्षणमेव ताः।
आनिन्यु कालरात्रिं तां तत्रैव विकटाकृतिम् ॥१ ७॥
मिलद्भ्रुवं कातराक्षीं न्यञ्चच्चिपिटनासिकाम्।
स्थूलगण्डीं करालोष्ठीं दन्तुरां दीर्घकन्धराम् ॥१ ८॥
लम्बस्तनीमुदरिणी विशीर्णोत्फुल्लपादुकाम्।
धात्रा वैरूप्यनिर्माणवैदग्धीं दर्शितामिव ॥१ ९॥
सा मां पादानतां स्नातां कृतविघ्नेश्वरार्चनाम्।
विवस्त्रां मण्डले भीमा भैरवार्चामकारयत् ॥११ ॥
अभिषिच्य च सा मह्यं तांस्तान् मन्त्रान्निजान् ददौ।
भक्षणाय नृमांसं च देवार्चनबलीकृतम् ॥१११॥
आत्तमन्त्रगणा भुक्तमहामांसा च तत्क्षणम्।
निरम्बरैवोत्पतिता ससखीकाहमम्बरम् ॥११२॥
कृतक्रीडावतीर्याथ गगनाद् गुर्वनुज्ञया।
गताभूवमहं देव कन्यकान्तःपुरं निजम् ॥११३॥

तदनन्तर सेनापति षण्मुखकुमार ने शीघ्र ही तारकासुर को मारा। देवतागण प्रसन्न हुए और पार्वती ने अपने को पुत्रवती माना॥९९॥

तो बिना गणेश-पूजन के देवताओं को भी सिद्धि सम्भव नहीं। इसलिए, तू भी उचित पति की प्राप्ति के लिए उनका पूजन कर॥१ ॥

सखियों से इस प्रकार कही गई मैंने बगीचे के एकान्त स्थान में स्थित विघ्नराज की पूजा की थी। पूजा के अन्त में मैंने अकस्मात् देखा कि मेरी सखियाँ अपनी सिद्धि के प्रभाव से उछलकर आकाश में पक्षियों के समान उड़ रही हैं॥१ १–१ २॥

यह देखकर आश्चर्य से मैंने उन्हें बुलाकर और नीचे उतारकर पूछा कि यह क्या है? तब उन्होंने तुरन्त कहा—मनुष्य का मांस खाने से प्राप्त होनेवाली ये डाकिनी-मन्त्रों की सिद्धियाँ हैं। कालरात्रि नाम की ब्राह्मणी इस विषय में हमारा गुरु है। आकाश में चलने की सिद्धि के लिए लालच होने पर मानव-मांस खाने से भयभीत मैं कुछ समय तक सोचती रही। किन्तु उस सिद्धि का लोभ न रोक सकी और सखियों से बोली कि तुमलोग यह दीक्षा मुझे दिलवाओ॥१ १–१ ६॥

तब मेरी प्रार्थना पर वे मेरी सहेलियाँ उसी समय विकट आकृतिवाली कालरात्रि को बुला लाईं। उस कालरात्रि का विकट रूप था—जैसे मिली हुई भौंहें, धँसी आँखें, चपटी हुई चिपटी नाक, फूले कन्धे, हुए स्तन, फूला हुआ पेट, फटे और फूले पाँव मानो विधाता ने कुरूपता के निर्माण में अपनी विशेषता का प्रदर्शन किया हो॥१ ७–१ ९॥

पैरों पर झुकी हुई और स्नान करके गणेश का पूजन किये हुए मुझे नंगी करके वह कालरात्रि मंडल के बीच बैठकर भैरव की पूजा करने लगी॥११ ॥

तदनन्तर मेरा अभिषेक करके उसने उन मन्त्रों की दीक्षा दी और देवताओं द्वारा भोग लगाया हुआ मनुष्य का मांस मुझे खाने के लिए दिया॥१११॥

मन्त्रों की दीक्षा लेकर और मनुष्य के मांस का भक्षण करके मैं नंगी ही सखियों के साथ आकाश में उड़ने लगी॥११२॥

इस प्रकार आकाश में सैर-सपाटा करके गुरु की आज्ञा से भूमि पर उतरकर मैं अपने निवास-स्थान पर गई॥११३॥

एव बाल्येऽपि जाताह डाकिनीचक्रवर्तिनी।
भक्षितास्तत्र चास्माभि समस्य बहवो नरा ॥११४॥

कालरात्र्या कथा

अस्मिन्कथान्तरे चैतां महाराज! कथां शृणु।
विष्णुस्वामीत्यभूत्तस्या कालरात्र्या पतिर्द्विज ॥११५॥
स च तस्मिन्नुपाध्यायो देश नानादिगागतान्।
शिष्यानध्यापयामास वेदविद्याविशारद ॥११६॥
शिष्यमध्ये च तस्यैको नाम्ना सुन्दरको युवा।
बभूव शिष्य शीलेन विराजितवपुर्गुण ॥११७॥
तमुपाध्यायपत्नी सा कालरात्रि कदाचन।
वव्रे रहसि कामार्ता पत्यौ क्वापि बहिर्गते ॥११८॥
नून विरूपरधिक ह्यासनै क्रीडति स्मर।
यत्सानवेक्ष्य स्व रूप चक्रे सुन्दरकस्पृहाम् ॥११९॥
स तु सर्वात्मना नच्छ्वर्थ्यमानोऽपि विप्लवम्।
स्त्रियो यथा विचष्न्ता निष्कम्प तु सता मन ॥१२ ॥
तत सापसृते तस्मिन्कालरात्रि क्रुधा तदा।
स्वमङ्ग पाटयामास स्वय दशननखक्षतै ॥१२१॥
विकीर्णवस्त्रकेशान्ता रुदती तावदास्त च।
गृह यावदुपाध्यायो विष्णुस्वामी विवेश स ॥१२२॥
प्रविष्ट तमवादीच्च पश्य सुन्दरकेण मे।
अवस्था विहिता स्वामिन् बलात्काराभिलाषिणा ॥१२३॥
तच्छ्रुत्वा स उपाध्याय क्रुधा जज्वाल तत्क्षणम्।
प्रत्यय स्त्रीषु मुष्णाति विमर्श विदुषामपि ॥१२४॥
साय च त सुन्दरक गृहप्राप्त प्रधाव्य स।
सशिष्यो मुष्टिभि पादैर्लगुडैश्चाप्यताडयत् ॥१२५॥
कि च प्रहारनिश्चेष्ट शिष्यानादिश्य त बहि।
त्याजयामास रथ्याया निरपेक्षतया निशि ॥१२६॥
तत शनै सुन्दरक स निशानिलवीजित।
तथाभिभूतमात्मान पश्यन्नेवमचिन्तयत् ॥१२७॥

महाराज ! इस प्रकार डाकिनियों की चक्रवर्तिनी होकर मैंने सहेलियों के साथ बहुत-से मनुष्यों का मांस खाया ॥११४॥

कालरात्रि की कथा

महाराज ! इसी कथा के बीच एक और कथा सुनो। हमारी उस गुरुस्वामी कालरात्रि का पति विष्णुदत्त नाम का ब्राह्मण था। वह एक प्रसिद्ध अध्यापक और वेद-विद्या विशारद था और दूर-दूर देश से आते हुए शिष्यों को पढ़ाता था ॥११५ ११६॥

विष्णुदत्त के शिष्यों में सुन्दरक नामक एक युवक शिष्य था जो बहुत ही विनयी और सदाचारी था ॥११७॥

एक बार विष्णुदत्त की पत्नी उस कालरात्रि ने मोहित कर एकान्त में सुन्दरक से अनुचित प्रस्ताव किया जबकि उसके पति कहीं बाहर चले गये थे ॥११८॥

यह सच है कि हमने सौम्य कुरूप व्यक्तियों से कामदेव क्रीड़ा करता है अर्थात् हास्य करता है। तभी तो कुरूपा कालरात्रि ने अपने रूप को न देखकर सुन्दरक को चाहा ॥११९॥

प्रार्थना करने पर भी सुन्दरक ऐसा कुकृत्य करना नहीं चाहता था। स्त्रियाँ चाहे जितनी चेष्टाएँ करें किन्तु सज्जनों का मन हिलता नहीं ॥१२ ॥

सुन्दरक के हाथ न लगने पर कालरात्रि ने क्रोध से दाँतों और नखों से अपने अंगों को काट और नोंच-खसोट डाला ॥१२१॥

वह कपड़ों और बालों को बिखेरे हुए रो रही थी। इसी बीच उसका पति विष्णुस्वामी घर आया ॥१२२॥

उसके आते ही उसने पति से कहा—'देखो बलात्कार करने की चेष्टा में सुन्दरक ने मेरी यह हालत बना डाली है' ॥१२३॥

यह सुनकर अध्यापक विष्णुस्वामी क्रोध से जल उठा। सत्य है स्त्रियों पर विश्वास करना विद्वानों की भी विचार-शक्ति को नष्ट कर देता है ॥१२४॥

सायंकाल सुन्दरक के घर आने पर विष्णुस्वामी ने अपने अन्य शिष्यों के साथ उसे दौड़ा-कर मुक्कों लातों और डण्डों से खूब पीटा ॥१२५॥

मार खाकर बेहोश सुन्दरक को गुरु ने रात में बाहर गली में लापरवाही से फेंकवा दिया ॥१२६॥

रात की ठंडी वायु से होश में आने सुन्दरक ने अपनी अवस्था को देखा और यह सोचने लगा ॥१२७॥

जिस प्रकार आँधी निर्मल जलवाले तालाबों को क्षुब्ध और मलिन कर देती है, उसी प्रकार स्त्री की प्रेरणा रजोगुणी पुरुषों के निर्मल हृदय को क्षुब्ध कर डालती है। इसी कारण वृद्ध और विद्वान् गुरु ने बिना विचारे अति क्रोध से मेरे विरुद्ध भयंकर व्यवहार किया ॥१२८–१२९॥

यह भी बात है कि इस सृष्टि के आरम्भ काल से ही मोक्ष-मार्ग के विरोधी काम और क्रोध ब्राह्मणों में दैवयोग से प्रकृति-सिद्ध होते हैं ॥१३ ॥

जैसे पूर्वकाल में अपनी स्त्रियों के नष्ट होने की शंका से देवदारु-वन में मुनिगण शिवके ऊपर क्रुद्ध हो गये थे। उन्होंने पार्वती को ऋषियों की अशान्तता दिखलाते हुए क्षपणक रूप धारी शिव को नहीं पहिचाना। शिवजी के शाप देने पर तीनों जगत् का हित करनेवाले शिवजी को पहचान करके वे लोग फिर शिवजी की शरण में गये ॥१३१–१३३॥

इस प्रकार काम क्रोध आदि छह शत्रुओं से ठगे हुए ऋषिगण भी जब मोहित हो जाते हैं तब वेदपाठी ब्राह्मणों की तो बात ही क्या? ॥१३४॥

इस प्रकार सोचता हुआ सुन्दरक रात को चोर डाकुओं के भय से पास की सूनी गोशाला में जाकर ठहरा ॥१३५॥

वह गोशाला के एक कोने में अभी बैठ ही रहा था कि उस मकान में कालरात्रि आ पहुँची ॥१३६॥

वह छूरी लिए हुए भीषण फुत्कार करती हुई आँखों और मुख से आग की ज्वाला फेंक रही थी और अनेक डाकिनियों के झुंड के साथ थी ॥१३७॥

इस प्रकार आई हुई कालरात्रि को देखकर डरा हुआ सुन्दरक राक्षसों का नाश करने-वाले मन्त्रों का जप करने लगा ॥१३८॥

उसके मन्त्र-जप से मोहित कालरात्रि ने भय से एक कोने में सिकुड़े हुए उसे नहीं देखा ॥१३९॥

तदनन्तर डाइन सहेलियों के साथ उस कालरात्रि ने उड़ने का मन्त्र पढ़ा और गौओं के बाड़े के साथ उड़कर आकाश-मार्ग से उज्जयिनी चली गई। उसी समय सुन्दरक ने सुनकर उसके मंत्र को याद किया ॥१४०–१४१॥

तत्रावतार्य हर्म्ये सा मन्त्रतः शाकवाटकं[1] ।
गत्वा श्मशाने चिक्रीड डाकिनीचक्रमध्यगा ॥१४२॥
तत्क्षणं च क्षुधाक्रान्तः शाकवाटेऽवतीर्य सः ।
तत्र सुन्दरकश्चक्रे वृत्तिमुत्खातमूलकैः ॥१४३॥
कृतक्षुत्प्रतिघातेऽस्मिन्प्राग्वद् गोवाटमाश्रिते ।
प्रत्याययौ कालरात्री रात्रिमध्ये निकेतनात् ॥१४४॥
ततोऽधिरूढगोवाटा पूर्ववन्मन्त्रसिद्धितः ।
आकाशेन सक्षिप्या सा निशि स्वगृहमाययौ ॥१४५॥
स्थापयित्वा यथास्थानं तच्च गोवाटवाहनम् ।
विसृज्यानुचरीस्ताश्च शय्यावेश्म विवेश सा ॥१४६॥
सोऽपि सुन्दरको नीत्वा तां निशां विघ्नविस्मितः ।
प्रभाते त्यक्तगोवाटो निकटं सुहृदां ययौ ॥१४७॥
तत्राख्यातस्ववृत्तान्तो विदेशगमनोन्मुखः ।
तैः समाश्वासितो मित्रैस्तन्मध्ये स्थितिमग्रहीत् ॥१४८॥
उपाध्यायगृहं त्यक्त्वा भुञ्जानो सत्रसद्मनि ।
उवास तत्र विहरन् स्वच्छन्दं सखिभिः सह ॥१४९॥
एकदा निर्गता क्रेतुं गृहोपकरणानि सा ।
ददर्श तं सुन्दरकं कालरात्रिः किलापणे ॥१५०॥
उपेत्य च जगादैनं पुनरेव स्मरातुरा ।
भज सुन्दरकाद्यापि मां त्वदायत्तजीविताम् ॥१५१॥
एवमुक्तस्तया सोऽथ साधु सुन्दरकोऽब्रवीत् ।
मैवं वादीर्न धर्मोऽयं माता मे गुरुपत्न्यसि ॥१५२॥
ततोऽब्रवीत्कालरात्रिर्धर्मं चेद्वेत्सि देहि तत् ।
प्राणान्मे प्राणदानाद्धि धर्मः कोऽभ्यधिको भवेत् ॥१५३॥
अथ सुन्दरकोऽवादीन्मातर्मैवं कृथा हृदि ।
गुरुतल्पाभिगमनं कुत्र धर्मो भविष्यति ॥१५४॥
एवं निराकृता तेन तर्जयन्ती च तं रुषा ।
पाटयित्वा स्वहस्तेन स्वोत्तरीयमगाद् गृहम् ॥१५५॥
पश्य सुन्दरकेणेदं धावित्वा पाटितं मम ।
इत्युवाच पतिं तत्र दर्शयित्वोत्तरीयकम् ॥१५६॥

---

१ शाकवाटकः — शाकस्थितिस्थानम् ।

वहाँ (उज्जैन में) मन्त्र से उसने उस मकान को एक ग्राम के बाड़े में उतारा और वहाँ से श्मशान में जाकर डाइनों के साथ क्रीड़ा करने लगी ॥१४२॥

उसी समय भूख लगने पर बागबाड़े में उतर कर सुन्दरक ने वहाँ से उखाड़ी हुई मूलियों से भूख शान्त की ॥१४३॥

भूख मिटाकर सुन्दरक फिर पहले के समान गोवाट में जाकर बैठ गया। कालरात्रि भी रात को आई और पहले के समान शिष्याओं के साथ मन्त्र-सिद्धि के बल से गोवाट को उड़ाकर अपने घर आ गई ॥१४४-१४५॥

गोवाट को पुनः अपने स्थान पर रखकर शिष्याओं को भेजकर वह अपने शयनागार में चली गई ॥१४६॥

विस्मयों से चकित सुन्दरक ने वह रात किसी प्रकार बिताई। प्रातः काल गोवाट को छोड़ कर अपने मित्रों के समीप गया। उनसे अपना वृत्तान्त सुनाकर वह विदेश जाने के लिए तैयार हुआ किन्तु मित्रों के समझाने-बुझाने से उसने वहीं रहना स्वीकार किया ॥१४७-१४८॥

गुरु-गृह को छोड़कर वह मठ (अन्नसत्र) में भोजन करने लगा और मित्रों के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करने लगा ॥१४९॥

एक बार वह कालरात्रि घर का सामान खरीदने के लिए निकली और उसने बाजार में सुन्दरक को देखा और निकट जाकर कहा—'हे सुन्दरक! काम से पीड़ित मुझे अब भी स्वीकार कर लो मेरा जीवन सदा के लिए तुम्हारे अधीन है' ॥१५०-१५१॥

उसके ऐसा कहने पर वह सज्जन सुन्दरक बोला—'माता ऐसा न कहो। गुरुपत्नी का गमन करना धर्म नहीं है। तुम मेरी माता और गुरुपत्नी हो' ॥१५२॥

कालरात्रि फिर बोली—यदि तुम धर्म पर ध्यान देते हो तो मेरे प्राणों की रक्षा करना भी महान् धर्म है ॥१५३॥

तब सुन्दरक बोला—'माता हृदय में ऐसी बात न लाओ। गुरुपत्नी का गमन करना कहाँ का धर्म है? ॥१५४॥

इस प्रकार उससे तिरस्कृत कालरात्रि उस [illegible] हुई अपने हाथ से अपनी चादर फाड़कर घर चली गई और पति से बोली—'देखो सुन्दरक ने मेरी यह दशा की है' ॥१५५-१५६॥

स च तस्या पति क्रोधाद् गत्वावह्निमुदीर्य च ।
समे सुन्दरकस्याशु कारयामास भोजनम् ॥१५७॥
तत सुन्दरक सवास वेश त्यक्तुमुद्यत ।
जानन्नुत्पतन व्योम्नि मन्त्र गोवाटशिक्षितम् ॥१५८॥
ततोऽवरोहेऽप्यपर शिक्षितु श्रुतविस्मितम् ।
तदेव शू यगोवाटहर्म्य निशि पुनर्ययौ ॥१५९॥
तत्र तस्मिन् स्थित प्राग्वत्कालरात्रिरुपेत्य सा ।
तथैवोत्पत्य हर्म्यस्था व्योम्नैवोज्जयिनीं ययौ ॥१६०॥
तत्रावतार्य मन्त्रेण गोवाटं शाकवाटके ।
जगाम रात्रिचर्यायै पुन सा पितृकाननम् ॥१६१॥
त च सुन्दरको मन्त्र भूय श्रुत्वापि नाग्रहीत् ।
विना हि गुर्वादेशन सम्पूर्णा सिद्धय कुत ॥१६२॥
ततोऽत्र भुक्त्वा कतिचिन्मूलकान्यपराणि च ।
तेषु प्रक्षिप्य गोवाटे तत्र तस्थौ स पूर्ववत् ॥१६३ ॥
अथैत्यारूढगोवाटा सा गत्वा नभसा निशि ।
विवेश कालरात्रि स्व सद्म स्थापितवाहना ॥१६४॥
सोऽपि सुन्दरक प्रातर्गोवाटान्निर्गतस्तत ।
ययौ भोजनमूल्यार्थी विपणीमात्तमूलक ॥१६५॥
विक्रीणानस्य तस्याथ मूलक राजसेवका ।
मालवीया विना मूल्य जह्रुर्दृष्ट्वा स्वदेशजम् ॥१६६॥
तत स कलह कुर्वन्बद्ध्वा सुहृदनुद्रुत ।
पाषाणघातदायीति राजाग्र तैरनीयत ॥१६७॥
मालवात्कथमानीय का यकुब्जेऽत्र मूलकम् ।
विक्रीणीषे सदेत्येष पृष्टोऽस्माभिर्न जल्पसि ॥१६८॥
हन्ति प्रत्युत पाषाणैरित्युक्तस्तै शठैर्नृप ।
त तदद्भुतमप्राक्षीत्ततस्तत्सुहृदोऽब्रुवन् ॥१६९॥
अस्माभि सह यद्येष प्रासादमधिरोप्यते ।
तदेतत्कौतुक देव कृत्स्न जल्पति नान्यथा ॥१७ ॥
तथेत्यारोपितो राज्ञा सप्रासादोऽस्य पश्यत ।
उत्पपात स मन्त्रेण सद्य सुन्दरको नभ ॥१७१॥

यह सुनकर उसके पति ने क्रोध से जाकर उसके वध की घोषणा की और सब में उसका भोजन बन्द करा दिया।।१५७।।

गोबाट में सीखे हुए उड़ने के मन्त्र को जानता हुआ सुन्दरक उस नगर को छोड़कर जाने को उद्यत हुआ किन्तु उतरने का मन्त्र नहीं जानता था या सुनने पर भी भूल गया था। उसे पुनः सीखने के लिए वह फिर उसी सूने गौ-बाड़े में गया।।१५८ १५९।।

जब वह उस बाड़े में छिपकर बैठा था तब पहले के समान कालरात्रि वहाँ आई और मकान-सहित उड़कर उज्जैन गई।।१६ ।।

वहाँ पर मन्त्र से साथ के बाड़े में गोबाट को उतारकर रात का नृत्य करने के लिए फिर श्मशान में गई।।१६१।।

सुन्दरक ने आकाश में उतरने का मन्त्र सुनकर भी याद नहीं किया गुरु के उपदेश के बिना मन्त्र-सिद्धि कैसे पूरी हो सकती है।।१६२।।

वहाँ पर उसने पहले के समान मूलियाँ लाईं और कुछ ले जाने के लिए वहीं रख ली और पहले के समान छिप गया।।१६३।।

तदनन्तर कालरात्रि उस गोबाट-रूपी वाहन पर चढ़कर अपने नगर में आई और वाहन को वैसे ही रखकर अपने घर चली गई।।१६४।।

वह सुन्दरक भी सवेरे गोबाट से निकलकर मूलियों को बेचकर भोजन का दाम प्राप्त करने के लिए बाजार में गया।।१६५।।

जब वह मूली बेच ही रहा था तब मालवा की मूलियाँ बताकर मालवा के सिपाहियों ने अपने देश की बताकर उससे मूलियाँ छीन लीं।।१६६।।

उनसे झगड़ते हुए सुन्दरक को उसके मित्र के साथ सिपाही उसे राजा के समीप ले गये।।१६७।।

उन दुष्ट सिपाहियों ने राजा से कहा—'हम लोग उससे पूछते हैं कि तुम मालवा से मूली लाकर उज्जैन में कैसे बेचते हो? हमारे पूछने पर वह उत्तर नहीं देता उल्टे ढेलों और पत्थरों से मारता है। तब राजा ने भी उससे उस आश्चर्य के सम्बन्ध में पूछा। तब सुन्दरक के मित्र बोले—'महाराज! यदि इसको हमलोगों के साथ राजमहल पर चढ़ा दिया जाय तो यह सब आश्चर्य-वृत्तान्त सुना देगा।।१६८ १७ ।।

स्वीकार करके राजा ने उसे महल पर चढ़ा लिया और वह सुन्दरक राजा के देखते देखते मन्त्र के प्रभाव से राजमहल-समेत आकाश में उड़ गया।।१७१।।

समित्रस्तेन गत्वा च प्रयाग प्राप्य च क्रमात् ।
श्रान्त कमपि राजान स्नान्त तत्र ददश स ॥१७२॥
सस्तम्भ्य चाम प्रासाद गङ्गायां सन्निपत्य च ।
विस्मयोद्वीक्षित सर्वैस्त स राजानमभ्यगात् ॥१७३॥
कस्त्व किं चावतीर्णोऽसि गगनादिति वास न ।
राज्ञा प्रह्वेण पृष्ट सन्नेव सुन्दरकोऽब्रवीत् ॥१७४॥
अह मुरजको नाम गणो देवस्य धूर्जट ।
प्राप्तो मानुषभोगार्थी त्वत्सकाश तदाज्ञया ॥१७५॥
तच्छ्रुत्वा मत्यमाशङ्क्य तस्यादाच रत्नपूरितम् ।
सस्त्रीक सोपकरण ददौ तस्मै पुर नृप ॥१७६॥
प्रविश्याच पुर तस्मिन्नुत्पत्य दिवि सानुग ।
चिर सुन्दरक स्वेच्छ निर्वैन्य विचचार स ॥१७७॥
शयानो हमपर्यङ्कु वीज्यमानश्च चामरै ।
सेव्यमानो वरस्त्रीभिरत्र सुखमवाप स ॥१७८॥
अथैकदा ददौ तस्मै मन्त्र व्योमावरोहणम् ।
सिद्ध कोऽपि किलाकाशचारी सञ्जातसस्तव ॥१७९॥
प्राप्तावतारमन्त्र स गत्वा सुन्दरकस्तत ।
कान्यकुब्ज निज देश व्योममार्गादवातरत् ॥१८०॥
सपुर पूर्वलक्ष्मीकमवतीर्ण नमस्तलात् ।
बुद्ध्वा तत्र स्वय राजा कौतुकात्तमुपाययौ ॥१८१॥
परिज्ञातश्च पृष्टश्च राजाग्रे सोऽथ कालवित् ।
कालरात्रिकृत सर्व स्ववृत्तान्त न्यवेदयत् ॥१८२॥
ततश्चानाय्य पप्रच्छ कालरात्रिं महीपति ।
निर्भया साप्यविनय स्व सर्व प्रत्यपद्यत ॥१८३॥
कुपिते च नृपे तस्या कर्णौ च च्छेत्तुमुद्यते ।
सा गृहीतापि पश्यत्सु सर्वेष्वेव तिरोदधे ॥१८४॥
तत स्वराष्ट्रे वासोऽस्यास्तत्र राज्ञा न्यषिध्यत ।
तत्पूजित सुन्दरक शिश्रिये च नभ पुन ॥१८५॥
इत्युक्त्वा तत्र भर्तारमादित्यप्रभभूपतिम् ।
अभाषत पुनश्चैन राज्ञी कुवलयावली ॥१८६॥
भवन्त्यपविभा देव डाकिनीमन्त्रसिद्धय ।

मित्रों के साथ उड़कर वह प्रयाग पहुँचा और थक गया। प्रयाग में उसने स्नान करते हुए किसी राजा को देखा ॥१७२॥

वहाँ पर राजभवन को रोककर लोगों द्वारा आश्चर्य से देखा जाता हुआ सुन्दरक आकाश से गंगा में कूद पड़ा और राजा की ओर गया ॥१७३॥

राजा ने नम्रता से पूछा—'तुम कौन हो? और आकाश से क्यों उतरे हो?' तब सुन्दरक बोला— मैं शिवजी का गुरजक नाम का गण हूँ। मनुष्यों के भोग भोगने के लिए उनकी आज्ञा से तुम्हारे पास आया हूँ। यह सुनकर और उसे सच मानकर राजा ने उसे अन्न धन स्त्री रत्न आदि से भरा हुआ एक नगर मनुष्य-भोग के लिए दे दिया ॥१७४ १७६॥

उस नगर में जाकर अपने मित्रों के साथ आकाश में उड़कर सुन्दरक चिरकाल के लिए स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करने लगा ॥१७७॥

सोने के पलंगों पर सोता हुआ भँवरों से झलाया जाता हुआ एवं सुन्दरी स्त्रियों से सेवित वह इन्द्र के समान सुख भोगने लगा ॥१७८॥

एक बार, किसी आकाशचारी सिद्ध ने उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे आकाश से उतरने का मन्त्र भी दे दिया। उतरने का मन्त्र प्राप्त कर वह सुन्दरक उड़कर अपने देश कान्य-कुब्ज (कन्नौज) में उतरा। उसे नगर के साथ पूर्ण लक्ष्मी से युक्त एवं आकाश से उतरे हुए जानकर कान्यकुब्ज का राजा स्वयं उसके समीप आया। राजा ने उसे पहचानकर पूछा तो उसने अवसर समझकर कालरात्रि का सारा हाल उसे सुना दिया। तब राजा ने कालरात्रि को बुलवाकर पूछा। उसने भी निर्भय होकर अपनी दुष्टता बता दी और स्वीकार किया ॥१७९ १८३॥

राजा क्रुद्ध होकर उसके कान काटने के लिए जैसे ही उद्यत हुआ वैसे ही सबके देखते-देखते पकड़ी हुई कालरात्रि गुम हो गई ॥१८४॥

तब राजा ने अपने राज्य से उसके निर्वासन की आज्ञा दे दी और राजा से सम्मानित सुन्दरक फिर आकाश में उड़ गया ॥१८५॥

रानी कुवलयावली राजा आदित्यप्रभ को इस प्रकार कथा सुनाकर बोली—'महाराज! डाकिनी-मन्त्रों की सिद्धियाँ इसी प्रकार की होती हैं ॥१८६ १८७॥

एतच्च मत्पितुर्देशे वृत्तं सर्वत्र विश्रुतम् ॥१८७॥
कालरात्रेश्च शिष्याहमित्यादौ वर्णितं मया।
पतिव्रतात्वात्सिद्धिस्तु ततोऽप्यभ्यधिका मम ॥१८८॥
मयना नाथ दृष्टाह श्रेयोऽयं त कृतागमा।
उपहाराय पुरुष मन्त्रेणाकृष्टमुद्यता ॥१८९॥
तदस्मदीयऽत्र नय त्वमपि प्रविशाधुना।
सिद्धियोगजितानां च राज्ञां मूर्ध्नि पदं कुरु ॥१९ ॥
तच्छ्रुत्वा कथ महामांसभोजनं शाकिनीनये।
कथं च राजत्वमित्युक्त्वा स राजा निषिषेध तत् ॥१९१॥
प्राणत्यागोद्यतायां तु राज्ञ्यां तत्प्रत्यपद्यत।
विषयाकृष्यमाणा हि तिष्ठन्ति सुपथे कथम् ॥१९२॥
ततः सा स प्रवेश्यैव मण्डलं पूर्वपूजितम्।
गृहीतसमयं सन्तं राजानमिदमब्रवीत् ॥१९३॥
य एष फलभूत्याख्यः स्थितो विप्रस्तवान्तिके।
स मयात्रोपहारार्थमाकृष्टमुपकल्पितः ॥१९४॥
आकर्षणं च सायासं तत्कश्चित्सूपकृद् वरम्।
नयं न स्थाप्यतां यस्तं स्वयं हन्ति पचत्यपि ॥१९५॥
न कार्या च घृणा यस्मात् मांसबलिभक्षणात्।
समापितेऽध्वने पूर्णा सिद्धि स्यात्तुतमो हि न ॥१९६॥
इत्युक्तः प्रियया राजा पापभीतोऽपि तत्पुनः।
अङ्गीचकार धिगहो कष्टां स्त्रीष्वनुरोधिताम् ॥१९७॥
आनाय्य सूपकारं च ततः साहसिकाभिधम्।
विश्वास्य दीक्षितं कृत्वा दम्पती तौ सहोचतुः ॥१९८॥
'राजा देवीद्वितीयोऽद्य भोक्ष्यते तत्त्वरां कुरु।
आहारस्येति योऽभ्येत्य त्वां ब्रूयात्तं निपातये ॥१९९॥
तन्मांसैश्च रह कुर्याः प्रातर्नौ स्वादु भोजनम्।
इति सूपकृतादिष्टस्तथेत्युक्त्वा गृहं ययौ ॥२००॥
प्रातश्च फलभूतिं तं प्राप्तं राजा जगाद सः।
गच्छ साहसिकं ब्रूहि सूपकारं महानसे ॥२०१॥
'राजा देवीद्वितीयोऽद्य भोक्ष्यते स्वादुभोजनम्।
अतस्त्वरितमाहारमुत्तमं साधयेति ॥२०२॥

यह सारा समाचार मेरे पिता के देश में प्रसिद्ध है। मैं भी उसी कालरात्रि की शिष्या हूँ यह मैंने पहले ही कहा था किन्तु पतिव्रता होने के कारण मेरी सिद्धि उससे भी बढ़ी-चढ़ी है ॥१८७-१८८॥

तुम्हारे कल्याण के लिए ही पूजन करते हुए तुमने मुझे आज देख लिया है। मैं बलि देने के लिए उपयुक्त मनुष्य को आकृष्ट करने के लिए तैयार थी ॥१८९॥

इसलिए तुम्हीं हमारे सम्प्रदाय में अब प्रवेश करो—आ जाओ। सिद्धियों के प्रभाव से जीते हुए राजाओं के सिर पर पैर रखो ॥१९ ॥

डाइनों के मत में आकर कहाँ महामांस का भोजन और कहाँ मैं राजा! यह सम्भव नहीं है—ऐसा कहकर राजा ने निषेध कर दिया ॥१९१॥

जब रानी प्राण-त्याग करने के लिए तैयार हो गई, तब राजा ने विवश होकर शाकिनी के मत में जाने की स्वीकृति दे दी। विपयी लोग सुपथ में कैसे रह सकते हैं? ॥१९२॥

तब प्रसन्न रानी ने पहले ही पूजा किये हुए मण्डल में राजा को बुला लिया और बोली—'यह जो तुम्हारे पास फलभूति नाम का ब्राह्मण है, उसे ही मैंने बलिदान के लिए आकृष्ट करने का निश्चय किया था। किन्तु आकृष्ट करने में अत्यन्त परिश्रम होता है, इसलिए अच्छा हो कि तुम रसोइयों में से किसी एक को अपने मत में मिलाओ जो स्वयं मारे भी और पकावे भी ॥१९३—१९५॥

तुम्हें उस मांस-भक्षण से घृणा नहीं करनी चाहिए, पूजा समाप्त होने पर सिद्धि अवश्य होगी क्योंकि सफलता ही सर्वोत्तम है ॥१९६॥

प्यारी पत्नी से इस प्रकार बाधित राजा ने पाप से डरते हुए भी उसकी बात मान ली। सच है स्त्रियों के प्रति अनुरोध होना दुःखद होता है ॥१९७॥

तब राजा ने साहसिक नामक रसोइये को बुलाकर और विश्वास दिलाकर तथा अपने मत में दीक्षित करके (चेला बनाकर) राजा और रानी दोनों ने उससे साथ ही कहा—॥१९८॥

'आज राजा रानी के साथ भोजन करेंगे इसलिए अच्छी भोजन तैयार करो'—इस प्रकार का सन्देश जो भी व्यक्ति तुम्हारे पास आकर कहे, उसे तुम मार डालना और उसके मांस से प्रातःकाल एकान्त में हम दोनों के लिए तुम स्वादिष्ट भोजन बनाना। इस प्रकार आज्ञा पाकर रसोइया 'ठीक है'—ऐसा कहकर अपने घर चला गया ॥१९९—२ ॥

तदनन्तर समीप आये हुए राजा ने फलभूति से कहा कि 'जाओ! साहसिक नामक रसोइये से रसोईघर में जाकर कह दो कि आज राजा रानी के साथ स्वादिष्ठ भोजन करेंगे इसलिए शीघ्र ही अच्छा स्वादिष्ठ भोजन बनाओ' ॥२ १ २॥

तथेति निर्गते तं च फलभूतिं यहिस्तथा।
एत्य चन्द्रप्रभो नाम राज्ञः पुत्रोऽब्रवीदिदम् ॥२०३॥
अनेन शीघ्रं हेम्ना मे कारयाद्यैव कुण्डले।
यादृशे भवता पूर्वमार्य! तातस्य कारिते ॥२०४॥
इत्युक्तो राजपुत्रेण फलभूतिस्तदैव सः।
कृतानुरोधः प्रहितो ययौ कुण्डलयोः कृते ॥२०५॥
राजपुत्रोऽप्यगात्स्वैरं कथितं फलभूतिना।
राजादेशं गृहीत्वा तमेकाक्येव महानसम् ॥२०६॥
तत्रोक्तराजादेशं तं स्थितसंविद् स सूपकृत्।
राजपुत्रं छुरिकया सद्यः साहसिकोऽवधीत् ॥२०७॥
तन्मांसे साधिते तेन भोजने च कृतार्चनौ।
अभुञ्जातां तमजानन्तौ तस्य राज्ञी नृपस्तथा ॥२०८॥
नीत्वा च सानुतापस्तां रात्रिं राजा ददर्श सः।
प्रातः कुण्डलहस्तं तं फलभूतिमुपागतम् ॥२०९॥
विभ्रान्तः कुण्डलोद्देशात्स च पप्रच्छ तत्क्षणम्।
तेनाख्यातस्ववृत्तान्तः पपात च भुवस्तले ॥२१०॥
'हा पुत्रसि' च चक्रन्द निन्दन् भार्यां सहात्मना।
पृष्टश्च सचिवैः सर्वं यथातत्त्वमवर्णयत् ॥२११॥
उवाच चैतदुक्तं तत्प्रत्यहं फलभूतिना।
भद्रकृत् प्राप्नुयाद् भद्रमभद्रं चाप्यभद्रकृत् ॥२१२॥
कन्दुको भित्तिनिक्षिप्त इव प्रतिफलन्मुहुः।
आपतत्यात्मनि प्रायो दोषोऽप्यन्यस्य चिकीर्षितः ॥२१३॥
पापाचारैर्यदस्माभिर्ब्रह्महत्या चिकीर्षिता।
स्वपुत्रघातनं कृत्वा प्राप्तं तन्मांसभक्षणम् ॥२१४॥
इत्युक्त्वा बोधयित्वा च मन्त्रिणः स्वानधोमुखान्।
तमेव फलभूतिं च निजराज्येऽभिषिच्य सः ॥२१५॥
राजा प्रदत्तदानः सन्सपुत्रः पापशुद्धये।
सभार्यः प्रविवेशाग्निं दग्धोऽप्यनुशयाग्निना ॥२१६॥
फलभूतिश्च तद्राज्यं प्राप्य पृथ्वीं शशास सः।
एवं भद्रमभद्रं वा कृतमात्मनि कल्पते ॥२१७॥

'ऐसा ही होगा' कहकर फलभूति जैसे ही बाहर निकला वैसे ही चन्द्रप्रभ नाम का राजपुत्र (राजकुमार) आकर उससे बोला कि यह सोना लो और इस सोने से मेरे लिए वैसे ही कानों के कुंडल शीघ्र बनवाकर लाओ जैसे तुमने पिताजी के लिए बनवाये थे॥२०३-२०४॥

राजकुमार की आज्ञा से फलभूति सोना लेकर तुरन्त कुंडल बनवाने के लिए चला गया। उधर फलभूति का सन्देश लेकर अकेला ही राजकुमार रसोईघर में साहसिक रसोइये के समीप गया॥२०५-२०६॥

रसोईघर में राजा की आज्ञा से रसोइया पहले से ही तैयार बैठा था। उसने छुरी से राजकुमार का वध कर डाला॥२०७॥

उसके मांस से पकाये हुए भोजन को राजा और रानी ने पूजन करने के अनन्तर खाया क्योंकि वे सच्ची बात नहीं जानते थे कि फलभूति के स्थान पर अपने ही पुत्र का मांस खा रहे हैं॥२०८॥

पश्चात्ताप से पीड़ित राजा ने किसी प्रकार रात बिताकर प्रातःकाल हाथ में कुंडल लेकर आये हुए फलभूति को देखा॥२०९॥

घबराये हुए राजा ने कुंडल के बहाने उससे समाचार पूछा। उसके द्वारा सारा समाचार सुनाने पर राजा अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ा फिर होश में आकर अपने साथ रानी का कोसता हुआ 'हाय बेटा'!—'हाय बेटा! इस प्रकार चिल्लाने लगा। मन्त्रियों के पूछने पर उसने सारा सच्चा समाचार सुना दिया॥२१०-२११॥

फलभूति का वह वचन भी बोला जिसे वह प्रतिदिन कहा करता था कि 'भला करनेवाले का भला होता है और बुरा करनेवाले का बुरा ही होता है'॥२१२॥

जैसे सामने दीवार पर फेंका हुआ गेंद लौटकर फेंकनेवाले पर आकर गिरता है उसी प्रकार दूसरे का बुरा चाहनेवाले का अपना बुरा होता है॥२१३॥

इस पापिनी ने ब्रह्महत्या करनी चाही थी उसी के फलस्वरूप अपने ही पुत्र का मांस खाना पड़ा॥२१४॥

ऐसा कहकर और शोक एवं आश्चर्य से नीचे मुँह लटकाये हुए मन्त्रियों को समझाकर और अपने राज्य पर उसी फलभूति को बैठाकर तथा दान देकर अपुत्र राजा अपने पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए रानी के साथ आग में जल मरा यद्यपि पश्चात्ताप की आग से वह पहले ही जल चुका था॥२१५-२१६॥

इधर फलभूति राज्य पाकर प्रेम का पालन करने लगा। ठीक है अच्छा या बुरा जो कुछ भी किया जाता है वह अपने ऊपर ही फलित होता है॥२१७॥

इति वत्सेश्वरस्याग्रे कथयित्वा कथामिमाम् ।
यौगन्धरायणो भूयो भूपतिं तमभाषत ॥२१८॥
तस्मात्तव स राजेन्द्र! जित्वाप्याचरतः शुभम् ।
ब्रह्मदत्तो विकुर्वीत यदि हन्यास्त्वमेव तम् ॥२१९॥
इत्युक्तो मन्त्रिमुख्येन तद्वाक्यमभिनन्द्य सः ।
उत्थाय दिनकर्तव्यं वत्सेशो निरवर्तयत् ॥२२ ॥
अ थयुश्च स सम्पन्नसर्वदिग्विजयः कृती ।
लावाणकादुदचलत्कौशाम्बीं स्वपुरीं प्रति ॥२२१॥
क्रमेण नगरीं प्राप क्षितीशः सपरिच्छदः ।
उत्पताकाभुजलतां नृत्यन्तीमुत्सवादिव ॥२२२॥
विवेश चैनां पौरस्त्रीनयनोत्पलकानने ।
वितन्वानः प्रतिपदं प्रवातारम्भविभ्रमम् ॥२२३॥
चारणोद्गीयमानश्च स्तूयमानश्च बन्दिभिः ।
नृपैः प्रणम्यमानश्च राजा मन्दिरमाययौ ॥२२४॥
ततो विनम्रेष्वधिरोप्य शासनं
स वत्सराजोऽखिलदेशराजसु ।
पूर्वं पितानाधिगतं कुलोचितं
प्रसह्य सिंहासनमारुरोह तत् ॥२२५॥
तत्कालमङ्गलसमाहतसारधीर
तूर्यारवप्रतिरवैश्च नभः पुपूरे ।
तन्मभिमुख्य-परितोषित लोकपाल-
दत्तैरिव प्रतिदिशं समसाधुवादैः ॥२२६॥
विविधमथ वितीर्य वीतलोभो वसु वसुधाविजयार्जितं द्विजेभ्यः ।
अकृत कृतमहोत्सवः कृतार्थं क्षितिपतिमण्डलमारममन्त्रिमपश्च ॥२२७॥
लोकेषु वर्षति सदागुणं नरेन्द्रे
तस्मिन्घनध्वनमृदङ्गनिनादितायाम् ।
सम्भाव्य भाविबहुधान्यफलं जनोऽपि ।
तस्यां पुरि प्रतिगृहं विहितोत्सवोऽभूत् ॥२२८॥

यौगन्धरायण वत्सराज के सम्मुख यह कथा कहकर राजा से फिर बोला—हे राजेन्द्र ! जीतकर भी उसकी कल्याण-कामना करते हुए तुम्हारा यदि ब्रह्मदत्त (काशिराज) अपकार करता है, तो तुम उसे दंड दे सकते हो ॥२१८ २१९॥

मुख्य मन्त्री से इस प्रकार कहे गये राजा ने उसकी सम्मति का अभिनन्दन किया और उठकर प्रातःकालीन कृत्यों से निवृत्त होने में लग गया ॥२२ ॥

और दूसरे दिन वह नीतिकुशल राजा उदयन समस्त दिशाओं को जीतकर लावाणक से अपनी नगरी कौशाम्बी को चला ॥२२१॥

वत्सराज सभी साधनों के साथ क्रमशः चलकर अपनी नगरी पहुँचा। जो (नगरी) पताकारूपी भुजलता को ऊपर उठाकर आनन्द से नाचती-सी मालूम हो रही थी ॥२२२॥
नागरिकों की कमल-कानन जैसी आँखों को पग-पग पर हवा के झोंकों के समान झकोरता हुआ (वत्सराज) ने नगरी में प्रवेश किया ॥२२३॥

चारणों से प्रशंसित मन्त्रियों से अभिवन्दित और राजाओं से प्रणाम किया जाता हुआ राजा अपने भवन में गया ॥२२४॥

तब सभी देशों के विनम्र राजाओं को अपने शासन में लाकर परम्परा के अनुसार पूर्वार्जित सिंहासन पर साधिकार बैठा ॥२२५॥

उस समय मांगलिक बाजों के धीर-गम्भीर शब्दों से आकाश इस प्रकार गूँज उठा मानों राजा के मुख्य मन्त्रियों द्वारा परितोषित लोकपालों ने प्रत्येक दिशा से एक साथ धन्यवाद दिये हों ॥२२६॥

इसके बाद लोभरहित राजा ने दिग्विजय के क्रम में अर्जित विपुल धन ब्राह्मणों को दिया और महोत्सव मनाकर सभी नरेशों तथा अपने मन्त्रियों को कृतार्थ किया ॥२२७॥

इस प्रकार वह राजा जब अपने गुणों के अनुसार पात्रों में दान कर रहे थे तब बजते हुए मृदंग की मेघ-मन्द्र ध्वनि से प्रतिध्वनित उस नगरी की प्रजा भी अनेक प्रकार के धन-धान्य की संभावना करती हुई अपने घरों में उत्सव मनाने लगी ॥२२८॥

एवं विजित्य जगतीं स कृती समग्रां
यौगन्धरायणनिवेशितराज्यभारः ।
तस्थौ यथासुखमथ वासवदत्तया च
पद्मावतीसहितया सह वत्सराजः ॥२२९॥
कीर्तिश्रियोरिव तयोरुभयोश्च देव्यो-
र्मध्यस्थितः स वरचारणगीयमानः ।
चन्द्रोदयं निजयशोधवलं सिषेवे
सान्द्रप्रतापमिव शीधु पपौ च शश्वत् ॥२३०॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे लावाणकलम्बके षष्ठस्तरङ्गः ।
समाप्तश्चायं लावाणकलम्बकस्तृतीयः ।

इस प्रकार वह नीतिनिपुण राजा वत्सराज समस्त संसार को जीतकर रुमण्वान् और यौगन्धरायण को राज्य का भार सौंपकर पद्मावती और वासवदत्ता के साथ स्वच्छन्द विहार करने लगा॥२२॥

कीर्ति और श्री के समान उन दोनों देवियों के बीच में बैठा वह वत्सराज श्रेष्ठ चारणों से प्रशंसित अपने यश के समान उज्ज्वल चन्द्रोदय का आनन्द लेता हुआ शत्रु के प्रताप के समान मद्य का निरन्तर पान करने लगा॥२३॥

छठा तरंग समाप्त

कथासरित्सागर का लावाणक नामक तृतीय लम्बक समाप्त

नरवाहनदत्तजननं नाम चतुर्थो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

वत्सराजः कथा (पूर्वानुवृत्ता)

कर्णतालबलाघातसीमन्तितकुलाचलः।
पन्थानमिव सिद्धीनां दिशञ्जयति विघ्नजित्॥१॥
ततो वत्सेश्वरो राजा स कौशाम्ब्यामवस्थितः।
एकातपत्रां बुभुजे जितामुदयनो महीम्॥२॥
विधाय सचिवन्यस्तं भारं यौगन्धरायणे।
विहारैकरसश्चाभूद् वसन्तकसखः सुखी॥३॥
स्वयं स वादयन् वीणां देव्या वासवदत्तया।
पद्मावत्या च सहितः सङ्गीतकमसेवत॥४॥
देवीकाकलिगीतस्य तद्वीणानिनदस्य च।
अभेदे वादनाङ्गुष्ठकम्पोऽभूद् भेदसूचकः॥५॥
हर्म्याग्रे निजकीर्त्येव ज्योत्स्नया धवले च सः।
धाराभिगलितं सीधु पपौ मदमिव द्विषाम्॥६॥
आजह्रुः स्वर्णकलशीस्तस्य वाराङ्गना रहः।
स्मरराज्याभिषेकाम्भ इव रागोज्ज्वलं मधु॥७॥
आरक्तसुरसस्वच्छमन्तःस्फुरितमुत्पलम्।
उपनिन्ये प्रियाभ्य स स्वचित्तमिवासवम्॥८॥
ईर्ष्यायाममभावेऽपि भङ्गुरभ्रूणि रागिणि।
न मुखे ततयो राज्योस्तद्दृष्टिस्तृप्तिमाययौ॥९॥

नरवाहनदत्तजनन नामक चतुर्थ लम्बक

(मंगल-श्लोक का अर्थ प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।)

प्रथम तरंग

राजा उदयन की कथा (क्रमशः)

कर्णताल के प्रबल आघातों से कुम्भकर्णों को एक ओर करके मानो सफलता का मार्ग प्रदर्शन कर रहे हों ऐसे विघ्नराज गणेश की जय हो ॥१॥

तदनन्तर कौशाम्बी में रहता हुआ राजा उदयन विजित पृथ्वी का एकच्छत्र राज्यभोग कर रहा था ॥२॥

वह राजा सेनापति रुमण्वान् के साथ मुख्यमन्त्री यौगन्धरायण पर समस्त राज्य-शासन का भार देकर, अपने नर्मसचिव वसन्तक के साथ सुखपूर्वक सांसारिक भोग-विलास का आनन्द लेने लगा ॥३॥

वह स्वयं वीणा बजाता हुआ रानी वासवदत्ता और पद्मावती के साथ संगीत का सेवन करता था ॥४॥

वासवदत्ता के सुरस और मधुर संगीत-स्वर उसकी वीणा के स्वर की एकता (समता) होने पर बजाने के लिए चलते हुए अँगूठे से ही गाना का भेद लक्षित होता था। अर्थात् गायन और वादन का स्वर एक साथ मिलने पर यह प्रतीत नहीं होता था कि रानी गा रही है या वीणा बज रही है ॥५॥

राजमहल के सामने अपनी कीर्ति के समान शुभ चाँदनी से धवल बरामदे में बैठकर वह राजा प्यालों में अनवरत धारा से गिरते हुए मद्य को वसुधा के मद के समान पान करता था ॥६॥

उस एकान्त स्थान में बैठे हुए राजा के लिए सुन्दरियाँ मद्य के घड़ों में राग से उज्ज्वल मद्य को ऐसे पहुँचा रही थीं मानो कामदेव के राज्याभिषेक के लिए स्वर्ण के कलशों में तीर्थों का जल लाया जा रहा हो ॥७॥

वह राजा दोनों रानियों के बीच में बैठकर अपने रागपूर्ण चित्त के समान रक्तवर्ण स्वादु, स्वच्छ और रानियों के मुखों में प्रतिबिम्बित मद्य का प्रेमपूर्वक पान करता था ॥८॥

ईर्ष्या और क्रोध के बिना भी (मद्य के नशे में) टेढ़ी भौंहोंवाले एवं प्रेमपूर्ण रानियों के मुखों को निरन्तर देखते हुए राजा को तृप्ति नहीं होती थी ॥९॥

सुरापूर्ण अनेक स्फटिक के प्यालों से भरी हुई राजा की पानभूमि प्रभातकालीन सूर्य की लाल किरणों से रक्त और श्वेत कमलों से युक्त कमल-लता के समान सुशोभित हो रही थी॥१ ॥

वत्सराज का मृगया-वर्णन

इसी विलास-क्रीड़ा के बीच कभी-कभी राजा बहेलिया के साथ हरे पत्तों का-सा वेष धारण किये हुए और धनुष लिये हुए मृगवनों का भी सेवन करता था (अर्थात् शिकार खेलने के लिए भी जाता था)॥११॥

इस क्रीड़ा में कीचड़ से सने हुए सूकरों के झुंडों को वह बाणों से बेधकर मार देता था। उसके पीछा करने पर भय से इधर-उधर भागे हुए कृष्णसार मृग ऐसे मालूम होते थे जैसे मानों पूर्वकाल में विजय की हुई दिशाएँ उसपर कटाक्षपात कर रही हों॥१२–१३॥

जंगली भैंसों को मारने के कारण उनके रक्त से रंजित वनभूमि ऐसी मालूम होती थी कि मानो वन-कमलिनी राजा की सेवा के लिए उपस्थित हुई हो॥१४॥

मुँह फाड़े हुए, अतएव भालों में बिंधे (पिरोये) हुए मुखोंवाले सिंहों को देखकर राजा प्रसन्न होता था॥१५॥

अपने शस्त्र पर विश्वास रखनेवाले उस राजा की मृगया-क्रीड़ा में गड्ढों में छिपे हुए शिकारी कुत्ते और मार्ग में बिछे हुए जाल—यह परिस्थिति थी॥१६॥

वत्सराज को नारदजी का उपदेश

इस प्रकार के आनन्द के दिनों में एक बार नारद मुनि सभा (दरबार) में बैठे हुए राजा के समीप आये—॥१७॥

अपनी देह के कान्ति-मंडल से आवृत वे ऐसे मालूम होते थे मानों तेजस्वी राजा के प्रेम से तेजस्वी सूर्य अवतार धारण करके आये हों॥१८॥

सादर प्रणाम करते हुए राजा से समुचित सत्कार प्राप्त करने पर प्रसन्नचेता मुनि कुछ ठहरकर बोले॥१ ॥

राजा पाण्डु की कथा

हे वत्सराज! संक्षेप में ही कहता हूँ सुनो। पहले समय में पांडु नाम का राजा था जो तेरा पहला पितामह (परदादा) था॥२ ॥

तुम्हारे ही समान उस महान् प्रतापी राजा के दो पत्नियाँ थीं—एक कुन्ती और दूसरी माद्री॥२१॥

अपने अतुल बल से आसमुद्र पृथ्वी का विजय करके एक बार शिकार का व्यसनी होने के कारण वह पांडु वन को गया॥२२॥

तत्र किन्दमनामानं स मुनिं मुक्तसायकः।
जघान मृगरूपेण समाय सुरतस्थितम् ॥२३॥
स मुनिर्मृगरूपं तत्त्यक्त्वा कण्ठविवर्तिभिः।
प्राणैः शशाप तं पाण्डुं विषण्णं मुक्तकार्मुकम् ॥२४॥
स्वैरस्थो निर्विमर्शेन हतोऽहं यत्त्वया ततः।
भार्यासम्भोगकाले ते भद्र मृत्युर्भविष्यति ॥२५॥
इत्याप्तशापस्तद्भीत्या त्यक्तभोगस्पृहोऽपि सः।
पत्नीभ्यामन्वितः पाण्डुस्तस्थौ शान्ते तपोवने ॥२६॥
तत्रस्थोऽपि स शापेन प्रेरितस्तेन चैकदा।
अकस्माच्चकमे माद्रीं प्रियां प्राप च पञ्चताम् ॥२७॥
तदेव मृगया नाम प्रमादो नृप भूभृताम्।
क्षपिता ह्यनया येऽपि नृपास्ते मृगा इव ॥२८॥
घोरनादामिषकाङ्क्षा रूक्षा धूम्रोर्ध्वमूर्धजा।
कुन्तदन्ता कथं कुर्याद्राक्षसीव हि सा शिवम् ॥२९॥
तस्माद् विफलमायासं जहीहि मृगयारसम्।
वन्यवाहनहन्तॄणां समानः प्राणसंशयः ॥३०॥
त्वं च त्वत्पूर्वजप्रीत्या प्रियः कल्याणधाम मे।
पुत्रश्च तव कामांशो यथा भावी तथा शृणु ॥३१॥
पुरानङ्गाङ्गसम्भूत्यै रत्या स्तुतिभिरर्चितः।
तुष्टो रहसि सङ्कल्पमिदं तस्याः शिवोऽभ्यधात् ॥३२॥
अवतीर्य निजांशेन भूमावाराध्य मां स्वयम्।
गौरी पुत्रार्थिनी कामं जनयिष्यत्यसाविति ॥३३॥
अतश्चण्डमहासेनसुता देवी नरेन्द्र सा।
जाता वासवदत्तेयं सम्पन्ना महिषी च ते ॥३४॥
तदेषा शम्भुमाराध्य कामांशं सोष्यते सुतम्।
सर्वविद्याधराणां यश्चक्रवर्ती भविष्यति ॥३५॥
इत्युक्तवानादृतवचा राज्ञा पृथ्वीं तदर्पिताम्।
प्रत्यर्प्य तस्मै स ययौ नारदर्षिरदर्शनम् ॥३६॥
तस्मिन्गते वत्सराजः स तद्वासवदत्तया।
जातपुत्रेच्छया साकं निन्ये तच्चिन्तया दिनम् ॥३७॥

वन में किन्दम नाम का एक मुनि मृग का रूप धारण करके अपनी पत्नी के साथ आनन्द कर रहा था ॥२३॥

राजा ने उसे मृग समझकर और बाण चलाकर मार डाला। उस मुनि ने प्राणों का परित्याग करते हुए, मनुष छोड़कर निज वैर राजा को शाप दिया—हे राजन्! बिना विचारे तुमने मुझे मार डाला। अतः पत्नी का समागम करने पर मेरे ही समान तुम्हारी भी मृत्यु होगी ॥२४-२५॥

इस प्रकार ग्लानि और शाप के भय से सांसारिक भोगों से विरक्त राजा पाण्डु अपनी दोनों पत्नियों के साथ एकान्त तपोवन में रहने लगा ॥२६॥

तपोवन में रहते हुए काम से प्रेरित राजा ने अकस्मात् छोटी पत्नी माद्री के साथ समागम किया और मर गया ॥२७॥

इसलिए हे राजन्! यह शिकार राजाओं में प्रमाद करानेवाला बुरा व्यसन है। इसने और भी अनेक राजाओं का मृगों के समान नाश कर दिया है ॥२८॥

यह शिकार राक्षसी के समान है। इससे किसका कल्याण हो सकता है? यह घोर शब्द के साथ मांस निकालनी है, रूखी है, धूमिल और डरे हुए बालोंवाली है और मानो इसके दाँत हैं, अर्थात् शिकारी दौड़ते दौड़ते धूप में रूखा हो जाता है। उसके धूप से भरे बाल ऊपर उठ रहते हैं ॥२९॥

इसलिए व्यर्थ परिश्रमवाले इस शिकार के प्रेम को छोड़ दो। इसमें शिकार, शिकारी और वाहन तीनों के प्राणों का सन्देह साथ ही रहता है ॥३० ॥

तुम्हारे पूर्वज मेरे मित्र थे उन्हीं के प्रेम से तुम भी मेरे प्यारे हो। साथ ही तुम्हारा पुत्र कामदेव के अवतार में उत्पन्न होनेवाला है। सुनो— ॥३१॥

प्राचीन समय में काम का दहन होने पर उसकी पत्नी रति ने शिवजी की स्तुति द्वारा आराधना की। उससे प्रसन्न होने पर शिवजी ने स्वप्न में उससे कहा—पार्वती अपने अंश से पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर और पुत्र की कामना से स्तव भरी आराधना करके उसे अपने गर्भ से जन्म देगी ॥३२-३३॥

इसलिए हे राजन्! कर्णाटसेन की पुत्री पर कामवल्ला गौरी के अंश से उत्पन्न हुई है और तुम्हारी महारानी है ॥३४॥

यह रानी शिवजी की आराधना करके कामदेव के अवतार बालक को जन्म देगी जो सब विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा बनेगा ॥३५॥

ऐसा सुनकर मुनि के वचन का आदर करके राजा ने सम्पूर्ण पृथ्वी मुनि को दान कर दी। फिर मुनि उस पुत्र पालन के लिए राजा को लौटाकर अन्तर्धान हो गए ॥३६॥

मुनि के चले जाने पर राजा ने पुत्र की इच्छावाली रानी कमलवती के साथ पुत्र की चिन्ता में ही दिन व्यतीत किए ॥३७॥

पिङ्गलिकाब्राह्मणीकथा

अथेद्युस्तं स वत्सराजमुपेत्यास्थानवर्तिनम् ।
नित्योदिताख्यः प्रवरः प्रतीहारो व्यजिज्ञपत् ॥३८॥
शिशुद्वयसमायुक्ता ब्राह्मणी कापि दुर्गता ।
द्वारि स्थिता महाराज देवदर्शनकाङ्क्षिणी ॥३९॥
तच्छ्रुत्वैवाभ्यनुज्ञाते तत्प्रवेशे महीभृता ।
ब्राह्मणी सा विवेशात्र कृशपाण्डुरधूसरा ॥४०॥
मानेनेव विशीर्णेन वाससा विधुरीकृता ।
दुःखदैन्यनिभाविव बिभ्रती बालकावुभौ ॥४१॥

कृतोचितप्रणामा च सा राजानं व्यजिज्ञपत् ।
ब्राह्मणी कुलजा चाहमीदृशीं दुर्गतिं गता ॥४२॥
दैवाद्युगपदेतौ च जातौ द्वौ तनयौ मम ।
तदेव नास्ति मे स्तन्यमेतयोर्भोजनं विना ॥४३॥
तेनेह कृपणा नाथ शरणागतवत्सलम् ।
प्राप्तास्मि देव शरणं प्रमाणमधुना प्रभुः ॥४४॥

तच्छ्रुत्वा सदयो राजा स प्रतीहारमादिशत् ।
इयं वासवदत्तायै देव्यै नीत्वार्प्यतामिति ॥४५॥
ततश्च कर्मणा स्वेन शुभेनेवाग्रगामिना ।
नीताऽभूत्सन्निकटं देव्याः प्रतीहारेण तेन सा ॥४६॥
राज्ञा विसृष्टां बुद्ध्वा तां प्रतीहारादुपागताम् ।
देवी वासवदत्ता सा ब्राह्मणीं श्रद्दधतराम् ॥४७॥

युग्मापत्यां च पश्यन्ती दीनामेतां व्यचिन्तयत् ।
अहो वामकवृत्तित्वं किमप्येतत्प्रजापतेः ॥४८॥
अहो ! वस्तुनि मात्सर्यमहो भक्तिरवस्तुनि ।
नाद्याप्येकोऽपि मे जातो जातौ त्वस्या यमाविमौ ॥४९॥
एवं सञ्चिन्तयन्ती च सा देवी स्नानकाङ्क्षिणी ।
ब्राह्मण्याश्चेटिकास्तस्याः स्नपनादौ समादिशत् ॥५०॥
स्नपिता दत्तवस्त्रा च ताभिः स्वादु च भोजिता ।
ब्राह्मणी साम्बुसिक्तेव तप्ता भूः समुदश्वसत् ॥५१॥

पिंगलिका ब्राह्मणी की कथा

किसी एक दिन प्रातःकालीन सभा (दरबार) में बैठे हुए वत्सराज से नित्योदित नामक मुख्य द्वारपाल ने आकर निवेदन किया—हे महाराज दो बच्चोंवाली एक दरिद्र ब्राह्मणी आपके दर्शन की अभिलाषा से द्वार पर खड़ी है।।३८ ३९।।

यह सुनते ही राजा से उसके प्रवेश की आज्ञा पाकर दुबली-पतली मैली-कुचैली एक ब्राह्मणी राजा के सम्मुख उपस्थित हुई।।४० ।।

अपने सम्मान के समान फटे-पुराने वस्त्र से लिपटी हुई और दैन्य एवं दुःख के समान अपने दोनों बालकों को गोद में लिये हुई वह ब्राह्मणी राजा का समुचित अभिवादन करके बोली— मैं कुलीन घर की ब्राह्मणी हूँ और परिस्थितिवश ऐसी दरिद्रावस्था में आ गई हूँ। ये एक साथ दो अर्थात् जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हो गये। मेरे भोजन का ठिकाना नहीं है। इसलिए इन बच्चों को मैं दूध नहीं पिला सकती।।४१-४३।।

इसलिए हे महाराज मैं दरिद्रा शरण में आये हुए पर दया करनेवाले आपकी शरण में आई हूँ। अब आप जो उचित समझें करें।।४४।।

यह सुनकर दयालु राजा ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि इसे ले जाकर महारानी वासवदत्ता को सौंप दो।।४५।।

तब वह अपने शुभकर्म के समान आगे चलनेवाले उस द्वारपाल ने उसे महारानी वासवदत्ता के पास पहुँचा दिया।।४६।।

द्वारपाल से यह जानकर कि 'इसे महाराज ने भेजा है'—रानी वासवदत्ता ने उस ब्राह्मणी पर अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की।।४७।।

दो बच्चोंवाली उस दीन ब्राह्मणी को देखकर रानी सोचने लगी कि विधि की यह विपरीत गति है कि अच्छी वस्तु से उसे डाह होता है और अ-वस्तु से प्रेम होता है। अभी तक मुझे एक बालक भी नहीं हुआ और इसके एक साथ ही दो हो गये।।४८ ४९।।

ऐसा सोचती हुई रानी स्नान करने गई और दासियों को उस ब्राह्मणी के स्नानादि के लिए आज्ञा दे गई।।५० ।।

दासियों द्वारा स्नान नवीन वस्त्र और स्वादिष्ट भोजनों से सम्मानित वह ब्राह्मणी इस प्रकार आश्वस्त होकर लम्बी साँस लेने लगी जैसे संतप्त भूमि पानी सींचने पर सोंधी सुगन्ध छोड़ती है।।५१।।

तत्पार्श्वं व्रज राज्यं ते साधयिष्यति वत्स सः।
इत्युक्तः स तदा मात्रा राजपुत्रो जगाद ताम् ॥६६॥
तत्र मां निष्परिकरं गतं को बहु मंस्यते।
तच्छ्रुत्वा पुनरप्येवं सा माता तमभाषत ॥६७॥
श्वशुरस्य गृहं गत्वा त्वं हि प्राप्य ततो धनम्।
कृत्वा परिकरं गच्छ निकटं चक्रवर्तिनः ॥६८॥
इति स प्रेरितो मात्रा सलज्जोऽपि नृपात्मजः।
क्रमात्प्रतस्थे सायं च प्राप तच्छ्वाशुरं गृहम् ॥६९॥
पितृहीनो विनष्टश्रीर्बाष्पपाताभिशङ्कया।
अकाले नाशकच्चात्र प्रवेष्टुं लज्जया निशि ॥७०॥
निकटे सत्रशालायाः स्थितः श्वशुरमन्दिरात्।
नक्तं रज्ज्वावरोहन्तीमकस्मात्स्त्रियमैक्षत ॥७१॥
क्षणाच्च भार्यां स्वामेव तां रत्नद्युतिभास्वराम्।
उल्कामिवाभ्रपतितां परिज्ञायाभ्यतप्यत ॥७२॥
सा तु तं धूसरक्षामं दृष्ट्वाप्यपरिजानती।
कोऽसीत्यपृच्छत्तच्छ्रुत्वा पान्थोऽहमिति सोऽब्रवीत् ॥७३॥
ततः सा सत्रशालान्तः प्रविवेश वणिक्सुता।
अन्वगाद्राजपुत्रोऽपि स तां गुप्तमवेक्षितुम् ॥७४॥
सा चात्र पुरुषं कञ्चिदुपागात्पुरुषोऽपि ताम्।
त्वं चिरेणागतासीति पादघातैरताडयत् ॥७५॥
ततः सा द्विगुणीभूतरागा पापा प्रसाद्य तम्।
पुरुषं तेन सहिता तत्र तस्थौ यथेच्छया ॥७६॥
तद्दृष्ट्वा तु स सुप्रज्ञो राजपुत्रो व्यचिन्तयत्।
कोपस्यायं न कालो मे साध्यमन्यद्धि वर्तते ॥७७॥
कथं च प्रसरत्वेतच्छस्त्रं कृपणयोर्द्वयोः।
सानुयोज्य स्त्रियामस्यामस्मिन्वा नृपशौ मम ॥७८॥
किमेतया कुबध्वा वा कृत्यमेतद्धि दुर्विधेः।
मद्वीर्यालोकनक्रीडानैपुण्ये कुलवर्तिनः ॥७९॥
अतुल्यकुलसम्बन्धं सैषा किं नापराध्यति।
भुक्त्वा वलिभुजं काकी कोकिले रमते कथम् ॥८ ॥

समाश्वस्ता च सा युक्त्या कथालापः परीक्षितुम् ।
क्षणान्तरे निजगदे देव्या वासवदत्तया ॥५२॥
भो ब्राह्मणि ! कथा काचित्त्वया नः कथ्यतामिति ।
तच्छ्रुत्वा सा तथेत्युक्त्वा कथां वक्तुं प्रचक्रमे ॥५३॥

राज्ञः देवदत्तस्य तद्भार्यायाश्च कथा

पुराभूज्जयदत्ताख्यः सामान्यः कोऽपि भूपतिः ।
देवदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत ॥५४॥
यौवनस्थस्य तस्याथ विवाहं तनयस्य सः ।
विधातुमिच्छन्नृपतिर्मतिमानित्यचिन्तयत् ॥५५॥
वेश्येव बहुवद्भोग्या राजश्रीरतिचञ्चला ।
वणिजां तु कुलस्त्रीव स्थिरा लक्ष्मीरनन्यगा ॥५६॥
तस्माद् विवाहं पुत्रस्य करोमि वणिजां गृहात् ।
राज्येऽस्य बहुदायादे येन नापद् भविष्यति ॥५७॥
इति निश्चित्य पुत्रस्य कृते वव्रे स भूपतिः ।
वणिजो वसुदत्तस्य कन्यां पाटलिपुत्रकात् ॥५८॥
वसुदत्तोऽपि स ददौ श्लाघ्यसम्बन्धवाञ्छया ।
दूरदेशान्तरेऽप्यस्मै राजपुत्राय तां सुताम् ॥५९॥
पूरयामास च तथा रत्नैर्जामातरं स तम् ।
अगलद्बहुमानोऽस्य यथा स्वपितृवैभवे ॥६ ॥
अवाप्ताद्भुतवणिक्पुत्रीसहितेनाथ तेन सः ।
तनयेन समं तस्थौ जयदत्तनृपः सुखम् ॥६१॥
एकदा तत्र चागत्य सोत्कः सम्बन्धिसद्मनि ।
स वणिग्वसुदत्तस्तां निनाय स्वगृहं सुताम् ॥६२॥
ततोऽकस्मात्स नृपतिर्जयदत्तो दिवं ययौ ।
उद्भूय गोत्रजैस्तस्य तच्च राज्यमधिष्ठितम् ॥६३॥
तद्भीत्या तस्य तनयो जनन्या निजया निशि ।
देवदत्तस्तु नीतोऽभूदन्यदेशमलक्षितः ॥६४॥
तत्राह राजपुत्रं तं माता दुःखितमानसा ।
देवोऽस्ति चक्रवर्ती नः प्रभुः पूर्वदिगीश्वरः ॥६५॥

तत्पार्श्वं व्रज राज्यं ते साधयिष्यति वत्स सः ।
इत्युक्तः स तथा मात्रा राजपुत्रो जगाद ताम् ॥६६॥
तत्र मां निष्परिकरं गतं को बहु मंस्यते ।
तच्छ्रुत्वा पुनरप्येवं सा माता तमभाषत ॥६७॥
श्वशुरस्य गृहं गत्वा स्वं हि प्राप्य ततो धनम् ।
कृत्वा परिकरं गच्छ निकटं चक्रवर्तिनः ॥६८॥
इति स प्रेरितो मात्रा सलज्जोऽपि नृपात्मजः ।
क्रमात्प्रतस्थे सायं च प्राप तच्छ्वाशुरं गृहम् ॥६९॥
पितृहीनो विनष्टश्रीर्बाष्पपाताभिशङ्कया ।
अकाले नाशकच्चात्र प्रवेष्टुं लज्जया निशि ॥७०॥
निकटे सत्रशालायां स्थितः श्वशुरमन्दिरात् ।
नक्तं रज्ज्वावरोहन्तीमकस्मात्स्त्रियमैक्षत ॥७१॥
क्षणाच्च भार्यां स्वामेव तां रत्नद्युतिभास्वराम् ।
उल्कामिवाभ्रपतितां परिज्ञायाभ्यतप्यत ॥७२॥
सा तु तं धूसरक्षामं दृष्ट्वाप्यपरिजानती ।
कोऽसीत्यपृच्छत्तच्छ्रुत्वा पान्थोऽहमिति सोऽब्रवीत् ॥७३॥
ततः सा सत्रशालान्तः प्रविवेश वणिक्सुता ।
अन्वगाद्राजपुत्रोऽपि स तां गुप्तमवेक्षितुम् ॥७४॥
सा चात्र पुरुषं कंचिदुपागात्पुरुषोऽपि ताम् ।
त्वं चिरेणागतासीति पादघातैरताडयत् ॥७५॥
ततः सा द्विगुणीभूतरागा पापा प्रसाद्य तम् ।
पुरुषं तेन सहिता तत्र तस्थौ यदृच्छया ॥७६॥
तद्दृष्ट्वा तु स सुप्रज्ञो राजपुत्रो व्यचिन्तयत् ।
कोपस्यायं न कालो मे साध्यमन्यद्धि वर्तते ॥७७॥
कथं च प्रसरत्वेतच्छस्त्रं कृपणयोर्द्वयोः ।
अनुयोग्यं स्त्रियामस्यामस्मिन्वा नृपशौ मम ॥७८॥
किमेतया कुभार्यया वा हृदयमेतद्धि दुर्विधेः ।
मद्धर्षाक्षोभमक्रीडानैपुण्यं कुलवर्षिणः ॥७९॥
अतुल्यकुलसम्बन्धः मया किं नापराध्यति ।
भुक्त्वा बलिभुजं नारी कोकिलं रमते कथम् ॥८० ॥

इत्यालोच्य स तां भार्यामुपक्षत सकामुकाम्।
मता गुरु निगीर्षे हि चेतसि स्त्रीतृण किमत् ॥८१॥
तत्काले च रतावगवमातस्या किलापतत्।
वणिक्सुताया यवभाद् समुक्तावृप विभूषणम् ॥८२॥
तच्च सा न ददर्शैव सुरतान्ते च सत्वरा।
ययौ यथागत गहमापृच्छ्योपपति तत ॥८३॥
तस्मिन्नपि गत क्वापि सुत प्रच्छन्नकामुके।
स राजपुत्रो दृष्ट्वा तद्रत्नाभरणमग्रहीत् ॥८४॥
स्फुरद्रत्नशिखाजाल भाभा मोहतमोपहम्।
हस्तदीपमिव प्रत्त प्रनष्टश्रीगवेषण ॥८५॥
महार्घं च तदालोक्य राजपुत्र स तत्क्षणम्।
निर्गत्य सिद्धकार्यं सन्कान्यकुब्ज ततो ययौ ॥८६॥
तत्र बन्धाय दत्वा तत्स्वगसक्षेण भूषणम्।
क्रीत्वा हस्त्यश्वमगमत्स पार्श्वे चक्रवर्तिन ॥८७॥
तद्दत्तैश्च बलै साकमत्य हत्वा रिपून् रणे।
प्राप तत्पैतृक राज्य कृती मात्राभिनन्दित ॥८८॥
तच्च बन्धाद् विनिर्मोच्य भूषण स्वपुरान्तिकम्।
प्राहिणोत् प्रकटीकर्तुं रहस्यं तदपह्नुतम् ॥८९॥
सोऽपि तच्छ्वशुरो दृष्ट्वा स्वसुताकर्णभूषणम्।
तत्रोपागत तस्य सम्भ्रान्त समदर्शयत् ॥९०॥
सापि पूर्वपरिभ्रष्ट चारित्रमिव वीक्ष्य तत्।
बुद्ध्वा च भर्त्रा प्रहित व्याकुलम समस्मरत् ॥९१॥
इद मे पतित तस्यां रात्रौ सभगृहान्तरे।
यस्यां तत्र स्थितो दृष्ट. स कोऽपि पथिको मया ॥९२॥
तदून सोऽत्र भर्ता मे शीलजिज्ञासयाययौ।
मया तु स न विज्ञातस्तनेद प्रापि भूषणम् ॥९३॥
इत्येव चिन्तयन्त्यास्य दुर्नयव्यक्तिविकलवम्।
वणिक्सुताया हृदय तस्या कातरमस्फुरत् ॥९४॥
ततस्तस्या रहस्यज्ञो दृष्ट्वा चटी स्वयुक्तिना।
तत्पिता स वणिग्युद्धया तत्र तत्यात्र तद्रूपम् ॥९५॥

राजपुत्रोऽथ सम्प्राप्तराज्यो लब्ध्वा गुणार्जिताम् ।
स चक्रवर्तितनयां भार्यां भेजेऽपरां श्रियम् ॥९६॥
तदित्थं साहसं स्त्रीणां हृदयं वज्रकर्कशम् ।
तदेव साध्वसावेगसम्पाते पुष्पपेलवम् ॥९७॥
तास्तु काश्चन सद्वंशजाता मुक्ता इवाङ्गना ।
या सुवृत्ताच्छहृदया भान्ति भूषणतां भुवि ॥९८॥
हरिणीव च राजश्रीरेवं विप्लविनी सदा ।
नयपाशेन बद्धा च तामेके जानते बुधाः ॥९९॥
तस्मादापद्यपि त्याज्यं न सत्त्वं सम्पदेषिभिः ।
अयमेवात्र वृत्तान्तो ममात्र च निदर्शनम् ॥१००॥
यन्मया विधुरेऽप्यस्मिन्सत्त्वं देवि ! रक्षितम् ।
युष्मद्दर्शनकल्याणप्राप्त्या तत्फलितं हि मे ॥१०१॥
इति तस्या मुखाच्छ्रुत्वा ब्राह्मण्यास्तत्क्षणं कथाम् ।
देवी वासवदत्ता सा सादरा समचिन्तयत् ॥१०२॥
ब्राह्मणी कुलवत्येषा ध्रुवमस्या ह्युदारताम् ।
भङ्गिः स्वशीलोपशम वचश्चौचित्य वसति ॥१०३॥
राजसंसत्प्रवेशोऽस्या प्रागीप्सित एव च ।
इति सञ्चिन्त्य देवी तां ब्राह्मणीं पुनरब्रवीत् ॥१०४॥
भार्या त्वं कस्य को वा ते वृत्तान्तः कथ्यतां त्वया ।
तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणी भूप साथ वक्तुं प्रचक्रमे ॥१०५॥

पिङ्गलिकाया आत्मकथा

मालवेऽस्ति ग्रामवास्यग्निदत्त इति द्विजः ।
निःस्वो धीमत्स्वम्यो स्वयमासघनोर्जितः ॥१०६॥
तस्य च स्वानुरूपौ द्वावभूतां तनयौ क्रमात् ।
ज्येष्ठः शङ्करदत्ताख्यो नाम्ना शान्तिकरोऽपरः ॥१०७॥
तयोः शान्तिकरस्तस्माद् विद्यार्थी स्वपितुर्गृहात् ।
स बाल एव निर्गत्य गतो वर्षाणि यान्यपि ॥१०८॥
ज्यायांस्तु स सहभ्राता ज्येष्ठो मां परिणीतवान् ।
तनयां यज्ञदत्तस्य यज्ञावभृतसम्पदः ॥११०॥

राजकुमार भी अपने पैतृक राज्य को प्राप्त कर और अपने गुणों से प्राप्त चक्रवर्ती की कन्या को पत्नी-रूप में स्वीकार कर परम आनन्द का उपभोग करने लगा। अर्थात् कान्यकुब्जनरेश ने उसकी वीरता से प्रसन्न होकर उसे अपनी कन्या दे दी ॥९६॥

इस प्रकार साहस करने में स्त्रियों का जो हृदय वज्र के समान कठिन होता है, वही आकस्मिक व्याकुलता होने पर पुष्प से भी कोमल हो जाता है ॥९७॥

अच्छे वंश में उत्पन्न रानी के समान चरित्रवती और स्वच्छ हृदयवाली स्त्रियाँ तो इनी-गिनी ही होती हैं जो संसार का भूषण होती हैं ॥९८॥

राजलक्ष्मी हरिणी के समान सदा उछलती-कूदती और छलाँगें मारती रहती है। उसे धैर्य-रूपी पाश में बाँधना कुछ ही बुद्धिमान् जानते हैं सभी नहीं ॥९९॥

इसलिए सम्पत्ति काल तथा विपत्ति में भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए ॥१००॥

मैंने भी इस घोर विपत्ति काल में अपने चरित्र की जो रक्षा की है, आपका दर्शन उसी का परिणाम है ॥१०१॥

इस प्रकार ब्राह्मणी के मुख से इस कथा को सुनकर महारानी वासवदत्ता उसके प्रति आदर की भावना से सोचने लगी—॥१०२॥

अवश्य ही यह ब्राह्मणी उच्चकुल-प्रसूता है। इसकी उदारता और अपने चरित्र को प्रकट करने का ढंग और वार्तालाप की शैली यह बात बता रही है ॥१०३॥

इसी प्रकार राजसभा में आने की चतुरता भी इसकी उच्चता बता रही है। ऐसा सोचकर रानी ब्राह्मणी से फिर बोली—'तुम किसकी स्त्री हो और क्या विशेष परिस्थिति है, कहो।' यह सुनकर ब्राह्मणी कहने लगी ॥१०४-१०५॥

पिंगलिका की आत्मकथा

हे महारानी! मालवदेश में अग्निदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। वह लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का आश्रय था याचकों को स्वयं धन देनेवाला था ॥१०६॥

उसीके समान उसके क्रमशः दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें बड़े का नाम शंकरदत्त और छोटे का नाम शान्तिकर था ॥१०७॥

छोटा पुत्र शान्तिकर, बाल्यकाल में ही विद्याध्ययन के लिए पिता के घर से कहीं चला गया ॥१०८॥

बड़े पुत्र शंकरदत्त ने यज्ञ के लिए सम्पत्ति एकत्र करनेवाले यज्ञदत्त की कन्या (मुझसे) विवाह कर लिया ॥१०९॥

कालेन तस्य मद्भर्तुः सोऽग्निदत्ताभिधः पिता ।
वृद्धो लोकान्तरं यातो भार्ययानुगतः स्वया ॥११०॥
तीर्थोद्देशाच्च मद्भर्ता धृतगर्भां विमुच्य माम् ।
गत्वा सरस्वतीपूरे शोकेनान्धो जहौ तनुम् ॥१११॥
वृत्तान्ते कथिते चास्मिन्नेत्य तत्सहयायिभिः ।
स्वजनेभ्यो मया लब्धं नानुगन्तुं सगर्भया ॥११२॥
ततो मय्यार्द्रशोकायामकस्मादेत्य दस्युभिः ।
अस्मन्निवासः सकलोऽप्यग्रहारो विलुण्ठितः ॥११३॥
तत्क्षणं तिसृभिः सार्धं ब्राह्मणीभिरहं ततः ।
शीलभ्रंशभयादात्तस्वल्पवस्त्रा पलायिता ॥११४॥
देशभङ्गाद् विदूरं च गत्वा देशं तदन्विता ।
मासमात्रं स्थिताऽभूवं कृच्छ्रकर्मोपजीविनी ॥११५॥
श्रुत्वा चानाथशरणं लोकाद् वत्सेश्वरं ततः ।
सब्राह्मणीका शीलैकपाथेयाहमिहागता ॥११६॥
आगत्यैव प्रसूतास्मि युगपत्तनयावुभौ ।
स्थितासु तासु तिसृषु ब्राह्मणीषु सखीष्वपि ॥११७॥
शोको विदेशो दारिद्र्यं द्विगुणः प्रसवोऽप्ययम् ।
अहो अपावृतं द्वारमापदां मम वेधसा ॥११८॥
तदेतयोर्गतिर्नास्ति बालयोर्वर्धनाय मे ।
इत्यालोच्य परित्यज्य लज्जां योषिद्विभूषणम् ॥११९॥
मया प्रविश्य वत्सेशो राजा सदसि याचितः ।
कः क्षमः सोढुमापन्नबालापत्यार्तिदर्शनम् ॥१२ ॥
तदादेशेन च प्राप्तं मया त्वच्चरणान्तिकम् ।
विपदश्च निवृत्ता मे द्वारात्प्रतिहता इव ॥१२१॥
इत्येष मम वृत्तान्तो नाम्ना पिङ्गलिकास्म्यहम् ।
आबाल्याग्निक्रियाधूमैर्यन्मे पिङ्गलिते दृशौ ॥१२२॥
स तु शान्तिकरो देवि देवरो मे विदेशगः ।
कुत्र तिष्ठति देशेऽसाविति नाद्यापि बुध्यते ॥१२३॥
एवमुक्तस्ववृत्तान्तां कुलीनेत्यवधार्य ताम् ।
प्रीत्यैनां ब्राह्मणीं देवी सा वितर्क्यैवमब्रवीत् ॥१२४॥

समय के अनुसार मेरे पति के पिता अग्निदत्त वृद्धावस्था के कारण परलोक सिधार गये और उनकी पत्नी (मेरी सास) उनके साथ सती हो गई॥११ ॥

मेरे पति ने तीर्थयात्रा के उद्देश्य से मुझ गर्भवती को घर पर छोड़कर और पितृशोक से अन्धे होकर सरस्वती नदी के प्रवाह में अपना शरीर-त्याग कर दिया॥१११॥

उसके साथी अन्यान्य यात्रियों द्वारा उसका समाचार कहने पर गर्भवती होने के कारण मैंने अपने बन्धुओं से सती होने की आज्ञा नहीं प्राप्त की॥११२॥

जब मैं पति के शोक में मग्न ही थी कि एकाएक लुटेरों ने हमारे निवास-स्थान गाँव को ही लूट लिया॥११३॥

उस समय मैं गाँव की तीन ब्राह्मणियों के साथ चरित्र नष्ट होने के भय से थोड़े-से वस्त्रों को साथ लेकर घर से भाग गई॥११४॥

अपना देश नष्ट हो जाने पर उन तीनों के साथ दूर देश को चली गई और एक मास तक परिश्रम के कार्य करके जीवन-निर्वाह करती रही॥११५॥

यहाँ आकर यह सुना कि 'वत्स देश के राजा अनाथों की रक्षा करते हैं' तो मैं उन ब्राह्मणियों के साथ एकमात्र चरित्र के सहारे यहाँ आ गई॥११६॥

यहाँ आते ही एक साथ दो बालकों को उत्पन्न किया। उस समय वे तीनों ब्राह्मणी सहेलियाँ मेरे साथ थीं॥११७॥

पति का शोक, विदेश, दरिद्रता और दूना प्रसव आदि—यह सब देखकर भाग्य ने मेरी विपत्तियों का द्वार खोल दिया है॥११८॥

इन दोनों बच्चों के पालन-पोषण के लिए मेरे पास अब कोई रास्ता नहीं है, यह सोचकर, इसीलिए स्त्रियों के भूषण—लज्जा—को छोड़कर मैंने दरबार में आकर वत्सराज से प्रार्थना की। सच है, निर्धन शिशुओं की वेदना को कौन सहन कर सकता है॥११ १२ ॥

उन्हीं की आज्ञा से मैंने तुम्हारे चरणों में स्थान पाया है। क्रमशः मेरी सारी विपत्तियाँ मानो राजद्वार से टकराकर पीछे लौट गईं॥१२१॥

यह मेरा वृत्तान्त है। मेरा नाम पिंगलिका है। बालपन में अग्निहोत्र के धूम से मेरी आँखें पीली हो गईं, इसीलिए मेरा नाम पिंगलिका हुआ॥१२२॥

विदेश गया हुआ मेरा देवर शान्तिकर, किस देश में है, इसका अभी तक मुझे पता नहीं है॥१२३॥

इस प्रकार अपना वृत्तान्त कहती हुई उस ब्राह्मणी को कुलीन समझकर रानी प्रसन्नतापूर्वक कहने लगी—॥१२४॥

इह शान्तिकरो नाम स्थितोऽस्माकं पुरोहितः।
सर्वेधिकं स जानञ्च वत्सरस्ते भविष्यति ॥१२५॥
इत्युक्त्वा ब्राह्मणीमुक्तो नीत्वा रात्रिं तदैव ताम्।
देवी शान्तिकरं प्रातरानाय्यापृच्छदन्वयम् ॥१२६॥
उक्तान्वयाय तस्मै च सा सञ्जातसुनिश्चया।
इयं स भ्रातृजायेति ब्राह्मणीं तामदर्शयत् ॥१२७॥
ज्ञातायां च परिज्ञप्तौ ज्ञातबन्धुक्षयोऽथ सः।
ब्राह्मणीं भ्रातृजायां तां निन्ये शान्तिकरो गृहम् ॥१२८॥
तत्रानुशोच्य पितरौ भ्रातरं च यथोचितम्।
आश्वासयामास स तां बालकद्वितयान्विताम् ॥१२९॥
देवी वासवदत्तापि तस्यास्तौ बालकौ सुतौ।
पुरोहितौ स्वपुत्रस्य भाविनः पर्यकल्पयत् ॥१३ ॥
ज्येष्ठस्तयोः शान्तिसोमो नाम्ना वैश्वानरोऽपरः।
कृतस्तयैव देव्या च वितीर्णबहुसम्पदा ॥१३१॥
अन्यस्येवास्य लोकस्य फलभूमिं स्वकर्मभिः।
पुरोगमीयमानस्य हेतुमात्रं स्वपौरुषम् ॥१३२॥
यदेत्य लब्धविभवास्तत्र सर्वेऽपि सङ्गताः।
बालकौ तौ तयोः सा च माता शान्तिकरश्च सः ॥१३३॥
ततो गच्छत्सु दिवसेष्वेकदा पञ्चभिः सुतैः।
सहागतामुपादाय पागवान्कुम्भकारिकाम् ॥१३४॥
दृष्ट्वा स्वमन्दिरे काञ्चिद्देव्या वासवदत्तया।
सा ब्राह्मणी पिङ्गलिका जगदे पार्श्ववर्तिनी ॥१३५॥
पञ्चैतस्याः सुतोऽस्यापि नैको मे सखि दृश्यताम्।
पुण्यानामीदृशी पापमीदृश्यपि न मादृशी ॥१३६॥
तत्र पिङ्गलिकावादीद्देवि दुःखाय जायते।
प्रजैव पापभूयिष्ठा दरिद्रेष्वेव भूयसी ॥१३७॥
युष्मादृशेषु जायेत यः स कोऽप्युत्तमो भवेत्।
तदलं त्वरया प्राप्स्यस्यचिरात्त्वोचितं सुतम् ॥१३८॥
इति पिङ्गलिकोक्तापि सोत्सुका सुतजन्मनि।
अभूद्वासवदत्ता सा तच्चिन्ताक्रान्तमानसा ॥१३९॥

यहाँ शान्तिकर नाम का हमारा एक पुरोहित रहता है वह इस देश का नहीं परदेशी है। मैं समझती हूँ वह तुम्हारा देवर होगा ॥१२५॥

ऐसा कहकर उत्कंठित ब्राह्मणी को रात्रि में उसी प्रकार व्यवस्था करके प्रातःकाल ही रानी ने पुरोहित को बुलाकर उसके कुल और देश का पता पूछा ॥१२६॥

उसके अपने कुल का पता बताने पर भली भाँति निश्चय कर रानी ने यह तुम्हारी भाभी है—ऐसा कहकर उस ब्राह्मणी को उसे दिखाया ॥१२७॥

परिचय होने पर और अपने भाई की मृत्यु का समाचार जानने पर शान्तिकर अपनी भाभी को अपने घर ले गया ॥१२८॥

घर जाकर पिता और भाई के लिए समुचित शोक प्रकट करके दोनों बच्चों-सहित भाभी का उसने धैर्य प्रदान किया ॥१२९॥

रानी वासवदत्ता ने भी उन दोनों बालकों को उत्पन्न होनेवाले अपने पुत्र का पुरोहित नियुक्त कर दिया ॥१३ ॥

रानी ने ही उन दोनों पुत्रों में से बड़े का नाम शान्तिसोम और छोटे का नाम वैश्वानर रखा। साथ ही उनके लिए प्रचुर सम्पत्ति प्रदान की ॥१३१॥

अन्धे के समान बीच के आगे-आगे चलनेवाला और अपने कर्मों द्वारा फल की ओर ले जानेवाला भाग्य ही होता है पुरुषार्थ तो एक निमित्तमात्र है ॥१३२॥

यही कारण है कि वह ब्राह्मणी दोनों बालक और शान्तिकर इधर-उधर से आकर प्रचुर राज-संपत्ति पाकर परस्पर मिल गये ॥१३३॥

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर एक बार एक कुम्हारिन अपने पाँच पुत्रों को साथ लेकर मिट्टी के कुछ पात्रों-सहित वहाँ आई ॥१३४॥

उसे अपने भवन में देखकर रानी ने समीप बैठी हुई पुरोहितानी ब्राह्मणी से कहा—'सखि! देखो इसके पाँच-पाँच लड़के हैं और मुझे अभी तक एक भी नहीं है वह इतनी पुण्यवती है। गरीब होकर भी यहाँ मेरे जैसी निपूती नहीं है ॥१३५ १३६॥

तब पिंगलिका बोली— महारानी! पाप के फलस्वरूप अधिक सन्तान कष्ट देती है और दरिद्र के ही होती है ॥१३७॥

तुम्हारे समान उच्च लोगों की जो एकाध सन्तान होती है वह उत्तम होती है। जल्दी न करो। *शीघ्र ही अपने कुल के योग्य सन्तान प्राप्त करोगी ॥१३८॥*

पिंगलिका के इस प्रकार कहने पर भी पुत्र के लिए उत्कंठित रानी चिन्ता करने लगी ॥१३९॥

गिरिशाराधनप्राप्य पुत्र ते नारदोऽभ्यधात् ।
तद्देवि वरदोऽस्माभिराराध्य स शिवोऽत्र न ॥१४० ॥
इत्युक्ता वत्सराजेन तत्काल चागतेन सा ।
देवी सम्भावयेनाशु चकार व्रतनिश्चयम् ॥१४१॥
तस्यामात्तव्रतायां तु स राजापि समन्वित ।
सराष्ट्रश्चापि विदधे शङ्कराराधनव्रतम् ॥१४२॥
त्रिरात्रोपोषितौ तौ च दम्पती स विभुस्तत ।
प्रसादप्रकटीभूत स्वय स्वप्न समादिशत् ॥१४३॥
उत्तिष्ठत स युवयो कामांशो जनिता सुत ।
नाथो विद्याधराणां यो भविता मत्प्रसादत ॥१४४॥
इति वचनमुदीर्य च प्रमोलौ सपदि तिरोहितता गत प्रबुध्य ।
अधिगतवरमाशु दम्पती तौ प्रमदमकृत्रिममापतु कृतार्थौ ॥१४५॥
उत्थाय चोषसि तत प्रकृतीर्विधाय ।
तत्स्वप्नकीर्तनसुधारसतर्पितास्ता ।
देवी च सा नरपतिश्च सह प्रभृत्यौ ।
बद्धोत्सवौ विदधतुर्व्रतपारणामि ॥१४६॥
कतिपयदिवसापगमे तस्या स्वप्न जटाधर पुरुष ।
कोऽप्यथ देव्या वासवदत्ताया फलमुपेत्य ददौ ॥१४७॥
तत स विनिवेदितस्फुटतथाविधस्वप्नया सह
सह प्रमुदितस्तया समभिनन्दितो मन्त्रिभि ।
विचिन्त्य शशिमौलिना फलनिमन दत्त सुत ।
मनोरथमवृग्ण गणयति स्म वत्सेश्वर ॥१४८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
नरवाहनदत्तजननलम्बके प्रथमस्तरङ्ग ।

द्वितीयस्तरङ्ग

(पूर्वानुवृत्ता) वत्सराजकथा—पुत्रजन्म

अथ वासवदत्ताया वत्सराजहृदयोत्सव ।
सम्बभूवाचिराद् गर्भ कामांशावतरोज्ज्वल ॥१॥

उसी समय आये हुए वत्सराज उदयन ने रानी की चिन्ता का कारण जानकर कहा—देवि! नारद मुनि ने कहा है कि शिवजी की आराधना करने पर तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा' ॥१४ ॥

ऐसा कहकर राजा ने शिवजी का व्रत करने का निश्चय किया। रानी के व्रत ग्रहण करने पर राजा ने भी मन्त्रियों और राज्य की प्रजाओं के साथ शंकर की आराधना का व्रत किया ॥१४१ १४२॥

तीन रातों तक उपवास करते हुए राजा और रानी को प्रसन्नता से प्रकट होकर शिवजी ने स्वयं आज्ञा दी—'तुम दोनों उठो! तुम्हें कामदेव का अंश पुत्र उत्पन्न होगा जो मेरी कृपा से विद्याधरों का राजा होगा ॥१४३ १४४॥

स्वप्न में ऐसा वरदान देकर शिवजी के अन्तर्धान हो जाने पर, प्रातःकाल उठकर वर को पाये हुए राजा और रानी ने हार्दिक आनन्द का अनुभव किया ॥१४५॥

तदनन्तर उठकर राजा ने मन्त्रियों तथा प्रजाओं का देते हुए स्वप्न के समाचार-रूपी अमृत-रस से तृप्त कर दिया और उन दोनों ने अपने बन्धु-बान्धवों और सेवकों के साथ उत्सव मनाते हुए व्रत का पारण (समाप्ति) किया ॥१४६॥

और कुछ दिनों के बीतने पर स्वप्न में रानी वासवदत्ता को किसी जटाधारी पुरुष ने आकर फल प्रदान किया ॥१४७॥

रानी के द्वारा उस स्वप्न का वृत्तान्त जानकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और मन्त्रियों ने उसे बधाइयाँ दीं। राजा भी फल के समान शिवजी द्वारा दिये गये पुत्र को समझकर शीघ्र ही पूर्ण होने की आशा करने लगा ॥१४८॥

नरवाहनदत्तजनन नामक लम्बक का प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

वत्सराज की कथा—पुत्र-जन्म

कुछ दिनों के अनन्तर वासवदत्ता ने शीघ्र ही वत्सराज के हृदय को आनन्द देनेवाले और कामदेव के अंशावतार से उज्ज्वल गर्भ को धारण किया ॥१॥

सा बभौ लोलनेत्रेण मुखेनापाण्डुकान्तिना।
सद्यश्चन्द्रेणेव गर्भस्थकामप्रेमोपगामिना ॥२॥
आसीनाया पतिस्नेहात्प्रसिप्रीती इवागते।
रेजतु प्रतिमे तस्या मणिपर्यङ्कपाश्वयो ॥३॥
भाविविद्याधरावीशगमसेवार्थमिष्टदा ।
मूर्त्ता विद्या इवायाता सख्यस्तां पर्युपासत ॥४॥
विनीलपल्लवश्याममुखौ साथ पयोधरौ।
सूनोर्गर्भाभिषेकाय बभार कलशाविव ॥५॥
स्वच्छस्फुरितसच्छायमणिकुट्टिमशोभिनि ।
सुखसय्यागता मध्य मन्दिरस्य रराज सा ॥६॥
मावितरतनयाक्रान्तिशङ्काकम्पितवारिभि ।
उपरय सेव्यमानेव समन्ताद्रत्नराशिभि ॥७॥
तस्या विमानमध्यस्थरत्नोरया प्रतिमा बभौ।
विद्याधरश्रीर्नभसा प्रणामार्थमिवागता ॥८॥
मन्त्रसाधनसश्रद्धा साधकेन्द्रकथासु च।
बभूव सा दोहदिनी प्रसङ्गोपगतासु च ॥९॥
सरसारम्भसङ्गीता विद्याधरवराङ्गना।
स्वप्ने तामम्बरोत्सङ्गमारूढामुपतस्थिरे ॥१ ॥
प्रबुद्धा सवित्तुं साक्षात्तदेवाभिललाष सा।
नभ क्रीडाभिलषित लक्ष्यभूतस्कौतुकम् ॥११॥
त च दोहदमेतस्या देव्या यौगन्धरायण।
यन्त्रमन्त्रेन्द्रजालादिप्रयोगै समपूरयत् ॥१२॥
विजहार च सा तैस्तै प्रयोगैर्नभगमस्थिता।
पौरनारीजनोत्पदमलोचनार्चयदामिभि ॥१३॥
एकदा वामकथ्यायास्तस्यास्य समभायत।
हृदि विद्याधरोदारकथाश्रवणकौतुकम् ॥१४॥
ततस्तयार्थितो देव्या तत्र यौगन्धरायण।
तस्या सर्वेषु शृण्वत्सु निजगाद कथामिमाम् ॥१५॥

उस गर्भवती रानी का मुख चन्द्रमा के समान शोभित होने लगा। उस मुख में नेत्र चंचल थे। उसकी आभा कुछ पीलापन लिये हुई थी मानों चन्द्रमा अपने मित्र कामदेव के प्रेम से आकर, रानी के मुँह में निवास करने लगा था ॥२॥

उस रानी के मणिमय पलंग के दोनों ओर पति 'कामन्द' के प्रेम से आई हुई रति और प्रीति दोनों पत्नियाँ मानों प्रतिमा के रूप में चमकती थीं ॥३॥

ऐसा लगता था कि विद्याधरों के भावी चक्रवर्ती उस गर्भस्थ बालक की सेवा के लिए आई हुई विद्याएँ रानी की सेवा कर रही थीं ॥४॥

रानी मानों गर्भस्थ बालक के अभिषेक के लिए गहरे हरे रंग के नवपल्लवों के समान श्याम मुखवाले दो कुचों को कलशों के सदृश वहन करती थी ॥५॥

स्वच्छ चमकील और प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेवाली भूमि से युक्त शयन-गृह में सुखद शय्या पर सोई हुई रानी बहुत ही भली मालूम पड़ती थी ॥६॥

वह रानी मानों उत्पन्न होनेवाले बालक की सुन्दर कान्ति से पराजित होने के भय से चंचल पानीवाले रत्नों की राशि से शोभित हो रही थी। (अर्थात् उसके शरीर पर धारण किये हुए बहुमूल्य रत्नों का पानी चंचल हो रहा था झलमल-झलमल कर रहा था) ॥७॥

भवन के मध्य में जड़े हुए रत्न के अन्दर दीखती हुई छाया ऐसी मालूम होती थी कि मानो गर्भस्थ चक्रवर्ती को प्रणाम करने के लिए विद्याधरों की राजलक्ष्मी आकाश से उतर रही हो ॥८॥

वह गर्भवती रानी मन्त्रसिद्धि में लगे हुए साधकों की कथाओं तथा इसी प्रकार की बातों में रुचि रखती थी ॥९॥

मधुर गान गाती हुई विद्याधरों की सुन्दर रमणियाँ स्वप्न में रानी की स्तुति करती हुई दीखती थीं ॥१ ॥

रानी जागने पर भी आकाश में उड़कर विहार करने और भूमि के कौतुक (तमाशे) देखने की इच्छा करती थी ॥११॥

मन्त्री यौगन्धरायण तन्त्र मन्त्र और ऐन्द्रजालिक प्रयोगों से रानी की इच्छा को पूरी करता था ॥१२॥

नागरिक स्त्रियों की आँखों को आश्चर्य देनेवाले उन आकाश-विहार के प्रयोगों से वह आकाश में विहार करती थी ॥१३॥

एक बार जब अपने भवन में बैठी हुई थी उसके हृदय में विद्याधरों की उदारतापूर्ण कथा सुनने की इच्छा उत्पन्न हुई ॥१४॥

तब उस रानी की प्रार्थना पर मन्त्री लोगों के सामने यौगन्धरायण ने यह कथा कही ॥१५॥

जीमूतवाहनकथा[1]

अस्त्यम्बिकाजनयिता नगेन्द्रो हिमवानिति।
न केवलं गिरीणां यो गुरुर्गौरीपतेरपि॥१६॥
विद्याधरनिवासश्च तस्मिन्विद्याधराधिपः।
उवास राजा जीमूतकेतुर्नाम महाबलः॥१७॥
तस्याभूत्कल्पवृक्षश्च गृहे पितृक्रमागतः।
नाम्नान्वर्थेन विख्यातो यो मनोरथदायकः॥१८॥
कदाचिच्च स जीमूतकेतू राजाभ्युपेत्य तम्।
उद्याने देवतात्मानं कल्पद्रुममयाचत॥१९॥
सर्वदा प्राप्यतेऽस्माभिस्त्वत्तः सर्वमभीप्सितम्।
तदपुत्राय मे देहि देव पुत्रं गुणान्वितम्॥२०॥
ततः कल्पद्रुमोऽवादीद्राजन्नुत्पत्स्यते तव।
जातिस्मरो दानवीरः सर्वभूतहितः सुतः॥२१॥
तच्छ्रुत्वा स प्रहृष्टः सन्कल्पवृक्षं प्रणम्य तम्।
गत्वा निवेद्य तद्राजा निजां देवीमनन्दयत्॥२२॥
अथ तस्याचिरादेव राज्ञः सूनुरजायत।
जीमूतवाहनं तं च नाम्ना स विदधे पिता॥२३॥
ततः सहजया साकं सर्वभूतानुकम्पया।
जगाम स महासत्त्वो वृद्धिं जीमूतवाहनः॥२४॥
क्रमाच्च यौवराज्यस्थः परिचर्याप्रसादितम्।
लोकानुकम्पी पितरं विजने स व्यजिज्ञपत्॥२५॥
जानामि तात भावा भवेऽस्मिन्क्षणभङ्गुराः।
स्थिरं तु महतामेकमाकल्पममलं यशः॥२६॥
परोपकृतिसम्भूतं तदेव यदि हन्त तत्।
किमन्यदस्त्युदाराणां धनं प्राणाधिकप्रियम्॥२७॥
सम्पच्च विद्युदिव सा लोकलोचनखेदकृत्।
लोला क्वापि लयं याति या परानुपकारिणी॥२८॥

---

1 इयमेव कथा श्रीहर्षप्रणीतस्य नागानन्दनाटकस्याधारभूता।

जीमूतवाहन[1] की कथा

पार्वती का पिता और पर्वतों का राजा हिमालय नाम का पर्वत है, जो गौरी का ही पिता नहीं, गौरीपति शिवजी का भी गुरु (श्वसुर) है॥१६॥

उस पर्वत में विद्याधरों[2] का निवास है। अतः उस महान् पर्वत पर जीमूतकेतु नाम का विद्याधरों का राजा निवास करता था॥१७॥

उसके घर के उद्यान में कुल-परम्परा से एक उद्यान था, जो अपने नाम के अनुसार मनोरथ पूर्ण करने में प्रसिद्ध था॥१८॥

किसी समय राजा जीमूतकेतु ने उद्यान में उस कल्पवृक्ष के समीप जाकर देवता-स्वरूप उस वृक्ष से प्रार्थना की—॥१ ॥

'हे देवस्वरूप! हमलोग सदा से तुम्हारे द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करते आए हैं। इसलिए मुझ पुत्रहीन को पुत्र प्रदान करो'॥२ ॥

तब कल्पवृक्ष ने कहा—हे राजन्! तुम्हें पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाला, प्राणियों का हित करनेवाला और दानवीर पुत्र उत्पन्न होगा'॥२१॥

यह सुनकर प्रसन्न उस राजा ने यह समाचार रानी को सुनाकर उसे भी प्रसन्न किया॥२२॥

तदनन्तर शीघ्र ही राजा जीमूतकेतु के यहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ और पिता ने उसका नाम जीमूतवाहन रखा॥२३॥

प्राणियों पर दया के साथ-साथ वह महात्मा बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा॥२४॥

एक बार युवराज पद को प्राप्त कर परोपकारी जीमूतवाहन एकान्त में बैठे हुए प्रसन्न पिता से बोला—'पिताजी! इस संसार में जो कुछ भी है, वह सब नश्वर (नाशवान्) है। स्थिर रहनेवाला केवल महान् व्यक्तियों का निर्मल यश ही है॥२ २५॥

यदि परोपकारी से उत्पन्न यश हो, तो फिर उदारचरितों के लिए प्राणों से प्यारा धन क्या है?॥२७॥

लक्ष्मी बिजली के समान चञ्चल तथा क्षण भर की शोभा को नष्ट करनेवाली, चञ्चल और दूसरों को हानि पहुँचानेवाली वस्तु है॥२८॥

---

1. यही श्रीहर्ष के नागानन्द नाटक की आधारभूत कथा है।
2. मन्त्र-तन्त्र-विद्याओं के द्वारा बने हुए देवताओं की एक जाति।

सदैव कल्पविटपी कामदो योऽस्ति नः स चेत् ।
परार्थे विनियुज्येत तदाप्तं तत्फलं भवेत् ॥२९॥
तत्तथाहं करोमीह यथैतस्य समृद्धिभिः ।
अदरिद्रा भवत्येषा सर्वार्थिजनसंहतिः ॥३०॥
इति विज्ञाप्य पितरं तदनुज्ञामवाप्य सः ।
जीमूतवाहनो गत्वा तं कल्पद्रुममब्रवीत् ॥३१॥
देव ! त्वं सदैवास्माकमभीष्टफलदायकः ।
तदेकमिदमद्य त्वं मम पूरय वाञ्छितम् ॥३२॥
अदरिद्रां कुरुष्वैतां पृथिवीमखिलां सखे ।
स्वस्त्यस्तु ते प्रदत्तोऽसि लोकाय द्रविणार्थिने ॥३३॥
इत्युक्तस्तेन धीरेण कल्पवृक्षो ववर्ष सः ।
कनकं भूतले भूरि ननन्दुश्चाखिला प्रजा ॥३४॥
कृपालुर्बोधिसत्त्वांशः कोऽन्यो जीमूतवाहनात् ।
शक्नुयादर्थिसात्कर्तुमपि कल्पद्रुमं कृती ॥३५॥
इति जातानुरागासु ततो दिक्षु विदिक्ष्वपि ।
जीमूतवाहनस्योच्चैः पप्रथे विशदं यशः ॥३६॥
ततः पुत्रप्रभावद्धमूलं राज्यं समत्सराः ।
दृष्ट्वा जीमूतकेतोस्तद्गोत्रजा विकृतिं ययुः ॥३७॥
दानोपयुक्तसत्कल्पवृक्षमुक्तास्पदं च तत् ।
मेनिरे निर्भयाभावाज्जेतुं सुकरमेव ते ॥३८॥
ततः सम्भूय युद्धाय कृतबुद्धिषु तेषु च ।
पितरं तमुवाचैवं धीरो जीमूतवाहनः ॥३९॥
यथा शरीरमेवेदं जलबुद्बुदसंनिभम् ।
प्रवातदीपचपलास्तथा कस्य कृते श्रियः ॥४ ॥
ता अप्यन्योपमर्देन मनस्वी कोऽभिवाञ्छति ।
तस्मात्तात ! मया नैव योद्धव्यं गोत्रजैः सह ॥४१॥
राज्यं त्यक्त्वा तु गन्तव्यमितः क्वापि वनं मया ॥
आसतां कृपणा एते मा भूत्स्वकुलसंक्षयः ॥४२॥
इत्युक्तवन्तं जीमूतवाहनं स पिता ततः ।
जीमूतकेतुरप्येवं जगाद कृतनिश्चयः ॥४३॥

इसलिए हमारे यहाँ यह जो वांछित फल देने वाला कल्पवृक्ष है, उसे यदि परोपकार के लिए प्रयुक्त किया जाय तो उसकी सफलता हो ॥२९॥

इसलिए मैं चाहता हूँ कि इस वृक्ष की सम्पत्ति से संसार के समस्त याचक धनी हो जायँ ॥१ ॥

पिता का इस प्रकार निवेदन करके और उनकी आज्ञा प्राप्त करके जीमूतवाहन ने कल्पद्रुम से जाकर कहा—॥११॥

हे देव! तुम सर्वदा हमारे अभीष्ट फलों को देते रहे। आज तुम मेरी एक अभिलाषा पूर्ण करो ॥१२॥

हे देव! तुम इस सारी पृथ्वी को दरिद्रता से रहित कर दो। तुम्हारा कल्याण हो। मैंने तुम्हें धन चाहनेवाले याचकों के लिए दे दिया ॥१३॥

धैर्यशाली जीमूतवाहन द्वारा इस प्रकार प्रार्थित उस कल्पवृक्ष ने भूमि पर प्रचुर स्वर्ण की वर्षा की और सारी प्रजा प्रसन्न हो गई ॥१४॥

दयालु और बोधिसत्त्व के अंश जीमूतवाहन को छोड़कर और कौन ऐसा उदार है, जो कल्पवृक्ष को भी याचकों के लिए दे डाले ॥१५॥

इस प्रकार जीमूतवाहन के प्रति दिग्दिगन्त अनुरागपूर्ण हो गये और जीमूतवाहन का उज्ज्वल तथा महान् यश चारों ओर फैल गया ॥१६॥

तब जीमूतकेतु के राज्य को पुत्र-परम्परा से चलनेवाला देखकर, उनके कुटुम्बियों को ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वे राजा के विरुद्ध हो गये ॥१७॥

दान के लिए उपयोग किये गये कल्पवृक्ष के निःसार हो जाने पर, फलतः राजा का प्रभाव हीन समझकर उन्होंने उसपर विजय प्राप्त करना आसान समझा ॥१८॥

तदनन्तर उनके इकट्ठे होकर युद्ध के लिए तैयार हो जाने पर धैर्यशाली जीमूतवाहन ने पिता से कहा—जैसे यह शरीर जल के बुलबुले के समान है, उसी प्रकार पानी में दीपक के समान यह राजलक्ष्मी किसके उपभोग में आ सकती है। ऐसी अस्थिर लक्ष्मी के लिए कौन बुद्धिमान् आपस में संघर्ष करना चाहता है। इसलिए पिता! मैं अपने कुटुम्बियों के साथ युद्ध करना नहीं चाहता। चाहता हूँ कि इस राज्य को छोड़कर कहीं वन में चला जाना चाहिए। ये बेचारे राज्य करें और अपने कुल का भी नाश न हो ॥१९-२२॥

ऐसा कहते हुए जीमूतवाहन को पिता जीमूतकेतु ने निश्चय करके कहा—बेटा! मैं भी यहीं वन में जाना चाहता हूँ ॥२३-२४॥

मुझ वृद्ध की अब कौन-सी चाह शेष रह गई है। जबकि युवक होकर तुम राज्य को तृण के समान त्याग रहे हो' ॥४४॥

पत्नी के साथ राजा के इस प्रकार कहने पर जीमूतवाहन पिता के साथ मलयाचल को चला गया ॥४५॥

चन्दन वृक्षों से आवृत झरनोंवाले और सिद्ध-महात्माओं के निवासस्थान मलयाचल में वह आश्रम बनाकर पिता की सेवा में तत्पर हो गया ॥४६॥

वहाँ पर सिद्धों के राजा विश्वावसु का पुत्र मित्रावसु जीमूतवाहन का मित्र बन गया। ज्ञानी जीमूतवाहन ने अपने मित्र विश्वावसु की बहिन को किसी समय एकान्त में देखा जो पूर्वजन्म में उसकी प्यारी पत्नी थी ॥४७-४८॥

उस समय उन दोनों युवकों का परस्पर दर्शन मन-रूपी मृग को दृढ़ बन्धन करने में रस्सी के समान हुआ—अर्थात् दोनों ही दोनों के प्रति प्रेम-बंधन में बँध गये ॥४९॥

कुछ समय के अनन्तर तीनों लोक के पूज्य जीमूतवाहन के समीप आकर मित्रावसु प्रसन्नतापूर्वक बोला—॥५०॥

'मित्र! मलयवती नाम की मेरी छोटी बहिन है। उसे मैं तुम्हें देता हूँ। तुम मना न करना ॥५१॥

यह सुनते ही जीमूतवाहन भी बोला कि 'युवराज! पूर्वजन्म में भी वह मेरी पत्नी थी और उसी जन्म में तुम मेरे दूसरे हृदय के समान मित्र थे ॥५२॥

मैं पूर्वजन्म का ज्ञानी हूँ। इसलिए अपने तुम्हारे और उसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त स्मरण करता हूँ ॥५३॥

इस प्रकार कहते हुए जीमूतवाहन को मित्रावसु ने कहा कि 'पूर्वजन्म की कथा सुनाओ! उसे सुनने की मेरी बहुत इच्छा है' ॥५४॥

जीमूतवाहन के पूर्वजन्म की कथा

मित्रावसु से यह सुनकर जीमूतवाहन ने पूर्वजन्म की कथा उसके लिए कहनी प्रारम्भ की ॥५५॥

मैं पूर्वजन्म में आकाश में विचरण करनेवाला विद्याधर था। किसी समय उड़ते-उड़ते मैं हिमालय के शिखर का उल्लंघन कर गया। उस शिखर के नीचे शिवजी पार्वती के साथ विहार कर रहे थे ॥५६॥

इस प्रकार शिखर लंघन से क्रुद्ध शिवजी ने मुझे शाप दिया कि 'मर्त्ययोनि में तेरा पतन हो' ॥५७॥

प्राप्य विद्याधरीं भार्यां नियोज्य स्वपदे सुतम्।
पुनर्वैद्याधरीं योनिं स्मृतजातिः प्रपत्स्यते ॥५८॥
एवं निशम्य शापान्तमुक्त्वा सर्वे तिरोहिते।
अचिरेणैव जातोऽहं भूतले वणिजां कुले ॥५९॥
नगर्यां वलभीनाम्न्यां महाधनवणिक्सुतः।
वसुदत्ताभिधानः सन्वृद्धिं च गतवानहम् ॥६०॥
कालेन यौवनस्थश्च पित्रा कृतपरिच्छदः।
द्वीपान्तरं गतोऽभूवं वाणिज्यार्थं तदाज्ञया ॥६१॥
आगच्छन्तं ततोऽरण्यां तस्करा विनिपत्य माम्।
हृतस्वमनयन्बद्ध्वा स्वपल्लीं चण्डिकागृहम् ॥६२॥
विलोलदीर्घया घोरं रक्ताक्तपताकया।
जिघत्सत पशुप्राणान् कृतान्तस्येव जिह्वया ॥६३॥
तत्राहमुपहारार्थमुपनीतो निजस्य तैः।
प्रभोः पुलिन्दकाख्यस्य देवीं पूजयतोऽन्तिकम् ॥६४॥
स दृष्ट्वैवार्द्रहृदयः शबरोऽप्यभवन्मयि।
वक्ति च मान्तरप्रीतिं मनः स्निग्धमकारणम् ॥६५॥
ततो मां मोचयित्वैव वधात्स शबराधिपः।
ऐच्छदात्मोपहारेण कर्तुं पूजासमापनम् ॥६६॥
मैवं कृथाः प्रसन्नास्मि तव याचस्व मां वरम्।
इत्युक्तो दिव्यया वाचा प्रहृष्टश्च जगाद सः ॥६७॥
त्वं प्रसन्ना वरः कोऽन्यस्तथाप्येतावदस्तु मे।
जन्मान्तरेऽपि मे सख्यमनेन वणिजास्त्विति ॥६८॥
एवमस्त्विति शान्तायां वाचि मां शबरोऽथ सः।
प्रदत्तमविभागार्थं प्रेषयाय निजं गृहम् ॥६९॥
मृत्योर्मुखात्प्रत्यागतं मयि।
अकरोत्तत्र तातो मम महोत्सवम् ॥७०॥
कालेन तम पापस्यमहं सार्थविलुण्ठनात्।
बद्धस्यानायितं राज्ञा तमेव शबराधिपम् ॥७१॥
तत्क्षणं पितुरग्रतो विज्ञप्य च महीपतिम्।
मोचितः स्वर्णलक्षं मे मया वधनिग्रहात् ॥७२॥

'विद्याधरी पत्नी को प्राप्त करके अपने स्थान पर अपने पुत्र को बैठाकर पूर्वजन्म का स्मरण करते हुए पुनः विद्याधर योनि प्राप्त करोगे' ॥५८॥

इस प्रकार शाप का अन्त कहकर शिवजी के अन्तर्धान होने पर मैं पृथ्वी पर वलभी नाम की नगरी में बड़े ही धनी वैश्यकुल में वसुदत्त नाम से उत्पन्न हुआ और बड़ा हुआ ॥५९-६०॥

कुछ समय के पश्चात् युवावस्था में पिता के तैयार कर देने पर उनकी आज्ञा से व्यापार के लिए दूसरे द्वीप में गया ॥६१॥

वहाँ से लौटते हुए मुझे जंगल में लुटेरों ने गिराकर पकड़ लिया। वे मेरा सब कुछ छीनकर और मुझे बाँधकर अपने गाँव के चण्डिका मन्दिर में ले गये ॥६२॥

उस चण्डिका-गृह में लाल रंग की लम्बी-लम्बी झण्डियाँ नाना पशुओं के प्राणों का भक्षण करने की इच्छावाले काल की लपलपाती हुई जीभ के समान मालूम हो रही थीं ॥६३॥

उस मन्दिर में बलिदान करने के लिए, वे लुटेरे, मुझे देवी के पूजक पुलिन्दक नामक अपने सरदार के पास ले गये ॥६४॥

वह पुलिन्दक जंगली भिल्ल होते हुए भी मुझे देखते ही दया से पिघल गया। बिना कारण ही स्नेह करनेवाला मन पूर्वजन्म के प्रेम-सम्बन्ध को बताता है ॥६५॥

तब उस भील ने मुझे बलिदान से बचाकर अपनी बलि देकर देवी को प्रसन्न करना चाहा ॥६६॥

'ऐसा न करो मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। वर माँगो।' इस प्रकार आकाशवाणी से कहा गया वह भीलराज बोला—'हे देवि तू प्रसन्न है तो और क्या वर माँगूँ इस वैश्य के साथ अगले जन्म में भी मेरी मित्रता बनी रहे यही वर दो' ॥६७-६८॥

'ऐसा ही हो'—इस प्रकार वर देकर वाणी के बन्द हो जाने पर उस भील ने मेरे धन से भी अधिक धन देकर मुझे अपने घर भेज दिया ॥६९॥

इस प्रकार लम्बी यात्रा और मृत्यु के मुख से मेरे लौटकर आने पर समस्त वृत्तान्त जानकर मेरे पिता ने प्रसन्नता से भारी उत्सव किया ॥७०॥

कुछ समय के अनन्तर मैंने अपने नगर में व्यापारियों को लूट लेने के कारण राजा द्वारा पकड़वाकर लाये गये उन लुटेरों के सरदार भीलराज को देखा ॥७१॥

उसी समय मैंने पिता से कहकर और राजा को सूचित करके उस भीलराज को लाख स्वर्ण-मुद्रा देकर उसे प्राणदण्ड से बचा लिया ॥७२॥

प्राणदानोपकारस्य कृत्वैव प्रत्युपक्रियाम्।
आनीय च गृहं प्रीत्या पूर्वं सम्मानितश्चिरम् ॥७३॥
सत्कृत्य प्रेषितश्चाथ हृदयं प्रणयेद्धरम्।
निधाय मयि पत्नीं स्वां प्रायात्स शबराधिप ॥७४॥
तत्र प्रत्युपकारार्थं चिन्तयं प्राभृतं मम।
स्वल्पं स मने स्वाधीनं मुक्तामस्तूरिकाद्यपि ॥७५॥
ततः सातिशयं प्राप्तं मुक्तासारं स मत्कृते।
धनुर्द्वितीयः प्रययौ गजान् हन्तुं हिमाचलम् ॥७६॥
भ्रमंश्च तत्र तीरस्थदेवागारं महत्सरः।
प्राप तुल्यं कृतप्रीतिस्तदब्जैर्मित्ररागिभिः ॥७७॥
तत्राशङ्क्याम्बुपानार्थमागमं वन्यहस्तिनाम्।
छन्नः स तस्थावेकान्ते सचापस्तज्जिघांसया ॥७८॥
तावत्तत्र सरस्तीरगतं पूजयितुं हरम्।
आगतामद्भुताकारां कुमारीं सिंहवाहनाम् ॥७९॥
स ददर्श तुषाराद्रिराजपुत्रीमिवापराम्।
परिचर्यापरां शम्भोः कन्यकामावर्जितनीम् ॥८ ॥
दृष्ट्वा च विस्मयाक्रान्तः शबरः स व्यचिन्तयत्।
केयं स्याद्यदि मर्त्यस्त्री तत्कथं सिंहवाहना ॥८१॥
अथ दिव्या कथं दृश्या मादृशस्तर्हि ध्रुवम्।
चक्षुषो पूर्वपुण्यानां मूर्ता परिणतिर्मम ॥८२॥
अनया यदि मित्रं तं योजयेयमहं ततः।
कृताप्यन्यत्र मया तस्य कृता स्यात्प्रत्युपक्रिया ॥८३॥
तदेतामुपसर्पामि तावज्जिज्ञासितुं वरम्।
इत्यालोच्य स मित्रं मे शबरस्तामुपाययौ ॥८४॥
तावच्च सा वतीर्यैव सिंहाच्छायानिषादिम।
कन्यागत्य सरः पद्मान्यवचेतुं प्रचक्रमे ॥८५॥
तं च दृष्ट्वान्तिकप्राप्तं शबरं सा कृतानतिम्।
अपूर्वमतिथिप्रीत्या स्वागतेनाभ्यनन्दयत् ॥८६॥
कस्त्वं किं चागतोऽस्यैतां भूमिमत्यन्तदुर्गमाम्।
इति पृष्टवती तां च शबरः प्रत्युवाच सः ॥८७॥

मैंने अपने प्राणदान का बदला इस प्रकार चुकाकर और प्रेम से भीलराज को अपने घर लाकर उसका बहुत दिनों तक स्वागत-सत्कार किया ॥७३॥

अन्त में उसका समुचित सत्कार करके उसे घर भेज दिया। वह भीलराज भी अपना प्रेमपूर्ण हृदय देकर अपने गाँव की ओर गया ॥७४॥

घर जाकर मेरा प्रत्युपकार करने (बदला देने) के लिए अपने समीप के मोती कस्तूरी आदि को भी उसने पर्याप्त नहीं समझा ॥७५॥

इसलिए मेरे लिए बहुमूल्य और दुर्लभ गजमुक्ता[1] प्राप्त करने के लिए वह धनुष-बाण के साथ हिमाचल का गया ॥७६॥

वहाँ घूमते हुए उसने देवमन्दिर के साथ एक बड़े तालाब को देखा जहाँ मित्र अर्थात् सूर्य से प्रीति रखनेवाले खिले कमलों को देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ ॥७७॥

उस तालाब में पानी पीने के लिए आनेवाले हाथियों की आशा से उन्हें मारने के लिए धनुष लिये हुए वह एकान्त में वहीं छिप गया ॥७८॥

छिपकर उसने देखा कि एक अद्‌भुत सुन्दरी कुमारी शिव-पूजन के लिए सिंह पर सवार होकर तालाब पर आई ॥७९॥

वह भीलराज शिवजी की पूजा के लिए कन्या के रूप में आई हुई दूसरी हिमाचल-नन्दिनी पार्वती के समान उसे देखकर आश्चर्यचकित हो मन में सोचने लगा कि 'यह कौन कन्या है यदि मानव-कन्या है, तो वह सिंहवाहिनी कैसे यदि देवकन्या है तो मुझ-जैसे लोग इसे कैसे देख सकते हैं।' अतः अवश्य ही यह मेरी आँखों के पूर्व-पुण्यों की शरीरधारिणी मूर्ति है ॥८ –८२॥

यदि इस सुन्दरी से मैं अपने मित्र वसुदत्त का सम्बन्ध करा दूँ तो यह उसका समुचित प्रत्युपकार हो सकता है ॥८३॥

'इसलिए इसकी इच्छा जानने के लिए मैं इसके समीप जाता हूँ'—यह सोचकर वह मित्र उसके पास गया ॥८४॥

तब वह कन्या छाया में बैठे हुए शेर से उतरकर पूजा के लिए पुष्प-चयन करने तालाब उतरी ॥८५॥

उस कन्या ने पास आकर प्रणाम करते हुए, प्रथम बार ही देखे हुए भिल्लराज को अतिथि-प्रेम के कारण स्वागत करते हुए प्रसन्न किया—और पूछा 'तू कौन है तथा इस दुर्गम भूमि में कैसे आया है?' उसके इस प्रकार पूछने पर भीलराज बोला— ॥८६-८७॥

---

१ गज—हाथी मुक्ता—मोती। हाथी के मस्तक से निकला मोती बहुमूल्य और कल्याणकारी होता है।

अहं भवानीपादैकशरणः शबराधिप ।
आगतोऽस्मि च मातङ्गमुक्ताहेतोरिदं वनम् ॥८८॥
त्वां च दृष्ट्वाधुनास्मीयो देवि प्राणप्रदः सुहृत् ।
सार्थवाहसुतः श्रीमान् वसुदत्तो मया स्मृतः ॥८९॥
स हि त्वमिव रूपेण यौवनेन च सुन्दरि ! ।
अद्वितीयोऽस्य विश्वस्य नयनामृतनिर्झरः ॥९०॥
सा धन्या कन्यका लोके यस्यास्तेनेह गृह्यते ।
मैत्रीदानदयाधैर्यैर्निधिना कङ्कणी करः ॥९१॥
तस्यैवाकृतिरेषा ते तादृशेन न यज्यते ।
व्यर्थं वहति तत्काम कोदण्डमिति मे व्यथा ॥९२॥
इति व्याघ्रमत्ववचनैः सद्योऽपहृतमानसा ।
साभूत्कुमारी कन्दर्पमोहमन्त्राक्षरैरिव ॥९३॥
उवाच तं च शबरं प्रेर्यमाणा मनोभुवा ।
क्व स ते सुहृदानीय तावन्मे दर्श्यतामिति ॥९४॥
तच्छ्रुत्वा च तथेत्युक्त्वा तामामन्त्र्य तत्रैव सः ।
कृतार्थमानी मुदितः प्रतस्थे शबरस्ततः ॥९५॥
प्राप्य स्वपल्लीमानाय मुक्तामृगमदान्विकम् ।
भूरि भारशतैर्हर्म्यमस्मद्गृहमथाययौ ॥९६॥
सर्वं पुरस्कृतमस्तत्र प्रविश्य प्राभृतं च तत् ।
मत्पित्रे स बहुस्वर्णलक्षमूल्यं न्यवेदयत् ॥९७॥
उत्सवेन च यातेऽस्मिन्दिने रात्रौ स मे रहः ।
कन्यादर्शनवृत्तान्तं तमामूलान्न्यवेदयत् ॥९८॥
एहि तत्रैव गच्छाव इत्युक्त्वा च समुत्सुकम् ।
मामादाय निशि स्वैरं स प्रायाच्छबराधिपः ॥९ ॥
प्रातश्च मां गतं क्वापि बुद्ध्वा सशबराधिपम् ।
तत्प्रीतिप्रत्ययात्तस्थौ धृतिमालम्ब्य मत्पिता ॥१ ॥
अहं च प्रापितोऽभूवं क्रमात्तेन तरस्विना ।
शबरेण तुषाराद्रिं रक्षाय्यसरक्षितमना ॥१०१॥
तत्र प्राप्य सरः सायं स्नात्वा स्वादुफलाशनौ ।
अहं च स च तामेकां तत्रोषितौ निशाम् ॥१०२॥
स्नामि शीर्णकुसुमं भृङ्गीभङ्गीमनुत्तरम् ।
शुभगन्धवहं हारि ज्वलितौषधिदीपितम् ॥१०३॥

मैं भवानीभक्त प्रवरराज हूँ। गजमुक्ता लेने के हेतु इस जंगल में आया हूँ तुम्हें देखकर मुझे अपना एक जीवनाधार आत्मीय मित्र स्मरण आ गया जो एक बड़े व्यापारी और धनी का पुत्र है उसका नाम वसुदत्त है'॥८८-८९॥

हे सुन्दरि! वह रूप और यौवन में तुम्हारे ही समान सुन्दर है। आँखों के लिए मानों अमृत का झरना है ऐसा पुरुष इस विश्व में दूसरा नहीं है॥९ ॥

इस संसार में वह लड़की धन्य होगी जिसका वह पाणिग्रहण करेगा। वह मित्रता दया दान और धैर्य का समुद्र है॥९१॥

यदि तुम्हारी ऐसी सुन्दर आकृति उसे न मिली तो कामदेव का धनुष-बाण धारण करना ही व्यर्थ हो जायगा। इसका मुझे दुःख है॥९२॥

इस प्रकार कामदेव के मोहन-मन्त्रों के समान भीलराज के वचनों से वह कुमारी तुरन्त अन्यमनस्क हो उठी॥९३॥

साथ ही कामदेव से प्रेरित हो उस भील से बोली कि 'तुम्हारा वह मित्र कहाँ है उसे लाकर दिखाओ ॥९४॥

यह सुनकर और 'अच्छा लाता हूँ'—कहकर वह भील अपने को सफल समझता हुआ प्रसन्नता से चला॥९५॥

तदनन्तर अपने घर आकर मोती कस्तूरी आदि के सैकड़ो बोझे लदवाकर वह वसुदत्त के घर पहुँचा॥९६॥

वहाँ सभी लोगों द्वारा स्वागत किये गये भीलराज ने कई लाख मुद्राओं के मूल्य के उस उपहार को वसुदत्त के पिता को भेंट किया॥९७॥

हँसी-खुशी में दिन व्यतीत होने पर रात्रि में एकान्त के समय भीलराज ने मेरे पास आकर कन्या को देखने का समस्त वृत्तान्त प्रारम्भ से सुनाया और कहा कि 'चलो वहीं चलें'—ऐसा कहकर रात्रि में ही मुझे साथ लेकर भीलराज चल पड़ा॥ ८ ९॥

प्रातःकाल ही भीलराज के साथ मुझे कहीं चला गया जानकर मेरे पिता ने भीलराज में विश्वस्त होकर धैर्यपूर्वक दिन व्यतीत किये॥१ ॥

शीघ्र चलनेवाले उस भीलराज ने मार्ग में मेरी सहायता करते हुए मुझे हिमाचल पर पहुँचा दिया॥१ १॥

मैं और वह दोनों सायंकाल उस तालाब पर पहुँचे और स्नान करके स्वादिष्टफल खाकर उस रात वहीं सो गये। वह सुन्दर स्थान खिले हुए विविध पुष्पों से सुगन्धित भ्रमरियों के संगीत से आकर्षक और रात्रि में चमकनेवाली औषधियों से आलोकित था॥१ २-१ ३॥

रतेस्तत्रासवेश्मेव विश्रान्त्यै गिरिकाननम् ।
आवयोरभवन्नक्त पिबतोस्तत्सरोजलम् ॥१०४॥
ततोऽन्येद्यु प्रतिपद तत्पुष्कलिकामृता ।
प्रत्युद्गतेव मनसा मम तन्मार्गधाविना ॥१०५॥
चक्षुषा दक्षिणेनापि सूचितागमनामुना ।
दिदृक्षयेव स्फुरता सा कन्याभागताभवत् ॥१०६॥
सटालसिंहपृष्ठस्था सुभ्रूर्दृष्टा मया च सा ।
शरदम्भोधरोत्सङ्गसङ्गिनीवन्दवी कला ॥१०७॥
विलसद्विस्मयौत्सुक्यसाध्वसं पश्यतश्च ताम् ।
ममावर्तत तत्काल न जाने हृदय कथम् ॥१०८॥
अथावतीर्य सिंहात्सा पुष्पाण्युच्चित्य कन्यका ।
स्नात्वा सरसि तत्तीरगत हरमपूजयत् ॥१०९॥
पूजावसाने चोपेत्य स सखा शबरो मम ।
प्रणम्यात्मानमावेद्य तामवोचत् कृतादराम् ॥११ ॥
आनीत स मया देवी सुहृद्योग्यो वरस्तव ।
मन्यसे यदि तत्तुभ्य दर्शयाम्यधुनैव तम् ॥१११॥
तच्छ्रुत्वा दर्शयेत्युक्ते तया स शबरस्तत ।
आगत्य निकट नीत्वा मां तस्या समदर्शयत् ॥११२॥
सापि मां तिर्यगालोक्य चक्षुषा प्रणयस्नुता ।
मदनावेशवशगा शबरेश तमभ्यधात् ॥११३॥
सखा ते मानुषो नाय काम कोऽप्ययमागत ।
मद्वञ्चनाय देवोऽद्य मर्त्यस्यपाकृति कुत ॥११४॥
तदाकर्ण्योक्तवानस्मि तां प्रत्याययितु स्वयम् ।
सत्य सुन्दरि ! मर्त्योऽह किं व्याजनार्जवे जने ॥११५॥
अह हि सार्थवाहस्य वलभीवासिन सुत ।
महाधनाभिधानस्य महेश्वरवराजित ॥११६॥
तपस्यन्स हि पुत्रार्थमुद्दिश्य शशिशेखरम् ।
समादिश्यत तमव स्वप्ने देवेन तुष्यता ॥११७॥
उत्तिष्ठोत्पत्स्यते कोऽपि महात्मा तनयस्तव ।
रहस्य परम चैतदसमकरवाम विस्तरम् ॥११८॥

वह पवनीय प्रदेश उस सरोवर के निर्मल जल को पीते हुए लोगों के विश्राम के लिए रति के निवास-स्थान के समान सुखद हुआ ॥१०७॥

दूसरे दिन प्रातःकाल विविध प्रकार की उत्कंठाओं के कारण उछलते हुए और उस कन्या के मार्ग पर दौड़ते हुए मन से तथा उसे देखने की इच्छा से फड़कते हुए दाहिने नेत्र से उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने में वह वहाँ आ गई। महराते अयालवाले सिंह की पीठ पर बैठी उस सुभ्रू को मैंने देखा जो शरद् के मेघ की गोद में चमकती चन्द्रकला की तरह लग रही थी। विस्मय उत्सुकता और भय से उसे देखते हुए मेरा हृदय जाने क्यों धड़कने लगा ॥१०५-१०८॥

वह कन्या वहाँ आकर, तालाब में स्नान कर पुष्प चयन करने लगी। और, तत्पश्चात् वह उस तालाब के तीर पर स्थित शिवजी के मन्दिर में जाकर उनका पूजन करने लगी ॥१०९॥

पूजा समाप्त होने पर वह मेरा मित्र भील उसके समीप जाकर प्रणामपूर्वक अपना परिचय देने के पश्चात् स्वागत करती हुई उस कन्या से बोला—॥११०॥

'हे देवि मैं तुम्हारे अनुरूप वर उस मित्र को लाया हूँ। यदि तुम चाहो तो उसे अभी तुम्हें दिखा दूँ' ॥१११॥

यह सुनकर 'दिखाओ'—उसके ऐसा कहने पर वह भील मेरे पास आया और उसने मुझे ले जाकर उसे दिखाया ॥११२॥

परिणामस्वरूप वह भी मुझे प्रेम बरसाती हुई तिरछी आँखों से देखकर काम के वशीभूत होकर भीलराज से बोली—॥११३॥

'यह तुम्हारा मित्र मनुष्य नहीं कोई देवता है जो मुझे ठगने के लिए आया है क्योंकि मनुष्य की ऐसी आकृति कहाँ हो सकती है' ॥११४॥

यह सुन कर उसे विश्वास दिलाने के लिए मैंने स्वयं ही कहा—'हे सुन्दरि! मैं सचमुच मनुष्य हूँ। तुम्हारे समान सरल मनुष्य से ठगी करने से क्या लाभ है। मैं वलभी के रहनेवाले महाधन नामक व्यापारी का पुत्र हूँ जो शिवजी की आराधना से उत्पन्न हुआ हूँ ॥११५-११६॥

मेरे पिता ने पुत्र प्राप्ति के लिए शिवजी की तपस्या की थी और स्वप्न में शिवजी ने प्रसन्न होकर आदेश दिया था कि तुम तपस्या से उठो, तुम्हें एक महात्मा पुत्र उत्पन्न होगा यही मेरी उत्पत्ति का रहस्य है और अधिक कहना व्यर्थ है ॥११७-११८॥

एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धस्य तस्य कालेन चात्मजः।
अहमेव समुत्पन्नो वसुदत्त इति श्रुतः ॥११९॥
अथ च शबराधीश स्वयवरसुहृ मया।
देशान्तरगतेन प्राक्प्राप्तः इच्छैकबान्धवः ॥१२०॥
एष मे तत्त्वसक्षेप इत्युक्त्वा विरते मयि।
श्रभापताच कन्या सा लज्जयावनताननाः ॥१२१॥
अस्त्येतन्मां च जानेऽद्य स्वप्नेऽर्चितवती हरः।
प्रातः प्राप्स्यसि भर्तारमिति तुष्टः किलादिशत् ॥१२२॥
तस्मात्त्वमेव मे भर्ता भ्राताय च भवत्सुहृत्।
इति वाक्सुधया सा मामानन्द्य विरतामवत् ॥१२३॥
सम्मन्त्र्याथ तया साकं विवाहाय यथाविधि।
अकार्य निश्चयं गन्तु समिभ्रोऽहं निजं गृहम् ॥१२४॥
ततः सा सिंहमाहूय वाहनं तं स्वसज्ञया।
तत्रारोहार्यपुत्रेति मामभाषत सुन्दरी ॥१२५॥
अथाहं तेन सुहृदानुयातः शबरेण तम्।
सिंहमारुह्य दयितामुत्सङ्गे तां गृहीतवान् ॥१२६॥
ततः प्रस्थितवानस्मि कृतकृत्यो निजं गृहम्।
कान्तया सह सिंहस्थो मित्रे तस्मिन्पुरःसरे ॥१२७॥
तदीयशरनिर्भिन्नहरिणामिषवृत्तयः ।
क्रमेण ते वयं सर्वे सम्प्राप्ता वलभीं पुरीम् ॥१२८॥
तत्र मामागतं दृष्ट्वा सिंहारूढं सवल्लभम्।
साश्चर्यस्तद्द्रुतं गत्वा मम पित्रेऽब्रवीज्जनः ॥१२९॥
सोऽपि प्रत्युद्गतो हर्षादवतीर्णं मृगेन्द्रतः।
पादावनम्रं दृष्ट्वा मामभ्यनन्दत् सविस्मयः ॥१३ ॥
अनन्यसदृशीं तां च कृतपादाभिवन्दनाम्।
पश्यन्नमोचितां मार्यां न माति स्म मुदा क्वचित् ॥१३१॥
प्रवेश्य मन्दिरं चास्मान् वृत्तान्तं परिपृच्छ्य च।
प्रथम शबराधीशसौहार्दं चोत्सवं व्यधात् ॥१३२॥
ततो मौहूर्तिकादेशात्स्वेच्छुर्वरकन्यका।
सा मया परिणीताऽभूम्मिमिस्ताविस्मितबन्धुना ॥१३३॥

तदालोक्य च सोऽकस्मात् मद्‌वधूवाहनस्तदा।
सिंह सर्वेषु पश्यत्सु सम्पन्नः पुरुषाकृतिः ॥१३४॥
किमेतदिति विभ्रान्ते जने तत्र स्थितेऽखिले।
स दिव्यवस्त्राभरणो नमन्मामवमब्रवीत् ॥१३५॥
अहं चित्राङ्गदो नाम विद्याधर इय च मे।
सुता मनोवती नाम कन्या प्राणाधिकप्रिया ॥१३६॥
एतामङ्के सदा कृत्वा विपिनेषु भ्रमन्नहम्।
प्राप्तवानेकदा गङ्गां भूरितीरतपोवनाम् ॥१३७॥
तपस्विमङ्गनत्रासात्तस्या मध्येन गच्छतः।
अपतन्मम दैवाच्च पुष्पमाला तदम्भसि ॥१३८॥
ततोऽकस्मात्समुत्थाय नारदोऽन्तर्जलस्थितः।
पृष्ठे तया पतितया क्रुद्धो मामशपन्मुनिः ॥१३९॥
औद्धत्येनामुना पाप गच्छ सिंहो भविष्यसि।
हिमाचलं गतश्चैतां सुतां पृष्ठेन वक्ष्यसि ॥१४०॥
यदा च मानुषेणैषा सुता ते परिणेष्यते।
तदा तद्दर्शनादेव शापादस्माद् विमोक्ष्यसे ॥१४१॥
इत्यहं मुनिना शप्तः सिंहीभूय हिमाचले।
अतिष्ठं तनयामेतां हरपूजापरां वहन् ॥१४२॥
अनन्तरं यथा मरनाच्छबराधिपतेरिवम्।
सम्पन्नं सर्वकल्याणं तथा प्रविदितमेव ते ॥१४३॥
तत्साधयामि भद्र वस्तीर्णः शापो मयैष सः।
इत्युक्त्वा सोऽभ्युत्पपात्तो विद्याधरो नभः ॥१४४॥
ततस्तद्विस्मयाक्रान्तो मन्त्रस्त्ववजनबान्धवः।
श्लाघ्यसम्बन्धहृष्टो मे पिताकार्षीन्महोत्सवम् ॥१४५॥
को हि निर्व्याजमित्राणां चरितं चिन्तयिष्यसि।
सुहृत्सु मन तृप्यन्ति प्राणरप्युपकृत्य ये ॥१४६॥
इति चाभ न को नाम सञ्चरमाग्मभ्यधात्।
ध्याय ध्यायमुदारं तच्छबराधिपचेष्टितम् ॥१४७॥
राजापि ततथा बुद्ध्वा तन्नयस्तस्य सगमत।
मनुष्यदरमरत्नहेम शबराधिपतं परम् ॥१४८॥
तुष्टश्च तस्मै मत्पिता दापितं सहस्रैव च।
महापमन्वीराज्य रत्नोपायनपायिना ॥१४९॥

विवाह हो जाने पर सब लोगों के देखते-ही-देखते मेरी पत्नी का वाहन सिंह पुरुष बन गया॥१३४॥

उसका यह परिवर्तित रूप देखकर वहाँ बैठे हुए सभी लोगों के विस्मित हो जाने पर, दिव्य वस्त्र और आभूषण पहने हुए वह मुझे प्रणाम करता हुआ इस प्रकार कहने लगा—॥१३५॥

मैं चित्रांगद नामक विद्याधर हूँ और यह प्राणों से भी अधिक प्यारी मेरी कन्या है॥१३६॥

मैं इसे गोद में लेकर सदा जंगलों में घूमता रहता था। एक बार अनेक तपोवनों से अलंकृत तटोंवाली गंगा के समीप पहुँचा॥१३७॥

तपस्वियों का लंघन न हो इस भय से मैं तट से न जाकर उसके मध्य से जा रहा था। मेरे जाते हुए दैवयोग से मेरी पुष्पमाला गंगा में गिर पड़ी। वह पुष्पमाला जल के अन्दर गोता लगाते हुए नारदजी की पीठ पर गिरी। फलतः इससे क्रुद्ध होकर नारदमुनि ने उस समय मुझे शाप दिया कि हे पापी! तूने मेरे साथ उद्दतता की है। इसलिए जा तू सिंह बनेगा और हिमालय में जाकर इस कन्या को पीठ पर वहन करता रहेगा॥१३८ १४॥

जब यह कन्या मनुष्य से अपना विवाह कर लेगी तब यह देखकर ही तू शाप से मुक्त हो जायगा॥१४१॥

इस प्रकार नारदमुनि से शापित होकर मैं हिमालय में सिंह बनकर शिव-पूजन में रत इस कन्या को वहन करता रहता था॥१४२॥

इसके पश्चात् भीलराज के प्रयत्न से यह सब जो कुछ मंगलमय घटना हुई, वह सब आपको विदित ही है॥१४३॥

अतः अब मैं स्वर्ग-लोक को जाता हूँ। तुम लोगों का कल्याण हो। मैं शाप से मुक्त हो गया हूँ। ऐसा कहकर वह विद्याधर तुरन्त आकाश में उड़ गया॥१४४॥

उस सिंह द्वारा आश्चर्यान्वित और प्रसन्न बन्धुओंवाले एवं उच्चकोटि के विद्याधर के साथ हुए सम्बन्ध से उत्साहित और प्रसन्न मेरे पिता ने मेरे विवाह का महान् उत्सव मनाया॥१४५॥

अपने प्राणों से उपकार करने पर भी जो उपकारी मित्र सन्तुष्ट नहीं होते ऐसे मित्रों के चरित्र को कौन सोच या समझ सकता है। इस प्रकार भीलराज के उदारतामय चरित्र की चारों ओर चर्चा चलती रही॥१४६ १४७॥

वलभी के राजा भी उसकी अतिशय उदारता की कथा सुनकर सन्तुष्ट हुए और मेरे पिता ने बहुमूल्य रत्नों का उपहार देकर और प्रत्युपकार के रूप में उसे वलभी के राजा की ओर से जंगल का राज्य दिला दिया॥१४८ १४९॥

ततस्तया मनोवत्या पत्न्या मित्रेण तेन च ।
कृतार्थं शबरेन्द्रेण तत्रातिष्ठमहं सुखी ॥१५०॥
स च पल्लीकृतात्मीयपदवासरसस्ततः ।
भूयसास्मद्गृहेष्वेव न्यवसच्छबराधिपः ॥१५१॥
परस्परोपकार्येषु सदाकालमतृप्तयोः ।
स द्वयोरगमत्कालो मम तस्य च मित्रयोः ॥१५२॥
अचिराच्च मनोवत्यां तस्यामजनि मे सुतः ।
बहिष्कृतः कुलस्येव कृत्स्नस्य हृदयोत्सवः ॥१५३॥
हिरण्यदत्तनामा च स शनैर्वृद्धिमाययौ ।
कृतविद्यो यथाकालं परिणीतोऽभवत्ततः ॥१५४॥
तद्दृष्ट्वा जीवितफलं पूर्णं मत्वा च मत्पिता ।
वृद्धो भागीरथीं प्रायात्सदारो देहमुज्झितुम् ॥१५५॥
ततोऽहं पितृशोकार्तः कथञ्चिद् बान्धवैर्धृतिम् ।
ग्राहितो गृहभारं स्वमुद्वोढुं प्रतिपन्नवान् ॥१५६॥
तदा मनोवतीमुग्धमुखदर्शनमेकतः ।
अन्यतः शबरेन्द्रेण सङ्गमो मां व्यनोदयत् ॥१५७॥
ततः सत्पुत्रसानन्दा मुकलप्रमनोरमा ।
सुहृत्समागमसुखा गतास्ते दिवसा मम ॥१५८॥
कालेनाथ प्रवृद्धं मामग्रहीच्चिबुके जरा ।
किं गृहेऽद्यापि पुत्रेति प्रेरयन्त्यधुना हितम् ॥१५९॥
तेनाहं सहसोत्पन्नवैराग्यस्तनये निजम् ।
कुटुम्बभारोद्वहने वाञ्छन्नयोजयम् ॥१६०॥
सदारश्च गतोऽभूवं गिरिं कालञ्जरं ततः ।
समं सहप्रयातेन मम शबरभूभुजा ॥१६१॥
तत्र प्राप्तेन चात्मीया जातिर्विद्याधरी मया ।
शापश्च प्राप्तपर्यन्तः स शापः सहसा स्मृतः ॥१६२॥
तच्च पत्न्यै मनोवत्यै तदैवाख्यातवानहम् ।
सख्ये च शबरेन्द्राय मुमुक्षुर्मानुषीं तनुम् ॥१६३॥
भार्यामित्रे इम एव भूयास्तां स्मरतो मम ।
अन्यजन्मन्यपीत्युक्त्वा हृदि कृत्वा च शङ्करम् ॥१६४॥
मया गिरितटात्तस्मान्निपत्य प्रणमं ततः ।
ताभ्यां स्वपत्नीमित्राभ्यां सह मुक्तं शरीरकम् ॥१६५॥

तदनन्तर मैं उस मनोवती पत्नी और अभिन्न हृदय मित्र भीमराज के साथ सुखपूर्वक चम्पा में रहने लगा ॥१५ ॥

वह भीमराज अपने देश का प्रेम छोड़कर अधिकतर हमारे घर में ही रहने लगा ॥१५१॥

परस्पर उपकार के कामों में सर्वदा अतृप्त रहनेवाले हम दोनों मित्रों का समय व्यतीत हुआ ॥१५२॥

कुछ ही दिनों में मनोवती द्वारा मेरा पुत्र उत्पन्न हुआ मानों सारे कुटुम्ब के हार्दिक उत्सव का मूर्तरूप वह प्रकट हुआ हो ॥१५३॥

हिरण्यदत्त नामक वह कुमार, धीरे-धीरे बड़ा हुआ और पढ़ने-लिखने के पश्चात् मैंने उसका विवाह कर दिया ॥१५४॥

मेरे पिता यह देखकर और अपने जीवन का अन्तिम फल समझकर वृद्धावस्था में शरीर त्याग करने के लिए गंगातट पर चले गये ॥१५५॥

पिता के चले जाने पर शोक से अत्यन्त दुःखी होकर मैंने अपने बन्धु-बान्धवों के धैर्य देने और समझाने-बुझाने पर घर-गृहस्थी का भार उठाना स्वीकार किया ॥१५६॥

उस समय एक ओर तो मनोवती के भोले-भाले मुँह को देखना और दूसरी ओर मित्र भवरराज की मित्रता —ये दो मेरे मनोविनोद के साधन थे ॥१५७॥

सुपुत्र के कारण असीम आनन्ददायक सपत्नी के कारण मनोरम एवं सच्चे मित्र के समागम से सुखद वे मेरे दिन व्यतीत हुए ॥१५८॥

कुछ समय के पश्चात् मुझ वयस्क को 'बेटा अबतक घर में क्या कर रहे हो' मानों इस प्रकार प्रेमपूर्वक हित वचन कहती हुई वृद्धावस्था ने मेरी ठोढ़ी या दाढ़ी पकड़ ली ॥१५९॥

इस कारण अकस्मात् वैराग्य उत्पन्न होने पर वन में जाने की इच्छा से मैंने कुटुम्ब का भार अपने पुत्र को दे दिया ॥१६ ॥

तदनन्तर मैं अपनी पत्नी के साथ कालंजर नामक पर्वत पर चला गया और भीमराज मेरे प्रेम से राज्य को छोड़कर मेरे साथ हो लिया ॥१६१॥

वहाँ जाकर मैंने अपनी पूर्वजन्म की विद्याधर जाति का स्मरण किया और अस्त होनेवाले दिनजी के पाप का भी सहसा स्मरण किया ॥१६२॥

उस शाप को मैंने अपनी पत्नी मनोवती तथा मित्र भीमराज को भी बता दिया ॥१६३॥

तदनन्तर मानव-शरीर को छोड़ने की इच्छा से मैंने अन्तिम समय यही कामना की है कि अगले जन्म में भी ये ही दोनों मेरी पत्नी और मित्र बनें। इस प्रकार मनमें शंकर का ध्यान कर पर्वत (हिमालय) की चोटी[1] से गिरकर उसने पत्नी और मित्र के साथ शरीर का त्याग कर दिया ॥१६४–१६५॥

---

१ इसको भृगुपात—मृत्युपात कहते हैं इस पर चढ़कर प्राण-त्याग करने से अगले जन्म में मनोवाञ्छित सिद्धि होती है।—अनु

सोऽहं ततः समुत्पन्नो नाम्ना जीमूतवाहनः।
विद्याधरकुलेऽमुष्मिन्नेष जातिस्मरोऽधुना॥१६६॥
स चापि शबरेन्द्रस्त्वं जातो मित्रावसुः पुनः।
त्वत्प्रसादात्सिद्धानां राज्ञो विश्वावसोः सुतः॥१६७॥
सापि विद्याधरी मित्र मम भार्या मनोवती।
तव स्वसा समुत्पन्ना नाम्ना मलयवत्यसौ॥१६८॥
एवं मे पूर्वपत्न्येषा भगिनी ते भवानपि।
पूर्वमित्रमतो युक्ता परिणेतुमसौ मम॥१६९॥
किं तु पूर्वमितो गत्वा मम पित्रोर्निवेदय।
तयोः प्रमाणीकृतयोः सिद्ध्यत्येतत्तवेप्सितम्॥१७०॥

जीमूतवाहनमलयवत्योर्विवाहः

इत्थं निशम्य जीमूतवाहनात् प्रीतमानसः।
गत्वा मित्रावसुः सर्वं तत्पितृभ्यां शशंस तत्॥१७१॥
अभिनन्दितवाक्यश्च ताभ्यां हृष्टस्तथैव सः।
उपगम्य तथैवाशु स्वपितृभ्यां न्यवेदयत्॥१७२॥
तयोरीप्सितसम्पत्तिसन्तुष्टयोः सत्वरं च सः।
युवराजो विवाहाय सम्भारमकरोत् स्वसुः॥१७३॥
ततो जग्राह विधिवत्तस्या जीमूतवाहनः।
पाणिं मलयवत्याः स सिद्धराजपुरस्कृतः॥१७४॥
बभूव चोत्सवस्तत्र नृत्यद्वधूचरचारणः।
सम्मिलत्सिद्धसङ्घातो वल्गद्विद्याधरोद्धुरः॥१७५॥
कृतोद्वाहस्ततस्तस्थौ तस्मिञ्जीमूतवाहनः।
मलयाद्रौ महार्हेण विभवेन वधूसखः॥१७६॥
एकदा च श्वशुर्येण स मित्रावसुना सह।
वेलावनानि जलधेरवलोकयितुं ययौ॥१७७॥
तत्रापश्यच्च पुरुषं युवानं खिन्नमागतम्।
निवर्तयन्तं जननीं हा पुत्रेति विराविणीम्॥१७८॥
अपरेण परित्यक्तं भटेनैवानुयायिना।
पुरुषेण पृथूत्तुङ्गं प्रापय्य च शिलातलम्॥१७९॥

वह जातिस्मर मैं अब वसुदत्त जीमूतवाहन नाम से विद्याधर-कुल में उत्पन्न हुआ वही शबरेन्द्र तुम मित्रावसु हो जो शिवजी की कृपा से सिद्धों के राजा विश्वावसु के पुत्र हो॥१६६ १६७॥

हे मित्र यह मेरी विद्याधरी पत्नी मनोवती मलयवती नाम से तुम्हारी बहिन है। यह तुम्हारी बहिन मेरे पूर्वजन्म की पत्नी है और तुम भी मेरे उसी जन्म में मित्र हो। अतः मैं इससे विवाह करना उचित समझता हूँ॥१६८ १६९॥

किन्तु इसके पूर्व तुम मेरे पिता से निवेदन करो। उनके स्वीकार करने पर ही तुम्हारा यह अभीष्ट सिद्ध होगा॥१७ ॥

जीमूतवाहन और मलयवती का विवाह

जीमूतवाहन से ऐसा सुनकर प्रसन्नचित मित्रावसु ने मेरे पिता के समीप जाकर यह प्रस्ताव उपस्थित किया। उनके द्वारा समर्थन प्राप्त कर लेने पर सन्तुष्ट मित्रावसु ने यही प्रस्ताव अपनी माता और पिता से किया॥१७१॥

वे यह सुनकर अभिलषित सम्पत्ति मिल जाने के समान प्रसन्न हुए और उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक इस सम्बन्ध को स्वीकार किया॥१७२॥

तदनन्तर युवराज मित्रावसु ने अपने विवाह की तैयारी की और जीमूतवाहन ने भी विधिपूर्वक मलयवती का पाणिग्रहण किया॥१७३॥

आकाशचारी चारणों के गीतों से मनोहर उनका विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। इस विवाह में सिद्धों और विद्याधरों के कुल भी सम्मिलित हुए थे॥१७४ १७५॥

विवाह के उपरान्त जीमूतवाहन अपनी पत्नी के साथ अपने राजसी ठाटबाट से वहीं रहने लगा॥१७६॥

एकबार वे अपने साले मित्रावसु के साथ समुद्र-तट के जंगलों की सैर करता हुआ टहल रहा था कि इतने में उसने एक व्याकुल युवा पुरुष को अपनी ओर आते हुए देखा और उसके पीछे एक बूढ़ी स्त्री 'हाय बेटा हाय बेटा' कहकर रोती-चिल्लाती आ रही थी॥१७७—१७८॥

पीछे आते हुए सैनिक के समान किसी पुरुष ने एक ऊँची चट्टान के समीप लाकर उसे छोड़ दिया था॥१७ ॥

कस्त्वं किमीहसे किं च माता त्वां शोचतीति तम्।
स पप्रच्छ ततः सोऽपि तस्मै वृत्तान्तमब्रवीत्॥१८०॥

कद्रूविनतयोः कथा

पुरा कश्यपभार्ये द्वे कद्रूश्च विनता तथा।
मिथः कथाप्रसङ्गेन विवादं किल चक्रतुः॥१८१॥
आद्या श्यामान् हरेरश्वानवादीदपरा सितान्।
अन्योन्यदासभावं च पणमत्र बबन्धतुः॥१८२॥
ततो जयार्थिनी कद्रूः स्वैरं नागैर्निजात्मजैः।
विषफूत्कारमलिनानर्कस्याश्वानकारयत्॥१८३॥
तादृशांश्चोपदर्श्यैतान्विनतां छद्मना जिताम्।
दासीचकार कष्टा हि स्त्रीणामन्यासहिष्णुता॥१८४॥
तद्बुद्ध्वागत्य विनतातनयो गरुडस्तदा।
सान्त्वेन मातुर्दास्यविमुक्तिं कद्रूमयाचत॥१८५॥
ततः कद्रूसुता नागा विचिन्त्यैवं तमब्रुवन्।
भो वैनतेय क्षीराब्धिः प्रारब्धो मथितुं सुरैः॥१८६॥
ततः सुधां समाहृत्य प्रतिवस्तु प्रयच्छ नः।
मातरं स्वीकुरुष्वाथ भवान्हि बलिनां वरः॥१८७॥
एतन्नागवचः श्रुत्वा गत्वा च क्षीरवारिधिम्।
सुधार्थं दर्शयामास गरुडो गुरुपौरुषम्॥१८८॥
ततः पराक्रमप्रीतो देवस्तत्र स्वयं हरिः।
तुष्टोऽस्मि ते वरं कञ्चिद् वृणीष्वेत्यादिदेश तम्॥१८९॥
नागा भवन्तु मे भक्ष्या इति सोऽपि हरेस्ततः।
वैनतेयो वरं वव्रे मातुर्दास्येन कोपितः॥१ ॥
तथेति हरिणादिष्टो निजवीर्यार्जितामृतः।
स चैवमथ शक्रेण गदितो ज्ञातवस्तुना॥१९१॥
तथा पक्षीन्द्र! कार्यं ते यथा मूढैर्न भुज्यते।
नागैः सुधा यथा चैनां तेभ्यः प्रत्याहराम्यहम्॥१९२॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा स विष्णुवरोद्धुरः।
सुधाकलशमादाय तार्क्ष्यो नागानुपाययौ॥१९३॥

वरप्रभावभीतश्च मुग्धानाशु जगाद तान्।
इदमानीतममृतं मुञ्चताम्बां मम गृह्यताम् ॥१९४॥
अयं चेत्स्थापयाम्येतदहं वो दर्भसंस्तरे।
उन्मोच्याम्बां च गच्छामि स्वीकुरुध्वमितः सुधाम् ॥१९५॥
तथेत्युक्ते च तैर्नागैः स पवित्रे कुशास्तरे।
सुधाकलशमाधत्त ते चास्य जननीं जहुः ॥१९६॥
दास्यमुक्तां च कृत्वैव मातरं गरुडे गते।
यावदादवते नागा निःशङ्कास्तत्किलामृतम् ॥१९७॥
तावन्निपत्य सहसा तान् विमोह्य स्वशक्तितः।
स सुधाकलशं शक्रो जहार कुशसंस्तरात् ॥१९८॥
विषण्णास्तेऽथ नागास्ते लिलिहुर्दर्भसंस्तरम्।
कदाचिदमृतश्च्योतलेपोऽप्यस्मिन् भवेदिति ॥१९९॥
तेन पाटितजिह्वास्ते वृथा प्रापुर्द्विजिह्वताम्।
हास्यादृते किमन्यत्स्यादतिलौल्यवतां फलम् ॥२००॥
अथालब्धामृतरसान्नागान्वैरी हरेर्वरात्।
तार्क्ष्यः प्रववृते भोक्तुं तान्निपत्य पुनः पुनः ॥२०१॥
तदापाते च पातालं त्रासनिर्जीवराजिलम्।
प्रभ्रष्टगर्भिणीगर्भमभूत्क्षपितपन्नगम् ॥२०२॥

नागानां कृते जीमूतवाहनस्यात्मोत्सर्गः

तं दृष्ट्वा चान्वहं तत्र वासुकिर्भुजगेश्वरः।
कृत्स्नमेकपदे नष्टं नागलोकममन्यत ॥२०३॥
ततो दुर्वारवीर्यस्य सद्यस्तस्य विचिन्त्य सः।
समयं प्रार्थनापूर्वं चकारैव गरुत्मता ॥२०४॥
एकमेकं प्रतिदिनं नागं ते प्रेषयाम्यहम्।
आहारहेतोः पक्षीन्द्र ! पयोधिपुलिनाचले ॥२०५॥
पाताले तु प्रवेष्टव्यं न त्वया मर्दकारिणा।
नागलोकक्षयात्स्वार्थस्तवैव हि विनश्यति ॥२०६॥
इति वासुकिना प्रोक्तस्तथेति गरुडोऽन्वहम्।
तत्प्रेषितमिहैकैकं नागं भोक्तुं प्रचक्रमे ॥२०७॥

तेन क्रमेण वासस्या फणिनोऽद्य क्षयं गता ।
अहं च शङ्खचूडाख्यो नागो वारो ममाद्य च ॥२०८॥
अतोऽहं गरुडाहारहेतोर्वध्यशिलामिमाम् ।
मातुश्च शोच्यतां प्राप्तो नागराजनिदेशतः ॥२०९॥
इति तस्य वचः श्रुत्वा शङ्खचूडस्य दुःखितः ।
सान्तःखेदः स जीमूतवाहनस्तमभाषत ॥२१०॥
अहो किमपि निःसत्त्वं राजत्वं बत वासुकेः ।
यत्स्वहस्तेन नीयन्ते रिपोरामिषतां प्रजाः ॥२११॥
किं न प्रथममात्मैव तेन दत्तो गरुत्मते ।
क्लीबेनाभ्यर्थिता केयं स्वकुलक्षयसाक्षिता ॥२१२॥
उत्पद्य कश्यपात्पापं तार्क्ष्योऽपि कुरुते कियत् ।
देहमात्रकृते मोहः कीदृशो महतामपि ॥२१३॥
तदहं तावदेकं रक्षामि त्वां गरुत्मतः ।
स्वशरीरप्रदानेन मा विषादं कृथाः सखे[1] ॥२१४॥
तच्छ्रुत्वा शङ्खचूडोऽपि धैर्यादेतदुवाच तम् ।
शान्तमेतन्महासत्त्व ! मा स्मैवं भाषथाः पुनः ॥२१५॥
न काचस्य कृते जातु युक्ता मुक्तामणेः क्षतिः ।
न चाप्यहं गमिष्यामि कथां कुलकलङ्किताम् ॥२१६॥
इत्युक्त्वा तं निषिध्यैव साधुर्जीमूतवाहनम् ।
मत्वा गरुडवेलां च स क्षणान्तरगामिनीम् ॥२१७॥
शङ्खचूडो ययौ तत्र वारिधेस्तीरवर्तिनम् ।
अन्तकाले नमस्कर्तुं गोकर्णाख्यमुमापतिम् ॥२१८॥
गते तस्मिंश्च कारुण्यनिधिर्जीमूतवाहनः ।
तत्त्राणायात्मदानेन बुबुधे लब्धमन्तरम् ॥२१९॥
ततस्तद्विस्मृतमिव क्षिप्रं कृत्वा स्वयुक्तितः ।
कार्यापदेशाद्व्यसृजन्निजं मित्रावसुं गृहम् ॥२२०॥
तत्क्षणं च समासन्नतार्क्ष्यपक्षानिलाहता ।
तत्सत्त्वदर्शनाश्चर्यादिव सा भूरघूर्णयत् ॥२२१॥
तेनाहिरिपुमायान्तं मत्वा जीमूतवाहनः ।
परानुकम्पी तां वध्यशिलामभ्यारुरोह सः ॥२२२॥

अतः नागवंश के उसी क्रम में आज मेरी बारी है। मेरा नाम शंखचूड़ है। मैं भी नागराज की आज्ञा से आज गरुड़ के आहार के लिए इस वध्यशिला पर लाया गया हूँ। अतः मैं माता के लिए शोचनीय हो रहा हूँ। इस प्रकार शंखचूड़ के वचन सुनकर और उसके दुःख से दुःखी जीमूतवाहन खेदपूर्वक उससे बोला—॥२ ८२१ ॥

अहो! वासुकि का नागराज होना कितना सारहीन है, जो स्वयं अपने हाथों से अपनी प्रजा को शत्रु का आमिष (भोजन) बना रहा है॥२११॥

क्यों नहीं उसने सबसे पहले अपने को ही गरुड़ के लिए प्रदान किया। प्रत्युत इसके विपरीत ही नपुंसक के समान उसने अपने कुल का ही नाश स्वीकार किया॥२१२॥

उधर, गरुड़ भी कश्यप ऋषि की सन्तान होकर कितना पाप कर रहा है। महान् पुरुषों को भी इस देह के लिए कितना मोह है॥२१३॥

इसलिए आज मैं तुम एक नाग की अपना शरीर-दान करके रक्षा करता हूँ। तुम व्यर्थ शोक न करो॥२१४॥

यह सुनकर शंखचूड़ भी धैर्य के साथ बोला—हे महात्मन्! ऐसा फिर न कहना॥२१५॥

काँच के लिए मोती की हानि करना उचित नहीं है। मैं भी कुल-कलंक बनना नहीं चाहता॥२१६॥

ऐसा कहकर और जीमूतवाहन को रोककर वह सज्जन नाग शंखचूड़ तुरन्त आनेवाले गरुड़ के समय को जानकर समुद्रतीरवासी गोकर्ण नामक शिव को अन्तिम समय का प्रणाम करने के लिए गया। उसके जाने पर दयानिधि जीमूतवाहन को उसकी रक्षा के लिए अपना प्राणदान करने का अवसर मिल गया॥२१७-२१९॥

तब उसने युक्ति से मन में किसी भी बात का स्मरण करके किसी काम के बहाने से अपने साथी मित्रावसु को वहाँ से भेज दिया॥२२ ॥

उसी समय समीप आये गरुड़ के पंखों की वायु से काँपती हुई भूमि मानो उस महापुरुष के दर्शन से आश्चर्यान्वित हो घूमने लगी॥२२१॥

इस अवसर में परोपकारी जीमूतवाहन गरुड़ का आया हुआ जानकर उस वध्यशिला पर चढ़ गया॥२२२॥

क्षणाच्चात्र निपत्यैव महासत्त्वं जहार तम्।
आहत्य चञ्च्वा गरुडः स्वच्छायाच्छादिताम्बरः ॥२२३॥
परिस्रवदसृग्धारं च्युतोत्खातशिखामणिम्।
नीत्वा भक्षयितुं चैनमारेभे शिखरे गिरेः ॥२२४॥
तत्काल पुष्पवृष्टिश्च निपपात नभस्तलात्।
तद्दर्शनाच्च किं न्वेतदिति तार्क्ष्यो विसिस्मये ॥२२५॥
तावच्च शङ्खचूडोऽत्र गत्वा गोकर्णमागतः।
ददर्श रुधिरासारसिक्तं वध्यशिलातलम् ॥२२६॥
हा धिङ्महदयं तेनात्मा दत्तो नूनं महात्मना।
तत्कुत्र नीतस्तार्क्ष्येण क्षणेऽस्मिन् स भविष्यति ॥२२७॥
अन्विष्यामि द्रुतं तावत्कच्चित्तमवाप्नुयाम्।
इति साधुः स तद्रक्तधारामनुसरन्ययौ ॥२२८॥
अत्रान्तरे च हृष्टं तं दृष्ट्वा जीमूतवाहनम्।
गरुडो भक्षणं मुक्त्वा सविस्मयमचिन्तयत् ॥२२९॥
कश्चित्किमन्य एवायं भक्ष्यमाणोऽपि यो मया।
विपद्यते न तु परं धीरः प्रत्युत हृष्यति ॥२३ ॥
इत्यन्तर्विमृशन्तं च तार्क्ष्यं तादृग्विधोऽपि सः।
निजगाद निजाभीष्टसिद्ध्यै जीमूतवाहनः ॥२३१॥
पक्षिराज ! ममास्त्येव शरीरे मांसशोणितम्।
तदकस्मादतृप्तोऽपि किं निवृत्तोऽसि भक्षणात् ॥२३२॥
तच्छ्रुत्वात्यर्थमाश्चर्यगतस्तं स पप्रच्छ पक्षिराट्।
नाग साधो न तावत्त्वं ब्रूहि तत्को भवानिति ॥२३३॥
नाग एवास्मि भुङ्क्ष्व त्वं यथारब्धं समापय।
आरब्धा ह्यसमाप्तैव किं धीरस्त्यज्यते क्रिया ॥२३४॥
इति यावच्च जीमूतवाहनः प्रतिवक्ति तम्।
तावत्स शङ्खचूडोऽत्र प्राप्तो दूरादभाषत ॥२३५॥
मा मा गरुत्मन्नेवैष नागो नागोऽह्यहं तव।
तदेनं मुञ्च कोऽयं ते जातोऽकाण्डे बत भ्रमः ॥२३६॥
तच्छ्रुत्वातीव विभ्रान्तो बभूव स खगेश्वरः।
वाञ्छितासिद्धिखेदं च भेजे जीमूतवाहनः ॥२३७॥

अपने विशाल पंखों की छाया से आकाश को छाये हुए गरुड़ ने चोंच मारकर उस महाप्राणी जीमूतवाहन को उठा लिया ॥२२३॥

बहती हुई रक्तधाराओं से और उखड़कर गिरी हुई शिर की मणिवाले जीमूतवाहन को पहाड़ की चोटी पर ले जाकर उसका भक्षण करने लगा ॥२२४॥

इसी समय आकाश से पुष्पवृष्टि हुई। गरुड़ भी यह क्या है ऐसा सोचकर आश्चर्य चकित हो गया ॥२२५॥

इतने में ही वह शंखचूड़ भी गोकर्णेश्वर शिव को प्रणाम करके आ गया और उसने वध्यशिला को रक्त से लथपथ पाया ॥२२६॥

और सोचने लगा कि धिक्कार है मुझे। उस महात्मा ने अवश्य ही मेरे लिए जीवन-दान दिया है। गरुड़ इस समय उसे कहाँ ले गया होगा ॥२२७॥

मैं उसे शीघ्र खोजता हूँ। सम्भव है, मैं उसे प्राप्त कर लूँ। ऐसा सोचकर वह सज्जन रक्त की धारा के पीछे-पीछे चला ॥२२८॥

उधर, जीमूतवाहन को प्रसन्न देखकर गरुड़ ने उसका भोजन करना छोड़ दिया और आश्चर्यान्वित हो उसे देखने लगा ॥२२९॥

'यह नाग नहीं कोई दूसरा ही जीव है, जो मेरे खाये जाने पर भी मरता नहीं प्रत्युत इसके विपरीत प्रसन्न हो रहा है' ॥२३० ॥

इस प्रकार मन में सोचते हुए गरुड़ को अपनी इष्टसिद्धि के लिए जीमूतवाहन बोला—॥२३१॥

'हे पक्षिराज ! अब भी मेरे शरीर में मांस और रक्त है। फिर भी तुम बिना तृप्त हुए ही खाने से सहसा क्यों रुक गये हो ? ॥२३२॥

यह सुनकर आश्चर्यचकित गरुड़ ने पूछा—हे सज्जन तुम नाग नहीं बताओ कौन हो ? ॥२३३॥

मैं नाग ही हूँ तुम खाओ। जो प्रारम्भ किया है, उसे समाप्त करो। महान् व्यक्ति किसी कार्य को जिसको आरम्भ किया हो समाप्त किये बिना नहीं छोड़ते' ॥२३४॥

जीमूतवाहन जबतक ऐसा कह ही रहा था तबतक शंखचूड़ दूर से चिल्लाकर बोला—॥२३५॥

'हे गरुड़ ! इसे मत खाओ मत खाओ। यह नाग नहीं है, तुम्हारा भक्ष्य नाग मैं हूँ। तुम्हें यह सहसा भ्रम कैसे हो गया। इसे छोड़ दो' ॥२३६॥

यह सुनकर पक्षिराज गरुड़ अत्यन्त व्याकुल हो गया और जीमूतवाहन को अपनी अभीष्ट सिद्धि न होने का खेद हुआ ॥२३७॥

ततोऽन्योन्यसमालापक्रन्दद्विद्याधराधिपम्
बुद्ध्वा स भक्षितं मोहाद् गरुत्मानन्वतप्यत ॥२३८॥
अहो बत नृशंसस्य पापमापतितं मम।
किं वा सुलभपापा हि भवन्त्युन्मार्गवृत्तयः ॥२३९॥
श्लाघ्यस्त्वेष महात्मैक परार्थप्राणदायिना।
ममेति मोहैकवशं येन विश्वमधः कृतम् ॥२४०॥
इति स चिन्तयन्तं च गरुडं पापशुद्धये।
वह्निं विविक्षुं जीमूतवाहनोऽथ जगाद सः ॥२४१॥
पक्षीन्द्र किं विषण्णोऽसि सत्यं पापाद् बिभेषि चेत्।
तदिदानीं न भूयस्ते भक्ष्याहीमे भुजङ्गमाः ॥२४२॥
कार्यश्चानुशयस्तेषु पूर्वभुक्तेषु भोगिषु।
एषोऽत्र हि प्रतीकारो वृथान्यच्चिन्तितं तव ॥२४३॥
इत्युक्तस्तेन स प्रीतस्ताक्ष्र्यो भूतानुकम्पिना।
तथेति प्रतिपेदे तद्वाक्यं तस्य गुरोरिव ॥२४४॥
ययौ चामृतमानेतुं नाकाज्जीवयितुं जवात्।
क्षताङ्गं तत्र तं चान्यानस्थिशेषानहीनपि ॥२४५॥
ततश्च साक्षादागत्य देव्या सिक्तोऽमृतेन सः।
जीमूतवाहनो गौर्या तद्भार्याभक्तितुष्टया ॥२४६॥
तेनाभिनवरोदभूतकान्तीन्यङ्गानि जज्ञिरे।
तस्य सानन्दगीर्वाणदुन्दुभिध्वनिभिः सह ॥२४७॥
स्वस्थोत्थिते ततस्तस्मिन्नानीय गरुडोऽपि सद्।
कृत्स्ने वेलातटेऽप्यत्र ववर्षामृतमम्बरात् ॥२४८॥
तेन सर्वे समुत्तस्थुर्जीवन्तस्तत्र पन्नगाः।
बभौ तच्च तदा भूरिभुजङ्गकुलसङ्कुलम् ॥२४९॥
वेलावनं विनिर्मुक्तवैनतेयभयं ततः।
पातालमिव जीमूतवाहनालोकनागतम् ॥२५ ॥
ततोऽक्षयेण देहेन यशसा च विराजितम्।
बुद्ध्वाभ्यनन्दत बन्धुजनो जीमूतवाहनम् ॥२५१॥
ननन्द तस्य भार्या च सज्ञाति पितरौ तथा।
को न प्रहृष्येद् दुःखेन सुखत्वपरिवर्तिना ॥२५२॥

तदनन्तर परस्पर वार्तालाप के प्रसंग में सिसकते हुए उसे विद्याधरों का राजा जानकर और भ्रम से उसे खाकर गरुड़ को भारी मानसिक ताप हुआ ॥२३८॥

वह सोचने लगा कि मुझ जैसा क्रूर न भारी पाप किया। उच्छृंखल वृत्ति के व्यक्तियों से पाप हो जाना सुलभ या स्वाभाविक है। यह एक प्रशंसनीय महात्मा है जो दूसरों के लिए अपने प्राण दे रहा है। मैंने अज्ञानवश संसार को फीका कर दिया ॥२३९ २४ ॥

इस प्रकार पश्चात्ताप कर पापमुक्ति के लिए आग में जलकर प्राण-त्याग करने की बात सोचते हुए गरुड़ को जीमूतवाहन ने कहा —॥२४१॥

हे पक्षीराज ! दुःखी क्यों हो रहे हो। यदि सचमुच पाप से डरते हो तो आज से इन नागों का भक्षण करना छोड़ दो। पहले जिन्हें खा चुके हो उनके लिए पश्चात्ताप करो। यही इसका प्रायश्चित्त या प्रतिक्रिया है। और कुछ सोचना व्यर्थ है' ॥२४२-२४३॥

इस प्रकार प्राणियों पर दया करनेवाले जीमूतवाहन के कहने पर गरुड़ ने उसके वचन को गुरु की आज्ञा के समान माना ॥२४४॥

और, तत्पश्चात् वह खाये हुए नागों को जीवित करने के लिए अमृत लेने गया। उस अमृत से क्षत-विक्षत अंगोंवाले जीमूतवाहन पर उसकी पत्नी मलयवती की भक्ति से सन्तुष्ट गौरी ने स्वयं आकर अमृत-सिंचन किया। स्वयं गौरी के अमृत-सिंचन से अधिक मनोहर अंगों के कारण उसकी शोभा और बढ़ गई। आनन्दयुक्त देवताओं के आनन्द-बाजों के साथ स्वस्थ होकर उठे जीमूतवाहन को देखकर गरुड़ ने समूचे समुद्र-तट पर अमृत की वर्षा कर दी ॥२४५ २४८॥

इस अमृत-सिंचन से तट पर इधर-उधर बिखरे हुए सभी नाग-कंकाल पुनर्जीवित हो उठे। फलतः वह वेला-वन नागों के झुंडों से भर गया और उन्हें सर्वदा के लिए गरुड़ के भय से मुक्ति मिल गई ॥२४९॥

ऐसा प्रतीत होता था कि नागकुल के रक्षक जीमूतवाहन को देखने के लिए मानो सारा पाताल वहीं आ गया हो ॥२५ ॥

तदनन्तर अक्षय शरीर और अक्षय यश से शोभित जीमूतवाहन का समस्त बन्धुओं ने अभिनन्दन किया ॥२५१॥

जीमूतवाहन की पत्नी और उसके माता-पिता सभी परम प्रसन्न हुए। सच है दुःख से सुख-रूप में परिणत हो जाने पर कौन प्रसन्न नहीं होता ॥२५२॥

जीमूतवाहन के कहने पर शंखचूड़ भी रसातल को गया और जीमूतवाहन का यश तीनों लोकों में फैल गया ॥२५३॥

तदनन्तर प्रेम से मग्न देवताओं के समूह गरुड़ के पास आकर उस विद्याधर-कुल के तिलक जीमूतवाहन को प्रणाम करने लगे। पार्वती की कृपा से मतंग नामक जीमूतवाहन के सम्बन्धी भी भय से आकर उसे प्रणाम करने लगे जो पहले उसके विरुद्ध थे ॥२५४॥

उन्हीं पूर्वविरोधी बन्धुओं से प्रार्थना किया गया जीमूतवाहन अपनी पत्नी मलयवती और प्रियमित्र मित्रावसु के साथ मलयाचल से हिमाचल पर अपनी प्राचीन राजधानी को गया ॥२५५॥

इस प्रकार उस धैर्यशाली जीमूतवाहन ने चिरकाल तक विद्याधर-चक्रवर्ती पद का उपभोग किया ॥२५६॥

अपने इस उज्ज्वल चरित्र से तीनों लोकों के हृदयों को चमत्कृत करनेवाले महापुरुषों की कल्याण-परम्परा स्वयं उनके समीप आती है ॥२५७॥

महारानी वासवदत्ता यौगन्धरायण के मुख से इस अद्भुत कथा को सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥२५८॥

तदनन्तर प्रसन्न देवताओं के निरन्तर आदेश प्राप्त होते रहने के कारण इसी प्रसंग की चर्चा करती हुई अपने पति के निकट बैठी वासवदत्ता ने विद्याधरों के भावी चक्रवर्ती अपने पुत्र की कथा में वह दिन व्यतीत किया ॥२५९॥

नरवाहनदत्तजनन नामक चतुर्थ लम्बक का
दूसरा तरंग समाप्त

तृतीय तरंग

वासवदत्ता का स्वप्न

कुछ समय के अनन्तर एक दिन वासवदत्ता मन्त्रियों के साथ बैठे हुए वत्सराज से एकान्त में इस प्रकार कहने लगी—॥१॥

हे आर्यपुत्र ! जबसे मैंने इस गर्भ को धारण किया है, तब से मुझे इसकी रक्षा के लिए हृदय में अत्यधिक व्याकुलता बढ़ रही है ॥२॥

इसी प्रकार की चिन्ता करती हुई मैं आज रात किसी प्रकार सोई। नींद आने पर मैंने स्वप्न में एक पुरुष को देखा ॥३॥

भस्माङ्गरागसितया खेचरीकृतचन्द्रया।
पिशङ्गजटयामूर्ध्ना शोभितं शूलहस्तया॥४॥
स च मामभ्युपेत्यैव सानुकम्प इवावदत्।
पुत्रि! गर्भकृते चिन्ता न कार्या काचन त्वया॥५॥
अहं तवैनं रक्षामि दत्तो ह्येष ममैव ते।
किंचान्यच्छृणु वच्म्यत्र तव प्रत्ययकारणम्॥६॥
श्व कापि नारी विज्ञप्तिहेतोर्युष्मानुपैष्यति।
अवष्टभ्यैव साक्षेपमाकर्षन्ती निजं पतिम्॥७॥
सा च दुश्चारिणी योषित् स्वबान्धवबलात् पतिम्।
स त्रासयितुमिच्छन्ती सर्व मिथ्या ब्रवीति तत्॥८॥
त्वं चात्र पुत्रि! वत्सेशं पूर्वं विज्ञापयेस्त्वया।
तस्याः सकाशात्स यथा साधुर्मुच्येत कुस्त्रियः॥९॥
इत्यादिश्य गते तस्मिन्नन्तर्धानं महात्मनि।
प्रबुद्धा सहसैवाहं विभाता च विभावरी॥१ ॥
एवमुक्ते तया देव्या शर्वानुग्रहवादिनि।
तत्रासन्विस्मिताः सर्वे समादापेक्षिमानसाः॥११॥
तस्मिन्नेव क्षणे चात्र प्रविश्यार्तानुकम्पिनम्।
वत्सराजं प्रतीहारमुख्योऽकस्माद्व्यजिज्ञपत्॥१२॥
आगता देव विज्ञप्त्य कापि स्त्री बान्धवैर्वृता।
पञ्चपुत्रान् गृहीत्वा स्वमाक्षिप्य निजं पतिम्॥१३॥
तच्छ्रुत्वा नृपतिर्देवीस्वप्नसंवादविस्मितः।
प्रवेश्यतामिहैवेति प्रतीहारं समादिशत्॥१४॥
स्वप्नसत्यत्वसञ्जातसत्पुत्रप्राप्तिनिश्चया।
देवी वासवदत्तापि सा सम्प्राप परां मुदम्॥१५॥
अथ द्वारोन्मुखं सर्वैर्वीक्ष्यमाणा सकौतुकम्।
प्रतीहाराज्ञया योषिद् भर्तृयुक्ता विवेश सा॥१६॥
प्रविश्याश्रितदैन्या च यथाक्रमकृतानतिः।
अथ ससचिवं राजानं सदेवीकं व्यजिज्ञपत्॥१७॥
अयं निरपराधाया मम भर्ता भवन्नपि।
न प्रयच्छत्यनाथाया भोजनाच्छादनादिकम्॥१८॥

उस पुरुष की मूर्ति भस्म के अंगराग से श्वेत थी और मस्तक पर चन्द्रमा था। उसकी लम्बी-लम्बी और पीले रंग की जटाएँ थीं और हाथ में त्रिशूल था ॥४॥

उसने मेरे पास आकर मानों दयार्द्र होकर कहा —'बेटी ! तुम्हें अपने गर्भ के सम्बन्ध में कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ॥५॥

मैं तेरे धर्म की रक्षा करता हूँ और मैंने ही तुझे यह गर्भ दिया है। तुम्हारे विश्वास के लिए एक बात और बता दूँ, सुनो ॥६॥

प्रातःकाल कोई एक स्त्री अपने पति को पकड़कर डाँटती-डपटती और उसे खींचती हुई कुछ निवेदन करने के लिए तुमलोगों के पास आवेगी ॥७॥

वह स्त्री दुराचारिणी है और अपने बन्धुओं के बल पर पति को मारना चाहती है। वह मिथ्या भाषण करती है ॥८॥

यह बात सुनकर वत्सराज उदयन को पहले ही बता देना जिससे वह सज्जन पति उस दुष्टा से छूट जाय' ॥९॥

इस प्रकार स्वप्न में आज्ञा देने पर और उनके सहसा अदृश्य हो जाने पर मैं एकाएक जागी तो देखा कि रात भी बीत चुकी और प्रातःकाल हो गया ॥१ ॥

रानी का यह स्वप्न-समाचार सुनकर शिवजी की कृपा का वर्णन करते हुए उस स्त्री के आने की प्रतीक्षा करते हुए सभी व्यक्ति आश्चर्यचकित हो रहे थे ॥११॥

उसी क्षण प्रधान द्वारपाल ने आकर वीणा पर ध्यान वत्सराज से एकाएक निवेदन किया—॥१२॥

'महाराज ! अपने बान्धवों के साथ पाँच पुत्रों को लिये हुए और विवश पति को डाँटती-फटकारती हुई कोई स्त्री महाराज से निवेदन करने के लिए द्वार पर आई है' ॥१३॥

रानी के स्वप्न-समाचार से आश्चर्यचकित राजा ने यह सुनते ही 'उसे यहीं लाओ'—इस प्रकार की आज्ञा द्वारपाल को दी ॥१४॥

स्वप्न की सत्यता से उत्तम पुत्र की प्राप्ति का पूर्ण विश्वास हो जाने के कारण रानी वासवदत्ता ने परम प्रसन्नता प्राप्त की ॥१५॥

तदनन्तर बड़े ही कौतुक के साथ द्वार की ओर देखते हुए सभी उपस्थित व्यक्तियों के सामने पति से युक्त वह स्त्री द्वारपाल की आज्ञा से सम्मुख आई ॥१६॥

आते ही दीनतापूर्ण मुख बनाकर और क्रमशः सभी उपस्थित व्यक्तियों का अभिवादन करके रानी के साथ बैठे हुए राजा से उसने निवेदन किया—॥१७॥

'हे महाराज ! मुझ निरपराधिन का पति होकर भी यह व्यक्ति मुझ अनाथिनी को भोजन-वस्त्र नहीं देता' ॥१८॥

इत्युक्तवत्यां तस्यां च स तद्भर्ता व्यजिज्ञपत्।
देव ! मिथ्या वदत्येषा सवत्सुर्मदर्मैषिणी ॥१९॥
आ वत्सरान्त सर्वं हि दत्तमस्या मयाप्रत।
एतद्वस्त्र एवात्ये तटस्था मेऽत्र साक्षिण ॥२०॥
एव विज्ञापितस्तेन राजा स्वयममाषत।
देवीस्वप्ने कृत साक्ष्य देवेनैवात्र शूलिना ॥२१॥
तत्किं साक्षिभिरेवैव निग्राह्या स्त्री सबान्धवा।
इति राज्ञोदितेऽवादीद्धीमान् यौगन्धरायण ॥२२॥
तथापि साक्षिवचनात्कार्यं देव यथोचितम्।
लोको ह्यतदजानानो न प्रतीयात् कथञ्चन ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा साक्षिणो राजा तदरयानाय्य तत्क्षणम्।
पृष्ट्वा शशासुस्ते याच तां मिथ्यावादिनीं स्त्रियम् ॥२४॥
तत प्रख्यातसद्भर्तृद्रोहामतां सबान्धवाम्।
सपुत्रां च स वत्सेशः स्वदेशान्निरवासयत् ॥२५॥
विससर्ज च तं साधु सद्भर्तारं यथार्थवी।
विवाहान्तरपर्याप्तं वितीर्य विपुल वसु ॥२६॥
पुर्नासमाकुल कूरा पतित दुर्दशावटे।
जीवन्तमेव कृन्ताति काकीव कुकुटुम्बिनी ॥२७॥
स्निग्धा कुलीना महती गृहिणी तापहारिणी।
तरुच्छायेव मार्गस्था पुण्य कस्यापि जायते ॥२८॥
इति भतत्प्रसङ्गेन वदन्त स महीपतिम्।
वसन्तक स्थित पार्श्वे कथापटुरवोचत ॥२९॥
किं च देव विरोधो वा स्नेहो वापीह देहिनाम्।
प्राग्जन्मवासनाभ्यासवशात्प्रायेण जायते ॥३० ॥
तथा च श्रूयतामत्र कथेयं वर्ण्यते मया।

सिंहविक्रमस्य कलहकारिण्यास्तद्भार्यायाश्च कथा

आसीद् विक्रमचण्डाख्यो वाराणस्यां महीपति ॥३१॥
तस्याभूद् वल्लभो भृत्यो नाम्ना सिंहपराक्रम।
यो रणेष्विव सर्वेषु द्यूतेष्वप्यसमो जयी ॥३२॥

तस्यामभवच्च विकृता वपुषीवाशयेऽप्यलम् ।
ख्याता कलहकारीति नाम्नान्वर्थेन गेहिनी ॥३३॥
स तस्याः सततं भूरि राजतो भूततस्तथा ।
प्राप्य प्राप्य धनं वीरः सर्वमेव समर्पयत् ॥३४॥
सा तु तस्य समुत्पन्नपुत्रत्रययुता शठा ।
तथापि क्षणमप्येकं न तस्थौ कलहं विना ॥३५॥
नहि पिबसि भुङ्क्षे च नच किञ्चिद्ददासि न ।
इत्याक्रन्दन्ती ससुता सा तं नित्यमतापयत् ॥३६॥
प्रसाद्यमानाप्याहारपानवस्त्रैरहर्निशम् ।
दुरन्ता भोगतृष्णेव भृशं जज्वाल तस्य सा ॥३७॥
ततः क्रमेण तन्मुक्तिमस्त्यक्त्वैव तद्गृहम् ।
स विन्ध्यवासिनीं द्रष्टुमागात्सिंहपराक्रमः ॥३८॥
सा च स्वप्ने निराहारस्थितं देवी समादिशत् ।
उत्तिष्ठ पुत्र तामेव गच्छ वाराणसीं पुरीम् ॥३९॥
तत्र सर्वमहानेको योऽस्ति न्यग्रोधपादपः ।
तन्मूलात् खन्यमानाच्च त्वरं निधिमवाप्स्यसि ॥४०॥
तन्मध्याल्लप्स्यसे चैकं नभःखण्डमिव च्युतम् ।
पात्रं गरुडमाणिक्यमयं निस्त्रिंशनिर्मलम् ॥४१॥
तत्रार्पितकरो द्रक्ष्यस्यस्य प्रतिबिम्बितामिव ।
सर्वस्य जन्तोः प्राग्जातिं या स्याज्जिज्ञासिता तव ॥४२॥
तेनैव बुद्ध्वा भार्याया पूर्वजातिं तथात्मनः ।
अवाप्तार्थः सुखी तत्र गतशोको भविष्यसि ॥४३॥
एवमुक्तश्च देव्या स प्रबुद्धः कृतपारणः ।
वाराणसीं प्रति प्रायात्प्रातः सिंहपराक्रमः ॥४४॥
गत्वा च तां पुरीं प्राप्य तस्मान्न्यग्रोधमूलतः ।
लेभे निधानं तन्मध्यात् पात्रं मणिमयं महत् ॥४५॥
अपश्यच्चात्र जिज्ञासुः पात्रे पूर्वं च जन्मनि ।
घोरामृक्षीं स्वभार्यां तामात्मानं च मृगाधिपम् ॥४६॥
पूर्वजातिमहावैरवासनानिश्चलं ततः ।
बुद्ध्वा भार्यात्मनोर्द्वेषं शोकमोहौ मुमोच सः ॥४७॥

उसकी कलहकारिणी नाम की पत्नी यथार्थ नामवाली थी जो शरीर और हृदय दोनों से कुटिल थी ।।१३।।

वह धैर्यशाली सिंहविक्रम नौकरी से और जुए से भी प्राप्त सभी धन उस पत्नी को अर्पण कर देता था ।।१४।।

तीन पुत्रोंवाली वह दुष्टा स्त्री एक क्षण भी बिना कलह किये नहीं रह सकती थी ।।१५।।

वह अपने पति से कहा करती थी कि 'तुम बाहर ही खाते-पीते हो, मुझे कुछ नहीं देते हो'। इस प्रकार वह उसे प्रतिदिन सन्ताप देती थी ।।१६।।

भोजन, वस्त्र और आभूषण आदि से सदा उसको प्रसन्न रखने की चेष्टा करते रहने पर भी वह अनन्त लोभ-तृष्णा के समान सदा जलती ही रहती थी ।।१७।।

इस प्रकार उसके दुःख से दुःखी सिंहविक्रम उस घर को छोड़कर विन्ध्यवासिनी देवी का दर्शन करने के लिए चला गया ।।१८।।

वहाँ जाकर उसके निराहार धरना देने पर प्रसन्न देवी ने स्वप्न में उससे कहा—'बेटा! उठो, तुम वाराणसी नगरी को जाओ ।।१९।।

वहाँ एक बहुत विशाल वटवृक्ष है, उसकी जड़ खोदने पर तुम बहुत बड़ा खजाना पाओगे। उसके भीतर तुम मानों आकाश से गिरा हुआ और तलवार-सा चमकता हुआ एक मणिमय पात्र पाओगे। उसके भीतर देखने से सभी प्राणियों के पूर्वजन्म तुम देख सकोगे। उससे तुम अपनी पत्नी तथा अपने पूर्वजन्म की जाति को जानकर सफल, सुखी और शोकरहित हो जाओगे' ।।२०—२१।।

देवी से इस प्रकार आदिष्ट वह सिंहविक्रम प्रातःकाल उठकर और व्रत का पारण (समाप्ति) करके वाराणसी को गया ।।२४।।

वहाँ जाकर उसने वटवृक्ष की जड़ से खजाना प्राप्त किया और वह पात्र भी उसे मिल गया ।।२५।।

उस पात्र में उसने अपनी पत्नी को पूर्वजन्म में भीषण भालू (मादा) के रूप में और अपने को सिंह के रूप में देखा। अतः उसने पूर्वजन्म के जातिगत संस्कारों के कारण अपना और पत्नी का घोर मतभेद समझकर दुःख और मोह छोड़ दिया ।।२६—२७।।

अथ याते पञ्चमासान्तरे पापप्रभावत ।
प्राग्गर्भमभिप्रजातोया परिहृत्यैव सूचका ॥४८॥
तुल्या च मासान्तरे सिंहा परिणिय विचिन्त्य स ।
भार्या द्वितीया सिंहश्रीनाम्नी सिंहपराक्रम ॥४९॥
श्रुत्वा ब्रह्मचारी च तां स ग्रामकभागिनीम् ।
निधानप्राप्तिसंगतिसम्पन्नी सवत्सपूजया ॥५०॥
इत्य दानान्योऽपीह भवन्ति भुवने नृणाम् ।
प्रागसम्भाव्यमायासवैरस्महा महीपते ॥५१॥
इत्याकर्ण्य कथां चित्रां वत्सराजो वसन्तकात् ।
भृशं तुतोष महितो दम्या कामवरतया ॥५२॥
एव दिनेषु गच्छत्सु राज्ञस्तस्य निशानिशम् ।
मतृप्तस्य मसदृगभङ्गीवक्त्रमुदधान ॥५३॥

मन्त्रिपुत्राणामुत्पत्तिः

मन्त्रिणामुदपद्यन्त सर्वेषां दामसंपदा ।
क्रमेण तनयास्तत्र भाविकल्याणसूचका ॥५४॥
प्रथम मन्त्रिमुख्यस्य जायते स्म विचारक ।
यौगन्धरायणस्यैव मरुभूतिरिति सुत ॥५५॥
ततो रुमण्वतो जज्ञे सुतो हरिशिखाभिध ।
वसन्तकस्याप्युत्पेदे तनयोऽथ तपन्तक ॥५६॥
ततो नित्योदिताख्यस्य प्रतीहाराधिकारिण ।
इत्यकापरसंज्ञस्य पुत्रोऽजायत गोमुख ॥५७॥
वत्सराजसुतस्येह भाविनश्चक्रवर्तिन ।
मन्त्रिणोऽमी भविष्यन्ति वैरिवंशावमर्दिन ॥५८॥
इति तेषु च जातेषु वर्तमाने महोत्सवे ।
तत्राशरीरा नभसो निःससार सरस्वती ॥५९॥
दिवसेष्वथ यातेषु वत्सराजस्य तस्य सा ।
देवी वासवदत्तामूदासन्नप्रसवोद्यमा ॥६ ॥

नरवाहनदत्तजन्म

अध्यास्त सा च तस्मिन्न पुत्रिणीभि परिष्कृतम् ।
जातवासगृहं साक्षमीगुप्तगवाक्षकम् ॥६१॥

उसके पश्चात् उसने पात्र के प्रभाव से अनेक कन्याओं के पूर्वजन्म को देखा और पूर्वजन्म की भिन्न-भिन्न जातीय उन कन्याओं को छोड़कर अपने पूर्व जाति के समान सिंह जाति की एक कन्या से उसने विवाह किया। उस स्त्री का नाम सिंहश्री था ॥४८ ४९॥

उस कलहकारिणी स्त्री को केवल भोजन मात्र देकर, खजाना मिलने से सुखी सिंहविक्रम नवीन वधू के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥५ ॥

इस कथा को सुनाकर वसन्तक ने कहा—महाराज। इस प्रकार पूर्वजन्म के जातिगत संस्कारों के कारण भी स्त्री पुत्र मित्र आदि इस जन्म में स्नेही या विरोधी हो जाते हैं ॥५१॥

वत्सराज उदयन वसन्तक के मुख से इस कथा को सुनकर महारानी के साथ अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥५२॥

इस प्रकार गर्भवती रानी के मुखचन्द्र को निरन्तर देखते हुए राजा के दिन व्यतीत होने लगे ॥५३॥

मन्त्रियों के पुत्रों की उत्पत्ति

इन्हीं दिनों राजा के सभी मन्त्रियों के यहाँ शुभ लक्षणोंवाले पुत्र उत्पन्न हुए, जो भविष्य के लिए कल्याण-प्राप्ति की सूचना देनेवाले थे ॥५४॥

सबसे पहले यौगन्धरायण का मरुभूति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५५॥

तब सेनापति रुमण्वान् का हरिशिख नामक पुत्र उत्पन्न हुआ और नर्मसचिव वसन्तक का भी तपन्तक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५६॥

तब नित्योदित नाम के प्रतिहाराध्यक्ष के जिसका दूसरा नाम 'इत्यक' था गोमुख नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ ॥५७॥

ये सभी बालक विद्याधरों के भावी चक्रवर्ती एवं वैरियों के वंश का नाश करनेवाले वत्सराज के कुमार के भावी मन्त्री होंगे ॥५८॥

इन बालकों के उत्पन्न होने पर जब महोत्सव मनाये जा रहे थे तब उस समय वहाँ पर आकाश से देववाणी हुई—॥५९॥

'कुछ ही और दिनों के व्यतीत होने पर वत्सराज की रानी वासवदत्ता का प्रसवकाल भी सन्निकट होगा' ॥६ ॥

नरवाहनदत्त का जन्म

जब वह रानी लाल और श्यामी के पत्तों से ढँकी हुई खिड़कियोंवाले रत्न-दीपकों की किरणों और शस्त्रास्त्रों की चमक-दमक से आच्छादित एवं पुत्रवती सुहागिनों से भरे हुए प्रसूति गृह में रहने लगी ॥६१॥

रत्नदीपप्रभासङ्गमङ्गलैर्विविधायुधैः ।
गर्भरक्षाक्षमं तेजो ज्वलयद्भिरिवावृतम् ॥६२॥
मन्त्रिभिस्तन्त्रितानेकमन्त्रतन्त्रादिरक्षितम् ।
जातं मातृगणस्येव दुर्गं दुरितदुर्जयम् ॥६३॥
तत्रासूत च सा काले कुमारं कान्तदर्शनम् ।
द्यौरिन्दुमिव निर्गच्छदच्छामृतमयद्युतिम् ॥६४॥
येन जातेन न परं मन्दिरं तत्प्रकाशितम् ।
यावद्वयमप्यस्या मातुर्निःशोकतामसम् ॥६५॥
ततः प्रमोदे प्रसरत्यथान्तःपुरवासिनाम् ।
वत्सेशः सुतजन्मैतच्छुश्रावाभ्यान्तराज्जनात् ॥६६॥
तस्मै स राज्यमपि यत्प्रीतः प्रियनिवेदिने ।
न ददौ तदनौचित्यभयेन न तु तृष्णया ॥६७॥
एत्य चान्तःपुरं सद्यो गाढोत्सुक्येन चेतसा ।
चिरात्फलितसङ्कल्पः स ददर्श सुतं नृपः ॥६८॥
रक्तायताधरदलं चलोर्णाक्षकेसरम् ।
मुखं दधानं साम्राज्यलक्ष्मीलीलाम्बुजोपमम् ॥६९॥
प्रागेवाप्यनुपभोगैर्भीत्येव निजलाञ्छनैः ।
उज्झितं रक्षितं मुद्रो पादयोश्छत्रचामरैः ॥७ ॥
ततो हर्षभरापूरपीडनोत्फुल्लया दृशा ।
भासया स्रवतीवास्मिन्सुतस्नेहं महीपतौ ॥७१॥
नन्दत्स्वपि च यौगन्धरायणादिषु मन्त्रिषु ।
गगनादुच्चचारैव काले तस्मिन् सरस्वती ॥७२॥
कामदेवावतारोऽयं राजन् जातस्तवात्मजः ।
नरवाहनदत्तश्च जानीह्येनमिहाख्यया ॥७३॥
अनेन भवितव्यं च दिव्यं कल्पमतन्द्रिणा ।
सर्वविद्याधरेन्द्राणामधिराजचक्रवर्तिना ॥७४॥
इत्युक्त्वा विरतं वाचा तत्क्षणं नभसः क्रमात् ।
पुष्पवर्षं निपतितं प्रसृतो दुन्दुभिस्वनः ॥७५॥
ततः सुरकृतारम्भजनिताभ्यधिकादरम् ।
स राजा सुतरां हृष्टश्चकार परमुत्सवम् ॥७६॥

वह प्रसूति-गृह मन्त्रियों द्वारा अनेक मन्त्र-तन्त्रों से सुरक्षित किया गया मानों मूर्मों की रक्षा के लिए और कष्टों के लिए दुर्गम दुर्ग बन गया हो। उस प्रसूति-गृह में रानी ने समय आने पर सुन्दर और दर्शनीय पुत्र को इस प्रकार जन्म दिया जिस प्रकार आकाश स्वच्छ और अमृतमय चन्द्रमा को जन्म देता है ॥६२—६४॥

इस कुमार के जन्म लेने से केवल प्रसूति-गृह ही आलोकित नहीं हुआ प्रत्युत माता का हृदय-मन्दिर भी शोक रहित हो प्रसन्नता से आलोकित हो उठा ॥६५॥

पुत्र-जन्म से सारे रनिवास में प्रसन्नता की लहर उठ गई और रनिवास के व्यक्ति से ही राजा उदयन ने यह शुभ समाचार सुना ॥६६॥

पुत्र-जन्म का समाचार सुनानेवाले दूत को प्रसन्न राजा ने अपना राज्य मात्र नहीं दिया वह नहीं प्रत्युत अनुचित समझकर ही नहीं दिया ॥६७॥

इस प्रकार, चिरकाल के पश्चात् सफल मनोरथवाले महाराजा ने अत्यन्त उत्सुक हृदय से प्रसूति-गृह में जाकर बालक को देखा ॥६८॥

उस बालक का मुख लाल और चौड़े अधरोंवाला ऊन के रेशों के समान सिर के कोमल बालोंवाला और साम्राज्य-लक्ष्मी के लीला-कमल के समान शोभित हो रहा था ॥६९॥

अन्य राजाओं की राज्य-लक्ष्मी ने मानों भय से उसके कोमल चरणों को पहले से ही छत्र और चामर से चिह्नित कर दिया था ॥७०॥

पुत्र का मुख देखने पर हर्ष की अधिकता से फैली हुई और हर्षाश्रु-धारा बहाती हुई आँखों से प्रतीत होता था कि राजा की पुत्र-स्नेह-धारा मानों बह निकली ॥७१॥

उस अवसर पर राजा के परम हितैषी यौगन्धरायण आदि भी अति प्रसन्न हो रहे थे। उसी समय आकाश से इस प्रकार की वाणी हुई—'राजन् तुम्हारा यह पुत्र कामदेव का अवतार है, इसका नाम नरवाहनदत्त होगा। यह वीर एक दिव्य युग तक विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा रहेगा ॥७२—७४॥

ऐसा कहकर वाणी बन्द हो गई। आकाश से पुष्पवर्षा हुई और दुन्दुभियों के संगीत फैलने लगे ॥७५॥

देवताओं द्वारा मनाये गये उत्सव से अत्यन्त उत्साहित और प्रसन्न होकर राजा ने अपने विस्तृत राज्य में व्यापक पुत्रजन्म-महोत्सव मनाया ॥७६॥

अभ्रमुस्तूर्यनिनदा नभस्तो मन्दिरोद्गता।
विद्याधरेभ्य सर्वेभ्यो राजनमव शसितुम् ॥७७॥
सौधाग्रेष्वनिलोद्धूता शोणरागा स्वकान्तिभि।
पताका अपि सिन्दूरमयो यमकिरन्निव ॥७८॥
भुवि साङ्गस्मरोत्पत्तितोषान्नि सुराङ्गना।
समागता प्रतिपद ननर्तुर्वारयोषित ॥७९॥
अदृश्यत च सर्वा सा समानविभवा पुरी।
राज्ञो मद्धोत्सवात् प्राप्तैर्नववस्त्रविभूषणै ॥८०॥
तदा हर्षान्नृपे तस्मिन्सर्वस्वर्ष्येनुजीविषु।
कोषादृत न तमन्यो दधौ कश्चन रिक्तताम् ॥८१॥
मङ्गल्यपूर्वा स्वाचारदक्षिणा नर्तितापरा।
मत्प्राम्मृतोत्तरास्तैस्तै सुरक्षिभिरधिष्ठिता ॥८२॥
प्रसृतातोद्यनिर्ह्रादा साक्षादिव दिशाखिला।
समन्तादाययस्तत्र सामन्तान्तपुराङ्गना ॥८३॥
चष्टा नृत्तमयी तत्र पूर्णपात्रमय वच।
व्यवहारो महात्यागमयस्तूर्यमयो ध्वनि ॥८४॥
चीनपिष्टमयोऽलोकश्चारणकमयी च भू।
आनन्दममयी सर्वेस्यामपि तस्यामभूत्पुरि ॥८५॥
एव महोत्सवस्तत्र भूरिवासरवर्धित।
निर्वर्तते स्म न सम पूर्णै पौरमनोरथ ॥८६॥
सोऽपि व्रजत्सु दिवसेष्वथ राजपुत्रो
वृद्धि शिशु प्रतिपदिन्दुरिवाजगाम।
पित्रा यथाविधिनिवेदितदिव्यवाणी
निर्दिष्टपूर्वनरवाहनदत्तनाम्ना ॥८७॥
यानि स्फुरन्मसृणमुग्धनखप्रभाणि
छिन्नाणि यानि च तदद्दशनाङ्कुराणि।
तानि स्खलन्ति दधतो वदतश्च तस्य
दृष्ट्वा निशम्य च पदानि पिता तुतोष ॥८८॥
अथ तस्म मन्त्रिवरा स्वसुतानानीय राजपुत्राय।
शिशवे शिशून् महीपतिहृद्यानन्दान् समर्पयामासु ॥८९॥

बाजों के मध्य स्वरों से निकलकर आकाश में फैलने लगे मानों समस्त विद्याधरों को नवीन राजा के जन्म लेने की सूचना दे रहे हों॥७७॥

ऊँचे-ऊँचे महलों पर फहराती हुई लाल रंग की पताकाएँ मानों प्रसन्नता से आपस में गुलाल उड़ा रही हों—ऐसी प्रतीत होती थी॥७८॥

घर-घर में प्रसन्नता से वेश्याओं के नाच-गान चल रहे थे। ऐसा लगता था मानों स्वर्ग की सुन्दरियाँ प्रसन्नता से भूमि पर उतर आई हों॥७९॥

उत्सव के उपलक्ष में राजा द्वारा बाँटे गये एक समान वस्त्रों और आभूषणों से सारी नगरी एक समान वैभवशाली मालूम होती थी॥८०॥

जब राजा ने उत्सव के उपलक्ष में अपने सेवकों को धन लुटाना प्रारंभ किया तब खजाने के अतिरिक्त और कोई भी खाली न रहा॥८१॥

पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भी मंगलगान करती हुई रीति-रिवाजों को जाननेवाली नाचती गाती और विविध प्रकार के उपहार हाथों में ली हुई अपने रक्षकों के साथ-साथ रनिवास में एकत्र हुई, तो ऐसा लगता था मानों स्वर्ग की स्त्रियाँ प्रसन्नता से राजभवन में उतर आई हों॥८२-८३॥

उस समय सभी की चेष्टाएँ नृत्यमयी सभी के वचन पूर्णपात्रमय सभी का व्यवहार त्यागमय और सभी का स्वर वाद्यमय हो रहा था॥८४॥

आनन्दमयी उस नगरी में सभी जन अबीर-गुलालमय और सारी भूमि बन्दियों से भरी हुई थी॥८५॥

इस प्रकार अनेक दिनों तक चलता हुआ यह उत्सव नागरिकों के मनोरथ के समान पूर्ण हुआ॥८६॥

आकाशवाणी के आज्ञानुसार पिता द्वारा दिये गये नरवाहनदत्त नामवाला वह राजकुमार कुछ दिनों में ही प्रतिपदा के चन्द्रमा के समान क्रमशः बड़ा हुआ॥८७॥

चमकते चिकने और सुन्दर नखों की कान्तिवाले दो-चार निकले हुए आगे के सुन्दर दाँतों-वाले उस राजकुमार के मुँह से निकलते हुए कुछ अस्पष्ट और तुतले बालों तथा लीलापूर्वक दो-चार पग चलने की उसकी चालों को देखकर उसका पिता मन ही मन अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करता था॥८८॥

इस प्रकार, उसके कुछ बड़े होने पर सभी मन्त्रियों ने हृदयों को आनन्द देनेवाले अपने-अपने बालकों को लाकर खेलने के लिए राजकुमार को सौंप दिया॥८९॥

यौगन्धरायणः प्रादान्मरुभूतिं हरिशिखं रुमण्वांश्च।
गोमुखमित्यकनामा तपन्तकाख्यं वसन्तकश्च सुतम् ॥९०॥
शान्तिकरोऽपि पुरोधा भ्रातृसुतं शान्तिसोममपरं च।
वैश्वानरमर्पितवान्पिङ्गलिकापुत्रकौ यमजौ ॥९१॥
तस्मिन्क्षणे च नभसो निपपात दिव्या
नान्दीनिनादसुभगा सुरपुष्पवृष्टिः।
राजा ननन्द च तदा महिषीसमेतः
सत्कृत्य तत्र सचिवात्मजमण्डलं तत् ॥९२॥
बाल्येऽपि तैरभिमतैरथ मन्त्रिपुत्रैः
षड्भिस्तदेकनिरतैश्च स राजपुत्रः।
युक्तः सदैव नरवाहनदत्त आसी-
द्युक्तो गुणैरिव महोदयहेतुभूतैः ॥९३॥
तं च क्रीडाकल्पितललिताव्यक्तनर्माभिलापं
यान्तं प्रीतिप्रवणमनसामङ्कतोऽङ्कं नृपाणाम्।
पुत्रं स्मेराननसरसिजं सादरं पश्यतस्ते
बद्धानन्दाः किमपि दिवसा वत्सराजस्य जग्मुः ॥९४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
नरवाहनदत्तजननलम्बके तृतीयस्तरङ्गः।
समाप्तश्चायं नरवाहनदत्तजननलम्बकश्चतुर्थः।

सबसे पहले यौगन्धरायण ने अपने पुत्र मरुभूति को, इसी प्रकार क्रमशः रुमण्वान् ने हरिशिख को, इत्यक (नित्योदित) ने गोमुख को, वसन्तक ने तपन्तक को और पुरोहित शाण्डिल्य ने अपने दोनों सुन्दर भतीजे शान्तिसोम और वैश्वानर नामक पिंगलिका के पुत्रों को लाकर समर्पित कर दिया ॥९०-९१॥

उस समय सुन्दर मंगलवाद्यों के साथ आकाश से दिव्य पुष्पों की वृष्टि हुई और राजा तथा रानी नवीन मन्त्रिमण्डल का सत्कार करके अत्यन्त आनन्दित हुए ॥९२॥

बाल्यकाल में उस प्रकार अनन्य प्रेमी मन्त्रिपुत्रों के साथ युक्त वह राजकुमार नरवाहनदत्त अभ्युदय के कारणभूत गुणों के समान शोभित हो रहा था ॥९३॥

अपनी विविध और सुन्दर बाल-लीलाओं से प्रेमपूर्ण हृदयवाले राजाओं की एक गोद से दूसरी गोद में जाते हुए, एवं मुस्कराते हुए उस राजकुमार के मुखकमल को देखते हुए वत्सराज के दिन आनन्दपूर्वक व्यतीत होने लगे ॥९४॥

तृतीय तरंग समाप्त

महाकवि सोमदेवभट्ट-रचित कथासरित्सागर का नरवाहनदत्त-जनन नामक

चतुर्थ लम्बक समाप्त

चतुर्दारिका नाम पञ्चमो लम्बकः

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना
त्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

मदघूर्णितवक्त्रोत्थैः सिन्दूरैश्छुरयन् महीम्।
हेरम्बः पातु नो विघ्नान् स्वतेजोभिर्दहन्निव॥१॥
एवं स देवीसहितस्तस्थौ वत्सेश्वरस्तदा।
नरवाहनदत्तं तमेकपुत्रं विवर्धयन्॥२॥
तद्रक्षाकातरं तं च दृष्ट्वा राजानमेकदा।
यौगन्धरायणो मन्त्री विजनस्थितमब्रवीत्॥३॥
राजन् राजसुतस्यास्य कृते चिन्ता त्वयाधुना।
नरवाहनदत्तस्य विधातव्या न काचन॥४॥
असौ भगवता भावी भर्गेण हि भवद्गृहे।
सर्वविद्याधराधीशचक्रवर्ती विनिर्मितः॥५॥
विद्याप्रभावाद्वेत्यस्य बुद्ध्वा विद्याधराधिपाः।
गताः पापेच्छवः क्षोभं हृदयैरसहिष्णवः॥६॥
तद्विदित्वा च देवेन रक्षार्थं शशिमौलिना।
एतस्य स्तम्भको नाम गणेशः स्थापितो निजः॥७॥
स च तिष्ठत्यलक्ष्यः सन् रक्षन्नेतं सुतं तव।
एतच्च क्षिप्रमभ्येत्य नारदो मे न्यवेदयत्॥८॥

वत्सराजसभायां शक्तिवेगस्यागमनकथा

इति तस्मिन् वदत्यत्र मन्त्रिणि व्योममध्यतः।
किरीटी कुण्डली दिव्यः खड्गी चावातरत्पुमान्॥९॥

चतुर्दारिका नामक पंचम लम्बक

[मंगलश्लोक का अर्थ प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।]

प्रथम तरंग

वत्सराज की सभा में शक्तिवेग का आगमन

मद-भूषित मुख से छिटकते हुए सिन्दूर से सुशोभित मानों अपने तेज से विघ्नों को नष्ट करते हुए और सिन्दूरी आभा से पृथ्वी को रंजित करते हुए गजानन आपकी रक्षा करें॥१॥

इस प्रकार उस एकमात्र कुमार नरवाहनदत्त का पालन-पोषण करता हुआ वत्सराज उदयन महारानी वासवदत्ता के साथ सुखपूर्वक रहने लगा॥२॥

एकबार पुत्र की रक्षा के लिए व्याकुल राजा को देखकर मन्त्री यौगन्धरायण ने एकान्त में राजा से कहा॥३॥

'राजन्! तुम्हें राजकुमार नरवाहनदत्त के लिए अब किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए॥४॥

इस राजकुमार को भगवान् शिव ने होनेवाले विद्याधरों के चक्रवर्ती के रूप में तुम्हारे घर में उत्पन्न किया है॥५॥

विद्याधरों के राजा अपनी विद्याओं के प्रभाव से इस बात को जानकर ईर्ष्या (जलन) के कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो गये हैं॥६॥

इस बात को जानकर शिवजी ने उसकी रक्षा के लिए अपने स्तम्भक नामक गणों के सरदार को नियुक्त किया है॥७॥

वह गणेश्वर तुम्हारे बालक की रक्षा करता हुआ अप्रत्यक्ष रूप से यहाँ निवास करता है। यह बात नारदमुनि ने शीघ्र ही आकर मुझसे कही है॥८॥

जब मन्त्री यौगन्धरायण यह बात राजा से कह रहा था कि इसी समय किरीट और कुंडल धारण कर और हाथ में खड्ग लिये हुए एक दिव्य पुरुष आकाश से उतरा॥९॥

प्रणतं कल्पितातिथ्यं क्षणाद् वत्सेश्वरोऽथ तम् ।
कस्त्वं किमिह ते कार्यमित्यपृच्छत् सकौतुकम् ॥१०॥
सोऽप्यवादीदहं मर्त्यो भूत्वा विद्याधराधिप ।
सम्पन्नः शक्तिवेगाख्यः प्रभूताश्च ममारयः ॥११॥
सोऽहं प्रभावाद् विज्ञाय भाव्यस्मच्चक्रवर्तिनम् ।
भवतस्तनयं द्रष्टुमागतोऽस्म्यवनीपते ॥१२॥
इत्युक्तवन्तं तं दृष्टभविष्यच्चक्रवर्तिनम् ।
प्रीतो वत्सेश्वरो हृष्टः पुनः पप्रच्छ विस्मयात् ॥१३॥
विद्याधरत्वं प्राप्येत कथं कीदृग्विधं च तत् ।
त्वया च तत्कथं प्राप्तमेतत् कथय नः सखे ! ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा वचनं राज्ञः स तेन विनयानतः ।
विद्याधरः शक्तिवेगस्तमेवं प्रत्यभाषत ॥१५॥
राजन्निहैव पूर्वं वा जन्मन्याराध्य शङ्करम् ।
विद्याधरपदं धीरा लभन्ते तदनुग्रहात् ॥१६॥
तच्चानेकविधं विद्याखड्गमालादिसाधनम् ।
मया च तद्यथा प्राप्तं कथयामि तथा शृणु ॥१७॥
एवमुक्त्वा स्वसम्बद्धां शक्तिवेगः स सन्निधौ ।
देव्या वासवदत्ताया कथामाख्यातवानिमाम् ॥१८॥

कनकपुरी शक्तिवेगयोः कथा

अभवद् वर्धमानाख्यं पुरं भूतलभूषणम् ।
नाम्ना परोपकारीति पुरा राजा परंतपः ॥१९॥
तस्यासीदमितस्थामूर्महिषी कनकप्रभा ।
विद्युद्रागधरस्येव या तु निर्मुक्तचापला ॥२०॥
तस्यां तस्य च कालेन कन्यामजनि कन्यका ।
रूपगर्वोपशान्त्यै या लक्ष्म्या धात्रेव निर्मिता ॥२१॥
अवर्धत जने सा च स्मरस्यागमनक्रिया ।
पित्रा कनकरेखेति मातृनाम्ना कृतात्मजा ॥२२॥
एकदा यौवनस्थायां तस्यां राजा स चिन्तितः ।
विजनोपस्थितां देवीं जगाद कनकप्रभाम् ॥२३॥

प्रणाम करके आतिथ्य सत्कार किये गये उस पुरुष को वत्सराज उदयन ने उत्सुकता से पूछा कि 'तुम कौन हो? और 'तुम्हारा यहाँ क्या कार्य है। अर्थात् किसलिए आये हो' ॥१ ॥

उसने कहा मैं मनुष्य होकर भी शक्तिवेग नाम से विद्याधरों का राजा बन गया। मत मेरे बहुत शत्रु हैं॥११॥

इसलिए हे राजन्! मैं अपनी विद्या के प्रभाव से यह जानकर कि तुम्हारा पुत्र भविष्य में हम विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा इसलिए उसे देखने के लिए आया हूँ॥१२॥

ऐसा कहकर भावी विद्याधर चक्रवर्ती का दर्शन कर प्रसन्न शक्तिवेग से राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—॥१३॥

'मित्र! विद्याधरत्व कैसे प्राप्त होता है। वह कैसा होता है और तुमने विद्याधरत्व को कैसे प्राप्त किया'। यह सब मुझसे कहो॥१४॥

राजा की बातें सुनकर विनय से नम्र शक्तिवेग नामक विद्याधर बोला॥१५॥

'राजन्! इस जन्म में या अगले जन्म में शिवजी की आराधना करने पर धैर्यशाली व्यक्ति उनकी कृपा से विद्याधर-पद को प्राप्त होता है॥१६॥

वह विद्याधर-पद, अनेक प्रकार का होता है जो विद्या खड्ग या माला आदि की सिद्धि द्वारा प्राप्त होता है। मैंने उसे जिस प्रकार पाया कहता हूँ सुनो॥१७॥

ऐसा कहकर शक्तिवेग ने महारानी वासवदत्ता के समक्ष राजा से अपनी कथा कहनी प्रारम्भ की॥१८॥

कनकपुरी और शक्तिवेग की कथा

प्राचीन काल में वर्धमान[1] नाम का नगर था जो भूतल का भूषण था। उस नगर में परोपकारी नामक वीर राजा हुआ॥१९॥

उस उन्नतिशील राजा की महारानी मेघ की रानी विद्युत् के समान 'कनकप्रभा' नाम की थी। वह चंचलता से रहित अर्थात् अति गंभीर थी॥२ ॥

कुछ समय के पश्चात् उस राजा को रानी कनकप्रभा के गर्भ से एक कन्या उत्पन्न हुई, जो विधाता ने मानों लक्ष्मी के रूप का अभिमान नष्ट करने के लिए निर्मित की थी॥२१॥

लोकों की आँखों के लिए चाँदनी के समान वह राजकुमारी धीरे-धीरे बढ़ने लगी। पिता ने माता के ही नाम पर उसका नाम कनकरेखा रख दिया॥२२॥

कन्या के युवती होने पर एक बार राजा ने एकान्त में आई हुई महारानी कनकप्रभा से कहा—॥२३॥

---

१ बंगाल का प्रसिद्ध वर्दमान (बर्दवान) नगर।

वर्धमाना सहैवैतत्समानोद्वाहचिन्तया।
एषा कनकरेखा मे हृदयं देवि बाधते ॥२४॥
स्थानप्राप्तिविहीना हि गीतिवद् कुलकन्यका।
उद्वेजिनी परस्यापि श्रूयमाणैव कर्णयोः ॥२५॥
विद्येव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता।
यशसे न न धर्माय जायतानुशयाय तु ॥२६॥
तत्कस्मै दीयते ह्येषा मया नृपसुते सुता।
कोऽस्याः समः स्यादिति मे चिन्ता देवि[1] गरीयसी ॥२७॥
तच्छ्रुत्वा सा विहस्यैव बभाषे कनकप्रभा।
त्वमेवमात्थ कन्या तु नेच्छत्युद्वाहमेव सा ॥२८॥
अद्यैव नर्मणा सा हि कृतकृत्रिमपुत्रका।
वत्स कदा विवाहं ते द्रक्ष्यामीत्युदिता मया ॥२९॥
सा तच्छ्रुत्वैव साक्षेपमेवं मां प्रत्यवादत।
मा मैवमम्ब दातव्या नैव कस्मैचिदप्यहम् ॥३०॥
मद्वियोगो न चाविष्टः कन्यवास्मि सुशोभना।
अन्यथा मां मृतां विद्धि किञ्चिदस्त्यत्र कारणम् ॥३१॥
एवं तयोक्ता त्वत्पार्श्वं राजन् खिन्नाहमागता।
तन्निषिद्धविवाहायाः का वरस्य विचारणा ॥३२॥
इति राज्ञीमुखाच्छ्रुत्वा समुद्भ्रान्तः स भूपतिः।
कन्यकान्तःपुरं गत्वा तामवादीत्तदा सुताम् ॥३३॥
प्रार्थयन्तेऽपि तपसा यं सुरासुरकन्यकाः।
भर्तृकामः कथं वत्से स निषिद्धः किल त्वया ॥३४॥
एतत्पितुर्वचः श्रुत्वा भूतलन्यस्तलोचना।
तदा कनकरेखा सा निजगाद नृपात्मजा ॥३५॥
तात नैवेप्सितस्तावद् विवाहो मम साम्प्रतम्।
तत्तातस्यापि किं तेन कार्यं कश्चात्र वो ग्रहः ॥३६॥
इत्युक्तः स तया राजा दुहित्रा धीमतां वरः।
परोपकारी स पुनरेवमेतामभाषत ॥३७॥

---

१ व्याकुला।

'यह कन्या कनकरेखा विवाह की चिन्ता के साथ समान रूप से बढ़ती हुई मेरे हृदय को व्यथित कर रही है ॥२४॥

समुचित स्थान से भ्रष्ट गीति(गान) के समान कन्या पराये व्यक्ति के भी कानों में उद्वेग उत्पन्न करती है ॥२५॥

अज्ञान से कुपात्र में दी हुई विद्या के समान कुपात्र को दी हुई कन्या न यश के लिए होती है, न धर्म के लिए ही प्रत्युत पश्चात्ताप के लिए होती है ॥२६॥

अतः मैं इस कन्या को किस राजा के लिए दूँ। इसके योग्य वर कौन होगा यह मेरे हृदय में भारी चिन्ता हो रही है' ॥२७॥

यह सुनकर महारानी कनकप्रभा हँसकर राजा से बोली कि 'आप तो इस प्रकार चिन्तित हैं किन्तु यह कनकरेखा तो विवाह ही नहीं करना चाहती' ॥२८॥

आज ही खेल में गुड़िया बनाती हुई उससे मैंने कहा कि 'मैं तुम्हारा विवाह कब देखूँगी' ॥२९॥

मेरे ऐसा प्रश्न करते ही उसने रोष के साथ मुझसे कहा 'माँ ऐसा मत कहो ऐसा मत कहो मुझ किसी के लिए भी न दो ॥३० ॥

तुम्हारे साथ मेरा वियोग न होगा। मैं अविवाहित ही ठीक हूँ। यदि तुमने मेरा विवाह किया तो मुझे मरी ही समझो। इसमें कुछ कारण है' ॥३१॥

यह सुनकर व्याकुल मैं तुम्हारे पास आई हूँ। विवाह न करनेवाली कन्या के लिए वर का सोचना ही व्यर्थ है ॥३२॥

रानी के मुख से ऐसा सुनकर घबराया हुआ राजा कन्या के भवन में जाकर उससे बोला—'बेटी जिस पति की प्राप्ति के लिए देवताओं और दैत्यों की कन्याएँ तपस्या करके भगवान् से प्रार्थना करती हैं उसे तू ने मना कर दिया ॥३३-३४॥

पिता की बातें सुनकर भूमि पर दृष्टि गड़ाये हुई राजकुमारी कनकरेखा बोली— ॥३५॥

'पिताजी मुझे विवाह की चाह नहीं है तो इसमें आपको इतना आग्रह क्यों है? ॥३६॥

पुत्री के इस प्रकार कहने पर बुद्धिमान् और धर्माचारी राजा इस तरह कहने लगा—बेटी कन्यादान के बिना पुरुष की पापमुक्ति के लिए दूसरा कौन-सा उपाय है? ॥३७॥

वर्धमाना सहैवैतत्समानोद्वाहचिन्तया।
एषा कनकरेखा मे हृदयं देवि बाधते ॥२४॥
स्थानप्राप्तिविहीना हि गीतिवत् पुंस्कन्यका।
उद्वेजिनी परस्यापि श्रूयमाणव कर्णयो ॥२५॥
विद्यव कन्यका मोहादपात्रे प्रतिपादिता।
यशसे न न धर्माय जायतानुशयाय तु ॥२६॥
तत्कस्मै दीयते ह्येषा मया नृपतये सुता।
कोऽस्याः सम स्यादिति मे चिन्ता देवि! गरीयसी ॥२७॥
तच्छ्रुत्वा सा विहस्यैव वभाषे कनकप्रभा।
त्वमेवमात्थ कन्या तु नेच्छत्युद्वाहमेव सा ॥२८॥
अद्यव नर्मणा सा हि कृतकृत्रिमपुत्रका।
वत्से कदा विवाह ते द्रक्ष्यामीत्युदिता मया ॥२९॥
सा सच्छ्रुत्वैव साक्षपमेव मां प्रत्यबोधत।
मा मैवमम्ब दातव्या नैव कस्मैचिदप्यहम् ॥३ ॥
मद्वियोगो न चादिष्ट कन्यवास्मि सुशोभना।
अन्यथा मां मृतां विद्धि किञ्चिदस्त्यत्र कारणम् ॥३१॥
एवं तयोक्ता त्वत्पार्श्व राजन् खिन्नाहमागता।
तन्निषिद्धविवाहाया का वरस्य विचारणा ॥३२॥
इति राज्ञीमुखाच्छ्रुत्वा समुद्भ्रान्त स भूपति।
कन्यकान्तःपुरं गत्वा तामवादीत्तदा सुताम् ॥३३॥
प्रार्थयन्तेऽपि तपसा य सुरासुरकन्यका।
मर्त्यकाम कथं वत्से स निषिद्धः किल त्वया ॥३४॥
एतत्पितुर्वच श्रुत्वा भूतलन्यस्तलोचना।
तदा कनकरेखा सा निजगाद नृपात्मजा ॥३५॥
तात नैवप्सितस्तावद् विवाहो मम साम्प्रतम्।
तत्तातस्यापि किं तेन कार्यं कश्चात्र वो ग्रह ॥३६॥
इत्युक्त स तया राजा दुहित्रा धीमता वर।
परोपकारी स पुनरेवमेतामभाषत ॥३७॥

---

१ च्छ्रुत्वा।

"यह कन्या कनकरेखा विवाह की चिन्ता के साथ समान रूप से बढ़ती हुई मेरे हृदय को व्यथित कर रही है ॥२४॥

समुचित स्थान से भ्रष्ट नीति (मान) के समान कन्या पराये व्यक्ति के भी कानों में उद्वेग उत्पन्न करती है ॥२५॥

अज्ञान से कुपात्र में दी हुई विद्या के समान कुपात्र को दी हुई कन्या न यश के लिए होती है न धर्म के लिए ही प्रत्युत पश्चात्ताप के लिए होती है ॥२६॥

अतः मैं इस कन्या को किस राजा के लिए दूँ। इसके योग्य वर कौन होगा यह मेरे हृदय में भारी चिन्ता हो रही है" ॥२७॥

यह सुनकर महारानी कनकप्रभा हँसकर राजा से बोली कि आप तो इस प्रकार चिन्तित हैं किन्तु यह कनकरेखा तो विवाह ही नहीं करना चाहती' ॥२८॥

आज ही खेल में गुड़िया बनाती हुई उससे मैंने कहा कि मैं तुम्हारा विवाह कब देखूँगी' ॥२९॥

मेरे ऐसा प्रश्न करते ही उसने रोष के साथ मुझसे कहा 'माँ ऐसा मत कहो ऐसा मत कहो मुझे किसी के लिए भी न दो ॥३०॥

तुम्हारे साथ मेरा वियोग न होगा। मैं अविवाहित ही ठीक हूँ। यदि तुमने मेरा विवाह किया तो मुझे मरी ही समझो। इसमें कुछ कारण है' ॥३१॥

यह सुनकर व्याकुल मैं तुम्हारे पास आई हूँ। विवाह न करनेवाली कन्या के लिए वर का सोचना ही व्यर्थ है ॥३२॥

रानी के मुख से ऐसा सुनकर घबराया हुआ राजा कन्या के भवन में जाकर उससे बोला—'बेटी जिस पति की प्राप्ति के लिए देवताओं और दैत्यों की कन्याएँ तपस्या करके भगवान् से प्रार्थना करती हैं उसे तू ने मना कर दिया' ॥३३-३४॥

पिता की बातें सुनकर भूमि पर दृष्टि गड़ाई हुई राजकुमारी कनकरेखा बोली— ॥३५॥

'पिताजी मेरा विवाह की चाह नहीं है तो इसमें आपका इतना आग्रह क्यों है? ॥३६॥

पुत्री के इस प्रकार कहने पर बुद्धिमान् और परोपकारी राजा इस तरह कहने लगा—'बेटी कन्यादान के बिना पुरुष की पापशान्ति के लिए दूसरा कौन-सा उपाय है? ॥३७॥

कन्यादानादृते पुत्रि[1] किं स्यात् किल्बिषशान्तये।
न च बन्धुपराधीना कन्या स्वातन्त्र्यमर्हति ॥३८॥
जातैव हि परस्यार्थे कन्यका नाम रक्ष्यते।
बाल्यादृते विना भर्त्रा कीदृक्तस्याः पितुर्गृहम् ॥३९॥
ऋतुमत्यां हि कन्यायां बान्धवा यान्त्यधोगतिम्।
वृषली[1] सा वरश्चास्या वृषलीपतिरुच्यते ॥४०॥
इति तेनोदिता पित्रा राजपुत्री मनोगताम्।
तदा कनकरेखा सा तत्क्षणं समुदैरयत् ॥४१॥
यद्येवं तात तद्येन विप्रेण क्षत्रियेण वा।
दृष्टा कनकपुर्याख्या नगरी कृतिना किल ॥४२॥
तस्मै त्वयाहं दातव्या स मे भर्ता भविष्यति।
नान्यथा तात मिथ्यैव कर्तव्या मे कदर्थना ॥४३॥
एवं तयोक्ते सुतया स राजा समचिन्तयत्।
दिष्ट्योद्वाहस्य तावत् प्रसङ्गोऽङ्गीकृतोऽनया ॥४४॥
नूनं च कारणोत्पन्ना देवीयं कापि मद्गृहे।
इयत्कथं विजानाति बाला भूत्वान्यथा ह्यसौ ॥४५॥
इति संचिन्त्य तत्कालं तथेत्युक्त्वा च तां सुताम्।
उत्थाय दिनकर्तव्यं स चकार महीपतिः ॥४६॥
अन्येद्युरास्थानगतो जगाद स च पार्श्वगान्।
दृष्टा कनकपुर्याख्या पुरी युष्मासु केनचित् ॥४७॥
येन दृष्टा च सा तस्मै विप्राय क्षत्रियाय वा।
मया कनकरेखा च यौवराज्यं च दीयते ॥४८॥
श्रुतापि नैव सास्माभिर्दर्शने देव का कथा।
इति ते चाब्रुवन् सर्वे अन्योन्याननदर्शिनः ॥४९॥
ततो राजा प्रतीहारमानीयादिशति स्म सः।
गच्छ भ्रमय कृत्स्नेऽत्र पुरे पटहघोषणाम् ॥५०॥
जानीहि यदि केनापि दृष्टा सा नगरी न वा।
इत्यादिष्टः प्रतीहारः स तथेति विनिर्ययौ ॥५१॥

---

१ भूता।

माता पिता और बन्धु (भाई) से पराधीन कन्या स्वतन्त्र नहीं रह सकती ॥३८॥

कन्या उत्पन्न होते ही दूसरे के लिए पालित पोषित और रक्षित की जाती है। बाल्यावस्था के अनन्तर पति के बिना पिता के घर पर कन्या का जीवन क्या है? अर्थात् कुछ नहीं ॥३९॥

पितृगृह में कन्या के ऋतुमती होने पर उसके बन्धु-बान्धव अधोगति को प्राप्त होते हैं। वह कन्या वृषली[1] हो जाती है और उसके पति को वृषलीपति कहा जाता है' ॥४०॥

राजा के इस प्रकार कहने पर वह कनकरेखा अपने मन की बात राजा से कही— ॥४१॥

'पिता यदि ऐसी बात है तो जिस वीर ब्राह्मण या क्षत्रिय ने कनकपुरी नाम की नगरी देखी हो, उसे आप मुझे दे दीजिए और वही मेरा पति होगा। अन्यथा व्यर्थ में आप मेरी दुर्दशा न करें' ॥४२-४३॥

कन्या के ऐसा कहने पर राजा ने सोचा भला भाग्य से इस कन्या ने विवाह करना तो स्वीकार किया ॥४४॥

अवश्य ही किसी कारण से मेरे घर में यह कोई देवी उत्पन्न हुई है। अन्यथा यह छोटी कन्या होकर भी यह सब कैसे जानती है ॥४५॥

उस समय ऐसा सोचकर और उसकी बात स्वीकार करके राजा उठकर चला गया और अपने दैनिक कार्य में व्यस्त हो गया ॥४६॥

दूसरे ही दिन दरबार में बैठकर राजा ने दरबारियों से कहा—'क्या आप लोगों में से किसी ने कनकपुरी नाम की नगरी देखी है? ॥४७॥

जिसने देखी हो वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय उसे अपनी कन्या कनकरेखा और उसके साथ युवराज-पद प्रदान करूँगा ॥४८॥

परस्पर एक दूसरे का मुख देखते हुए सभासदों ने कहा— महाराज उसे देखने की बात कौन कहे, हम लोगों ने यह नाम तक सुना नहीं' ॥४९॥

तब राजा ने प्रतिहार को यह आज्ञा दी कि— जाओ इस नगर में डुग्गी के साथ घोषणा कर दो कि किसी ने कनकपुरी देखी है या नहीं? और तुम इस बात का पता लगाओ ॥५०॥

राजा से आज्ञा पाकर प्रतिहार 'जो आज्ञा' कहकर चला गया ॥५१॥

---

१ वृषली—शूद्र जाति की स्त्री=दासी।

और सोचकर उसने राजकर्मचारियों को आदेश दिया कि वे नगर में घूमने के लिए आश्चर्यजनक इस घोषणा का डिडिम-घोष के साथ कर दें ॥५२॥

'कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रियपुत्र जिसने कनकपुरी नाम की नगरी देखी हो वह राज-दरबार में उपस्थित हो। उसे राजा उसे अपनी कन्या और युवराज-पद दान हीं देंगे' ॥५३॥

सारे नगर में व्यापक रूप से आश्चर्यजनक यह घोषणा होने लगी ॥५४॥

'आज कनकपुरी की यह क्या घोषणा की जा रही है जो हम बूढ़ों ने भी कभी न देखी और सुनी' ॥५५॥

नगर-निवासी वृद्धजन इस घोषणा को सुनकर परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करने लगे। नगर में एक भी व्यक्ति यह नहीं कह सका कि मैंने वह कनकपुरी देखी है ॥५६॥

इतने में ही उस नगर-निवासी बलदेव के पुत्र शक्तिदेव ने भी यह घोषणा सुनी ॥५७॥

वह व्यसनी युवक उस समय जुए में दरिद्र हो चुका था। वह राजकुमारी की प्राप्ति के समाचार से उत्साहित होकर सोचने लगा ॥५८॥

मैं जुए में सब कुछ हार चुका हूँ अतः अब मैं पिता के घर में प्रवेश नहीं पा सकता और न वेश्या के घर में ही जाकर रह सकता हूँ ॥५ ॥

इसलिए अब मैं कहीं का भी न रहा अतः अब अवसर है कि मैं झूठ बोलूँ कि मैंने वह नगरी देखी है ॥६ ॥

मुझे झूठा कौन समझेगा। वह नगरी किसने देखी है। अतः सम्भव है, राजकुमारी से मेरा समागम हो जाय ॥६१॥

ऐसा सोचकर उसने राजपुरुषों के समीप जाकर झूठ कह दिया कि मैंने कनकपुरी नगरी देखी है ॥६२॥

तब उन्होंने कहा— आओ द्वारपाल उनके पास चलें। उनके ऐसा कहने पर उनके साथ वह द्वारपाल के पास गया ॥६३॥

घोषणा करनेवालों ने कहा कि 'इसने कनकपुरी देखी है'। यह सुनकर द्वारपाल उसे स्वागत-सत्कार के साथ राजा के पास ले गया ॥६४॥

राजा के सम्मुख उपस्थित होकर भी उस धूर्त जुआरी ने ऐसे ही मिथ्या भाषण किया। सच है, जूए में हारे हुए धूर्त जुआरी के लिए कौन-सा कार्य दुष्कर है ॥६५॥

निर्गत्य च समादिश्य तत्क्षण राजपूरुषान्।
भ्रामयामास पटह कृतश्रवणकौतुकम् ॥५२॥

विप्र क्षत्रयुवा वा कनकपुरी योऽत्र दृष्टवान्नगरीम्।
वदतु स तस्मै राजा ददाति तनयां च यौवराज्य च ॥५३॥

इति वचस्ततस्तत्र नगरे दत्तविस्मयम्।
उदघोष्यत सर्वत्र पटहानन्तर वच ॥५४॥

केयं पुरेऽस्मिन्कनकपुरीनामाद्य घोष्यते।
या वृद्धैरपि नास्माभिर्दृष्टा जातु न च श्रुता ॥५५॥

इत्येवं चावदन्पौरा श्रुत्वा तां तत्र घोषणाम्।
न पुन कश्चिदेकोऽपि मया दृष्टेत्यभाषत ॥५६॥

तावच्च तन्निवास्येक शक्तिदेव इति द्विज।
बलदेवतनूजस्तामशृणोत्तत्र घोषणाम् ॥५७॥

स युवा व्यसनी सद्यो द्यूतेन विधनीकृत।
अचिन्तयन्नृपसुताप्रदानाकर्णनोन्मना ॥५८॥

द्यूतहारितनिःशेषवित्तस्य मम नाधुना।
प्रवेशोऽस्ति पितुर्गेहे नापि पण्याङ्गनागृहे ॥५९॥

तस्मादगतिकस्तावद् वरं मिथ्या ब्रवीम्यहम्।
मया सा नगरी दृष्टेत्येव पटहघोषकान् ॥६ ॥

को मां प्रत्येत्यविज्ञान केन दृष्टा कदा हि सा।
स्यादेवं च कदाचिन्मे राजपुत्र्या समागम ॥६१॥

इति सञ्चिन्त्य गत्वा तान् स राजपुरुषांस्तदा।
शक्तिदेवो मया दृष्टा सा पुरीत्यवदन्मृषा ॥६२॥

दिष्ट्या तर्हि प्रतीहारपार्श्वमेहीहि तत्क्षणम्।
उक्तवद्भिश्च तै साकं स प्रतीहारमभ्यगात् ॥६३॥

तस्मै तथैव चाख्यत्स पुरीदर्शन मृषा।
तेनापि सत्कृत्य ततो राजान्तिकमनीयत ॥६४॥

राजाग्रेऽप्यविकल्पस्स तथैव च तदब्रवीत्।
द्यूतभ्रान्तस्य किं नाम कितवस्य हि दुष्करम् ॥६५॥

और लौटकर उसने राजकर्मचारियों को आदेश दिया कि वे नगर में सुनने के लिए आश्चर्यजनक इस घोषणा को डिंडिम-घोष के साथ कर दें ॥५२॥

'कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रिययुवक जिसने कनकपुरी नाम की नगरी देखी हो वह राजदरबार में उपस्थित हो जाय राजा उसे अपनी कन्या और युवराज-पद दोनों ही देंगे' ॥५३॥

सारे नगर में व्यापक रूप से आश्चर्यजनक यह घोषणा होने लगी ॥५४॥

आज कनकपुरी की यह नयी घोषणा की जा रही है जो हम बूढ़ों ने भी कभी न देखी और सुनी ॥५५॥

नगर-निवासी बूढ़जन इस घोषणा को सुनकर परस्पर इस प्रकार वार्तालाप करने लगे। नगर में एक भी व्यक्ति यह नहीं कह सका कि मैंने वह कनकपुरी देखी है ॥५६॥

इतने में ही उस नगर-निवासी बलदेव के पुत्र शक्तिदेव ने भी यह घोषणा सुनी ॥५७॥

वह व्यसनी युवक उस समय जुए में दरिद्र हो चुका था। वह राजकुमारी की प्राप्ति के समाचार से उत्साहित होकर सोचने लगा ॥५८॥

मैं जुए में सब कुछ हार चुका हूँ अतः अब मैं पिता के घर में प्रवेश नहीं पा सकता और न वेश्या के घर में ही जाकर रह सकता हूँ ॥५९॥

इसलिए अब मैं कहीं का भी न रहा अतः अब अवसर है कि मैं झूठ बोलूँ कि मैंने वह नगरी देखी है ॥६०॥

मुझे झूठा कौन समझेगा। वह नगरी किसने देखी है। अतः सम्भव है राजकुमारी से मेरा समागम हो जाय ॥६१॥

ऐसा सोचकर उसने राजपुरुषों के समीप जाकर झूठ कह दिया कि मैंने कनकपुरी नगरी देखी है ॥६२॥

तब उन्होंने कहा— आओ द्वारपाल उसके पास चलें। उनके ऐसा कहने पर उनके साथ वह द्वारपाल के पास गया ॥६३॥

घोषणा करनेवाले ने कहा कि 'इसने कनकपुरी देखी है'। यह सुनकर द्वारपाल उसे स्वागत-सत्कार के साथ राजा के पास ले गया ॥६४॥

राजा के सम्मुख उपस्थित होकर भी उस धूर्त जुआरी ने ऐसे ही मिथ्या भाषण किया। सच है, जुए में हारे हुए धूर्त जुआरी के लिए कौन-सा कार्य दुष्कर है ॥६५॥

राजापि निश्चय ज्ञातु ब्राह्मण स विसृष्टवान्।
तस्या कनकरेखाया दुहितुर्निकटं तदा ॥६६॥
तया च स प्रतीहारमुखाज्ज्ञात्वान्तिकागत।
कच्चित्त्वया सा कनकपुरी दृष्टेत्यपृच्छ्यत ॥६७॥
बाढ मया सा नगरी दृष्टा विद्यार्थिना सता।
भ्रमता भुवमित्येव सोऽपि तां प्रत्यभाषत ॥६८॥
केन मार्गेण तत्र त्व गतवान् कीदृशी च सा।
इति भूयस्तया पृष्टः स विप्रोऽप्येवमब्रवीत् ॥६९॥
इतो हरपुर नाम नगर गतवानहम्।
ततोऽपि प्राप्तवानस्मि पुरी वाराणसी क्रमात् ॥७०॥
वाराणस्याश्च दिवसैर्नगरं पौण्ड्रवर्धनम्।
तस्मात् कनकपुर्याख्यां नगरीं तां गतोऽभवम् ॥७१॥
दृष्टा मया च सा भोगभूमि सुकृतकर्मणाम्।
अनिमेषेक्षणास्वाद्यशोभा शक्रपुरी यथा ॥७२॥
तत्राधिगतविद्यश्च कालेनाहमिहागमम्।
इति तेनास्मि गतवान् पथा सापि पुरीदृशी ॥७३॥
एव विरचितोक्तौ च धूर्ते तस्मिन्द्विजन्मनि।
शक्तिदेवे सहास सा व्याजहार नृपात्मजा ॥७४॥
अहो सत्य महाब्रह्मन् दृष्टा सा नगरी त्वया।
ब्रूहि ब्रूहि पुनस्तावत्केनासि गतवान् पथा ॥७५॥
तच्छ्रुत्वा स यदा धार्ष्ट्य शक्तिदेवोऽकरोत् पुन।
तदा त राजपुत्री सा चेटीभिर्निरवासयत् ॥७६॥
निर्वासिते ययौ चास्मिन्पितु पार्श्वं तदैव सा।
किं सत्यमाह विप्रोऽसाविति पित्राप्यपृच्छ्यत ॥७७॥
ततश्च सा राजसुता जनक निजगाद तम्।
तात ! राजापि भूत्वा त्वमविचार्यैव चेष्टसे ॥७८॥
किं न जानासि धूर्ता यद् वञ्चयन्त जनानृजून्।
स हि मिथ्यैव विप्रो मां प्रतारयितुमीहते ॥७९॥
न पुनर्नगरी तेन दृष्टा सालीकवादिना।
धूर्तैरनेकाकाराश्च क्रियन्ते भुवि वञ्चना ॥८०॥

राजा ने भी उसकी सत्यता जाँचने के लिए उसे राजकुमारी के पास भेज दिया ॥६६॥

राजकन्या ने द्वारपाल से समाचार सुनकर पास आये हुए उस ब्राह्मण से पूछा 'क्या तुमने कनकपुरी देखी है? ॥६७॥

उसने स्वीकार करते हुए कहा कि विद्यार्थी-अवस्था में घूमते हुए उस नगरी को मैंने देखा था ॥६८॥

'किस प्रकार तुम वहाँ गये थे और वह कैसी नगरी है?' राजकुमारी के पुनः इस प्रकार पूछने पर उस ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा ॥६९॥

यहाँ से मैं हरपुर नामक नगर में गया और वहाँ से चलकर क्रमशः वाराणसी पहुँचा ॥७ ॥

वाराणसी से चलकर मैं पौंड्रवर्धन नामक नगर में पहुँचा और उसके पश्चात् मैं उस कनकपुरी नगरी में पहुँचा ॥७१॥

पुण्यात्माओं के लिए इन्द्रपुरी के समान वह भोगभूमि है। उसकी शोभा अपलक नेत्रों से देखने योग्य है ॥७२॥

वहाँ विद्या प्राप्त कर कुछ समय पश्चात् मैं यहाँ आ गया। इस प्रकार इस मार्ग से मैं गया और वह ऐसी नगरी है' ॥७३॥

उस धूर्त ब्राह्मण शक्तिदेव की इस प्रकार की बनावटी बातों को सुनकर राजकन्या मुस्कराती हुई बोली—'हे ब्राह्मण! यह सत्य है कि तुमने वह नगरी देखी। किन्तु यह तो बताओ कि तुम उस नगरी में किस मार्ग से गये थे फिर से एक बार बताओ' ॥७४-७५॥

राजकुमारी के इस प्रकार पूछने पर जब शक्तिदेव पुनः धृष्टता करने पर उतारू हुआ तब राजकुमारी ने दासियों से कहकर उसे बाहर निकलवा दिया ॥७६॥

उसके निकल जाने पर राजपुत्री पिता के पास गई। पिता ने उससे पूछा कि 'वह ब्राह्मण सत्य कहता था अथवा नहीं' ॥७७॥

तब वह राजपुत्री कहने लगी—'पिताजी आप राजा होकर भी ऐसी अविवेकपूर्ण बातें क्यों करते हैं? क्या आप नहीं जानते कि धूर्त जन सरल व्यक्तियों को ठग लेते हैं। यह ब्राह्मण झूठ बोलकर मुझे ठग लेना चाहता था। इस झूठे ने कनकपुरी नहीं देखी है। धूर्त लोग अनेक प्रकार की ठगियाँ किया करते हैं ॥७८—८ ॥

शिवमाधवधूर्तयोः कथा

शिवमाधववृत्तान्तं तथाहि शृणु वच्मि ते।
इत्युक्त्वा राजकन्या सा व्याजहार कथामिमाम् ॥८१॥
अस्ति रत्नपुरं नाम यथार्थं नगरोत्तमम्।
शिवमाधवसंज्ञौ च धूर्तौ तत्र बभूवतुः ॥८२॥
परिवारीकृतानेकधूर्तौ तौ चक्रतुश्चिरम्।
मायाप्रयोगनिःशेषमुषिताढ्यजनं पुरम् ॥८३॥
एकदा द्वौ च तावेवं मन्त्रं विदधतुर्मिथः।
इदं नगरमावाभ्यां कृत्स्नं तावद् विलुण्ठितम् ॥८४॥
अतः सम्प्रति गच्छामो वस्तुमुज्जयिनीं पुरीम्।
तत्र तु श्रूयते राज्ञः पुरोधाः सुमहाधनः ॥८५॥
शङ्करस्वामिनामा च तस्माद्युक्त्या हृतैर्धनैः।
मालवस्त्रीविलासानां यास्यामोऽत्र रसज्ञताम् ॥८६॥
आस्कन्दी दक्षिणार्धस्य स तत्र भ्रुकुटीमुखः।
सप्तकुम्भीनिधानो हि कीनाशो गीयते द्विजैः ॥८७॥
कन्यारत्नं च तस्यास्ति विप्रस्यैकमिति श्रुतम्।
तदप्यतत्प्रसङ्गेन ध्रुवं तस्मादवाप्स्यते ॥८८॥
इति निश्चित्य कृत्वा च मिथः कर्तव्यसंविदम्।
शिवमाधवधूर्तौ तु पुरात् प्रययतुस्ततः ॥८९॥
ततश्चोज्जयिनीं प्राप्य माधवः सपरिच्छदः।
राजपुत्रस्य वेषेण तस्थौ ग्रामे क्वचिद् बहिः ॥९०॥
शिवस्त्वविकलं कृत्वा वर्णिवेषं विवेश ताम्।
नगरीमेक एवाग्रे बहुमायाविचक्षणः ॥९१॥
तत्राप्युवास शिप्रायाः मठिकां तीरसीमनि।
दृश्यस्थापितमृद्दर्भभिक्षाभाण्डमृगाजिनाम् ॥९२॥

---

१ मायाप्रयोगेण धूर्ततया, निःशेषं सम्पूर्णतया मुषिताः वञ्चिताः, आढ्यजनाः धनिकजनाः यस्य पुरस्य ईदृशं पुरमेवमकुरुताम्।

२ शङ्कराविवम

'सुनो मैं इस प्रसंग में तुम्हें शिव और माधव दो धूर्तों की कथा सुनाती हूँ। ऐसा कहकर उसने यह कथा सुनानी प्रारम्भ की॥८१॥

शिव और माधव नामक धूर्तों की कथा

सब नगरों में श्रेष्ठ रत्नपुर नाम का यथार्थ नामवाला एक नगर है। उसमें शिव और माधव नाम के दो धूर्त रहते थे॥८२॥

उन्होंने अनेक ठगों का एक दल बनाकर अपनी ठगी के हथकंडों से नगर के सभी धनी व्यक्तियों को ठग लिया था॥८३॥

एक बार उन दोनों ने आपस में यह विचार किया कि 'हमलोगों द्वारा यह सारा नगर ठग लिया गया है। अब इसे छोड़ कर चलें और उज्जैन में डेरा डालें। सुनते हैं कि वहाँ के राजा का पुरोहित बहुत बड़ा धनी है। उसका नाम शंकरस्वामी है। उससे धन लेकर मालवा देश की रमणियों के विलास का आनन्द लेंगे। वह आधी दक्षिणा का हिस्सेदार अर्थात् आधी भूमि पर काम करनेवाला बढ़ी हुई भौंहोंवाला है। उसके पास सात घड़े स्वर्ण का खजाना है। किन्तु वह स्वयं बड़ा ही कृपण या अर्थपिशाच है—ऐसा ब्राह्मण लोग कहा करते हैं। उस ब्राह्मण की एक रत्नस्वरूपा कन्या भी है। इसी प्रसंग में हमलोग उसे भी अवश्य प्राप्त कर लेंगे'॥८४-८८॥

ऐसा सोचकर और उसे ठगने की योजना बनाकर शिव और माधव नामी धूर्त उस रत्नपुर नगर से उज्जैन को चले॥८९॥

धीरे-धीरे उज्जैन पहुँचकर माधव तो नगर के बाहर किसी ग्राम में अपने को राजकुमार घोषित कर अपने साथियों के साथ ठहर गया॥९०॥

और अत्यन्त मायावी शिव भली-भाँति ब्रह्मचारी का वेष बनाकर उस उज्जयिनी नगरी में जा पहुँचा॥९१॥

वह वहाँ जाकर शिप्रा नदी के तट के समीप किसी मठ में ठहर गया और अपने आसपास पूर्ण आडम्बर के लिए मिट्टी कुश भिक्षापात्र मृगचर्म आदि रख लिये॥९२॥

सा च प्रभातकाले पुनर्यच्छ मुखाक्षिपत् ।
अवीचि[1]कर्दमालेपसूत्रपातमिवाचरन् ॥९३॥
सरित्तोये च स चिरं निमज्ज्यासीदवाङ्मुखः ।
कुकर्मजामिवाभ्यस्यन् भविष्यन्तीमधोगतिम् ॥९४॥
स्नानोत्थितोऽर्काभिमुखस्तस्थावूर्ध्वं चिरं च सः ।
शूलाधिरोपणौचित्यमात्मनो दर्शयन्निव ॥९५॥
ततो देवाग्रतो गत्वा कुशकूर्चकरो जपन् ।
आस्त पद्मासनासीनः सदम्भश्चतुराननः ॥९६॥
अन्तरा हृदयानीव साधूनां कैतवेन सः ।
स्वच्छान्याहृत्य पुष्पाणि पुरारिं पर्यपूजयत् ॥९७॥
कृतपूजश्च भूयोऽपि मिथ्याजपपरोऽभवत् ।
दत्तावधानः कुसृतिष्विव[2] ध्यानं सतानं सः ॥९८॥
अपराह्णे च भिक्षार्थी कृष्णसाराजिनाम्बरः ।
पुरि तद्वञ्चनामायाकटाक्ष इव सोऽभ्रमत् ॥९९॥
आदाय द्विजगेहेभ्यो मौनी भिक्षान्नं ततः ।
सदण्डाजिनकरचक्रे त्रिःसत्यमिव खण्डशः ॥१०० ॥
भागं ददौ च काकेभ्यो भागमभ्यागताय च ।
भागेन दम्भबीजेन कुक्षिमस्त्रामपूरयत् ॥१०१॥
पुनः स सर्वपापानि निजानि गणयन्निव ।
जपन्नावर्तयामास चिरं मिथ्याक्षमालिकाम् ॥१०२॥
रात्रावामद्वितीयश्च स तस्थौ मठिकान्तरे ।
अपि सूक्ष्माणि लोकस्य मर्मस्थानानि चिन्तयन् ॥१०३॥
एवं प्रतिदिनं कुर्वन् कष्टं व्याजमयं तपः ।
स तत्रावर्जयामास नगरीवासिनां मनः ॥१०४॥
अहो तपस्वी शान्तोऽयमिति ख्यातिश्च सर्वतः ।
उत्पद्यत तत्रास्य भक्तिनम्रेऽखिले जने ॥१०५॥

---

१ अवीचिर्नाम नरकः, तद्भेदास्तपनावीचिमहारौरवरौरवाः—इत्यमरः ।
२ पूर्वाग्रम् चतुरं आसनं यस्य सः । यस्य मुख एव चातुर्यं प्रतिमायते सः ।
३ कुसृतिः—शाठ्यम् ।

वह प्रातःकाल ही भस्म और चिकनी मिट्टी से शरीर पर लेप करता था मानों बिना तरंगों के कीचड़ के लेप का सूत्रपात कर रहा हो ॥९३॥

वह नदी के तट पर स्नान करके बहुत देर तक नीचे की ओर मुँह किये खड़ा रहता था मानों अपने कुकर्मों से होनेवाली अधोगति का अभ्यास कर रहा हो ॥९४॥

स्नान करके नंगा हुआ वह चिरकाल तक सूर्य की ओर मुँह करके खड़ा रहता था मानों अपने को शूली पर चढ़ाने के योग्य बना रहा हो ॥९५॥

स्नान करके हाथ में कुश की मुट्ठी लेकर जप करता हुआ वह पद्मासन लगाकर बैठा हुआ दम्भी ब्राह्मण के समान मालूम होता था ॥९६॥

बीच-बीच में वह साधु पुरुषों के हृदयों के समान सुन्दर पुष्पों का हरण करके शिवजी की पूजा किया करता था ॥९७॥

पूजन करने के पश्चात् भी वह जप करने की बनावटी मुद्रा बनाये रहता था मानों अपने कुकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले नरकों का ध्यान करता हो ॥९८॥

अपराह्न के समय वह मौन धारण करके द्विजों (ब्राह्मणों) के घरों से भिक्षा प्राप्त करने के लिए दण्ड लेकर और कृष्णाजिन[1] पहनकर जाता था और तीन भिक्षाएँ लेता था ॥९९॥

और तीन भाग के समान वह भिक्षा के तीन भाग करता था ॥१००॥

एक भाग कौवों का, एक भाग अतिथि का और दम्भ के बीज के समान एक भाग से वह अपना पेट भरता था ॥१०१॥

भोजन के बाद मानों अपने पापों को गिनता हुआ वह फिर जप-माला लेकर जप करने का झूठा काम करता रहता था ॥१०२॥

वह रात में उस मठ के अन्दर नगरनिवासियों के गुप्त रहस्यों को सोचता हुआ अकेला ही रहता था ॥१०३॥

इस प्रकार प्रतिदिन वंचनापूर्ण व्यापार करते हुए उसने नागरिकों के मन को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया ॥१०४॥

ओह! यह तो बड़ा ही शान्त तपस्वी है—इस प्रकार धीरे-धीरे उसकी प्रसिद्धि हो गई और सभी नागरिक उसके सामने भक्ति से प्रणाम करने लगे ॥१०५॥

---

1 कृष्णाजिन—काले मृग का चर्म।

तावच्च स द्वितीयोऽस्य सखा चारमुखं तम्।
विज्ञाय माधवोऽप्येतन्नगरीं प्रविवेश ताम्॥१०६॥
गृहीत्वा वसतिं चात्र दूरे देवकुलान्तरे।
स राजपुत्रच्छद्मा सन् स्नातुं शिप्रातटं ययौ॥१०७॥
स्नात्वा सानुचरो दृष्ट्वा जपाग्रे तपतत्परम्।
तं शिवं परमप्रह्वो निपपातास्य पादयोः॥१०८॥
जगाद च जनस्याग्रे नास्तीदृक्तापसोऽपरः।
असकृद्धि मया दृष्टस्तीर्थान्यस्य भ्रमन्निति॥१०९॥
शिवस्तु तं विलोक्यापि दम्भस्तम्भितकन्धरः।
तथैवासीत्ततः सोऽपि माधवो वसतिं ययौ॥११०॥
रात्रौ मिलित्वा चैकत्र भुक्त्वा पीत्वा च तावुभौ।
मन्त्रयामासतुः शेषं कर्तव्यं भवतः परम्॥१११॥
यामे च पश्चिमे स्वैरमागात् स्वमठिकां शिवः।
माधवोऽपि प्रभाते स्वं धूर्तमेकं समादिशत्॥११२॥
एतद् गृहीत्वा गच्छ त्वं वस्त्रयुग्मम्[1] उपायनम्।
शङ्करस्वामिनः पार्श्वमिह राजपुरोधसः॥११३॥
राजपुत्रः पराभूतो माधवो नाम गोत्रजैः।
पित्र्यं बहु गृहीत्वार्थमागतो दक्षिणापथात्॥११४॥
समं कतिपयैरन्यै राजपुत्रैरनुद्रुतः।
स चेह युष्मदीयस्य राज्ञः सेवां करिष्यति॥११५॥
तेन त्वद्दर्शनायाहं प्रेषितो यशसां निधे।
इति त्वया सविनयं स च वाच्यः पुरोहितः॥११६॥
एवं स माधवेनोक्तो धूर्तः सम्प्रेषितस्तथा।
जगामोपायनकरो गृहं तस्य पुरोधसः॥११७॥
उपेत्यावसरे दत्त्वा प्राभृतं[2] विजने च तत्।
तस्मै माधवसन्देशं शशंस स यथोचितम्॥११८॥
सोऽप्युपायनलोभात्तच्छ्रद्दधे कल्पितायतिः।
उपप्रदानं[3] लिप्सूनामकं ह्याकर्षणौषधम्॥११९॥

---

१ वसितचेलनिर्मितं चीवरं प्रावारकं चेति युगम्।
२ प्राभृतम्—उपायनम्। 'भेंट' इति भाषायाम्।
३ 'भेंट' 'घूस' इति प्रसिद्धम्।

शिव के इस प्रकार अपना प्रभाव जमा लेने पर उसके दूसरे साथी माधव ने अपने गुप्तचरों से जानकर नगरी में प्रवेश किया॥१ ६॥

और शिव के स्थान से दूर एक मन्दिर में अपना निवास स्थिर किया। एक बार माधव राजपुत्र के नकली वेष में स्नान करने के लिए शिप्रा नदी के तट पर गया॥१ ७॥

स्नान करने के पश्चात् वह देव-मन्दिर में जप करते हुए शिव को देखकर अत्यन्त भक्ति-भाव से नम्र होकर उसके चरणों में गिर पड़ा॥१०८॥

और जनता के सामने कहने लगा कि ऐसा दूसरा तपस्वी इस समय नहीं है। मैंने तीर्थों में भ्रमण करते हुए इस बात का बार-बार अनुभव किया है॥१ ९॥

शिव भी दम्भ से गर्दन टेढ़ी करके उसे देखता हुआ मौन ही रहा और माधव प्रणाम करके घर चला गया॥११ ॥

फिर रात में मिलकर और खा-पीकर उन दोनों ने अपने आगे के कर्त्तव्य की योजना बनाई। कुछ रात्रि शेष रहते ही शिव अपने मठ में लौट आया और माधव ने भी प्रातःकाल अपने साथियों में से एक धूर्त को आदेश दिया॥१११ ११२॥

कि ये दो वस्त्र (धोती और दुपट्टा) लेकर राजपुरोहित शंकरस्वामी के घर जाओ और उससे कहो कि अपने बन्धु-बान्धवों के द्वारा सताया गया माधव नामक राजकुमार दक्षिण देश से कुछ राजपुत्रों के साथ बहुत-सा धन लेकर यहाँ आया है। वह आपके राजा की सेवा करेगा॥११३–११५॥

उसने आपके दर्शन के लिए (समय माँगने के लिए) मुझे आपके पास भेजा है' इस प्रकार नम्रता के साथ राजपुरोहितजी से कहना॥११६॥

माधव द्वारा इस प्रकार कहा गया वह धूर्त हाथ में भेंट लिये उससे माधव का सन्देश उसे सुनाया॥११७-११८॥

राजपुरोहित ने भी भविष्य में लाभ की कल्पना और वर्तमान में भेंट के लोभ में फँसकर उसकी बात मान ली। सच है लोभियों के लिए भेंट, उपहार आदि एकमात्र आकर्षणकारी औषधि है॥११९॥

ततः प्रत्यागते तस्मिन् धूर्तेऽन्येद्युः स माधवः ।
लब्धावकाशस्तमगात्स्वयं द्रष्टुं पुरोहितम् ॥१२०॥
धृतकार्पटिकाकारैं राजपुत्रापदेशिभिः ।
वृतः पार्श्वचरैरात्तचाष्ठसण्डकलाञ्छनः ॥१२१॥
पुरोगावेदितश्चैनमभ्यगात्स पुरोहितम् ।
तेनाप्यभ्युद्गमानन्दस्वागतैरभ्यनन्द्यत ॥१२२॥
ततस्तेन सह स्थित्वा कथालापैः क्षणं च सः ।
माययौ तदनुज्ञातो माधवो वसतिं निजाम् ॥१२३॥
द्वितीयेऽह्नि पुनः प्रष्य प्राभृतं वस्त्रयोर्युगम् ।
भूयोऽपि तमुपागच्छ पुरोहितमुवाच च ॥१२४॥
परिवारानुरोधेन किल सर्वार्थिनो वयम् ।
तेन त्वमाश्रितोऽस्माभिरर्थमात्रास्ति नः पुनः ॥१२५॥
तच्छ्रुत्वा प्राप्तिमाशङ्कय तस्मात्सोऽथ पुरोहितः ।
प्रतिशुश्राव तत्तस्मै माधवाय समीहितम् ॥१२६॥
क्षणाच्च गत्वा राजानमेतदर्थं व्यजिज्ञपत् ।
तद्गौरवेण राजापि तत्तथा प्रत्यपद्यत ॥१२७॥
अपरेऽह्नि च नीत्वा तं माधवं सपरिच्छदम् ।
नृपायावेदयत्तस्मै स पुरोधाः सगौरवम् ॥१२८॥
नृपोऽपि माधवं दृष्ट्वा राजपुत्रोपमाकृतिम् ।
आदरेणानुजग्राह वृत्तिं चास्य प्रविष्टवान् ॥१२९॥
ततोऽत्र सेवमानस्तं नृपं तस्थौ स माधवः ।
रात्रौ रात्रौ च मन्त्राय शिवेन समगच्छत ॥१३ ॥
इहैव वस मद्गेहे इति तेन पुरोधसा ।
सोऽर्थितस्तामवस्लोभादुपचारोपजीविना ॥१३१॥
ततः सहचरैः साकं तस्यमाविविशयद् गृहम् ।
विनाशहेतुर्वासाय मद्गुः स्कन्धं तरोरिव ॥१३२॥
कृत्वा कृत्रिममाणिक्यमयराभरणभृतम् ।
भाण्डं च स्थापयामास तदीये कोषवेश्मनि ॥१३३॥

---

१ स्त्रीचकार।

२ 'विनाशहेतुर्वासोऽस्यमाश्रितः स्कन्धे तरोरिव' इति पुस्तकान्तरे पाठः। 'मद्गुः पानीयकाकिका' जलकुक्कुट इति प्रसिद्धः। मद्गुर्यस्मिन्वृक्षे निवसति तस्यैवाचिरात् विनाशमि तथैव माधवोऽपि पुरोहितविनाशाय तद्गृहेऽवस्थितः।

उस धूर्त के लौट आने पर दूसरे दिन वह माधव मौका देखकर स्वयं पुरोहित से मिलने के लिए गया॥१२ ॥

नकली राजपुत्र बना हुआ पथिक का वेष धारण किये हुए और अपने सभी धूर्तों के साथ लाठी आदि लिये हुए सेवकों से युक्त वह माधव पहले से ही अपने आगमन की सूचना देकर, राजपुरोहित से मिला॥१२१॥

पुरोहित ने भी अगवानी के लिए आगे आकर प्रसन्नता प्रकट करते हुए उसका स्वागत और अभिनन्दन किया॥१२२॥

माधव कुछ समय तक उसके साथ बैठकर और इधर-उधर की बातें करके तत्पश्चात् राजपुरोहित से आज्ञा लेकर अपने घर लौट आया॥१२३॥

दूसरे दिन फिर से एक भेंट (उपहार) भेजकर माधव पुरोहित के पास गया और बोला कि हम अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए सेवावृत्ति (नौकरी) करना चाहते हैं इसीलिए आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं। वैसे तो हमारे पास धन की कुछ मात्रा है'॥१२४-१२५॥

यह सुनकर उस पुरोहित ने उससे कुछ (घूस) प्राप्ति की आशा से माधव की इच्छा पूर्ति करना अर्थात् नौकरी दिलाना स्वीकार किया॥१२६॥

और तुरन्त राजा के पास माधव को ले जाकर, उसके प्रशंसनीय परिचय का बखान करते हुए गौरव के साथ उसे राजा से मिला दिया॥१२७-१२८॥

राजा ने भी राजकुमार के समान आकृतिवाले माधव को देखकर आदर के साथ उस पर कृपा की और उसे नौकरी पर नियुक्त करा दिया॥१२९॥

इस प्रकार माधव दिन में राजसेवा में लगा रहता था और रात में मित्रों से मिलकर ठगी की योजना बनाया करता था॥१३ ॥

कुछ दिनों के उपरान्त लोभी पुरोहित ने माधव से कहा कि 'तुम यहीं मेरे घर पर ही रहा करो'॥१३१॥

पुरोहित के आग्रह करने पर उसके ही नाश का कारण माधव अपने धूर्त मित्रों के साथ उसके घर पर उसी प्रकार रहने लगा जैसे 'मद्गु' नामक जन्तु (पक्षी) वृक्ष पर रहा करता है। माधव ने नकली माणिक्य के कुछ गहने बनवाकर एक पेटी में बन्द किये और उस पेटी को उसने पुरोहित के खजाने में रखवा दिया॥१३२-१३३॥

अन्तरा च तदुद्घाट्य तस्तैर्व्याजार्घदर्शितै ।
जहाराभरणैस्तस्य धार्म्यैरिव पक्षोर्मन ॥१३४॥
विश्वस्त च ततस्तस्मिन्पुरोधसि चकार स ।
मान्द्यमल्पतराहारकृशीभवनमृषा ॥१३५॥
याते कतिपयाह च त शय्योपान्तवर्तिनम् ।
पुरोहित स वक्ति स्म धूर्तराजोऽल्पया गिरा[1] ॥१३६॥
मम तावच्छरीरेऽस्मिन्वर्तते विषमा दशा ।
तद्विप्रवर ! कञ्चित्त्व ब्राह्मणोत्तममानय ॥१३७॥
यस्मै दास्यामि सर्वस्वमिहामुत्र च शर्मण ।
अस्थिरे जीविते ह्यास्था का धनेषु मनस्विन ॥१३८॥
इत्युक्त स पुरोधाश्च तेन दानोपजीवक ।
एव करोमीत्याह स्म सोऽपतच्चास्य पादयो ॥१३९॥
तत स ब्राह्मण य यमानिनाय पुरोहित ।
विशेषच्छानिमात्त त प्रहृष न स माधव ॥१४ ॥
तद्दृष्ट्वा तस्य पार्श्वस्थो धूर्त एकोऽब्रवीदिदम् ।
न तावदस्मै सामान्यो विप्र प्रायश रोचते ॥१४१॥
तद एष शिवो नाम शिप्रातीरे महातपा ।
स्थित सम्प्रति मान्यस्य न वेत्यसन्निरूप्यताम् ॥१४२॥
तच्छ्रुत्वा माधवोऽवादीत् कृतार्तिस्त पुरोहितम् ।
हन्त ! प्रसीदानय त विप्रो मान्यो हि तादृश ॥१४३॥
इत्युक्तस्तेन च ययौ स शिवस्यान्तिक तत ।
पुरोधास्तमपश्यच्च रचितध्याननिश्चलम् ॥१४४॥
उपाविशच्च तस्याग्रे तत कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
तत्क्षण सोऽपि धूर्तोऽभूच्छनरुन्मीलितेक्षण ॥१४५॥
तत प्रणम्य त प्रह्व स उवाच पुरोहित ।
न चेत्कुप्यसि तत्किञ्चित्प्रभो विज्ञापयाम्यहम् ॥१४६॥
तन्निशम्य च तेनोष्ठपुटोन्मनसञ्ज्ञया ।
अनुज्ञात शिवेनैव तमवादीत्पुरोहित ॥१४७॥

---

१ दुर्बलस्वरात् मन्दस्वरेण संक्षेपेण वा ।

बीच-बीच में उस पेटी को खोलकर माधव पुरोहित के मन को इस प्रकार ललचाता रहा जैसे घास दिखा-दिखाकर पशु को ललचाया जाता है ॥१३४॥

कुछ दिनों पश्चात् पुरोहित के विश्वस्त हो जाने पर माधव ने भोजन कम करके अपने को जान-बूझकर अत्यन्त दुर्बल बना लिया ॥१३५॥

कुछ दिन व्यतीत होने पर एक बार उसकी शय्या के पास बैठे हुए पुरोहित को धूर्तराज माधव ने क्षीण स्वर में कहा—॥१३६॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मेरे शरीर की दशा दिनानुदिन बिगड़ती जा रही है। इसलिए तुम किसी अच्छे सत्पात्र ब्राह्मण को लाओ ॥१३७॥

जिसे मैं इहलोक और परलोक के कल्याणार्थ अपना सब कुछ दान कर दूँ। महान् व्यक्ति इस अस्थिर जीवन में धन के प्रति श्रद्धा या प्रेम नहीं रखते ॥१३८॥

दान से जीविका चलानेवाला लालची पुरोहित माधव के इस प्रकार कहने पर उससे बोला कि 'ऐसा ही करूँगा'।—पुरोहित के ऐसा कहने पर वह धूर्त माधव उसके पैरों पर गिर पड़ा ॥१३९॥

तदनन्तर पुरोहित जिस-जिस ब्राह्मण को उसके पास लाता उसे माधव किसी विशेष कारण से अयोग्य बता देता ॥१४०॥

यह देखकर माधव के पास बैठा हुआ उसका साथी एक धूर्त उस पुरोहित से बोला—'इनको साधारण ब्राह्मण पसन्द नहीं आते। इसलिए शिप्रा नदी के किनारे शिव नाम का एक ब्राह्मण आजकल रहता है। यह इन्हें भाता है या नहीं देखो।' यह सुनकर दुःखी मुँह बनाकर माधव पुरोहित से बोला—'हाँ हाँ कृपा करके उसी ब्राह्मण को ले आओ। उसके समान ब्राह्मण दूसरा नहीं है' ॥१४१—१४३॥

माधव से इस प्रकार कहा गया राजपुरोहित शिव के पास गया और वहाँ उसने शिव को कपट ध्यान-मुद्रा में निश्चल बैठा देखा ॥१४४॥

यह देखकर पुरोहित उसकी प्रदक्षिणा करके उसके आगे नम्र होकर बैठ गया। उस धूर्त शिव ने भी धीरे-धीरे आँखें खोलकर उसकी ओर देखा ॥१४५॥

तब पुरोहित ने झुककर प्रणाम किया और कहा—'हे प्रभु, यदि आप क्रोध न करें, तो कुछ निवेदन करूँ' ॥१४६॥

पुरोहित से यह सुनकर शिव ने अपने ओठों को उठाकर संकेत करते हुए उसे कहने की आज्ञा दी। तदनन्तर पुरोहित इस प्रकार कहने लगा—॥१४७॥

इह स्थितो वादिशास्त्रो राजपुत्रो महाधनः।
माधवाख्यः स चास्त्वस्य सर्वस्वं वाञ्छयुक्त ॥१४८॥
मन्यसे यदि तत्तुभ्यं स सर्वं तत्प्रयच्छति।
मानानर्घमहारत्नमयालङ्करणोज्ज्वलम् ॥१४९॥
तच्छ्रुत्वा स शनैर्मुक्तमौनः किल शिवोऽब्रवीत्।
ब्रह्मन्! भिक्षाशनस्यार्थैः कोऽर्थो मे ब्रह्मचारिणः ॥१५ ॥
ततः पुरोहितोऽप्येवं स त पुनरभाषत।
मैवं वादीर्महाब्रह्मन्! किं न वेत्स्याश्रमक्रमम् ॥१५१॥
कृतदारो गृहे कुर्वन्नेवपित्र्यविधिक्रियाः।
धनस्त्रिवर्गं प्राप्नोति गृही ह्याश्रमिणां वरः ॥१५२॥
ततः सोऽपि शिवोऽवादीत् कुतो मे दारसङ्ग्रहः।
नाहं परिणेष्यामि कुलाद्यादृशतादृशात् ॥१५३॥
तच्छ्रुत्वा सुलभोऽयं च मत्वा तस्य तथा मनम्।
स प्राप्तावसरो लुब्धः पुरोधास्तममाषत ॥१५४॥
अस्ति तर्हि सुता कन्या विनयस्वामिनीति मे।
अतिरूपवती सा च तां च तुभ्यं ददाम्यहम् ॥१५५॥
यच्च प्रतिग्रहधनं तस्मात् प्राप्नोषि माधवात्।
तदहं तव रक्षामि तद्भजस्व गृहाश्रमम् ॥१५६॥
इत्याकर्ण्य स सम्पन्नयथेष्टार्थः शिवोऽब्रवीत्।
ब्रह्मन् ग्रहस्तवाय चास्त्करोमि वचस्तव ॥१५७॥
हेमरत्नस्वरूपे तु मुग्ध एवास्मि तापसः।
त्वद्वाचैव प्रवर्तेऽहं यथा वेत्सि तथा कुरु ॥१५८॥
एतच्छिववचः श्रुत्वा परितुष्टस्तथेति तम्।
मूढो निनाय गेहं स्वं तथैव स पुरोहितः ॥१५९॥
सन्निवेश्य च तत्र शिवाख्यमशिवं ततः।
मवाद्धत शशंसैतन्माधवायाभिनन्दते ॥१६ ॥
ददौ च ददौ तस्मै सुतां कलशाविवर्धिताम्।
निजां शिवाय सम्पत्तिमिव मूढत्वहारिताम्[१] ॥१६१॥

---

१ स्वमूर्खतया अपहारितामिति भावः।

'दक्षिण देश का एक महाधनी माधव नाम का राजकुमार यहाँ उज्जैन में ठहरा है। वह असमर्थ है और अपना सर्वस्व दान करना चाहता है। यदि आप स्वीकार करें, तो वह सब आपको ही देना चाहता है। उसके पास अनेक प्रकार के रत्न-जटित आभूषण हैं' ॥१४८–१४९॥

पुरोहित की यह बात सुनकर वह धूर्त शिव धीरे-धीरे मौन छोड़कर बोला 'महाराज! भिक्षामात्र से जीवित रहनेवाले मुझ ब्राह्मण को धन से क्या प्रयोजन? ॥१५०॥

तब वह पुरोहित फिर बोला—'हे ब्राह्मण देवता! ऐसा न कहो। क्या तुम आश्रमों का क्रम नहीं जानते? अर्थात् अब तुम्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना है जिसमें धन की ही आवश्यकता पड़ेगी।१५१॥

विवाह के उपरान्त मनुष्य देवता पितर और अतिथियों की सेवा करके धर्म अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों को प्राप्त करता है क्योंकि गृहस्थी ही चारों आश्रमों में श्रेष्ठ है' ॥१५२॥

तब वह शिव बोला—'मेरा विवाह कहाँ हो सकता है। मैं ऐसे-वैसे साधारण कुल से विवाह न करूँगा' ॥१५३॥

यह सुनकर और राजकुमार की ओर से दान दिये जानेवाले धन को जीवन-भर सुख मानने के लिए पर्याप्त समझकर लालची पुरोहित अवसर पाकर शिव से बोला—'यदि ऐसा आपका निश्चय है तो मेरी विनयस्वामिनी नाम की अत्यन्त सुन्दरी कन्या है। उसे मैं दान करके तुम्हें दे दूँगा और माधव द्वारा दान से जो धन तुम्हें मिलेगा उसे मैं सुरक्षित रखूँगा। इसलिए तुम अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो' ॥१५४–१५६॥

यह सुनकर और अपनी योजना को पूर्ण रूप से सफल होते देखकर धूर्त शिव ने कहा—'हे ब्राह्मणदेव! यदि तुम्हारा यही आग्रह है, तो मैं तुम्हारी बात मान लेता हूँ। रत्न और सोना आदि धन के सम्बन्ध में तो मैं तपस्वी मूर्ख ही हूँ किन्तु तुम्हारे आग्रह से मैं तैयार हो जाता हूँ जैसा उचित समझो करो' ॥१५७-१५८॥

इस प्रकार शिव की बातें सुनकर प्रसन्न पुरोहित उस अशिव (अकल्याण) शिव को वैसे ही अपने घर ले गया॥१५९॥

शिव को बैठाकर उसके साथ जो कुछ वार्तालाप हुआ था वह सब पुरोहित ने माधव से कहा। माधव ने भी उसकी पर्याप्त प्रशंसा की॥१६०॥

उसी समय बड़े कष्ट से पाली हुई कन्या पुरोहित ने लाकर शिव को समर्पित कर दी मानों जीवन-भर की अपनी कमाई उसने अपनी मूर्खता से गँवा दी॥१६१॥

कृतोग्राहः तृतीयेऽह्नि प्रतिग्रहकृते च तम्।
निनाय व्याजमन्त्रस्य[1] माधवस्य ततोऽन्तिकम् ॥१६२॥
अतर्क्यतपसं वन्दे स्वामिन्नित्यभितश्च वदन्।
माधवोऽप्यपतत्तस्य शिवस्योत्थाय पादयोः ॥१६३॥
ददौ च तस्मै विधिवत् कोषागारात्समाहृतम्।
भूरिकृत्रिममाणिक्यमयाभरणभाण्डकम् ॥१६४॥
शिवोऽपि प्रतिगृह्यैतत्तस्य हस्ते पुरोधसः।
नाहं वेद्मि त्वमेवैतद् वेत्सीत्युक्त्वा समर्पयत् ॥१६५॥
अङ्गीकृतमिदं पूर्वं मया चिन्ता तवात्र का।
इत्युक्त्वा तच्च जग्राह तत्क्षणं स पुरोहितः ॥१६६॥
कृत्वाशिषमितो याते स्वयम्भूवासकं शिवे।
नीत्वा स स्थापयामास सन्निजे कोषवेश्मनि ॥१६७॥
माधवोऽपि तदन्यद्युर्मान्द्यव्याजं शनैस्त्यजन्।
रोगोपशान्तिं वक्ति स्म महादानप्रभावतः ॥१६८॥
त्वया धर्मसहायेन समुत्तीर्णोऽस्म्यापदः।
इति शान्तिकमायान्तं प्रशशंस पुरोहितम् ॥१६९॥
एतत्प्रभावादेतन्मे शरीरमिति कीर्तयन्।
प्रकाशमेव चक्रे च शिवेन सह मित्रताम् ॥१७०॥
शिवोऽपि यातेषु दिनेष्ववादीत्तं पुरोहितम्।
एवमेव भवद्गेहे भोक्ष्यते च कियन्मया ॥१७१॥
तत्किं त्वमेव मूल्येन गृहाणास्याभरणं न सत्।
महार्घमिति चेन्मूल्यं यथासम्भवि देहि मे ॥१७२॥
तच्छ्रुत्वा तमनर्घं च मत्वा तन्निष्क्रयं ददौ।
तथेति तस्मै सर्वस्वं शिवाय स पुरोहितः ॥१७३॥
तदर्थं च स्वहस्तेन जीवस्वमधारयत्।
स्वयं चाप्यकरोद् युक्त्या तद्धनं स्वधनाधिकम् ॥१७४॥
अन्योन्यलिखितं हस्ते गृहीत्वा स पुरोहितः।
पृथगासीत्पृथक्सोऽपि शिवो भेजे गृहस्थितिम् ॥१७५॥

---

१ मृषा रोगव्याजं कृतवतः।

विवाह होने के तीसरे दिन पुरोहित शिव को कपट से बीमार बने हुए माधव के पास ले गया ॥१६२॥

अद्भुत तप करनेवाले आपको प्रणाम करता हूँ"—इन शब्दों से माधव ने शिव का अभिवादन करके और उठकर उसके चरणों का स्पर्श किया ॥१६३॥

और पुरोहित ने स्वयं खजाने से निकालकर नकली माणिक आदि रत्नों के आभूषणों और रत्नों से भरी हुई पेटी उसे दे दी ॥१६४॥

शिव ने भी उसे लेकर पुनः पुरोहित को सौंप दिया और पुरोहित ने भी यह कहकर उसे ले लिया कि 'यह तो मैंने पहले ही स्वीकार कर लिया है तुम्हें इसकी क्या चिन्ता है' इस प्रकार आशीर्वाद देकर शिव के अपने शयनागार में चले जाने पर पुरोहित ने उस रत्नपेटी को तुरन्त अपने खजाने में रख दिया ॥१६५ १६७॥

दूसरे दिन माधव भी अपनी दुर्बलता को छोड़कर महादान के प्रभाव से स्वस्थ होने का ढोंग रचने लगा ॥१६८॥

'तुमने मेरे धर्म-कार्य में सहायता देकर मेरा बहुत बड़ा उपकार किया'—इस प्रकार पास में आये हुये पुरोहित की प्रशंसा करने लगा ॥१६९॥

'शिव जैसे तपस्वी के प्रभाव से मेरा शरीर स्वस्थ हो गया। मैं बच गया' इस प्रकार कहकर उसने शिव के साथ प्रकट रूप से मित्रता कर ली ॥१७ ॥

कुछ दिनों के पश्चात् शिव ने भी पुरोहित से कहा—'मैं इस प्रकार कितने दिनों तक तुम्हारे यहाँ भोजन करता रहूँगा इसलिए तुम ही दान में दिये माल का मूल्य चुकाकर उन आभूषणों और रत्नों को क्यों नहीं ले लेते। यदि माल अधिक द्रव्य का हो तो यथासंभव इस समय जो दे सकते हो वही देदो' ॥१७१॥-॥१७२॥

यह सुनकर और उस माल को बहुमूल्य या अमूल्य समझकर पुरोहित ने उस माल का कुछ मूल्य दे दिया ॥१७३॥

और इसकी दृढ़ता के लिए शिव से हस्ताक्षर कराकर उसका प्रमाण-पत्र भी राज-पुरोहित ने ले लिया। इस प्रकार, पुरोहित ने उसके धन से अपने धन को बढ़ा लिया ॥१७४॥

इसी प्रकार दोनों ने परस्पर लिखित रूप से धन ले-देकर प्रमाणपत्र लिख दिये और अलग-अलग हो गये। शिव ने भी अपना अलग घर बसा लिया ॥१७५॥

ततश्च स शिवः सोऽपि माधवः सङ्गतावुभौ ।
पुरोहितार्थान् भुञ्जानौ यथेच्छं तत्र तस्थतुः ॥१७६॥
गते काले च मूल्यार्थी स पुरोधाः किलापणम् ।
ततोऽलङ्कारमादाय विक्रेतुं कटकं ययौ ॥१७७॥
तत्रतद्रत्नतत्त्वज्ञाः परीक्ष्य वणिजोऽब्रुवन् ।
अहो कस्यास्ति विज्ञानं येनैतत्कृत्रिमं कृतम् ॥१७८॥
काचस्फटिकखण्डा हि नाना रागोपरञ्जिताः ।
रीतिबद्धा[1] इमे नैते मणयो न च काञ्चनम् ॥१७९॥
तच्छ्रुत्वा विह्वलो गत्वा स पुरोधास्तथैव तत् ।
आनीयाभरणं गेहात् कृत्स्नं तेषामदर्शयत् ॥१८०॥
ते दृष्ट्वा तद्वदेवास्य सर्वं कृत्रिममेव तत् ।
ऊचिरे च स तच्छ्रुत्वा वज्राहत इवाभवत् ॥१८१॥
ततश्च गत्वा तत्कालं स मूढः शिवमभ्यधात् ।
गृहाण स्वानलङ्कारांस्त्वं मे देहि निजं धनम् ॥१८२॥
कुतो ममाद्यापि धनं तद्व्ययितं गृहे मया ।
कालेन भुक्तमिति तं शिवोऽपि प्रत्यभाषत ॥१८३॥
ततो विवदमानौ तौ पार्श्वावस्थितमाधवम् ।
पुरोधाश्च शिवश्चोभौ राजानमुपजग्मतुः ॥१८४॥
काचस्फटिकयोः खण्डै रीतिबद्धैः सुरञ्जितैः ।
रचितं देव तत्रैव व्याजालङ्करणं महत् ॥१८५॥
शिवेन मम सर्वस्वमजानानस्य भक्षितम् ।
इति विज्ञापयामास नृपतिं स पुरोहितः ॥१८६॥
ततः शिवोऽब्रवीद्राजन् बाल्यात्तापसोऽभवम् ।
अनेनैव तदभ्यर्थ्य ग्राहितोऽहं प्रतिग्रहम् ॥१८७॥
तदैव भाषितं चास्य मुग्धेनापि सता मया ।
रत्नादिष्वनभिज्ञस्य प्रमाणं मे भवानिति ॥१८८॥
अहं स्थितस्तवामति प्रत्ययादिति च तत् ।
प्रतिगृह्य च तत्सर्वं हस्तेऽस्यैव मयार्पितम् ॥१८९॥

---

१ रीतिः पित्तलम् तस्मिन् बद्धाः—खचिताः ।

इसने अपने इच्छानुसार ही उसका मूल्य देकर यह भूखण्ड खरीद लिया। इस विषय में इन दोनों के क्रय-विक्रय-सम्बन्धी लिखित प्रमाण भी सुरक्षित हैं॥१९ ॥

अब क्या करना चाहिए, यह आप स्वयं जानते हैं। ऐसा कहकर मित्र के चुप हो जाने पर पुरोहित से माधव कहने लगा—'ऐसा न कहो। मेरा इसमें क्या अपराध है। न मैंने तुम्हारा कुछ लिया है और न मित्र का॥१९१ १ ३॥

यह मेरा पैतृक धन यहीं श्मशान में रखा था। मैंने उसे लाकर पुरोहित को दे दिया। और पुनः उसी के स्थान पर मैंने ब्राह्मण को दान दे दिया। यदि यह अपनी आभूषण नहीं है तो मुझे सीसा और पीतल के दान देने का क्या काम होगा॥१ ४॥

मैंने निष्कपट भाव से दान दिया और परिणामस्वरूप तत्काल ही भीषण रोग से छुटकारा भी पा गया। इसलिए मुझे तो अपने दान पर पूरा विश्वास है'॥१९५॥

इस प्रकार अपनी मुखमुद्रा को बिना किसी रूप में विकृत किये स्वाभाविक रूप से माधव के कहने पर मंत्रियों के साथ राजा हँसने लगा॥१ ६॥

तब सभी सभासदों ने मन ही मन मुस्काते हुए कहा कि 'इसमें माधव या मित्र का कोई अपराध नहीं है'। सच है, अत्यन्त लोभ से अन्धा हो जाना किसके लिए विपत्ति का कारण नहीं होता है॥१९७॥

तदनन्तर वह पुरोहित अपना धन गँवाकर राज-दरबार में भी हँसी का पात्र बनकर अत्यन्त लज्जित होकर अपने घर आ गया॥१ ८॥

वे दोनों धूर्त मित्र और माधव प्रसन्न राजा की कृपा से आनन्द लेते हुए यहीं उज्जयिनी में आनन्दपूर्वक रहने लगे॥१ ९॥

इस प्रकार इस कथा को सुनाकर राजकुमारी ने अपने पिता से कहा कि 'इसी प्रकार इस पृथ्वी पर ग्राम (नगर) में सीधेसादे धूर्त अपनी जिह्वा के जाल बुनते रहते हैं जिसमें सरल-हृदय मनुष्य मछलियों के समान फँसते रहते हैं॥२ ॥

इसी प्रकार 'मैंने [illegible]पुरी देखी है'—ऐसा कहकर यह धूर्त ब्राह्मण तुम्हें ठगकर सुख और युवराज-पद को प्राप्त करना चाहता है॥२ १॥

इसलिए मेरे विवाह के लिए तुम्हें शीघ्रता न करनी चाहिए। अभी मैं कुमारी अवस्था में ही हूँ। देखती हूँ क्या होता है॥२ २॥

कन्या कनकरेखा के इस प्रकार कहने पर राजा परोपकारी कहने लगा—'बेटी युवावस्था में अधिक समय तक कन्या बना रहना उचित नहीं है। गुणों से द्वेष करनेवाले स्वार्थी व्यक्ति मिथ्या दोष लगा देते हैं॥२ १ २ ४॥

उत्तमस्य विशेषेण कलङ्कोत्पादको जनः।
हरस्वामिकथामत्र शृण्वेतां कथयामि ते॥२ ५॥

हरस्वामिनः कथा

गङ्गोपकण्ठे कुसुमपुरं नामास्ति सत्पुरम्।
हरस्वामीति कोऽप्यासीत्तीर्थार्थी तत्र तापसः॥२ ६॥
स भैक्षवृत्तिर्विप्रोऽत्र गङ्गातीरे कृतोटजः।
तपःप्रकर्षाल्लोकस्य गौरवास्पदतां ययौ॥२ ७॥
कदाचिच्चाथ तं दृष्ट्वा दूराद् भिक्षाविनिर्गतम्।
जनमध्ये जगादैकस्तद्गुणासहनः खलः॥२ ८॥
अपि जानीथ जातोऽयं कीदृक्कपटतापसः।
अनेनैवार्भकाः सर्वे नगरेऽमुत्र भक्षिताः॥२ ९॥
तच्छ्रुत्वा च द्वितीयोऽत्र तथैवोचत तादृशः।
सत्यं श्रुतं मयाप्येतदुच्यमानं जनैरिति॥२१ ॥
एवमेतदिति स्माह तृतीयोऽपि समर्थयन्।
बध्नात्यार्यपरीवादं खलसंवादशृङ्खला॥२११॥
तेनैव च क्रमेणायं गतः कर्णपरम्पराम्।
प्रवादो बहुलीभावं सर्वत्रात्र पुरे ययौ॥२१२॥
पौराश्च सर्वे गेहेभ्यो बलाद् बालान्न तत्यजुः।
हरस्वामी शिशून् नीत्वा भक्षयत्यखिलानिति॥२१३॥
ततश्च ब्राह्मणास्तत्र सन्ततिक्षयभीरवः।
सम्भूय मन्त्रयामासुः पुरात्तस्य प्रवासनम्॥२१४॥
ग्रसेत कुपितः सोऽस्मानिति साक्षाद् भयान्न ते।
यदा तस्यावदन् वक्तुं दूतान् विससृजुस्तदा॥२१५॥
ते च गत्वा तथा दूता दूरादेव तमब्रुवन्।
नगराद् गम्यतामस्मादित्याहुस्त्वां द्विजातयः॥२१६॥
किं निमित्तमिति प्रोक्ता विस्मितेनाथ तेन ते।
पुनरूचुस्त्वमश्नासि बालान्दर्शमिहेति तम्॥२१७॥
तच्छ्रुत्वा स हरस्वामी स्वयं प्रत्यायनेच्छया।
विप्राणां निकटं तेषां भीतिनश्यज्जनो ययौ॥२१८॥

विशेषकर सज्जन व्यक्तियों को तो अधिकतर झूठे ही कलंकित कर देते हैं। इस प्रसंग में मैं तुम्हें हरस्वामी की एक कथा सुनाता हूँ सुनो' ॥२०५॥

हरस्वामी की कथा

गंगा के तट पर कुसुमपुर[1] नाम का जो नगर है उसमें हरस्वामी नाम का एक तपस्वी तीर्थ-यात्री रहता था ॥२०६॥

वह भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करता हुआ वहीं पर्णकुटी बनाकर रहता था। वह अपनी कठोर तपस्या के प्रभाव से जनता के सम्मान एवं श्रद्धा का भाजन बन गया ॥२०७॥

एकबार भिक्षा के लिए निकले हुए उस दूर से देखकर उससे ईर्ष्या करनेवाले एक दुष्ट ने लोगों के सम्मुख कहा— ॥२०८॥

क्या आप लोग जानते हैं कि यह कैसा कपटी तपस्वी है। इसी ने इस नगर के सभी बच्चों को खा डाला' ॥२०९॥

यह सुनकर उसी के समान एक दूसरा मनुष्य बोला— सच है, मैंने भी लोगों को ऐसा कहते हुए सुना है' ॥२१०॥

यह ठीक है' इन शब्दों से एक तीसरे ने भी उसका समर्थन किया। कारण यह है कि दुष्टों की चर्चा सज्जन व्यक्तियों की निन्दा की कड़ी बाँध देती है ॥२११॥

इसी क्रम से यह चर्चा (अफवाह) सारे नगर में फैल गई। फलतः उसने व्यापक रूप धारण कर लिया ॥२१२॥

नगरनिवासी अब अपने बच्चों को घरों से निकलने नहीं देते थे कि हरस्वामी बच्चों को ले जाकर खा जाता है ॥२१३॥

तब नगर के ब्राह्मणों ने बच्चों के वध से डरकर एक गोष्ठी[2] करके निश्चय किया कि जिससे हरस्वामी को नगर से निकाल दिया जाय ॥२१४॥

यह निश्चय करके भी भयभीत ब्राह्मण उससे स्पष्ट रूप से यह कहने में डरने लगे कि कहीं वह हम लोगों को ही न खा जाय। इसलिए दूतों के द्वारा वे ब्राह्मण उसके पास सन्देश भेजने लगे। वे दूत दूर से ही उस हरस्वामी से कहने लगे कि 'तुम इस नगर से बाहर चले जाओ। ऐसा तुम्हें ब्राह्मणों ने कहलाया है' ॥२१५-२१६॥

आश्चर्यचकित हरस्वामी के यह पूछने पर कि 'किस कारण मुझे निकाला जा रहा है दूतों ने उत्तर दिया कि 'तुम यहाँ छोटे बच्चों को खा जाते हो' ॥२१७॥

यह सुनकर वह स्वयं विश्वास दिलाने के लिए ब्राह्मणों के पास गया जब कि उसके भय से वे लोग दूर भाग रहे थे ॥२१८॥

---

१ कुसुमपुर — फूलों का नगर, आधुनिक पटना नगर।

२ गोष्ठी—सभा समिति (Meeting)।

विप्रास्तमारुरुक्षुस्त्रासात्ते दुद्रुवुश्च मठोपरि।
प्रवादमोहितः प्रायो न विचारक्षमो जनः ॥२१९॥
अथ द्विजान् हरस्वामी तानेकैकमथ स्थितः।
नामग्राहं समाहूय स जगादोपरि स्थितान् ॥२२०॥
कोऽयं मोहोऽद्य वो विप्रा नावेक्षध्वं परस्परम्।
कियन्तो बालकाः कस्य मया कुत्र च भक्षिताः ॥२२१॥
तच्छ्रुत्वा यावदन्योन्यं विप्राः परिमृशन्ति ते।
तावत्सर्वेऽपि सर्वेषां जीवन्तो बालकाः स्थिताः ॥२२२॥
क्रमाभियुक्ताश्चान्येऽपि पौरास्तत्र तथैव तत्।
प्रत्यपद्यन्त सर्वेऽपि सविप्रवणिजोऽब्रुवन् ॥२२३॥
अहो विमूढैरस्माभिः साधुर्मिथ्यैव दूषितः।
जीवन्ति बालाः सर्वेषां तत्कस्यानेन भक्षिताः ॥२२४॥
इत्युक्तवत्सु सर्वेषु हरस्वामी तथैव सः।
सम्पन्नशुद्धिर्नगराद् गन्तुं प्रववृते ततः ॥२२५॥
दुर्जनोत्पादितावद्यविरक्तीकृतचेतसा ।
अविवेकिनि दुर्देशे रतिः का हि मनस्विनः ॥२२६॥
ततो वणिग्भिर्विप्रैश्च प्रार्थितश्चरणानतैः।
कथञ्चित् स हरस्वामी तत्र वस्तुममन्यत ॥२२७॥
इत्थं सच्चरितावलोकनलसद्विद्वेषवाचालिता
मिथ्यादूषणमेवमेव ददति प्रायः सतां दुर्जनाः।
किञ्चित्सिक्त पुनराप्नुवन्ति यदि ते तत्रावकाशं मनाग्
प्रष्टु तज्ज्वलितेऽनले निपतितः प्राज्याज्यधारोत्करः ॥२२८॥
तस्माद् विशल्यमितुमिच्छसि मां यदि त्वं
वत्से ! तनुमिवति नूतनयौवनेऽस्मिन्।
न स्वेच्छमर्हसि चिरं खलु कन्यकात्वम्
मासवितुं सुलभकुजनदुष्प्रवादम् ॥२२९॥
इत्युक्ता नरपतिना पित्रा प्रायेण कनकरेखा सा।
निजगाद राजतनया तदवस्थितमिच्छया भूयः ॥२३ ॥
दृष्टा कनकपुरी सा विप्रेण क्षत्रियेण वा येन।
तर्हि तमाशु गवेषय तस्मै मां देहि भाषितं हि मया ॥२३१॥

उसे आते देखकर वे ब्राह्मण मठ के ऊपर भाग गये। सच है, भयकारी से भीत व्यक्तियों में विचार करने का सामर्थ्य नहीं होता॥२१९॥

यह देखकर नीचे ही खड़े हरस्वामी ने मठ के ऊपर खड़े हुए ब्राह्मणों में से एक-एक का नाम लेकर बुलाया और कहा॥२२ ॥

अरे ब्राह्मणो! यह क्या मूर्खता तुममें आ गई है। क्या तुम परस्पर नहीं देख रहे हो कि मैंने कितने बच्चे कहाँ खाये? ॥२२१॥

यह सुनकर जब सभी जाँच करने लगे तब देखा कि सभी के बच्चे जागते खेल रहे हैं॥२२२॥

तब सभी ब्राह्मण और बनिये विश्वस्त हुए और हरस्वामी की बात सच मानकर देखने लगे कि सभी के बालक जीवित हैं। तब वे कहने लगे कि 'हमने मूर्ख ही बेचारे तपस्वी को दूषित किया सभी के बच्चे तो जीवित हैं। तब किसके बच्चे इसने खाये? ॥२२३-२२४॥

जब सभी एकस्वर से इस प्रकार कहने लगे तब निष्कलंक हरस्वामी उस नगर से जाने को उद्यत हुआ क्योंकि पहले उठाई गई अपनी निन्दा से उसका मन विरक्त हो गया था॥२२५॥

स्वतन्त्र विचारवाले मनस्वी का दुष्ट देश में रहने वाले विचारहीनों के साथ प्रेम कैसे हो सकता है? तदनन्तर चरणों में गिरे हुए ब्राह्मणों और बनियों के प्रार्थना करने पर किसी प्रकार हरस्वामी ने वहाँ रहना स्वीकार किया॥२२६-२२७॥

इस प्रकार सज्जनों के सच्चरित्रों को देखकर जलते हुए तथा उनकी नाना प्रकार से निन्दा करते हुए दुष्टजन सज्जनों को प्रायः झूठे कलंक लगा देते हैं। यदि उन्हें सचमुच ही कोई छोटा-सा भी अवसर मिल जाय तो वह उसके लिए जलती हुई आग में घी का-सा काम करता है॥२२८॥

इसलिए हे बेटी यदि तू मेरे हृदय का काँटा निकालकर मुझे स्वस्थ देखना चाहती है, *तो इस उमड़ते हुए नव यौवन में अपनी इच्छा से कुमारी नहीं रह सकती। यह दुष्ट लोगों के लिए* निन्दा करने का सुलभ अवसर है'॥२२९॥

राजा से इस प्रकार कही गई कनकरेखा अपने दृढ़ निश्चय के साथ फिर राजा से बोली कि 'जिस ब्राह्मण या क्षत्रिय युवक ने वह कनकपुरी देखी हो उसे शीघ्र ढूँढो और मुझे उसके लिए दान कर दो। यह मैंने पहले ही कह दिया है'॥२३०-२३१॥

तच्छ्रुत्वा दृढनिश्चयां विगणयञ्जातिस्मरां तां सुताम्
नास्याश्चायमभीष्टमर्थघटने पश्यन्नुपायक्रमम् ।
देशे तत्र ततः प्रभृत्यनुदिनं प्रष्टुं नवागन्तुकान्
भूयो भूमिपतिः स नित्यपटहप्रोद्घोषणामादिशत् ॥२३२॥

'यो विप्रः क्षत्रियो वा ननु कनकपुरीं दृष्टवान्सोऽभिधत्तां
तस्मै राजा किल स्वां वितरति तनयां यौवराज्येन साकम्' ।
सर्वत्राघोष्यतैव पुनरपि पटहानन्तरं यावदत्र
न त्वेकः कोऽपि तावत्कृतकनकपुरीदर्शनो लभ्यते स्म ॥२३३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
चतुर्दारिकालम्बके प्रथमस्तरङ्गः ।

द्वितीयस्तरङ्गः

कनकपुरीदर्शनार्थं शक्तिदेवस्य प्रस्थानम्

अथान्तरे द्विजयुवा शक्तिदेवः स दुर्मनाः ।
अचिन्तयदभिप्रेतराजकन्यावमानितः ॥१॥

मयेह मिथ्याकनकपुरीदर्शनवादिना ।
विमानना परं प्राप्ता न त्वसौ राजकन्यका ॥२॥

तदेतत्प्राप्तये तावद् भ्रमणीया मही मया ।
यावत्सा नगरी दृष्टा प्राणैर्वापि गतं मम ॥३॥

तां हि दृष्ट्वा पुरीमेत्य तत्पणोपार्जितां न चेत् ।
लभेय राजतनयाममुं किं जीवितेन तत् ॥४॥

एवं कृतप्रतिज्ञः सन् वर्धमानपुरात्ततः ।
दक्षिणां दिशमाश्रित्य स प्रतस्थे ततो द्विजः ॥५॥

क्रमाच्च गच्छन्स प्राप गोऽत्र विन्ध्यमहाटवीम् ।
विवेश च निजां वाञ्छामिव तां गहनायताम् ॥६॥

तस्यां च मारुताधूतमृदुपाटलपल्लवैः ।
वीजयन्त्यामिवात्मानं तप्यमानं करोत्करैः ॥७॥

भूरिचौरपराभूतिदुःखानीव दिवानिशम् ।
क्रोशन्त्यां तीव्रसिंहाभिहन्यमानमृगारवैः ॥८॥

राजा ने पूर्वजन्म का स्मरण करनेवाली उस कन्या को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ देखकर और उसके मनानुकूल वर मिलने में कोई दूसरा उपाय न देखकर अपने देश में आये हुए यात्रियों के लिए प्रतिदिन इसी प्रकार का ढिंढोरा पीटने की आज्ञा दे दी ॥२१२॥

'जिस ब्राह्मण या क्षत्रिय युवक ने कनकपुरी देखी हो वह बतावे राजा उसे युवराज-पद के साथ अपनी कन्या देंगे'। इस प्रकार नक्कारे से सभी जगह घोषणा होने लगी किन्तु कनकपुरी देखा हुआ एक व्यक्ति भी नहीं मिल पाया ॥२१३॥

प्रथम तरंग समाप्त

द्वितीय तरंग

शक्तिदेव का कनकपुरी देखने के लिए जाना

इसी बीच चाही हुई राजकन्या द्वारा अपमानित अतएव दुःखित वह युवक ब्राह्मण शक्ति-देव सोचने लगा ॥१॥

'कनकपुरी मैंने देखी है'—इस प्रकार झूठ बोलकर मैंने उस राजकन्या के बदले अत्यन्त अपमान प्राप्त किया है ॥२॥

अत उस राजकन्या की प्राप्ति के लिए मुझे तबतक सारी पृथ्वी का चक्कर काटना पड़ेगा जबतक मैं उस नगरी को न देख लूँ या प्राणों का त्याग न कर दूँ ॥३॥

उस नगरी को देखकर उसी शर्त पर मैं राजकन्या को न ब्याह लूँ, तो मेरे इस जीवन से ही क्या लाभ है ? ॥४॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके वह उस वर्धमान नगर से दक्षिण दिशा का मार्ग पकड़कर चल पड़ा ॥५॥

क्रमश चलते हुए उस शक्तिदेव को मार्ग में विन्ध्य नाम का महान् और घोर वन-प्रान्त मिला। वह ब्राह्मण-युवक अपनी लम्बी और दृढ़ इच्छा के समान उस महान् वनप्रान्त में प्रविष्ट हुआ ॥६॥

वायु से हिलाये गये कोमल पत्तों से वह वन अत्यन्त उष्ण सूर्य की किरणों से सन्तप्त उसके शरीर पर मानों पंखा झल रहा था ॥७॥

सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं से मारे जाते हुए मृग आदि की करुण चीत्कारों के बहाने अनेका-नेक चोर-डाकुओं के पराभव-दुःख के कारण मानो वह वन दिन-रात रोता रहता था ॥८॥

स्वच्छन्दोच्छलदुद्दाममहामरुमरीचिभिः ।
जिगीषन्त्यामिवारण्यग्राम्यपि तेजांसि भास्वतः ॥९॥
अलब्धकृतिहीनायामप्यहो सुलभापदि ।
सततोल्लङ्घ्यमानायामपि दूरीभवद्भुवि ॥१ ॥
दिवसैर्दूरमध्वानमतिक्रम्य ददर्श सः ।
एकान्ते शीतलस्वच्छसलिलं सुमहत्सरः ॥११॥
पुण्डरीकोच्छ्रितच्छत्रं प्रोल्लसद्धंसचामरम् ।
कुर्वाणमिव सर्वेषां सरसामधिराजताम् ॥१२॥
तस्मिन्स्नानादि कृत्वा च तत्पार्श्वे पुनरुत्तरे ।
अपश्यदाश्रमपदं सफलस्निग्धपादपम् ॥१३॥
तत्राश्वत्थतरोर्मूले निषण्णं तापसैर्वृतम् ।
स सूर्यतपसं नाम स्थविरं मुनिमैक्षत ॥१४॥
स्ववयोऽब्दशतग्रन्थिसंख्ययेवाक्षमालया ।
जराधवलकर्णाग्रसंस्थितया विराजितम् ॥१५॥
प्रणामपूर्वकं तं च मुनिमभ्याजगाम सः ।
तेनाप्यतिथिसत्कारैर्मुनिना सोऽभ्यनन्द्यत ॥१६॥
अपृच्छ्यत च तेनैव सविभज्य फलादिभिः ।
कुतः प्राप्तोऽसि गन्तासि क्व च भद्रोच्यतामिति ॥१७॥
वर्धमानपुरात्तावद् भगवन्नहमागतः ।
गन्तुं प्रवृत्तः कनकपुरीमस्मि प्रतिज्ञया ॥१८॥
न जाने क्व भवेत्सा तु भगवान्वक्तु वेत्ति चेत् ।
इति तं शक्तिदेवोऽपि स प्रह्वो मुनिमभ्यधात् ॥१९॥
वत्स ! वर्षशतान्यष्टौ ममाश्रमपदे त्विह ।
अतिक्रान्तानि न च सा श्रुतापि नगरी मया ॥२ ॥
इति तेनापि मुनिना गदितः स विषादवान् ।
पुनरेवाब्रवीत्तर्हि मृतोऽस्मि क्रमां भ्रमन्निह ॥२१॥
ततः क्रमेण ज्ञातार्थः स मुनिस्तमभाषत ।
यदि ते निश्चयस्तर्हि यदहं वच्मि तत्कुरु ॥२२॥
अस्ति काम्पिल्यविषयो योजनानां शतत्त्रिते ।
त्रिषु तत्रोत्तराख्यश्च गिरिस्तत्रापि चाश्रमः ॥२३॥

स्वतन्त्रता से उछलती हुई मरुभूमि की किरणों से वह वन मानों सूर्य के उग्र तेज को जीतना चाहता था॥९॥

जल के सम्पर्क से रहित निरन्तर चलते रहने पर भी समाप्त न होनेवाले एवं पग-पग पर विपत्तियों से भरे लम्बे रास्तोंवाले उस वन को कुछ दिनों में लाँघकर उसने एकान्त और शान्त स्थान में शीतल और स्वच्छ जल से भरे हुए एक बड़े सरोवर को देखा॥१०—११॥

उस सरोवर में खिले हुए कमल ऊपर उठे हुए छत्र के समान लग रहे थे और हंस-रूपी चँवर इधर-उधर चलायमान हो रहे थे। मानों वह सरोवर, सभी सरोवरों के राजा की शोभा धारण कर रहा हो॥१२॥

धनिकदेव ने उसमें स्नान आदि किया और तत्पश्चात् उसने उस सरोवर के उत्तर की ओर सफल एवं सघन वृक्षों से भरे हुए आश्रम-स्थल को देखा। उसमें एक पीपल-वृक्ष के नीचे अनेक तपस्वियों से घिरे हुए सूर्यतपा नामक ऋषि को देखा। वह ऋषि अपनी अवस्था के सौ वर्षों के समान मानों सौ गाँठों से गूँथी हुई एवं वृद्धावस्था से श्वेत कनपटी में लटकती हुई स्फटिक की माला से शोभित हो रहा था॥१३—१५॥

वह धनिकदेव प्रणाम करके उस मुनि के समीप गया और मुनि ने भी अतिथि-सत्कार करते हुए उसका स्वागत किया॥१६॥

मुनि ने भोजन के लिए फल आदि देकर उससे पूछा—हे भद्र कहाँ से आये हो और कहाँ जाओगे बताओ॥१७॥

'भगवन्! मैं वर्धमान नगर से आया हूँ और प्रतिज्ञा करके कनकपुरी जाने के लिए उद्यत हूँ॥१८॥

पता नहीं वह नगरी कहाँ है यदि आप जानते हो तो कृपाकर कहें। इस प्रकार नम्रता पूर्वक धनिकदेव ने मुनि से कहा॥१९॥

बेटा मुझे इस आश्रम स्थान में एक सौ आठ वर्ष व्यतीत हो गये। आज तक मैंने कनकपुरी का नाम भी नहीं सुना। इस प्रकार मुनि से कहा गया धनिकदेव अत्यन्त निराश और दुःखी हुआ॥२०॥

तब फिर वह बोला—'यदि ऐसा है तो मैं इस पृथ्वी पर घूमते-घूमते मर जाऊँगा। अथवा उसकी सारी बातें सुनकर मुनि उससे बोला—'यदि तुम्हारा यह निश्चय है, तो मैं तुमसे कहता हूँ सुनो।' यहाँ से तीन सौ योजन (अर्थात् बारह सौ कोस) पर काम्पिल्य नाम का नगर है। वहाँ पर उत्तर नाम का पर्वत है उसमें एक आश्रम है॥२१—२३॥

तत्रार्योऽस्ति मम भ्राता ज्येष्ठो दीर्घतपा इति।
तत्पार्श्वं व्रज जानीयात्स वृद्धो जातु तां पुरीम् ॥२४॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा यातास्थस्तत्र तां निशाम्।
नीत्वा प्रतस्थे स प्रात शक्तिदेवो द्रुत तत ॥२५॥
कृच्छ्रान्निक्रान्तकान्तारशतश्चासाद्य त चिरात्।
काम्पिल्यविषय तस्मिन्नारुरोहोत्तरे गिरौ ॥२६॥
तत्र त दीर्घतपस मुनिमाश्रमवर्तिनम्।
दृष्ट्वा प्रणम्य च प्रीत कृतातिथ्यमुपाययौ ॥२७॥
व्यजिज्ञपच्च कनकपुरीं राजसुतोदिताम्।
प्रस्थितोऽहं न जानामि भगवन्क्वास्ति सा पुरी ॥२८॥
सा च मेऽवश्य गन्तव्या सतस्तदुपलब्धये।
ऋषिणा सूर्यतपसा प्रेषितोऽस्मि तवान्तिकम् ॥२९॥
इत्युक्तवन्त स शक्तिदेव सोऽप्यब्रवीन्मुनि।
इयता वयसा पुत्र ! पुरी सा या श्रुता मया ॥३ ॥
देशान्तरागतै कै कैर्जात परिचयो न मे।
न च तां श्रुतवानस्मि दूरे तद्दर्शनं पुन ॥३१॥
जानाम्यहं च नियतं दवीयसि तथा क्वचित्।
भाव्य द्वीपान्तरे वत्स तत्रोपायं च वच्मि ते ॥३२॥
अस्ति वारिनिधेर्मध्ये द्वीपमुत्स्थलसंज्ञकम्।
तत्र सत्यव्रताख्योऽस्ति निषादाधिपतिर्धनी ॥३३॥
तस्य द्वीपान्तरेष्वस्ति सर्वेष्वपि गतागतम्।
तेन सा नगरी जातु भवेद्दृष्टा श्रुतापि वा ॥३४॥
तस्मात्प्रयाहि जलधेस्तटकण्ठप्रतिष्ठितम्।
नगर प्रथमं तावद् विटङ्कपुरसंज्ञकम् ॥३५॥
तत केनापि वणिजा सम प्रवहणेन तत्।
निषादस्यास्य गच्छ द्वीप तस्येष्टसिद्धये ॥३६॥
इत्युक्तस्तेन मुनिना शक्तिदेव स तत्क्षणम्।
तथेत्युक्त्वा तमामन्त्र्य प्रयाति स्म तदाश्रमात् ॥३७॥
कालेन प्राप्य चोल्लङ्घ्य देशान् क्रोशान्बहूनथ स।
वारिधेस्तीरतिलकं तद्विटङ्कपुरं परम् ॥३८॥

'वहाँ पर मेरा माननीय बड़ा भाई दीर्घतपा नाम का ऋषि है। उसके पास जाओ। वह बहुत वृद्ध है। सम्भव है वह उस पुरी को जानता हो' ॥२४॥

यह सुनकर 'ठीक है' ऐसा कहकर और मुनि की बातों में विश्वास करके शक्तिदेव ने वह रात वहीं व्यतीत की और प्रातःकाल ही काम्पिल्य नगरी की ओर शीघ्रता से चला गया ॥२५॥

अनेक कष्टों से सैकड़ों दुर्गम पथ पार करते हुए बहुत दिनों के पश्चात् वह काम्पिल्य नगर में पहुँचा और उस पर्वत पर चढ़ा ॥२६॥

वहाँ जाकर उसने आश्रम में रहनेवाले दीर्घतपा मुनि को देखा और प्रणाम करके उसके समीप गया। मुनि ने भी उसका स्वागत किया ॥२७॥

तत्पश्चात् शक्तिदेव ने राजकुमारी द्वारा बताई हुई कनकपुरी नगरी के सम्बन्ध में निवेदन किया और कहा कि मैं उसी ओर जा रहा हूँ किन्तु ज्ञात नहीं कि वह नगरी कहाँ है ॥२८॥

मुझे वहाँ अवश्य जाना है। उसका पता प्राप्त करने के लिए ही सूर्यतप ऋषि ने आपके पास मुझे भेजा है' ॥२९॥

इस प्रकार कहते हुए शक्तिदेव से मुनि ने कहा— बेटा! इतनी लम्बी अवस्था में भी मैंने आजतक इस नगरी का नाम नहीं सुना था ॥३०॥

दूर-दूर देशों से आये हुए जिन जिन से मेरा परिचय नहीं हुआ किन्तु किसी से भी यह नाम मैंने नहीं सुना। दर्शन तो दूर की बात है ॥३१॥

बेटा! मैं तो समझता हूँ कि वह दूर कहीं किसी दूसरे ही द्वीप में है। उसका उपाय तुम्हें बताता हूँ ॥३२॥

समुद्र के मध्य में उत्स्थल नाम का एक द्वीप है वहाँ पर सत्यव्रत नाम का एक धनी निषादराज है। उसका प्रायः सदा दूर-दूर के द्वीपों में आना-जाना है। इसलिए सम्भव है कि उसने वह नगरी कहीं देखी या सुनी हो। इसलिए तुम यहाँ से पहले समुद्र के समीप-स्थित विटंकपुर नामक नगर को जाओ। वहाँ से किसी बनिये के साथ उसकी नाव से उस निषादराज के पास अपनी इष्टसिद्धि के लिए जाओ ॥३३-३६॥

इस प्रकार उस मुनि से कहा हुआ शक्तिदेव उसी समय मुनि से आज्ञा लेकर उसके आश्रम से चला गया ॥३७॥

तदनुसार वह देश-देश देखता और मार्गों को पार करके समुद्र-तट के भूषण उस विटंकपुर में पहुँचा ॥३८॥

तस्मिन् समुद्रदत्ताख्यमुत्स्थलद्वीपयायिनम् ।
अविघ्यं वणिजं तेन सह सख्यं चकार सः ॥३९॥
तदीयं यानपात्रं च सम समाविश्य सः ।
तत्प्रीतिपूर्णपाथेयः प्रतस्थेऽम्बुधिवर्त्मना ॥४०॥
ततोऽल्पदेश गन्तव्यं समुत्तस्थावशङ्कितम् ।
काले विद्युल्लताजिह्वो गर्जन्मेघमयराक्षसः ॥४१॥
लघूनुन्नमयं भावान्गुरूनप्यवपातयन् ।
ववौ विधेरिवारम्भः प्रचण्डश्च प्रभञ्जनः ॥४२॥
वाताहतावश्च जलमरुदतिष्ठन्महोर्मयः ।
आश्रयामिमवक्रोधादिव धृत्वा सपक्षकाः ॥४३॥
ययौ च तत्प्रवहणं क्षणमूर्ध्वमध क्षणम् ।
उच्छ्रायपातपर्यायि[1] दर्शयद्धनिनामिव ॥४४॥
क्षणान्तरं च वणिजामाक्रन्दस्तीव्रपूरितम् ।
भरादिव तदुत्पत्य बहून समभज्यत ॥४५॥
भग्ने च तस्मिंस्तत्स्वामी स वणिक्पतितोऽम्बुधौ ।
सीदश्च फलकारूढः प्राप्यान्यद् बहून चिरात् ॥४६॥
शक्तिदेव पतन्तं तु तं व्यात्तमुखकन्दरः ।
अपरिक्षतसर्वाङ्गं महामत्स्यो निगीर्णवान् ॥४७॥
स च मत्स्योऽब्धिमध्येन तत्कालं स्वच्छया चरन् ।
उत्स्थलद्वीपनिकटं जगाम विधियोगतः ॥४८॥
तत्र तस्यैव कैवर्तपतेः सत्यव्रतस्य सः ।
शफरग्राहिभिर्भृत्यैः प्राप्य वैवादगृह्यत ॥४९॥
ते च तं सुमहाकायं निन्युराकृष्य कौतुकात् ।
तदैव धीवरास्तस्य निजस्य स्वामिनोऽन्तिकम् ॥५०॥
सोऽपि तं तादृशं दृष्ट्वा तैरेव सकुतूहलः ।
पाठीनं पाटयामास भृत्यैः सत्यव्रतो निजैः ॥५१॥
पाटितस्योदराज्जीवन्नक्षतिर्दवोऽस्य तस्य सः ।
अननुभूतापरापरगर्भवासो विनिर्ययौ ॥५२॥

---

१ उन्नतिपर्यायः

वहाँ उसने पता लगाकर उत्स्थल द्वीप जानेवाले समुद्रदत्त नामक बनिये से मित्रता की और उसी के जहाज पर प्रेमपूर्ण पाथेय लेकर समुद्री मार्ग से वह उत्स्थल द्वीप को चला ॥३९-४०॥

समुद्र में कुछ दूर जाने पर बिजली-रूपी जीभ को लपलपाता हुआ काल-रूपी मेघ-राक्षस एकाएक उमड़ पड़ा। साथ ही विधि के समान भारी को हल्का और हल्के को भारी करता हुआ प्रचंड पवन भी चलने लगा ॥४१-४२॥

समुद्र में वायु से विताड़ित बड़ी-बड़ी पर्वताकार लहरें उठने लगीं। मानो अपने आधार का अपमान होने के कारण पक्षधारी पर्वत उठ खड़े हुए हों ॥४३॥

वह जहाज कभी ऊपर और कभी नीचे इस प्रकार उछलने लगा मानो बनियों में उत्थान और पतन का नाटक उपस्थित कर रहा हो ॥४४॥

कुछ ही समय में बनिये की चिल्लाहट से शब्दायमान वह जहाज मानो भार वहन न कर सकने के कारण टूट गया ॥४५॥

जहाज के टूटने पर उसका स्वामी एक तख्ते के सहारे तैरता हुआ दूसरे जहाज के मिल जाने पर उसके द्वारा पार हो गया ॥४६॥

गिरते हुए ललितांग को मुँह बाये हुए एक बड़े मत्स्य (ह्वेल) ने समूचा ही निगल लिया ॥४७॥

वह मत्स्य समुद्र में स्वेच्छा से घूमता हुआ दैवयोग से उत्स्थल द्वीप के समीप आ पहुँचा ॥४८॥

वहाँ पर उसी सत्यदत्त सेठ के मछली पकड़नेवाले व्यक्तियों (मछियारों) द्वारा दैववश वह पकड़ लिया गया ॥४९॥

वे उस महामत्स्य को लेकर अपने स्वामी सत्यदत्त के पास ले गये ॥५०॥

सत्यदत्त ने भी उस भारी मत्स्य को देखकर कौतुकवश उसे दासों से उसे फड़वा दिया ॥५१॥

उसके फाड़ने पर, उसके पेट से आश्चर्यजनक दूसरे गर्भवास का अनुभव करनेवाला ललितांग निकल पड़ा ॥५२॥

निर्यातं च कृतस्वस्तिकारं तं च सविस्मय ।
युवानं वीक्ष्य पप्रच्छ दाशः सत्यव्रतस्ततः ॥५३॥
कस्त्वं कथं कुतश्चैषा दाफरादरक्षामिता ।
ब्रह्मंस्त्वयाप्ता कोऽयं ते वृत्तान्तोऽत्यन्तमद्भुत ॥५४॥
तच्छ्रुत्वा शक्तिदेवस्तं दाशेन्द्रं प्रत्यभाषत ।
ब्राह्मणः शक्तिदेवाख्यो वर्धमानपुरादहम् ॥५५॥
अवश्यगम्या कनकपुरी च नगरी मया ।
अजानानश्च तां दूराद् भ्रान्तोऽस्मि सुचिरं भुवम् ॥५६॥
ततो दीर्घतपोवाक्यात्सम्भाव्य द्वीपगां च ताम् ।
तज्ज्ञप्त्यय दाशपतेस्तस्य द्वीपवासिन ॥५७॥
पार्श्वं सत्यव्रतस्याहं गच्छन्वहनभङ्गत ।
मग्नोऽम्बुधौ निगीर्णोऽहं मत्स्येन प्रापितोऽधुना ॥५८॥
इत्युक्तवन्तं तं शक्तिदेवं सत्यव्रतोऽब्रवीत् ।
सत्यव्रतोऽहमेवैतद्द्वीपं सम्पादमव ते ॥५९॥
किंतु दृष्टा बहुद्वीपदृश्वनापि[1] न सा मया ।
नगरी त्वदभिप्रेता द्वीपान्तेषु श्रुता पुनः ॥६ ॥
इत्युक्त्वा शक्तिदेवं च विषण्णं वीक्ष्य तत्क्षणम् ।
पुनरभ्यागतप्रीत्या तं स सत्यव्रतोऽभ्यधात् ॥६१॥
ब्रह्मन् ! मा गा विषादं त्वमिहैवाद्य निशां वस ।
प्रातः कंचिदुपायं ते विधास्यामीष्टसिद्धये ॥६२॥
इत्याश्वास्य स तेनैव दासेन प्रहितस्ततः ।
सुलभातिथिसत्कारं द्विजो विप्रमठं ययौ ॥६३॥
तत्र मठासिनैकेन कृताहारो द्विजन्मना ।
विष्णुदत्ताभिधानेन सह चक्रे कथाक्रमम् ॥६४॥
तत्प्रसङ्गाच्च तेनैव पृष्टः स्वं समभाषत ।
निजं देशं कुलं कृत्स्नं वृत्तान्तं च समासतः ॥६५॥
तद्बुद्ध्वा परिरभ्यैनं विष्णुदत्तः स तत्क्षणम् ।
बभाषे हर्षबाष्पाम्बुपर्याक्षरजर्जरम् ॥६६॥
स्निग्धया मातुलस्यपुत्रस्त्वमेकदेशभवश्च मे ।

---

१ दृष्टवतेत्यर्थ ।

मच्छ के पेट से निकले हुए और कल्याण-कामना करते हुए उस युवक को देखकर चकित सत्यव्रत ने पूछा—'हे ब्राह्मण ! तुम कौन हो ? कैसे हो ? इस मत्स्य के पेट में तुमने शयन कैसे किया ? तुम्हारा यह वृत्तान्त अत्यन्त अद्भुत है' ॥५३-५४॥

यह सुनकर शक्तिदेव उस निषादराज से बोला—'मैं शक्तिदेव नामक ब्राह्मण वर्धमान नगर से आया हूँ। मुझे कनकपुरी अवश्य जाना है। उसका पता न जानने के कारण चिरकाल तक दूर दूर घूमा हूँ। तत्पश्चात् दीर्घतपा मुनि के कथन से उसके किसी द्वीपान्तर में होने का अनुमान करके उत्स्थल द्वीप-निवासी निषादराज सत्यव्रत के पास जाने के लिए जहाज पर आया और जहाज के टूट जाने पर मुझे मत्स्य ने निगल लिया और उसीने मुझे यहाँ पहुँचा दिया' ॥५५-५८॥

इस प्रकार कहते हुए शक्तिदेव को सत्यव्रत ने पुनः कहा—'मैं ही सत्यव्रत हूँ और यही उत्स्थल द्वीप है। किन्तु अनेक द्वीपों को देखनेवाले मैंने तुम्हारी ईप्सित कनकपुरी नहीं देखी है। हाँ द्वीपों के मध्य में है ऐसा सुना गया है' ॥५९-६०॥

उसके ऐसा कहने पर शक्तिदेव को निराश और खिन्न देखकर अतिथि प्रेम से सत्यव्रत बोला—॥६१॥

'हे ब्राह्मणदेवता खेद न करो। आज रात को यहीं निवास करो। प्रातःकाल तुम्हारी सफलता के लिए कोई उपाय करूँगा' ॥६२॥

ऐसा आश्वासन देकर निषाद के द्वारा भेजा गया वह शक्तिदेव एक ब्राह्मण-मठ में गया जहाँ अतिथियों का सत्कार सुलभ था। उस मठ में रहनेवाले विष्णुदत्त नामक एक ब्राह्मण द्वारा भोजन कराने पर शक्तिदेव ने उसके साथ अपनी जीवन-चर्चा प्रारम्भ की ॥६३-६४॥

उसका परिचय सुनकर तुरन्त ही विष्णुदत्त ने उसका आलिंगन करके हर्ष के आँसुओं के कारण रुँधे हुए कण्ठ से गद्गद होकर कहा—'भाग्य से तू मेरे मामा का लड़का (ममेरा भाई) है और हम दोनों एक ही देश में उत्पन्न हुए हैं ॥६५-६७॥

अहं च बाल्य एव प्राक्तस्माद्देशादिहागत ॥६७॥
तदिहास्व न चिरात् साधयिष्यसि चात्र ते।
इष्टं द्वीपान्तरागच्छद्वणिक्कणपरम्परा ॥६८॥
इत्युक्त्वान्वयमावेद्य विष्णुदत्तो यथोचित।
तं शक्तिदेव तत्कालमुपचारस्याचरत् ॥६९॥
शक्तिदेवोऽपि सम्प्राप्य विस्मृताध्वक्लमो भृशम्।
विदधे स्वजनलाभो हि मरावमृतनिर्झर ॥७ ॥
अमंसत च निजाभीष्टसिद्धिमभ्यर्णवर्तिनीम्।
अन्तरापाति हि श्रेय कार्यसम्पत्तिसूचकम् ॥७१॥
ततो रात्रावनिद्रस्य शयनीये निषेदुष।
अभिवाञ्छितसम्प्राप्तिगतचित्तस्य तस्य स ॥७२॥
शक्तिदेवस्य पार्श्वस्थो विष्णुदत्त समयनम्।
विनोदपूर्वकं कुर्वन्कथां कथितवानिमाम् ॥७३॥

अशोकदत्तस्य कपालस्फोटराक्षसाधिपतेश्च कथा

पुराभूत् सुमहाविप्रो गोविन्दस्वामिसंज्ञक।
महाग्रहारे कालिन्द्या उपकण्ठनिवेशिनि ॥७४॥
जायेते स्म च तस्य द्वौ सदृशौ गुणशालिन।
अशोकदत्तो विजयदत्तश्चेति सुतौ क्रमात् ॥७५॥
कालेन तत्र वसतां तेषामजनि दारुणम्।
दुर्भिक्षं तेन गोविन्दस्वामी भार्यामुवाच स ॥७६॥
अयं दुर्भिक्षदोषेण देशस्तावद् विनाशित।
तदशक्तोऽस्म्यहं द्रष्टुं सुहृद्बान्धवदुर्गतिम् ॥७७॥
दीयते च कियत् कस्य तस्मादन्नं यदस्ति न।
तद्दत्वा मित्रबन्धुभ्यो व्रजामो विषयादित ॥७८॥
वाराणसीं च वासाय सकुटुम्बा व्रजामहे।
इत्युक्तया सोऽनुमतो भार्ययासमदाद्धनम् ॥७ ॥
सदारसुतभृत्यश्च स देशात्प्रययौ तत।
उत्सहन्ते न हि । द्रष्टुमुत्तमा स्वजनापदम् ॥८ ॥

मैं बहुत पहले अपने देश से यहाँ आ गया था। अब तुम यहीं रहो। शीघ्र ही द्वीपान्तरों से आनेवाले व्यापारी बनियों के कानों-कान तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा॥६७-६८॥

ऐसा कहकर अपने कुल का पता लगाकर विष्णुदत्त ने उस समय के योग्य उपचारों से शक्तिदेव की सेवा की॥६९॥

शक्तिदेव भी उसे पाकर मार्ग के दुःसह कष्टों को भूल गया। विदेश में अपने बन्धु जन का मिलना मरुभूमि में अमृत के झरने के समान सुखद होता है॥७० ॥

उसने अपने अभीष्ट कार्य की सिद्धि को भी समीप आया हुआ समझा। किसी कार्य के प्रसंग के बीच में आनेवाला श्रेय कार्य की समृद्धि का सूचक होता है॥७१॥

तब रात्रि में शय्या पर लेटे हुए, अपनी कार्य-सिद्धि की चिन्ता में जागते हुए शक्तिदेव के पास सोया हुआ विष्णुदत्त उसकी कार्य-सिद्धि का समर्थन करता हुआ इस प्रकार की कथा उसको सुनाने लगा—॥७२-७३॥

अशोकदत्त और राक्षसराज कपालस्फोट की कथा

पुराने समय में यमुना नदी के तट पर एक विशाल गाँव में गोविन्दस्वामी नाम का एक श्रेष्ठ ब्राह्मण रहता था॥७४॥

उस गुणी ब्राह्मण के उसी के समान दो पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें बड़े का नाम अशोकदत्त और छोटे का नाम विजयदत्त था॥७५॥

उसके वहाँ रहते हुए दैवयोग से उस ग्राम में भीषण अकाल पड़ गया। तब गोविन्द स्वामी ने अपनी पत्नी से कहा—अकाल के कारण यह देश नष्ट हो रहा है। अतः मैं अपने सामने अपने मित्रों और बन्धु-बान्धवों की दुर्दशा नहीं देख सकता॥७६-७७॥

इसलिए हमारे घर में जितना अन्न है उसे 'किसे कितना देना है'—यह निश्चय करके मित्रों और बन्धुओं को दे डालो। तब यहाँ से किसी दूसरे देश को चलें॥७८॥

यहाँ से चलकर कुटुम्ब के साथ वाराणसी नगरी को चलें। इस प्रकार अपनी पत्नी से परामर्श करके उसने अपने घर का सारा अन्न बाँट दिया॥७९॥

तदनन्तर, अपनी स्त्री बालक और सेवक के साथ उस देश से चल पड़ा। उच्चकोटि के व्यक्ति अपने व्यक्तियों का कष्ट नहीं देखना चाहते॥८० ॥

गच्छंश्च मार्गे जटिलं भस्मपाण्डुं कपालिनम्।
सार्धचन्द्रमिवेशानं महाव्रतिनमैक्षत ॥८१॥
उपेत्य ज्ञानिनं तं च नत्वा स्नेहेन पुत्रयोः।
शुभाशुभं स पप्रच्छ सोऽपि योगी जगाद तम् ॥८२॥
पुत्रौ ते भाविकल्याणौ किं त्वेतेन कनीयसा।
सकृद्विजयदत्तेन वियोगस्ते भविष्यति ॥८३॥
ततोऽस्याशोकदत्तस्य द्वितीयस्य प्रभावतः।
एतेन सह युष्माकं भूयो भावी समागमः ॥८४॥
इत्युक्तस्तेन गोविन्दस्वामी स ज्ञानिना तदा।
सुखदुःखाद्भुताक्रान्तस्तमामन्त्र्य ततो ययौ ॥८५॥
प्राप्य वाराणसीं तां च तद्बाह्ये चण्डिकागृहे।
दिनं तत्रातिवाह्यासौ देवीपूजादिकर्मणा ॥८६॥
सायं च तत्रैव बहिः सकुटुम्बस्तरोरधः।
समावसत् कार्पटिकैः सोऽन्यदेशागतैः सह ॥८७॥
रात्रौ च तत्र सुप्तेषु सर्वेष्वध्वगतेष्वसु।
श्रान्तेष्वास्तीर्णपर्णानि पान्थशय्यानि पार्श्वेषु ॥८८॥
तदीयस्य शिशुकस्य तस्याकस्मात्कनीयसः।
सूनोर्विजयदत्तस्य महान् शीतज्वरोऽभवत् ॥८९॥
स तेन सहसा भाविबन्धुविश्लेषहेतुना।
भयेनेव ज्वरेणाभूदूर्ध्वरोमा सवेपथुः ॥९०॥
शीतार्तश्च प्रबोध्यैव पितरं स्वमवोच तम्।
बाधते तात तीव्रो मामिह शीतज्वरोऽधुना ॥९१॥
तन्मे समिधमानीय शीतघ्नं ज्वलनमानय।
नान्यथा मम शान्तिः स्याद्यापयेयं न च यामिनीम् ॥९२॥
तच्छ्रुत्वा तं स गोविन्दस्वामी तद्वेदनाकुलः।
तावत्कुतोऽधुना वह्निर्वत्सेति च समभ्यधात् ॥९३॥
नन्वयं निकटे तात दृश्यतेऽग्निरूर्ध्वज्वलित।
भूयिष्ठोऽत्र तद्गत्वा किं नाङ्गं तापयाम्यहम् ॥९४॥
तस्मात् सकम्पं हस्ते मां गृहीत्वा प्रापय द्रुतम्।
इत्युक्तस्तेन पुत्रेण पुनर्विप्रोऽपि सोऽब्रवीत् ॥९५॥

गोविन्दस्वामी ने मार्ग में चलते हुए जटाधारी भस्म रमाये खप्पर लिये और अर्धचन्द्र धारण किये हुए शिव के समान एक तपस्वी को देखा ॥८१॥

उसने उस तपस्वी से अपना शुभ-अशुभ पूछा। तब वह योगी कहने लगा— 'तुम्हारे दोनों बालकों का भविष्य कल्याणमय है, किन्तु इनमें छोटे बालक विजयदत्त से तुम्हारा वियोग हो जायगा। तब बड़े पुत्र अशोकदत्त के प्रभाव से उसके साथ फिर तुम्हारा समागम होगा' ॥८२—८४॥

इस प्रकार इस ज्ञानी से कहा हुआ गोविन्दस्वामी सुख और दुःख दोनों से आक्रान्त होकर वहाँ से चला गया ॥८५॥

तदनन्तर वाराणसी पहुँचकर उसके बाहरी भाग में स्थित चंडिका के मन्दिर में ठहरा। वहाँ देवी की पूजा आदि कार्यों में उसका दिन बीत गया। रात में भी वह मन्दिर के बाहर, वृक्ष के नीचे अन्य देशों से आये हुए यात्रियों के साथ सपरिवार सो गया ॥८६-८७॥

यात्रा से होनेवाली थकावट के कारण अन्य सभी यात्रियों के पत्ते आदि के बिछावनों पर सो जाने के पश्चात् जागते हुए उस ब्राह्मण के छोटे पुत्र को शीतज्वर का महान् प्रकोप हुआ। भविष्य में होनेवाले अपने परिवार के वियोग के कारण-स्वरूप उसके ज्वर का प्रकोप बढ़ गया। रोएँ खड़े हो गये और शरीर काँपने लगा ॥८८—९ ॥

ठंढक से काँपते हुए उसने पिता को जगाकर कहा— 'पिता ! मुझे भीषण शीतज्वर कष्ट दे रहा है। इसलिए इस शीत को दूर करने के लिए लकड़ी लाकर आग जलाओ। इसके बिना न तो मुझे शान्ति मिलेगी और न रात ही बिता सकूँगा' ॥९१—९२॥

यह सुनकर उसके कष्ट से घबराया हुआ गोविन्दस्वामी बोला— 'इस समय रात को आग कहाँ से लाऊँ?' तब विजयदत्त ने कहा— 'पिताजी यह देखो पास ही में वहीं आग जल रही है। इसलिए काँपते हुए मुझे हाथ पकड़कर वहाँ ले चलो' ॥९३—९५॥

श्मशानमध्यदेशे च चिता ज्वलति तत्पथम्।
गम्यतेऽत्र पिशाचादिभीषणे त्वं हि बालकः ॥९६॥
एतच्छ्रुत्वा पितुर्वाक्यं वत्सलस्य विहस्य सः।
वीरो विजयदत्तस्तं सावष्टम्भमभाषत ॥९७॥
किं पिशाचादिभिस्तात वराकैः क्रियते मम।
किमल्पसत्त्वः कोऽप्यस्मि तदशङ्कं नयात्र माम् ॥९८॥
इत्याग्रहाद् वदन्तं तं स पिता तत्र नीतवान्।
सोऽप्यङ्गं तापयन् बालश्चितामुपससर्प ताम् ॥९९॥
ज्वलन्तीमनलज्वालाधूमव्याकुलमूर्धजाम् ।
नृमांसग्राहिणीं साक्षादिव रक्षोधिदेवताम् ॥१००॥
क्षणात्तत्र समाश्वस्य सोऽर्भकः पितरं च तम्।
चितान्तर्दृश्यते वृत्तं किमेतदिति पृष्टवान् ॥१ १॥
कपालं मानुषस्यैतच्चितायां पुत्र दह्यते।
इति तं प्रत्यवादीच्च सोऽपि पार्श्वस्थितः पिता ॥१ २॥
ततः स्वसाहसेनेव दीप्ताग्रेण निहत्य तम्।
कपालं स्फोटयामास काष्ठेनैकेन सोऽर्भकः ॥१ ३॥
ततोऽस्य प्रसृता तस्मान् मुखे तस्यापतद् वसा।
श्मशानवह्निना नक्तञ्चरीसिद्धिरिवार्पिता ॥१ ४॥
तदास्वादेन बालश्च सम्पन्नोऽभूत्स राक्षसः।
ऊर्ध्वकेशः शिखोत्खातखड्गो दंष्ट्राविशङ्कटः ॥१ ५॥
आकृष्य च कपालं तद् वसां पीत्वा लिलेह सः।
अस्थिलग्नानलज्वालालोलया निजजिह्वया ॥१ ६॥
ततस्त्यक्तकपालः सन्पितरं निजमेव तम्।
गोविन्दस्वामिनं हन्तुमुद्यतासिरियेष सः ॥१ ७॥
कपालस्फोट भो देव न हन्तव्यः पिता तव।
इत एहीति तत्कालं श्मशानादुदभूद् वचः ॥१ ८॥
तच्छ्रुत्वा नाम लब्ध्वा च कपालस्फोट इत्यदः ।
स वटुः पितरं मुक्त्वा रक्षोभूतस्तिरोदधे ॥१ ९॥

---

१ वसाम्—मेदाकारम्।

पुत्र के ऐसा कहने पर पिता गोविन्दस्वामी ने कहा—'बेटा ! यह तो श्मशान है और यह चिता जल रही है। पिशाच भूत प्रेत आदि से युक्त भीषण श्मशान में तुम्हें कैसे ले जाऊँ ? तुम अभी बच्चे हो। इस प्रकार पिता के वचन सुनकर और बालक विजयदत्त पिता को फटकारते हुए बोला—'पिताजी ये बेचारे पिशाच आदि मेरा क्या कर लेंगे ? क्या मैं दुर्बल हूँ ? तुम बिना किसी शंका के मुझ वहाँ ले चलो' ॥९९ ९८॥

आग्रहपूर्वक इस प्रकार कहते हुए पुत्र का पिता वहाँ ले गया और वह बालक भी शरीर को तपाता हुआ चिता के पास आ पहुँचा ॥९९॥

जलती हुई आग की लपटों के केशोंवाली और नर-मांस को ग्रहण करनेवाली वह चिता मानों राक्षसी की गृहदेवी थी ॥१ ॥

कुछ देर तक शरीर तपाने से सावधान होकर बालक ने पिता से पूछा—'चिता के अन्दर यह गोला-सा क्या दीखता है ? ॥१ १॥

पास बैठे हुए पिता ने कहा—'बेटा ! यह मनुष्य का कपाल (सिर) जल रहा है' ॥१ २॥

तब उस लड़के ने साहस के समान जलती हुई चिता की लकड़ी से उस सिर को फोड़ दिया ॥१ ३॥

सिर को फोड़ते ही उससे निकलती हुई चर्बी की धारा उस बालक के मुँह में आ गिरी। मानों श्मशान की आग ने उसे राक्षसी सिद्धि प्रदान की हो ॥१ ४॥

उस चर्बी के चखने से वह बालक राक्षस बन गया। उसके सिर के बाल खड़े हो गये। विकट दाँत निकल आये और उसके तलवार हाथ में थी ॥१ ५॥

तत्पश्चात् लकड़ी से उस कपाल को खींचकर वह बालक उसकी सारी चर्बी को आग के समान लपलपाती जीभ से चटपट चाट गया ॥१ ६॥

तब वह कपाल को फेंककर और तलवार खींचकर अपने पिता गोविन्दस्वामी को ही मारने के लिए उसके पीछे दौड़ा ॥१ ७॥

इतने में ही श्मशान में आकाशवाणी हुई कि हे कपालस्फोट देव ! अपने पिता को मत मारो। इधर आओ' ॥१ ८॥

यह सुनकर कपालस्फोट नाम प्राप्त करके वह बालक पिता को छोड़कर राक्षस बनकर अन्तर्धान हो गया ॥१ ९॥

तत्पिता सोऽपि गोविन्दस्वामी हा पुत्र ! हा मुने ।
हा हा विजयदत्तेति मुक्ताक्रन्दस्ततो ययौ ॥११०॥
एत्य चण्डीगृहं तच्च प्रातः पत्न्यै सुताय च ।
ज्यायसेऽशोकदत्ताय यथावृत्तं शशंस सः ॥१११॥
ततस्ताभ्यां सहानभ्रविद्युदापातदारुणम् ।
तथा शोकानलावस्थामाजगाम स तापसः ॥११२॥
यथा वाराणसीसंस्थो देवीसन्दर्शनागतः ।
तत्रोपेत्य जनोऽप्यन्यो ययौ तत्समदुःखताम् ॥११३॥
तावच्च देवीं पूजार्थमागत्यैको महावणिक् ।
अपश्यत्तत्र गोविन्दस्वामिनं तं तथाविधम् ॥११४॥
समुद्रदत्तनामासावुपेत्याश्वास्य तं द्विजम् ।
तदैव स्वगृहं साधुर्निनाय सपरिच्छदम् ॥११५॥
स्नानादिनोपचारेण तत्र चैनमुपाचरत् ।
निसर्गो ह्येष महतां यदापन्नानुकम्पनम् ॥११६॥
सोऽपि जग्राह गोविन्दस्वामी पत्न्या समं धृतिम् ।
महाव्रतिवचः श्रुत्वा चाशास्य सुतसङ्गमे ॥११७॥
ततः प्रभृति च तस्यां वाराणस्यामुवास सः ।
अभ्यर्थितो महाद्रव्यस्य तस्यैव वणिजो गृहे ॥११८॥
तत्रैवाधीतविद्योऽस्य स सुतः प्राप्तयौवनः ।
द्वितीयोऽशोकदत्ताख्यो बाहुयुद्ध[1]मशिक्षत ॥११९॥
क्रमेण च ययौ तत्र प्रकर्षं स तथा यथा ॥
अजीयत न केनापि प्रतिमल्लेन भूतले ॥१२ ॥
एकदा देवयात्रायां तत्र मल्लसमागमे ।
आगादेको महामल्लः ख्यातिमान् दक्षिणापथात् ॥१२१॥
तेनात्र निखिला मल्ला राज्ञो वाराणसीपतेः ।
प्रतापमुकुटाख्यस्य पुरतोऽन्ये पराजिताः ॥१२२॥
ततः स राजा मल्लस्य युद्धे तस्य समादिशत् ।
आनाय्याशोकदत्तं तं श्रुतं तस्माद् वणिग्वरात् ॥१२३॥

---

१ मल्लयुद्धम्; कुश्तीति भाषायाम् ।

तदनन्तर उसका पिता गोविन्दस्वामी 'हाय बेटा! हाय मुनी विजयदत्त!'—इन शब्दों के साथ रोता-चिल्लाता हुआ वहाँ से चला गया॥११ ॥

वहाँ से चण्डी के मन्दिर में जाकर उसने प्रातःकाल अपनी पत्नी और ज्येष्ठ पुत्र अशोकदत्त से रात की वह सारी घटना सुना दी॥१११॥

देवी-दर्शन के लिए आया हुआ वाराणसी का रहनेवाला एक तपस्वी तथा अन्य एकत्र यात्री—सभी बिना मेघ के वज्रपात के समान इस घटना के संबंध में सुनकर गोविन्द स्वामी के दुःख में समवेदना प्रकट करने लगे॥११२-११३॥

इतने में ही देवी-पूजन के लिए वहाँ समुद्रदत्त नाम का एक धनी वैश्य आया। उसने इस प्रकार दुःखी गोविन्दस्वामी के पास जाकर उसे धैर्य प्रदान किया॥११४॥

तदनन्तर वह सज्जन बनिया गोविन्द स्वामी को सपरिवार अपने घर ले गया और स्नान भोजन आदि की आवश्यक व्यवस्था कर दी। विपद्ग्रस्त प्राणियों पर दया करना उच्च व्यक्तियों का स्वभाव होता है॥११५ ११६॥

महातपस्वी के वचन पर विश्वास करके पुत्र के पुनर्मिलन की आशा से गोविन्दस्वामी ने किसी प्रकार धैर्य धारण किया॥११७॥

तब से लेकर उस महाधनी बनिये की प्रार्थना पर उसने वाराणसी में उस बनिये के घर ही रहना निश्चित किया॥११८॥

वहीं पर विद्या प्राप्त करके उसका पुत्र अशोकदत्त युवक हो गया और कुश्ती लड़ना सीखने लगा॥११९॥

धीरे-धीरे वह मल्लविद्या (पहलवानी) मे निपुण हो गया। संसार मे किसी भी दूसरे पहलवान के लिए उसे जीतना कठिन था॥१२ ॥

एक बार किसी देवयात्रा के मेले में दक्षिण-देश का एक विख्यात मल्ल (पहलवान) वाराणसी आया और उसने काशिराज प्रतापमुकुट के सभी पहलवानों को उनके सामने ही पछाड़ दिया।१२१ १२२॥

तब राजा ने उस बनिये से अशोकदत्त की प्रशंसा सुनकर, उसे बुलवाकर लड़ने की आज्ञा दी॥१२३॥

सोऽपि मल्लो भुजं धृत्वा हस्तेनारभताहवम् ।
मल्लं चाशोकदत्तस्तु भुजं धृत्वा न्यपातयत् ॥१२४॥
ततस्तत्र महामल्लनिपातोत्थितशब्दया ।
युद्धभूम्यापि सन्तुष्य साधुवाद इवोदितः ॥१२५॥
स राजाशोकदत्तं तं तुष्टो रत्नैरपूरयत् ।
चकार चात्मनः पार्श्ववर्तिनं दृष्टविक्रमम् ॥१२६॥
सोऽपि राज्ञः प्रियो भूत्वा दिनं प्राप परां श्रियम् ।
धवधिः शूरविद्यस्य विक्षपक्षो विद्याम्पतिः ॥१२७॥
सोऽथ जातु ययौ राजा चतुर्दश्यां बहिःपुरे ।
सुप्रतिष्ठापितं दूरे देवमर्चयितुं शिवम् ॥१२८॥
कृतार्चनस्ततो नक्तं श्मशानस्यान्तिकेन सः ।
आगच्छञ्शृणोदेतां तन्मध्यादुद्गतां गिरम् ॥१२९॥
अहं दण्डाधिपेनेह मिथ्या वध्यानुकीर्तनात् ।
द्वेषेण विद्धः शूलायां तृतीयं दिवसं प्रभो ॥१३ ॥
अद्यापि च न निर्यान्ति प्राणा मे पापकर्मणः ।
तदेव तृषितोऽस्पर्थमहं दापय मे जलम् ॥१३१॥
तच्छ्रुत्वा कृपया राजा स पार्श्वस्थमुवाच तम् ।
अशोकदत्तमस्याम्भः प्रहिणोतु भवानिति ॥१३२॥
कोऽत्र रात्रौ व्रजत्वेव तद्गच्छाम्यहमात्मना ।
इत्युक्त्वाशोकदत्तः स गृहीत्वाम्भस्ततो ययौ ॥१३३॥
याते च स्वपुरीं राज्ञि स वीरो गहनान्तरम् ।
महत्तरेण तमसा सर्वतोऽन्तरधिष्ठितम् ॥१३४॥
शिवाचक्रीणपिशितप्रतसन्ध्यामहावलि ।
क्वचित् क्वचिच्चिताज्योतिर्दीप्रदीपप्रकाशितम् ॥१३५॥
रसत्कुतालवेतालतालवाद्यं विवेश तम् ।
श्मशानं कृष्णरजनीनिवासभवनोपमम् ॥१३६॥
केनाम्भो याचितं भूपादित्युच्चैस्तत्र स ब्रुवन् ।
मया याचितमित्येवमशृणोद् वाचमेकतः ॥१३७॥
गत्वा तदनुसारेण निकटस्थं चितामथम् ।
ददर्श तत्र शूलाग्रे विद्धं कञ्चित्स पूरुषम् ॥१३८॥

वह दक्षिणी मल्ल भी हाथ से भुजाओं पर ताल ठोंकता हुआ अखाड़े में आया। अशोकदत्त ने उस मल्ल (पहलवान) का हाथ मरोड़कर उसे पटक दिया॥१२४॥

तब उस पहलवान के पटके जाने पर उठे हुए अनरव से मानों अखाड़े की भूमि उस अशोकदत्त को धन्यवाद देने लगी॥१२५॥

काशिराज प्रतापमुकुट ने प्रसन्न होकर पुरस्कार में अशोकदत्त को रत्नों से लाद दिया॥१२६॥

साथ ही उसके पराक्रम से प्रसन्न होकर उसे अपना अंग रक्षक नियुक्त कर लिया। फलतः वह अशोकदत्त कुछ ही दिनों में राजा से अतुल सम्पत्ति प्राप्त कर धनी हो गया। राजा भी मल्लविद्या का विशेषज्ञ था॥१२७॥

एक बार वह राजा चतुर्दशी तिथि को नगर के बाहर स्थापित किये गये शिवजी के दर्शन के लिए गया। उनकी पूजा करके वह रात में श्मशान-मार्ग से ही लौटा। आते हुए उसने श्मशान से निकली हुई यह वाणी सुनी कि हे स्वामी! मुझे दंडाधिकारी ने झूठ ही प्राणदंड की सजा देकर सूली पर चढ़ा दिया है। आज तीसरा दिन है। मुझ पापी के प्राण नहीं निकल रहे हैं। मैं अत्यन्त प्यासा हूँ। मुझे पानी पिलाओ'॥१२८-१३१॥

यह सुनकर राजा ने दया करके अपने साथ चल रहे अशोकदत्त से कहा कि 'तुम इसे जल भेजो'॥१३२॥

उसने कहा— महाराज इस समय रात को श्मशान में कौन जायगा इसलिए मैं स्वयं ही जाता हूँ'—ऐसा कहकर अशोकदत्त पानी लेकर स्वयं ही वहाँ गया॥१३३॥

राजा के अपनी नगरी में चले जाने पर वह वीर अशोकदत्त चारों ओर घने अँधेरे से भरे हुए, शृगालों द्वारा इधर-उधर फेंके गये मांस के टुकड़ों से मानों बलि दिये गये चिताओं की चमक से कहीं-कहीं प्रकाशमान नाचते हुए वैतालों से कम्पायमान और काली रात के निवास-भवन के समान उस श्मशान में उसने प्रवेश किया॥१३४-१३६॥

वहाँ जाकर उसने ऊँचे स्वर में कहा—'राजा से किसने पानी माँगा है? तब उसने एक ओर से 'मैंने माँगा है' इस प्रकार का शब्द सुना॥१३७॥

उसी शब्द के अनुसार उसने चिता की आग देखी और वहीं धूनी से घिरे हुए किसी पुरुष को देखा॥१३८॥

अथवन्त तस्य स्वर्गी सवलङ्कारभूषिताम्।
अदृष्टपूर्वां सर्वाङ्गसुन्दरीं स्त्रियमैक्षत ॥१३९॥
कृष्णपक्षपरिक्षीणे गतेऽस्त रजनीपतौ।
चितारोहाय तद्रश्मिरम्यां रात्रिमिवागताम् ॥१४ ॥
का त्वमम्ब कथं चाह शून्यहमवस्थिता।
इति पृष्टा च सा तेन योषिन्नैवं समब्रवीत् ॥१४१॥
अस्याहं शूलविद्धस्य भार्या विगतलक्षणा।
निश्चिताशा स्थितास्मीह चितारोहे महामुना ॥१४२॥
कञ्चित्काल प्रतीक्षाऽत्र प्राणानामस्य निष्क्रमम्।
तृतीयेऽह्नि गतेऽप्यद्य यान्त्यस्य हि नासव ॥१४३॥
याचते च मुहुस्तोयमानीतं च मयाह तत्।
किं त्वहं नोन्नते मूल प्राप्नोम्यस्य मुख मख ! ॥१४४॥
इति तस्या वच श्रुत्वा स प्रवीरोऽप्युवाच ताम्।
इव त्वस्य नृपेणाऽपि हस्ते न प्रेषित जलम् ॥१४५॥
तन्म पृष्ठे पद दत्वा वह्यतस्यतन्नानने।
न परस्पर्शमात्र हि स्त्रीणामापदि दूषणम् ॥१४६॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्यात्तजला दत्वा पदद्वयम्।
शूलमूलावनम्रस्य पृष्ठ तस्याधरोह सा ॥१४७॥
क्षणात् भुवि स्वपृष्ठे च रक्तबिन्दुप्वशङ्कितम्।
पतत्सु मुखमुन्नम्य स वीरो यावदीक्षत ॥१४८॥
तावत्स्त्रियमपश्यत्तां छित्वा छुरिकया मुहु।
खादन्तीं तस्य मांसानि पुन शूलाग्रवर्तिन ॥१४ ॥
ततस्तां विकृतिं मत्वा क्रोधावाकृष्य सा क्षितौ।
आस्फोटयिष्यन्नग्राह पादे रणितनूपुर ॥१५ ॥
सापि त तरसा पादमाक्षिप्यत स्वमायया।
क्षिप्र गगनमुत्पत्य जगाम क्वाप्यदर्शनम् ॥१५१॥
तस्य चाङ्गोव्वदत्तस्य तत्पाणौ मणिनूपुरम्।
तस्मादाकर्षणभ्रस्तमवतस्य करान्तरे ॥१५२॥
ततस्तां पेशलामाद्यावन्तकर्त्रीं च मध्यत।
अन्ते विरूपघोरां च दुर्जनस्येव सङ्गतिम् ॥१५३॥

उसने उस सूली के नीचे सुन्दर आभूषणों से सुशोभित एक रोती हुई स्त्री को देखा। वह अपूर्व रमणी सर्वांग सुन्दरी थी मानों कृष्णपक्ष के बीतने के कारण चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर चाँदनी के समान रजनीरमणी चिता पर चढ़कर सती होने के लिए आई हो॥१३९ १४ ॥

हे माता तू कौन है यहाँ क्यों रो रही है और इस प्रकार क्यों बैठी है? —इस प्रकार अशोकदत्त के प्रश्न करने पर वह स्त्री बोली—"मैं सूली पर चढ़े हुए इस पुरुष की अभागिन स्त्री हूँ। इसके साथ सती होने का निश्चय करके यहाँ बैठी हूँ। कुछ समय तक इसके प्राणों के निकलने की प्रतीक्षा कर रही हूँ। तीन दिन बीत जाने पर भी इसके प्राण नहीं निकले हैं॥१४१ १४२॥

यह बार-बार पानी माँगता है। मैं पानी लाई भी किन्तु ऊँची सूली पर लटके हुए इसके मुँह तक नहीं पहुँच पा रही हूँ"॥१४३॥

स्त्री की बातें सुनकर वीर अशोकदत्त बोला—"राजा ने मेरे हाथों यह जल भेजा है। अब तू मेरी पीठ पर पैर रखकर इसके मुख में यह जल डाल दे। आपत्ति के समय पुरुष का स्पर्श स्त्री के लिए दूषित नहीं है॥१४५ १४६॥

यह सुनकर और उसकी बात मानकर वह स्त्री पानी लेकर, सूली की जड़ में नीचे मुँह किये हुए अशोकदत्त की पीठ पर दोनों पैर से चढ़ गई॥१४७॥

कुछ ही समय पश्चात् उसने भूमि पर और अपनी पीठ पर रक्त की बूँदों के गिरने से शंकित हो मुँह उठाकर ऊपर देखा तो उसे मालूम हुआ कि वह स्त्री सूली पर चढ़े हुए उस पुरुष का माँस कटार से काटकर खा रही है॥१४८ १४९॥

उस स्त्री की इस प्रकार विकृति को देखकर उस वीर ने उसे पछाड़ने के लिए उसके पैर पकड़े जिनमें पैरों का आभूषण (पायजेब) बज रहा था॥१५ ॥

वह स्त्री भी पैरों को छुड़ाकर और अपनी माया से आकाश में उड़कर अदृश्य हो गई॥१५१॥

पैरों को छुड़ाते समय अशोकदत्त के बलपूर्वक खींचने पर उसके एक पैर का पायजेब उसी अशोकदत्त के हाथ में ही रह गया॥१५२॥

और, दुर्जनों की संगति के समान प्रारम्भ में अच्छी मध्य में मन पातकारिणी और अंत में घोर विकारकामी वह स्त्री हाथ से निकल गई॥१५३॥

नष्टां विचिन्तयन्पश्यन्हस्ते दिव्यं च नूपुरम्।
सविस्मयं सामितापं सहर्षश्च बभूव सः॥१५४॥
तत श्मशानतस्तस्मात्स जगामात्तनूपुरः।
निजगेहं प्रभाते च स्नातो राजकुलं ययौ॥१५५॥
किं तस्य शूलविद्धस्य वत्स वारीति पृच्छते।
राज्ञे स च तथेत्युक्त्वा तं नूपुरमुपानयत्॥१५६॥
एतत्कुत इति स्वैरं पृष्टस्तेन स भूभृता।
तस्मै स्वरात्रिवृत्तान्तं शशसाद्भुतमीषणम्॥१५७॥
ततश्चामन्यसामान्यं सत्त्वं तस्यावधार्य सः।
तुष्टोऽप्यन्यगुणोत्कर्षात्सुतोष सुतरां नृपः॥१५८॥
गृहीत्वा नूपुरं स च गत्वा देव्यै ददौ स्वयम्।
हृष्टस्तत्प्राप्तिवृत्तान्तं तस्यै च समवर्णयत्॥१५९॥
सा तद्बुद्ध्वा च दृष्ट्वा च तं दिव्यं मणिनूपुरम्।
अशोकदत्तश्लाघैकतत्परा मुमुदे रहः॥१६०॥
ततो जगाद तां राजा देवी जात्यैव विद्यया।
सत्यमेव च रूपेण महतामप्ययं महान्॥१६१॥
अशोकदत्तो भव्याया भर्ता च दुहितुर्यदि।
भवेन्मदनलेखायास्तद्भद्रमिति मे मतिः॥१६२॥
वरस्यामी गुणाः प्रेक्ष्या न लक्ष्मीः क्षणभङ्गिनी।
तदेतस्मै प्रवीराय ददाम्येतां सुतामहम्॥१६३॥
इति भर्तुर्वचः श्रुत्वा देवी सा सादराब्रवीत्।
युक्तमेतदसौ ह्यस्या युवा भर्तानुरूपतः॥१६४॥
सा च तेन मधूद्यानदृष्टेन हृतमानसा।
शून्याद्या दिनेष्वेषु न शृणोति न पश्यति॥१६५॥
तत्सखीतश्च तद्बुद्ध्वा मधिगम्याहं निशाक्षये।
सुप्ता जाने स्त्रिया स्वप्ने कयाप्युक्तास्मि दिव्यया॥१६६॥
वत्से मदनलेखेयं देयान्यस्मै न कन्यका।
एषा ह्यशोकदत्तस्य भार्या जन्मान्तरार्जिता॥१६७॥
तच्च श्रुत्वा प्रबुध्यैव गत्वा प्रत्यूष एव च।
स्वयं तत्प्रत्ययाद्वत्सां समाश्वासितवत्यहम्॥१६८॥

देखकर वह अशोकदत्त आश्चर्य और सन्ताप करने लगा ॥१५४॥

किन्तु अपने हाथ में उसके दिव्य पायजेब को देखकर प्रसन्न भी हुआ। तदनन्तर वह अशोकदत्त पायजेब हाथ में लेकर श्मशान से घर आया और प्रातःकाल स्नान करके राजभवन को गया ॥१५५॥

'क्या उस सूली पर चढ़े हुए को तुमने पानी दिया ?' —इस प्रकार पूछते हुए राजा को उसने 'हाँ' कहकर वह पायजेब भेंट किया ॥१५६॥

यह कहाँ से मिला? —इस प्रकार प्रश्न करते हुए राजा को उसने रात की अद्भुत और भीषण घटना कह सुनाई ॥१५७॥

इस प्रकार उसके असाधारण मनोबल को जानकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उस दिव्य आभूषण को लेकर रनिवास में गया। उस महारानी को देते हुए उसने रात का सारा वृत्तान्त रानी से कह सुनाया ॥१५८-१५९॥

यह सब सुनकर और उस दिव्य आभूषण को देखकर रानी अशोकदत्त की प्रशंसा करती हुई मन में अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥१६०॥

तब राजा ने रानी से कहा—'देवि, यह अशोकदत्त जाति से विप्र है और अपने उत्तम स्वरूप से बड़ों में बड़ा है। अतः यदि यह मेरी भव्य बेटी मदनलेखा का पति हो तो अच्छा हो। यह मेरा विचार है' ॥१६१-१६२॥

वर के ये ही गुण देखे जाते हैं न कि क्षण में नष्ट होनेवाली चंचल लक्ष्मी। इसलिए उस उत्तम वीर पुरुष को मैं कन्या देता हूँ ॥१६३॥

यह सुनकर आदर के साथ उसका समर्थन करती हुई रानी ने कहा—'यह उचित है। यह युवा अपनी कन्या के सर्वथा अनुरूप और योग्य है। वह कन्या भी मधु-उद्यान में उसे देखकर उसपर आसक्त हो चुकी है। उस दिन वह शून्य-हृदय होकर न कुछ सुनती है और न कुछ देखती ही है ॥१६४-१६५॥

उसकी सखी से यह जानकर चिन्ता करती हुई मैं सो गई और रात बीतने पर (उषःकाल में) स्वप्न में किसी दिव्य स्त्री द्वारा मानों इस प्रकार कही गई। 'बेटी इस मदनलेखा को दूसरे के लिए न देना यह अशोकदत्त की पूर्वजन्म की अर्जित पत्नी है' ॥१६६-१६७॥

यह सुनकर जागकर और बहुत ही सबेरे के उस स्वप्न में विश्वास कर, मैं बेटी को धीरज भी दे आई हूँ ॥१६८॥

इदानीं चार्यपुत्रेण स्वयमेव ममोदितम् ।
तस्मात् समेतु तेनासौ वृषेणेवार्तवी लता ॥१६९॥
इत्युक्तः प्रियया प्रीतः स राजा रचितोत्सवः ।
आहूयाशोकदत्ताय तस्मै तां तनयां ददौ ॥१७०॥
तयोश्च सोऽभूद्राजन्पुत्रीविप्रेन्द्रपुत्रयोः ।
संगमोऽन्योन्यशोभायै लक्ष्मीविनययोरिव ॥१७१॥
ततः कदाचिद्राजानं तं देवी वदति स्म सा ।
अशोकदत्तानीतं तदुद्दिश्य मणिनूपुरम् ॥१७२॥
आर्यपुत्रायमेकाकी नूपुरो न विराजते ।
अनुरूपस्तदेतस्य द्वितीयः परिकल्प्यताम् ॥१७३॥
तच्छ्रुत्वा हेमकारादीनादिदेश स भूपतिः ।
नूपुरस्यास्य सदृशो द्वितीयः क्रियतामिति ॥१७४॥
ते तन्निरूप्य जगदुर्नेदृशो देव शक्यते ।
अपरः कर्तुमेतद्धि दिव्यं शिल्पं न मानुषम् ॥१७५॥
रत्नानीदृशि भूयांसि न भवन्त्यत्र भूतले ।
तस्मादेष यतः प्राप्तस्तत्रैवान्यो गवेष्यताम् ॥१७६॥
एतच्छ्रुत्वा सदेवीके विषण्णे राज्ञि तत्क्षणम् ।
अशोकदत्तस्तत्रस्थस्तद्बुद्ध्वा सहसाब्रवीत् ॥१७७॥
अहमेवानयाम्यस्य द्वितीयं नूपुरस्य ते ।
एवं कृतप्रतिज्ञश्च राज्ञा साहसशङ्किना ॥१७८॥
स्नेहान्निवार्यमाणोऽपि निश्चयान्न चचाल सः ।
गृहीत्वा नूपुरं तच्च श्मशानं स पुनर्ययौ ॥१७९॥
निशि कृष्णचतुर्दश्यां यत्र तमवाप्तवान् ।
प्रविश्य तत्र च प्राज्यचिताधूममलीमसम् ॥१८०॥
पाशोपवेष्टितगलस्कन्धोल्लम्बितमानुषम् ।
पादपैरिव रक्षोभिराकीर्णे पितृकानने ॥१८१॥
अपश्यन्पूर्वदृष्टां तां स्त्रियं तन्नूपुराप्तये ।
उपायमेकं बुबुधे स महामांसविक्रयम् ॥१८२॥
तरुशाखाद् गृहीत्वाथ शवं बभ्राम तत्र सः ।
विक्रीणानो महामांसं गृह्यतामिति घोषयन् ॥१८३॥

इस समय आपने स्वयं कह दिया तो ऋतु की लता जैसे वृक्ष का समागम करती है, उसी प्रकार इन दोनों का भी समागम हो जाय ॥१६९॥

पत्नी द्वारा इस प्रकार कहे गये प्रसन्न राजा ने विवाहोत्सव का आयोजन करके वह कन्या अशोकदत्त को दे दी ॥१७ ॥

उन दोनों राजेन्द्र की कन्या और विप्रेन्द्र के पुत्र का समागम परस्पर शोभा बढ़ाने के लिए लक्ष्मी और विनय के संगम के समान हुआ ॥१७१॥

एक बार रानी ने राजा से उस दिव्य मणि के पायजेब के सम्बन्ध में कहा—'आर्यपुत्र यह अकेला पायजेब अच्छा नहीं लगता इसलिए इसी के समान दूसरा भी बनवाओ' ॥१७२ १७३॥

यह सुनकर राजा ने सोनार, जड़िये आदि को आज्ञा दी कि 'इसी के समान दूसरी पायजेब बनाओ ॥१७४॥

वे उसे भली भाँति जाँचकर बोले—'महाराज इस प्रकार का दूसरा पायजेब नहीं बनाया जा सकता। यह तो देवताओं की कारीगरी है मनुष्यों की नहीं ॥१७५॥

इसमें के बहुत-से रत्न तो भूतल में मिलते ही नहीं इसलिए जहाँ से यह एक मिला है वहीं इसका जोड़ा भी ढूँढ़ो' ॥१७६॥

यह सुनकर राजा और रानी के निराश और खिन्न हो जाने पर वहाँ बैठा हुआ अशोकदत्त बोला—'मैं तुम्हारे पायजेब का जोड़ा लाता हूँ' ॥१७७॥

उसकी इस प्रकार की प्रतिज्ञा को राजा ने केवल साहस समझा। अतः स्नेह से बार-बार मना करने पर भी अशोकदत्त अपने निश्चय से विचलित न हुआ और उस पायजेब को लेकर फिर श्मशान में गया ॥१७८–१७९॥

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात में वहाँ उसने वह आभूषण पाया था वहीं पहुँचा। वहाँ जाकर धधकती हुई चिता के धुएँ से मलिन (काले) पाश में लपेटे हुए मनुष्यों के मर्मों को अपने मर्मों में लटकाये हुए, वृक्षों के समान दीर्घकाय राक्षसों से संकीर्ण उस श्मशान में उसने पहले देखी हुई उस स्त्री को देखा। उसका पायजेब मैंने के लिए उसने नर मांस बेचने का उपाय सोचा ॥१८०–१८२॥

उसने एक वृक्ष में बँधी हुई मनुष्य की लाश को खींचकर और कन्धे पर लादकर घूमना आरम्भ किया और चिल्लाने लगा कि मैं मानव-मांस बेच रहा हूँ जिसे लेना हो ले' ॥१८३॥

महासत्त्व ! गृहीत्वतद्वेहि तावन्मया सह।
इति क्षणाच्च जगदे स दूरादेकया स्त्रिया॥१८४॥
तच्छ्रुत्वा स तथैवतामुपेत्यानुसरन् स्त्रियम्।
आरात्तरुतल दिव्यरूपां यावित्समैक्षत॥१८५॥
स्त्रीभिर्वृतामासनस्थां रत्नाभरणभासुराम्।
असम्भाव्यम्भित तत्र मरावम्भोजिनीमिव॥१८६॥
स्त्रिया तयोपनीतश्च तामुपेत्य तथा स्थिताम्।
नूनमस्मि विक्रीण गृह्यतामित्युवाच स॥१८७॥
भो महासत्त्व! मूल्यन कनैतद्दीयत त्वया।
इति सापि तदाह स्म विस्मयपा किन्नरा॥१८८॥
तत स वीरो हस्तस्य तमेव मणिनूपुरम्।
सन्दर्श्य स्कन्धपृष्ठस्थप्रतकायो जगाद ताम्॥१८९॥
यो ददात्यस्य सदृश द्वितीय नूपुरस्य मे।
मांस तस्य ददाम्येतन्स्त्वयसौ यदि गृह्यताम्॥१९०॥
तच्छ्रुत्वा साप्यवादीत्समस्त्यन्यो नूपुरो मम।
असौ मदीय एवैको नूपुरो हि हृतस्त्वया॥१९१॥
सवाहं या त्वया दृष्टा शूलविद्धस्य पार्श्वत।
रूपान्यरूपा भवता परिज्ञातास्मि नाधुना॥१९२॥
तत्किं मांसेन यदह वच्मि ते तत्करोषि चेत्।
तद्द्वितीय ददाम्यस्य तुल्य तुभ्य स्वनूपुरम्॥१९३॥
इत्युक्त स तदा वीरः प्रतिपद्य तदब्रवीत्।
यत्त्वं वदसि तत्सर्वं करोम्यव क्षणादिति॥१९४॥

अशोकदत्तविद्युत्प्रभयोः परिचयकथा

ततस्तस्मै जगादैवमामूलात्सा मनीषितम्।
अस्ति भद्र! त्रिकूटाख्य हिमवच्छिखरे पुरम्॥१९५॥
तत्रासीत्लम्बजिह्वाख्य प्रवीरो राक्षसाधिप।
तस्य विद्युज्जिह्वा नाम भार्याहं कामरूपिणी॥१९६॥
स चकस्यां सुतायां मे जातायां दयत पति।
प्रभो कपालस्फोटस्य पुरतो निहतो रण॥१९७॥

हे महामना ! इसे लेकर मेरे साथ आओ। इस प्रकार दूर बैठी हुई स्त्री बोली—१८४॥

यह सुनकर उसका पीछा करते हुए उसने समीप ही एक वृक्ष के नीचे बैठी हुई, दिव्य रूप-वाली और रत्नों के आभूषणों से चमकती हुई, अनेक स्त्रियों से घिरी हुई और आसन पर बैठी हुई एक स्त्री को देखा॥१८५॥

मरुभूमि में कमलिनी के समान उस स्थान (श्मशान) पर ऐसी स्त्री का रहना सम्भव नहीं था। उस स्त्री के द्वारा ले आया गया अशोकदत्त उस बैठी हुई सुन्दरी के पास जाकर बोला—'मैं मनुष्य-मांस बेचता हूँ ले लो'॥१८६–१८७॥

तब वह दिव्य रमणी बोली कि हे महापुरुष! इसे किस मूल्य पर बेते हो? ॥१८८॥

तब वीर अशोकदत्त ने हाथ में लिये हुए एक पायजेब दिखाकर कहा—'जो इसके ही समान दूसरी पायजेब मुझे देगा उसे दूँगा। यदि वह है, तो ले लो'॥१८९॥

यह सुनकर वह बोली—'हाँ इसी का जोड़ा दूसरा पायजेब मेरे पास है। यह मेरा ही पायजेब तूने छीना है॥१९॥

मैं वही स्त्री हूँ जिसे तुमने शूली में बिंधे हुए उस मनुष्य के पास उस दिन देखा था। इस समय दूसरा रूप बदलने के कारण तूने मुझे नहीं पहिचाना॥१९१–१९२॥

तो अब मांस लेकर क्या होगा मैं जो कहती हूँ वह करो तो इसी के समान दूसरा पायजेब तुम्हें दूँगी'॥१९३॥

इस प्रकार कहे गये उस वीर ने उसकी बात स्वीकार करके कहा—'जो तू कहेगी वह उसी समय करूँगा'॥१९४॥

अशोकदत्त और विद्युत्प्रभा की विवाह-कथा

तब उस दिव्य स्त्री ने उससे अपने मन की बात इस प्रकार कही—'हे भद्र आदमी! हिमालय के शिखर पर त्रिघन नाम का एक नगर है। वहाँ पर लम्बजिह्व नाम का एक राक्षसराज है। मैं उसकी विद्युज्जिह्वा नाम की पत्नी हूँ और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली हूँ॥१९५–१९६॥

वह मेरा पति एक कन्या के उत्पन्न होने पर धूमस्फोट नाम के राक्षसराज द्वारा युद्ध में मारा गया॥१९७॥

ततो निजपुरं सम्मे प्रभुणा तेन तुष्यता।
प्रदत्त तेन च सुख स्थितास्मि ससुताधुना॥१९८॥
सा च मद्दुहितेदानीमारूढा नवयौवनम्।
तत्प्रवीरप्राप्तिचिन्ता च मम मानसम्॥१९९॥
अतस्त्वया सम राज्ञा यान्तं त्वाममुना पथा।
दृष्ट्वा मक्त चतुर्दश्यामिहस्थाहमचिन्तयम्॥२००॥
अय भव्यो युवा वीरो योग्यो म दुहितु पति।
तदेतत्प्राप्तये कञ्चिदुपाय किं न कल्पय॥२०१॥
इति सङ्कल्प्य याचित्वा मूलदिव्यवधोमिपात्।
जलं मध्य श्मशान त्वमानीतोऽमूर्मया मृपा॥२०२॥
मायादर्शितवल्पादिप्रपञ्चासीकवादिनी ।
विप्रलब्धवती चास्मि तम त्वां क्षणमात्रकम्॥२०३॥
आकर्षणाय भूयस्ते मुक्त्या चक स्वनूपुरम्।
सन्त्यज्य मृञ्चलापाशमिव याता ततोऽप्यहम्॥२०४॥
मद्य चत्त्व मया प्राप्तो भवांस्तद्गृहमेरम न।
भजस्व मे सुतां किं च गृहाणापरनूपुरम्॥२०५॥
इत्युक्त स निशाचर्या तयेत्युक्त्वा तया सह।
वीरो गगनमार्गेण तरिसद्रया तत्पुरं ययौ॥२०६॥
सौवर्णं तदपश्यच्च शृङ्गे हिमवत पुरम्।
नभोभ्यवादविभास्तमर्कबिम्बमिवाचलम् ॥२०७॥
रक्षोधिपसुतां तत्र नाम्ना विद्युत्प्रभां स ताम्।
स्वसाहसमहासिद्धिमिव मूर्त्तमवाप्नवान॥२०८॥
तया च सह तत्रैव कञ्चित्कालमुवास स।
अशोकदत्त प्रियया स्वश्रूविभवनिर्वृत॥२०९॥
ततो जगाद तां श्वश्रूं मह्य तद्दहि नूपुरम्।
मत सम्प्रति गन्तव्या पुरी वाराणसी मया॥२१०॥
तत्र ह्योसत्प्रतिज्ञात स्वयं नरपते पुर।
एकरत्नमूपुरस्पर्धिद्वितीयामयन मया॥२११॥
इत्युक्ता तेन सा श्वश्रूर्द्वितीय त न्मूपुरम्।
तस्मै दत्वा पुनश्चक सुवर्णकमल ददौ॥२१२॥

तब हमारे स्वामी कपालस्फोट ने प्रसन्न होकर हमारा नगर मुझे दे दिया। उसमें मैं अपनी कन्या के साथ आनन्द से रहती हूँ॥१९८॥

इस समय मेरी कन्या भरी चढ़ी जवानी पर है। उसके लिए किसी उत्कृष्ट वीर वर की प्राप्ति की चिन्ता मुझे सता रही है। इसीलिए उस दिन चतुर्दशी की रात को राजा के साथ आते हुए तुम्हें देखकर मैं वहाँ रुक गई और सोचने लगी कि यह भव्य सुन्दर वीर और युवा मेरी कन्या के लिए योग्य पति है। अतः इसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय क्यों न करूँ॥१९९-२०१॥

ऐसा सोचकर सूली से बिंधे मनुष्य के बहाने झूठे ही जाल मैंलाकर मैं तुम्हें श्मशान के बीच लाई॥२०२॥

माया से दिखाये गये रूप आदि के झूठे प्रपंच से झूठ बोलकर मैंने कुछ समय के लिए तुम्हें धोखा दिया॥२०३॥

तुम्हारा फिर से आकर्षण करने के लिए जान-बूझ कर अपना एक पायजेब को छोड़कर मैं चली गई॥२०४॥

आज इस रूप में तुम्हें पुनः प्राप्त किया है, तो अब तुम मेरे घर आकर मेरी कन्या का उपभोग करो और दूसरा पायजेब भी ले जाओ॥२०५॥

राक्षसी के इस प्रकार कहने पर वह वीर उसकी बात को स्वीकार करके उसी की सिद्धि के प्रभाव से आकाश-मार्ग द्वारा उसके नगर में गया॥२०६॥

उसने हिमालय के शिखर पर सोने के चमकते हुए नगर को इस प्रकार देखा मानो आकाश-गमन की भ्रान्ति को मिटाने के लिए अचल सूर्यबिम्ब स्थित हो गया हो॥२०७॥

वहाँ पर उसने राक्षसराज की विद्युत्प्रभा नाम की कन्या को भी प्राप्त किया जो उसके साहस की साक्षात् सिद्धि के समान थी॥२०८॥

उसके साथ कुछ समय तक वहीं रहकर अशोकदत्त सास की सम्पत्ति का सुख प्राप्त करता रहा॥२०९॥

कुछ समय बीतने पर उसने सास से कहा—'मुझे वह पायजेब दो अब मैं वाराणसी नगर जाऊँगा। वहाँ मैंने राजा के सामने तुम्हारा एक पायजेब लाने की प्रतिज्ञा की है। जामाद के इस प्रकार कहने पर उसकी सास ने दूसरा पायजेब भी उसे दे दिया और साथ ही एक सोने का कमल भी उसे दिया॥२१०—२१२॥

प्राप्तान्यनूपुरस्तस्मात्स पुरान्निर्ययौ ततः ।
अशोकदत्तो वचसा नियम्यागमनं पुनः ॥२१३॥
तया स्वश्र्वा चाकाशपथेन पुनरेव सः ।
श्मशानं प्रापितः सोऽभून्निजसिद्धिप्रभावतः ॥२१४॥
तरुमूले च तत्रैव स्थित्वा सा तं ततोऽब्रवीत् ।
सदा कृष्णचतुर्दश्यामिह रात्रावुपैम्यहम् ॥२१५॥
तस्मान्निशि च भूयोऽपि त्वमभ्यसि यदा यदा ।
तदा तदा वटतरोर्मूलात् प्राप्स्यसि मामितः ॥२१६॥
एतच्छ्रुत्वा तथेत्युक्त्वा तामामन्त्र्य निशाचरीम् ।
अशोकदत्तः स ततो ययौ तावत्पितृगृहम् ॥२१७॥
कनीयःसुतविश्लेषदुःखदौर्गुण्यदायिना ।
तादृशा तत्प्रवासेन पितरौ तत्र दुःखितौ ॥२१८॥
अतर्कितागतो यावदानन्दयति तत्क्षणात् ।
तावत् स बुद्ध्वा श्वशुरस्तमेवाभ्याययौ नृपः ॥२१९॥
स तं साहसिकस्पर्शभीतैरिव सकण्टकैः ।
अङ्गैः प्रणतमालिङ्ग्य मुमुदे भूपतिश्चिरम् ॥२२ ॥
ततस्तेन समं राज्ञा विवेश नृपमन्दिरम् ।
अशोकदत्तः स तदा प्रमोदो मूर्तिमानिव ॥२२१॥
ददौ राज्ञे स संयुक्तं तद्दिव्यं नूपुरद्वयम् ।
कुर्वाणमिव सद्वीर्यस्तुतिं रणरणारवैः ॥२२२॥
अर्पयामास तच्चास्मै कान्तं कनकपङ्कजम् ।
रक्षःकोपभियो हस्तात्लीलाम्बुजमिवाहृतम् ॥२२३॥
पृष्टोऽथ कौतुकात्तेन राज्ञा देवीयुतेन सः ।
अवर्णयद्यथावृत्तं स्वं कर्णानन्ददायि तत् ॥२२४॥
विचित्रचरितोल्लेखचमत्कारितचेतनम् ।
प्राप्यते किं यथा शुभ्रमनङ्गीकृत्य साहसम् ॥२२५॥
एवं वदंस्ततस्तेन जामात्रा श्लाघ्यताम् ।
मेने स राजा देवी च प्राप्तनूपुरयुग्मका ॥२२६॥
उत्सवातोद्यनिर्ह्रादि तदा राजगृहं च तत् ।
अशोकयशसस्य गुणानुद्गायदिव निर्बभौ ॥२२७॥

अन्येद्युश्च स राजा तत् स्वकृते सुरसद्मनि।
हेमाब्जं स्थापयामास सद्रौप्यकलशोपरि॥२२८॥
उभौ कलशपद्मौ च शुशुभाते सितारुणौ।
यशःप्रतापाविव तौ भूपालाशोकदत्तयोः॥२२९॥
तादृशौ च विलोक्यैतौ स हर्षोत्फुल्ललोचनः।
राजा माहेश्वरो भक्तिरसावेशादभाषत॥२३०॥
अहो विभाति पद्मेन शुक्लोऽप्य कलशोऽमुना।
भूतिशुभ्रः कपर्दीव जटाजूटेन बभ्रुणा॥२३१॥
अभविष्यद्द्वितीयं चेदीदृशं कनकाम्बुजम्।
अस्थापयिष्यतामुष्मिन् द्वितीये कलशेऽपि तत्॥२३२॥
इति राजवचः श्रुत्वाशोकदत्तस्ततोऽब्रवीत्।
आनेष्याम्यहमम्भोजं द्वितीयमपि देव ते॥२३३॥
तच्छ्रुत्वा न ममायम पङ्कजेन प्रयोजनम्।
अलं ते साहसेनेति राजापि प्रत्युवाच तम्॥२३४॥
दिवसेष्वथ यातेषु हेमाब्जहरणैषिणि।
अशोकदत्ते सा भूयोऽप्यागात्कृष्णचतुर्दशी॥२३५॥
तस्यां चास्य सुवर्णाब्जवाञ्छां बुद्ध्वा भ्रमाविव।
धूसरः स्वर्णकमले यातेऽस्तशिखरं रवौ॥२३६॥
सन्ध्यारुणाभ्रपिशितग्रासगर्वाविव क्षणात्।
तमोरक्षःसु चारेषु धूमधूम्रेषु सर्वतः॥२३७॥
स्फुरद्दीपावलीदन्तमालाभास्वरभीषणे।
जृम्भमाणे महारौद्रे निशानक्तञ्चरीमुखे॥२३८॥
प्रसुप्तराजपुत्रीकात्स्वैरं निर्गत्य मन्दिरात्।
अशोकदत्तः स ययौ श्मशानं पुनरेव तत्॥२३९॥
तत्र तस्मिन्वटतरोर्मूले तां पुनरागताम्।
ददर्श राक्षसीं श्वश्रूं विहितस्वागतादराम्॥२४०॥
तया च सह भूयस्तद्गमत्तन्निकेतनम्।
स युवा हिमवच्छृङ्गे मार्गोन्मुखवधूजनम्॥२४१॥
कञ्चित्कालं समं वध्वा तत्र स्थित्वाब्रवीच्च ताम्।
श्वश्रू देहि द्वितीयं मे कुतश्चित् कनकाम्बुजम्॥२४२॥

दूसरे दिन राजा ने अपने पूजा-गृह में उस स्वर्ण-कमल को चाँदी के कलश में स्थापित कर दिया ॥२२८॥

श्वेत और रक्त वे दोनों कलश और पद्म इस प्रकार शोभित हो रहे थे मानों राजा और अशोकदत्त के क्रमशः यश और प्रताप हों ॥२२९॥

उसकी अनुपम शोभा देखकर शिवभक्त राजा ने हर्ष से आँखें फाड़ते हुए भक्तिरस के आवेग में कहा—'अहा ! इस स्वर्ण-कमल से यह कलश ऊँचा होकर ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे हिम-धवल शिवजी अपने लाल-पीले जटाभार से ऊँचे और शोभित होते हैं' ॥२३०–२३१॥

यह सुनकर अशोकदत्त ने कहा —'महाराज ! मैं आपके लिए दूसरा कमल भी ला दूँगा। तब उत्तर देते हुए राजा ने उससे कहा—'मुझे दूसरे कमल की आवश्यकता नहीं तुम साहस न करो' ॥२३२–२३४॥

कुछ दिन व्यतीत होने पर भी अशोकदत्त की दूसरे स्वर्ण-कमल को लाने की इच्छा बनी रही। इतने में ही कृष्ण चतुर्दशी आ गई ॥२३५॥

उस दिन अशोकदत्त की स्वर्ण-कमल लाने की इच्छा जानकर, आकाश-सरोवर के स्वर्ण कमल सूर्य के भय से अस्त हो जाने पर, सन्ध्या के समान लाल मेघ-रूपी मांस का ग्रास करने के गर्व से मानों तम-रूपी धुएँ से धूमिल राक्षसों के इधर-उधर दौड़-धूप करने पर चमकती हुई दीपमाला-रूपी दाँतों की पंक्ति से भीषण अति भीषण रात्रि राक्षसी के मुँह के खुलने पर वह अशोकदत्त शयन करती हुई राजपुत्रीवाले अपने भवन से चुपचाप निकलकर फिर उसी श्मशान में आ पहुँचा ॥२३६–२३९॥

वहाँ पर उसने उसी वटवृक्ष की जड़ में बैठी हुई और स्वागत करती हुई अपनी राक्षसी सास को देखा ॥२४ ॥

तदनन्तर वह युवक उसके साथ फिर हिमालय-शिखर पर स्थित उसके घर पर गया वहाँ उसकी पत्नी उसकी प्रतीक्षा कर रही थी ॥२४१॥

कुछ समय तक अपनी पत्नी के साथ वहाँ निवास करके अशोकदत्त अपनी सास से बोला कि 'मुझे दूसरा स्वर्ण-कमल दो' ॥२४२॥

तच्छ्रुत्वा साप्यवादीत् कुतोऽन्यत् पङ्कजं मम।
एतत्कपालस्फोटस्य विद्यतेऽस्मत्प्रभोः सरः॥२४३॥
यत्रेदृशानि जायन्ते हेमाब्जानि समन्ततः।
तस्मात्तदेकं मद्भर्त्रे प्रीत्या पद्मं स दत्तवान्॥२४४॥
एवं तयोक्ते सोऽवादीत्तर्हि तन्मां सरोवरम्।
नय यावत्स्वयं तस्मादादास्ये कनकाम्बुजम्॥२४५॥
न शक्यमेतद्रक्षोभिर्वारिणस्तद्धि रक्ष्यते।
एवं निषिद्धोऽपि तया निर्बन्धं न स तं जहौ॥२४६॥
ततः कथञ्चिन्नीतश्च तया स्वस्वा ददर्श तम्।
दूरात् सरोवरं दिव्यं तुङ्गाद्रिकटकायितम्॥२४७॥
छन्नं निरन्तरोद्दण्डदीप्तहेमसरोरुहैः।
सततोन्मुखतापीतसङ्क्रान्तार्कप्रभैरिव॥२४८॥
गत्वैव तत्र यावच्च पद्मान्यवचिनोति सः।
तावत्तद्रक्षिणो घोरा रुरुधुस्तं निशाचराः॥२४९॥
सशस्त्रः सोऽवधीत्तान्मानयामये पलाय्य च।
गत्वा कपालस्फोटाय स्वामिने तन्न्यवेदयन्॥२५ ॥
स तद्बुद्ध्वैव कुपितस्तत्र रक्षःपतिः स्वयम्।
आगत्याशोकदत्तं तमपश्यल्लुण्ठिताम्बुजम्॥२५१॥
कथं भ्राता ममाशोकदत्तः सोऽयमिहागतः।
इति प्रत्यभ्यजानाच्च तत्क्षणं तं सविस्मयः॥२५२॥
तत्र शस्त्रं समुत्सृज्य हर्षबाष्पाप्लुतेक्षणः।
धावित्वा पादयोः सद्यः पतित्वा च जगाद तम्॥२५३॥
अहं विजयदत्ताख्यः सोदर्यः स तवानुजः।
आवां द्विजवरस्योभौ गोविन्दस्वामिनः सुतौ॥२५४॥
इयच्चिरं च जातोऽहं वैतालीवृद्धनिशाचरः।
चिताकपालदस्मात् कपालस्फोटनामकः॥२५५॥
त्वद्दर्शनादिदानीं च ब्राह्मण्यं तत्स्मृतं मया।
गतं च राक्षसत्वं मे मोहाच्छादिविपतनम्॥२५६॥

यह सुनकर वह कहने लगी कि मेरे पास दूसरा स्वर्ण-कमल कहाँ है। यह हमारे राजा कपालस्फोट का सरोवर दीख रहा है, उसमें इस प्रकार के स्वर्ण-कमल होते हैं। उन्हीं में से एक कमल राजा ने मेरे पति को प्रेम से दिया था।।२४३-२४४।।

सास के ऐसा कहने पर अशोकदत्त ने कहा—'तब तुम मुझे उस सरोवर पर ले चलो। मैं स्वयं स्वर्णकमल ले लूँगा'।।२४५।।

उसकी सास ने उससे कहा—'यह सम्भव नहीं है। बड़े-बड़े भीषण राक्षस उस सरोवर की रक्षा करते हैं'। इस प्रकार सास द्वारा निषेध करने पर भी उसने अपना हठ नहीं छोड़ा।।२४६।।

तब किसी प्रकार उस सास द्वारा वहाँ ले जाये जाने पर उसने दिव्य स्वर्ण-कमलों से युक्त और हिमालय की ऊँची घाटी पर स्थित उस सरोवर को देखा।।२४७।।

वह सरोवर, सूर्य की किरणों का निरन्तर पान करने के कारण सूर्य की प्रभा के समान चमकते हुए ऊँचे-ऊँचे एवं विकसित स्वर्ण-कमलों से ढका हुआ था।।२४८।।

वहाँ जाकर जब वह कमलों को चुनने लगा तब भयानक रक्षक राक्षसों ने उसे रोका।।२४९।।

तब अशोकदत्त ने भी खड्ग निकालकर उन्हें मारना प्रारम्भ किया। फलतः कुछ राक्षस भय से भागकर अपने स्वामी कपालस्फोट के पास पहुँचे और उन्होंने उससे निवेदन किया।।२५०।।

यह सुनकर क्रोध से भरे हुए राक्षसराज ने स्वयं आकर लूटे हुए स्वर्ण-कमलों के साथ अशोकदत्त को देखा।।२५१।।

उसने आश्चर्य के साथ अपने भाई को पहचानकर सोचा कि 'यह मेरा भाई अशोकदत्त यहाँ कैसे आ गया'।।२५२।।

तब हर्ष के आँसुओं से भरी हुई आँखोंवाला वह राक्षसराज शस्त्र को फेंककर दौड़कर उसके पैरों पर पड़कर कहने लगा—मैं विजयदत्त नाम का तुम्हारा छोटा सहोदर भाई हूँ। हम दोनों ब्राह्मणश्रेष्ठ गोविन्दस्वामी के पुत्र हैं। दैववश मैं इतने दिनों तक राक्षस बन गया था। चिता में पड़े हुए कपाल (सिर) को फाड़ने के कारण मेरा नाम कपालस्फोट पड़ गया। इस समय तुम्हारे दर्शन से मुझे ब्राह्मणत्व का स्मरण हो आया और अज्ञान से बुद्धि को ढक देनेवाला मेरा राक्षसभाव अब मुझसे निकल गया।।२५३—२५६।।

एवं विजयदत्तस्य वदतः परिरभ्य सः ।
यावत्तात्स्यतीवाङ्गं राक्षसीभावदूषितम् ॥२५७॥
अशोकदत्तो बाष्पाम्बुपूरैस्तावदवातरत् ।
प्रज्ञप्तिकौशिको नाम विद्याधरगुरुर्दिवः ॥२५८॥
स तौ प्राक्प्युपेत्यैव भ्रातरौ गुरुरब्रवीत् ।
यूयं विद्याधराः सर्वे शापादस्तां दशां गताः ॥२५९॥
अधुना च स शापो वः सर्वेषां शान्तिमागतः ।
तद्गृह्णीत निजा विद्या बन्धुसाधारणीरिमाः ॥२६ ॥
व्रजतं च निजं धाम स्वीकृतस्वजनौ युवाम् ।
इत्युक्त्वा दत्तविद्योऽसौ तयोर्गामुपययौ गुरुः ॥२६१॥
तौ च विद्याधरीभूतौ प्रबुद्धौ जग्मतुस्ततः ।
व्योम्ना तद्धिमवच्छृङ्गं गृहीतकनकाम्बुजौ ॥२६२॥
तत्र चाशोकदत्तस्तां रक्षःपतिसुतां प्रियाम् ।
उपागात् साप्यभूत्क्षीणशापा विद्याधरी तदा ॥२६३॥
तया च साकं सुवृत्ता भ्रातरौ तावुभावपि ।
वाराणसीं प्रययतुः क्षणाद्गगनगामिनौ ॥२६४॥
तत्र चोपेत्य पितरौ विप्रयोगाग्नितापितौ ।
निरवापयतां सद्यो दर्शनामृतवर्षिणौ ॥२६५॥
अदेहभेदेऽप्याश्चर्यं जन्मान्तरौ च तौ ।
न पित्रोरेव लोकस्याप्युत्सवाय बभूवतुः ॥२६६॥
चिराद् विजयदत्तश्च गाढमाश्लिष्यत पितुः ।
भुजमध्यमिवात्यर्थं मनोरथमपूरयत् ॥२६७॥
ततस्तत्रैव तद्बुद्ध्वा प्रतापमुकुटोऽपि सः ॥
अशोकदत्तश्वशुरो राजा हर्षादुपाययौ ॥२६८॥
तत्सत्कृतश्च तद्राजधानीं सोत्कस्थितप्रियाम् ।
अशोकदत्तः स्वजनैः सार्धं सद्योत्सवामगात् ॥२६९॥
ददौ च कनकाम्भोजानि राज्ञे तस्य बहूनि सः ।
अभ्यर्थिताधिकप्राप्तिहृष्टः सोऽप्यभवन्नृपः ॥२७०॥
ततो विजयदत्तं तं सर्वेष्वत्र स्थितेषु सः ।
पिता पप्रच्छ गोविन्दस्वामी सादरसकौतुकः ॥२७१॥

इस प्रकार कहते हुए विजयदत्त की छाती से चिपककर अशोकदत्त ने अपनी अश्रु-धाराओं से तबतक उसके राक्षस-भाव से दूषित शरीर को धो डाला। इतने में ही प्रज्ञप्तिकौशिक नामक विद्याधरों के गुरु आकाश-मार्ग से उतरकर उन दोनों भाइयों से बोले—तुम सभी विद्याधर हो शाप के कारण इस दशा को प्राप्त हुए हो। अब तुमलोगों का वह शाप समाप्त हो गया है। अतः अब तुम अपनी विद्याओं को ले लो और अपने बन्धु विद्याधरों की श्रेणी में मिल जाओ। अब अपने स्थान को जाओ और अपने बन्धु-बान्धवों का स्वीकार करो। उनसे ऐसा कहकर और विद्या देकर गुरु चले गये॥२५७—२६१॥

तदनन्तर उन्होंने अपने को पहिचाना और वे दोनों विद्याधर हो गये और स्वर्ण-कमलों को लेकर विद्या के प्रभाव से आकाश-मार्ग द्वारा हिमालय-शिखर-स्थित अपने स्थान को चले गये॥२६२॥

वहाँ पर अशोकदत्त राक्षसराज की पुत्री अपनी पत्नी के पास गया। फलतः वह भी विद्याधरी हो गई॥२६३॥

उस सुन्दरी के साथ वे दोनों भाई आकाश-मार्ग से क्षण-भर में वाराणसी आ गये॥२६४॥

वहाँ आकर वियोग की अग्नि से तपे हुए माता-पिता को अपने दर्शन-रूपी अमृत-वर्षा से उन्होंने शान्त किया॥२६५॥

शरीर का भेद न होने पर भी उसी शरीर से दूसरे जन्म का अनुभव करते हुए वे दोनों न केवल माता-पिता के ही प्रत्युत सारी जनता के लिए प्रसन्नता देनेवाले हुए॥२६६॥

विजयदत्त को बहुत दिनों के पश्चात् प्राप्त करने पर प्रगाढ़ आलिंगन करते हुए उनके पिता का मनोरथ पूर्ण हुआ॥२६७॥

वाराणसी का राजा और अशोकदत्त का श्वसुर प्रतापमुकुट भी यह समाचार सुनकर प्रसन्न होकर वहाँ आ गया॥२६८॥

उनके द्वारा सम्मानित अशोकदत्त उत्सवों से सुन्दर वाराणसी नगरी में गया जहाँ उसकी पत्नी राजकुमारी उत्कण्ठा से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी॥२६९॥

राजभवन में राजा को अशोकदत्त ने कनक-स्वर्ण-कमल दिये। इच्छा से भी अधिक कमलों के मिलने से राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ॥ ७ ॥

एकबार परिवार के साथ बैठे हुए गोविन्दस्वामी ने [illegible] के साथ विजयदत्त से पूछा—॥२७१॥

तदा विद्याधरगुरोर्विद्यां प्राप्य भविष्यथः ।
पुनर्विद्याधरौ मुक्तौ शापमुक्तौ स्वबन्धुभिः ॥२८६॥
एवं तैर्मुनिभिः शप्तौ जातावावामुभाविह ।
वियोगोऽत्र यथाभूतस्तत्सर्वं विदितं च वः ॥२८७॥
इदानीं पद्महस्तोऽस्य स्वभूसिद्धिप्रभावतः ।
रक्षःपतेः पुरं गत्वा प्राप्तोऽयं चानुजो मया ॥२८८॥
तत्रैव च गुरोः प्राप्य विद्याः प्रज्ञप्तिकौशिकात् ।
सद्यो विद्याधरीभूय वयं क्षिप्रमिहागताः ॥२८९॥
इत्युक्त्वा पितरौ च तौ प्रियतमां तां चात्मजां भूपतेः ।
सद्यः शापतमोविमोक्षमुदितो विद्याविशेषैर्निजैः ॥
तैस्तैः सम्भ्रमवद् विचित्रचरितैः सोऽप्योकयत्तस्तदा ।
यत्नेते सपदि प्रबुद्धमनसोऽप्यायन्त विद्याधराः ॥२९ ॥
ततस्तमामन्त्र्य नृपं स साकं मातापितृभ्यां दयिताद्वयेन ।
उत्पत्य धन्यो निजचक्रवर्तिधाम द्युमार्गेण जवी जगाम ॥२९१॥
तत्रालोक्य समाज्ञां प्राप्य च तस्माद्यशोधवेग इति ।
नाम स बिभ्रत् सोऽपि च तद्भ्राता विजयवेग इति ॥२९२॥
विद्याधरवरतरुणौ स्वजनानुगतावुभौ निजनिवासम् ।
गोविन्दकूटसंज्ञकमचलवरं भ्रातरौ ययतुः ॥२९३॥
सोऽप्याश्चर्यवशः प्रतापमुकुटो वाराणसीभूपतिः
स्वस्मिन् वंशकुले द्वितीयकलशन्यस्तैकहेमाम्बुजः ।
तद्वैरस्परैः सुवयस्कमलरम्यार्पितस्यम्बक-
स्तत्सम्बन्धमहत्सया प्रमुदितो मेने कृतार्थं कुलम् ॥२९४॥
एवं दिव्याः कारणेनावतीर्णा जायन्तेऽस्मिञ्जन्तवो जीवलोके ।
सत्त्वोत्साहौ स्वोचितौ ते दधाना दुष्प्रापामप्यर्थसिद्धिं लभन्ते ॥२९५॥
तत्सत्त्वसागर ! भवानपि कोऽपि जाने
देवांश एव भविता च यथेष्टसिद्धिः ।
प्रायः क्रियासु महतामपि दुष्करासु
सोत्साहता कथयति प्रकृतेर्विशेषम् ॥२९६॥
सापि त्वदीप्सिता ननु दिव्या राजात्मजा कनकरेखा ।
धात्रान्यथा हि वाञ्छति कनकपुरीदर्शिनं कथं हि पतिम् । २९७॥

उस समय विद्याधरों के गुरु से विद्या प्राप्त करके तुम दोनों शाप से मुक्त होकर पुनः विद्याधर बनोगे ॥२८६॥

इस प्रकार उन मुनियों से होकर शापित हम दोनों यहाँ मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए। यहाँ हम भाइयों का जैसे वियोग हुआ यह सब आपको ज्ञात ही है ॥२८७॥

इस समय स्वर्ण-कमल लाने के कारण शाप के प्रभाव से राजराज के नगर में जाकर मैंने इस छोटे भाई को प्राप्त किया ॥२८८॥

और वहीं गुरु प्रज्ञप्तिकौशिक से विद्याएँ प्राप्त करके पुनः विद्याधर होकर शीघ्र यहाँ आये ॥२८९॥

शाप-रूपी अन्धकार के दूर हो जाने से प्रसन्न अशोकदत्त ने इस प्रकार माता-पिता का तथा अपनी राजकुमारी पत्नी का अपनी विद्या की विशेषता से विद्या-प्रदान करके सभी को विचित्र चरित्र-वाला विद्याधर बना दिया ॥२ ॥

तब वह राजा प्रतापमुकुट से मिलकर माता-पिता तथा प्रियतमाओं और भाई के साथ वह धन्य अशोकदत्त आकाश-मार्ग से उड़कर अपने चक्रवर्ती स्थान को गया ॥२९१॥

वहाँ जाकर और वहाँ से आज्ञा प्राप्त करके उसने अपना नाम अशोकवेग और छोटे भाई का नाम विजयवेग रखा ॥२९२॥

वे दोनों सुन्दर विद्याधर तरुण भाई, अपने बन्धु-बान्धवों से मिलकर गोविन्दकूट नामक अपने निवासस्थान को गये ॥२९३॥

अपने देव-मन्दिर में दूसरे कलश में भी एक स्वर्ण कमल रखकर और अशोकदत्त द्वारा प्रदत्त अन्य स्वर्ण-कमलों से शिवजी की पूजा करके अपनी कन्या के महान् सम्बन्ध से वह भूमिपाल प्रतापमुकुट भी अत्यन्त प्रसन्न और चकित हुआ ॥२९४॥

इसी प्रकार दिव्य व्यक्ति किसी प्रकार शाप आदि किन्हीं कारणों से जीवलोक में जन्म लेते हैं और अपने स्वरूप के अनुरूप बल और उत्साह धारण करते हुए दुष्प्राप्य कार्यों में भी सफलता प्राप्त करते हैं ॥२ ५॥

इसलिए हे वत्स के सपूत! मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने अवतार सिद्ध अवश्य किसी देवता के अंश हो। उच्च व्यक्तियों का कठिन-से-कठिन कार्यों में उत्साहित होना उनके स्वभाव की महत्ता को प्रकट करता है ॥२ ६॥

यह तुम्हारी प्यारी राजकुमारी भी अवश्य दिव्य स्त्री है। नहीं तो यह कन्या कनकपुरी देखनेवाले पति को ही क्यों चाहती? ॥२९७॥

तदा श्मशाने यामिन्यां राक्षसस्य गतस्य ते।
अभवत्कौतुको वत्स वृत्तान्तो वर्ण्यतामिति॥२७२॥
ततो विजयदत्तस्त यमाचे तात! चापलात्।
प्रस्फोटितचिताप्रदीप्तकपालोऽहं विशेषतः॥२७३॥
मुखप्रविष्टया सद्यस्तद्वसाच्छटया तदा।
रक्षोभूतस्त्वया तावदृष्टो मायाविमोहितः॥२७४॥
'कपालस्फोट' इत्येव नाम कृत्वा हि राक्षसैः।
ततोऽन्यैरहमाहूतस्तन्मध्ये मिलितोऽभवम्॥२७५॥
तैश्च नीतो निजस्यास्मि पार्श्वं रक्षःपते क्रमात्।
सोऽपि दृष्ट्वैव मां प्रीतः सेनापत्ये न्ययोजयत्॥२७६॥
ततः कदाचिद् गन्धर्वानभियोक्तुं मदेन सः।
गतो रक्षःपतिस्तत्र संग्रामे निहतोऽरिभिः॥२७७॥
तदैव प्रतिपन्न च तद्भृत्यैर्मम शासनम्।
ततोऽहं रक्षसां राज्यमकार्षं तत्पुरे स्थितः॥२७८॥
तत्रास्माच्च हेमाब्जहेतो प्राप्तस्य दर्शनात्।
आयस्याघोषदत्तस्य प्रशान्ता सा दशा मम॥२७९॥
अनन्तरं यथास्माभिः शापमोक्षवशाप्तिजा।
विद्या प्राप्तास्तथार्यो वः कृत्स्नमावेदयिष्यति॥२८०॥
एवं विजयदत्तेन तेन तत्र निवेदिते।
अशोकदत्तः स तदा तथामूलादवर्णयत्॥२८१॥
पुरा विद्याधरौ सन्तौ गगनाद् गाधिवाश्रमे।
स्नातां स्नान्ती[1] रपश्याव गङ्गायां मुनिकन्यकाः॥२८२॥
तुल्याभिलाषास्तास्वाव याच्छन्तौ सहसा रहः।
बुद्ध्वा तद्बन्धुभिः कोपाच्छप्तौ स्वो विश्ववृष्टिभिः॥२८३॥
पापाचारौ प्रजायथां मर्त्ययोनौ युवामुभौ।
तत्रापि विप्रयोगश्च विचित्रो वां भविष्यति॥२८४॥
मानुषागोचरं यदा विप्रकृष्टेऽम्बुपागतम्।
एकं दृष्ट्वा द्वितीयो वां यदा प्रज्ञानमाप्स्यति॥२८५॥

---

१ स्नानमाचरन्तीः।

बेटा उस समय श्मशान में रात के समय जब तू राक्षस बन गया था तब क्या हुआ बताओ' ॥२७२॥

तब विजयदत्त ने कहा—'पिताजी मैंने बाल-स्वभाव-सुलभ चंचलता से चिता में जलते हुए कपाल को डंडे से फाड़ डाला ॥२७३॥

उससे निकली हुई चर्बी की धारा जब मेरे मुख में गई, तब माया से मुझ में उसी समय राक्षस बन गया ॥२७४॥

तदनन्तर दूसरे राक्षसों ने मेरा नाम कपालस्फोट रखकर अपनी मंडली में बुलाया और मैं भी उसमें सम्मिलित हो गया ॥२७५॥

वे लोग मुझे अपने साथ राक्षसों के राजा के समीप ले गये। उसने मुझे देखकर प्रसन्नता प्रकट की और मुझे अपना सेनापति बना दिया ॥२७६॥

उसके पश्चात् एक बार राक्षसराज ने घमंड में आकर गन्धर्वों पर चढ़ाई कर दी और वह स्वयं युद्ध में मारा गया ॥२७७॥

तब से उसके सेवकों ने मेरा शासन स्वीकार किया और मैंने उसके नगर में रहकर राक्षसों पर राज्य किया ॥२७८॥

वहाँ पर अकस्मात् मोन के दमन करने के लिए आये हुए आर्य (बड़े भाई) यशोकदत्त के दर्शन से वह मेरी राक्षसी दशा समाप्त हो गई ॥२७९॥

उसके पश्चात् शाप से मोक्ष होने पर हमलोगों ने अपनी विद्याएँ जैसे प्राप्त की यह सब आर्य अशोकदत्त आपको सुनावेंगे' ॥२८ ॥

विजयदत्त के इस प्रकार कहने पर अशोकदत्त ने सारी कथा प्रारम्भ से सुनाई—॥२८१॥

पूर्वकाल में हम दोनों विद्याधर थे। उस समय हम दोनों ने गालव मुनि के आश्रम में स्नान करती हुई मुनि-कन्याओं को देखा ॥२८२॥

समान अभिलाषावाली उन कन्याओं को चाहते हुए हम लोग एकान्त स्थान ढूँढ़ने लगे। दिव्य दृष्टिवाले हमारे बन्धुओं ने इस रहस्य को जानकर हमें शाप दिया ॥२८३॥

तुम दोनों पापाचारी मनुष्य-योनि में उत्पन्न होओ। उस योनि में भी तुम दोनों का विचित्र वियोग होगा ॥२८४॥

मनुष्यों से अगम्य दूर देश में एक-दूसरे को देखकर अपने तत्त्व को जानोगे ॥२८५॥

तदा विद्याधरगुरोर्विद्यां प्राप्य भविष्यथः ।
पुनर्विद्याधरौ युक्तौ शापमुक्तौ स्वबन्धुभिः ॥२८६॥
एवं तैर्मुनिभिः शप्तौ जातावावामुभाविह ।
वियोगोऽत्र ययाभूतस्तत्सर्वं विदितं च वः ॥२८७॥
इदानीं पद्महेतोश्च स्वभूसिद्धिप्रभावतः ।
रक्षःपतेः पुरं गत्वा प्राप्तोऽयं चानुजो मया ॥२८८॥
तत्रैव च गुरोः प्राप्य विद्याः प्रज्ञप्तिकौशिकात् ।
सद्यो विद्याधरीभूय वयं क्षिप्रमिहागताः ॥२८९॥
इत्युक्त्वा पितरौ च तौ प्रियतमां तां चात्मजां भूपते ।
सद्यः शापसमोविमोक्षमुदितो विद्याविशर्षैर्निजैः ॥
तैस्तं सम्यमजद् विचित्रचरितः सोऽशोकदत्तस्तदा ।
येनैते सपदि प्रबुद्धमनसोऽजायन्त विद्याधराः ॥२९० ॥
ततस्तमामन्त्र्य नृपं स साकं मातापितृभ्यां दयितायुतेन ।
उत्पत्य धन्यो निजचक्रवर्तिधाम द्युमार्गेण जवी जगाम ॥२९१॥
तत्रालोक्य तमाज्ञां प्राप्य च तस्मादशोकवेग इति ।
नाम स बिभ्रत् सोऽपि च तद्भ्राता विजयवेग इति ॥२९२॥
विद्याधरवरतरुणौ स्वजनानुगतावुभौ निजनिवासम् ।
गोविन्दकूटसञ्ज्ञकमचलवरं भ्रातरौ ययतुः ॥२९३॥
सोऽप्याश्चर्यवशः प्रतापमुकुटो वाराणसीभूपतिः
स्वस्मिन् देवकुले द्वितीयकलशाम्यस्तैकहेमाम्बुजः ।
तद्दत्तैरपरैः सुवर्णकमलैरभ्यर्चितत्र्यम्बकः-
स्तत्सम्बन्धमहत्तया प्रमुदितो मने कृताथं कुलम् ॥२९४॥
एवं दिव्या कारणनावतीर्णा जायन्तेऽस्मिञ्जन्तवो जीवलोके ।
गत्वाऽगाह्यां स्वोचितां तु दशाम्मां दुष्प्रापामप्यर्थसिद्धिं लभन्ते ॥२९५॥
तन्नरवाहनदत्त ! भवानपि कोऽपि जाने
देवांशः तव भविता च यथेष्टसिद्धिः ।
प्रायः त्रियामं महतामपि दुष्करागु-
गोष्ठाहतां वर्षयन्ति प्रकृतविनेयम् ॥२९६॥
नापि त्वदीप्सिता मनुष्यिपा राजन्यजा मनकरगा ।
सामान्यया हि बाम्ळापि मनःपुरोर्भनि वर्ष्यं हि पतिम् । २९७॥

उस समय विद्याधरों के युद्ध से विद्या प्राप्त करके तुम दोनों शाप से मुक्त होकर पुनः विद्याधर बनोगे॥२८६॥

इस प्रकार उन मुनियों से होकर शापित हम दोनों यहाँ मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए। यहाँ हम दोनों का जैसे वियोग हुआ यह सब आपको ज्ञात ही है॥२८७॥

इस समय स्वर्ण-कमल लाने के कारण सास के प्रभाव से राक्षसराज के नगर में जाकर मैंने इस छोटे भाई को प्राप्त किया॥२८८॥

और वहीं गुरु प्रज्ञप्तिकौशिक से विद्याएँ प्राप्त करके पुनः विद्याधर होकर शीघ्र यहाँ आये॥२८९॥

शाप-रूपी अन्धकार के दूर हो जाने से प्रसन्न अशोकदत्त ने इस प्रकार माता-पिता को तथा अपनी राजकुमारी पत्नी को अपनी विद्या की विशेषता से विद्या-प्रदान करके सभी का विचित्र चरित्र-वाला विद्याधर बना दिया॥२९ ॥

तब वह राजा प्रतापमुकुट से मिलकर माता-पिता दोनों प्रियतमामा और भाई के साथ वह धन्य अशोकदत्त आकाश-मार्ग से उड़कर अपने चक्रवर्ती स्थान को गया॥२९१॥

वहाँ जाकर और वहाँ से आज्ञा प्राप्त करके उसने अपना नाम अशोकवेग और छोटे भाई का नाम विजयवेग रखा॥२९२॥

वे दोनों सुन्दर विद्याधर, तरुण भाई, अपने बन्धु-बान्धवों से मिलकर गोविन्दकूट नामक अपने निवासस्थान को गये॥२९३॥

अपने देव-मन्दिर में दूसरे कलश में भी एक स्वर्ण-कमल रखकर और अशोकदत्त द्वारा प्रदत्त अन्य स्वर्ण-कमलों से शिवजी की पूजा करके अपनी कन्या के महान् सम्बन्ध से वह काशिराज प्रतापमुकुट भी अत्यन्त प्रसन्न और चकित हुआ॥२९४॥

इसी प्रकार दिव्य व्यक्ति किसी प्रकार शाप आदि किन्हीं कारणों से जीवलोक में जन्म लेते हैं और अपने स्वरूप के अनुरूप बल और उत्साह धारण करते हुए दुष्प्राप्य कार्यों में भी सफलता प्राप्त करते हैं॥२९५॥

इसलिए हे बल के समुद्र! मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने मनोरथ सिद्ध करनेवाले किसी देवता के अंश हो। अन्य व्यक्तियों का कठिन-से-कठिन कार्यों में उत्साहित होना उनके स्वभाव की महत्ता को प्रकट करता है॥२९६॥

यह तुम्हारी प्यारी राजकुमारी भी अवश्य दिव्य स्त्री है। नहीं तो यह कन्या कनकपुरी देखनेवाले पति को ही क्यों चाहती?॥२९७॥

ततः सत्यव्रतोऽवादीदसौ देवो वटद्रुमः।
अस्याधः सुमहावर्तमधस्ताद् वडवामुखम्॥१०॥
एतं च परिहृत्यैव प्रदेशमिह गम्यते।
अत्रावर्ते गतानां हि न भवत्यागमः पुनः॥११॥
इति सत्यव्रते तस्मिन् वदत्येवाम्बुवेगतः।
तस्यामेव प्रववृते गन्तुं तद्वहनं दिशि॥१२॥
तद्दृष्ट्वा शक्तिदेवं स पुनः सत्यव्रतोऽब्रवीत्।
ब्रह्मन्![1] विनाशकालोऽयं ध्रुवमस्माकमागतः॥१३॥
यदकस्मात् प्रवहणं पश्यात्रैव प्रयात्यदः।
शक्यते नैव रोद्धुं च कथमप्यधुना मया॥१४॥
तदावर्ते गभीरेऽत्र वयं मृत्योरिवानने।
क्षिप्ता एवाम्बुनाकृष्य कर्मणेव बलीयसा॥१५॥
एतच्च मम मे दुःखं शरीरं कस्य हि स्थिरम्।
दुःखं तु यन्न सिद्धस्ते कृच्छ्रेणापि मनोरथः॥१६॥
तद्यावद् धारयाम्येतदहं प्रवहणं मनाक्।
तावदस्यावलम्बेथाः शाखां वटतरोर्द्रुतम्॥१७॥
कदाचिज्जीवितोपायो भवेद् भव्याकृतेस्तव।
विधिविलासानम्भोधेश्च तरङ्गान्को हि तर्कयेत्॥१८॥
इति सत्यव्रतस्यास्य धीरसत्त्वस्य जल्पतः।
बभूव निकटे तस्य तरोः प्रवहणं ततः॥१९॥
तत्क्षणं स कृतोत्फालः शक्तिदेवो विसाध्वसः।
पृथुलामग्रहीच्छाखां तस्याब्धितटशाखिनः॥२०॥
सत्यव्रतस्तु वहता देहेन वहनेन च।
परार्थकल्पितात्मा विवेश वडवामुखम्॥२१॥
शक्तिदेवस्तु शाखाभिः पूरिताशस्य तस्य सः।
आश्रित्यापि तरोः शाखां निराशः समचिन्तयत्॥२२॥
न तावत्सा च कनकपुरी दृष्टा मया पुरी।
अपरे नश्यता तावद्दाशश्चोऽप्यत्र नाशितः॥२३॥
यदि वा सततन्यस्तपदा सर्वस्य मूर्धनि।
कामं भगवती केन भव्यते भवितव्यता॥२४॥

१ भाव्यमित्यर्थः।

यह सुनकर सत्यव्रत ने कहा—यह वटवृक्ष रूपी देवता है। इसके नीचे आनेवाले आवर्त्त (भँवर) को बड़वानल (समुद्री अग्नि) का मुँह बताते हैं। इसीलिए नाववाले उस स्थान को छोड़कर चलते हैं क्योंकि उस भँवर में पड़े हुए लोग फिर लौटते नहीं ॥१०—११॥

जबतक सत्यव्रत इस प्रकार कह ही रहा था इतने में ही उसकी नाव पानी के वेग से उसी ओर बढ़ गई ॥१२॥

यह देखकर सत्यव्रत ने शक्तिदेव से फिर कहा—'ब्राह्मण देवता! हमारे विनाश का समय आ गया है! ॥१३॥

क्योंकि यह नाव अकस्मात् उसी ओर बढ़ी जा रही है। इसे अब मैं किसी तरह भी नहीं रोक सकता ॥१४॥

हम लोग मृत्यु-मुख के समान इस गहरे भँवर में पड़ गये हैं। हमें बलवान् कर्म के समान वेगवान् जल ने इसमें ढकेल दिया है ॥१५॥

मुझे मृत्यु का दुःख नहीं है किसका शरीर अमर रहा है? दुःख केवल इसी बात का है कि इतना कष्ट उठाने पर भी तुम्हारे कार्य में सफलता न मिली ॥१६॥

मैं भरसक नाव को कुछ हटाने का यत्न कर रहा हूँ। तुम शीघ्र ही इस वटवृक्ष की शाखा को पकड़ने का यत्न करना ॥१७॥

तुम भव्य (सुन्दर) आकृतिवाले हो। सम्भव है तुम्हारा कल्याण हो। दैव के विधानों और समुद्र तरंगों को कौन जान सकता है' ॥१८॥

धैर्यशाली सत्यव्रत के इस प्रकार कहने पर नाव वटवृक्ष के पास आ गई। उसी समय शक्तिदेव ने बिना व्याकुलता के उछलकर वटवृक्ष की एक मोटी शाखा पकड़ ली ॥१९–२० ॥

किन्तु सत्यव्रत परोपकार के लिए निर्मित नाव से और अपने शरीर से बड़वानल के मुख में चला गया ॥२१॥

शक्तिदेव भी आशाओं से आशा को पूर्ण करनेवाले उस वृक्ष की शाखा पर आश्रय पाकर, निराश हो सोचने लगा। मैंने कनकपुरी अभी तक नहीं देखी और ऐसे अवसर पर धीवरराज सत्यव्रत को भी खो दिया। सभी के सिर पर पैर रखकर चढ़ी भवितव्यता (होनहार) को कौन मिटा सकता है ॥२२-२४॥

इति रहसि निशम्य विष्णुदत्तात्
सरसकथाप्रखरः स शक्तिदेवः ।
भुवि कनकपुरीविलोकनैषी
धृतिमवलम्ब्य निनाय च त्रियामाम् ॥२९८॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
चतुर्दारिका लम्बके द्वितीयस्तरङ्गः ।

तृतीयस्तरङ्गः

शक्तिदेवस्य कनकपुरीं प्रति प्रस्थानम्

ततस्तत्रोत्स्थलद्वीपे प्रभाते तं मठस्थितम् ।
शक्तिदेवं स दाशेन्द्रः सत्यव्रत उपाययौ ॥१॥
स च प्राक्प्रतिपन्नं तं समुपेत्यैनमभाषत ।
ब्रह्मंस्त्वदिष्टसिद्ध्यर्थमुपायश्चिन्तितो मया ॥२॥
अस्ति द्वीपवरं मध्ये रत्नकूटाख्यमम्बुधेः ।
कृतप्रतिष्ठस्तत्रास्ते भगवान्हरिरब्धिना ॥३॥
आषाढशुक्लद्वादश्यां तत्र यात्रोत्सवे सदा ।
आयान्ति सर्वद्वीपेभ्यः पूजाय यत्नतो जनाः ॥४॥
तत्र ज्ञायेत कनकपुरी सा जातुचित् पुरी ।
तदेहि तत्र गच्छावः प्रत्यासन्ना हि सा तिथिः ॥५॥
इति सत्यव्रतेनोक्तः शक्तिदेवस्तथेति सः ।
जग्राह हृष्टः पाथेयं विष्णुदत्तोपकल्पितम् ॥६॥
ततो वहनमारुह्य स सत्यव्रतढौकितम् ।
तेनैव साकं त्वरितं प्रायाद् वारिधिवर्त्मना ॥७॥
गच्छंश्च तत्र स द्वीपनि मनक्रेऽम्बुधालये ।
सत्यव्रतं तं पप्रच्छ कर्णधारतया स्थितम् ॥८॥
इतो दूरं महाभोगं किमेतद्दृश्यतेऽम्बुधौ ।
यदृच्छाप्रोद्गतोदग्रसपक्षगिरिविभ्रमम् ॥९॥

---

१ समुद्रे 'शैल'मनुजयो [illegible] मत्स्या भवन्तीति प्रसिद्धिः।

विष्णुदत्त से इस प्रकार एकान्त रात्रि में सरस कथा सुनकर उस शक्तिदेव ने हृदय में कनकपुरी देखने की अभिलाषा रखते हुए धैर्य के साथ वह रात्रि व्यतीत की ॥२९८॥

द्वितीय तरंग समाप्त

तृतीय तरग

शक्तिदेव का कनकपुर के लिए प्रस्थान

तदनन्तर उस उत्स्थल द्वीप के मठ में ठहरे हुए शक्तिदेव के समीप नाविकों का सरदार सत्यव्रत आया ॥१॥

उसने पहले ही शक्तिदेव से कनकपुरी का पता लगाने की प्रतिज्ञा की थी। इसीलिए उसने आकर शक्तिदेव से कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ मैंने तुम्हारी इष्ट-सिद्धि का एक उपाय सोचा है ॥२॥

समुद्र के मध्य रत्नकूट नाम का एक-द्वीप है। उसमें समुद्र ने भगवान् विष्णु की स्थापना की है ॥३॥

आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की द्वादशी को वहाँ यात्रा का मेला लगता है। उस अवसर पर भगवान् विष्णु के पूजन के लिए सभी द्वीपों से यात्री आते हैं ॥४॥

वहाँ जाने पर सम्भव है कि किसी यात्री से उस कनकपुरी का पता लग सके। इसलिए चलो वहीं चलें। वह तिथि (द्वादशी) भी समीप ही है ॥५॥

सत्यव्रत के इस प्रकार कहने पर शक्तिदेव 'ठीक है' ऐसा कहकर चलने को उद्यत हुआ और विष्णुदत्त द्वारा बनाया गया पाथेय उसने साथ ले लिया ॥६॥

तदनन्तर वह सत्यव्रत के बनाए हुए जहाज से उसी के साथ शीघ्र ही समुद्री मार्ग से चला गया ॥७॥

टापुओं के समान बड़े-बड़े मत्स्यों से भरे हुए और आश्चर्यों के भवन उस समुद्र में जाते हुए उसने साथ में जाते हुए सत्यव्रत से पूछा कि यहाँ से दूर पर सहसा निकले हुए पक्ष-सहित पर्वत के समान यह क्या दीख रहा है ? ॥८–९॥

ततः सत्यव्रतोऽवादीदसौ दृश्यो वटद्रुमः ।
अस्याद्रेः सुमहावर्तमधस्ताद् वडवामुखम् ॥१०॥
एतच्च परिहृत्यैव प्रदेशमिह गम्यते ।
अत्रावर्ते गतानां हि न भवत्यागमः पुनः ॥११॥
इति सत्यव्रते तस्मिन् वदत्यवाम्बुवेगतः ।
तस्यामेव प्रववृते गन्तुं तद्वहनं दिशि ॥१२॥
तद्दृष्ट्वा शक्तिदेवं स पुनः सत्यव्रतोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मन् ! विनाशकालोऽयं ध्रुवमस्माकमागतः ॥१३॥
यदकस्मात् प्रवहणं पश्यात्रैव प्रयात्ययम् ।
शक्यते नैव रोद्धुं च कथमप्यधुना मया ॥१४॥
तदावर्ते गभीरेऽस्मिन् वयं मृत्योरिवानने ।
क्षिप्ता एवाम्बुनाकृष्य कर्मणेव[1] बलीयसा ॥१५॥
एतच्च नैव मे दुःखं शरीरं कस्य हि स्थिरम् ।
दुःखं तु मम सिद्धिस्ते कृच्छ्रेणापि मनोरथः ॥१६॥
तद्यावद् वारयाम्येतदहं प्रवहणं मनाक् ।
तावदस्यावलम्बेथाः शाखां वटतरोर्द्रुतम् ॥१७॥
कदाचिज्जीवितोपायो भवेद् भव्याकृतस्तव ।
विधेर्विलासानम्भेश्च तरङ्गान्को हि तर्कयेत् ॥१८॥
इति सत्यव्रतस्यास्य धीरसत्त्वस्य जल्पतः ।
बभूव निकटे तस्य तरो प्रवहणं ततः ॥१९॥
तत्क्षणं स इतोत्फाल शक्तिदेवो विशाध्वसः ।
पृथुलामग्रहीच्छाखां तस्याब्धितटशाखिनः ॥२ ॥
सत्यव्रतस्तु वहता देहेन वहनेन च ।
परार्थकल्पितनात्र विवेश वडवामुखम् ॥२१॥
शक्तिदेवश्च शाखाभिः पूरिताशस्य तस्य सः ।
आधिरुह्यापि तरोः शाखां निराशः समचिन्तयत् ॥२२॥
न तावत्सा च कनकपुरी दृष्टा मया पुरी ।
अपदे नश्यता तावद्दाशेन्द्रोऽप्येष मारितः ॥२३॥
यदि वा सततन्यस्तपदा सर्वस्य मूर्धनि ।
काम भगवती केन भज्यते भवितव्यता ॥२४॥

---

१ कर्मणेवेश्वर्य ।

यह सुनकर सत्यव्रत ने कहा—यह वटवृक्ष रूपी देवता है। इसके नीचे आनेवाले आवर्त (भँवर) को वड़वानल (समुद्री अग्नि) का मुँह बताते हैं। इसीलिए नाववाले उस स्थान को छोड़कर चलते हैं क्योंकि उस भँवर में पड़े हुए लोग फिर लौटते नहीं॥१०-११॥

जबतक सत्यव्रत इस प्रकार कह ही रहा था इतने में ही उसकी नाव पानी के वेग से उसी ओर बढ़ गई॥१२॥

यह देखकर सत्यव्रत ने शक्तिदेव से फिर कहा—'ब्राह्मण देवता! हमारे विनाश का समय आ गया है!॥१३॥

क्योंकि यह नाव अकस्मात् उसी ओर बही जा रही है। इसे अब मैं किसी तरह भी नहीं रोक सकता॥१४॥

हम लोग मृत्यु-मुख के समान इस गहरे भँवर में पड़ गये हैं। हम बलवान् कर्म के समान वेगवान् जल ने इसमें ढकेल दिया है॥१५॥

मुझे मृत्यु का दुःख नहीं है किसका शरीर अमर रहा है? दुःख केवल इसी बात का है कि इतना कष्ट उठाने पर भी तुम्हारे कार्य में सफलता न मिली॥१६॥

मैं भरसक नाव को कुछ हटाने का यत्न कर रहा हूँ। तुम शीघ्र ही इस वटवृक्ष की शाखा को पकड़ने का यत्न करना॥१७॥

तुम भव्य (सुन्दर) आकृतिवाले हो। सम्भव है तुम्हारा कल्याण हो। दैव के विधानों और समुद्र तरंगों को कौन जान सकता है॥१८॥

धैर्यशाली सत्यव्रत के इस प्रकार कहने पर नाव वटवृक्ष के पास आ गई। उसी समय शक्तिदेव ने बिना व्याकुलता के उछलकर वटवृक्ष की एक मोटी शाखा पकड़ ली॥१९-२ ॥

किन्तु सत्यव्रत परोपकार के लिए निमित्त भाव से और अपने शरीर से वड़वानल के मुख में चला गया॥२१॥

शक्तिदेव भी आशाओं में आशा को पूर्ण करनेवाले उस वृक्ष की शाखा पर आश्रय पाकर, निराश हो सोचने लगा। मैंने कनकपुरी अभी तक नहीं देखी और ऐसे अवसर पर धीवरराज सत्यव्रत को भी खो दिया। भाग्य के सिर पर पैर रखकर यहाँ भवितव्यता (होनहार) को कौन मिटा सकता है॥२२-२३॥

उस ब्राह्मण युवक के इस प्रकार समयानुसार सोचते हुए वह सारा दिन समाप्त हो गया ॥२५॥

सायंकाल होते ही उसने उस वृक्ष पर अपने शब्दों से दिशाओं को मुखरित करनेवाले बड़े-बड़े पक्षियों को देखा ॥२६॥

बड़े-बड़े पंखों की वायु से समुद्र में लहर-सी उठाते हुए मीनों का उसने देखा जो मानों परिचय और प्रेम के कारण उसे लेने के लिए आये हों ॥२७॥

तदनन्तर उसने पत्तों की झुरमुट में छिपे हुए और शाखाओं में चिपके हुए एवं मनुष्यों की वाणी में होनेवाले वार्तालापों को सुना ॥२८॥

वहाँ जो उस दिन चरने गये थे उनमें से कोई किसी नवीन द्वीप का कोई पक्षी किसी पर्वत का और कोई किसी दिशा का वर्णन कर रहा था ॥२९॥

उनमें से एक वृद्ध पक्षी ने कहा—आज मैं चरने के लिए कनकपुरी गया हुआ था। प्रातःकाल फिर वहीं सुख से चरने के लिए जाऊँगा। व्यर्थ थकावट देनेवाले दूरदेश में जाने से क्या लाभ? ॥३०-३१॥

इस प्रकार सहसा अमृत के सार के समान उस पक्षी के वचन से शक्तिदेव का हृदय शान्त हुआ और वह सोचने लगा ॥३२॥

भाग्य से कनकपुरी का पता तो लगा किन्तु उसे प्राप्त करने के साधन-स्वरूप अब इस पक्षी को वाहन बनाना है ॥३३॥

वह ऐसा सोचकर और धीरे-धीरे चलकर सोये हुए उस वृद्ध पक्षी के पास पहुँचा और उसके पंखों के अन्दर जाकर चिपक गया ॥३४॥

प्रातःकाल होते ही अन्य पक्षियों के इधर उधर उड़ जाने पर दैव के समान पक्षपात करता हुआ वह पक्षी भी कन्धे पर छिपे हुए शक्तिदेव को लेकर चरने के लिए क्षणभर में कनकपुरी पहुँचा ॥३५-३६॥

कनकपुरी के एक उद्यान में उतरकर उस पक्षी के बैठ जाने पर शक्तिदेव धीरे-से उसकी पीठ से नीचे उतर आया ॥३७॥

तत्पश्चात् वह उससे दूर हटकर उस उद्यान में घूमने लगा। घूमते हुए उसने पुष्प-चयन में लगी हुई दो स्त्रियों को देखा ॥३८॥

शक्तिदेव को देखकर चकित हुई उन स्त्रियों के समीप जाकर उसने पूछा—यह कौन स्थान है और तुम दोनों कौन हो? ॥३९॥

इय कनकपुर्याख्या पुरी विद्याधरास्पदम्।
चन्द्रप्रभेति चैतस्यामास्ते विद्याधरी सम ॥४० ॥
तस्यादचावामिहोद्याने आनीतावुद्यानपालिके।
पुष्पोच्चयस्तदर्थोऽयमिति स च तमूचतु ॥४१॥
तत सोऽप्यवदद् विप्रो युवां म कुरुत तथा।
यथाहमपि पश्यामि तां युष्मत्स्वामिनीमिह ॥४२॥
एतच्छ्रुत्वा तयेत्युक्त्वा नीतवत्यावुभे च ते।
स्त्रियावन्तर्नगर्यास्त युवान राजमन्दिरम् ॥४३॥
सोऽपि प्राप्तस्तवद्राक्षीन्माणिक्यस्तम्भभास्वरम्।
सौवर्णमित्तिसक्तैककेतन सम्पदामिव ॥४४॥
तत्रागतं च दृष्ट्वा त सर्व परिजनोऽब्रवीत्।
गत्वा चन्द्रप्रभायास्त मानुषागममद्भुतम् ॥४५॥
साप्यादिश्य प्रतीहारमविलम्बितमेव तम्।
अभ्यन्तर स्वमिकट विप्र प्रावेशयत्तत ॥४६॥
प्रविष्ट सोऽप्यपश्यत्तां तत्र नेत्रोत्सवप्रदाम्।
धातुरद्भुतनिर्माणपर्याप्तिमिव रूपिणीम् ॥४७॥
सा च सद्रत्नपर्यङ्कादुत्थाय तं स्वयम्।
स्वागतेनादृतवती तद्दर्शनवशीकृता ॥४८॥
उपविष्टमपृच्छच्च कल्याणिन् कस्त्वमीदृश।
कथ च मानुषागम्यामिमां प्राप्तो भवान्भुवम् ॥४९॥
इत्युक्त स तया चन्द्रप्रभया सकुतूहलम्।
दाक्षिणात्या निज देश जातिं चाचख्यौ नाम च ॥५० ॥
तत्पुरीदर्शनपणात्प्राप्त तां राजकन्यकाम्।
यथा कनकरेखाख्यां प्रामाणिकस्तत्स्वयमगमत् । ५१॥
तद्बुद्ध्वा किमपि ध्यात्वा दीर्घ नि श्वस्य सा तत ।
चन्द्रप्रभा त विजन शक्तिदेवमभाषत ॥५२॥
श्रूयतां यद्मि त किञ्चिदिच्छामि सुभग! सम्प्रति।
अस्त्यस्यां शशिखण्डाख्या विद्याधरपतिर्भुवि ॥५३॥
अथ तस्य चतस्रश्च जाता दुहितर क्रमात्।
ज्येष्ठा चन्द्रप्रभास्म्यस्मि चन्द्ररेखेति चापरा ॥५४॥

उत्तर में वे बोलीं—'यह कनकपुरी नाम की नगरी विद्याधरों का स्थान है। यहाँ चन्द्रप्रभा नाम की विद्याधरी है। हमें उसी की उद्यानपालिका (मालिन) समझो। यह पुष्प हम उसी के लिए चुन रही हैं' ॥४०-४१॥

तब वह ब्राह्मण कहने लगा कि 'तुमलोग ऐसा यत्न करो कि जिससे मैं तुम्हारी स्वामिनी को देख सकूँ' ॥४२॥

ऐसा सुनकर और उसे स्वीकार कर वे दोनों उस युवक को नगरी के अन्दर स्थित राजभवन में ले गईं ॥४३॥

राजभवन में जाकर उसने माणिक्य के स्तम्भों और सोने की दीवारों से चमकते हुए लक्ष्मी के भवन के समान उस भवन को सम्पत्तियों का निवास-स्थान समझा ॥४४॥

भवन में आये हुए उसे देखकर चन्द्रप्रभा की सभी सेविकाओं ने जाकर अपनी स्वामिनी से मनुष्य के आश्चर्यमय आगमन की सूचना दी ॥४५॥

चन्द्रप्रभा ने भी अपने प्रतीहार को आज्ञा देकर शीघ्र ही उसे भवन के भीतर अपने निकट बुला लिया ॥४६॥

अन्दर आये हुए उस शक्तिदेव ने आँखों को आनन्द-देनेवाली और विधाता के आश्चर्यमय निर्माण की मूर्तिमती सीमा के समान उस चन्द्रप्रभा को देखा ॥४७॥

वह चन्द्रप्रभा उसे देखकर सुन्दर रत्नों के पलंग से उठकर उसका स्वागत करने के लिए आदर के साथ आगे बढ़ी ॥४८॥

शक्तिदेव के प्रथम दर्शन-मात्र से ही उसके वश में हुई चन्द्रप्रभा उसके बैठने पर कहने लगी—हे कल्याणमय! मनुष्यों के लिए अगम्य इस भूमि में तुम कैसे आ गये? चन्द्रप्रभा द्वारा उत्सुकता से इस प्रकार पूछे जाने पर शक्तिदेव ने अपना देश अपनी जाति और नाम बताकर यह बताया कि कनकपुरी देखने की प्रतिज्ञा पर राजकुमारी कनकरेखा को प्राप्त करने के लिए यहाँ आया हूँ। इस प्रसंग का समस्त वृत्तान्त उसने चन्द्रप्रभा को सुना दिया ॥४९-५१॥

यह सब सुनकर, कुछ सोचकर तथा लम्बी साँस लेकर चन्द्रप्रभा ने एकान्त में शक्तिदेव से कहा—सुनो, मैं तुमसे यह कहती हूँ। इस भूमि पर शशिखर नाम का विद्याधर राज्य करता है। उसकी क्रमशः हम चार कन्याएँ हैं। सबसे बड़ी चन्द्रप्रभा मैं हूँ दूसरी चन्द्ररेखा है ॥५२-५४॥

मदिरसा तृतीया च चतुर्थी च शशिप्रभा।
ता वयं क्रमशः प्राप्ता वृद्धिमत्र पितुर्गृहे॥५५॥
एकदा च भगिन्यो मे स्नातुं तिस्रोऽपि ताः समम्।
मयि कन्याव्रतस्थायां जग्मुर्मन्दाकिनीतटम्॥५६॥
तत्राग्र्यतपसं नाम मुनिं यौवनदर्पतः।
तोयमध्यस्थमसिचन्नारब्धजलकेलयः॥५७॥
अतिनिर्बन्धिनीस्तास्च मुनिः क्रुद्धः शशाप सः।
कुकन्यकाः प्रजायध्वं मर्त्यलोकेऽखिला इति॥५८॥
तद्बुद्ध्वा सोऽस्मदीयेन पित्रा गत्वा प्रसादितः।
पृथक् पृथक् स शापान्तमुक्त्वा तासां यथायथम्॥५९॥
जातिस्मरत्वं दिव्येन विज्ञानेनोपबृंहितम्।
मर्त्यभावेन सर्वासामादिदेश महामुनिः॥६०॥
ततस्तासु तनूस्त्यक्त्वा मर्त्यलोकं गतासु सः।
दत्त्वा मे नगरीमत्र पिता गतवान् गतो वनम्॥६१॥
अथाहं निवसन्तीं मां देवी स्वप्ने किलाम्बिका।
मामुवाच पुत्रि! भर्ता ते भवितेति समादिशत्॥६२॥
ततः विद्याधरीस्तांस्तान् वरानुद्दिशतो बहून्।
पितुर्विचारणं कृत्वा नान्यथावाप्यहं स्थिता॥६३॥
अनेनैव मानुषेणाद्य यथागमनेन ते।
मनुजा च मनोहरेण तुभ्यमद्याहमर्पिता॥६४॥
तद्व्रजामि चतुर्दश्यामागामिन्यां भवत्कृते।
भर्तुं तातस्य विज्ञप्तिमृषभाख्यं महागिरिम्॥६५॥
तत्र तस्यां तिथौ सर्वे मिलन्ति प्रतिवत्सरम्।
इह दूरं पूजयितुं दिग्भ्यो विद्याधरोत्तमाः॥६६॥
तातस्तत्रैव चायाति तदनुज्ञामवाप्य च।
इहागच्छाम्यहं तूर्णं ततः परिणयस्व माम्॥६७॥
तदिदं सार्वभौमस्त्वा ता न विद्याधरोऽपि न।
चन्द्रमा [illegible] [illegible]॥६८॥
तस्य चामृतपस्य [illegible] गुणम्।
महाशान[illegible] गुणाढ्यदर्शनमाज्ञन॥६९॥

तीसरी असिरेखा है और चौथी गन्धिप्रभा है। हम चारों पिता के घर में बड़ी हुई। एक बार मुझसे छोटी वे तीनों बहिनें साथ ही गंगा-स्नान के लिए गईं॥५५-५६॥

वे तीनों यौवन-मद में मस्त होकर जलक्रीड़ा करती हुई उग्रतपा नामक ऋषि को पानी से सींचने लगीं॥५७॥

ऋषि के बार-बार मना करने पर भी जब वह न मानीं तब क्रुद्ध होकर उसने शाप दिया कि तुम तीनों दुष्ट कन्याएँ मर्त्यलोक में उत्पन्न होओ॥५८॥

इस शाप का समाचार सुनकर हमारे पिता ने ऋषि का अनुनय-विनय करके प्रसन्न किया तो ऋषि उनके शाप का अन्त पृथक्-पृथक् रूप में किया किन्तु दिव्य ज्ञान से बढ़े हुए पूर्वजन्म के स्मरण को मानव-जन्म में भी बना रहने का आदेश दिया॥५९ ६ ॥

तब उन तीनों के अपने-अपने विद्याधर-शरीर को छोड़कर मर्त्यलोक में चले जाने पर मेरे पिता यह नगरी मुझे देकर वन को चले गये॥६१॥

तदनन्तर यहाँ रहती हुई मुझे स्वप्न में माता पार्वती ने यह आदेश दिया कि 'बेटी तेरा पति मनुष्य होगा'॥६२॥

इसी कारण विद्याधर जाति के अनेक वीरों को छोड़कर मैं अभी तक कन्या ही रह गई॥६३॥

इस समय तुम्हारे इस आश्चर्यमय आगमन ने और तुम्हारे सुन्दर शरीर ने मुझे अपने वश में कर लिया। फलतः तुम्हारे इन सब आकर्षणों ने ही मुझे अपने को तुम्हारे लिए अर्पण करने को बाध्य कर दिया है॥६४॥

इसलिए आगामी चतुर्दशी के दिन तुम्हारे इस प्रसंग को पिता को सूचित करने मैं ऋषभ नामक पर्वत पर जाऊँगी॥६५॥

वहाँ प्रतिवर्ष उस अवसर पर शिवपूजन के लिए मेला लगता है और सभी दिशाओं से बड़े बड़े विद्याधर आते हैं॥६६॥

वहीं मेरे पिता भी आते हैं। अतः वहाँ जाकर उनसे आज्ञा लेकर मैं शीघ्र ही आती हूँ तत्पश्चात् तुम मुझसे विवाह कर लो॥६७॥

तबतक यहीं ठहरो—ऐसा कहकर उसने विद्याधरों के अनुरूप विविध उपचारों से शक्तिदेव का स्वागत-सत्कार किया॥६८॥

वहाँ रहकर उन दिव्य भोगों का उपभोग करते हुए उसे ऐसा सुख प्राप्त हुआ जैसे दावानल से दग्ध (झुलसे हुए) व्यक्ति को अमृत-सरोवर में स्नान करने से होता है॥६९॥

प्राप्तायां च चतुर्दश्यां सा त चन्द्रप्रभाब्रवीत्।
अद्य गच्छामि विज्ञप्त्यै तातस्याह महस्कृत॥७०॥
सर्वं परिजनश्चायं मयैव सह यास्यति।
त्वया चैकाकिना दुःखं न भाव्यं दिवसद्वयम्॥७१॥
एकेन पुनरतस्मिन्मन्दिरेऽप्यवतिष्ठता।
मध्यमा भवता भूमिर्नारोढव्या कथञ्चन॥७२॥
इत्युक्त्वा सा युवानं तं न्यस्तचित्ता तदन्तिके।
तदीयचित्तानुगता ययौ चन्द्रप्रभा ततः॥७३॥
सोऽप्येकाकी ततस्तत्र स्थितश्चेतो विनोदयन्।
स्थानस्थानेषु बभ्राम सक्तिदवा महर्द्धिषु॥७४॥
किंस्विदत्र निषिद्धं मे तया पृष्ठेऽधिरोहणम्।
विद्याधरदुहितेति जातकौतूहलोऽथ सः॥७५॥
तस्यैव मध्यमां भूमिं मन्दिरस्यारुरोह ताम्।
प्रायो वारितवामा हि प्रवृत्तिर्मनसो नृणाम्॥७६॥
आरूढस्तत्र चापश्यद् गुप्तान् त्रीन् रत्नमण्डपान्।
एकं चोद्घाटितद्वारं तन्मध्यात् प्रविवेश सः॥७७॥
प्रविश्य चान्तः सद्रत्नपर्यङ्के न्यस्ततूलिके।
पटावगुण्ठिततनुं ददर्श कञ्चिदक्षत॥७८॥
वीक्षते यावदुत्क्षिप्य पटं तावन्मृतां तथा।
परोपकारिनृपतस्तनयां वरज यकाम्॥७९॥
दृष्ट्वा चाचिन्तयत्सोऽथ किमिदं महदद्भुतम्।
किमप्रबोधसुप्तेयं किं वा भ्रान्तिरवाचका॥८०॥
यस्याः कृते प्रवासोऽयं मम सवेह तिष्ठति।
ममापगतप्राणा नाम देहो न जीवति॥८१॥
प्रम्लानकान्तिरस्यास्तु तद् विधाता मम ध्रुवम्।
कमपि कारणमदमिन्द्रजालं वितन्यते॥८२॥
इति सञ्चिन्त्य निगत्य तावन्यौ मण्डपौ क्रमात्।
प्रविश्यान्तः स ददृश तद्वदन्ये च कन्यके॥८३॥
ततोऽपि निर्गतस्तस्य मादचर्यो मन्दिरस्य सः।
उपविष्टः स्थितोऽपश्यद् वापीमत्युत्तमामधः॥८४॥

कुछ समय पश्चात् चतुर्दशी के आने पर चन्द्रप्रभा शक्तिदेव से कहने लगी— 'आज मैं तुम्हारे लिए पिता से निवेदन करने जाती हूँ मेरे सभी सेवक मेरे साथ ही जायेंगे। इन दो दिनों तक तुम अकेले दुःखी न होना ।।७०-७१।।

इस भवन में अकेले रहते हुए भी तुम बीच की मंजिल में कभी न जाना' ।।७२।।

उस युवक को ऐसा कहकर और उसी में अपने हृदय को रखकर तथा इसी प्रकार उसके हृदय को चन्द्रप्रभा अपने साथ लेकर वहाँ से चली गई ।।७३।।

वह शक्तिदेव अब वहाँ अकेला रहता हुआ मन बहलाने के लिए, इधर-उधर अत्यन्त समृद्धि-सम्पन्न उन मकानों में घूमता रहता था ।।७४।।

उस विद्याधर-कन्या ने मेरा ऊपर (बीच की मंजिल में) जाना क्यों वारित किया इस प्रकार के कुतूहल से वह उसी मंजिल में पहुँचा। मनुष्यों के मन की प्रवृत्ति प्रायः निषेध के विपरीत ही चलती है ।।७५।।

ऊपर चढ़कर उसने गुप्त रूप से सुरक्षित तीन मंडपों को देखा ।।७६।।

उसमें प्रविष्ट होकर उसने सुन्दर बिछावनों से युक्त रत्नों के पलंग पर दुपट्टा ओढ़ने से ढँके हुए शरीर से शयन करते हुए किसी व्यक्ति को देखा ।।७७-७८।।

जब उसने कपड़ा उठाकर उसे देखा तब तो उसे परोपकारी राजा की मरी हुई कन्या कनकरेखा दिखाई पड़ी ।।७९।।

उसे देखकर शक्तिदेव सोचने लगा—'यह क्या महान् आश्चर्य है? क्या यह अचेतनावस्था (बेहोशी) में सोई है या मुझ ही भ्रम हो रहा है ।।८०।।

जिसके लिए मेरी इतनी लम्बी और कष्टप्रद यात्रा हुई वह निर्जीव होकर यहाँ पड़ी है और वहाँ (वर्धमान में) जीवित है ।।८१।।

इसकी मुखकान्ति भी मलिन नहीं पड़ी है। प्रतीत होता है कि विधाता ने किसी कारण वश मेरे लिए अवश्य ही यह इन्द्रजाल रचा है ।।८२।।

ऐसा सोचते-सोचते उसने दूसरे दोनों मंडपों के अन्दर क्रमशः जाकर उसी प्रकार सोई हुई और दो कन्याएँ देखीं ।।८३।।

उन मंडपों से निकलकर आश्चर्यचकित शक्तिदेव ने ऊपर बैठे हुए वहीं से नीचे एक अत्यन्त सुन्दर बावली देखी और उसके किनारे पर रत्नों की जीनवाले एक सुन्दर घोड़े को देखा ।।८४।।

---

१ 'अरेबियन नाइट्स' में तीन राजयोगियों की कहानी में ऐसी राजकन्याओं की चर्चा है और इसी प्रकार एक मंजिल देखने की मनाही है। वहाँ ऐसे ही एक घोड़े का वर्णन भी है।—अनु

तत्तीरे रत्नपर्याणं[1] ददर्शैकं च वाजिनम्।
तनायसीयेव ततस्तत्पार्श्वं कौतुकाद्ययौ॥८५॥
इयेष च समारोढुं शून्यं दृष्ट्वा स तेन च।
अश्वेनाहत्य पादेन तस्यां वाप्यां निचिक्षिपे॥८६॥
तन्निमग्नः स च क्षिप्रं वर्धमानपुराश्रितात्।
उद्यानदीर्घिकामध्यादुन्ममज्ज ससम्भ्रमः॥८७॥
ददर्श च ममूमौ च सद्यो वापीजले स्थितम्।
आत्मानं कुमुदैस्तुल्यं दीनं चन्द्रप्रभां विना॥८८॥
वर्धमानं पुरं क्वेदं क्व सा वैद्याधरी पुरी।
अहो किमेतदाश्चर्यमायाडम्बरजृम्भितम्॥८९॥
कष्टं किमपि केनापि मन्दभाग्योऽस्मि वञ्चितः।
यदि वा कोऽत्र जानाति कीदृशी भवितव्यता॥९०॥
इत्यादि चिन्तयन्सोऽथ वापीमध्यात् समुत्थितः।
सविस्मयः शक्तिदेवो ययौ पितृगृहं निजम्॥९१॥
तत्रापदिष्टपटहभ्रमणः कृतकैतवः।
पित्राभिनन्दितस्तस्थौ सोत्सवे स्वजनैः सह॥९२॥
द्वितीयेऽह्नि बहिर्गेहान्निर्गतश्चाशृणोत् पुनः।
घोष्यमाणं सपटहं पुरे तस्मिन्निदं वचः॥९३॥
विप्रक्षत्रियमध्यात्कनकपुरी येन तत्त्वतो दृष्टा।
वक्तु स तस्मै तनयां सयौवराज्यां ददाति नृपः॥९४॥
तच्छ्रुत्वैव स गत्वा तान् पटहोद्घोषकान् कृती।
मया दृष्टा पुरी सेति शक्तिदेवोऽब्रवीत्पुनः॥९५॥
तैस्तूर्णं नृपतेरग्रं स नीतोऽभून्नृपोऽपि तम्।
प्राग्वन्मेने परिज्ञाय पुनर्वितथवादिनम्॥९६॥
मिथ्या वच्मि न मया दृष्टा सा नगरी यदि।
तदिदानीं शरीरस्य निग्रहेण पणो मम॥९७॥
अथ सा राजपुत्री मां पृच्छत्वित्युदिते ततः।
गत्वा चानुचरैः राजा तत्रैवानाययत् सुताम्॥९८॥

---

१ रत्नखचितपर्याणपृष्ठास्तरणम्।

उसे देखकर वह बीच की मंजिल से उतरकर कौतुक के साथ उस घोड़े के समीप आया ॥८५॥

वहाँ एकान्त देखकर उसने घोड़े पर चढ़ने की इच्छा प्रकट की। ज्यों ही उसने उस पर चढ़ने का प्रयत्न किया त्यों ही घोड़े ने लात मारकर उसे पासवाली बावली में गिरा दिया। बावली में गिरा हुआ वह शक्तिदेव अकस्मात् ही वर्धमान नगर-स्थित अपने घर के उद्यान की बावली में आ निकला ॥८६-८७॥

और उसने बावली के जल में खड़े हुए अपने को चन्द्रप्रभा के बिना मुरझाए हुए कुमुद के समान अपनी जन्मभूमि में पाया ॥८८॥

शक्तिदेव का पुनः वर्धमाननगर में आगमन

वह सोचने लगा कहाँ यह वर्धमान नगर और कहाँ वह विद्याधरों की कनकपुरी नगरी! यह क्या आश्चर्य है। क्या मायाजाल है? दुःख है कि किसी ने मुझ अभागे को ठग लिया है। या यह कौन जानता है कि आगे क्या होनेवाला है ॥८९-९०॥

इन सब बातों को सोचता हुआ वह चकित शक्तिदेव बावली से निकला और अपने पिता के घर गया ॥९१॥

वहाँ पर वह राजा की घोषणा के अनुसार कनकपुरी का भ्रमण-वृत्तान्त किसी को न बताकर, और इधर-उधर की झूठी बातें बनाकर पिता द्वारा प्यार किया गया वह शक्तिदेव उसके आने की प्रसन्नता मनाते हुए घर के व्यक्तियों के साथ घर में ही रह गया ॥९२॥

दूसरे दिन घर से बाहर निकलकर उसने उसी ढिंढोरे को फिर से सुना जो उस नगर में पीटा जा रहा था ॥९३॥

'कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय-युवक जिसने कनकपुरी देखी हो वह कहे और राजकन्या तथा युवराज-पद प्राप्त करे' ॥९४॥

यह सुनकर वह सफल शक्तिदेव ढिंढोरा पीटनेवालों के पास गया और बोला— 'मैंने वह नगरी देखी है' ॥९५॥

उन लोगों ने उसे शीघ्रता से राजा के पास ले जाकर खड़ा कर दिया और राजा ने भी उसे पहिचानकर पहले के समान झूठ बोलनेवाला समझा ॥९६॥

तब वह शक्तिदेव कहने लगा—'यदि मैं झूठ बोल रहा हूँ कि वह नगरी मैंने नहीं देखी है तो मुझे प्राणदंड दिया जाय ॥९७॥

'आज वह राजपुत्री मुझसे (शक्तिदेव से) उस नगरी के सम्बन्ध में पूछे' ऐसा कहकर राजा ने अपने सेवकों से राजकुमारी को वहीं बुलवा लिया ॥९८॥

सा दृष्टा दृष्टपूर्वं त विप्र राजानमभ्यधात्।
तात मिथ्यैव भूयोऽपि किञ्चिद् वक्ष्यत्यसाविति ॥९९॥
शक्तिदेवस्ततोऽवादीदहं सत्यं नृपस्य वा।
वच्मि राजसुते त्वं तु वदैव मम कौतुकम् ॥१ ॥
मया कनकपुर्यां त्वं पर्यङ्के गतजीविता।
दृष्टा यह न पश्यामि जीवन्तीं भवतीं कथम् ॥१०१॥
इत्युक्ता शक्तिदेवेन साभिज्ञानं नृपात्मजा।
सद्य कनकरेखा सा जगादैव पितु पुर ॥१०२॥
तात दृष्टामुना सत्यं नगरी सा महात्मना।
अचिराच्चाय भर्ता मे तत्रस्थाया भविष्यति ॥१०३॥
तत्र मद्भगिनीश्चान्यास्तिस्रोऽप्य परिणेष्यति।
विद्याधराधिराज्यं च तस्यां पुरि करिष्यति ॥१०४॥
मया त्वद्य प्रवेष्टव्या स्वा तनुश्च पुरी च सा।
मुने शापादहं ह्यत्र जातामूव भवद्गृहे ॥१०५॥
यदा कनकपुर्यां से देहमालोक्य मानुष ।
मर्त्यभावमृतस्तत्त्वप्रतिमव करिष्यति ॥१०६॥
तदा ते शापमुक्तिश्च स च स्यान्मानुष पति।
इति मे च स शापान्त पुनरेवाऽदिशन्मुनि ॥१०७॥
जातिस्मरा च मानुष्येऽप्यहं ज्ञानवती तथा।
तद्व्रजाम्यधुना सिद्धये निजं वैद्याधरं पदम् ॥१०८॥
इत्युक्त्वा राजपुत्री सा तनुं त्यक्त्वा तिरोदधे।
तुमुलश्चोदभूत्तस्मिञ्जाक्रन्दो राजमन्दिरे ॥१ ९॥
शक्तिदवोऽप्युभयतो भ्रष्टस्तस्तैर्दुस्तरै ।
क्लेशै प्राप्यापि न प्राप्ते ध्यायस्ते द्वे अपि प्रिय ॥११ ॥
निन्दन्स्थितोऽपि चात्मानमसम्पूर्णमनोरथ ।
निर्गत्य राजभवनाद् क्षणादेवमचिन्तयत् ॥१११॥
अभीष्टं भावि मे तावदुक्तं कनकरेखया।
तत्किमर्थं विषीदामि सत्त्वाधीना हि सिद्धय ॥११२॥
यथा यतैव कनकपुरीं गच्छामि तां पुन ।
भूयोऽप्यवश्य दैव मे तत्रोपाय करिष्यति ॥११३॥
इत्यालोच्यैव स प्रायाच्छक्तिदेवो पुरात्तत ।
असिद्धार्था निवर्तन्ते नहि धीरा कृतोद्यमा ॥११४॥

राजकन्या पहले ही देखे हुए उस ब्राह्मण-युवक को देखकर बोली—'पिताजी यह फिर भी कुछ इधर-उधर की मनमानी झूठ बोलेगा'॥९९॥

तब शक्तिदेव ने राजकुमारी से कहा—मैं सच हूँ या झूठ लेकिन राजकुमारी तू मेरे एक कौतुक को दूर कर, मैं कहता हूँ मैंने कनकपुरी में तुझे पलंग पर मरी हुई पड़ी देखा है। यहाँ यह बात नहीं देख रहा हूँ तू कैसे जी रही है यह रहस्य मुझे बता ॥१ १ १॥

शक्तिदेव द्वारा सच्ची जानकारी के साथ इस प्रकार कहने पर वह राजकन्या कनकरेखा पिता के सामने बोली—॥१ २॥

पिताजी इसने सचमुच वह नगरी देखी है। अतः यह शीघ्र ही कनकपुरी में जाने पर मेरा पति होगा॥१ ३॥

वहाँ पर मेरी और भी तीन बहिनों को ब्याहेगा और नगरी में विद्याधरों पर राज्य करेगा॥१ ४॥

अब आज ही मुझे अपनी नगरी और अपने पूर्व कलेवर में प्रवेश करना चाहिए। मुनि के शाप से मैं तुम्हारे घर में उत्पन्न हुई थी॥१ ५॥

शाप देने के पश्चात् मुनि ने शाप का अन्त इस प्रकार कहकर किया था कि जब कोई मनुष्य कनकपुरी में तेरा मृत शरीर देखकर मनुष्य-शरीर धारण करनेवाली तेरा रहस्य प्रकट करेगा तब तेरी शाप से मुक्ति होगी और वह मनुष्य तेरा पति होगा॥१ ६ १ ७॥

मानव-शरीर पाकर भी मैं पूर्वजन्म का स्मरण करती थी और मुझे सब ज्ञान था। तो अब मैं अपनी सिद्धि के लिए अपने विद्याधर-स्थान को जाती हूँ॥१ ८॥

इतना कहकर राजपुत्री अपना शरीर त्यागकर अन्तर्हित हो गई और राज भवन में शोर से रोना-चिल्लाना मच गया॥१०९॥

दोनों ओर से भारी यत्न करके भी उन उन कष्टों को प्राप्त करके भी इन दोनों (कनकप्रभा और कनकरेखा) प्रेयसियों में से एक को भी न पाकर खाली-सा रह गया॥११ ॥

तदनन्तर मनोरथ प्राप्त न कर निराशा से अपनी निन्दा करता हुआ वही ब्राह्मण राजभवन से निकलकर सोचने लगा—॥१११॥

कनकरेखा ने कहा है कि मेरी अभिलाषा पूर्ण होगी तो फिर क्यों व्यर्थ दुःखी होऊँ निश्चय मनोरथ तो अधीन होते हैं॥११ ॥

तो मैं फिर उसी मार्ग से कनकपुरी को जाऊँ। भाग्य फिर भी अवश्य मेरी सहायता करेगा। ऐसा सोचकर वह शक्तिदेव वर्धमान नगर से चल पड़ा। क्योंकि उत्साही वीर जन बिना मनोरथ प्राप्त किये प्रयत्न से दूर नहीं होते॥११३ ११४॥

गच्छंश्चिराच्च सम्प्राप जलधे पुलिनस्थितम्।
तद्विटङ्कपुरं नाम नगरं पुनरेव स ॥११५॥
तत्रापश्यच्च वणिजं तं सम्मुखमुपागतम्।
येन साकं गतस्याब्धि पोतमादावमज्यत ॥११६॥
सोऽयं समुद्रदत्तः स्यात् कथं च पतितोऽम्बुधौ।
उत्तीर्णोऽपि न वा चित्रमहमेव निदर्शनम् ॥११७॥
इत्यालोच्य स यावत्तमभ्येति वणिजं द्विजः।
तावत्स तं परिज्ञाय हृष्टः कण्ठेऽग्रहीद् वणिक् ॥११८॥
अनैषीच्च निजं गेहं कृतातिथ्यश्च पृष्ठवान्।
पोतभङ्गे त्वमम्भोधे कथमुत्तीर्णवानिति ॥११९॥
चक्रिसेवकोऽपि वृत्तान्तं तथा तं कृत्स्नमब्रवीत्।
यथा मत्स्यनिगीर्णः प्रागुत्स्थलद्वीपमाप सः ॥१२ ॥
अनन्तरं च तमपि प्रत्यपृच्छद् वणिग्वरम्।
कथं तदा त्वमप्यब्धिमुत्तीर्णो वर्ण्यतामिति ॥१२१॥
अथाब्रवीत्सोऽपि वणिक् तदाहं पतितोऽम्बुधौ।
दिनत्रयं भ्रमन्नासमेकं फलहकं श्रितः ॥१२२॥
ततस्तेन यथाकस्मादेकं वहनमागतम्।
तत्रस्थैश्चाहमाक्रन्दन् दृष्ट्वा चाशाधिरोपितः ॥१२३॥
मारुह्य चात्र पितरं स्वमपश्यमहं तदा।
गत्वा द्वीपान्तरं पूर्वं चिरात्तत्कालमागतम् ॥१२४॥
स मां दृष्ट्वा परिज्ञाय कृतकण्ठग्रहः पिता।
स्वयमपृच्छद् वृत्तान्तमहं चैव तमब्रुवम् ॥१२५॥
चिरकालप्रयातेऽपि तात त्वय्यनुपागते।
स्वधर्म इति वाणिज्यं स्वयमस्मि प्रवृत्तवान् ॥१२६॥
ततो द्वीपान्तरं गच्छन्नहं वहनभङ्गतः।
अद्याम्बुधौ निमग्नः सन् प्राप्य युष्माभिरुद्धृतः ॥१२७॥
एवं मयोक्तस्तातो मां सोपालम्भमभाषत।
आरोहसि किमर्थं त्वमीदृशान् प्राणसंशयान् ॥१२८॥
धनमस्ति हि मे पुत्र! स्थितश्चाहं तदर्जने।
पश्यानीतं मयेदं ते वहनं हेमपूरितम् ॥१२९॥
इत्युक्त्वाश्वास्य तेनैव वहनेन निजं गृहम्।
विटङ्कपुरमानीतस्तेनैवेदमहं ततः ॥१३ ॥

चलते-चलते वह बहुत विलंब से समुद्र-तट पर स्थित उस विटंकपुर नगर में फिर पहुँचा ॥११५॥

विटंकपुर में उसने सामने आये हुए उस बनिये को देखा जिसके साथ पहली बार जाने पर समुद्र में जहाज टूट गया था। यह तो वही समुद्रदत्त है जो समुद्र में गिरकर भी बाहर कैसे निकल आया यह आश्चर्य है! अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या? मैं ही इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हूँ। ऐसा सोचकर उस ब्राह्मण ने बनिये के पास जाते ही उसे अपना परिचय दिया। बनिये ने उसे गले लगाकर हर्ष प्रकट किया और उसे अपने घर ले जाकर स्वागत-सत्कार करने के पश्चात् पूछा कि नाव के टूटने पर तुम समुद्र से कैसे पार हुए। उत्तर में शक्तिदेव ने अपना सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया जैसे कि मत्स्य के निगले जाने पर उत्स्थल-द्वीप में वह पहुँचा था ॥११६ १२ ॥

अपना समाचार सुनाकर शक्तिदेव ने भी उस वैश्य से पूछा कि तुम कैसे समुद्र से बच निकले सुनाओ'॥१२१॥

बनिये ने अपना वृत्तान्त सुनाते हुए उससे कहा — 'उस समय समुद्र में गिर जाने पर मैं एक काष्ठपट्ट (तख्ते) के सहारे तीन दिनों तक समुद्र में ही चक्कर काटता रह गया॥१२२॥

तीसरे दिन उसी मार्ग से एक नाव आई। उसमें बैठे हुए लोगों ने मुझे चिल्लाते हुए देखकर उस पर चढ़ा लिया॥१२३॥

उस पर चढ़कर मैंने उसमें अपने पिता को बैठा हुआ पाया, जो बहुत दिनों से गये हुए थे और किसी दूसरे द्वीप से आ रहे थे॥१२४॥

मेरे पिता ने मुझे देखकर और गले लगाकर रोते हुए मेरा वृत्तान्त पूछा और मैंने सब बताया॥१२५॥

मैंने उनसे कहा पिताजी बहुत दिन व्यतीत होने पर और आपके न लौटने पर मैं अपना कर्तव्य समझ कर व्यापार में लग गया॥१२६॥

इसी प्रसंग में दूसरे द्वीप को जाते हुए, नाव के टूट जाने से मैं समुद्र में गिरा और आप लोगों ने आकर मेरा उद्धार किया॥१२७॥

तब मेरे पिता ने मुझसे कहा—'मेरे रहते हुए तुम ऐसे जीवन के सन्देह में पड़ जानेवाले कामों में क्यों लगते हो? देखो मैं इस जहाज को सोने से भरा हुआ लाया हूँ' ऐसा कहकर धैर्य देते हुए वे मुझे घर ले आये" ॥१२८–१९ ॥

इत्येतद् वणिजस्तस्माच्छक्तिदेवो निशम्य सः।
विश्रम्य च त्रियामां तामन्येद्युस्तमपोपत ॥१३१॥
गन्तव्यमुत्स्थलद्वीप सार्थवाह! पुनर्मया।
तत्कथं तत्र गच्छामि साम्प्रतं कथ्यतामिति ॥१३२॥
गन्तुं प्रवृत्तास्तत्राद्य मदीया व्यवहारिणः[1]।
तद्यानपात्रमारुह्य प्रयातु सह तैर्भवान् ॥१३३॥
इत्युक्तस्तेन वणिजा स तस्तद्व्यवहारिभिः।
साकं तदुत्स्थलद्वीपं शक्तिदेवो ययौ ततः ॥१३४॥
मः स बन्धुर्महारमा मे विष्णुदत्तोऽत्र तिष्ठति।
प्राग्वत्तस्यैव निकटं वस्तुमिच्छामि तन्मठम् ॥१३५॥
इति सम्प्राप्य च द्वीपं तत्कालं च विचिन्त्य सः।
विपणीमध्यमार्गेण गन्तुं प्रावर्तत द्विजः ॥१३६॥
तावच्च तत्र दैवात्तं दृष्ट्वा दाशपतेः सुताः।
सत्यव्रतस्य तस्याराद् परिज्ञायैवमब्रुवन् ॥१३७॥
तातेन साकं कनकपुरीं विन्वसितस्तदा।
ब्रह्मन्गतास्त्वमेकश्च कथमत्रागतो भवान् ॥१३८॥
शक्तिदेवस्ततोऽवादीदम्बुराशौ स वः पिता।
पतितोऽम्बुभिराकृष्टवहतो वडवामुखे ॥१३९॥
तच्छ्रुत्वा दाशपुत्रास्ते क्रुद्धा भृत्यानभाषिरे।
बध्नीतैनं दुरात्मानं हतोऽनेन स नः पिता ॥१४०॥
अन्यथा कथमेकस्मिन् सति प्रवहणे द्वयोः।
वडवाग्नौ पतेदेको द्वितीयश्चोत्तरेत्ततः ॥१४१॥
तदेष चण्डिकादेव्याः पुरस्तात् पितृघातकः।
अस्माभिरुपहन्तव्य एव प्रभाते पशूकृतः ॥१४२॥
इत्युक्त्वा दाशपुत्रास्ते भृत्यान्बद्ध्वैव तं तदा।
शक्तिदेवं ततो निन्युर्नयन्त्यश्चण्डिकागृहम् ॥१४३॥
धावत्कचस्थितानेकजीवं प्रविततोदरम्।
सपद्यदुष्टावलीवत्समाकृ मृत्योरिवाननम् ॥१४४॥

---

१ व्यापारिणः।
२ अपसुरपि पशुवत् हन्त इतिभावः।

वैश्य का समाचार सुनकर शक्तिदेव ने रात को वहीं विश्राम किया और दूसरे दिन उससे कहा—'हे व्यापारी मुझे पुनः उत्स्थल-द्वीप जाना है। तो बताओ मुझे कैसे जाना चाहिए' ॥१३१ १३२॥

वैश्य ने कहा,—'आज ही मेरे व्यवहारी वैश्य वहाँ जाने के लिए तैयार हैं तुम उन्हीं के जहाज पर चढ़कर वहाँ जाओ' ॥१३३॥

इस प्रकार उस वैश्य द्वारा वहाँ जाने की सारी व्यवस्था कर देने पर, शक्तिदेव उन्हीं के साथ उत्स्थल-द्वीप को गया ॥१३४॥

वहाँ जाकर उसने निश्चय किया कि यहाँ जो मेरा भाई विष्णुदत्त रहता है वह अत्यन्त उदार है पहले उसी के मठ में निवास के लिए जाना चाहिए ॥१३५॥

ऐसा सोचकर वह ब्राह्मण बाजार के बीच से वहाँ जाने लगा ॥१३६॥

इसी बीच दैवयोग से सत्यव्रत नामक निषादराज के पुत्रों ने उसे देखा और पहिचान कर इस प्रकार पूछा—॥१३७॥

'हे ब्राह्मण तुम तो कनकपुरी को ढूँढ़ते हुए मेरे पिता के साथ यहाँ से गये थे। अब तुम अकेले कैसे आ गये? ॥१३८॥

तब शक्तिदेव ने कहा—'वह तुम्हारा पिता समुद्री भँवर द्वारा नाव को अपनी ओर खींच लेने पर बड़वानल के मुँह में जा गिरा' ॥१३९॥

यह सुनकर धीवर के पुत्र क्रुद्ध हो गये और उन्होंने अपने सेवकों से कहा— इस दुष्ट को बाँध लो। इसने हमारे पिता को मार डाला है ॥१४ ॥

अन्यथा एक ही नाव पर एक साथ यात्रा करते हुए कैसे एक व्यक्ति बड़वानल में गिर गया और एक बच गया ॥१४१॥

इसलिए अपने पिता के इस हत्यारे को हम कल प्रातःकाल चंडिका देवी के सामने पशु की तरह इसका बलिदान करेंगे ॥१४२॥

इस प्रकार कहकर धीवर-पुत्रों ने नौकरों से उसे बँधवाकर चंडिका के मन्दिर में पहुँचा दिया ॥१४३॥

वह चंडिका-मन्दिर, निरन्तर प्राणियों को निगलनेवाला विशाल उदरवाला और लटकते हुए घंटे-रूपी होंठोंवाला मानों मौत का प्रत्यक्ष मुँह था ॥१४४॥

तत्र मध्ये स्थितो रात्रौ सशयान स्वजीवित।
स शक्तिदेवो देवीं तां चण्डीमेवं व्यजिज्ञपत् ॥१४५॥
'बालार्कबिम्बनिभया भगवति मूर्त्या त्वया परित्रातम्।
निर्भरपीतप्रविसृतदस्दानवकण्ठरुधिरयेव जगत् ॥१४६॥
सा मां सततप्रमतं निष्कारणविधुरवर्गहस्तगतम्।
रक्षस्व सुदूरागतमिष्टजनप्राप्तितृष्णया वरदे! ॥१४७॥
इति देवीं स विज्ञप्य प्राप्य निद्रां कथञ्चन।
अपश्यच्चोपितं स्वप्ने तद्गर्भगृहनिर्गताम् ॥१४८॥
सा दिव्याकृतिरभ्येत्य सदयेव जगाद तम्।
भो शक्तिदेव! मा भैषीर्न तेऽनिष्टं भविष्यति ॥१४९॥
अस्त्येषां दाशपुत्राणां नाम्ना बिन्दुमती। स्वसा।
सा प्रातर्वीक्ष्य कन्या त्वां भर्तृत्वेऽभ्यर्थयिष्यति ॥१५०॥
तच्च त्वं प्रतिपद्येथा सैव त्वां मोचयिष्यति।
न चा सा धीवरी सा हि दिव्या स्त्री शापतश्च्युता ॥१५१॥
एतच्छ्रुत्वा प्रबुद्धस्य तस्य नेत्रामृतच्छटा।
प्रभाते दाशकन्या सा तद्देवीगृहमाययौ ॥१५२॥
अभाषे चैनमभ्येत्य निवेद्यात्मानमुत्सुका।
इतोऽहं मोचयामि त्वां तत्कुरुष्वेप्सितं मम ॥१५३॥
भ्रातृणां सम्मता ह्येते प्रत्याख्याता वरा मया।
त्वयि दृष्टे तु मे प्रीतिः सञ्जाता तद्वृणुस्व माम् ॥१५४॥
इत्युक्तः स तया बिन्दुमत्या दाशेन्द्रकन्यया।
शक्तिदेवः स्मरन् स्वप्नं हृष्टस्तत्प्रत्यपद्यत ॥१५५॥
तयैव मोचितस्तां च सुमुखीं परिणीतवान्।
स्वप्नलब्धाम्बिकादेवीभ्रातृभिर्विहितेप्सिताम् ॥१५६॥
तस्थौ च सुखसिद्धयेव तत्र पुण्यफलाप्तया।
स्थानान्तरोपागतया स तया सह *विद्यया* ॥१५७॥
एकदा हर्म्यपृष्ठस्थो धृतगोमांसभारकम्।
मार्गागतं स चण्डालं दृष्ट्वा तामब्रवीत् प्रियाम् ॥१५८॥
वन्द्यास्त्रिजगतोऽप्येता या कृशोदरि धेनवः।
तासां पिशितमश्नाति पश्यायं पापकृत्श्वपचः ॥१५९॥

वहाँ बाँधकर रखा गया शक्तिदेव अपने जीवन में संशय करता हुए चंडिका की स्तुति करते लगा—॥१४५॥

"हे भगवति! भरपेट पिये हुए दैत्य के रुधिर से मानों उदय होते हुए सूर्य-बिम्ब के समान वर्णवाली अपनी मूर्ति से तुमने संसार की रक्षा की है। इसलिए निरन्तर प्रणाम करते हुए, बिना कारण ही पामरों के हाथों में पड़े हुए और प्रेमी जनों की प्राप्ति के लिए दूर देश से आये हुए मेरी रक्षा करो"॥१४६-१४७॥

शक्तिदेव इस प्रकार देवी की स्तुति करके सो गया। उसने स्वप्न में देखा कि उस मन्दिर के गर्भगृह से एक दिव्य स्त्री निकली और उस पर मानों दया करती हुई कहने लगी—"हे शक्तिदेव! तेरा अनिष्ट नहीं होगा ॥१४८-१४९॥

इस धीवर-मुखों की बिन्दुमती नाम की बहिन है। वह अभी कुमारी है। प्रातःकाल तुझे देखकर अपना पति बनाने के लिए तुमसे प्रार्थना करेगी॥१५०॥

तुम उसे स्वीकार कर लेना, वही तुम्हें छुड़वा देगी। वह निषाद-जाति की कन्या नहीं है अपितु शाप के प्रभाव से पतित दिव्य-स्त्री है"॥१५१॥

यह सुनकर शक्तिदेव के जागने पर प्रातःकाल ही आँखों में अमृत वर्षा करनेवाली धीवर कन्या उस देवी-मन्दिर में आई॥१५२॥

वह धीवर-कन्या शक्तिदेव के समीप आकर और अपना परिचय देकर उत्सुकता के साथ कहने लगी—"मैं तुम्हें छुड़वा दूँगी, पर प्रतिज्ञा करो कि तुम मेरी इच्छा पूरी करोगे। मेरे विवाह के लिए मेरे भाइयों द्वारा सम्मत और लाये गये सभी वरों को मैंने अस्वीकृत कर दिया है, किन्तु तुम्हें देखकर मेरा तुम पर प्रेम हो गया है, इसलिए मुझे स्वीकार करो"॥१५३-१५४॥

धीवर-राज की कन्या बिन्दुमती के इस प्रकार कहने पर अपने स्वप्न को स्मरण करते हुए शक्तिदेव ने उसके प्रस्ताव को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। और, इसी प्रतिज्ञा पर छुड़ाये गये उसने बिन्दुमती से विवाह भी कर लिया, क्योंकि स्वप्न में चंडिका का आदेश पाकर उसके भाई बहिन की इच्छा से सम्मत हो गये थे॥१५५-१५६॥

पुण्य से प्राप्त की हुई सिद्धि के समान दूसरा रूप धारण की हुई उस दिव्य रमणी बिन्दुमती के साथ वह वहीं रहने लगा। एक बार भवन की छत पर उसी के साथ बैठे हुए शक्तिदेव ने सिर पर गोमांस का बोझ उठाये हुए और मार्ग पर चलते हुए एक चांडाल को देखकर अपनी पत्नी से पूछा—॥१५७-१५८॥

"हे कृशोदरि, जो गाय तीनों लोकों के लिए वन्दनीय है, उसका मांस यह पापी कैसे खाता है?॥१५९॥

तच्छ्रुत्वा साप्यवादीत्तं पतिं बिन्दुमती तदा ।
अचिन्त्यमार्यपुत्रैतत्तापमत्र किमुच्यते ॥१६०॥
अहं गवां प्रभावेन त्वत्पादप्यपरागत ॥
जाता दासकुलेऽमुष्मिन् का खेदस्यात्र निष्कृतिः ॥१६१॥
एवमुक्तवतीमेव शक्तिदेवो जगाद ताम् ।
चित्रं ब्रूहि प्रिये! का त्वं दासजन्म कथं च ते ॥१६२॥
अतिनिर्बन्धतश्चैवं पृच्छन्तं तमुवाच सा ।
वदामि गोप्यमप्येतद् वचनं मे करोषि चेत् ॥१६३॥
बाढं प्रिये! करोमीति तेनोक्ते शपथोत्तरम् ।
सा तदैनं जगादेवमादौ तावत् समीहितम् ॥१६४॥

बिन्दुमती कथा

अस्मिन् द्वीपे द्वितीयापि भार्या ते भविताधुना ।
सा चार्यपुत्र न चिराद्धृतगर्भा भविष्यति ॥१६५॥
अष्टमे गर्भमासे च पाटयित्वोदरं त्वया ।
तस्याः स गर्भः क्रष्टव्यो नैव कार्या घृणात्र च ॥१६६॥
एवमुक्तवती तस्मिन् किमेतदिति विस्मिते ।
तत्पृष्टे च भूय सा दाशेन्द्रतनयाब्रवीत् ॥१६७॥
इत्येतत्तव कर्तव्यं हेतो कस्यापि मद्वचः ।
अथेदं शृणु या चाहं दासजन्म यथा च मे ॥१६८॥
अहं जन्मान्तरेऽभूवं कापि विद्याधरी पुरा ।
मर्त्यलोके च शापेन परिभ्रष्टास्मि साम्प्रतम् ॥१६९॥
विद्याधरत्वे च यतः छित्त्वा दन्तैरयोजयम् ।
वीणासु तन्त्रीस्तेनेह जाताहं दासवेश्मनि ॥१७०॥
तत्रैवं पतने स्पृष्टे शुष्केण स्नायुना गवाम् ।
ईदृश्यधोगतिर्वा तु वार्त्ता तन्मांसभक्षणे ॥१७१॥
इत्येव कथयन्त्या च तत्र तस्यां ससम्भ्रमम् ।
एकोऽभ्युपेत्य तद्भ्राता शक्तिदेवमभाषत ॥१७२॥
उत्तिष्ठ सुमहानेष कुतोऽप्युपाय सूकरः ।
हतानेकजनो दर्पादितोऽभिमुखमागतः ॥१७३॥
तच्छ्रुत्वा तामवतीर्यैव शक्तिदेव स स्वहर्म्यतः ।
आरुह्य शक्तिहस्तोऽश्वमधावत्सूकरं प्रति ॥१७४॥

यह सुनकर बिन्दुमती अपने पति से कहने लगी—'आर्यपुत्र ! गोमांस-भक्षण का पाप तो अचिन्त्य है इस विषय में यहाँ क्या कहा जा सकता है। मैं गायों के ही थोड़े-से अपराध के कारण धीवरों के कुल में जन्मी। अब इसमें कैसे उद्धार होगा यह पता नहीं ॥१६०-१६१॥

ऐसा कहती हुई पत्नी से शक्तिदेव बोला—आश्चर्य है प्रिये ! तुम कौन हो और इस धीवर के कुल में तुम्हारा जन्म कैसे हुआ? ॥१६२॥

इस प्रकार अत्यन्त आग्रह के साथ पूछते हुए शक्तिदेव से उसने कहा—'यह अत्यन्त गोपनीय बात है। यदि तुम मेरी बात मानो तो मैं तुमसे कहती हूँ' ॥१६३॥

तब शक्तिदेव के शपथ खाकर उसे गुप्त रखने की प्रतिज्ञा करने पर, उस बिन्दुमती ने प्रारम्भ से इस प्रकार उसे बताया ॥१६४॥

बिन्दुमती की कथा

'इस द्वीप में तुम्हारी एक दूसरी पत्नी भी होगी और वह शीघ्र ही गर्भवती हो जायगी ॥१६५॥

गर्भ के आठवें महीने में तुम्हें उसका पेट फाड़कर उस गर्भ को निकालना पड़ेगा और इस काम में तुम्हें घृणा न करनी होगी' ॥१६६॥

धीवर-कन्या के इस प्रकार कहने पर शक्तिदेव अत्यन्त आश्चर्य-चकित हुआ और घृणा प्रकट करने लगा। यह देखकर धीवर-कन्या ने फिर उससे कहा—'यह कार्य किसी गुप्त कारण से तुम्हें करना ही पड़ेगा। अब सुनो मैं कौन हूँ और धीवर जाति में मेरा जन्म कैसे हुआ? ॥१६७-१६८॥

'मैं पहले जन्म में विद्याधरी थी। इस समय शाप से पतित होकर मर्त्यलोक में मेरा जन्म हुआ है ॥१६९॥

विद्याधर जन्म में मैंने वीणा के तारों को दाँतों से तोड़कर जोड़ा था इसी से धीवर कुल में मेरा जन्म हुआ ॥१७०॥

इस प्रकार गाय के सूखे चमड़े को दाँतों से छूने पर जब मेरी इस प्रकार अधोगति हुई तब मांस-भक्षण की तो बात ही क्या कही जा सकती है ॥१७१॥

उसके ऐसा कहते हुए मध्य में ही उसका एक भाई आकर शक्तिदेव से बोला—'उठो देखो यह सूअर उठकर अनेक मनुष्यों को मारता हुआ इधर ही सामने आ गया है' ॥१७२-१७३॥

यह सुनकर वह शक्तिदेव अपने भवन से उतरकर घोड़े पर सवार होकर और हाथ में शक्ति (भाला) लिये हुए सूअर की ओर दौड़ा ॥१७४॥

प्रजहार च दृष्ट्वैव तस्मिन्वीरेऽभिधावति ।
पलाय्य व्रणितः सोऽपि वराहः प्राविशद् बिलम् ॥१७५॥
शक्तिदेवोऽपि तत्रैव तदन्वेषी प्रविश्य च ।
क्षणादपश्यत् सावासमुद्यानगहनं महत् ॥१७६॥
तत्रस्थश्च ददर्शैकां कन्यामत्यद्भुताकृतिम् ।
ससम्भ्रममुपायातां श्रीरिव वनदेवताम् ॥१७७॥
तामपृच्छच्च कल्याणि ! का त्वं किं सम्भ्रमश्च ते ।
तच्छ्रुत्वा सापि सुमुखी तमेवं प्रत्यभाषत ॥१७८॥
अस्ति दक्षिणदिङ्नाथो नृपतिश्चण्डविक्रमः ।
तस्याहं बिन्दुरेखाख्या सुता सुभगकन्यका ॥१७९॥
इहाकस्माच्च पापो मां दैत्यो ज्वलितलोचनः ।
अपहृत्य च्छलेनाद्य पितुरानीतवान् गृहात् ॥१८ ॥
स चामिषार्थी वाराहं रूपं कृत्वा बहिर्गतः ।
विद्धोऽद्य क्षुधार्तः सन् शक्त्या वीरेण केनचित् ॥१८१॥
विद्धमात्रः प्रविश्येह पञ्चतामागतश्च सः ।
तददूषितकौमारा पलाय्याहं च निर्गता ॥१८२॥
तच्छ्रुत्वा शक्तिदेवस्तामूचे कस्तर्हि सम्भ्रमः ।
मयैव स वराहो हि हतः शक्त्या नृपात्मजे ॥१८३॥
ततः साप्यवदत्तर्हि ब्रूहि मे को भवानिति ।
विप्रोऽहं शक्तिदेवाख्य इति प्रत्यब्रवीच्च सः ॥१८४॥
तर्हि त्वमेव मे भर्तेत्युदितः स तया ततः ।
तथेत्यादाय तां वीरो बिलद्वारेण निर्ययौ ॥१८५॥
गृहं गत्वा च भार्यायै बिन्दुमत्यै निवेद्य तत् ।
तच्छन्दितः कुमारीं तां बिन्दुरेखामुदूढवान् ॥१८६॥
ततस्तस्य द्विभार्यस्य शक्तिदेवस्य तिष्ठतः ।
तत्रैका बिन्दुरेखा सा भार्या गर्भमधारयत् ॥१८७॥
अष्टमे गर्भमासे च तस्याः स्वैरमुपेत्य तम् ।
आद्या बिन्दुमती भार्या शक्तिदेवमुवाच सा ॥१८८॥
वीर ! तत्स्मर यन्मह्यं प्रतिश्रुतमभूत्त्वया ।
सोऽयं द्वितीयभार्याया गर्भमासोऽष्टमस्तव ॥१८९॥

उसने भागते हुए सूअर पर प्रहार किया। आहत सूअर भी भागकर अपने बिल में चला गया॥१७५॥

उसे ढूंढ़ता हुआ वह शक्तिदेव भी बिल में घुसा और अन्दर जाकर क्षण-भर में उसने सुन्दर बने हुए निवास-गृहवाले एक वन उद्यान को देखा॥१७६॥

वहाँ जाकर उसने अद्भुत स्वरूपवाली और घबराई हुई एक कन्या को प्रेम से स्वागत के लिए आई हुई, साक्षात् वनदेवी के समान देखा॥१७७॥

और उससे पूछा—'कल्याणमयी तू कौन है? और तुझे इतनी व्याकुलता क्यों है? यह सुनकर वह सुन्दरी उससे इस प्रकार कहने लगी—॥१७८॥

हे सुन्दर! दक्षिण-देश में चंडविक्रम नाम का एक राजा है। मैं उसी की कन्या हूँ। मेरा नाम बिन्दुरेखा है। यह पापी दैत्य छलकर मुझे पिता के घर से हरण करके यहाँ ले आया है॥१७९-१८ ॥

वह दैत्य मांस-भक्षण के लिए सूअर का रूप धारण करके बाहर गया। किसी से शक्ति द्वारा आहत होने पर वह भूखा यहाँ आकर मर गया। इसीलिए मैं भी घर से बाहर निकलकर भाग आई हूँ किन्तु मेरी कुमारावस्था को उसने दूषित (नष्ट) नहीं किया है'॥१८१-१८२॥

यह सुनकर शक्तिदेव ने उससे कहा—'तब चिन्ता की क्या बात है? हे राजपुत्रि मैंने ही शक्ति से इस सूअर को मारा है'॥१८३॥

तब वह कन्या कहने लगी कि तुम कौन हो यह बताओ। उत्तर में उसने कहा— मैं शक्तिदेव नामक ब्राह्मण हूँ॥१८४॥

कन्या ने कहा—'तब तू ही मेरा स्वामी है। उसके ऐसा कहने पर शक्तिदेव उसे लेकर बिल-मार्ग से बाहर निकल आया॥१८५॥

तदनन्तर उस कन्या को ले जाकर अपनी पत्नी बिन्दुमती को सौंप दिया। और, पत्नी के विश्वास दिलाने पर शक्तिदेव ने उस कन्या से पाणिग्रहण कर लिया॥१८६॥

तत्पश्चात् दो पत्नियोंवाले शक्तिदेव के वहाँ रहते हुए एक पत्नी गर्भवती हो गई इस गर्भ का अष्टम मास निकट आने पर शक्तिदेव की पहली पत्नी बिन्दुमती उसके पास आकर धीरे-से कहने लगी—'वीर, उस बात का स्मरण करो जो तुमने पहले मुझसे प्रतिज्ञा की थी तुम्हारी दूसरी भार्या को आठ महीने का गर्भ हो गया है॥१८७-१८९॥

तद्गत्वा गर्भमेतस्या विपाट्योत्तरमाहर।
अनतिक्रमणीयं हि निजं सत्यवचस्तव ॥१९०॥
एवमुक्तस्तया शक्तिदेवः स्नेहकृपाकुलः।
प्रतिज्ञापरतन्त्रश्च क्षणमासीदनुत्तरः ॥१९१॥
पश्चाद्धैर्यात्स निर्गत्य बिन्दुरेखान्तिकं ययौ।
सापि खिन्नमुपायान्तं तं विलोक्यैवमब्रवीत् ॥१९२॥
आर्यपुत्र! विषण्णोऽसि किमद्य ननु वेद्म्यहम्।
बिन्दुमत्या नियुक्तस्त्वं गर्भस्योत्पाटने मम ॥१९३॥
तच्च तेऽवश्यकर्तव्यं कार्यं किञ्चिद्धि विद्यते।
नृशंसता च नास्त्यत्र काचित्तन्मा घृणां कृथाः ॥१९४॥

देवदत्तब्राह्मणस्य कथा

तथाहि शृणु नामात्र देवदत्तकथामिमाम्।
पुराभूद्धरिदत्ताख्यः कम्बुकाख्ये पुरे द्विजः ॥१९५॥
तस्य च श्रीमतः पुत्रः कृतविद्योऽपि शैशवे।
देवदत्ताभिधानोऽभूद्द्यूतैकव्यसनी युवा ॥१९६॥
द्यूतहारितवस्त्रादिर्गन्तुं नाशकत्पितुर्गृहम्।
एकदा च विवेशैकं स शून्यं देवतागृहम् ॥१९७॥
तत्र चापश्यदेकाकी साधितानेककार्मणम्।
जपन्तं जालपादाख्यं महाव्रतिनमेककम् ॥१९८॥
चकार च शनैस्तस्य प्रणाममुपगम्य सः।
तेनाप्यपास्तमौनेन स्वागतेनाभ्यनन्द्यत ॥१९९॥
स्थितः क्षणाच्च तेनैव पृष्टो वैधुर्यकारणम्।
शशंसास्मै स्वविपदं व्यसनक्षीणवित्तजाम् ॥२००॥
ततस्तं स जगादैवं दयदत्तं महाव्रती।
नास्ति व्यसनिनां वत्स! भुवि पर्याप्तये धनम् ॥२०१॥
इच्छा च विपदं हातुं यदि ते कुरु मद्वचः।
विद्याधरत्वं प्राप्तुं यत् कृतः परिकरो मया ॥२०२॥
तत्साधय त्वमप्येतं मया सह सुलक्षण!
मच्छासनं तु पाल्यं ते नश्यन्तु विपदस्तव ॥२०३॥

---

१ विविधकामनासाधकानां साधकम्।

इसलिए अब तुम उसके पास जाकर उसका पेट फाड़कर लाओ। अब तुम्हें अपनी कही हुई सत्य बात से विचलित न होना चाहिए'॥१९०॥

पत्नी के द्वारा इस प्रकार कहा गया शक्तिदेव प्रेम और दया से व्याकुल तथा प्रतिज्ञा से पराधीन होकर कुछ देर चुप रहा॥१९१॥

कुछ क्षण आवेश में आकर और वहाँ से निकलकर वह बिन्दुरेखा के पास गया। बिन्दुरेखा ने उसे दुःखी और चिन्तित होकर अपने पास आते हुए देखकर कहा—'आर्यपुत्र आज दुःखी क्यों हो? यह मैं जानती हूँ कि तुम्हें बिन्दुमती ने मेरा गर्भ फाड़ने के लिए कहा है। यह कार्य तुम्हें अवश्य करना चाहिए। उससे कुछ काम बनेगा इसमें कुछ भी क्रूरता नहीं है। इसलिए घृणा न करो'॥१९२ १९४॥

देवदत्त ब्राह्मण की कथा

'हे नाथ इस सम्बन्ध में मैं तुम्हें देवदत्त की कथा कहती हूँ सुनो—प्राचीन समय में कम्बुक नामक नगर में हरिदत्त नाम का एक ब्राह्मण था। उस धनी ब्राह्मण का देवदत्त नामक एक पुत्र हुआ जो बाल्यावस्था में ही विद्वान् होकर भी युवावस्था में जूए का व्यसनी हो गया था॥१९५ १९६॥

एक बार जूए में अपने कपड़े तक हार जाने के कारण वह अपने पिता के घर न जा सका और लज्जित होकर वह एक देवमन्दिर में जाकर ठहरा॥१९७॥

वहाँ मन्दिर में अकेले उसने अनेक सामग्रियों को एकत्र करके एकान्त में जप करते हुए महाव्रती जालपाद नामक तपस्वी को देखा॥१९८॥

देवदत्त धीरे से उसके पास जाकर प्रणाम करके बैठा। जालपाद ने भी मौन त्यागकर उसका प्रेमपूर्ण वचनों से स्वागत किया॥१९९॥

कुछ समय बैठने के पश्चात् व्रती जालपाद ने उसकी चिन्ता और दुर्दशा का कारण पूछा। उसके पूछने पर देवदत्त ने अपनी दुर्दशा का कारण जूए के व्यसन में धन का नष्ट हो जाना बताया॥२००॥

तब महातपस्वी जालपाद ने कहा—'बेटा व्यसनियों के लिए पृथ्वी में पूरा धन ही नहीं है'॥२०१॥

यदि तुम मेरी बात मानो तो मेरी इच्छा तुम्हारा कष्ट दूर करने की है। मैंने अपनी साधना से जैसे विद्याधरत्व प्राप्त किया है और सिद्धि प्राप्त की है, उसे तुम भी मेरे साथ प्राप्त करो किन्तु मेरी आज्ञा का पालन करना होगा। तुम्हारी सब विपत्तियाँ दूर हो जायेंगी'॥२०२-२०३॥

इत्युक्तो व्रतिना तेन प्रतिश्रुत्य[1] तथेति तत्।
स देवदत्तस्तत्पार्श्वे सदैव स्थितिमग्रहीत् ॥२०४॥
अन्येद्युश्च श्मशानान्ते गत्वा वटतरोरधः।
विधाय रजनौ पूजां परमान्नं[2] निवेद्य च ॥२०५॥
बलीन्दिक्षु च विक्षिप्य सम्पादिततदर्चनः।
तं पार्श्ववर्तिनं विप्रमुवाच स महाव्रती ॥२०६॥
एवमेव त्वया कार्यमिह प्रत्यहमर्चनम्।
विद्युत्प्रभे गृहाणेमां पूजामित्यभिधायिना ॥२०७॥
अतः परं च जानेऽहं सिद्धिश्चैव ध्रुवावयो।
इत्युक्त्वा स ययौ तेन समं स्वनिलयं व्रती ॥२०८॥
सोऽपि नित्यं तरोस्तस्य मूलं गत्वा तथैव तत्।
देवदत्तोऽर्चनं चक्रे तथैव विधिना तत ॥२०९॥
एकदा च सपर्यान्ते विभामूतात्तरोस्ततः।
अकस्मात्पश्यतस्तस्य दिव्या नारी विनिर्ययौ ॥२१०॥
एह्यस्मत्स्वामिनी भद्र! वक्ति त्वामिति वादिनी।
सा तं प्रवेशयामास तस्यैवाभ्यन्तरं तरो ॥२११॥
स प्रविश्य ददर्शात्र दिव्यं मणिमयं गृहम्।
पर्यङ्कवर्तिनीमेकां तत्र चान्तर्वरस्त्रियम् ॥२१२॥
रूपिणी सिद्धिरस्माकमियं स्यादिति स क्षणात्।
यावद्ध्यायति तावत्सा कृतातिथ्या वराङ्गना ॥२१३॥
रणिताभरणैरङ्गैर्विहितस्वागतैरिव ।
उत्थाय निजपर्यङ्के तमुपावेशयत् स्वयम् ॥२१४॥
अथाह च महाभाग! सुता यक्षपतेरहम्।
कन्या हि रत्नवर्षस्य ख्याता विद्युत्प्रभाख्यया ॥२१५॥
आराधयच्च मामेष कालपादो महाव्रती।
तस्यार्थसिद्धिदैवास्मि त्वं प्राणेष्वपि मे प्रभु ॥२१६॥
तस्माद्दृष्टानुरागिण्या कुरु पाणिग्रहं मम।
इत्युक्त स तया चक्रे देवदत्तस्तथेति तत् ॥२१७॥

---

१ स्वीकृत्येति भावः
२ परमान्नं तु पायसम् इत्यमरः।

तपस्वी साधक द्वारा इस प्रकार कहे गए देवदत्त ने उसकी बात स्वीकार कर ली और तब से उसी के पास रहने लगा॥२०४॥

महाव्रती जालपाद ने दूसरी रात्रि में श्मशान के पास जाकर बटवृक्ष के नीचे पूजा करके खीर और नैवेद्य चढ़ाकर दिशाओं में बलि फेंकते हुए पूजा की और साथ में बैठे हुए देवदत्त से कहा—॥२०५-२०६॥

देवदत्त तुम्हें भी प्रतिदिन इसी प्रकार पूजन करना चाहिए और पूजा करके कहना चाहिए, विद्युत्प्रभे! इस पूजा को ग्रहण करो॥२०७॥

इससे आगे मैं नहीं जानता। किन्तु हम दोनों को सिद्धि अवश्य मिलेगी। इतना कहकर वह तपस्वी उसको साथ लेकर अपने घर लौट आया॥२०८॥

वह ब्राह्मण देवदत्त भी प्रतिदिन उस बटवृक्ष के नीचे जाकर उसी विधि से पूजन करने लगा॥२०९॥

एक दिन देवदत्त के पूजा कर लेने के उपरान्त उस वृक्ष के तने को बीच से फाड़कर सहसा एक दिव्यस्त्री निकली॥२१०॥

वह कहने लगी—हे भले आदमी! मेरी स्वामिनी तुम्हें बुलाती है। इस प्रकार कहकर उसे वह वृक्ष के अन्दर ले गई॥२११॥

देवदत्त ने अन्दर जाकर मणियों से निर्मित एक सुन्दर भवन देखा और उसके भीतर पलंग पर बैठी हुई एक सुन्दरी स्त्री देखी। उसे देखकर देवदत्त सोचने लगा सम्भव है यही हमारी मूर्तिमती सिद्धि हो। जबतक वह ऐसा सोचता है तबतक वह सुन्दरी रमणी उसका आतिथ्य करके चमचमाते आभूषणों से सुशोभित अंगों से उसका स्वागत करती हुई कहने लगी—"मैं प्रभावर्ष नामक यक्ष की पुत्री विद्युत्प्रभा हूँ। इस महाव्रती जालपाद ने मेरी आराधना की है, उसको मैं अष्टसिद्धि देनेवाली हूँ। किन्तु तुम तो मेरे प्राणों के भी स्वामी हो॥२१२-२१६॥

इसलिए देखने मात्र से प्रेम करनेवाली मुझसे तुम पाणिग्रहण कर लो। उसके इस प्रकार कहने पर देवदत्त ने उससे विवाह कर लिया॥२१७॥

स्थित्वा च कञ्चित्कालं स गर्भभारे तया धृते।
जगाम पुनरागत्य तं महाव्रतिनं प्रति ॥२१८॥
शशंस च यथावृत्तं स तस्मै समयं ततः।
सोऽप्येवमात्मसिद्ध्यर्थी जगादैनं महाव्रती ॥२१९॥
भद्र! साधु कृतं किं तु गत्वास्या यक्षयोषितः।
विपाट्योदरमाकृष्य शीघ्रं गर्भं तमानय ॥२२०॥
इत्युक्त्वा स्मारयित्वा च व्रतिना पूर्वसङ्गरम्[1]।
प्रेषितस्तेन भूयस्तां देवदत्तोऽप्यगात् प्रियाम् ॥२२१॥
तत्र तिष्ठति यावच्च तद्विभावनदुर्मनाः।
तावद् विद्युत्प्रभा सा तं यक्षी स्वयमभाषत ॥२२२॥
आर्यपुत्र! विषण्णोऽसि किमर्थं विदितं मया।
आदिष्टं जाम्पादेन तव मद्गर्भपाटनम् ॥२२३॥
तद्गर्भमेतमाकर्ष पाटयित्वा ममोदरम्।
न चेत् स्वयं करोम्येतत्कार्यं ह्यस्त्यत्र किञ्चन ॥२२४॥
एवं तयोक्तः स यदा कर्तुं तन्नाशकद् द्विजः।
तन्नाकृष्टवती गर्भं सा स्वयं पाटितोदरा ॥२२५॥
तं च कृष्टं पुरस्त्यक्त्वा देवदत्तं तमभ्यधात्।
भोक्तुर्विद्याधरत्वस्य कारणं गृह्यतामयम् ॥२२६॥
अहं च शापाद्यक्षीत्वे जाता विद्याधरी सती।
अयमीदृक्च शापान्तो मम जातिस्मरा ह्यहम् ॥२२७॥
इदानीं यामि धाम स्वं सङ्गमश्चावयोः पुनः।
तत्रैवेत्यभिधायैषा क्वापि विद्युत्प्रभा ययौ ॥२२८॥
देवदत्तोऽपि तं गर्भं गृहीत्वा खिन्नमानसः।
जगाम जाम्पादस्य तस्य स व्रतिनोऽन्तिकम् ॥२२९॥
उपानयच्च तं गर्भं तस्मै सिद्धिप्रदायिनम्।
भजन्त्यारम्भरित्वं हि दुर्लभेऽपि न साधवः ॥२३ ॥
सोऽपि तत्पाचयित्वैव गर्भमांसं महाव्रती।
व्यसृजद्देवदत्तं तं भैरवार्चाकृतेऽञ्जसा[?]म् ॥२३१॥
ततो दत्तवस्मिर्यावदेत्य पश्यति स द्विजः।
तावन्मांसमशेषं तद् व्रतिना तेन भक्षितम् ॥२३२॥

---

1. मदभावपरमं कार्यमिति पूर्वप्रतिज्ञाम्।

और कुछ समय तक उसके गर्भागार में रहकर फिर ब्राह्मण पुत्र उस महातपस्वी के पास लौट आया और आकर उसने डरते-डरते वह सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया। यह सब सुनकर महातपस्वी बोला—॥२१८-२१९॥

'भद्र! तुमने जो कुछ किया अच्छा किया। किन्तु अब जाकर उस यक्षिणी का पेट फाड़कर शीघ्र ही उसके गर्भ को ले आओ॥२२ ॥

ऐसा कहकर और उस पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर साधक ने देवदत्त को फिर वहाँ भेजा और देवदत्त उस प्रेयसी के पास गया॥२२१॥

जब वह इस कर्म को करने में दुःखी होकर विद्युत्प्रभा के पास खड़ा हुआ तब वह स्वयं उससे कहने लगी—आर्यपुत्र! तुम जिस लिए चिन्तित हो मुझे विदित है। तुम्हें ज्वालापाद ने मेरा पेट फाड़कर मेरा गर्भ लाने के लिए कहा है। इसलिए तुम इस गर्भ को मेरा पेट फाड़कर खींच लो। नहीं तो मैं स्वयं यह कार्य करती हूँ। इसमें कुछ रहस्य है' ॥२२२-२२४॥

विद्युत्प्रभा के ऐसा कहने पर भी जब वह ब्राह्मण शक्तिदेव उसका पेट फाड़ने के लिए उद्यत न हुआ तब उसने स्वयं अपना पेट फाड़कर गर्भ को पेट से बाहर खींच लिया॥२२५॥

निकाले हुए गर्भ को आगे रखकर वह देवदत्त से कहने लगी—'इस खानेवाले को विद्याधर बनाने के लिए इसे ले लो। मैं विद्याधरी होकर भी शाप से यक्षी बन गई थी। बस यही और इसी प्रकार मेरे शाप का अन्त था। मैं पूर्वजन्म की जाति का स्मरण करती हूँ॥२२६-२२७॥
अब मैं अपने स्थान को जा रही हूँ और हम दोनों का फिर वहीं समागम होगा। इतना कहकर विद्युत्प्रभा अन्तर्धान हो गई॥२२८॥

व्यथितहृदय देवदत्त भी उस गर्भ को लेकर उस साधक ज्वालापाद के पास आया। आकर उसने उस गर्भ को उसे भेंट कर दिया॥२२९॥

सज्जन लोग कठिनाई में भी केवल अपना पेट भरना ही नहीं जानते॥२३ ॥

उस महासाधक ने उसका मांस पकाकर उसका कुछ भाग भैरव को देने के लिए शक्तिदेव को जंगल में भेज दिया॥२३१॥

वन में बलि देकर लौटने पर जब शक्तिदेव ने देखा तब ज्वालापाद उस सारे मांस को खा गया था॥२३२॥

कथं सर्वं त्वया मुक्तमिति चात्रास्य जल्पतः।
जिह्मो' विद्याधरो भूत्वा जालपादः समुद्ययौ ॥२३३॥
व्योमश्यामलनिस्त्रिंशे' हारकेयूरराजिते।
तस्मिन्नुत्पतिते सोऽथ देवदत्तो व्यचिन्तयत् ॥२३४॥
कष्टं कीदृगनेनाहं वञ्चितः पापबुद्धिना।
यदि वात्यन्तमृजुता न कस्य परिभूतये ॥२३५॥
तदेतस्यापकारस्य कथमद्य प्रतिक्रियाम्।
कुर्यां विद्याधरीभूतमप्येनं प्राप्नुयां कथम् ॥२३६॥
तन्नास्त्युपायो वेतालसाधनादपरोऽत्र मे।
इति निश्चित्य स ययौ रात्रौ पितृवनं ततः ॥२३७॥
तत्राहूय तरोर्मूले वेतालं नृकलेवरे।
पूजयित्वाकरोत्तस्य नृमांसबलितर्पणम् ॥२३८॥
अतृप्यन्तं च वेतालं तमन्यानयनासहम्।
तर्पयिष्यन् स्वमांसानि छेत्तुमारभते स्म सः ॥२३९॥
तत्क्षणं तं स वेतालो महासत्त्वमभाषत।
सत्त्वेनानेन तुष्टोऽस्मि तव मा साहसं कृथाः ॥२४०॥
तद् भद्र किमभिप्रेतं तव यत्साधयामि ते।
इत्युक्तवन्तं वेतालं स वीरः प्रत्युवाच तम् ॥२४१॥
विद्यस्तवञ्चको यत्र जालपादो व्रती स्थितः।
विद्याधरनिवासं तं नय तन्निग्रहाय माम् ॥२४२॥
तथेत्युक्तवता तेन वेतालेन स तत्क्षणात्।
स्कन्धेऽधिरोप्य नभसा निन्ये वैद्याधरं पदम्' ॥२४३॥
तत्रापश्यच्च तं जालपादं प्रासादवर्तिनम्।
स विद्याधरराजत्वदृप्तं रत्नासनस्थितम् ॥२४४॥
प्रतारयन्तं तामेव सत्यविद्याधरीपदाम्।
विद्युत्प्रभामनिच्छन्तीं भार्यात्वे तत्सुतार्थिभिः ॥२४५॥

---

१ कुटिलः।

२ आ नाभावत् श्यामल- निस्त्रिंशः खड्गो यस्य सः। तद्रूप श्यामो वक्षः ... [illegible]

३ स्थानम्।

४ स्थानम्।

'तुमने अकेले ही सारा मांस क्यों खा लिया, मेरे लिए क्यों नहीं रखा?' —शक्तिदेव के इस प्रकार कहते हुए ही वह कुटिल आलपाद विद्याधर बनकर आकाश में उड़ गया ॥२१३॥

आकाश के समान नीले रंग की तलवार लिये हुए और हार, केयूर से सुशोभित आलपाद के उड़ जाने पर देवदत्त सोचने लगा ॥२१४॥

दुःख है कि उस दुष्ट बुद्धि ने मुझे ठगा। सच है, अत्यन्त सरलता किसे अपमानित नहीं करती? ॥२१५॥

तो अब उसके इस अपकार का बदला मैं कैसे लूँ। विद्याधर बने हुए भी इसे किस प्रकार पकड़ लूँ ॥२१६॥

अब इसके लिए वेताल-साधना के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है, यह सोचकर वह रात को श्मशान में गया ॥२१७॥

वहाँ पर एक वृक्ष की जड़ में जाकर मनुष्य के मुर्दे में नरमांस की बलि तथा तर्पण आदि करके उसने वेताल का आवाहन किया ॥२१८॥

उसमें भी वेताल को तृप्त होते न देखकर उसकी तृप्ति के लिए वह अपना मांस काटने लगा। तब वेताल उस महान् साहसवाले देवदत्त से कहने लगा— मैं तुम्हारे इतने ही साहस से प्रसन्न हूँ, अब अधिक साहस न करो। तुम अपना अभीष्ट काम बताओ, मैं उसे तुम्हारे लिए सिद्ध करूँ। वेताल के ऐसा कहने पर वह वीर देवदत्त बोला— विश्वासी व्यक्ति को ठगनेवाला नायक आलपाद जहाँ भी हो, उस विद्याधरों के निवास-स्थान में उसे मारने के लिए मुझे ले चलो ॥२१९-२४०॥

देवदत्त के ऐसा कहने पर वह वेताल उसी क्षण उसे कन्धे पर चढ़ाकर आकाश-मार्ग से विद्याधरों के लोक को ले गया ॥२४१॥

विद्याधर-लोक के राजभवन में रत्न-सिंहासन पर बैठे हुए, विद्याधर-पद प्राप्त करके अभिमान से भरे एवं विद्याधरी पद को प्राप्त करनेवाली विद्युत्प्रभा को, उसके न चाहते हुए भी विविध प्रकार की बातों से उसे पत्नी बनाने की चेष्टा करते हुए, उसने आलपाद को देखा ॥२४२-२४५॥

इति दिव्यां गिरं श्रुत्वा पाटितोदरमाशु सः ।
गर्भं तस्याः समाकृष्य पाणिना कण्ठतोऽग्रहीत् ॥२६०॥
गृहीतमात्रो जज्ञे च स खड्गस्तस्य हस्तगः ।
आकृष्टः सत्त्वतः सिद्धेः केशपाश इवायतः ॥२६१॥
ततो विद्याधरः क्षिप्रात्स विप्रः समजायत ।
बिन्दुरेखा च तत्कालमदर्शनमियाय सा ॥२६२॥
तद्दृष्ट्वा च स गत्वैव दासपुत्र्यै न्यवेदयत् ।
बिन्दुमत्यै द्वितीयस्यै पत्न्यै सर्वं तथाविधम् ॥२६३॥
सा समाह वयं नाथ! विद्याधरपतेः सुताः ।
तिस्रो भगिन्यः कनकपुरीतः शापतश्च्युताः ॥२६४॥
एका कनकरेखा सा वर्धमानपुरे त्वया ।
यस्या दृष्टः स शापान्तः सा च तां स्वां पुरीं गता ॥२६५॥
शापान्तो ह्रीवृषस्तस्या विचित्रो विधियोगतः ।
अहमेव तृतीया च शापान्तस्त्वधुनैव मे ॥२६६॥
मया चाद्यैव गन्तव्या नगरी सा निजा प्रिय ।
विद्याधरशरीराणि तत्रैवास्माकमासते ॥२६७॥
चन्द्रप्रभा च भगिनी ज्यायसी हि स्थिताऽत्र न ।
तदायाहि त्वमप्याशु खड्गसिद्धिप्रभावतः ॥२६८॥
तत्र ह्यस्मांश्चतस्रोऽपि भार्याः सम्प्राप्य धार्मिक ।
वनस्पेनार्पितां पित्रा पुरि राज्यं करिष्यसि ॥२६९॥
इति निजपरमार्थमुक्तवत्या सममनया पुनरेव बिन्दुमत्या ।
अथ कनकपुरीं स खड्गसिद्धो गगनपथेन[1] तयैति तां जगाम ॥२७ ॥
तस्यां च यानि योषिद्वपूंषि पर्यङ्कतल्पवर्तीनि ।
निर्जीवितान्यपश्यत्पूर्वं त्रिषु मण्डपेषु दिव्यानि ॥२७१॥
तानि यथावत् स्वात्मभिरनुप्रविष्टाः स कनकरेखाद्याः ।
प्राप्तो भूप प्रणता भ्राकीता निजप्रियमास्तिस्रः ॥२७२॥
तां च चतुर्भीमैक्षत तज्ज्येष्ठां रचितमङ्गलां तत्र ।
चन्द्रप्रभां पिबन्तीं चिरदर्शनसोत्कया दृष्ट्या ॥२७३॥

---

१ खड्गसिद्धत्वात्तस्य विद्याधरत्वं खेचरत्वञ्च सम्प्राप्तम् ।

इस प्रकार दिव्यवाणी सुनकर शक्तिदेव ने उसका पेट फाड़कर गर्भ को गले से पकड़ा॥२६ ॥

बिन्दुरेखा उसी समय अदृश्य हो गई और गर्भ को पकड़ते ही वह आत्मबल से प्राप्त सिद्धि के लम्बे केशपाश के समान तलवार बनकर उसके हाथ में रह गया। इस प्रकार, हाथ में तलवार के आते ही वह ब्राह्मण शक्तिदेव भी तुरन्त विद्याधर बन गया। यह सब दृश्य शक्तिदेव ने पाकर अपनी दूसरी पत्नी धीवर कन्या बिन्दुमती से कहा। तब वह रहस्योद्घाटन करती हुई बताने लगी—"हे स्वामिन् ! हम तीनों विद्याधरों के राजा की कन्याएँ तीन बहिनें हैं जो शाप के कारण कनकपुरी से पतित हुई हैं॥२६१–२६४॥

एक कन्या कनकरेखा नाम से वर्धमान नगर में राजकन्या हुई जिसके शाप का अन्त तुमने स्वयं देखा। वह अपनी नगरी को चली गई। दैवयोग से उसके शाप का अन्त ही ऐसा विचित्र था। मैं तीसरी बहिन हूँ। अब मेरे शाप का भी अन्त हो गया। आज ही मैं अपनी प्रिय नगरी को चली जाऊँगी। वहीं पर हमारे विद्याधर-शरीर सुरक्षित हैं॥२६५ २६७॥

हमारी बड़ी बहिन चन्द्रप्रभा भी वहीं है। अब तुम भी खड्गसिद्धि के प्रभाव से शीघ्र वहीं आओ॥२६८॥

तुम वहाँ हम चारों बहिनों को पत्नी-रूप में प्राप्त करके और वनवासी हमारे पिता का राज्य भी प्राप्त करके कनकपुरी का राज्य करोगे॥२६९॥

इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति बतलानेवाली बिन्दुमती के साथ ही वह शक्तिदेव आकाश-मार्ग से कनकपुरी को गया॥२७ ॥

उसने पहली बार उस राजभवन में तीनों मंदिरों के भीतर पलंगों पर पड़े जो तीन निर्जीव शरीर देखे थे अब वहाँ पहुँचने पर उनमें आने-जाने के जीवों के प्रवेश करने पर उसने प्रणाम करती हुई तीनों पत्नियों को देखा॥२७१–२७२॥

तदुपरान्त उसने उनकी बड़ी बहिन चन्द्रप्रभा को भी देखा जो चिरकाल के पश्चात् दर्शन मिलने के कारण उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से मंगल रचना करके देख रही थी॥२७३॥

दृष्टवैव च सवेतालोऽप्यन्यधावत्स तं मुधा।
द्रुष्यद्विद्युत्प्रभानेत्रचकोरामृतचन्द्रमाः ॥२४६॥
जाम्पपादोऽपि सोऽकस्मात्तं दृष्ट्वैवागतं तथा।
वित्रासाद् भ्रष्टनिर्स्त्रिशो' निपपातासनाद् भुवि॥२४७॥
देवदत्तोऽपि तत्खड्ग स लब्ध्वाप्यवधीन्न तम्।
रिपुष्वपि हि भीतेषु सानुकम्पा महाशयाः॥२४८॥
जिघांसन्तं च वेताल तं जगाद स तारयन्।
पाशघ्निना किमेतेन कृपणेन हतेन नः॥२४९॥
स्थाप्यतां भुवि नीत्वायं तस्मात्स्वनिलये त्वया।
आस्तां तत्रैव भूयोऽपि पापः कापालिको वरम्॥२५ ॥
इत्येव वदतस्तस्य देवदत्तस्य तत्क्षणम्।
दिवोऽवतीर्य शर्वाणी देवी प्रत्यक्षतां ययौ॥२५१॥
सा जगाद च तं प्रह्व पुत्र तुष्टास्मि तेऽमुना।
अनन्यसदृशेनेह सत्त्वोत्कर्षेण सम्प्रति॥२५२॥
तद्विद्याधरराजत्वं मया दत्तमिहैव ते।
इत्युक्त्वार्पितविद्या सा देवी सद्यस्तिरोऽभवत्॥२५३॥
जाम्पादस्च नीत्वैव वेतालेन स भूतले।
विभ्रष्टसिद्धिनिदधे नाधर्मः स्थिरसमृद्धये॥२५४॥
देवदत्तोऽपि सहितः स विद्युत्प्रभया तया।
विद्याधराधिराज्यं तत्प्राप्य तत्र व्यजृम्भत॥२५५॥
इत्याख्याय कथां पत्ये शक्तिदेवाय सत्वरा।
सा बिन्दुरेखा भूयस्तं बभाषे मृदुभाषिणी॥२५६॥
इतीदृशि भवन्त्येव कार्याणि तदिदं मम।
बिन्दुमत्युदितं गर्भं मुक्तशोकं विपाट्य॥२५७॥

शक्तिदेवस्य विद्याधरत्वप्राप्तिः

इत्येव बिन्दुरेखायां वदन्त्यां पापशङ्किते।
शक्तिदेवे च गगनादुदभूत्तत्र भारती॥२५८॥
'भो' शक्तिदेव! निःशङ्कं गर्भोऽस्याः कृष्यतां त्वया।
कण्ठे मुष्ट्या गृहीतो हि खड्गोऽसौ ते भविष्यति'॥२५९॥

---

१ इस्तच्युत खड्गः।

उसे देखते ही मदमाती विद्युत्प्रभा के नेत्र चकोरों के लिए चन्द्रमा के समान वह युवक देवदत्त बेताल के सहित आम्रपाद की ओर दौड़ पड़ा। आम्रपाद ने भी उसे अकस्मात् आये हुए देखकर, भय और व्याकुलता के कारण उसके हाथ से तलवार के गिर जाने पर वह सिंहासन से भूमि पर गिर पड़ा॥२४६–२४७॥

देवदत्त ने उसकी गिरी हुई तलवार को पाकर भी उसे मारा नहीं उदार पुरुष वैरी हुए शत्रुओं पर भी दयालु होते हैं॥२४८॥

आम्रपाद को मारते हुए बेताल को भी उसने रोक कर कहा—'इस बेचारे पापी को मारने से क्या लाभ? इसे पृथ्वी पर ले जाकर इसी के घर में रख दो। यह पापी फिर वहाँ कापालिक-व्रत करता रहे तो ठीक है॥२४९–२५ ॥

इस प्रकार की घटना होने पर उसी क्षण देवी पार्वती स्वर्ग से उतरकर आई और देवदत्त से प्रेमपूर्वक कहने लगी—'बेटा तेरे इस असाधारण आत्मोत्कर्ष से मैं प्रसन्न हूँ। इसलिए अब मैं तुझे स्वयं विद्याधरराज्य-पद और विद्याप्रदान करती हूँ' ॥२५१ २५२॥

इतना कहकर और देवदत्त को विद्या प्रदान कर देवी अन्तर्धान हो गई॥२५३॥

आम्रपाद को बेताल ने लाकर भूमि पर पटक दिया और उसकी सिद्धि भ्रष्ट हो गई। सच है अधर्म की सम्पत्ति चिरकाल तक नहीं रह सकती॥२५४॥

तदनन्तर देवदत्त विद्युत्प्रभा के साथ विद्याधर-राज्य प्राप्त करके सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा और उन्नति करने लगा॥२५५॥

मधुरभाषिणी बिन्दुरेखा इस प्रकार अपने पति शक्तिदेव को कथा सुनाकर फिर बोली—'ये कार्य इस प्रकार के होते हैं। इसलिए, तुम भी बिन्दुमती के कहने के अनुसार मेरे गर्भ को पेट फाड़कर निकाल लो' ॥२५६ २५७॥

शक्तिदेव द्वारा विद्याधरत्व की प्राप्ति

बिन्दुमती के इस प्रकार कहने पर भी पाप की शंका करते हुए शक्तिदेव ने आकाशवाणी सुनी—'हे शक्तिदेव ! तुम बिना किसी शंका के गर्भ को निकाल लो। उस गर्भ के शिशु की गर्दन को मुट्ठी से पकड़ोगे तो वह खड्ग बन जायगा'॥२५८-२५९॥

इति दिव्यां गिरं श्रुत्वा पाटितोदरमाशु सः ।
गर्भे तस्याः समाकृष्य पाणिना कण्ठतोऽग्रहीत् ॥२६०॥
गृहीतमात्रो यत्नेन स खड्गस्तस्य हस्तगः ।
आकृष्टः सत्त्वतः सिद्धेः केशपाश इवाययौ ॥२६१॥
ततो विद्याधरः क्षिप्रमासीत् विप्रः समजायत ।
बिन्दुरेखा च तत्कालमदर्शनमियाय सा ॥ २६२॥
तद्दृष्ट्वा च स गत्वैव वाशपुत्र्यै न्यवेदयत् ।
बिन्दुमत्यै द्वितीयस्यै पत्न्यै सर्वं तथाविधम् ॥२६३॥
सा तमाह वयं नाथ[1] विद्याधरपतेः सुताः ।
तिस्रो भगिन्यः कनकपुरीतः शापतश्च्युताः ॥२६४॥
एका कनकरेखा सा वर्धमानपुरे त्वया ।
यस्या दृष्टः स शापान्तः सा च तां स्वां पुरीं गता ॥२६५॥
शापान्तो हीदृशस्तस्या विचित्रो विधियोगतः ।
अहमेव तृतीया च शापान्तश्चाधुनैव मे ॥२६६॥
मया चाद्यैव गन्तव्या नगरी सा निजा प्रिया ।
विद्याधरशरीराणि तत्रैवास्माकमासते ॥२६७॥
चन्द्रप्रभा च भगिनी ज्यायसी हि स्थिताऽत्र नः ।
तदायाहि त्वमप्याशु खड्गसिद्धिप्रभावतः ॥२६८॥
तत्र एतस्मादचतस्रोऽपि भार्याः सम्प्राप्य चाधिकाः ।
कनकसेनार्पिताः पित्रा पुरि राज्यं करिष्यसि ॥२६९॥
इति निजपरमार्थमुक्तवत्या सममनया पुनरेव बिन्दुमत्या ।
अथ कनकपुरीं स शक्तिदेवो गगनपथेन तथैति तां जगाम ॥२७ ॥
तस्यां च यानि योषिद्वपूंषि पर्यङ्कतल्पवर्तीनि ।
निर्जीवितान्यपश्यत्पूर्वं त्रिषु मण्डपेषु दिव्यानि ॥२७१॥
तानि यथायत् स्वारममिरन्प्रविष्टाः स कनकरेखाद्याः ।
प्राप्तो भूयः प्रणताः अद्राक्षीत्ताः निजप्रियास्तिस्रः ॥२७२॥
तां च चतुर्थीमेतासां तज्ज्येष्ठां रचितमङ्गलां तत्र ।
चन्द्रप्रभां पिबन्तीं चिरदर्शनमोत्कया दृष्ट्या ॥२७३॥

---

१ अङ्गुलिद्वारसत्तम्र विद्याधराणं लेखरशक्त्र सम्प्राप्तम् ।

इस प्रकार विस्मयवाणी सुनकर शक्तिदेव ने उसका पेट फाड़कर गर्भ को गले से पकड़ा॥२६ ॥

बिन्दुरेखा उसी समय अदृश्य हो गई और गर्भ को पकड़ते ही वह आत्मबल से प्राप्त सिद्धि के कृष्ण केशपाश के समान तलवार बनकर उसके हाथ में रह गया। इस प्रकार, हाथ में तलवार के आते ही वह ब्राह्मण शक्तिदेव भी तुरन्त विद्याधर बन गया। यह सब दृश्य शक्तिदेव ने जाकर अपनी दूसरी पत्नी धीवर कन्या बिन्दुमती से कहा। तब वह रहस्योद्घाटन करती हुई बताने लगी—"हे स्वामिन्! हम तीनों विद्याधरों के राजा की कन्याएँ तीन बहिनें हैं जो शाप के कारण कनकपुरी से पतित हुई हैं॥२६१–२६४॥

एक कन्या कनकरेखा नाम से वर्धमान नगर में राजकन्या हुई जिसके शाप का अन्त तुमने स्वयं देखा। वह अपनी नगरी को चली गई। दैवयोग से उसके शाप का अन्त ही ऐसा विचित्र था। मैं तीसरी बहिन हूँ। अब मेरे शाप का भी अन्त हो गया। आज ही मैं अपनी प्रिय नगरी को चली जाऊँगी। वहीं पर हमारे विद्याधर-शरीर सुरक्षित हैं॥२६५ २६७॥

हमारी बड़ी बहिन चन्द्रप्रभा भी वहीं है। अब तुम भी खड्गसिद्धि के प्रभाव से शीघ्र वहीं आओ॥२६८॥

तुम वहाँ हम चारों बहिनों को पत्नी-रूप में प्राप्त करके और वनवासी हमारे पिता का राज्य भी प्राप्त करके कनकपुरी का राज्य करोगे॥२६९॥

इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति बतलानेवाली बिन्दुमती के साथ ही वह शक्तिदेव आकाश-मार्ग से कनकपुरी को गया॥२७ ॥

उसने पहली बार उस राजभवन में तीनों मकानों के भीतर पलंगों पर पड़े जो तीन निर्जीव शरीर देखे थे अब वहाँ पहुँचने पर उनमें अपने-अपने जीवों के प्रवेश करने पर उसने प्रणाम करती हुई तीनों पत्नियों को देखा॥२७१–२७२॥

तदुपरान्त उसने उनकी बड़ी बहिन चन्द्रप्रभा को भी देखा जो चिरकाल के पश्चात् दर्शन मिलने के कारण उत्सुकतापूर्ण दृष्टि से मंगल-रचना करके देख रही थी॥२७३॥

स्वस्वनियोगव्यापृतपरिजनवनितामिनन्दितागमम ।
वासगृहान्त प्राप्तश्चन्द्रप्रभया तया जगदे ॥२७४॥
या तत्र कनकरेखा राजसुता सुभग ! वर्धमानपुरे।
दृष्टा भवता सयं भगिनी मे चन्द्ररेखाख्या ॥२७५॥
या दाशाधिपपुत्री विन्दुमती प्रथममुत्स्थलद्वीपे।
परिणीताभूद्भवता शशिरेखा मत्स्वसा सेयम् ॥२७६॥
या तदनु विन्दुरेखा राजसुता तत्र दानवानीता।

शक्तिदेवस्य विद्याधरीभिः सह विवाहः

भार्या च ते तदाभूच्छशिप्रभा सेयमनुजा मे ॥२७७॥
तदिदानीमेहि कृतिभ्रस्मत्पितुरन्तिकं सहास्माभिः ।
तेन प्रत्तास्चैता युतमस्मिका परिणयस्वास्मान् ॥२७८॥
इति कुसुमशराशासप्रगल्भं च तस्यां
त्वरितमुदितवत्यामत्र चन्द्रप्रभायाम् ।
अपि चतसृभिराभिः साकमेतत्पितुस्त-
च्छिकटमनुवनान्तं शक्तिदेवो जगाम ॥२७९॥
स च चरणनताभिस्ताभिरावेदितार्थो
दुहितृभिरखिलाभिर्दिव्यवाक्प्रेरितश्च ।
युगपदथ ददौ ताः शक्तिदेवाय तस्मै
मुदितमतिरसौ पापात्र विद्याधरेन्द्रः ॥२८०॥
तदनु कनकपुर्यामृद्धमस्यां स्वराज्यं
सपदि स वितताार व्याप्य विद्या समस्ताः ।
अपि च कृतिनमेनं शक्तिवर्मं स्वनाम्ना
व्यभित समुचितेन स्वेषु विद्याधरेषु ॥२८१॥
अन्यो न जप्यति भवत्समतिप्रभावाद्
वत्सेश्वरात् पुनरदेप्यति चक्रवर्ती ।
युष्मासु योऽत्र नरवाहनदत्तनामा
भावी विभुः स तव तस्य नति विदध्याः ॥२८२॥
इत्युपिवादच विसुसर्जं महाप्रभावो
विद्याधराधिपतिरात्मतपोवनाश्रम् ।
सत्कृत्य मन्त्रियतमं निजराजधानीं
धामातरं स नमिशक्तिपदाभिधानः ॥२८३॥

अपनी-अपनी ओर से चन्द्रप्रभा की सेवा में लगी हुई उसकी प्रेमिकाओं द्वारा शक्तिदेव के आगमन पर प्रसन्नता प्रकट किये जाने के पश्चात् वह शक्तिदेव चन्द्रप्रभा के साथ उसके शयनागार में गया। वहाँ जाकर चन्द्रप्रभा ने उससे इस प्रकार कहा—'हे सौभाग्यशालिन्! तुमने वर्धमान नगर में कनकरेखा नाम की जो राजकुमारी देखी थी वह चन्द्ररेखा नाम की मेरी बहिन है॥२७४ २७५॥

उत्स्थल द्वीप में तुमने जिस धीवर-कन्या बिन्दुमती से विवाह किया था वह मेरी शशि-रेखा नाम की बहिन है॥२७६॥

उसके पश्चात् दानव द्वारा मारी गई बिन्दुरेखा नाम की जिस कन्या से तुमने विवाह किया था वह मेरी शशिप्रभा नाम की चौथी और छोटी बहिन है॥२७७॥

शक्तिदेव का विद्याधरियों के साथ विवाह

अब तुम हम लोगों के साथ हमारे पिताजी के पास चलो और उनसे दी हुई हम चारों का विवाह अपने साथ कर लो॥२७८॥

इस प्रकार कामदेव की आज्ञा के समान गम्भीरतापूर्वक चन्द्रप्रभा के कहने पर उन चारों प्रियतमाओं के साथ वह शक्तिदेव शीघ्र ही वन के मध्य में स्थित उनके पिता के पास गया॥२७९॥

उसके पिता ने चरणों पर प्रणाम करती हुई उन चारों कन्याओं द्वारा समस्त वृत्तान्त जानकर और आकाशवाणी से प्रेरित होकर एक साथ ही चारों कन्याओं को शक्तिदेव के लिए दे दिया॥२८०॥

तदुपरान्त विद्याधरों के उस राजा ने कनकपुरी में समग्र अपना राज्य और अपनी सभी विद्याओं को भी उसे देकर, उस सफल और शक्तिदेव को अपना शक्तिवेग नाम भी देकर अपनी विद्याधर जाति में समुचित स्थान प्रदान किया॥२८१॥

और कहा—'तुम्हारा इतना अधिक प्रभाव होगा कि तुम्हें कोई जीत न सकेगा। वत्स-राज उदयन से नरवाहनदत्त नाम का जो पुत्र होगा वह तुम विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा होगा। वह तुम्हारा भावी स्वामी है। इसलिए तुम उसे प्रणाम करना'॥२८२॥

ऐसा कहकर उस महाप्रभावशाली शशिखण्ड नामक विद्याधरों के अधिपति ने शक्तिवेग (शक्तिदेव) का सत्कार करके उसकी चारों पत्नियों के साथ उस महात्मा को तपोवन से विदा करके राजधानी कनकपुरी को भेज दिया॥२८३॥

अथ सोऽपि शक्तिवेगी राजा भूत्वा विवेश कनकपुरीम्।
स्ववधूभिः सह गत्वा विद्याधरलोकविस्मयन्तीं ताम् ॥२८४॥

तस्यां तिष्ठन् कनकरचनाविस्फुरन्मन्दिरायां
मत्यौत्सुक्यादिव पदुपतत्सिम्भितार्कप्रभायाम्।
वामाक्षीभिश्चतसृभिरसौ रत्नसोपानवापी
कुञ्जोद्यानेष्वलभतरां निवृत्तिं प्रेयसीभिः ॥२८५॥

इति कथयित्वा चरितं निजमेव विचित्रमेव तत्कालम्।
निजगाद शक्तिवेगो वाग्ग्मी वत्सेश्वरं भूयः ॥२८६॥

तं मां यथाकुकुलभूषण ! शक्तिवेग
मानीहृ्युपागतमिमं मम वत्सराज।
तत्पन्नभाविनिजनूतनचक्रवर्ति
युष्मत्सुताङ्घ्रियुगदर्शनसाभिलापम् ॥२८७॥

इत्थं मयेह मनुजेन सतापि लब्धा
विद्याधराधिपतिता पुरजित्प्रसादात्।
गच्छामि चाहमधुना नृपते स्वधाम
दृष्ट प्रभुर्भवतु मङ्गमभङ्गुर व ॥२८८॥

इत्युक्त्वा रचिताञ्जलौ च वदति प्राप्साम्यनुज्ञे तत
स्तस्मिन्नुत्पतिते मृगाङ्कमहसि द्यां शक्तिवेगे क्षणात्।
देवीभ्यां सहित सबाल्तनयो वत्सेश्वरो मन्त्रिभि
साकं कामपि तत्र सम्मदमयीं भेजे तदानीं दशाम् ॥२८९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे चतुर्दारिकालम्बके तृतीयस्तरङ्गः।
समाप्तोऽयं चतुर्दारिकालम्बकः पञ्चमः।

वह शक्तिवेग भी अब राजा बनकर अपनी प्रियतमाओं के साथ विद्याधर-लोक की पताका के समान कनकपुरी में आ गया ॥२८४॥

विद्याधराधिप वह शक्तिवेग मानों अत्यन्त ऊँची होने से सीधी गिरती हुई सूर्य-किरणों के समान सोने की रचना से चमचमाती हुई प्रासाद शृंखलाओंवाली कनकपुरी में उन चारों प्रियतमाओं के साथ रत्नजटित सीढ़ियोंवाली उद्यान-बावलियों में अत्यन्त सुख और आनन्द लेने लगा ॥२८५॥

वाक्पटु शक्तिवेग इस प्रकार अपना विचित्र चरित्र वत्सराज को सुनाकर फिर बोला—॥२८६॥

हे चन्द्रवंश भूषण वत्सराज तुम मुझ उसी शक्तिवेग को उत्पन्न हुए अपने नये चक्रवर्ती पुत्र के चरणकमलों के दर्शन का अभिलाषी समझो ॥२८७॥

इस प्रकार मनुष्य होकर भी मैंने शिवजी की कृपा से विद्याधरों की प्रभुता प्राप्त की है। अब मैं अपने स्थान को जाता हूँ। भावी स्वामी का दर्शन कर लिया। आपका सर्वदा मंगल हो ॥२८८॥

इस प्रकार प्रणाम कर जाने की आज्ञा प्राप्त करके चन्द्रमा के समान तेजस्वी शक्तिवेग के आकाश में उड़ जाने पर महारानियों, मन्त्रियों और शिशु के साथ वत्सराज ने अत्यन्त आनन्द का अनुभव किया ॥२८९॥

तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्दारिका नामक पञ्चम लम्बक समाप्त

मदनमञ्चुका नाम षष्ठो लम्बक

इदं गुरुगिरीन्द्रजाप्रणयमन्दरान्दोलना-
स्पुरा किल कथामृतं हरमुखाम्बुधेरुद्गतम्।
प्रसह्य रसयन्ति ये विगतविघ्नलब्धर्द्धयो
धुरं दधति वैबुधीं भुवि भवप्रसादेन ते॥

प्रथमस्तरङ्गः

तर्जयन्निव विघ्नौघाञ्शमितोऽशमितेन यः।
मुहुर्विभाति शिरसा स पायाद् वो गजाननः॥१॥
नमः कामाय यद्बाणपातैरिव निरन्तरम्।
भाति कण्टकितं शम्भोरप्युमालिङ्गितं वपुः॥२॥
इत्यादि दिव्यचरितं कृत्वात्मानं किलान्यवत्।
प्राप्तविद्याधरैश्वर्यो यदा मत्स्यात् स्वयं जगौ॥३॥
नरवाहनदत्तोऽत्र सपत्नीकैर्महर्षिभिः।
पृष्टः प्रसङ्गे कुत्रापि तदिदं शृणुताधुना॥४॥

नरवाहनदत्तस्य युवावस्था

अथ संवर्ध्यमानोऽत्र पित्रा वत्सेश्वरेण सः।
नरवाहनदत्तोऽभूद्व्युत्क्रान्ताष्टमवत्सरः॥५॥
विनीयमानो विद्यासु क्रीडन्नुपवनेषु च।
सह मन्त्रिसुतैरासीद्राजपुत्रस्तदा च सः॥६॥
देवी वासवदत्ता च राज्ञी पद्मावती तथा।
आस्तामेकतमस्नेहात्तदेकाग्रे दिवानिशम्॥७॥
आरोहद्गुणनम्रेण रेजे सद्वंशजन्मना।
धनैरापूर्यमाणेन वपुषा धनुषा च सः॥८॥
पिता वत्सेश्वरश्चास्य विवाहादिमनोरथैः।
आसन्नफलसम्पत्तिकाम्यैः कालं निनाय तम्॥९॥

मदनमंचुका नामक छठा लम्बक

(मंगल-श्लोक का अर्थ प्रथम लम्बक के प्रथम तरंग के प्रारम्भ में देखें।)

प्रथम तरंग

ऊपर उठते और नीचे झुकते हुए मस्तक से विघ्नों के समूह को मानो दूर करते हुए गजानन आपकी रक्षा करें ॥१॥

उस कामदेव को नमस्कार है, जिसके बाणों के प्रहार से पार्वती द्वारा निरन्तर आलिंगित रहने पर भी शिवजी का शरीर सदा रोमांचित रहता है ॥२॥

विद्याधरों का चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त करके अपने को एक तटस्थ व्यक्ति बनाकर नरवाहनदत्त ने वार्तालाप के प्रसंग में सम्मिलित महर्षियों के पूछने पर प्रारम्भ से लेकर जिस प्रकार अपना चरित्र वर्णन किया, अब उसे सुनो ॥३॥

पिता वत्सराज द्वारा पालन-पोषण करते हुए नरवाहनदत्त ने अपनी बाल्यावस्था के आठ वर्ष व्यतीत किये ॥४॥

नरवाहनदत्त की युवावस्था

उस समय वह राजकुमार नरवाहनदत्त मन्त्रियों के पुत्रों के साथ विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करता हुआ और उद्यानों में विचरता हुआ समय व्यतीत कर रहा था ॥५॥

रानी वासवदत्ता और रानी पद्मावती दोनों समान स्नेह से रात-दिन उसकी देखभाल करती रहती थीं ॥६॥

वह राजकुमार आत्मा में प्राप्त होते हुए गुणों से नम्र, उच्च कुल में जन्म लेने के कारण परम्परा गौरवान्वित और धीरे-धीरे शरीर से तथा (धनुष-पक्ष में) चढ़ाई हुई प्रत्यंचा (गुण) से नम्र, उच्च बाँस से निर्मित और धीरे-धीरे चढ़ाये जाते हुए धनुष से शोभित होने लगा ॥७-८॥

कुमार का पिता वत्सराज उदयन भी शीघ्र ही फल देने के कारण मनोहर और आकर्षक उसके विवाह आदि मनोरथों में अपना समय व्यतीत कर रहा था ॥ ॥

राज्ञः कलिङ्गदत्तस्य कथा

अत्रान्तरे कथासन्धौ यद्भूतं तन्निशम्यताम्।
आसीत्तक्षशिला[1] नाम वितस्तापुलिने पुरी ॥१०॥
तदम्भसि बभौ यस्याः प्रतिमा सौधसन्ततेः।
पातालनगरीवाधस्तच्छ्रीमालोकनागता ॥११॥
तस्यां कलिङ्गदत्ताख्यो राजा परमसौगतः[2]।
अभूत्तारावरस्फीतजिनभक्ताखिलप्रजः ॥१२॥
रराज सा पुरी यस्य चैत्यरत्नैर्निरन्तरैः।
मत्तुल्या नाम नास्तीति मन्मथाद्रिरिवोदितैः ॥१३॥
प्रजानां न परं चक्रे यः पितेवानुपालनम्।
यावद्गुरुरिव ज्ञानमपि स्वयमुपादिशत् ॥१४॥
तथा च तस्यां कोऽप्यासीन्नगर्यां सौगतो[3] वणिक्।
धनी वितस्तादत्ताख्यो भिक्षुपूजैकतत्परः ॥१५॥
रत्नदत्ताभिधानश्च तस्याभूत्तनयो युवा।
स च तं पितरं शश्वत्पाप इत्याजुगुप्सत ॥१६॥
पुत्र निन्दसि कस्मान्मामिति पित्रा च तेन सः।
पृच्छ्यमानो वणिक्पुत्रः साभ्यसूयमभाषत ॥१७॥
तात त्यक्तत्रयी[4]धर्मस्त्वमधर्मं निषेवसे।
यद् ब्राह्मणान् परित्यज्य श्रमणाश्चाश्रयदर्चसि ॥१८॥
स्नानादियन्त्रणाहीनाः स्वकालाशनलोलुपाः।
अपास्तसशिखाशेषकेशाः कौपीनसुस्थिताः ॥१९॥
विहारास्पदलोभाय सर्वेऽप्यधमजातयः।
यमाश्रयन्ति किं तेन सौगतेन नयेन ते ॥२०॥

---

१ पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्ते प्रसिद्धा तक्षशिला नगरी साम्प्रतं पाकिस्तानप्रदेशे ... Taxila नाम्ना प्रसिद्धा। अस्या विषये परिशिष्टे विस्तरं विवेचितम्।

२ तक्षशिलायां कदाचित् शैवधर्मस्य जैनधर्मस्य च प्रचुरः प्रचार आसीदिति ... हासिकानां मतम् तत् परिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

३ जिनधर्मानुयायीत्यर्थः,

४ त्रयी–वेदत्रयी तत्प्रतिपादितो वैदिकधर्मः।

राजा कलिङ्गदत्त की कथा

इसी बीच कथा की सन्धि में जो कुछ हुआ उसे सुनो। वितस्ता (झेलम) नदी के किनारे तक्षशिला नाम की नगरी थी। उस नगरी के भवनों की छाया वितस्ता के जल में प्रतिबिम्बित होती थी॥१०॥

उस प्रतिबिम्ब से ऐसा प्रतीत होता था कि मानों तक्षशिला पुरी की शोभा निरखने के लिए पातालपुरी ऊपर उठकर आ रही हो॥११॥

उस नगरी में सुगत (बुद्ध) का परम भक्त कलिंगदत्त नाम का राजा था जिसकी सारी प्रजा जिनभक्त (जैन) थी॥१२॥

वह नगरी ऊँचे ऊँचे अनेक विहारों से ऐसी प्रतीत होती थी मानों ऊँचे शृंगों से यह घोषणा कर रही हो कि मेरे समान दूसरी नगरी संसार में नहीं है॥१३॥

राजा कलिंगदत्त पिता के समान प्रजा का केवल पालन ही नहीं करता था प्रत्युत गुरु के समान स्वयं ज्ञान का उपदेश भी करता था॥१४॥

उस नगरी में बौद्ध भिक्षुओं की पूजा में तत्पर वितस्तादत्त नाम का एक धनी वैश्य रहता था। उसका रत्नदत्त नामक एक युवा पुत्र था जो अपने पिता को पापी कहकर उससे चिढ़ता रहता था॥१५-१६॥

'बेटा मेरी निन्दा क्यों करते हो'—इस प्रकार पिता के पूछने पर पुत्र उस पर आक्षेप करता हुआ बोला—॥१७॥

पिता तुम वैदिक धर्म को छोड़कर अधर्म का सेवन करते हो। ब्राह्मणों को छोड़कर भिक्षुओं की सदा पूजा किया करते हो॥१८॥

स्नान शौच आदि से हीन और अपने समय पर भोजन के लोभी शिखा और केशों को मुड़वाकर केवल कौपीन पहिननेवाले तथा विहारों (मठों) में स्थान मिलने के लोभ से सभी नीच जाति के व्यक्ति जिस बौद्धधर्म का ग्रहण करते हैं, उससे हमारा क्या प्रयोजन?॥१९-२ ॥

तच्छ्रुत्वा स वणिक्प्राह न धर्मस्यैककल्पता।
अन्यो लोकोत्तरः पुत्र! धर्मोऽन्यः सार्वलौकिकः॥२१॥
ब्राह्मण्यमपि तत्प्राहुर्यद्रागादिविवर्जनम्।
सत्यं दया च भूतेषु न मृषा जातिविग्रहः॥२२॥
किं च दर्शनमेतत्त्वं सर्वसत्त्वाभयप्रदम्।
प्रायः पुरुषदोषेण न दूषयितुमर्हसि॥२३॥
उपकारस्य धर्मत्वे विवादो नास्ति कस्यचित्।
भूतेष्वभयदानेन नान्या चोपकृतिर्मम॥२४॥
तदहिंसाप्रधानेऽस्मिन्वत्स मोक्षप्रदायिनि।
दर्शनेऽतिरतिश्चेन्मे तदधर्मो ममात्र कः॥२५॥
इति तेनोदितः पित्रा वणिक्पुत्रः प्रसह्य सः।
न तथा प्रतिपेदे तन्निनिन्दाभ्यधिकं पुनः॥२६॥
ततः स तत्पिता खेदाद् गत्वा धर्मानुशासितुः।
राज्ञः कलिङ्गदत्तस्य पुरतः सर्वमब्रवीत्॥२७॥
सोऽपि राजा सभास्थाने युक्त्यानाय्य वणिक्सुतम्।
मृषारचितकोपः सन् क्षत्तारमादिशत्॥२८॥
श्रुतं मया वणिक्पुत्रः पापोऽयमतिदुष्कृती।
निर्विचारं तदेषोऽद्य हन्यतां देशदूषकः॥२९॥
इत्युक्तवांस्ततः पित्रा कृतविज्ञापनः किल।
नृपतिर्धर्मचर्यार्थं द्वौ मासौ वधनिग्रहम्॥३०॥
गमिषार्य तदन्ते च पुनरानयनाय गः।
तस्यैव तत्पितुर्हस्ते न्यस्तवांश्च वणिक्सुतम्॥३१॥
सोऽपि पित्रा गृहं नीतो वणिक्पुत्रो भयाकुलः।
[illegible] मयापकृतं राज्ञो भवदिति विचिन्तयन्॥३२॥
मरारणं द्विमासान्ते मरणं मापि भावयन्।
अनिद्रोऽनपिनाऽन्नक्लान्तम्लानस्री [illegible]न्यानि[illegible]म्॥३३॥
गता मासद्वये याते राजाग्रे कृशपाण्डुरः।
पुनः स पित्रा तेनागो वणिक्पुत्रस्तमीयत॥३४॥

यह सुनकर वह कहने लगा—बेटा! धर्म का एक ही रूप नहीं है। सार्वलौकिक धर्म पृथक् है और पारलौकिक धर्म पृथक्॥२१॥

ब्राह्मण-धर्म भी यही है कि रागद्वेषहीनता सत्य प्राणिमात्र पर दया करना और जाति पाँति के झूठे झगड़ों से वह रहित हो॥२२॥

सभी जीवों पर अभय प्रदान करनेवाले इस बौद्ध सिद्धान्त को तुम किसी एक पुरुष के दोष से दूषित नहीं कर सकते॥२३॥

उपकार करना धर्म है इसमें किसी का मतभेद नहीं है। प्राणियों को अभय प्रदान करने के अतिरिक्त और दूसरा कोई उपकार नहीं है, यह मेरा अपना विचार है॥२४॥

इसलिए अहिंसा प्रधान मोक्षदायक इस सिद्धान्त में मेरा प्रेम है तो यह कौन-सा अधर्म है'॥२५॥

पिता के इस प्रकार कहने पर भी वैश्यपुत्र ने उसे स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत अधिक निन्दा करने लगा॥२६॥

तब उसके पिता ने खिन्न होकर धर्म का उपदेश करनेवाले राजा के सामने सारी बातें कह दीं॥२७॥

राजा ने भी किसी समय युक्ति से उस वैश्यपुत्र को सभा में बुलाकर झूठा क्रोध प्रदर्शित करते हुए आदेश दिया कि 'मैंने सुना है, यह बनिये का बालक पापी और अति कुकर्मी है। इस लिए इस देशद्रोही को बिना विचारे ही आज मार डालो'॥२८-२९॥

ऐसा कहते हुए राजा से उसके पिता ने प्राणदान की प्रार्थना की और राजा ने दो मास तक उस धर्मविरत के लिए निश्चित करके कहा कि 'इसके पश्चात् इसे फिर मेरे सम्मुख लाना' ऐसा कहकर उसके पिता को सौंप दिया॥३०-३१॥

पिता से घर में लाया गया वह वैश्यपुत्र प्राणों के भय से सोचने लगा कि 'मैंने राजा का कौन-सा अपराध किया है जो वह मुझे दो महीनों बाद फाँसी पर चढ़ा देगा।' वह रात-दिन इसी सोच में नींद और भूख को भूलकर कुछ ही दिनों में अत्यन्त दुर्बल हो गया। दो महीने बीतने पर अत्यन्त दुबले और पीले पड़े हुए पुत्र को लेकर पिता राजा के पास गया॥३२-३४॥

राजा तं च तथाभूतं वीक्ष्यापन्नमभाषत।
किमीदृक्त्वं कृशीभूतः किं रुद्धं ते मयाशनम् ॥३५॥
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रो राजानं तमभाषत।
आत्मापि विस्मृतो भीत्या मम का त्वशने कथा ॥३६॥
युष्मदादिष्टनिधनश्रवणात् प्रभृति प्रभो!।
मृत्युमायान्तमायान्तमन्वहं चिन्तयाम्यहम् ॥३७॥
इत्युक्तवन्तं तं राजा स वणिक्पुत्रमब्रवीत्।
बोधितोऽसि मया वत्स युक्त्या प्राणभयं स्वतः ॥३८॥
ईदृगेव हि सर्वस्य जन्तोर्मृत्युभयं भवेत्।
तद्रक्षणोपकाराच्च धर्मः कोऽभ्यधिको वद ॥३९॥
तदेतत्तव धर्माय मुमुक्षायै च दर्शितम्।
मृत्युभीतो हि यतते नरो मोक्षाय बुद्धिमान् ॥४०॥
अतो न गर्हणीयोऽयमेतद्धर्मा पिता त्वया।
इति राजवचः श्रुत्वा प्रह्वोऽवादीद् वणिक्सुतः ॥४१॥
धर्मोपदेशाद्देवेन कृती तावदहं कृतः।
मोक्षायेच्छा प्रजाता मे तमप्युपदिश प्रभो! ॥४२॥
तच्छ्रुत्वा तं वणिक्पुत्रं प्राप्ते तत्र पुरोत्सवे।
तैलपूर्णं करे पात्रं दत्वा राजा जगाद सः ॥४३॥
इदं पात्रं गृहीत्वा त्वमेहि भ्रान्त्वा पुरीमिमाम्।
तैलबिन्दुनिपातश्च रक्षणीयस्त्वया सुत! ॥४४॥
निपतिष्यति यद्येकस्तैलबिन्दुरितस्तव।
सद्यो निपातयिष्यन्ति त्वामेते पुरुषास्ततः ॥४५॥
एवं किलोक्त्वा व्यसृजत्तं भ्रमाय वणिक्सुतम्।
उत्खातखड्गान् पुरुषान् दत्वा पश्चात्स भूपतिः ॥४६॥
वणिक्पुत्रोऽपि स भयाद्रक्षंस्तैलसमम्बुधिम्।
पुरीं तामभितो भ्रान्त्वा कृच्छ्रादागान्नृपान्तिकम् ॥४७॥
नृपोऽप्ययमस्मितानीततैलं दृष्ट्वा तमभ्यधात्।
कश्चित्पुरभ्रमेऽप्यद्य दृष्टोऽत्र भ्रमता त्वया ॥४८॥
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रः प्रोवाच रचिताञ्जलिः।
यत्सत्यं न मया देव दृष्टं किञ्चिन्न च श्रुतम् ॥४९॥

राजा ने इस प्रकार पीड़ित और दुर्बल वैश्यपुत्र को देखकर कहा—'तू इतना दुर्बल क्यों हो गया? मैंने तेरा भोजन तो बन्द नहीं किया था'॥३५॥

वैश्यपुत्र कहने लगा—'प्रभो! आप द्वारा दी गई प्राणदण्ड की आज्ञा के समय से ही मैं भय के कारण अपनी आत्मा को भी भूल गया भोजन की तो बात ही क्या? प्रतिक्षण सिर पर मँडराती हुई मृत्यु को ही देखता हूँ'॥३६ ३७॥

ऐसा कहते हुए वैश्यपुत्र से राजा ने कहा—'बेटा मैंने प्राणदंड का भय देकर तुझे मुक्ति पूर्वक ज्ञान कराया॥३८॥

इसी प्रकार समस्त प्राणियों को मृत्यु का भय होता है। उनकी रक्षा के लिए उपकार से बढ़कर और धर्म क्या है?॥३९॥

मैंने तुझे धर्म और भक्ति का यही तत्त्व समझाने के लिए यह उपाय किया था क्योंकि मृत्यु से डरा हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति मुक्ति के लिए यत्न करता है॥४ ॥

इसलिए इसी प्रकार का धर्म करनेवाले अपने पिता की तुम निन्दा न करना। राजा की यह बात सुनकर नम्र वैश्यपुत्र ने कहा—॥४१॥

आपने धर्म का उपदेश देकर मुझे कृतार्थ किया। अब मेरी इच्छा मुक्ति के लिए हो रही है। अतः हे स्वामिन् उसका भी उपदेश दें'॥४२॥

यह सुनकर राजा ने उत्सव (मेले) के दिनों में वैश्यपुत्र के हाथ में तेल से भरा एक बरतन देकर कहा—॥४३॥

'इस पात्र को लेकर तुम मेले के दिनों में सारी नगरी का भ्रमण करके आओ। लेकिन बेटा इस बात का ध्यान रखना कि तेल की एक बूँद भी न गिरने पाये॥४४॥

यदि इसमें से एक बूँद भी तेल गिरा तो मेरे ये सिपाही तुम्हें मार डालेंगे॥४५॥

ऐसा कहकर राजा ने उसे नगरी का चक्कर लगाने के लिए छोड़ दिया और उसके पीछे नंगी तलवार लिए हुए सिपाही नियुक्त कर दिए॥४६॥

वह वैश्यपुत्र भयपूर्वक अत्यन्त सावधानी से तेल की रक्षा करता हुआ बड़े ही कष्ट से सारी नगरी की प्रदक्षिणा करके लौट आया॥४७॥

राजा ने भी बिना एक बूँद तेल गिराये तेलपात्र लेकर आए हुए वैश्यपुत्र से कहा—'बेटा तुमने नगर में भ्रमण करते हुए किसी व्यक्ति या वस्तु को देखा?॥४८॥

यह सुनकर वैश्यपुत्र ने हाथ जोड़कर कर कहा—'महाराज! यह सच है कि भ्रमण करते हुए मैंने न किसी को देखा और न कुछ सुना॥४ ॥

अथ मोक्षावधानेन तैललेशपरिच्युतिम् ।
खड्गपातभयाद्रक्षंस्तदानीमभ्रमं पुरीम् ॥५०॥
एवं वणिक्सुतेनोक्ते स राजा निजगाद तम् ।
दृश्यतैरेकचित्तेन न त्वया किञ्चिदीक्षितम् ॥५१॥
तत्तेनैवावधानेन परानुध्यानमाचर ।
एकाग्रो हि बहिर्वृत्तिनिर्वृत्तस्तत्त्वमीक्षते ॥५२॥
दृष्टतत्त्वश्च न पुनः कर्मजालेन बध्यते ।
एष मोक्षोपदेशस्ते संक्षेपात्कथितो मया ॥५३॥
इत्युक्त्वा प्रहितो राज्ञा पतित्वा तस्य पादयोः ।
कृतार्थः स वणिक्पुत्रो हृष्टः पितृगृहं ययौ ॥५४॥
एवं कलिङ्गदत्तस्य प्रजास्तस्यानुशासतः ।
तारादत्ताभिधानाऽभूद्राज्ञी राज्ञः कुलोचिता ॥५५॥
यया स राजा शुशुभे रीतिमत्या सुवृत्तया ।
नानादृष्टान्तरसिको भारत्या सुकविर्यथा ॥५६॥
या प्रकाशगुणश्लाघ्या ज्योत्स्नेव शशलक्ष्मणः ।
तस्यामृतमयस्याभूदविभिन्नैव भूपतेः ॥५७॥
तया देव्या समं तत्र सुखिनस्तस्य तिष्ठतः ।
नृपस्य जग्मुर्दिवसाः शच्येव दिवि वज्रिणः ॥५८॥

सुरभिदत्ताप्सरसः कथा

अत्रान्तरे निसैतस्मिन् कथासम्बौ सतनयो ।
कुतोऽपि हेतोस्त्रिदिवे वर्तते स्म महोत्सवः ॥५९॥
तत्राप्सरःसु सर्वासु गतासु मिलितास्वपि ।
एका सुरभिदत्ताख्या नागमत्तत्र वराप्सराः ॥६०॥
प्रणिधानात्ततः शक्रस्तां ददर्श रहःस्थिताम् ।
विद्याधरेण केनापि सहितां नन्दनान्तरे ॥६१॥
तद्दृष्ट्वा जातकोपोऽन्तः स वृत्रारिरचिन्तयत् ।
अहो एतौ दुराचारौ मदनान्धावुभावपि ॥६२॥
एका मदाचरत्येव विस्मृत्यास्मान् स्वतन्त्रवत् ।
परोऽप्यविनयं चान्यो देवभूमौ प्रविश्य यत् ॥६३॥
अथवास्य वराकस्य दोषो विद्याधरस्य कः ।
आकृष्टो हि वशीकृत्य रूपेणायमिहानया ॥६४॥

भ्रमण करते समय मैं एकाग्र चित्त से गले पर तलवार गिरने के भय से तेल की ओर दृष्टि लगाये हुए उसे बचाने में तल्लीन था'॥५०॥

वैश्यपुत्र के ऐसा कहने पर राजा ने कहा—'जिस प्रकार डोलते हुए भी तेल पर दृष्टि गड़ाये हुए तुमने सारे भ्रमण में कुछ नहीं देखा उसी प्रकार की तल्लीनता से तुम आत्मा के ध्यान में लग जाओ। आत्मा को एकाग्र वृत्ति से देखनेवाला व्यक्ति बाहरी वृत्तियों से हटकर आन्तरिक तत्त्व को देखता है॥५१–५२॥

जिसे तत्त्व का ज्ञान हो जाता है वह फिर कर्मजाल के बन्धन में नहीं बँधता। यह मैंने तुझे संक्षेप में मोक्ष का उपदेश कर दिया'॥५३॥

इस प्रकार राजा से उपदेश पाकर और उसके चरणों में गिरकर, प्रसन्नचित्त वह वैश्यपुत्र अपने घर गया॥५४॥

इस प्रकार स्नेह से प्रजा का पालन करनेवाले उस राजा की तारादत्ता नाम की कुलीन रानी थी॥५५॥

सच्चरित्रा और सुन्दरी उस रानी से अनेक दृष्टान्तों का रसिक वह राजा इस प्रकार शोभित होता था जिस प्रकार सुकवि भारती से शोभित होता है॥५६॥

प्रकट होते हुए गुणों से सराहनीय वह रानी अमृतमय उस राजा से उसी प्रकार अभिन्न थी जैसे अमृतमय चन्द्रमा से चाँदनी अभिन्न होती है॥५७॥

उस महारानी के साथ सुखपूर्वक रहते हुए उस राजा के दिन इन्द्राणी के साथ रहते हुए इन्द्र के समान व्यतीत होने लगे॥५८॥

सुरभिदत्ता अप्सरा की कथा

इसी कथा की सन्धि में स्वर्ग में इन्द्र के यहाँ एक महोत्सव हुआ। उस महोत्सव में वेश्याओं के सभी वर्गों के सम्मिलित होने पर भी सुरभिदत्ता नाम की वेश्या वहाँ नहीं दीख पड़ी॥५९ ६ ॥

इन्द्र ने योगबल द्वारा उसे किसी विद्याधर के साथ नन्दन-वन में क्रीड़ा करते हुए देखा॥६१॥

यह देखकर मन में क्रुद्ध इन्द्र ने सोचा कि ये दोनों कामान्ध दुराचारी हैं। एक अप्सरा तो हमें भूलकर उद्दंडता कर रही है दूसरा यह विद्याधर भी इस देवभूमि में आकर यह जो अविनय कर रहा है यह आश्चर्य है॥६२-६३॥

अथवा इस बेचारे विद्याधर का क्या दोष है? इसे तो यही अप्सरा अपने रूपजाल में फँसाकर ले आई है॥६४॥

कान्तयान्तः किलापूर्णतुङ्गस्तनतटान्तया ।
लावण्याम्बुतरङ्गिण्या हृतः स्यादात्मनः प्रभुः ॥६५॥
क्षुक्षुभे किं न शर्वोऽपि पुरा दृष्ट्वा तिलोत्तमाम् ।
धात्रा गृहीत्वा रचितामुत्तमेभ्यस्तिलं तिलम् ॥६६॥
तपस्थः मेनकां दृष्ट्वा विश्वामित्रो न किं जहौ ।
शर्मिष्ठा रूपलोभाच्च ययातिर्नाप्तवान् जराम् ॥६७॥
अतो विद्याधरयुवा नैवायमपराध्यति ।
त्रिजगत्क्षोभशक्तेन रूपेणाप्सरसा हृतः ॥६८॥
त्वं तु स्वर्वधू पापा हीनासक्तापराधिनी ।
प्रवेषितः सुरान् हित्वा मयायमिह नन्दने ॥६९॥
इत्याक्रोश्य विमुच्यैनं विद्याधरकुमारकम् ।
अहल्याकामुकः[1] सोऽस्यै शापमप्सरसे ददौ ॥७ ॥
पापे प्रयाहि मानुष्यं प्राप्य चायोनिजां सुताम् ।
दिव्यं कृत्वा च कर्तव्यमेष्यसि द्यामिमामिति ॥७१॥
अत्रान्तरे च सा तस्य राज्ञः तक्षशिलापुरि ।
राज्ञी कलिङ्गदत्तस्य तारादत्ता ययावृतुम् ॥७२॥
तस्याः सुरभिदत्ता सा शक्रशापच्युताप्सराः ।
सम्बभूवोदरे दिव्या देहसौन्दर्यदायिनी ॥७३॥
तदा च नभसो भ्रष्टां ज्वालां देवी ददर्श सा ।
तारादत्ता किल स्वप्ने प्रविशन्तीं निजोदरे ॥७४॥
प्रातश्चावर्णयत्स्वप्नं भर्त्रे तं सा सविस्मया ।
राज्ञे कलिङ्गदत्ताय सोऽपि प्रीतो जगाद ताम् ॥७५॥
देवि ! दिव्याः पतन्त्येव शापा मानुष्ययोनिषु ।
तज्जाने देवजातीयः कोऽपि गर्भे तवार्पितः ॥७६॥
विचित्रसदसत्कर्मनिबद्धाः सञ्चरन्ति हि ।
जन्तवस्त्रिजगत्यस्मिन् शुभाशुभफलाप्तये ॥७७॥

---

१ स्वयमहल्याकामुकोऽपि सुरभिदत्तां शशापेति व्यङ्ग्यपरं विशेषणम् ।

इत्युक्त्वा भूभृता राज्ञी सा प्रसङ्गादुवाच तम् ।
सत्यं कर्मैव बलवद् भोगदायि शुभाशुभम् ॥७८॥
तथा चेदमुपोद्घातं श्रुतं वच्म्यत्र ते शृणु ।

राज्ञो धर्मदत्तस्य कथा

अभवद्धर्मदत्ताख्यः कोशलाधिपतिर्नृपः ॥७९॥
नागश्रीरिति तस्यासीद्राज्ञी या पतिदेवता ।
भूमावरुन्धती ख्याता रूपत्यपि सतीधुरम् ॥८०॥
काले गच्छति तस्यां च देव्यां तस्य च भूपतेः ।
अहमेषा समुत्पन्ना दुहिताहितसूदन ॥८१॥
ततो मय्यतिबालायां देव सा जननी मम ।
अकस्मात्पूर्वजातिं स्वां स्मृत्वा स्वपतिमब्रवीत् ॥८२॥
राजन्नकाण्ड एवाद्य पूर्वजन्म स्मृतं मया ।
अप्रीत्यै तदनाख्यातमाख्यातं मृतये च मे ॥८३॥
अतश्चित्रं स्मृता जातिः स्यादाख्यातैव मृत्यवे ।
इति प्राहुरतो देव मन्यसीव विषादिता ॥८४॥
इत्युक्तः स तया पत्न्या राजा तां प्रत्यभाषत ।
प्रिये ! मयापि प्राग्जन्म त्वयेव सहसा स्मृतम् ॥८५॥
तन्ममाचक्ष्व तावत्त्वं कथयिष्याम्यहं च ते ।
यदस्तु कोऽन्यथाकर्तुं शक्तो हि भवितव्यताम् ॥८६॥
इति सा प्रेरिता तेन भर्त्रा राज्ञी जगाद तम् ।
निर्बन्धो यदि ते राजन् शृणु तर्हि वदाम्यहम् ॥८७॥
इहैव देशे विप्रस्य माधवाख्यस्य कस्यचित् ।
गृहेऽहमभवं दासी सुवृत्ता पूर्वजन्मनि ॥८८॥
देवदासाभिधानश्च पतिरत्र ममाभवत् ।
कस्याप्येकस्य वणिजः साधुः कर्मकरो गृहे ॥८९॥
तावावामवसावात्र कृत्वा गेहं निजोचितम् ।
स्वस्वस्वामिगृहानीतपक्वान्नकृतवर्तनौ ॥९ ॥
वारिधानी च कुम्भश्च मार्जनी मञ्चकस्तथा ।
अहं च मत्पतिश्चेति युग्मत्रितयमेव नौ[1] ॥९१॥

---

१ वारिधानी कुम्भश्चेति एकं युग्मम्, मार्जनी मञ्चकश्चेति द्वितीयम्, अहं पतिश्चेति तृतीयम् ।

राजा के इस प्रकार कहने पर रानी ने प्रसंगतः कहा—'क्या यह सत्य है कि शुभ या अशुभ का भोग देनेवाला कर्म ही है' ॥७८॥

इस विषय की भूमिका के रूप में रानी ने राजा से कहा मैं इस प्रसंग की सुनी हुई एक कहानी तुम्हें सुनाती हूँ सुनो—

राजा धर्मदत्त की कथा

कोशल-देश का एक राजा था। उसका नाम धर्मदत्त था। उसकी नागश्री नाम की पतिव्रता रानी थी। सतियों के भार को रोके हुए भी (स्थपती) वह पृथ्वी पर अस्थपती नाम से विख्यात हुई। कुछ समय के उपरान्त उस रानी के गर्भ से उस राजा की मैं पुत्री उत्पन्न हुई ॥७९–८१॥

एक बार जब मैं बहुत छोटी थी तब मेरी माता ने अकस्मात् अपने पूर्वजन्म की जाति का स्मरण करके अपने पति से कहा—॥८२॥

'राजन्! मैंने आज अकस्मात् ही पूर्वजन्म का स्मरण किया है। यदि मैं उसे आपसे न कहूँ तो प्रेम के विरुद्ध है और यदि कहूँ तो मेरी मृत्यु होती है ॥८३॥

कहते हैं कि यदि पूर्वजन्म की स्मृति बिना किसी शंका के हो जाय तो उसका कहना मृत्यु के लिए होता है। इसलिए मुझे बहुत खेद है' ॥८४॥

पत्नी द्वारा इस प्रकार कहे गये हुए राजा ने उससे कहा—'प्रिये! मैंने भी तुम्हारे ही समान सहसा अपना पूर्वजन्म स्मरण कर लिया है। इसलिए तू मुझसे कह दे और मैं भी तुझसे कह देता हूँ। जो होना होगा होगा। भवितव्यता को कौन लौटा सकता है ॥८५-८६॥

इस प्रकार पति से प्रेरित होकर रानी ने कहा—'राजन्! सुनो कहती हूँ—पूर्वजन्म में इसी (कोशल) देश में मैं माधव नामक किसी ब्राह्मण की सदाचारिणी दासी थी। देवदास नाम का मेरा पति था। वह सज्जन किसी वैश्य के घर में नौकर था ॥८७–८ ॥

इस प्रकार हम दोनों, अपने अनुरूप घर बनाकर, अपने-अपने स्वामियों (मालिकों) के घरों से लाये हुए पक्वान्नों से जीवन-निर्वाह किया करते थे ॥९ ॥

पानी का एक मटका (घड़ा) झाड़ चारपाई, मैं और मेरा पति—ये तीन जोड़ियाँ हमारे घर में थीं ॥९१॥

भर्तुर्निर्भर्त्सनेन गृहं सन्तोषं मुग्धिनारभूत् ।
दवपित्रतिथिप्रसंगेन प्रमितमदनतो ॥९२॥
एस कतोऽधिरं पिण्डितग्रासाच्छादनमप्यभूत् ।
सुदुर्गतानाम कस्मैचित्तदावाभ्यामदीयत ॥९३॥
अथात्रोदभवत्तीव्रो दुर्भिक्षस्तत्र भावयोः ।
मृत्यश्रमम्वहं प्राप्यमल्पमल्पमुपानमत् ॥९४॥
ततः क्षुत्क्षामवपुषो शनैर्नाववसीदतो ।
कदाचिदागादाहारकाले क्लान्तोऽतिथिर्द्विजः ॥९५॥
तस्मै निःशेषमावाभ्यां द्वाभ्यामपि निजाशनम् ।
प्राणसंशयकालेऽपि दत्तं यावच्च यच्च तत् ॥९६॥
भुक्त्वा तस्मिन्गते प्राणा भर्तारं मे तमत्यजन् ।
अथिन्यस्मादरो नास्मास्विति मन्युवशान्निव ॥९७॥
ततश्चाहं समाधाय पत्ये समुचितां चिताम् ।
आरुह्य चावमुञ्चं विपद्भारां ममारमम ॥९८॥
अथ राजगृहे जाता जाताहं महिषी तव ।
अचिन्त्यं हि फलं सूते सद्यः सुकृतपादपः ॥९९॥
इत्युक्तः स तया राजा धर्मदत्तो नृपोऽब्रवीत् ।
एहि प्रिये स एवाहं पूर्वजन्मपतिस्तव ॥१००॥
वणिक्कर्मकरोऽभूवं देवदासोऽभिधः स ।
एतदेव मयाप्यद्य प्राक्तनं जन्म हि स्मृतम् ॥१०१॥
इत्युक्त्वा स्वान्यभिज्ञानान्युदीर्य स तया सह ।
देव्या विषण्णो हृष्टश्च राजा सद्यो दिवं गतः ॥१०२॥
एवं तयोश्च भत्पित्रोर्लोकान्तरमुपेयुषो ।
मातुः स्वसा वर्धयितुं मामनैषीन्निजं गृहम् ॥१०३॥
कन्यायां मयि चाभ्यागादेकस्तत्रातिथिर्मुनिः ।
मातृस्वसा च मां तस्य शुश्रूषायै समादिशत् ॥१०४॥
स च कुन्त्येव दुर्वासा यत्नेनाराधितो मया ।
तद्वराच्च मया प्राप्तो धार्मिकस्त्वं पतिः प्रभो ॥१०५॥

---

१ परस्परकलहाविरोहिते मुखिनि।

कलह-रहित होकर इस घर में हम दोनों अत्यन्त सुखी थे और देवता पितर तथा अतिथि को देकर बचे हुए परिमित अन्न को हम भाग खाया करते थे॥ २॥

हम दोनों की आवश्यकता से अधिक भोजन-आच्छादन प्राप्त या भी होता था उसे हम किसी दीन-दुखी को दे देते थे॥९३॥

कुछ समय के अनन्तर उस देश में एक बार अकाल पड़ गया। इस कारण हम दोनों को मिलनेवाला भोजन अब कम मात्रा में मिलने लगा॥९४॥

तब भूख-प्यास से व्याकुल और अन्न की कमी से कष्ट पाते हुए हम लोगों के भोजन के समय कोई थका हुआ ब्राह्मण अतिथि घर में आ गया॥९५॥

फलतः इस भीषण प्राण-संकट के समय में भी हम दोनों ने अपना सारा भोजन उसे दे दिया॥ ६॥

उस अतिथि के खाकर चले जाने पर प्राणों ने मेरे पति को इसलिए छोड़ दिया मानो 'उसका अतिथि के प्रति विशेष आदर था मेरे प्रति नहीं'—अर्थात् मेरा पति क्षुधा से पीड़ित होकर परलोक सिधार गया॥९७॥

तब मैं पति की चिता सम्भार कर सती होने के लिए उस पर चढ़ गई और मेरी विपत्ति का भार उतर गया॥ ८॥

तदनन्तर मैं इस जन्म में राजा के घर महारानी होकर तुम्हारी पत्नी बनी। पुण्य का वृक्ष तुरन्त ही अचिन्तनीय फल प्रदान करता है॥ ९॥

रानी के इस प्रकार कहने पर राजा ने कहा—आओ प्रिये! मैं वही तुम्हारे पूर्वजन्म का पति देवदास हूँ। मैंने भी आज ही अपना पूर्वजन्म स्मरण किया है॥१ ०—१ १॥

ऐसा कहकर और अपने पूर्वजन्म के संस्मरण उसे बताकर प्राणहीन राजा उस देवी के साथ ही स्वर्ग को चला गया॥१ २॥

इस प्रकार मेरे माता-पिता द्वारा दूसरे लोक में चले जाने पर मेरी माता की बहन मौसी मेरा पालन-पोषण करने के लिए मुझे अपने घर ले गई॥१ ३॥

जब मैं कुमारी अवस्था में ही थी तब वहाँ एक मुनि अतिथि के रूप में आया और मेरी मौसी ने मुझे उनकी सेवा के लिए आदेश दिया॥१ ४॥

कुन्ती द्वारा दुर्वासा के समान मेरे द्वारा यत्न से सेवा करने पर प्रसन्न मुनि के वर प्रदान से मैंने तुम्हारे एसे धार्मिक पति को प्राप्त किया॥१ ५॥

दिनैः सप्तापि दुर्भिक्षदोषात्ते च विपेदिरे।
जातिस्मराश्च भूयोऽपि तेन सत्येन जज्ञिरे ॥१२०॥
इत्थं फलति शुद्धेन सिक्तं सङ्कल्पवारिणा।
पुण्यबीजमपि स्वल्पं पुंसां कृषिकृतामिव ॥१२१॥
तदेव दूषितं देवि दुष्टसङ्कल्पपाथसा।
फलत्यनिष्टमत्रैव यच्चान्यदपि तच्छृणु ॥१२२॥

ब्राह्मणचाण्डालयोः कथा

गङ्गायां तुल्यकालौ द्वौ तपस्यनशने जनौ।
एको विप्रो द्वितीयश्च चण्डालस्तस्थतुः पुरा ॥१२३॥
तयोर्विप्रः क्षुधाक्रान्तो निषादान् वीक्ष्य तत्रगान्।
मत्स्यानादाय भुञ्जानानेवं मूढो व्यचिन्तयत् ॥१२४॥
अहो दास्याः सुता एते धन्या जगति धीवराः।
ये यथाकाममश्नन्ति प्रत्यहं शफरामिषम् ॥१२५॥
द्वितीयस्तु स चाण्डालो दृष्ट्वा तानेव धीवरान्।
अचिन्तयद्धिगस्त्वेतान् क्रव्यादान् प्राणिघातिनः ॥१२६॥
तत्किमेवं स्थितस्येह दृष्टैरेषां मुखैर्मम।
इति सम्मील्य नेत्रे स तत्रासीत्स्वात्मनि स्थितः ॥१२७॥
क्रमादनशनेनोभौ विपन्नौ तौ द्विजान्त्यजौ।
द्विजस्तत्र श्वभिर्भुक्तः शीर्णो गङ्गाजलेऽन्त्यजः ॥१२८॥
ततोऽकृतात्मा कैवर्तकुले एवात्र स द्विजः।
अभ्यजायत तीर्थस्य गुणाज्जातिस्मरस्त्वभूत् ॥१२९॥
चण्डालोऽपि स तत्रैव गङ्गातीरे महीभुजः।
गृहे जातिस्मरो जज्ञे धीरोऽनुपहतात्मकः ॥१३ ॥
जातयोश्च तयोरेवं प्राग्जन्म स्मरतोर्द्वयोः।
एकोऽनुतेपे दासः सन् राजा सन् मुमुदे परः ॥१३१॥
इति धर्मतरोर्मूलमशुद्धं यस्य मानसम्।
शुद्धं यस्य च तद्रूपं फलं तस्य न संशयः ॥१३२॥
इत्येतदुक्त्वा देवीं तां तारावलीं स भूपतिः।
कलिङ्गदत्तः पुनरप्युवाचैनां प्रसङ्गतः ॥१३३॥

कुछ दिनों में अकाल के कारण वे सातों शिष्य मर गये किन्तु सत्य-भाषण के प्रभाव से वे पूर्वजन्म का स्मरण करते थे॥१२ ॥

इसी प्रकार किसानों के समान पुण्यात्माओं का छोटा-सा बीज भी शुद्ध संकल्प के जल से सींचा जाकर अच्छा फल देता है॥१२१॥

वही दुष्ट भावना से दूषित होकर अनिष्ट फल देता है। इस प्रसंग में एक कथा सुनो॥१२२॥

एक ब्राह्मण और चाण्डाल की कथा

प्राचीन समय माघ के महीने में एक ब्राह्मण और एक चाण्डाल एक साथ अनशन करके तपस्या कर रहे थे। एकबार भूखे ब्राह्मण ने गंगातट पर मछलियाँ पकड़कर खाते हुए धीवरों को देखकर सोचा कि ये दुष्ट धीवर संसार में धन्य हैं जो प्रतिदिन ताजी-ताजी मछलियाँ निकालकर यथेष्ट भोजन करते हैं॥१२३-१२५॥

दूसरे चाण्डाल ने उन्हीं धीवरों को देखकर सोचा कि इन मांसाहारी प्राणिहिंसक धीवरों को धिक्कार है। इसलिए ऐसे दुष्टों का मुँह देखने से क्या लाभ? ऐसा सोचकर और आँखें बन्द करके वह आत्म-चिन्तन करने लगा॥१२६-१२७॥

अनशन के कारण क्रमशः वे दोनों ब्राह्मण और चाण्डाल गलकर मर गये। उनमें ब्राह्मण को तो कुत्ते खा गये और वह चाण्डाल गंगाजल में ही मर गया॥१२८॥

मरने पर, दुष्ट भावना के कारण वह अभागा ब्राह्मण धीवरों के कुल में ही उत्पन्न हुआ। किन्तु तप के प्रभाव से उसे पूर्वजन्म का स्मरण रहा॥१२९॥

धैर्यशाली सत्त्ववान् चाण्डाल राजा के घर में जन्म लेकर जातिस्मर रहा। अर्थात् उसे अपनी पूर्वजन्म की जाति का भी स्मरण रहा॥१३ ॥

इस प्रकार पूर्वजन्म को स्मरण करते हुए उन दोनों में एक दास (धीवर) होकर अत्यन्त दुःखी और दूसरा राजा होकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ॥१३१॥

इस प्रकार धर्मवृक्ष का मूल—मन जिसका जैसा होता है उसको उसी प्रकार का फल मिलता है॥१३२॥

राजा कलिङ्गदत्त इस प्रकार रानी तारादत्ता को कथा सुनाकर इसी प्रसंग में और भी इस प्रकार कहने लगा—॥१३३॥

किञ्च सत्त्वाधिकं कर्म दधि यन्नाम मादृशम् ।
कृताय तथ्यतः सत्त्वमनुधावन्ति सम्पदः ॥१३४॥
तथा च कथयाम्यत्र शृणु चित्रामिमां कथाम् ।

राज्ञो विक्रमसिंहस्य द्वयोर्ब्राह्मणयोश्च कथा

अस्तीह भुवनख्यातावन्तीषूज्जयिनी पुरी ॥१३५॥
राजते सितहर्म्यैर्या महाकालनिवासभूः ।
तत्सेवारससम्प्राप्तकैलासशिखरैरिव ॥१३६॥
सच्चक्रवर्तिपानीयं प्रविशद्वाहिनीशतम् ।
यदाभोगोऽब्धिगम्भीरः सपक्षक्ष्माभृदाश्रितः ॥१३७॥
तस्यां विक्रमसिंहाख्यो बभूवान्वर्थयाख्यया ।
राजा वैरिमृगा यस्य नैवासन्सम्मुखाः क्वचित् ॥१३८॥
स च निष्प्रतिपक्षत्वादनाप्तसमरोत्सवः ।
अस्त्रेषु बाहुवीर्ये च साभ्यासोऽन्तरतप्यत ॥१३९॥
अथ सोऽमरगुप्तेन तदभिप्रायवेदिना ।
कथान्तरे प्रसङ्गेन मन्त्रिणा जगदे नृपः ॥१४ ॥
देव दोर्दण्डदर्पेण शस्त्रविद्यामदेन च ।
आशंसतामपि रिपून् राज्ञां दोषो न दुर्लभः ॥१४१॥
तथा च पूर्वं बाणेन युद्धयोग्यमरिं हरः ।
वर्षाद् भुजसहस्रस्य तावदाराध्य याचितः ॥१४२॥
यावत्प्राप्ततथाभूततदरिः स मुरारिणा ।
दैवेन वैरिणा संख्ये लूनबाहुवनः कृतः ॥१४३॥
तस्मात्त्वयापि कर्तव्यो नासन्तोषो युधं विना ।
कांक्षणीयो न चानिष्टो विपक्षोऽपि कदाचन ॥१४४॥
शस्त्रशिक्षा स्ववीर्यं च दर्शनीय यदीह चेत् ।
योग्यभूमावटव्यां तन्मृगयायां च दर्शय ॥१४५॥
राज्ञां चाखेटकमपि व्यायामाविकृत्ये मतम् ।
युद्धाध्वनि न खिद्यन्ते राजानो ह्यश्रमक्षमाः ॥१४६॥
आरण्याश्च मृगा दुष्टाः शून्यमिच्छन्ति मेदिनीम् ।
तेन ते नृपतेर्वध्या इत्यप्याखेटमिष्यते ॥१४७॥

दैव और भी बात है। जो काम जिस प्रकार के आरम्भक से युक्त होता है, उसका फल भी उसी के अनुसार होता है क्योंकि सम्पत्तियाँ सत्त्व (मनोबल) का अनुसरण करती हैं॥११४॥

इस सम्बन्ध में तुमको एक अद्भुत कथा सुनाता हूँ।

राजा विक्रमसिंह और दो ब्राह्मणों की कथा

इस देश में संसार-प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की एक नगरी है॥११५॥

वह नगरी महाकाल की निवासभूमि है। जिसमें मानों शिवजी की सेवा के लिए आये हुए कैलाश-शिखरों के समान ऊँचे-ऊँचे श्वेत भवन सुशोभित हैं॥११६॥

समुद्र के समान गम्भीर उस नगरी का विस्तार चक्रवर्ती-रूपी जल से भरा रहता है। सेना-रूपी सैकड़ों नदियाँ उसमें सदा बहती रहती हैं। अपने पक्षवाले महीधरों (पर्वतों और राजाओं) का वह आश्रय-स्थान है। उसी नगरी में विक्रमसिंह नाम का यथार्थ नामवाला राजा राज्य करता था। उसके सम्मुख कहीं भी शत्रु-रूपी मृग नहीं थे॥११७-११८॥

शत्रुओं के अभाव के कारण उस कर्मोमत्त उत्सव का अवसर नहीं मिला था। इसलिए अस्त्र और बाहुयुद्ध में उसकी आस्था न थी। इस कारण वह मन-ही-मन दुखी रहता था॥११९॥

एकबार वार्त्तालाप के प्रसंग में राजा के मनोभाव जानने के विचार से उसके मन्त्री अमरगुप्त ने उससे कहा॥१४ ॥

महाराज! अपनी भुजाओं के बल के घमंड से और शस्त्र-विद्या की जानकारी के मद से शत्रुओं की प्रशंसा करनेवाले राजाओं को दोष दुर्लभ नहीं कहा जा सकता अर्थात् विपत्ति आ सकती है। जिस प्रकार बाणासुर ने अपनी हजार भुजाओं के घमंड से शिवजी की आराधना करके उनसे युद्ध करने योग्य शत्रु का वर माँगा था॥१४१-१४२॥

किन्तु उसी प्रकार का वर न पाकर उसने युद्ध के रूप में विष्णु को प्राप्त किया और विष्णु ने युद्ध में उसकी सभी भुजाओं को काट डाला॥१४३॥

इसलिए तुम्हें भी युद्ध के बिना असन्तोष नहीं करना चाहिए। अनिष्टकारी प्रबल शत्रु की आकांक्षा भी न करनी चाहिए॥१४४॥

यदि तुम्हें युद्ध-विद्या और शस्त्र-चातुरी दिखानी हो तो उसके योग्य भूमि—वन में शिकार कर दिखाओ॥१४५॥

इसीलिए व्यायाम लक्ष्यवेध (निशानेबाजी) और शस्त्रों के अभ्यास आदि के लिए ही राजाओं के लिए शिकार का विधान किया गया है। बिना अभ्यास के राजा लोग युद्ध में सफल नहीं होते॥१४६॥

जंगली हिंस्र जन्तु पृथ्वी को प्राणियों से सूनी कर देना चाहते हैं। इसलिए वे राजाओं द्वारा मारे जाने योग्य हैं। इसलिए भी शिकार करना आवश्यक होता है॥१४७॥

न भाति ते निपेव्यन्ते तत्सेवाव्यसनेन हि।
गता नृपतयः पूर्वमपि पाण्ड्वादयः क्षयम् ॥१४८॥
इत्युक्तोऽमरगुप्तेन मन्त्रिणा स सुमेधसा।
राजा विक्रमसिंहोऽत्र तथेति तदमन्यत ॥१४९॥
अन्येद्युश्चाश्वपादातसारमेयमयीं भुवम्।
विचित्रवागुरोच्छायमयीश्च सकला दिशः ॥१५ ॥
सहर्षमृगयुग्रामनिनादमयमम्बरम् ।
कुर्वंस्स मृगयाहेतोर्नगर्या निर्ययौ नृपः ॥१५१॥
निर्गच्छन् गजपृष्ठस्थो बाह्ये शून्ये सुरालये।
पुरुषौ द्वावपश्यच्च विजने सहितस्थितौ ॥१५२॥
स्वैरं मन्त्रयमाणौ च मिथः किमपि तावुभौ।
दूरात्स तर्कयन् राजा जगाम मृगयावनम् ॥१५३॥
तत्र प्रोत्खातखड्गेषु वृकव्याघ्रेषु च व्यभात्।
सोपं स सिंहनादेषु भूभागेषु नगेषु च ॥१५४॥
तां स विक्रमबीजाभैर्महीं तस्तार मौक्तिकैः।
सिंहानां हस्तिहन्तृणां निहतानां नखच्युतैः ॥१५५॥
तिर्यञ्चस्तिर्यगेवास्य पेतुर्वक्रप्लुता मृगाः।
इषुः निर्भिद्य तान्पूर्वं हर्षं प्रापदवक्रगाः ॥१५६॥
कृत्वाखेटरसं सुचिरं राजासौ श्रान्तसेवकः।
आगाच्छिञ्जितज्येन चापेनोज्जयिनीं पुनः ॥१५७॥
तस्मिन् देवकुले तस्मिंस्तावत्कालं तथैव तौ।
स्थितौ ददर्श पुरुषौ निर्गच्छन्यौ स दृष्टवान् ॥१५८॥
कावेतौ मन्त्रयेते च किंस्विदेवमियच्चिरम्।
नूनं चाराविमौ दीर्घरहस्यालापसेविनौ ॥१५९॥
इत्यालोच्य प्रतीहारं विसृज्यानाययत्स तौ।
पुरुषौ द्वाववष्टभ्य राजा बद्धौ चकार च ॥१६ ॥
द्वितीयेऽह्नि चास्थानं तावानाय्य स पृष्टवान्।
कौ युवां सुचिरं कश्च मन्त्रस्तावान्स वामिति ॥१६१॥
ततस्तयोः स्वयं राज्ञा तत्र पर्यनुयुक्तयोः।
याचिताभययोरेको युवा वक्तुं प्रचक्रमे ॥१६२॥
श्रूयतां वर्णयाम्येतद्यथावद्युमा प्रभो! ।
अभूत्करभको नाम विप्रोऽस्यामेव च पुरि ॥१६३॥

यहाँ आखेट का अधिक सेवन भी हानिकारक होता है। इसके अधिक सेवन या व्यसन से ही पांडु आदि पूर्व राजाओं का विनाश हुआ है॥१४८॥

इस प्रकार बुद्धिमान् मन्त्री अमरगुप्त द्वारा कहे गये राजा विक्रमसिंह ने उसे स्वीकार किया॥१४९॥

दूसरे दिन ही वह राजा पृथ्वी को घुड़सवार, पैदल सिपाही और शिकारी कुत्तों से दिशाओं को विविध बाजों और नगाड़ों से एवं आकाश को प्रसन्नचित्त बहेलियों के शब्दों से भरता हुआ शिकार के लिए नगरी (उज्जयिनी) से बाहर निकला॥१५०—१५१॥

हाथी पर बैठकर जाते हुए उस राजा ने नगर के बाहर सूने शिवालय में एक साथ एकान्त में खड़े दो मनुष्यों को देखा॥१५२॥

वे दोनों आपस में कुछ मन्त्रणा करते हुए-से खड़े थे। उन पर दूर से ही सन्देह करता हुआ राजा आखेट-वन (शिकारगाह) में गया॥१५३॥

वहाँ जाकर राजा ने तलवार से काटे हुए बूढ़े बाघों तथा सिंहों के गर्जनों से पूरित जंगली स्थानों और पहाड़ों में सन्तोष प्रकट किया॥१५४॥

राजा ने हाथियों को मारनेवाले सिंहों के नखों से गिरे हुए पराक्रम के बीजों के समान मोतियों से सारी जंगली भूमि भर दी॥१५५॥

टेढ़े-टेढ़े उछलनेवाले मृग उससे तिरछे भाग रहे थे। किन्तु राजा बिना टेढ़ा हुए ही उन्हें शीघ्रता से बींधता हुआ अपनी शस्त्रविद्या पर हर्ष प्रकट करता था॥१५६॥

बहुत समय तक आखेट करके थान्त सेवकों के साथ डोरी उतारे हुए धनुष को लेकर वह राजा उज्जयिनी को लौटा॥१५७॥

लौटते हुए उसने उसी देवमन्दिर में इतने समय तक उसी प्रकार खड़े-खड़े बातें करते हुए उन दोनों मनुष्यों को फिर से देखा जिन्हें जाते समय देखा था॥१५८॥

ये दोनों कौन हैं और इतने समय तक क्या मन्त्रणा कर रहे हैं? इतनी लम्बी और गुप्त मन्त्रणा करनेवाले ये अवश्य ही कोई गुप्तचर होंगे॥१५९॥

ऐसा सोचकर और द्वारपाल को भेजकर राजा ने दोनों को पकड़वाकर बँधवा दिया। तदनन्तर दूसरे दिन उन्हें दरबार में बुलाकर पूछा—'तुम कौन हो। और इतने लम्बे समय तक वहाँ क्या मन्त्रणा करते रहे? ॥१६०-१६१॥

उन दोनों के अभय प्रार्थना करने पर एक युवक इस प्रकार कहने लगा—'सुनो महाराज! आपकी इसी नगरी में करभक नाम का एक ब्राह्मण रहता था॥१६२—१६३॥

तन्मे स कतमो भर्ता त्वमिदानीं पतिर्मम।
येनात्मनिरपेक्षेण हृता मृत्युमुखादहम् ॥१८०॥
स चैष दृश्यते भृत्यैः सहागच्छन्पतिर्मम।
अतः स्वैरं त्वमस्मात्त पश्चादागच्छ साम्प्रतम् ॥१८१॥
कस्येऽन्तरे हि मिलिता यास्यामो यत्र कुत्रचित्।
एवं तयोक्तस्तदहं तथेति प्रतिपन्नवान् ॥१८२॥
सुरूपाप्यर्पितात्मापि परस्त्रीयं किमेतया।
इति धैर्यस्य मार्गोऽयं न छाद्यम्य युक्तिनः ॥१८३॥
क्षणादेत्य च सा भर्त्रा बाला सम्भाविता सती।
तेन साकं समृत्येन गन्तुं प्रावर्तत क्रमात् ॥१८४॥
अहं च गुप्तवद्दत्तपाथेयः परवर्त्मना।
पश्चादलक्षितस्तस्य दूरमध्वानमभ्यगाम् ॥१८५॥
सा च हस्तिभयभ्रंशभङ्गाङ्गजनितां रुजम्।
पथि मिथ्या वदन्ती तं पतिं स्पर्शेऽप्यवर्जयत् ॥१८६॥
कस्य रक्तोमुखी गाढरक्तान्तर्विषदुःसहा।
तिष्ठेदनपकृत्य स्त्री भुजगीव विकारिता ॥१८७॥
क्रमाच्च लोहनगरं प्राप्ताः स्मस्ते पुरं वयम्।
वणिज्याजीविनो यत्र भर्तुस्तस्या गृहं स्त्रिया ॥१८८॥
स्थिताः स्मस्तदहस्तत्र सर्वे बाह्ये सुरालये।
तत्र सम्मिलितश्चैष द्वितीयो ब्राह्मणः सखा ॥१८९॥
नवेऽपि दर्शनेऽन्योन्यमाश्वासः सममूच्च नौ।
चित्तं जानाति जन्तूनां प्रेम जन्मान्तरार्जितम् ॥१९०॥
ततो रहस्यमात्मीयं सर्वमस्मै मयोदितम्।
तद्बुद्ध्वैव तदा स्वैरं मामेवमयमब्रवीत् ॥१९१॥
तूष्णीं भवास्त्युपायोऽत्र यत्कृते त्वमिहागतः।
एतस्या भर्तृभगिनी विद्यतेऽत्र वणिक्स्त्रियाः ॥१९२॥
गृहीतार्था मया साकमितः सा गन्तुमुद्यता।
तत्करिष्ये तदीयेन साहाय्येन तवेप्सितम् ॥१९३॥

इसलिए वह मेरा पति नहीं हो सकता है। अब तुम्हीं मेरे भर्ता हो जिसने अपने जीवन की चिन्ता न करके मझे मृत्यु-मख से निकाला॥१८ ॥

वह मेरा पति नौकरों के साथ आ रहा है। अब तुम भी हमारे पीछे धीरे-धीरे आओ। अवसर मिलने पर कहीं कहीं भ, चले जायेंगे। उसके इस प्रस्ताव को मैंने स्वीकार कर लिया ॥१८१ १८२॥

'यह सुन्दरी है और मुझे आत्म-समर्पण कर चुकी है। फिर भी उस परकीया स्त्री से क्या प्रयोजन? —यह तो धैर्य का मार्ग है यौवन का नहीं॥१८३॥

कुछ ही देर में आकर पति द्वारा आश्वस्त की गई वह बाला उसके और उसके भृत्यों के साथ आगे-आगे चलने लगी॥१८४॥

उस स्त्री द्वारा गुप्त रूप से दिये गये मार्ग-भोजन को लिया हुआ मैं भी उसके पीछे छिप छिपकर दूर तक चला गया॥१८५॥

उस स्त्री ने हाथी के भय से भागने पर टूटे हुए शरीर की पीड़ा के बहाने मार्ग में उस पति को अपने शरीर पर हाथ भी नहीं रखने दिया॥१८६॥

सच है अनुरक्त और आकृष्ट, गाढ़ी मन्तर्वेदना के दु:ख से दु:खी और बिगड़ी हुई स्त्री सर्पिणी के समान किसका अपकार किये बिना रह सकती है?॥१८७॥

क्रमश: चलते हुए हम लोग लोहनगर नामक पुर में पहुँचे जहाँ पर व्यापार से जीविका करनेवाले उस स्त्री के पति का घर था॥१८८॥

उस दिन हमलोग नगर के बाहर एक देव-मन्दिर में ठहर गये। वहीं पर मुझे यह दूसरा मित्र ब्राह्मण मिला॥१८९॥

हमलोगों की उस नवीन और प्रथम परिचय में ही परस्पर परम विश्वास और प्रेम उत्पन्न हो गया। सच है प्राणियों का चित्त पूर्वजन्म के संचित प्रेम को भलीभाँति समझ लेता है॥१९ ॥

तब मैंने अपना सारा रहस्य इस बता दिया। यह सब सुन लेने के पश्चात् इसने मुझे धीरे से कहा—'चुप रहो। जिस लिए तुम यहाँ आये हो उसका उपाय है। इस बनिये की स्त्री की छोटी बहिन यहीं है। वह धन लेकर मेरे साथ यहाँ से भागनेवाली है। उसीकी सहायता से तुम्हारा काम सिद्ध करूँगा ॥१ १ १९२॥

ऐसा कहकर यह ब्राह्मण नगर में गया और बनिये की स्त्री की ननद अर्थात् उसकी बहिन को इसने सब सच्चा समाचार सुना दिया॥१९३॥

तस्य प्रवीरपुत्रेच्छाकृताग्न्याराधनोद्‌भवः।
अहमेव महाराज वेदविद्याविदः सुतः ॥१६४॥
तस्मिश्च भार्यानुगते पितरि स्वर्गते शिशुः।
अधीतविद्योऽप्यानाप्यास्त्वमाग त्यक्तवानहम् ॥१६५॥
प्रवृत्तश्चाभव द्यूतं शस्त्रविद्यादच सेवितुम्।
कस्य नोच्छृङ्खलं बाल्यं गुरुशासनवर्जितम् ॥१६६॥
तेन क्रमेण चोत्तीर्णे शशवे जातदोर्मदः।
अटवीमेकदा बाणानह दीप्तु गतोऽस्म्यहम् ॥१६७॥
तावत्तत पथा चैका नगर्या निर्गता वधूः।
अगात्कर्णीरथारूढा जन्यैर्बहुभिरन्विता ॥१६८॥
अकस्माच्च तदैवात्र करी कोटिसमुद्भवः।
कुतोऽप्यागत्य तामेव वधूमभ्यापतन्मदात् ॥१६९॥
तद्भयेन च सर्वेऽपि त्यक्त्वा तामनुयायिनः।
तद्भर्तापि सह क्लीबो पलाय्येतस्ततो गतः ॥१७०॥
तद्दृष्ट्वा सहसैवाहं ससम्भ्रममचिन्तयम्।
हा कथं कातरैरेभिस्त्यक्तैकेयं तपस्विनी ॥१७१॥
तदहं वारणादस्मात्त्राम्यशरणामिमाम्।
आपन्नत्राणविकलैः किं प्राणैः पौरुषेण वा ॥१७२॥
इत्यहं मुक्तनादस्तं गजेन्द्रं प्रति धावितः।
गजोऽपि तां स्त्रियं हित्वा स मामेवाभ्यधावत् ॥१७३॥
ततोऽहं भीतया नार्या वीक्ष्यमाणस्तया नदन्।
पलायमानश्च गजं तं दूरमपकृष्टवान् ॥१७४॥
क्रमात्सत्रभग्नां भग्नां प्राप्य शाखां महातरोः।
आत्मानं च समाच्छाद्य तरुमभ्यमगामहम् ॥१७५॥
तदग्रे स्थापयित्वा तां शाखां तिर्यक्सुरवात्।
पलायितोऽहं हस्ती च स तां शाखामचूर्णयत् ॥१७६॥
ततोऽहं योषितस्तस्याः समीपगमनं द्रुतम्।
शरीरकुशलं चैतामपृच्छमिह भीषिताम् ॥१७७॥
सापि मां वीक्ष्य दुःखार्ता सहर्षा चाब्रवत्तदा।
किं मे कुशलमेतस्मै दत्ता कापुरुषाय या ॥१७८॥
ईदृशे सङ्कटे यो मां त्यक्त्वा क्वापि गतः प्रभो।
एतत्तु कुशलं यत्त्वमक्षतः पुनरीक्षितः ॥१७९॥

उसने एक महावीर पुत्र की प्राप्ति के लिए अग्नि-वन्दना की आराधना की उसी वेदविद्या-विशारद ब्राह्मण का मैं पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१६४॥

पत्नी के साथ मेरे पिता के स्वर्ग चले जाने पर शिशु-काल में ही मैंने विद्याध्ययन तो किया किन्तु अनाथ होने के कारण अपना मार्ग त्याग दिया ॥१६५॥

मैं द्यूत और शस्त्र-विद्या का अभ्यास करने लगा। सच है गुरुजनों के शासन से रहित किसकी बाल्यावस्था उच्छृंखल नहीं हो जाती ॥१६६॥

क्रमशः बाल्यावस्था बीतने पर युवावस्था में भुजबल के मद से मत्त होकर बाणों को छोड़ने के लिए मैं एकबार जंगल में गया ॥१६७॥

उस समय रथ पर बैठी हुई और बहुत-से बरातियों से घिरी हुई एक नई वधू नगरी से निकली ॥१६८॥

इतने में ही मैंने देखा एकाएक बिगड़ा हुआ एक हाथी सीकड़ तोड़कर कहीं से आकर उस वधू पर आक्रमण करने लगा। हाथी के डर से उसके सभी पुरुषार्थ-हीन साथी उसके पति के साथ इधर-उधर भाग गये ॥१६९–१७ ॥

यह देखकर घबराये हुए मैंने सोचा—'ओह इन कायरों ने इस वधू को कैसे सर्वथा असहाय और अकेले ही छोड़ दिया' ॥१७१॥

तो मैं अब इस हाथी से इस अबला की रक्षा करता हूँ। विपद्ग्रस्त की रक्षा से हीन प्राणों से या पराक्रम से काम ही क्या है ॥१७२॥

ऐसा सोचकर मैंने हाथी को ललकारा। हाथी भी उस स्त्री को छोड़कर मेरी ओर भागता हुआ आया ॥१७३॥

उस डरी हुई वधू से देखा जाता हुआ और शब्द करता हुआ मैं हाथी को दूर तक दौड़ाता हुआ ले गया ॥१७४॥

इस प्रकार दौड़ते हुए मार्ग में पत्तोंवाली टूटी हुई एक वृक्ष की शाखा मिली। मैंने अपने को उसी में छिपा लिया और धीरे-धीरे छिपकर वृक्षों और पत्तों के झुरमुट में चला गया ॥१७ ॥

उस शाखा को तिरछी करके मैंने पेड़ के पास रख दिया और मैं भाग गया। पीछे से दौड़कर आते हुए हाथी ने उस शाखा को पाँव से रौंद डाला ॥१७६॥

तब हाथी के चले जाने पर मैं उस स्त्री के पास आया और भयभीत उससे मैंने उसके शरीर का कुशल पूछा ॥१७७॥

यह बात देखकर दुःखित और हर्षित दोनों भाव प्रकट करती हुई बोली—क्या कुशल पूछते हो? मुझे ऐसे एक कायर मानव को दिया गया जो मुझे ऐसे ग्राम-नगर में छोड़कर कहीं भाग गया। कुशल यही है कि तुम्हें मैंने बिना किसी क्षत (घाव) के पुनः देखा ॥१७८–१७९॥

तन्मे स कतमो भर्ता त्वमिच्छसीं पतिमम।
येनात्मनिरपेक्षेण हृता मृत्युमुखादहम् ॥१८०॥
स चैष दृश्यते भृत्यं सहागच्छत्पतिर्मम।
अतः स्वैरं त्वमस्माकं पश्चादागच्छ साम्प्रतम् ॥१८१॥
कस्योऽन्तरे हि मिलिता यास्यामो यत्र कुत्रचित्।
एवं तयोक्तस्तत्वहं तथेति प्रतिपन्नवान् ॥१८२॥
सुरूपाप्यपितारमापि परस्त्रीयं किमेतया।
इति धैर्यस्य मार्गोऽयं न तारुण्यस्य सङ्क्रमः ॥१८३॥
क्षणादेत्य च सा भर्त्रा बाला सम्भाविता सती।
तेन साकं समृत्येन गन्तुं प्रावर्तत क्रमात् ॥१८४॥
अहं च गुप्ततद्दत्तपाथेयः परवर्त्मना।
पश्चादलक्षितस्तस्य दूरमध्वानमभ्यगाम् ॥१८५॥
सा च हस्तिमयभ्रष्टमङ्गाङ्गजनितां रुजम्।
पथि मिथ्या वदन्ती तं पतिं स्पर्शेऽप्यवर्जयत् ॥१८६॥
कस्य रक्तोन्मुखी गाढस्वान्तविषदुःसहा।
तिष्ठेदनपकृत्य स्त्री भुजगीव विकारिता ॥१८७॥
क्रमाच्च लोहनगरं प्राप्ताः स्मस्ते पुरं वयम्।
वणिज्याजीविनो यत्र भर्तुस्तस्या गृहं स्त्रियाः ॥१८८॥
स्थिताः स्मस्तद्बहिर्यात्र सर्वे बाह्ये सुरालये।
तत्र सम्मिलितश्चैष द्वितीयो ब्राह्मणः सखा ॥१८९॥
मयेऽपि दर्शनेऽन्योन्यमाश्वासः समभूच्च नौ।
चित्तं जानाति जन्तूनां प्रेम जन्मान्तरार्जितम् ॥१९ ॥
ततो रहस्यमात्मीयं सर्वमस्मै मयोदितम्।
तदबुद्ध्वैव तदा स्वैरं मामेवमयमब्रवीत् ॥१९१॥
तूष्णीं भवास्त्युपायोऽत्र यत्कृते त्वमिहागतः।
एतस्या भर्तृभगिनी विद्यतेऽत्र वणिक्स्त्रियाः ॥१९२॥
गृहीतार्थां मया साकमितः सा गन्तुमुद्यता।
तत्करिष्ये तदीयेन साहाय्येन तवेप्सितम् ॥१९३॥

इसलिए वह मेरा पति नहीं हो सकता है। अब तुम्हीं मेरे भर्त्ता हो जिसने अपने जीवन की चिन्ता न करके मुझे मृत्यु-मुख से निकाला॥१८ ॥

वह मेरा पति नौकरों के साथ आ रहा है। अब तुम भी हमारे पीछे धीरे-धीरे आओ। अवसर मिलने पर कहीं कहीं भाग चल जायेंगे। उसके इस प्रस्ताव को मैंने स्वीकार कर लिया ॥१८१ १८२॥

'वह सुन्दरी है और मुझे आत्म-समर्पण कर चुकी है। फिर भी उस परकीया स्त्री से क्या प्रयोजन ? —यह तो धैर्य का मार्ग है यौवन का नहीं॥१८३॥

कुछ ही देर में आकर पति द्वारा आश्वस्त की गई वह बाला उसके और उसके भृत्यों के साथ आगे-आगे चलने लगी॥१८४॥

उस स्त्री द्वारा स्पष्ट रूप से दिये गये मार्ग-भोजन को लिया हुआ मैं भी उसके पीछे छिप छिपकर दूर तक चला गया॥१८५॥

उस स्त्री ने हाथी के भय से भागने पर टूटे हुए शरीर की पीड़ा के बहाने मार्ग में उस पति को अपने शरीर पर हाथ भी नहीं रखने दिया॥१८६॥

सच है अनुरक्त और आकृष्ट गाढ़ी मन्तवेदना के दु:ख से दु:सह और बिगड़ी हुई स्त्री नागिनी के समान किसका अपकार किये बिना रह सकती है?॥१८७॥

क्रमशः चलते हुए हम लोग मोहनपुर नामक पुर में पहुँचे जहाँ पर व्यापार से जीविका करनेवाले उस स्त्री के पति का घर था॥१८८॥

उस दिन हमलोग नगर के बाहर एक देव मन्दिर में ठहर गये। वहीं पर मुझे यह दूसरा मित्र ब्राह्मण मिला॥१८९॥

हमलोगों की उस नवीन और प्रथम परिचय में ही परस्पर परम विश्वास और प्रेम उत्पन्न हो गया। सच है प्राणियों का चित्त पूर्वजन्म के संचित प्रेम को भलीभाँति समझ लेता है॥१९ ॥

तब मैंने अपना सारा रहस्य इस बता दिया। यह सब सुन लेने के पश्चात् इसने मुझ धैर्य न रहा— चुप रहो। जिस स्त्री [illegible] तुम यहाँ आये हो उसका उपाय है। इस बनिये की स्त्री के [illegible] बहिन यहाँ है। वह पत्र लिखकर मेरे साथ यहाँ से आगमनवाली है। उसीकी सहायता से तुम्हारा काम सिद्ध करूँगा ॥१ १ १ ॥

ऐसा कहकर यह ब्राह्मण मुझे ले गया और बनिये की स्त्री की ननद, अर्थात् उसकी बहिन को इसने सब गुप्त समाचार सुना दिया॥१ १॥

इत्युक्त्वा मामय विप्रो गत्वा तस्यास्तदा रहः ।
वणिग्वधू ननान्दुस्तद्यथावस्तु न्यवेदयत् ॥१९४॥
अन्येद्यु कृतसविन्म सा ननान्दा समेत्य शाम् ।
प्रावेशयद् भ्रातृजायामो तत्र देवगृहान्तरे ॥१९५॥
तत्रान्तःस्थितमोनौ च मध्यादेतं तदेव सा ।
मित्र मे भ्रातृजायायास्तस्या वेषमकारयत् ॥१९६॥
कृततद्वेषमेन च गृहीत्वा नगरान्तरम् ।
भ्रात्रा सहाविशद् गेहं कृत्वा न कार्यसविदम् ॥१९७॥
अहं च निर्गत्य ततस्तया पुरुषवेषया ।
वणिग्वध्वा समं प्राप्त क्रमेणोज्जयिनीमिमाम् ॥१९८॥
सननान्दा च सा रात्रौ तदह सोत्सवासतः ।
मत्तसुप्तजनाद् गेहादनेन सह निर्गता ॥१९९॥
ततश्चाय गृहीत्वा तां विप्रश्छन्न प्रयागकं ।
आगतो नगरीमेतामचावां मिलिताविह ॥२ ॥
इत्यावाभ्यामभे भार्ये प्राप्ते प्रथमयौवने ।
ननान्दृभ्रातृजाये ते स्वानुरागसमर्पिते ॥२ १॥
मतो निवासे सर्वत्र न्वि शङ्कामहे वयम् ।
कस्यायवसिति चेतो हि विहितस्वैरसाहसम् ॥२०२॥
तदवस्थामहेतोश्च विसार्य च रहस्थिरम् ।
आवां मन्त्रयमाणौ द्वौ दृष्टौ देवेन दूरतः ॥२ ३॥
दृष्ट्वानाम्य च संयम्य स्थापितौ चारसङ्ख्या ।
अद्य पृष्टौ च वृत्तान्तं स चैष कथितो मया ॥२ ४॥
देव प्रभवतीदानीमित्यनेनोदिते सदा ।
राजा विक्रमसिंहस्तौ विप्रौ द्वावभ्यभाषत ॥२०५॥
तुष्टोऽस्मि वां भय मामूविहैव पुरि तिष्ठतम् ।
अहमेव च दास्यामि पर्याप्तं युवयोर्धनम् ॥२ ६॥
इत्युक्त्वा स ददौ राजा यथेष्टं जीवनं तयो ।
तौ च भार्यान्वितौ तस्य निकटे तस्थतुः सुखम् ॥२ ७॥
इत्थं स्त्रियासु निवसन्त्यपि यासु तासु
पुर्सा श्रिय प्रचलसत्त्ववहिष्कृतासु ।
एवं च साहसधनेष्वथ बुद्धिमत्सु
सन्तुष्य दाननिरता क्षितिपा भवन्ति ॥२ ८॥

दूसरे दिन सम्मति करके बनिये की उस बहिन ने अपनी भाभी (नव वधू) के साथ एक देव-मन्दिर में प्रवेश किया। मन्दिर के भीतर पहले ही से प्रविष्ट हम दोनों में से उसने मेरे मित्र को भाभी का वेष धारण कराया और उसी वेष में उसे भाई के घर ले गई। मैं उस पुरुष-वेष में स्थित वणिक की वधू के साथ मन्दिर से निकलकर क्रमशः उज्जैन आ गया॥१९४–१९८॥

उसकी ननद भी घर में विवाहोत्सव के कारण लोगों के मद्यपान करके सो जाने पर इसके साथ रात में निकल भागी और यहाँ आने पर हम दोनों मिले॥१९९–२ ॥

इस प्रकार हम दोनों ने नवयौवना और स्वयं प्रेम से आसक्त ननद-भाभी को प्राप्त किया॥२ १॥

महाराज अब हम दोनों निवास के लिए प्रत्येक स्थान पर शंका कर रहे हैं। ऐसा गुप्त साहस करने पर भला किसका चित्त शान्त रह सकता है?॥२ २–२ ३॥

अतः रहने के स्थान और धन कमाने के उपाय सोचते हुए हम दोनों को दूर से आपने देखा॥२ ४॥

तदनन्तर गुप्तचर के सन्देह से आपने हम दोनों को पकड़वाकर बँधवा दिया। आज आपके पूछने पर सारा समाचार हमने स्पष्ट रूप से आपसे कह दिया। अब महाराज की जो इच्छा हो। ऐसा कहने पर राजा विक्रमसिंह ने दोनों से कहा—'मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। भय मत करो। इसी नगर में रहो। मैं ही तुमको पर्याप्त धन दूँगा'॥२ ५–२ ६॥

ऐसा कहकर राजा ने उनको पर्याप्त जीविका दे दी। तदनन्तर वे दोनों अपनी-अपनी स्त्रियों के साथ वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे॥२ ७॥

इस प्रकार उत्तम महात्माओं से बहिष्कृत एवंविध क्रियाओं में भी पुरुषों को सफलता प्राप्त होती है। और, साहस करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषों पर प्रसन्न होकर राजा इस प्रकार दानी हो सकता है॥२ ८॥

इत्यैहिकेन च पुराविहितेन चापि
स्वेनैव कर्मविभवेन शुभाशुभेन।
शश्वत् भवत्तदनुरूपविचित्रभोग
सर्वो हि नाम ससुरासुर एष सर्गः ॥२०९॥
तत्स्वप्नवृत्तनिभतो नभसश्च्युता या
व्यासा त्वयाम्तरन्तर विशतीह दृष्टा।
सा कापि देवि सुरजातिरसंशयं ते
गर्भे कुतोऽपि खलु कर्मवशात्प्रपन्ना ॥२१०॥
इति निजभर्तुर्वदनाच्छ्रुत्वा नृपते कलिङ्गदत्तस्य।
देवी तारादत्ता प्राप सगर्भा परं प्रमदम् ॥२११॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके प्रथमस्तरङ्गः।

द्वितीयस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनाया जन्मकथा

ततः कलिङ्गदत्तस्य राज्ञो गर्भभरालसा।
राज्ञी तक्षशिलायां सा तारादत्ता शनैरभूत् ॥१॥
उदेष्यच्चन्द्रलेखा च प्राचीमनुचकार सा।
आसन्नप्रसवा पाण्डुमुखी तरलतारका ॥२॥
जज्ञे च तस्या नचिरादनन्यसदृशी सुता।
वेधसः सर्वसौन्दर्यसर्गवर्णकसन्निभा ॥३॥
ईदृक्पुत्रो न किं जात इतीव स्नेहशालिनः।
रक्षाप्रदीपास्तत्कान्तिविजिता विच्छायतां ययुः ॥४॥
पिता कलिङ्गदत्तश्च जातां तां तादृशीमपि।
दृष्ट्वा तद्रूपपुत्राशावैफल्यविमना अभूत् ॥५॥
विध्या तामपि सम्भाव्य स पुत्रेच्छुरदूयत।
शोककन्दः क्व कन्या हि क्वानन्दः कायवान्सुतः ॥६॥
ततश्चेतोविनोदाय खिन्नो निर्गत्य मन्दिरात्।
ययौ मानाजिनाकारं विहारं स महीपतिः ॥७॥
तत्रैकदेशे शुश्राव धर्मपाठकभिक्षुणा।
जनमध्योपविष्टेन कथ्यमानमिदं वचः ॥८॥

अर्थप्रदानमेवाहुः संसारे सुमहत्तपः ।
अर्थदः प्राणदः प्रोक्तः प्राणा ह्यर्थेषु कीलिताः ॥९॥
बुद्धेन च परस्यार्थे करुणाकुलचेतसा ।
आत्मापि तृणवद्दत्तः का वराके धने कथा ॥१०॥
तादृशेन च धीरेण तपसा स गतस्पृहः ।
सम्प्राप्तदिव्यविज्ञानो बुद्धो बुद्धत्वमागतः ॥११॥
आ शरीरमतः सर्वेष्विष्टेष्वाशानिवर्तनात् ।
प्राज्ञः सत्त्वहितं कुर्यात्सम्यक्सम्बोधलब्धये ॥१२॥

सप्तराजकन्यानां कथा

तथा च पूर्वं कस्यापि कृतनाम्नो महीपतेः ।
अजायन्तातिसुभगाः कन्याः सप्त कुमारिकाः ॥१३॥
बाला एव च तास्त्यक्त्वा वैराग्येण पितुर्गृहम् ।
श्मशानं शिश्रियुः पृष्टा जगदुश्च परिच्छदम् ॥१४॥
असारं विश्वमेवैतत्तत्रापीदं शरीरकम् ।
तत्राप्यभीष्टसंयोगसुखादि स्वप्नविभ्रमः ॥१५॥
एकं परहितं त्वत्र संसारे सारमुच्यते ।
तदनेनापि देहेन कुर्मः सत्त्वहितं वयम् ॥१६॥
क्षिपामो जीवदेवैतच्छरीरं पितृकानने ।
क्रव्यादगणोपयोगाय कान्तेनापि ह्यनेन किम् ॥१७॥

विरक्तराजपुत्रस्य कथा

तथा च राजपुत्रोऽत्र विरक्तः कोऽप्यभूत्पुरा ।
स युवापि सुकान्तोऽपि परिव्रज्यामशिश्रियत् ॥१८॥
स जातु भिक्षुः कस्यापि प्रविष्टो वणिजो गृहम् ।
दृष्टस्तरुण्या तत्पत्न्या पद्मपत्रायतेक्षणः ॥१९॥
सा तल्लोचनलावण्यहृतचित्ता तमब्रवीत् ।
कथमात्तमिदं कष्टमीदृशेन त्वया व्रतम् ॥२०॥
सा धन्या स्त्री तवानेन चक्षुषा या निरीक्ष्यते ।
इत्युक्तः स तया भिक्षुरेकं चक्षुरपाटयत् ॥२१॥

'संसार में धन देना ही सबसे महान् तप है। अन्न देनेवाला प्राणदाता कहा जाता है क्योंकि प्राण अन्न में कीलित हैं॥९॥

करुणा से व्याकुलचित्त बुद्ध ने अपनी आत्मा को भी तृण के समान दे डाला। तब अकिंचन धन की क्या कथा॥१०॥

ऐसे धैर्ययुक्त तप से निरीह बुद्ध ने दिव्य ज्ञान प्राप्त कर बुद्धत्व लाभ किया॥११॥

इसलिए सभी प्रिय पदार्थों से आस्था को हटाकर बुद्धिमान् व्यक्ति को भलीभाँति ज्ञान की प्राप्ति के लिए आजीवन प्राणियों का हित करना चाहिए'॥१२॥

सात राजकुमारियों की कथा

पूर्व समय में कृकि नाम के किसी राजा की क्रम से अति सुन्दरी सात कन्याएँ उत्पन्न हुईं॥१३॥

बाल्यकाल में ही वे कन्याएँ वैराग्य से पिता का घर छोड़कर श्मशान का सेवन करने लगीं और अपने कुटुम्बियों से कहने लगीं—॥१४॥

'यह सारा विश्व असार है। उसमें भी यह तुच्छ शरीर सर्वथा असार है उसमें भी अपनी प्रिय वस्तुओं या प्राणियों का मिलना स्वप्न का-सा भ्रम है॥१५॥

ऐसे असार संसार में दूसरों का हित करना ही एक मात्र सार है। इसलिए हमलोग इस शरीर से भी परहित कर रही हैं॥१६॥

इस जीते हुए सुन्दर शरीर को हम श्मशान में फेंक देती हैं जिससे यह मांस खानेवाले पशु-पक्षियों के उपयोग में आ सके। अन्यथा इस सुन्दर शरीर का क्या उपयोग है?"॥१७॥

एक विरक्त राजकुमार की कथा

और भी सुनो। पूर्वकाल में एक राजपुत्र था। वह सुन्दर युवा होने पर भी परिव्राजक बन गया॥१८॥

वह भिक्षु किसी वैश्य के घर कभी भिक्षा लेने के लिए गया। कमलदल के समान बड़े-बड़े नयनवाले उस भिक्षुक को उस वैश्य की युवती स्त्री ने देखा और वह उसके आँखों के लावण्य पर आसक्त होकर बोली—'इस सुन्दर तुमने यह कष्टकर व्रत क्यों धारण किया॥१९-२०॥

वह स्त्री धन्य है जो तुम्हारे इन नयनों से देखी जाती है। उसके इस प्रकार कहने पर भिक्षु ने अपनी आँख फोड़ दी। ॥२१॥

---

१ ऐसी ही दन्तकथा महाकवि सूरदास के सम्बन्ध में प्रचलित है। आयरलैंड के आयरली सीसीट के सम्बन्ध में भी ऐसी दन्तकथा प्रचलित है।—अनु

अन्ने च हृस्ते हृत्वा तन्मात पश्येदमीदृशम्।
जुगुप्सितमसृङ्मासं गृह्यतां यदि रोचते ॥२२॥
ईदृगेव द्वितीयं च वद रम्यं किमेतयो।
इत्युक्ता तेन तद्दृष्ट्वा व्यपीदत्सा वणिग्वधू ॥२३॥
उवाच च हहा! पाप मया कृतमसम्यया।
यदह हेतुतां प्राप्ता लोचनोत्पाटने तव ॥२४॥
तच्छ्रुत्वा भिक्षुरवदमामूदम्ब तव व्यथा।
मम त्वया ह्युपकृतं यतः शृणु निदर्शनम् ॥२५॥

एकस्य तपस्विनः राज्ञश्च कथा

आसीत्कोऽपि पुरा कान्ते क्वाप्युपवने यति।
अनुजाह्नवि वैराग्यमिच्छोपनिकर्षेच्छया ॥२६॥
तपस्यतश्च कोऽप्यस्य राजा तत्रैव दैवतः।
विहर्तुमागतः साकमवरोधवधूजनैः ॥२७॥
विहृत्य पानसुप्तस्य पार्श्वादुत्थाय तस्य च।
नृपस्य चापलाद्राज्ञ्यस्तदुद्याने किलाभ्रमन् ॥२८॥
दृष्ट्वा तत्रैकदेशे च तं समाधिस्थित मुनिम्॥
अतिष्ठन्परिवार्यैनं किमेतदिति कौतुकात् ॥२९॥
चिरस्थितासु तास्वत्र प्रबुद्धः सोऽत्र भूपतिः।
अपश्यन् दयिता पार्श्वे तत्र बभ्राम सर्वत ॥३० ॥
ददर्श चात्र राज्ञीस्ताः परिवार्य मुनिं स्थिताः।
कुपितश्चेर्ष्यया तस्मिन्खड्गेन प्राहरन्मुनौ ॥३१॥
ऐश्वर्यमीर्ष्यानैर्घृण्यं क्षीबत्वं निर्विवेकिता।
एकैकं किं न यत्कुर्यात् पञ्चाङ्गिरवे तु का कथा ॥३२॥
ततो गते नृपे तस्मिन्नक्षताङ्गमपि त मुनिम्।
अकुर्वं प्रकटीभूय काप्युवाचात्र देवता ॥३३॥
महात्मन्येन पापेन कोपेनैतत्कृतं त्वयि।
स्वशक्त्या तमहं हन्मि मन्यसे यदि तद्भवान् ॥३४॥

और, उन आँखों को हथेली में रखकर कहा—देखो माता यह ऐसी है। यह घृणित रक्त और मांस है। यदि अच्छा लगता है तो इसे ले लो ॥२२॥

इसी प्रकार की दूसरी भी आँख है। बताओ इनमें कौन अधिक सुन्दर है। भिक्षु के इस प्रकार कहने पर वैश्यवधू खिन्न हो गई ॥२३॥

और कहने लगी 'हाय हाय अभागिन मैंने यह क्या पाप कर डाला! मैं तुम्हारी आँखों के उखाड़ने का कारण बनी! ॥२४॥

यह सुनकर भिक्षुक बोला—'माता तुम्हें कष्ट न होना चाहिए। तुमने मेरा उपकार किया है। इस प्रसंग में उदाहरण सुनो ॥२५॥

एक तपस्वी और राजा की कथा

प्राचीन समय में गंगा के किसी तट पर स्थित एक सुन्दर उपवन में वैराग्य के कारण सब कुछ त्यागने की इच्छा से एक यति रहता था ॥२६॥

उसके तपस्या करते हुए कोई राजा अपने रनिवास की रानियों के साथ घूमने के लिए वहाँ आया ॥२७॥

विहार करने के पश्चात् मद्यपान करके सोए हुए उस राजा के पास से उठकर चंचल रानियाँ उद्यान में चारों ओर घूमने लगीं ॥२८॥

उस उद्यान के एक ओर समाधि में बैठे हुए मुनि को देखकर 'यह क्या है' इस प्रकार के कौतुक से वे उसे घेर कर बैठ गईं ॥२९॥

विलम्ब हो जाने के कारण जागने पर राजा ने उन्हें देखने के लिए चारों ओर चक्कर लगाना प्रारम्भ किया ॥३०॥

ढूँढ़ते हुए उसने जब मुनि को घेरकर बैठी हुई रानियों को देखा तब राजा ने डाह से जलती हुई तलवार निकालकर उससे मुनि पर प्रहार कर दिया ॥३१॥

ऐश्वर्य डाह, निर्दयता मदोन्मत्तता और विवेक-शून्यता इनमें एक ही क्या अनर्थ नहीं कर सकता? यदि पाँचों मणियाँ एकत्र हों तो क्या कहना ॥३२॥

राजा के चले जाने पर कटे हुए अंगोंवाले क्रोध रहित मुनि के सामने प्रकट होकर किसी देवी ने कहा—॥३३॥

'हे महात्मन्! जिस पापी ने क्रोध से तुम्हारे प्रति यह अत्याचार किया है उसे मैं अपनी शक्ति से मार देती हूँ यदि तुम चाहो तो' ॥३४॥

तच्छ्रुत्वा स जगादर्षिर्देवि मा स्मैवमादिश ।
स हि धर्मसहायो मे न विप्रियकरः पुनः ॥३५॥
तत्प्रसादात्क्षमाधर्मं भगवत्याप्तवानहम् ।
कस्य क्षमेय किं देवि नैव चेत्स समाचरेत् ॥३६॥
कः कोपो नश्वरस्यास्य देहस्यार्थे मनस्विनः ।
प्रियाप्रियेषु साम्येन क्षमा हि ब्रह्मणः पदम् ॥३७॥
इत्युक्ता मुनिना साथ तपसा तस्य तोषिता ।
अङ्गानि देवता कृत्वा निर्व्रणानि तिरोदधे ॥३८॥
तद्यथा सोऽपि तस्यर्षेरुपकारी मतो नृप ।
मैत्र्योत्पादनहेतोस्त्वं तपोवृद्ध्या तथास्य मे ॥३९॥
इत्युक्त्वा स वशी भिक्षुर्विनम्रां तां वणिग्वधूम् ।
कान्तेऽपि वपुषि स्वस्मिन्ननास्थः सिद्धये ययौ ॥४०॥
तस्माद्बालेऽपि रम्येऽपि कः काये नश्वरे ग्रहः ।
सत्त्वोपकारस्त्वेतस्मादेव प्राज्ञस्य शस्यते ॥४१॥
तदिमां वयमेतस्मिन्निसर्गसुगमद्मनि ।
श्मशाने प्राणिसामर्थ्ये क्षिपस्याम शरीरकम् ॥४२॥
इत्युक्त्वा परिवारं तां मत्वा राजकुमारिका ।
तथैव चक्रे प्रापुश्च सिद्धिं परमां ततः ॥४३॥
एवं निजे शरीरेऽपि ममत्वं नास्ति धीमताम् ।
किं पुनः गतदारादिपरिग्रहतृणोत्करे ॥४४॥
इत्यादि स नृपः श्रुत्वा विहारे धर्मपाठकात् ।
कलिङ्गदत्तो नीत्वा स दिनं प्रायात् स्वमन्दिरम् ॥४५॥
तत्रानवाप्यमानस्य कन्याजन्मानया पुनः ।
स राजा गृहवृद्धेन केनाप्यूचे द्विजन्मना ॥४६॥
राजन् किं कन्यकाजन्मना परितप्यसे ।
पुत्रेभ्योऽप्युत्तमा कन्या शिवा लोके परत्र च ॥४७॥
राज्यलुब्धेषु का तेषु पुत्रेष्वास्था महीभुजाम् ।
ये भक्षयन्ति जनकं बत कर्कटका इव ॥४८॥
नृपास्तु कुन्तिभोजाद्याः कुन्त्यादितनयागुणैः ।
तीर्णा दु[illegible] प्रभृतिभ्यो महाभयम् ॥४९॥

यह सुनकर वह ऋषि बोला—देवि ऐसा न करो। वह राजा मेरे धर्म में सहायक है विरोधी नहीं॥३५॥

हे भगवति उसकी कृपा से मुझे क्षमा-धर्म मिला। यदि वह ऐसा न करे, तो किस पर क्षमा की जाय॥३६॥

मनस्वी जन इस नश्वर शरीर के लिए कोप नहीं करते। मित्र और शत्रु पर समान रूप से क्षमा करना ही ब्राह्मण का धर्म है ॥३७॥

इस प्रकार मुनि से कही गई और उसकी तपस्या से सन्तुष्ट वह देवी यति के अंगों को अक्षत (पूर्ण) करके अन्तर्धान हो गई॥३८॥

अतः जैसे वह राजा उस ऋषि का उपकारी बना उसी प्रकार आँखें उखाड़ लेने के कारण मेरे तप को बढ़ाकर हे माता तुमने बड़ी उपकार किया है'॥३९॥

ऐसा कहकर वह वशी भिक्षु प्रणाम करती हुई उस वैश्य-वधू के नम्र होने पर अपने सुन्दर शरीर का भी ध्यान न देकर सिद्धि के लिए चला गया॥४ ॥

यह कथा सुनकर राजकन्याएँ बोलीं—इसलिए चाम और सुन्दर होने पर भी नष्ट होने वाले शरीर पर क्या आग्रह? इसलिए प्राणिमात्र के प्रति उपकार करना ही एक मात्र बुद्धिमान् के लिए प्रशंसनीय कार्य है॥४१॥

इसलिए हम सातों कन्याएँ स्वाभाविक सुख के पर इस श्मशान में प्राणियों के उपकार के लिए सुख शरीर को दे रही हैं॥४२॥

अपने परिवारवालों को इस प्रकार कहकर उन सातों राजकुमारियों ने ऐसा ही किया और उससे परमसिद्धि प्राप्त की॥४३॥

बुद्धिमानों को अपने शरीर पर भी ममता नहीं होती। पुत्र-दारा आदि पाश-फूस की तो बात ही क्या॥४४॥

उस राजा ने विहार में धर्मोपदेशक से यह सब बातें सुनकर दिन व्यतीत किया और सायंकाल अपने भवन में आकर फिर भी कन्या-जन्म के शोक में मग्न हो गया। इतने पर घर के किसी बूढ़े ब्राह्मण ने आकर राजा से कहा—हे राजन्! कन्यारत्न के जन्म से क्यों इतना संतप्त हो रहे हो। कन्याएँ तो पुत्र से भी उत्तम होती हैं और इहलोक तथा परलोक में भी कल्याण देनेवाली होती हैं॥४५-४७॥

राज्य के लोभी पुत्रों में राजाओं का कैसा प्रेम जो मकड़ों के समान पिता को नोच खाते हैं॥४८॥

कुन्तिभोज आदि राजा कुन्ती आदि कन्याओं के कारण ही दुःसह दुर्वासा आदि के शोक से बच गये॥४९॥

फल यच्च सुतादानात् कृत पुत्रात् परत्र तत्।
सुलोचनाकथामत्र किञ्च मत्तो निशम्यताम् ॥५०॥

सुषेणनृपते कथा

आसीद्राजा सुषेणाख्यश्चित्रकूटाचले युवा।
कामोऽन्य इव यो धात्रा निर्मितस्त्र्यम्बकेर्ष्यया ॥५१॥
स चक्रे दिव्यमारामं मूले तस्य महागिरेः।
सुराणां नन्दनोद्यानवासवैरस्यदायिनम् ॥५२॥
तन्मध्ये च चकारैकां वापीमुत्फुल्लपङ्कजाम्।
लक्ष्मीलीलारविन्दानां नवाकरमहीमिव ॥५३॥
तस्यास्तस्थौ स सद्रत्नसोपानायास्तटे सदा।
पत्नीनां स्वानुरूपाणामभावादवधूसखः ॥५४॥
एकदा तेन मार्गेण नभसा सुरसुन्दरी।
रम्भा जम्भारिभवनादाजगाम यदृच्छया ॥५५॥
सा तं ददर्श राजानं तस्मिन्नुद्याने विहारिणम्।
साक्षान्मधुमिवोत्फुल्लपुष्पकाननमध्यगम् ॥५६॥
वापिकापद्मपतितां दिवोऽन्यां पतितां श्रियम्।
चन्द्रः किमेष नैतद् वा श्रीरस्य ह्यनपायिनी ॥५७॥
नूनं पुण्येपुरुद्यानं पुष्पेच्छुः सोऽयमागतः।
किं तु सा रतिरेतस्य क्व गता सहचारिणी ॥५८॥
इत्यौत्सुक्यकृतास्थ्या सावतीर्य नभोन्तरात्।
रम्भा मानुषरूपेण राजानं तमुपागमत् ॥५९॥
उपेतां तां च सहसा दृष्ट्वा राजा सविस्मयः।
अचिन्तयदहो केयमसम्भाव्यवपुर्भवेत् ॥६०॥
न तावन्मानुषी येन पादौ नास्य रजःस्पृशौ।
न चक्षुः सनिमेषं वा तस्माद्दिव्यैव काप्यसौ ॥६१॥
प्रष्टव्या तु मया नयं पलायेत हि जातुचित्।
रतिभेदासहा प्रायो दिव्या कारणगह्वरा ॥६२॥
इति ध्यायन् स नृपतिः कृतसम्भाषणस्तया।
तत्क्षणमेव तरसा तत्सङ्गमादप्यमाप्तवान् ॥६३॥

कन्यादान से परलोक में जो सुख मिलता है वह पुत्रों से कहाँ मिल सकता है?

राजा सुषेण और सुलोचना की कथा

मैं इस सम्बन्ध में सुलोचना की कथा कहता हूँ सुनो॥५०॥

चित्रकूट[1] पर्वत पर सुषेण नाम का एक युवा राजा था। उसे ब्रह्मा ने मानों शिवजी की ईर्ष्या से नवीन कामदेव के समान निर्मित किया था। उस राजा ने उस विशाल पर्वत की तलहटी में एक सुन्दर उद्यान बनवाया जो देवताओं के नन्दन वन के विहार में विरसता उत्पन्न करता था। अर्थात् उसने अपनी सुन्दरता से नन्दन वन को भी तिरस्कृत कर दिया था॥५१-५२॥

उस उद्यान के मध्य उस राजा ने विकसित कमलों वाली एक सुन्दर बावली बनवाई थी जो मानों लक्ष्मी के लीला कमलों के लिए नये खजाने के समान थी॥५३॥

स्वच्छ रत्नों से बनी हुई सीढ़ियोंवाली उस बावली के किनारे पत्नियों के अभाव में वह अकेला ही बैठा रहता था। एक बार उसी के आकाशमार्ग से जाती हुई रम्भा इन्द्र-भवन में अकस्मात् वहाँ आ गई॥५४-५५॥

रम्भा ने उद्यान में बैठे हुए राजा को इस प्रकार देखा मानों प्रफुल्ल पुष्प-वन में मूर्तिमान् वसन्त विराजमान हो॥५६॥

उसे देखकर रम्भा सोचने लगी बावली के कमलों पर गिरी हुई क्या यह स्वर्ग की लक्ष्मी है?[2] अथवा साक्षात् चन्द्रमा है? क्या यह इसकी स्थायी शोभा है अथवा पुष्पधन्वा कामदेव स्वयं ही पुष्प-चयन करने यहाँ उपस्थित हुआ है। किन्तु यदि वह है तो उसकी सहचारिणी रति यहाँ कहाँ है। उत्सुकता के कारण इस प्रकार तर्क-वितर्क करती हुई रम्भा मनुष्य के रूप में राजा के समीप आई॥५७-५९॥

समीप आई हुई उसे देखकर राजा सोचने लगा कि यह असम्भव शरीरवाली कौन स्त्री है? यह मानुषी तो नहीं है क्योंकि इसके चरण भूमिस्पर्श नहीं करते और आँखें भी अपलक हैं। अतः यह अवश्य ही कोई दिव्या स्त्री है॥६०-६१॥

पूछने पर कदाचित् यह भाग न जाय इसलिए इससे पूछना नहीं चाहिए। कारण ये मंदत दिव्य स्त्रियाँ प्रायः रति का भेद (रहस्य सुलभता) सहन नहीं करती॥६२॥

ऐसा सोचते हुए उस राजा ने उससे बात करते हुए सहसा उसी समय उसे गले से लगा लिया॥६३॥

---

१ किसी-किसी पुस्तक में त्रिकूटाचल पर्वत का नाम आया है। यह हिमालय का एक भाग है, जिसके शिखर, सोने चाँदी और लोहे के बने हुए हैं। श्रीमद्भागवत के आठवें स्कन्ध में इसका वर्णन है।

२ इस वाक्य में ससन्देहालंकार है।

चिक्रीड च चिरं सोऽत्र साकमप्सरसा तया ।
दिव सापि न सस्मार रम्यं प्रेम न जन्मम् ॥६४॥
तस्तत्सीयक्षिणीवृष्टैरपूरि स्वर्णराशिभि ।
सास्यभूमिर्नरेन्द्रस्य द्यौर्मेरुक्षिखरैरिव ॥६५॥
कालेन चास्य राज्ञ सा सुषेणस्य वराप्सरा ।
असूतानन्यसदृशीं धृतगर्भा सती सुताम् ॥६६॥
प्रसूतमात्रैव च सा जगादैनं महीपतिम् ।
राजशापोऽयमीदृङ्मे क्षीणो जात स चाधुना ॥६७॥
अहं हि रम्भा नाकस्त्री त्वयि दृष्टेऽनुरागिणी ।
जाते च गर्भे मुक्त्वा त गच्छामस्तत्क्षणं वयम् ॥६८॥
समयो हीदृशोऽस्माक तद्रक्षे कन्यकामिमाम् ।
एतद्विवाहान्नाके नौ भूयो भावी समागम ॥६९॥
एवमुक्त्वाप्सरा रम्भा विवशा सा तिरोदधे ।
तद्दु खाच्च स राजाभूत्तदा प्राणव्ययोद्यत ॥७ ॥
निरास्थेनापि किं त्यक्त विश्वामित्रेण जीवितम् ।
मेनकायां प्रयातायां प्रसूयैव शकुन्तलाम् ॥७१॥
इत्यादि सचिवैरुक्तो ज्ञातार्थ स नृपो धृतिम् ।
शनैरावत्त कन्या च पुन सङ्गमकारणम् ॥७२॥
तां च बालां सवेकाग्र पिता सर्वाङ्गसुन्दरीम् ।
सोऽखिलोचनसौन्दर्यभिन्नाम्ना चक्रे सुलोचनाम् ॥७३॥
कालेन यौवनप्राप्तामुद्यानस्थां ददर्श ताम् ।
युवा यदृच्छया भ्राम्यन्वत्साख्य काश्यपो मुनि ॥७४॥
स तपोराशिरूपोऽपि दृष्ट्वैवैतां नृपात्मजाम् ।
अनुरागरसज्ञोऽभूदिति चाग्र व्यचिन्तयत् ॥७५॥
अहो रूपं किमप्यस्या कन्याया परमाद्भुतम् ।
नेमां प्राप्नोति चेद् भार्यां किमन्यत्तपस फलम् ॥७६॥
इति ध्यायन् मुनियुवा स सुलोचनया तया ।
ददृशे प्रज्वलत्तेजा विधूम इव पावक ॥७७॥
तं वीक्ष्य सापि सप्रेमा साक्षसूत्रकमण्डलुम् ।
शान्तश्च कमनीयश्च कोऽयं स्यादित्यचिन्तयत् ॥७८॥

तदनन्तर वह राजा चिरकाल तक इस उद्यान में उस अप्सरा के साथ क्रीड़ा करता रहा। रम्भा भी स्वर्ग को भूल गई। सच है प्रेम प्यारा होता है, जन्मभूमि नहीं॥६४॥

जैसे आकाश सुन्दर के स्वर्ण-शृंगों से भर जाता है, उसी प्रकार रम्भा की सभी सखियों ने राजा की वह भूमि मान की वर्षा से भर दी॥६५॥

कुछ समय पश्चात् पुरुष के समागम से गर्भवती रम्भा ने असाधारण सुन्दरी कन्या उत्पन्न की॥६६॥

कन्या प्रसव करते ही रम्भा राजा से बोली—'राजन्, मुझे इतने दिनों का ऐसा शाप था। अब वह क्षीण हो गया। मैं रम्भा नाम की स्वर्गाङ्गना हूँ। तुम्हें देखने पर प्रेम से आकृष्ट हो गई थी। तदुपरान्त गर्भ हो जाने पर इसे यहीं छोड़कर अभी ही जा रही हूँ॥६७-६८॥

हमारी मर्यादा ही ऐसी है। तुम इस कन्या की रक्षा करना। इसके विवाह से स्वर्ग में हम दोनों का पुनः समागम होगा'॥६९॥

ऐसा कहकर वह विवश रम्भा अन्तर्धान हो गई। उसके वियोग-दुःख से राजा प्राण देने के लिए तैयार हो गया॥७०॥

इसी प्रकार शकुन्तला को उत्पन्न करके ही स्वर्ग चली गई। मेनका के लिए क्या विश्वामित्र ने प्राण दे दिये थे? मन्त्रियों की इस प्रकार की बातों से धैर्य दिलाया गया वह राजा किसी प्रकार धीरे-धीरे धैर्य रख सका और उस रम्भा से पुनर्मिलन की आशा के कारण उसने कन्या को ग्रहण किया॥७१-७२॥

उस सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या का राजा ने एकाग्रचित्त से पालन प्रारम्भ किया और उसके लोचनों के अत्यन्त सुन्दर होने के कारण उसका नाम सुलोचना रखा॥७३॥

क्रमशः यौवन में आई हुई और उद्यान में विचरण करती हुई उसे अकस्मात् कश्यप ऋषि के पुत्र वत्स ने देखा॥७४॥

तपोराशि होने पर भी वत्स मुनि उस कन्या का रूपरूपी प्रेमरस (आसव) रसिक होकर सोचने लगा॥७५॥

आह! इस बालिका का कैसा अद्भुत रूप है! यदि इसे पत्नी के रूप में प्राप्त न कर सकूँ तो मेरे तप का और दूसरा फल ही क्या होगा॥७६॥

इस प्रकार सोचते हुए उस मुनि वत्स को सुलोचना ने जलती हुई ज्वालाओं वाली निर्धूम अग्नि के समान देखा॥७७॥

उस मुनि को देखकर प्रेममयी वह कन्या भी स्फटिक-माला और कमण्डलु लिये हुए शान्त और सुन्दर यह युवक कौन है? इस प्रकार सोचने लगी॥७८॥

वरणार्थेव चोपेत्य नयनोत्पलमालिकाम् ।
क्षिपन्ती तस्य वपुषि प्रणाममकरोन्मुने ॥७९॥
पतिं समाप्नुहीत्यासीत्तस्यास्तेनाभ्यधीयत ।
सुरासुरवधूल्लङ्घ्यम मधाशावशात्मना ॥८०॥
ततोऽवामान्यतभ्रूपल्लोमलुण्ठितलज्जया ।
तयाप्यूचे स विनमद्वक्त्रया मुनिपुङ्गव ॥८१॥
एषा मदीच्छा भवतो नर्मालापो न चेदयम् ।
तदेष दाता नृपतिः पिता मे याच्यतामिति ॥८२॥
अथान्वय परिजना मुनिस्तस्या निशम्य सः ।
गत्वा नृप तत्पितरं सुपर्णं तामयाचत ॥८३॥
सोऽपि तं वीक्ष्य तपसा वपुषा चातिभमिगम् ।
उवाच रचिताातिथ्यो राजा मुनिकुमारकम् ॥८४॥
जातास्परसि रम्भायां कन्यैषा भगवन्मम ।
अस्या विवाहाभावे मे तया भावी समागम ॥८५॥
एव तया व्रजन्त्या द्यां रम्भयैव ममोदितम् ।
एतत्कथं महाभाग भवेदिति निरूप्यताम् ॥८६॥
तच्छ्रुत्वा मुनिपुत्रोऽसौ क्षणमेवमचिन्तयत् ।
किं पुरा मेनकोद्भूता सर्पदष्टा प्रमद्वरा ॥८७॥
यस्यायुषोऽर्धं मुनिना न भार्या रुरुणा कृता ।
त्रिशङ्कुः किं न नीतो द्यां विश्वामित्रेण लुब्धप ॥८८॥
तदिदं स्वतपोभागव्ययात् किं न करोम्यहम् ।
इत्यालोच्य न भारोऽयमित्युक्त्वा सोऽब्रवीन्मुनि ॥८९॥
हे देवतास्तपोंऽशेन मदीयनैष भूपतिः ।
सशरीरो दिवं यातु रम्भासम्भोगसिद्धये ॥९०॥
इत्युक्ते तेन मुनिना शृण्वन्त्यां राजसंसदि ।
एवमस्त्विति सम्पन्ना दिव्या वागश्रूयत ॥९१॥
ततः सम्भोगसमयमवलोकयपाय ताम् ।
दत्त्वाय तस्मै तनयां स राजा दिवमुद्ययौ ॥९२॥
तत्र दिव्यत्वमासाद्य तया शत्रनियुक्तया ।
स रेमे रम्भया सार्धं भूयो दिव्यानुभावया ॥९३॥

वरण करने के लिए ही मानों भेजकमलों की माला उसके शरीर पर डालती हुई कन्या सुलोचना ने उसे प्रणाम किया॥७९॥

सुर और असुरों के लिए भी असह्य कामदेव की माया से बच किये गये उसने भी पति को प्राप्त करो—ऐसे आशीर्वाद से उसका अभिनन्दन किया॥८ ॥

मुनि के असाधारण सौन्दर्य से लदी हुई अनपेक्ष लज्जा के कारण मुँह नीचे की हुई उस कन्या ने मुनि से इस प्रकार कहा—देव यदि यह आपकी सच्ची इच्छा है, हँसी या विनोद की बात नहीं है तो आप मेरे दाता पिता से मुझे माँगो॥८१॥

इसके पश्चात् उसका कुल गोत्र परिचय आदि पूछकर उस मुनि ने जाकर उसके पिता सुषेण से उसे माँगा ॥८२॥

उस राजा ने भी शरीर और तप से अत्यन्त उच्चकोटि पर पहुँचे हुए उस मुनिकुमार को देखकर उसका आतिथ्य—सत्कार करके कहा॥८३॥

'भगवन्! यह मेरी कन्या रम्भा नामक अप्सरा से उत्पन्न हुई है। इसके विवाह से स्वर्ग में मेरा और रम्भा का पुन समागम होगा॥८४॥

स्वग जाती हुई रम्भा ने ऐसा मुझसे कहा है—यह कैसे सम्भव हो इस पर आप विचार कीजिए'॥८५॥

यह सुनकर मुनि क्षण-भर के लिए विचारमग्न हो गया और सोचने लगा। क्या पहले समय मे मेनका से उत्पन्न अप्सरा प्रमद्वरा जब सांप के काटने से मर गई, तब रुरु ऋषि ने अपने मनुष्य का आधा भाग देकर उसे जीवित नहीं कर दिया था? क्या विश्वामित्र ने चांडाल त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग मे नहीं पहुँचा दिया था? तो क्या मैं अपने तप के कुछ भाग का व्यय करके यह कार्य नहीं कर सकता? ऐसा सोचकर मुनि ने राजा से कहा—'यह कोई बड़ा भार नहीं है ॥८६–८ ॥

हे देवगण यह राजा मेरे तप के अंश से रम्भा के साथ सम्भोग प्राप्त करने के लिए सशरीर स्वर्ग को जाय'॥ ॥

उस मुनि के ऐसा कहने पर और सारी सभा के सुनते रहने पर आकाशवाणी हुई—'ऐसा ही हो'॥ १॥

तब वह राजा उस सुलोचना नाम की कन्या को मुनि कम्प के लिए देकर स्वर्ग चला गया॥ २॥

वहाँ देवत्व प्राप्त करके इन्द्र द्वारा नियत की गई प्रभावशालिनी रम्भा के साथ वह रमण करने लगा॥ ३॥

इत्थं कृतार्थतां देव सुतेन प्राप कन्यया।
कन्या युष्मादृशां गेहेष्वीदृश्योऽवतरन्ति हि ॥९४॥
तदेषा कापि दिव्या ते जाता शापच्युता गृहे।
कन्या नूनमतो मा गाः शुचं तज्जन्मना विभो ॥९५॥
इति श्रुत्वा कथां राजा गृहवृद्धाद्द्विजन्मनः।
कलिङ्गदत्तो नृपतिर्विहाय चिन्तां तुतोष च ॥९६॥
तां स चक्रे निजसुतां नयनानन्ददायिनीम्।
नाम्ना कलिङ्गसेनेति बालामिन्दुकलोपमाम् ॥९७॥
सापि तस्य पितुर्गेहे राजपुत्री शनैः क्रमात्।
कलिङ्गसेना ववृधे वयस्यामध्यवर्तिनी ॥९८॥
विजहार च हर्म्येषु सा गृहेषु वनेषु च।
क्रीडारसमयस्येव लहरी शैशवाम्बुधे ॥९९॥

कलिङ्गसेना समीपे सोमप्रभाया आगमनम्

कदाचिदथ हर्म्यस्थां क्रीडासक्तां ददर्श ताम्।
मयासुरसुता यान्ती व्योम्ना सोमप्रभाभिधा ॥१००॥
सा तामालोक्य रूपेण मुनिमानसमोहिनीम्।
सोमप्रभा नभःस्थैव जातप्रीतिरचिन्तयत् ॥१०१॥
केयं निर्मेन्दवी मूर्तिः कान्तिस्तस्या दिवा कुतः।
रतिर्वा यदि कामः क्व कन्यका तदवैम्यहम् ॥१०२॥
अत्र राजगृहे कापि दिव्या शापच्युता भवेत्।
जाने जन्मान्तरे चाभून्नूनं सख्यं ममैतया ॥१०३॥
एतद्धि मे वदत्यस्यामतिस्नेहाप्लुतं मनः।
तद्युक्तं कर्तुमेतां मे स्वयंवरसखीं पुनः ॥१०४॥
इति सञ्चिन्त्य बालायास्तस्याः संत्रासशङ्कया।
सोमप्रभा सा गगनादलक्षितमवातरत् ॥१०५॥
मनुष्यकन्यकाभावमाश्रित्याश्वासकारणम्।
तस्याः कलिङ्गसेनायाः शनैरुपससर्प च ॥१०६॥
दिष्ट्या राजसुता कापि स्वयमभ्यद्भुताकृतिः।
असौ समागता पार्श्वमुचितेयं सखी मम ॥१०७॥
इति तद्दर्शनादेव विचिन्त्योत्थाय चादरात्।
कलिङ्गसेनाप्यालिङ्गत्सा तां सोमप्रभां तदा ॥१०८॥

इसी प्रकार ये दिव्य रमणियाँ तुम्हारे समान पुरुषों के घरों में अवतार लेती हैं।।९४।।

'हे देव सुषेण इसी प्रकार कन्या के कारण ही सफल हुआ। आपके समान उत्तम महा पुरुषों के यहाँ ऐसी ही कन्याएँ उत्पन्न होती हैं। अतः यह कन्या भी कोई दिव्य स्त्री है जो शापच्युत होकर तुम्हारे घर में उत्पन्न हुई है। इसलिए हे स्वामी! चिन्ता न करो'।।९५।।

इस प्रकार घर के वृद्ध ब्राह्मण द्वारा कही गई कथा को सुनकर राजा कलिंगदत्त चिन्ता छोड़कर प्रसन्न हुआ।।९६।।

उस राजा ने चन्द्रकला के समान आँखों को आनन्द देनेवाली उस कन्या का नाम कलिंगसेना रखा।।९७।।

यह राजकुमारी कलिंगसेना अपनी सखियों के साथ क्रमशः बड़ी होने लगी।।९८।।

क्रीड़ा करती बाल्यसमुद्र की लहरी के समान वह कन्या पिता के गृह में भवन में घरों में और उद्यानों में विहार करती थी।।९९।।

कलिंगसेना के पास सोमप्रभा का आगमन

एक बार वह कलिंगसेना राजभवन की छत पर खेल रही थी। उसी समय आकाश-पथ से जाती हुई मयासुर की बेटी सोमप्रभा ने उसे उड़ते-उड़ते देखा और दूर से देखते ही उससे उसका प्रेम हो गया।।१ १।।

सोमप्रभा उसे देखकर सोचने लगी 'क्या यह चन्द्रकला है? किन्तु दिन में उसकी इतनी कान्ति कहाँ! यदि यह रति है, तो काम कहाँ है? अतः यह अवश्य ही अभी कुमारी है ऐसा समझती हूँ।।१ २।।

सम्भव है कि कोई दिव्य स्त्री शाप से पतित होकर राजघराने में उत्पन्न हुई हो। मैं समझती हूँ कि पूर्वजन्म में इसकी और मेरी मित्रता रही है।।१ ३।।

क्योंकि अत्यन्त स्नेह से व्याकुल मेरा मन बरबस इसकी ओर खिंच रहा है। तो अब यह उचित है कि मैं इससे स्वयं मिलकर सखी के रूप में इसका वरण करूँ।।१ ४।।

सोमप्रभा यह सोचकर कि बालिका भयभीत न हो अप्रत्यक्ष रूप से नीचे उतर आई।।१ ५।।

उसके विश्वास के लिए वह मनुष्य-कन्या का रूप बनाकर धीरे-धीरे कलिंगसेना के पास पहुँची।।१ ६।।

'दैवयोग से यह कोई अद्भुत रूपवाली राजकुमारी मेरे पास आ रही है यह मेरी सखी होने के योग्य है'—ऐसा सोचकर उसे देखते ही वह कलिंगसेना भी उठकर उससे लिपट गई।।१ ७-१ ८।।

उपवेश्य च पप्रच्छ क्षपादन्वयनामनी।
वक्ष्यामि सव तिष्ठेति तां च सोमप्रमाब्रवीत् ॥१०९॥
तत कथाक्रमेणैव वाचा सख्यमबध्यत।
ताभ्यामुभाभ्यामन्योन्यहस्तग्रहपुरःसरम् ॥११०॥
अथ सोमप्रभावादीत्सखि त्वं राजकन्यका।
राजपुत्रै सम सख्य कृच्छादप्यतिवाह्यते ॥१११॥
अल्पेनाप्यपराधेन ते हि कुप्यन्त्यमात्रया।
राजपुत्रवणिक्पुत्रकथां शृण्वत्र वच्मि ते ॥११२॥

राजपुत्रवैश्यपुत्रयोः कथा

नगर्यां पुष्करावत्यां गूढसेनाभिधो नृप।
आसीत्तस्य च जातोऽभूदेक एव किलात्मज ॥११३॥
स राजपुत्रो दृप्त सन्नेकपुत्रतया शुभम्।
अशुभं वापि यच्चक्रे पिता तस्यासहिष्ट तत् ॥११४॥
भ्राम्यन्नुपवने जातु दृष्टस्तेनैकपुत्रक।
वणिजो ब्रह्मदत्तस्य स्वतुल्यविभवाकृति ॥११५॥
दृष्ट्वा च सद्य सोऽनेन स्वयवयस्सुहृत्कृत।
तत्रैव चैकरूपौ तौ जाता राजवणिक्सुतौ ॥११६॥
स्थातु न शेकतु क्षिप्रं तावन्योन्यमदर्शनम्।
आशु बध्नाति हि प्रेम प्राग्जन्मान्तरसंस्तव ॥११७॥
नोपभुङ्क्ते स्म त भोग राजपुत्र कदाचन।
वणिक्पुत्रस्य यस्तस्य नाग्रावेवोपकल्पित ॥११८॥
एकदा सुहृदस्तस्य निश्चित्योद्वाहमादित ।
अहिच्छत्रं विवाहाय स प्रतस्थे नृपात्मज ॥११९॥
मित्रेण तेन सार्धं च गजारूढ ससैनिक।
गच्छन्निक्षुमतीतीरं प्राप्य साय समावसत् ॥१२०॥
तत्र चन्द्रोदये पानमासेव्य शयन श्रित।
अर्थितो निजया धात्र्या कथां वक्तुं प्रचक्रमे ॥१२१॥
उपक्रान्तकथो जातु श्रान्तो मत्तश्च निद्रया।
धात्री च तद्वत्सोऽप्यासीन् स्नेहाज्जाग्रद्वणिक्सुत ॥१२२॥
तत सुप्तेषु जाग्रेषु स्त्रीणामिव मिथ कथा।
गगने शुश्रुवे तत्र वणिक्पुत्रेण जाग्रता ॥१२३॥

तदनन्तर उसे अपने पास बैठाकर उससे उसका कुल और नाम आदि पूछने लगी। उत्तर में सोमप्रभा ने कहा 'सब कहती हूँ ठहरो। एवंप्रकार उन दोनों की बात ही बात में मित्रता ही गई। यह मित्रता दोनों ने परस्पर हाथ से हाथ मिलाकर की॥१ ९ ११ ॥

तब सोमप्रभा ने कहा—'सखि तुम तो राजकुमारी हो। राजकन्याओं के साथ मित्रता करना कठिन काम है। वे लोग छोटे-से ही अपराध से अधिक रुष्ट हो जाते हैं। इस विषय में राजपुत्र और वैश्यपुत्र की कथा कहती हूँ सुनो॥१११ ११२॥

एक राजपुत्र और वैश्यपुत्र की कथा

पुष्करावती नगरी में गूढसेन नाम का राजा था। उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह घमंडी राजकुमार, जो भी भला या बुरा करता था राजा उसे सहन करता था क्योंकि वह उसका एकमात्र बालक था॥११३॥

किसी समय उद्यान में भ्रमण करते हुए राजकुमार ने अपने ही समान रूप और बलवाले उसे ब्रह्म नामक बनिये के पुत्र को देखा। उसे देखते ही राजकुमार ने स्वयं वरण किया हुआ मित्र बना लिया तभी से राजपुत्र और वैश्यपुत्र दोनों एकरूप (अभिन्न मित्र) ही गए॥११४ ११६॥

उन दोनों में एक दूसरे को देखे बिना नहीं रह सकता था। पूर्व जन्म का संचित प्रेम शीघ्र ही बाँध लेता है॥११७॥

राजपुत्र ऐसी किसी भी वस्तु का उपभोग नहीं करता था जिसके कि एक भाग को वैश्य पुत्र के लिए नहीं रख लेता था॥११८॥

एक बार उस मित्र का विवाह पहले ही निश्चित करके वह राजकुमार अपने विवाह के लिए अहिच्छत्रा नगरी को चला॥११९॥

उस मित्र के साथ हाथी पर सवार सैनिकों से युक्त राजकुमार यात्रा करते हुए सायंकाल इक्षुमती नदी के तट पर ठहर गया॥१२ ॥

वहाँ चन्द्रोदय होने पर मद्यपान करके शय्या पर लेटा हुआ राजकुमार, अपनी सेविका से प्रार्थना किये जाने पर कहानी सुनाने लगा॥१२१॥

नशे से आक्रान्त राजकुमार कहानी प्रारम्भ करते ही निद्रामग्न हो गया। किन्तु सेविका और वह वैश्यपुत्र दोनों स्नेह के कारण जागते रह गये॥१२२॥

तदनन्तर सब के सो जाने पर वैश्यपुत्र जागता रह गया और उसने आकाश में स्त्रियों की सी बातें सुनी॥१२३॥

अनाख्याय कथां सुप्तः पापोऽयं तच्छपाम्यहम्।
परिद्रक्ष्यत्यसौ हारं प्रातस्तं चेद् गृहीष्यति ॥१२४॥
कण्ठलग्नेन तेनैव तत्क्षणं मृत्युमाप्स्यति।
इत्युक्त्वा विररामैका द्वितीया च ततोऽब्रवीत् ॥१२५॥
अतो यद्ययमुत्तीर्णस्तद्द्रक्ष्यत्याम्रपादपम्।
वियोक्ष्यते फलान्यस्य सद्यः प्राणैर्विमोक्ष्यते ॥१२६॥
इत्युक्त्वा व्यरमत्तापि तृतीयाभिदधे ततः।
यद्येतदपि तीर्णोऽयं तद्विवाहकृते गृहम् ॥१२७॥
प्रविष्टस्यैतदेवास्य हर्म्यं पृष्ठे पतिष्यति।
उक्त्वेति न्यवृतत्सापि चतुर्थी व्याहरत्तदा ॥१२८॥
अतोऽपि यदि निस्तीर्णस्तत्तत्र वासवेश्मनि।
प्रविष्टः शतकृत्वोऽयं क्षुतं सद्यः करिष्यति ॥१२९॥
शतकृत्वोऽपि यद्यस्य जीवेति न वदिष्यति।
कश्चिदत्र ततश्चैव मृत्योर्वशमुपैष्यति ॥१३ ॥
येन चैव श्रुतं ह्यस्य रक्षार्थं यदि वक्ष्यति।
तस्यापि भविता मृत्युरित्युक्त्वा सा न्यवर्त्तत ॥१३१॥
वणिक्सुतश्च तत्सर्वं श्रुत्वा निर्घातदारुणम्।
स तस्य राजपुत्रस्य स्नेहोद्विग्नो व्यचिन्तयत् ॥१३२॥
उपक्रान्तामनाख्यातां धिक्कथां यद्रुषिता।
देवता श्रोतुमायाता शपन्त्यस्तु कुतूहलात् ॥१३३॥
सवेतस्मिन्मृते राजसुते कोऽर्थो ममासुभिः।
अतोऽयं रक्षणीयो मे युक्त्या प्राणसमः सुहृत् ॥१३४॥
वृत्तान्तोऽपि न वाच्योऽस्य मा भूद्दोषो ममाप्यतः।
इत्यालोच्य निशां निन्ये स कृच्छ्रेण वणिक्सुतः ॥१३५॥
राजपुत्रोऽपि स प्रातः प्रस्थितस्तत्सखः पथि।
ददर्श पुरतो हारं तमादातुमियेष च ॥१३६॥
ततोऽब्रवीद् वणिक्पुत्रो हारं मास्म ग्रहीः सखे।
मायेयमन्यथा नैतं पश्येयुः सैनिकाः कथम् ॥१३७॥

'यह दुष्ट राजपुत्र कहानी कहे बिना ही सो गया। अतः मैं इसे शाप देती हूँ कि यह प्रातःकाल एक हार देखेगा उसे देखकर यदि ले लेगा तो गले में डालते ही इसकी मृत्यु हो जायगी। इतना कहकर एक स्त्री चुप हो गई और दूसरी कहने लगी ॥१२४ १२५॥

'इससे भी यदि बच जाय तो आगे जाकर आम के एक वृक्ष को देखेगा यदि उसके फल तोड़ेगा तो इसके प्राण निकल जायँगे। ॥१२६॥

ऐसा कहकर जब दूसरी स्त्री चुप हो गई तब तीसरी ने कहना प्रारम्भ किया—'यदि इससे भी बच जाय तो जब यह विवाह के लिए घर में प्रवेश करेगा तब घर गिर जायगा और यह दब कर मर जायगा। तीसरी के इस प्रकार कहने पर चौथी बोली—॥१२७-१२८॥

'यदि इससे भी बच गया तो रात को शयनागार में जाकर यह सौ बार छींकेगा। उतनी ही बार हर छींक पर यदि कोई व्यक्ति 'जीओ' नहीं कहेगा तो यह मर जायगा। और, जिसने हमारी ये बातें सुनी हों तथा जो उसकी रक्षा के लिए उससे कह देगा उसकी भी मृत्यु हो जायगी। इतना कह लेने पर वह भी चुप हो गई ॥१२९ १३१॥

बनिये के पुत्र ने वज्रपात के समान भीषण वे बातें सुनीं और राजकुमार के स्नेह से व्याकुल होकर वह सोचने लगा ॥१३२॥

प्रारम्भ की गई और पूरी न कही गई ऐसी कहानी को धिक्कार है जिसे सुनने के लिए देवियाँ भी आईं और शाप देती हैं ॥१३३॥

तो मुझे इस राजपुत्र के मर जाने पर इन प्राणों से क्या प्रयोजन? इसलिए किसी भी उपाय से प्राणों के समान इस मित्र की रक्षा करनी चाहिए ॥१३४॥

उसे यह समाचार भी नहीं कहना है कि जिससे मेरी ही मृत्यु हो जाय। ऐसा सोचते सोचते वैश्यपुत्र ने रात्रि व्यतीत की ॥१३५॥

राजपुत्र भी प्रातःकाल उठकर उसके साथ मार्ग में चला। उसने सामने पड़े हुए हार को देखा और उसे लेने की इच्छा की ॥१३६॥

तब वैश्यपुत्र बोला— मित्र इसे मत लो। यह केवल मायाजाल है। नहीं तो इसे ये सैनिक क्यों नहीं देखते? ॥१३७॥

तच्छ्रुत्वा तं परित्यज्य गच्छन्नग्रे ददर्श सः ।
आम्रवृक्षं फलान्यस्य भोक्तुं चैच्छन्नृपात्मजः ॥१३८॥
वणिक्पुत्रेण च प्राग्वत्ततोऽपि स निवारितः ।
सान्त्वेनैव शनैर्गच्छन्प्राप श्वशुरवेश्म तत् ॥१३९॥
तत्रोद्वाहकृते वेश्म विशन्द्वाराभिवर्तितः ।
तेनैव सख्या यावच्च तावत्तत्पतितं गृहम् ॥१४०॥
ततः कथञ्चिदुत्तीर्णः किञ्चित्सप्रत्ययो निशि ।
निवासकं विवेशान्यं राजपुत्रो वधूसखः ॥१४१॥
तत्र तस्मिन्वणिक्पुत्रे प्रविश्यालक्षितस्थिते ।
श्रान्तः सुप्तः चक्रे शयनीयाश्रितोऽथ सः ॥१४२॥
सतत्कृत्योऽपि तस्मात्तु नीचाद्भीरत्युदीर्य सः ।
कृतकार्यो वणिक्पुत्रो हृष्टः स्वैरं बहिर्ययौ ॥१४३॥
निर्यान्तं तमपश्यच्च राजपुत्रो वधूसखः ।
ईर्ष्याविस्मृततत्स्नेहः क्रुद्धो द्वाःस्थानुवाच च ॥१४४॥
पापात्मायं रहःस्थस्य प्रविष्टोऽन्तःपुरं मम ।
तद्बद्ध्वा स्थाप्यतां यावत्प्रभातेऽसौ निगृह्यते ॥१४५॥
तद्बुद्ध्वा रक्षिभिर्बद्धो निशां निन्ये वणिक्सुतः ।
प्रातर्वध्यभुवं तैश्च नीयमानोऽब्रवीत्स तान् ॥१४६॥
आदौ नयत मां तावद्राजपुत्रान्तिकं यतः ।
वक्ष्यामि कारणं किञ्चित्ततः कुरुत मे वधम् ॥१४७॥
इत्युक्तैस्तेन तैर्गत्वा विज्ञप्तः स नृपात्मजः ।
सचिवैर्बोधितश्चान्यैस्तस्यानयनमादिशत् ॥१४८॥
आनीतः सोऽब्रवीत्तस्मै वृत्तान्तं राजसूनवे ।
प्रत्ययाद्गृहपातोत्थान्मेने सत्यं च सोऽपि तत् ॥१४९॥
ततस्तुष्टः समं सख्या वधमुक्तेन तेन सः ।
आययौ राजतनयः कृतदारो निजां पुरीम् ॥१५०॥
तत्र सोऽपि सुहृत्तस्य कृतदारो वणिक्सुतः ।
स्तूयमानगुणः सर्वजनैरासीद्यथासुखम् ॥१५१॥
एवमच्छद्मना भूत्या स्वामिभक्तप्रभाविनः ।
राजपुत्रा न मन्यन्ते हितं मत्ता गजा इव ॥१५२॥

यह सुनकर आगे जाने पर उसने आम का वृक्ष देखा और उसके फल खाने की इच्छा प्रकट की। वैश्यपुत्र ने पहले के ही समान उसे रोका। उससे मन-ही-मन खिन्न हुआ राजकुमार धीरे-धीरे श्वशुर-गृह में पहुँचा। वहाँ पर विवाह के लिए निर्मित गृह में प्रवेश करते हुए राजकुमार को वैश्यपुत्र ने रोक दिया। उसके रोकते ही वह मकान गिर गया ॥१३८–१४ ॥

वहाँ से किसी प्रकार बचकर निकला और कुछ विस्मित हुआ राजपुत्र रात को पत्नी के साथ दूसरे घर में गया। वहाँ भी वह वैश्यपुत्र छिपकर जा बैठा। राजकुमार पलँग पर बैठते ही छींकने लगा और सौ बार पलँग के नीचे छिपा हुआ वैश्यपुत्र सौ बार 'जीओ जीओ' कहता रहा। इस प्रकार अपना कार्य समाप्त कर के प्रसन्न वह वैश्यपुत्र धीरे से बाहर निकला ॥१४१–१४३॥

बाहर जाते हुए उसे वधू के साथ राजपुत्र ने देख लिया। फलतः ईर्ष्या से स्नेह को भुला कर क्रोधवेश में उसने द्वारपालों से कहा ॥१४४॥

'यह पापी एकान्त में मेरे शयनागार में घुस आया। इसलिए इसे रात भर बाँधकर रखो। प्रातःकाल इसे फाँसी दी जायगी' ॥१४५॥

यह सुनकर पहरेदारों द्वारा बाँधे हुए उस वैश्यपुत्र ने रात व्यतीत की। प्रातःकाल फाँसी पर ले जाये जाते हुए उसने सिपाहियों से कहा ॥१४६॥

'पहले मुझे उस राजपुत्र के समीप ले चलो मैं उसे कुछ कारण बताऊँगा तब मेरा वध करना' ॥१४७॥

उससे इस प्रकार कहे गये सिपाहियों मन्त्रियों एवं अन्य लोगों द्वारा समझाये जाने पर राजपुत्र ने उसे लाने की आज्ञा दी ॥१४८॥

वहाँ लाये गये बनिये के पुत्र ने राजकुमार से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। विवाहवाले घर के गिर जाने की घटना से विश्वास करके राजपुत्र ने उसकी बात सच मान ली ॥१४९॥

तब वध से मुक्त उस वैश्यपुत्र के साथ राजपुत्र अपनी पत्नी-सहित प्रसन्न चित्त से अपनी नगरी की ओर आया। वहाँ आकर वैश्यपुत्र भी विवाह करके सभी जनों से प्रशंसा किया जाता हुआ सुखपूर्वक रहने लगा ॥१५ –१५१॥

इसी प्रकार राजपुत्र मदोन्मत्त हाथी के समान अपने नियन्ता (महावत) की बातें न मान कर उसे भी मार डालते हैं और अपना हित नहीं समझते ॥१५२॥

वेतालैस्तैश्च का मैत्री ये विहस्य हरन्त्यसून्।
तद्राजपुत्रि सख्य मे मा स्म व्यभिचरः सदा॥१५३॥
इति श्रुत्वा कथामेतां हर्म्ये सोमप्रभामुखात्।
कलिङ्गसेना सस्नेहं तां सखीं प्रत्यभाषत॥१५४॥
एते पिशाचा न स्वते राजपुत्रा मता सखि।
पिशाचद्विप्रकथामहमाख्यामि ते शृणु॥१५५॥

पिशाचब्राह्मणयोः कथा

यज्ञस्वामाख्ये कोऽप्यासीदग्रहारे पुरा द्विजः।
स जातु दुर्गतः काष्ठान्याहर्तुमटवीं ययौ॥१५६॥
तत्र काष्ठं कुठारेण पाटयमानं विधेर्वशात्।
आपत्य तस्य जङ्घायां भित्त्वान्तः प्रविवेश तत्॥१५७॥
ततः स प्रस्रवद्रक्तो दृष्ट्वा केनापि मूर्च्छितः।
उत्क्षिप्यानीयत गृहं पुंसा प्रत्यभिजानता॥१५८॥
तत्र विह्वलया पत्न्या तस्य प्रक्षाल्य शोणितम्।
आश्वास्य तस्य जङ्घायां निबद्धो व्रणपट्टकः॥१५९॥
ततश्चिकित्स्यमानः सन् व्रणस्तस्य दिने दिने।
न परं न ररोहैव यावन्नाडीत्वमाययौ॥१६०॥
ततो नाडीव्रणात् खिन्नो दरिद्रो मरणोद्यतः।
अभ्येत्य सख्या विप्रेण केनापि जगदे रहः॥१६१॥
सखा मे यज्ञदत्ताख्यश्चिरं भूत्वातिदुर्गतः।
पिशाचसाधनं कृत्वा धनं प्राप्य सुखी स्थितः॥१६२॥
तच्च तत्साधनं तेन ममाप्युक्तं त्वमप्यतः।
पिशाचं साधय सखे स ते रोपयिता व्रणम्॥१६३॥
इत्युक्त्वाख्यातमन्त्रोऽस्मा उवाचास्य क्रियामिमाम्।
उत्थाय पश्चिमे यामे मुक्तकेशो दिगम्बरः॥१६४॥
अनाचान्तश्च मुष्टी द्वौ तण्डुलानां यथाक्षमम्।
द्वाभ्यामादाय हस्ताभ्यां जपन् गच्छेश्चतुष्पथम्॥१६५॥
तत्र तण्डुलमुष्टी द्वौ स्थापयित्वा ततः सखे।
मौनेनैव त्वमागच्छेर्मा वीक्षिष्ठाश्च पृष्ठतः॥१६६॥

उन वैतालों के साथ क्या मित्रता जो हँसते-हँसते प्राण ले लेते हैं। इसलिए हे राजपुत्री मेरी मित्रता में ऐसा विघ्न न करना॥१५३॥

भवन की छत पर सोमप्रभा से इस प्रकार की कथा सुनकर कलिंगसेना स्नेह के साथ सखी से कहने लगी॥१५४॥

सखि ये राजपुत्र पिशाच हैं राजपुत्र नहीं। इनको वश में रखना कठिन कार्य है। पिशाच को कठिनता से वश में रखने की एक कथा मैं तुम्हें सुनाती हूँ सुनो॥१५५॥

पिशाच और ब्राह्मण की कथा

पूर्वकाल में यज्ञस्थल नामक ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। वह कभी दुर्दशाग्रस्त होकर लकड़ियाँ लेने जंगल में गया॥१५६॥

वहाँ पर दैववश कुल्हाड़े से कटी जाती हुई लकड़ी का एक टुकड़ा उसकी जाँघ के भीतर घुस गया। रक्त निकल जाने के कारण बेहोश पड़े हुए उसे किसी परिचित व्यक्ति ने उठाकर घर पर लाकर रख दिया॥१५७—१५८॥

घर पर घबराई हुई उसकी पत्नी ने उसका रक्त धोकर उसकी जाँघ पर पट्टी बाँध दी। उसकी निरन्तर चिकित्सा करने पर भी वह घाव दिनों दिन बढ़ता ही गया और वह नाड़ी-व्रण (नासूर) बन गया॥१५९—१६ ॥

नाड़ीव्रण हो जाने के कारण खिन्न वह दरिद्र ब्राह्मण मरने को तैयार हो गया। तब उसके किसी मित्र ब्राह्मण ने आकर एकान्त में उससे कहा—'यज्ञदत्त नामक मेरा मित्र अत्यन्त निर्धन होकर भी पिशाच की साधना से धन प्राप्त करके सुखी हो गया। इस साधना को उसने मुझे भी बताया है। अतः तुम भी पिशाच की साधना करो वह तुम्हारे इस व्रण को भर देगा॥१६१—१६३॥

ऐसा कहकर उसने उसे मन्त्र बता दिया और उसकी साधना-क्रिया भी इस प्रकार बताई—'रात के पिछले पहर में उठकर केशों को खोलकर नंगे होकर, बिना स्नान किये ही दो मुट्ठी चावल दोनों हाथों में लेकर मन्त्र का जप करते हुए चौराहे पर जाना। वहाँ पर दो मुट्ठी चावल रखकर मौन होकर लौट आना और लौटते हुए पीछे नहीं देखना॥१६४—१६६॥

एवं कुरु सखा यावत् पिशाचो व्यक्ततां गतः।
अहं हि हन्मि ते व्याधिमिति त्वां वक्ष्यति स्वयम् ॥१६७॥
ततोऽभिनन्देस्त साऽस्य तव रोगं हरिष्यति।
इत्युक्तस्तेन मित्रेण स द्विजस्तत्तथाकरोत् ॥१६८॥
ततः सिद्धः पिशाचः स तस्यार्त्तस्य महौषधी।
हिमाचलेन्द्रादानीय रोपयामास तं व्रणम् ॥१६९॥
जगाद च प्रहृष्टं तं सोऽथ लग्नग्रहो द्विजम्।
देहि व्रणं द्वितीयं मे यावत्तं रोपयाम्यहम् ॥१७०॥
न चेत्सृजाम्यनर्थं ते शरीरं संहरामि वा।
तच्छ्रुत्वा स द्विजो भीतः सखो मुक्त्यै तमभ्यधात् ॥१७१॥
व्रणं द्वितीयं दास्यामि सप्तभिस्ते दिनैरिति।
ततस्तेनोज्झितः सोऽभूनिराशो जीविते द्विजः ॥१७२॥
इत्युक्त्वा विरता मध्यावस्थीलास्यानसञ्ज्ञया।
कलिङ्गसेना भूयः सावादीत्सोमप्रभामिदम् ॥१७ ॥
ततो व्रणान्तरामामावार्त्तं विप्रमुवाच तम्।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च दुहिता विवस्था मृतभर्तृका ॥१७४॥
वञ्चयेऽहं पिशाचं तं गच्छ त्वं ब्रूहि तं पुनः।
मद्दौहित्रो मद्दुहितुर्भवतारोप्यतामिति ॥१७५॥
तच्छ्रुत्वा मुदितो गत्वा तथैवोक्त्वा च स द्विजः।
अनैषीद्दुहितुस्तस्याः पिशाचं तं ततोऽन्तिकम् ॥१७६॥
सा च तस्य पिशाचस्य वराङ्गं स्वमदर्शयत्।
रोपयेमं व्रणं भद्र ममेति [ु]वती रहः ॥१७७॥
स च मूढः पिशाचोऽस्या वराङ्गे सततं ददौ।
पिण्डीलेपादि न त्वासीत्स तं रोपयितुं क्षमः ॥१७८॥
दिनैश्च विश्वस्तस्याः स कृत्वा जङ्घे मिथांसमा।
किंस्विग्म गहृष्टीरमव तद्वराङ्गं व्यलोकयत् ॥१७९॥
यावद्द्वितीयं तस्याथ स पायव्रणमैक्षत।
तं दृष्ट्वैव च सम्भ्रान्तः स पिशाचो व्यचिन्तयत् ॥१८ ॥

जबतक पिशाच प्रकट होकर स्वयं यह न कहे कि मैं तुम्हारे घाव को अच्छा कर देता हूँ तबतक बोलना नहीं। उसके कहने पर उसका अभिनन्दन करना वह तुम्हारा रोग अच्छा कर देगा'। मित्र के कहने पर उस ब्राह्मण ने ऐसा ही किया। फलतः वह पिशाच सिद्ध हो गया। तदनन्तर उसने हिमालय से औषधि लाकर उसके उस नाड़ीव्रण (नासूर) को अच्छा कर दिया। घाव के अच्छे हो जाने पर ग्रह के समान लगा हुआ वह पिशाच कहने लगा—'मुझे दूसरा घाव दो तो मैं उसे अच्छा करूँ॥१६७—१६९॥

अन्यथा मैं कोई अनर्थ कर डालूँगा या तुम्हें मार डालूँगा'। यह सुनकर उस भयभीत ब्राह्मण ने शीघ्र ही पीछा छुड़ाने के लिए कहा—'मैं सात दिनों में तुम्हें दूसरा घाव दूँगा'। इस प्रकार पिशाच से मुक्त वह ब्राह्मण जीवन के प्रति निराश हो गया॥१७०—१७२॥

इतना कहकर कलिंगसेना मध्य में ही अश्लील कथा भान के कारण लज्जा से चुप हो गई और सोमप्रभा से फिर कहने लगी॥१७३॥

दूसरा व्रण (घाव) मिलने में अत्यन्त पीड़ित अपने पिता को देखकर ब्राह्मण की चतुर और रसिका कन्या सब मर्म जानकर उससे बोली—'मैं उस पिशाच को ठग लूँगी। तुम उससे जाकर कह दो कि मेरी कन्या की नाड़ीव्रण (नासूर) है उसे भर दो'॥१७४—१७५॥

यह सुनकर प्रसन्न ब्राह्मण पिशाच से जाकर उसी प्रकार बोला और उसे अपनी कन्या के पास ले आया॥१७६॥

उस कन्या ने उस पिशाच को एकान्त में अपना गुप्तांग (जननेन्द्रिय) दिखाते हुए कहा इसे भर दो॥१७७॥

उस मूर्ख पिशाच ने उसके गुप्तांग पर औषधि लेप आदि अनेक प्रयोग किये किन्तु वह उसे भर न सका॥१७८॥

कुछ दिनों के पश्चात् जब जाकर उसने उस कन्या के दोनों पैर फैला कर उसे नीचे झुककर देखता था कि यह व्रण भरा या नहीं तो उसने इसके नीचे ही उसे दूसरा व्रण (मलद्वार) दिखाई पड़ा। इसे देखकर परेशान हुआ वह पिशाच सोचने लगा॥१७९—१८०॥

एको न रोपितो यावद्वुत्पन्नोऽन्य व्रणोऽपर ।
सत्य प्रवादो यच्छिद्रेष्वनर्था यान्ति भूरिताम् ॥१८१॥
प्रभवन्ति यतो लोका प्रलय यान्ति येन च ।
ससार वर्त्म विवृत क पिबातु तदीश्वर ॥१८२॥
इत्यालोच्य विरुद्धार्थसिद्धया मन्मनशङ्कया ।
स पिशाचस्ततो मूर्ख पलाय्यादर्शन ययौ ॥१८३॥
एव च बन्धमित्वा त पिशाच मोचितस्तया ।
दुहित्रा स द्विजस्तस्थौ रोगोत्तीर्णो यथासुखम् ॥१८४॥
इत्थ पिशाचास्तत्तुल्या बाला राजसुताश्च ये ।
ते सिद्धा अप्यनर्थाय सखि रक्ष्यास्तु बुद्धिभि ॥१८५॥
राजपुत्र्य कुलीनास्तु नैतादृश्य श्रुता क्वचित् ।
अतोऽन्यथा न भाव्य ते सखि मरसङ्गत प्रति ॥१८६॥
एव कलिङ्गसेनाया मुखाच्छ्रुत्वा यथाक्रमम् ।
सहासचित्रमधुर सोर्य सोमप्रभा ययौ ॥१८७॥
इतो मे षष्टियोजन्यां गृहं याति च वासर ।
चिरं स्थितास्मि सत्तन्वि यामीत्यैतामुवाच च ॥१८८॥
ततोऽस्तगिरिशेखरं व्रजति वासरेशे शनै
सखीं पुनरुपागमप्रणयिनी समापृच्छ्य ताम् ।
क्षण जनितविस्मया गगनमार्गमुत्पत्य सा
जगाम वसतिं निजां प्रसममत्र सोमप्रभा ॥१८९॥
विलोक्य च तदद्भुतं बहुवितर्कमत्यद्भुतम्
प्रविश्य समचिन्तयत् किल कलिङ्गसेना च सा ।
न वेद्मि किमसावहो मम सखी हि सिद्धाङ्गना
भवति मयवाप्सरा किमथवापि विद्याधरी ॥१९०॥
दिव्या तावदियं भवत्यवितथं व्योमाप्रसञ्चारिणी
दिव्या यान्ति च मानुषीभिरसमस्नेहाहृता सङ्गतिम् ।
मेजे किं नृपते पृथोस्तनयया सख्यं न साऽरुन्धती
तत्प्रीत्या,पृथुरानिनाय सुरभिं स्वर्गान्न किं भूतले ॥१९१॥
तत्प्रीत्यापनतो न किं पुनरसौ भ्रष्टोऽपि यातो दिवं
सम्भूतादत्र तत्र प्रभूतयविकम्पगावो न किं भूतल ।
तद्धन्यास्मि शुभोदयाद्नुपनता दिव्या सखीयं मम
प्रातश्चान्वयनामनी मुनिपुणं प्रक्ष्यामि तामागताम् ॥१९२॥

अभी तक एक बाघ तो मरा नहीं तबतक यह दूसरा बाघ उत्पन्न हो गया। यह कहावत सच है कि छिद्रों में अधिक अनर्थ होते हैं। जिस संसार-मार्ग से लोग जाते हैं और नष्ट होते हैं भला उस संसार-मार्ग को कौन बन्द कर सकता है। ऐसा सोचकर और उल्टा अपराध बढ़ने और पकड़े जाने की शंका से वह मूर्ख पिशाच भागकर अन्तर्धान हो गया ॥१८१—१८३॥

इस प्रकार कन्या द्वारा ठगाकर उस पिशाच से छुड़ाया हुआ वह नीरास ब्राह्मण सुख पूर्वक रहने लगा ॥१८४॥

पिशाच ऐसे होते हैं। इसी प्रकार बालक राजपुत्र भी होते हैं। वे सिद्ध होकर भी अनर्थकारी होते हैं। उनसे बचने के लिए बुद्धि द्वारा अपनी रक्षा करनी चाहिए। किन्तु कुलीन राजपुत्रियाँ ऐसी कहीं सुनी नहीं गईं। इसलिए हे सखि मेरी संगति (मैत्री) के सम्बन्ध में तुम कभी कुछ विरुद्ध बात न समझना ॥१८५—१८६॥

कलिङ्गसेना के मुँह से हास्य अद्भुत और मधुर रस से पूर्ण इस प्रकार की कहानी सुनकर सोमप्रभा प्रसन्न हुई ॥१८७॥

और कहने लगी सखि! मेरा घर यहाँ से साठ योजन (२४ कोस) पर है। दिन छिप रहा है। बहुत देर तक यहाँ रुक गई। अतः अब जाती हूँ ॥१८८॥

धीरे-धीरे सूर्य के अस्ताचल पर्वत शिखर की ओर जाने पर, फिर आने की उत्कंठा रखती हुई सखी कलिङ्गसेना को पूछकर क्षण-भर के लिए चकित करती हुई वह सोमप्रभा अपने घर को चली गई ॥१८९॥

इधर वह कलिङ्गसेना भी घर के कमरे में जाकर सोमप्रभा के आश्चर्य और विविध कौतुक पूर्ण सम्बन्ध में सोचने लगी कि म सूम नहीं यह मेरी सखी सोमप्रभा क्या कोई सिद्ध नारी है या अप्सरा है अथवा विद्याधरी है ॥१९ ॥

आकाश में सञ्चरण करनेवाली यह अवश्य ही कोई दिव्य स्त्री है। दिव्य स्त्रियाँ भी मानव-स्त्रियों के साथ असाधारण स्नेह और मित्रता रखती हैं। क्या पूर्व समय में राजा पृथु की कन्या के साथ दिव्य अरुन्धती की मित्रता नहीं थी उसी के प्रेम से राजा पृथु कामधेनु गौ को पृथ्वी पर नहीं लाया? ॥१९१॥

उस कामधेनु का दूध पीने से ही क्या पृथु राजा भ्रष्ट होने पर भी फिर स्वर्ग नहीं गया? तब से लेकर पृथ्वी पर निरन्तर गायों की सृष्टि नहीं हुई? इसलिए मैं भी धन्य हूँ। किसी भावी लाभ फल के लिए ही यह दिव्य कन्या मेरी सखी बनी है। अब प्रातःकाल उसके आने पर भली-भाँति उसके कुल नाम आदि का पता मालूम करूँगी ॥१९२॥

इत्यादि राजतनया हृदि चिन्तयन्ती
तां यामिनीमनयदत्र कलिङ्गसेना।
सोमप्रभा च निजवेश्मनि भूय एव
तद्दर्शनोत्सुकमना रजनीं निनाय॥१९३॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे।
मदनमञ्चुकालम्बके द्वितीयस्तरङ्गः।

तृतीयस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनाया कथा (पूर्वतोऽनुवृत्ता)

ततः सोमप्रभा प्रातस्तद्विनोदोपपादिनीम्।
न्यस्तदारुमयानेकमायासयन्त्रपुत्रिकाम् ॥१॥
करण्डिकां समादाय सा नभस्तलचारिणी।
तस्याः कलिङ्गसेनाया निकटं पुनराययौ॥२॥
कलिङ्गसेनाप्यालोक्य तामानन्दाश्रुनिर्भरा।
उत्थाय कण्ठे जग्राह पार्श्वासीनामुवाच च॥३॥
त्वदीयमुखपूर्णेन्दुदर्शनेन विना सखि।
तमोमयी त्रियामाद्य घातयामेव मे गता॥४॥
तज्जन्मान्तरसम्बन्धः कीदृशः स्यात्त्वया मम।
यस्यायं परिणामोऽद्य त्वं देवि! वेत्सि चेद् वद॥५॥
तच्छ्रुत्वा राजपुत्रीं तामेवं सोमप्रभाब्रवीत्।
ईदृशं मे नास्ति विज्ञानं नहि जातिं स्मराम्यहम्॥६॥
न चात्र मनयोऽभिज्ञाः केचित्तु यदि जानते।
तैः कृतं तादृशं पूर्वं परतत्त्वविदश्च ते॥७॥
एवमुक्तवतीं भूयः प्रेमविश्रम्भपेशलम्।
कलिङ्गसेना पप्रच्छ विजने तां सुरस्मिता॥८॥
ब्रूहि मे सखि कस्येह दक्षजाते पितुस्त्वया।
जन्मनालङ्कृतो वंशो मुक्तयेव सुवृत्तया॥९॥
जगत्कर्णामृतं किं च तव नाम सलक्षणे।
करण्डिका किमर्थेयमस्यामस्ति च वस्तु किम्॥१ ॥

यह राजकुमारी कलिंगसेना इस प्रकार की विविध बातें सोचती-सोचती कठिनाई से रात व्यतीत कर सकी। उधर सोमप्रभा ने भी राजकुमारी के पुनर्दर्शन की लालसा में उत्कंठित रहकर रात बिताई॥१९३॥

मदनमंचुका लम्बक का दूसरा तरंग समाप्त

तीसरा तरंग

कलिंगसेना का वृत्तान्त क्रमशः

तदनन्तर प्रातःकाल होते ही सोमप्रभा ने सखी के मनोविनोद के लिए एक डोलची में लकड़ी की पुतलियाँ तथा विविध प्रकार के यन्त्रमय खिलौनों को सजाया और उसे साथ लेकर आकाश में विहार करती हुई वह राजकुमारी कलिंगसेना के घर पर पहुँची॥१-२॥

कलिंगसेना भी उसे आती हुई देखकर आनन्द के आँसुओं से भरी हुई उठकर उसके पास गई और उसे गले लगाकर पास में बैठाकर कहने लगी—हे सखि! तुम्हारे मुख-रूपी पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन के बिना आज की मेरी काली त्रियामा (तीन प्रहरोंवाली रात) शतयामा (सौ प्रहरोंवाली रात) के समान व्यतीत हुई॥३-४॥

न जाने तुम्हारे साथ मेरा पूर्वजन्म का कौन-सा सम्बन्ध है जिसका कि यह परिणाम है। हे देवि यदि जानती हो तो कहो'॥५॥

यह सुनकर सोमप्रभा उस राजपुत्री से इस प्रकार कहने लगी—'मुझे इतना ज्ञान नहीं है। मैं पूर्वजन्म को स्मरण करनेवाली नहीं हूँ॥६॥

इस विषय को मुनि लोग भी नहीं जानते जो जानते भी हैं तो उन्होंने पूर्वजन्म में ऐसा ही पुण्य किया होगा कि जिससे वे दूसरों के पूर्वजन्म की बात जानते हैं॥७॥

इस प्रकार प्रेम और विश्वास से सोमप्रभा को मधुर कहती हुई कलिंगसेना ने एकान्त में कौतुक के साथ पूछा॥८॥

'हे मुग्धलोचने हे सखि यह तो बता कि सुन्दर चरित्रवाली तूने अपने जन्म से किस देवजाति के वंश को मोती के समान धन्य किया है। संसार के कानों के लिए सुनने में अमृत के समान तेरा नाम क्या है? इस बाँस की डोलची को क्यों लाई है और इसमें क्या वस्तु है॥९-१॥

तद्बुद्ध्वा च ततस्तस्या जननी रोगशङ्किनी।
आनन्दाख्येन भिषजा निरूप्याविकलोदिता ॥२४॥
कुतोऽपि हेतोर्हर्षेण नष्टास्या क्षुन्न रोगतः।
उत्फुल्लनेत्रं पश्यैतदस्या हृष्टमिवाननम् ॥२५॥
इत्युक्ता भिषजा हर्षहेतुं तज्जननी च सा।
पप्रच्छ तां यथावृत्तं सापि तस्यै तदब्रवीत् ॥२६॥
ततः श्लाघ्यसखीसङ्गहृष्टां मत्वाभिनन्द्य च।
आहारं कारयामास जननी तां यथोचितम् ॥२७॥
अथान्येद्युरुपागत्य विदितार्था क्रमेण सा।
कलिङ्गसेना तामेव रहः सोमप्रभाभ्यधात् ॥२८॥
मया त्वत्सख्यमावेद्य त्वत्पार्श्वागमनेऽन्वहम्।
अनुज्ञा ज्ञानिनो भर्तुर्गृहीता विदितार्थया ॥२९॥
तस्मात्त्वमप्यनुज्ञाता पितृभ्यां भव साम्प्रतम्।
येन स्वैरं मया साकं निःशङ्का विहरिष्यसि ॥३०॥
एवमुक्तवती हस्ते तां गृहीत्वैव तत्क्षणम्।
कलिङ्गसेना स्वपितुर्मातुश्च निकटं ययौ ॥३१॥
तत्र नामान्वयाख्यानपूर्वं चैतामवर्णयत्।
पित्रे कलिङ्गदत्ताय राज्ञे सोमप्रभा सखीम् ॥३२॥
मात्रे च तारादत्तायै तथैवैतामवर्णयत्।
तौ च दृष्ट्वा यथाख्यानमेनामभिननन्दतुः ॥३३॥
ऊचतुश्चाकृतिप्रीतौ दम्पती तावुभौ तदा।
सत्कृत्य दुहितृस्नेहात्तां मयासुरसुन्दरीम् ॥३४॥
वत्से कलिङ्गसेनेयं हस्ते तव समर्पिता।
तदिदानीं यथाकाममुभे विहरतां युवाम् ॥३५॥
एतत्तयोर्वचो द्वे चाप्यभिनन्द्य निरीयतुः।
सह कलिङ्गसेना च सा च सोमप्रभा तदा ॥३६॥
जग्मतुश्च विहाराय विहारं राजनिर्मितम्।
आनिन्यतुश्च तां तत्र मायायन्त्रकरण्डिकाम् ॥३७॥
ततो यन्त्रमयं यक्षं गृहीत्वा प्राहिणोत्तदा।
सोमप्रभा स्वप्रयोगाद् बुद्धार्चानयनाय सा ॥३८॥
स यक्षो नभसा गत्वा दूरमध्वानमत्वनो।
आदाय मुक्तासद्रत्नहेमाम्बुरुहमञ्जनम् ॥३९॥

यह देखकर उसकी माता ने रोग की शंका से उसे आनन्द नामक वैद्य को दिखाया और आनन्द ने उसकी भली भाँति परीक्षा करके बताया ॥२४॥

'किसी अत्यन्त हर्ष के कारण इसकी भूख नष्ट हो गई रोग से नहीं। खिल-खिल नयनों-वाला हँसता हुआ इसका मुख भी यही बताता है ॥२५॥

ऐसा सुनकर उसकी माता ने उससे हर्ष का कारण पूछा तो उसने सारी घटना अपनी माता को सुना दी ॥२६॥

तदनन्तर अच्छी सहेली की मित्रता से प्रसन्न कलिंगसेना का अभिनन्दन करके माता ने मनचाहा भोजन कराया ॥२७॥

अनन्तर एक दिन इस घटना को जाननेवाली सोमप्रभा एकान्त में कलिंगसेना से मिलकर कहने लगी ॥२८॥

मैंने अपने सर्वज्ञ पति से तेरा सारा वृत्तान्त सुनाकर प्रति दिन तेरे पास आने की आज्ञा ले ली है ॥२ ॥

इसलिए तू भी अपने माता-पिता से आज्ञा लेकर मेरे यहाँ चलने की तैयारी कर। ऐसा होने पर तू भी मेरे साथ स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण कर सकेगी ॥३ ॥

ऐसा कहती हुई सोमप्रभा कलिंगसेना का हाथ पकड़कर उसे अपने माता-पिता के पास ले गई ॥३१॥

वहाँ जाकर उसने अपनी सहेली सोमप्रभा के नाम और कुल आदि का परिचय देते हुए अपने माता-पिता को दिखलाया ॥३२॥

माता तारादत्ता का भी उसे दिखाया और वे दोनों कलिंगसेना के कथनानुसार सोमप्रभा को देखकर प्रसन्न हुए ॥३३॥

सोमप्रभा की आकृति से प्रसन्न वे दोनों अत्यन्त स्नेह से सोमप्रभा का स्वागत-सत्कार करके बोले—'बेटी ! इस कलिंगसेना को हमने तुम्हारे हाथ सौंप दिया है। अब तुम दोनों अपनी इच्छानुसार खेलो' ॥३४-३५॥

उनके वचनों से प्रसन्न होकर सोमप्रभा और कलिंगसेना वहाँ से निकलीं ॥३६॥

तदनन्तर वह राजा द्वारा बनवाये गये विहार का विहार (सैर) करने चली और मायामय यन्त्रों की खोलची भी लाई। वहाँ विहार में सोमप्रभा ने मन्त्र के बने यक्ष को बुद्ध की पूजा का सामान लाने की आज्ञा दी। वह यक्ष सोमप्रभा के आज्ञानुसार लम्बा रास्ता तय करके रत्न मोती और सोने के कमल आदि लेकर आ गया ॥३७-३९॥

तेनाभिपूज्य सुगता मासयामास तत्र सा।
सोमप्रभा सनिलयान्सर्वाश्चर्यप्रदायिना ॥४०॥
तद्बुद्ध्वागत्य दृष्ट्वा च विस्मितो महिषीसख।
राजा कलिङ्गदत्तस्तामपृच्छद्यन्त्रचेष्टितम् ॥४१॥
सत सोमप्रभावादीद्राजन्नेतान्यनेकधा।
मायायन्त्रादिशिल्पानि पित्रा सृष्टानि मे पुरा ॥४२॥
यथा चैव जगद्यन्त्रं पञ्चभूतात्मक तथा।
यन्त्राद्येतानि सर्वाणि शृणु तानि पृथक पृथक ॥४३॥
पृथ्वीप्रधान यन्त्र यद्द्वारादि पिदधाति तत्।
पिहित तेन शक्नोति न चोद्घाटयितु पर ॥४४॥
आकारस्तोयय त्रोत्थ सजीव इव दृश्यते।
तेजोमय तु यन्त्र तज्ज्वाला परिमुञ्चति ॥४५॥
वातयन्त्रं च कुरुते चेष्टागत्यागमादिका।
व्यक्तीकरोति चालाप यन्त्रमाकाशसम्भवम् ॥४६॥
मया चैतान्यवाप्तानि तातात् किं त्वमृतस्य यत्।
रक्षक चक्रयन्त्रं तत्तातो जानाति नापर ॥४७॥
इति तस्या वदन्त्यास्तद्वच स्पृहयतामिव।
मध्याह्न पूर्यमाणानां शङ्खानामुदभूद्ध्वनि ॥४८॥
तत स्वोचितमाहार दातु विज्ञाप्य त नृपम्।
प्राप्यानुज्ञां विमाने तां सानुगां यन्त्रनिर्मिते ॥४९॥
कलिङ्गसेनामादाय प्रतस्थे गगनेन सा।
सोमप्रभा पितृगृहं ज्येष्ठाया स्वसुरन्तिकम् ॥५०॥
क्षणाच्च प्राप्य विन्ध्याद्रिवर्ति तत्पितृमन्दिरम्।
तस्या स्वयम्प्रभायाश्च पार्श्वं तामनयत्स्वस ॥५१॥
तत्रापश्यज्जटाजूटमालिनीं तां स्वयम्प्रभाम्।
कलिङ्गसेना रुद्राक्षमालां सा ब्रह्मचारिणीम् ॥५२॥
सुसिताम्बरसवीता हसन्तीमिव पार्वतीम्।
कामभोगमहाभोगगृहीतोग्रतप श्रियाम् ॥५३॥
सापि सोमप्रभाख्याता प्रणता तां नृपात्मजाम्।
स्वयम्प्रभा कृतातिथ्या सविभेजे फलाशन ॥५४॥

सति मुक्ता फलैरेतैर्जरा ते न भविष्यति।
विमाभिरस्य रूपस्य पद्मस्येव हिमाहृति ॥५५॥
एतदर्थमिह स्नेहादानीता भवती मया।
इति सोमप्रभा चैतां राजपुत्रीमभाषत ॥५६॥
तत कलिङ्गसेनात्र तान्यभुङ्क्त फलानि सा।
सद्यास्मृतरसासार सिक्ताङ्गीव बभूव च ॥५७॥
ददर्श च पुरोद्यान भ्रमन्ती तत्र कौतुकात्।
ससुवर्णाब्जवापीक सुधास्वादुफलद्रुमम् ॥५८॥
हैमचित्रखगाकीर्णं स मणिस्तम्भविभ्रमम्।
भित्तिवृद्धिकरं धूम्ये भित्तौ शून्यप्रतीतिम्‌ ॥५९॥
जले स्थलधिय कुर्वत्स्थले च जलधीकृत्।
लोकान्तरमिवापूर्व मयमायाविनिर्मितम् ॥६०॥
प्रविष्टपूर्व प्लवगै पुरा सीतागवेषिभि।
स्वयम्प्रभाप्रसादेन चिरात्सम्प्राप्तनिर्गमै ॥६१॥
ततस्तदद्भुतपुरप्रकामालोकविस्मिताम् ।
मजरामाजनीमूर्ता तामापृच्छ्य स्वयम्प्रभाम् ॥६२॥
कलिङ्गसेनामारोप्य यन्त्रे भूयो विहायसा।
सोमप्रभा तक्षशिलामानिनाय स्वमन्दिरम् ॥६३॥
तत्र सा तद्यथावस्तु पित्रो सर्वमवर्णयत्।
कलिङ्गसेना तौ चापि परं सन्तोषमीयतु ॥६४॥
इत्थं तयोर्द्वयो सख्योर्गच्छत्सु दिवसेष्वथ।
ऊचे कलिङ्गसेनां तामेव सोमप्रभैकदा ॥६५॥
यावन्न परिणीता त्व तावत्सख्य मम त्वया।
त्वद्भर्तृभवने पश्चान्मम स्यादागम कुत ॥६६॥
न दृश्यो हि सखीभर्ता नाङ्गीकार्यं कथञ्चन।
श्वश्रूकीव स्नुषाया श्वभूमांसानि खादति ॥६७॥
तथा च शृणु वक्ष्येऽतां कीर्तिसेनाकथां तव।
——— ——— ——— ——— — ॥६८॥

---

१ मूलपुस्तके त्रुटितोऽयं पाठः।

तब सोमप्रभा ने कहा—'सखि इन फलों के खाने से कमलिनी को नष्ट करनेवाली हिमवर्षा के समान तुम्हारे सुन्दर रूप को नष्ट करनेवाली वृद्धावस्था कभी नहीं आयेगी ॥५५॥

इसीलिए मैं तुम्हें यहाँ लाई हूँ। तब तुरन्त अमृतवर्षा से सींची हुई-सी कलिंगसेना ने उन फलों को खाया ॥५६॥

वहाँ कौतुक से घूमते हुए उसने उस नगर के उद्यान को देखा जिसमें सोने के कमलों से खिली हुई बावलियाँ थीं अमृत के समान स्वादिष्ठ फलोंवाले वृक्ष थे हंस आदि विचित्र पक्षियों से वह उद्यान भरा था। वह उद्यान शून्य में मणियों के स्तम्भों का भ्रम उत्पन्न कर रहा था और शून्य में दीवारों की कथा तथा दीवारों में शून्यता का भ्रम उत्पन्न कर रहा था। पानी में स्थल की और स्थल में पानी की प्रतीति उत्पन्न कर रहा था। मय दानव की माया से निर्मित इस प्रकार का वह नगर एक अपूर्व नवीन संसार के समान था ॥५८–९ ॥

इस नगर में किसी समय सीता को ढूंढते हुए वानर घुस आये थे किन्तु स्वयंप्रभा की कृपा से चिरकाल के पश्चात उन्हें बाहर निकलने का अवसर मिला था ॥६१॥

इस नगर को भली-भाँति देखने से चकित और वृद्धावस्था से मुक्त कलिंगसेना को लेकर और स्वयंप्रभा से आज्ञा लेकर, सोमप्रभा यन्त्रनिर्मित वायुयान द्वारा तक्षशिला को गई ॥६२–६३॥

वहाँ जाकर कलिंगसेना ने सब वृत्तान्त माता-पिता को सुनाया इससे वे दोनों और कलिंगसेना भी अत्यन्त सन्तुष्ट हुए ॥६४॥

इस प्रकार उन दोनों सखियों के मिलन जलने अनेक दिनों के बीतने पर एक बार सोमप्रभा ने कलिंगसेना से कहा ॥६५॥

जबतक तू विवाहित नहीं है तभी तक मेरी तेरी मित्रता है। फिर तेरे पतिगृह में चले जाने पर मेरी तेरी मित्रता कैसे रहेगी। मैं वहाँ कैसे आऊँगी ॥६६॥

सखी के पति को न देखना चाहिए और न उस पर प्यार ही करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि भेड़ के मांस को भेड़िये के समान सास बहू के मांस को खा जाती है। मैं इस सम्बन्ध में तुम्हें पतिव्रता की एक कथा सुनाती हूँ ॥६७-६८॥

कीर्तिसेनादेवसेनयोः कथा

पुरे पाटलिपुत्राख्ये धुर्यो धनवतां वणिक्।
नाम्ना यथार्थेन पुरा धनपालित इत्यभूत् ॥६९॥
कीर्तिसेनाभिधाना च तस्याजायत कन्यका।
रूपेणानन्यसदृशी प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रिया ॥७०॥
सा च तेन समानाय मगधेषु महर्द्धये।
देवसेनाभिधानाय दत्ताभूद् वणिजे सुता ॥७१॥
तस्य चातिसुवृत्तस्य देवसेनस्य दुर्जनी।
विपन्नजनकस्यासीज्जननी स्वामिनी गृहे ॥७२॥
सा स्नुषां कीर्तिसेनां तां पश्यन्ती पतिसम्मताम्।
क्रुधा ज्वलन्ती पुत्रस्य परोक्षमकदर्थयत् ॥७३॥
कीर्तिसेना च सा पत्युर्वक्तुं नैव शशाक तत्।
कष्टा हि कुटिलश्वश्रूपरतन्त्रवधूस्थितिः ॥७४॥
एकदा स पतिस्तस्या देवसेनो वणिज्यया।
गन्तुं प्रववृते बन्धुप्रेरितो वलभीं पुरीम् ॥७५॥
ततः सा कीर्तिसेना तं पतिमेवमभाषत।
इयच्चिरं मया नैतवार्यपुत्र तवोदितम् ॥७६॥
कदर्थयति मामेषा तवाम्बा त्वय्यपि स्थिते।
त्वयि तु प्रोषिते किं मे कुर्यादिति न वेद्म्यहम् ॥७७॥
तच्छ्रुत्वा स समुद्भ्रान्तस्तत्स्नेहात्सभयः शनैः।
देवसेनस्तदा गत्वा मातरं प्रणतोऽब्रवीत् ॥७८॥
कीर्तिसेनाधुना हस्ते तवाम्ब ! प्रस्थितस्य मे।
नास्या निःस्नेहता कार्या कुलीनतनया ह्यसौ ॥७९॥
तच्छ्रुत्वा कीर्तिसेनां तामाहूयोद्वर्तितेक्षणा।
सं देवसेनं माता सा तत्कालं समभाषत ॥८०॥
कृतं मया किं पृच्छैतामेव त्वां प्रेरयत्यसौ।
गृहभेदकरी पुत्र मम तु द्वौ युवां समौ ॥८१॥
श्रुत्वैतच्छान्तचित्तोऽभूत्तत्कृते स वणिग्वरः।
व्याजसप्रणयैर्वाक्यैर्जनन्या को न वञ्च्यते ? ॥८२॥

कीर्तिसेना की कथा

पाटलिपुत्र में धनिकों में श्रेष्ठ यथार्थ नामवाला धनपालित नाम का एक वणिक रहता था। उसकी कीर्तिसेना नाम की एक कन्या थी जो रूप में असाधारण और बनिये को प्राणों से भी अधिक प्यारी थी॥६९-७॥

धनपालित ने अपने ही समान धनी मगध के वैश्य देवसेन को वह कन्या दे दी॥७१॥

अत्यन्त सज्जन और सच्चरित्र देवसेन की माता बड़ी दुर्जन थी और देवसेन के पिता के मर जाने के कारण वही गृह-स्वामिनी थी॥७२॥

वह सास देवसेन की पत्नी अर्थात् अपनी बहू कीर्तिसेना से जलती रहती थी और पति के पीछे उसे कष्ट दिया करती थी॥७३॥

बेचारी कीर्तिसेना अपनी उस दुर्दशा को अपने पति से नहीं कह सकती थी। दुष्ट सास के वश में पड़ी हुई बहू की स्थिति अत्यन्त दुःखद होती है॥७४॥

एक बार उसका पति बन्धुओं की प्रेरणा से व्यापार करने के लिए वलभी नगरी को जाने के लिए उद्यत हुआ॥७५॥

तब कीर्तिसेना ने पति से कहा—आर्यपुत्र! इतने दिनों तक तो तुमसे मैंने नहीं कहा॥७६॥

जब माता (सास) तुम्हारे यहाँ रहते हुए मेरी दुर्दशा करती रहती है तब तुम्हारे परदेश जाने पर मुझ पर क्या-क्या अत्याचार करेगी यह मैं नहीं कह सकती'॥७७॥

यह सुनकर घबराया हुआ और उसके प्रेम में बँधा हुआ वैश्य अपनी माता को प्रणाम करता हुआ कहने लगा—॥७८॥

'माता मेरे जाने पर अब कीर्तिसेना तुम्हारे हाथ है। उससे बुरा व्यवहार न करना क्योंकि यह ऊँचे कुल की कन्या है॥७ ॥

यह सुनते ही ध्यारी बढ़ाकर माता देवसेन से बोली—॥८ ॥

'तू ही इससे पूछ! मैंने इसका क्या किया है। यह घर बिगाड़ तुम्हें उभाड़ती है और यह स्त्री हमारे घर में फूट डालनेवाली है। मेरे लिए तो तुम दोनों समान हो॥८१॥

यह सुनकर वह सज्जन वैश्य चुप हो गया। सच है, प्रेम और कपट से भरे हुए माता के वचन से कौन नहीं छला जाता॥८२॥

कीर्त्तिसेना तु सा तूष्णीमासीदुद्वेगसस्मिता।
देवसेनस्तु सोऽन्येद्यु प्रतस्थे वलभी वणिक ॥८३॥
ततस्तद्विरहक्लेशजुपस्तस्याः क्रमेण सा।
त माता कीर्त्तिसेनाया दासीः पार्श्वान्न्यवारयत् ॥८४॥
कृत्वा च गृहचारिण्या स्वचेट्या सह सविदम्।
आनाय्याभ्यन्तर गुप्त तां विवस्त्रां चकार सा ॥८५॥
पापे रहसि मे पुत्रमित्युक्त्वा सकचग्रहम्।
पादैर्दन्तैर्नखैश्चैतां चेट्या सममपाटयत् ॥८६॥
चिक्षेप चैनां भूगेहे सपिधाने दृढार्गले।
तत्रस्थेऽप्युद्धृताशेषपूर्वजातार्थसञ्चये ॥८७॥
न्यधाच्च तस्यास्तत्रान्त प्रत्यहं सा विनाशये।
पापा तादृगवस्थाया भक्तस्यार्धशरावकम् ॥८८॥
अचिन्तयच्च दूरस्थे पत्यावेव मृता स्वयम्।
इमां न्मृत्वाप्य यातेति वक्ष्यामि दिवसैरिति ॥८९॥
इत्थ भूमिगृहे क्षिप्ता श्वश्र्वा पापकृता तया।
सुखार्हा रुदती तत्र कीर्त्तिसेना व्यचिन्तयत् ॥९ ॥
आढ्य पति कुले जन्म सौभाग्यं साधुवृत्तता।
तदप्यहो मम श्वश्रूप्रसादादीदृशी विपत् ॥९१॥
एतदर्थं च निन्दन्ति कन्याजन्म बान्धवा।
श्वश्रूननन्दृसंत्रासमसौभाग्यादिदूषितम् ॥९२॥
इति शोचन्त्यकस्मात्सा कीर्त्तिसेना खनित्रकम्।
लेभेऽस्माद् भूगृहान्तरा मन शल्यमिवोद्धृतम् ॥९३॥
अयोमयेन तेनात्र सुरुङ्गां निचखान सा।
तावद्यावत्तयोत्तस्थे दैवात्स्वावासवेश्मनः ॥९४॥
ददर्श च प्रदीपेन प्राक्तनेनाथ तद्गृहम्।
अक्षीणेन कृतालोका धर्मेणेव निजेन सा ॥९५॥
आदायातश्च वस्त्राणि स्वं वर्ण च निशाक्षये।
निर्गत्यैव ततो गुप्तं जगाम नगराद् बहि ॥९६॥
एवंविधाया गन्तु मे न युक्त पितृवेश्मनि।
किं वक्ष्ये तत्र लोकश्च प्रत्येष्यति कथं मम ॥९७॥

घबराहट से मुस्कराती हुई कीर्तिसेना भी उस समय चुप रही। दूसरे दिन देवसेन वलभी को चला गया ॥८३॥

उसके चले जाने के पश्चात् विरह कष्ट से धर्मरहित कीर्तिसेना की सास ने धीरे-धीरे उसकी दासियों को निकाल दिया ॥८४॥

और, अपने घर की पुरानी दासी के साथ सलाह करके कीर्तिसेना को धोखे से कोठरी के अन्दर बुलाकर नंगी कर दिया और बोली—॥८५॥

'पापिन! मेरे लड़के को मुझसे अलग करती है'—ऐसा कहकर, उसके केश पकड़कर उस दासी की सहायता से लातों, घूसों, दाँतों और नखों से मारने, काटने और नोचने लगी ॥८६॥

और, उसे घर के उस तहखाने के अन्दर ढकेलकर, बाहर से लकड़ी की दृढ़ अर्गला से बन्द कर दिया, जिस तहखाने से पूर्वजों का सारा संचित धन निकाल लिया गया था ॥८७॥

दिन बीतने पर मिट्टी के एक पात्र में आधा पाव भात, वह उस बाला के लिए दिया करती थी ॥८८॥

उसे तहखाने में बन्द करके सास ने सोचा कि पति के दूर रहने पर यह इस प्रकार स्वयं मर जायगी, तो कुछ दिनों के बाद कहूँगी कि यह भाग गई ॥८९॥

इस प्रकार पापिन सास द्वारा तहखाने में बन्द की गई कीर्तिसेना सोचने लगी ॥९०॥

'मेरा पति धनी है और मैं स्वयं अच्छे और ऊँचे कुल में उत्पन्न हुई सौभाग्यवती हूँ और चरित्र भी शुद्ध है। फिर भी मुझे सास के प्रभाव से ऐसी विपत्ति भोगनी पड़ रही है ॥९१॥

ठीक है कि परिवारवाले दुर्भाग्यवश कन्या के जन्म की निन्दा करते हैं, क्योंकि कन्या-जीवन सास, ननद और विधवापन से दूषित हो जाता है' ॥९२॥

ऐसी सोचती हुई कीर्तिसेना को उस तहखाने में अकस्मात् एक खुरपी (भूमि खोदने का औजार विशेष) मिल गई, मानो वह निकला हुआ उसके हृदय का काँटा हो ॥९३॥

उस लोहे की खुरपी से वह तब तक सुरंग खोदती रही, जब तक वह अपने रहने के भवन में न निकल गई ॥९४॥

तदनन्तर उस सुरंग-पथ से अपने कमरे में निकली हुई कीर्तिसेना ने वहाँ पहले से रखे हुए दीपक के सहारे उस घर को देखा, मानो उसने अपने बढ़े हुए धर्म के प्रकाश से उसे आलोकित कर दिया हो ॥९५॥

वहाँ से वह अपने वस्त्र और स्वर्णाभूषण आदि लेकर निशान्त (अत्यन्त प्रभात) में गुप्त रूप से निकलकर नगर से बाहर चली गई ॥९६॥

'ऐसी स्थिति में मुझे पिता के घर न जाना चाहिए—लोग क्या कहेंगे और कैसे विश्वास करेंगे?' ॥९७॥

अतः स्वयुक्त्या गन्तव्यं पत्युरेवान्तिकं मया।
इहामुत्र च साध्वीनां पतिरेका गतिर्यतः ॥९८॥
इत्यालोच्य चकारात्र तडागाम्बुकृताप्लवा।
राजपुत्रस्य वेषं सा कीर्तिसेना सुबृंहितम् ॥९९॥
ततो गत्वापणे दत्त्वा किञ्चिन्मूल्येन काञ्चनम्।
कस्यापि वणिजो गेहे दिने तस्मिन्नुवास सा ॥१ ॥
अन्येद्युस्तत्र चक्रे च वलभीं गन्तुमिच्छता।
समुद्रसेननाम्ना सा वणिजा सह संस्तवम् ॥१ १॥
तेन सार्धं समृत्येन प्राप्तुं प्राक्प्रस्थितं पतिम्।
सद्राजपुत्रवेषा सा प्रतस्थे वलभीं प्रति ॥१०२॥
जगाद तं च वणिजं गोत्रजैरस्मि बाधितः।
तत्त्वया सह गच्छामि वल्भीं स्वजनान्तिकम् ॥१०३॥
तच्छ्रुत्वा स वणिक्पुत्रो मार्गे परिचरन्स ताम्।
राजपुत्रो ध्रुवं भव्यः कोऽप्यसाविति गौरवात् ॥१ ४॥
ययौ च स वणिक्सार्थं पुरस्कृत्याटवीपथम्।
बहुशुल्कभयत्यक्तमार्गान्तरजनाश्रितम् ॥१०५॥
दिनैः प्राप्याटवीद्वारं सार्थं सार्धं कृतस्थितौ।
चक्रे कृतान्तदूतीव सायं भयकरं शिवा ॥१०६॥
तदभिज्ञे वणिग्लोके चौरापातात्तद्भुनि।
हस्ते गृहीतशस्त्रेषु सर्वतो रिपुरक्षिषु ॥१०७॥
ध्वान्ते धावति दस्यूनामग्रयायिवलोपमे।
कीर्तिसेना तदालोक्य पुरुषा सा व्यचिन्तयत् ॥१ ८॥
अहो दुष्कृतिनां कर्म मन्तामन्नैव वर्धते।
पश्य स्वयुक्त्या व्यापदिहापि फलिता मम ॥१ ९॥
प्रथमं मृत्युनवाहं श्वश्रूशापेन भक्षिता।
प्रविश्य भूगृहं पश्चाद् गर्भवासमिवापरम् ॥११०॥
दैवात्सतोऽपि निष्क्रान्ता जातेव पुनरप्यहम्।
इहायागत्य सम्प्राप्ता भूयो जीवितसंशयम् ॥१११॥
चौरैर्यदि हनाम्मीह तदद्यापि मम वैरिणी।
अस्यागता मता श्वश्रूरभियास्यति मे पतिम् ॥११२॥

इसलिए मुझे अपनी युक्ति से पति के पास ही जाना चाहिए क्योंकि पतिव्रताओं के लिए पति ही इस लोक में और परलोक में गति है॥९८॥

उसने ऐसा सोचकर वहीं तालाब में स्नान करके पूर्णरूप से राजपुत्र का वेश बनाया और बाजार में सोना बेचकर, उसका मूल्य लेकर उस दिन उसी नगर के किसी बनिये के घर मे रात्रि व्यतीत की॥९९॥

दूसरे दिन वलभी जाने के लिए उद्यत समुद्रसेन नामक वैश्य से उसने बात की और सेवक के साथ जाते हुए समुद्रसेन के साथ राजकुमार का वेष धारण की हुई कीर्तिसेना पहले गये हुए पति को प्राप्त करने के लिए वलभी को चली गई॥१०-१०२॥

अपना परिचय देती हुई वह उस वैश्य से कहने लगी कि 'कुटुम्ब के लोगों से तंग आकर तुम्हारे साथ अपने आत्मीय व्यक्ति के पास जा रहा हूँ' यह सुनकर उस वैश्यपुत्र ने भी 'यह कोई कुलीन और भद्र राजपुत्र है' ऐसा समझकर मार्ग में उसकी यथोचित सहायता की॥१०३-१०४॥

व्यापारी वैश्यों का वह दल मार्ग-शुल्क अथवा चुंगीकर की अधिकता से बचने के लिए उस मार्ग को छोड़कर अन्य जंगली मार्ग को पकड़कर, चलनेवाले अधिक व्यक्तियों के मार्ग से चला॥१०५॥

कुछ दिनों के पश्चात् वह दल घोर जंगल के मुहाने पर पहुँचकर ठहर गया। उसी समय यमराज की दूती के समान एक शृगाली ने भयंकर रूप से रोना प्रारम्भ किया॥१०६॥

उस अपशकुन को समझनेवाले वैश्य व्यापारियों ने चोर डाकुओं आदि के आक्रमण की शंका से सावधान होकर, रक्षकदल के सिपाहियों के शस्त्र लेकर तैयार हो जाने पर, डाकुओं की प्रथम सेना-पंक्ति के समान अंधकार के चारों ओर फैल जाने पर, पुरुषवेषधारिणी कीर्तिसेना सोचने लगी—॥१०७-१०८॥

पापियों के कर्म सन्ताप द्वारा बढ़ते हैं। अर्थात् उनके पापों का फल सन्ताप को भोगना पड़ता है। देखो सास द्वारा लाई गई विपत्ति इस समय मेरे प्रति फलित हो रही है॥१०९॥

मैं सबसे पहले मृत्यु के समान सास के क्रोध से खाई गई फिर दूसरे गर्भवास के समान तहखाने में बन्द की गई॥११०॥

दैववश पुनर्जन्म के समान वहाँ से निकली। अब आज यहाँ आकर पुनः जीवन के ही सन्देह मे पड़ गई॥१११॥

यदि मैं चोर डाकुओं द्वारा मारी गई तो मेरी वैरिन सास मेरे पति से कहेगी कि वह किसी पर आसक्त होकर घर से निकल गई थी॥११२॥

स्त्रीति ज्ञातास्मि केनापि धृतवस्त्रान्तरा यदि।
ततो मृत्युर्मम श्रेयान्न पुनः शीलविप्लवः॥११३॥
तेन चारमेव मे रक्ष्यो नापेक्ष्योऽयं सुहृद् वणिक्।
सतीधर्मो हि सुस्त्रीणां चिन्त्यो न सुहृदादयः॥११४॥
इति निश्चित्य सा प्राप चिन्वती तरुमध्यगम्।
गर्तं गृहाकृति दत्तं कूपमेवान्तरं भुवा॥११५॥
तत्र प्रविश्य चाच्छाद्य तृणपर्णादिभिस्तनुम्।
तस्थौ सा धार्यमाणा सा पतिसङ्गमवाञ्छया॥११६॥
ततो निशीथे सहसा निपत्यैवोद्यतायुधा।
चौरसेना सुमहती सार्थं वष्टपति स्म तम्॥११७॥
निनदद्दस्युकाकाभ्रं शस्त्रज्वालाचिरप्रभम्।
ततः सरुधिरासारं तथाभूद्युद्धदुर्दिनम्॥११८॥
हत्वा समुद्रसेनं च सानुगं तं वणिक्पतिम्।
वणिजोऽथ ययुश्चौरा गृहीतधनसम्पदा॥११९॥
तदा च कीर्तिसेना सा श्रुतकोलाहला बलात्।
यन्न मुक्तासुभिस्तत्र कारणं केवलो विधिः॥१२ ॥
ततो निशायां यातायामुदिते तिग्मतेजसि।
निर्जगाम च सा तस्माद् गर्ताद् विटपमध्यतः॥१२१॥
कामं भर्त्रेकभक्तानामविस्खलिततेजसाम्।
देवता एव साध्वीनां त्राणमापदि कुर्वते॥१२२॥
यत्तत्र निर्जनेऽरण्ये सिंहो दृष्ट्वापि तां जहौ।
न परं यावदभ्येत्य कुतश्चित्कोऽपि तापसः॥१२३॥
पृष्टोदन्ता समाश्वास्य जलपानं कमण्डलोः।
दत्त्वोपदिश्य पन्थानं तस्याः क्वापि तिरोदधे॥१२४॥
ततस्तृप्तामृतेनेव क्षुत्पिपासाविनाकृता।
तापसोक्तेन मार्गेण प्रतस्थे सा पतिव्रता॥१२५॥
अथास्तशिखरारूढं प्रसारितकरं रविम्।
रात्रिमेकां क्षमस्वेति वदन्तमिव वीक्ष्य सा॥१२६॥
महतोऽरण्यवृक्षस्य गृहाभं मूलकोटरम्।
विवेश पिदधे चास्य द्वारमन्येन दारुणा॥१२७॥

यदि वस्त्रों का हरण होने पर मेरे स्त्रीत्व का ज्ञान लोगों को हो गया तो इससे मेरी मृत्यु अच्छी होगी। चरित्र का नाश अच्छा नहीं ॥११३॥

इसलिए मुझे अपने चरित्र की ही रक्षा करनी चाहिए। इस वैश्यमित्र की नहीं। सतीत्व रक्षा ही स्त्रियों का मुख्य धर्म है मित्र आदि नहीं ॥११४॥

ऐसा निश्चय करके अपने बचाव के लिए स्थान ढूँढ़ते हुए उसने एक वृक्ष के बीच बना हुआ गुफा के समान एक गड्ढा देखा मानों कृपाकर पृथ्वी ने उसे छिपने के लिए स्थान दिया हो ॥११५॥

उसमें घुसकर और घास-पत्तों आदि से शरीर को ढँककर, पति मिलन की अभिलाषा रखती हुई वह वहाँ छिप गई ॥११६॥

तब आधी रात के समय शस्त्र-सज्जित डाकुओं की बड़ी सेना ने व्यापारियों के दल को घेर लिया ॥११७॥

फलतः वहाँ घोर वर्षाकाल के समान घमासान युद्ध छिड़ गया जिसमें चिल्लाते हुए डाकू काले बादलों के समान थे शस्त्रों के घर्षण से निकली हुई अग्नि विद्युत् का काम कर रही थी और रुधिर की घोर वर्षा हो रही थी ॥११८॥

अकस्मात् डाकू रक्षकों के साथ समुद्रसेन व्यापारी को मारकर उसका सारा धन और सामान लूटकर ले गये ॥११९॥

उस घमासान युद्ध के समय भीषण चीत्कार सुनकर भी कीर्तिसेना जो मरी नहीं उसमें केवल उसका भाग्य ही कारण था ॥१२ ॥

तब रात बीतने और सूर्य के उदय होने पर वह कीर्तिसेना वृक्ष के बीच के गड्ढे से बाहर निकली ॥१२१॥

पति की एकमात्र भक्ति और अपने सतीत्व के तेज की दृढ़ता से अपनी रक्षा करनेवाली पतिव्रताओं की आपत्ति में देवता अवश्य उनकी रक्षा करते हैं ॥१२२॥

क्योंकि उस निर्जन वन में शेर ने भी उसे देखकर छोड़ दिया किन्तु कहीं से आते हुए किसी तपस्वी ने उसे नहीं छोड़ा ॥१२३॥

तपस्वी ने उसका वृत्तान्त जानकर और उसे धैर्य प्रदान कर कमण्डलु से जल दिया तथा उसे आगे जाने का मार्ग बताकर वह कहीं अन्तर्हित हो गया ॥१२४॥

तब मानों अमृत-पान करके तृप्त हुई-सी पतिव्रता कीर्तिसेना भूख और प्यास से रहित हो गई और तपस्वी द्वारा प्रदर्शित पथ से मार्ग पर चली ॥१२५॥

कुछ मार्ग चलने पर 'एक रात और क्षमा करो' मानों कर (हाथ और किरण) फैलाकर इस प्रकार कहते हुए सूर्य के अस्त हो जाने पर वह एक विशाल जंगली वृक्ष में घर के समान बने हुए खोखले भाग में घुस गई और दूसरी लकड़ी से उसका द्वार बन्द कर दिया ॥१२६ १२७॥

प्रदोषकाल में उसने द्वार के छिद्र से झाँककर देखा कि एक भीषण राक्षसी छोटे-छोटे बच्चों के साथ आई॥१२८॥

उसे देखकर कीर्तिसेना जैसे ही यह सोचने लगी कि अन्यान्य सभी विपत्तियों से पार हो आज मैं इससे खाई जाऊँगी इतने में ही वह राक्षसी वृक्ष पर चढ़ गई॥१२९॥

उसके बच्चे भी उसके पीछे चढ़ गये और माँ से कहने लगे—'हम लोगों को कुछ भोजन दो'॥१३ ॥

तब वह राक्षसी उन छोटे बच्चों से बोली—'बेटा! मैंने महाश्मशान में जाकर भी आज कुछ भोजन नहीं पाया। डाकिनियों के दल से भी माँगा। इस दुःख से मैंने भैरव से भी प्रार्थना की॥१३१-१३२॥

उस भैरव ने मेरा नाम-गोत्र पूछकर यह आज्ञा दी कि 'हे भयंकरि, तू खरदूषण के वंश में उत्पन्न हुई और कुलीन है अतः यहाँ से समीप-स्थित वसुदत्तपुर को जा। वहाँ वसुदत्त नाम का महा धार्मिक राजा है जो इस जंगल के पास रहकर इस सारे जंगल की रक्षा करता है मार्ग-शुल्क लेता है और चोरों को पकड़ता है॥१३३-१३५॥

एक बार शिकार खेलने की थकावट से वह जंगल में सो गया। उस समय अज्ञात अवस्था में एक गोजर (कनखजूरा माता) उसके कान में शीघ्रता से घुस गया॥१३६॥

उसने बहुत दिनों के बाद राजा के सिर के भीतर प्रसव किया। इस रोग से गलते-गलते उस राजा की केवल हड्डियाँ और नसें ही शेष रह गई हैं अर्थात् शीघ्र ही मरने वाला है॥१३७॥

वैद्य उसके रोग को नहीं जानते। यदि और भी कोई उसे न जानेगा तो राजा शीघ्र ही मर जायगा॥१३८॥

तुम उस मरे हुए राजा का मांस अपनी माया से प्राप्त करके खाना। उसके खाने से छह महीनों तक तृप्त रहोगी भूख न लगेगी॥१३९॥

इस प्रकार भैरव ने भी मझे वर दिया। लेकिन वह लम्बी अवधि का है। तो बताओ बेटा आज मैं क्या करूँ? ॥१४ ॥

राक्षसी के इस प्रकार कहने पर वे बच्चे कहने लगे—'माता! क्या उस रोग को जान लेने पर और उसके दूर हो जाने पर राजा जीवित रहेगा? ॥१४१॥

और यह भी बताओ कि राजा का ऐसा रोग कैसे दूर हो सकता है'। तब वह राक्षसी बच्चों से कहने लगी—'रोग को जानकर उसे दूर कर देने पर राजा अवश्य जी जायगा। यह भी सुनो कि यह महारोग कैसे दूर होगा॥१४२-१४३॥

तथेत्युक्तवतीं तां च कीर्त्तिसेनां सदैव स।
वसुदत्तपुरं गोप पूर्वेद्युर्नयति स्म ताम् ॥१६ ॥
तत्र तत्र यथावस्तु निवेद्यार्ताय तत्क्षणात्।
प्रतीहाराय कल्याणलक्षणां तां समर्पयत् ॥१६१॥
प्रतीहारोऽपि राजानं विज्ञप्यैव तदाज्ञया।
प्रवेशयामास स तां तस्यान्तिकमनिन्दिताम् ॥१६२॥
राजा च सोऽत्र रोगार्तस्तां दृष्ट्वैवाद्भुताकृतिम्।
आश्वस्तो वसुदत्तोऽभूद्वेत्स्यात्मैव हिताहितम् ॥१६३॥
उवाच चैतां पूर्वेद्यां यदीमामपनेष्यसि।
रुजमेतत्प्रदास्यामि राज्यार्धं ते सुलक्षण ॥१६४॥
जाने जहार पृष्ठात्मे स्वप्ने स्त्री कृष्णकम्बलम्।
सन्निश्चितमिमं रोगं हरिष्यति भवान्मम ॥१६५॥
तच्छ्रुत्वा कीर्त्तिसेना तं जगादाद्य दिनम् गत।
देव श्वस्तेऽपनेष्यामि रोगं मा स्माधृतिं कृथा ॥१६६॥
इत्युक्त्वा मूर्ध्नि राज्ञोऽस्य गव्यं घृतमवापयत्।
तेन तस्याययौ निद्रा ययौ सा चार्तिवेदना ॥१६७॥
भिषग्रूपेण देवोऽयं पुण्यैर्नं कोऽप्युपागत।
इति तत्र च तां सर्वे कीर्त्तिसेनां ततोऽस्तुवन् ॥१६८॥
महादेवी च तैस्तैस्तामुपचारैरुपाचरत्।
नक्तं वेश्म पृथक्चास्या सवासीकमकल्पयत् ॥१६९॥
अथापरेद्युर्मध्याह्ने मन्त्रिष्वन्तःपुरेषु च।
पश्यत्सु तस्य भूपस्य कीर्त्तिसेना चकर्ष सा ॥१७ ॥
शिरसः कर्णमार्गेण सार्धं शतपदीशतम्।
राक्षस्युदितया पूर्वं युक्त्यास्यद्भुतया तया ॥१७१॥
स्थापयित्वा च घटके सा ताः शतपदीस्ततः।
घृतक्षीरादिसेकेन तं नृपं समतर्पयत् ॥१७२॥
क्रमात्तस्मिन्समाश्वस्ते रोगमुक्ते महीपतौ।
घटे तान्प्राणिनो दृष्ट्वा को न तत्र विसिस्मिये ॥१७३॥

कीर्तिसेना ने कहा—'ठीक है'। तब वह ग्वाला पुरुष-वेषधारी कीर्तिसेना को वसुदत्त पुर में ले गया॥१६ ॥

ग्वाले ने वहाँ जाकर दुःखित द्वारपाल से सब कुछ निवेदन किया और उस सुमध्यमा को उसे सौंप दिया॥१६१॥

द्वारपाल ने भी राजा से निवेदन किया और उसकी आज्ञा से उस सर्वांगसुन्दरी को वह राजा के पास ले गया॥१६२॥

रोगाक्रान्त राजा वसुदत्त भी उस अद्भुत वैद्य को देखकर प्रसन्न और विश्वस्त हो गया॥१६३॥

'यदि तुम मेरे इस रोग को दूर करोगे तो मैं तुम्हें इस राज्य का आधा भाग दे दूँगा॥१६४॥

स्वप्न में मैंने देखा है कि एक स्त्री मेरे शरीर पर से काला कम्बल हटा रही है। इससे समझता हूँ कि तुम निश्चय ही मेरी बीमारी दूर करोगे'॥१६५॥

यह सुनकर कीर्तिसेना कहने लगी—'राजन्, आज तो दिन ढल गया। कल तुम्हारा रोग दूर करूँगा, अधीर न होना'॥१६६॥

ऐसा कहकर उसने राजा के सिर पर गाय का घी मलवाया, उससे उसे नींद आ गई और तीव्र वेदना कम हो गई॥१६७॥

'वैद्य के रूप में यह कोई देवता आया है'—इस प्रकार कहकर सभी राजपुरुष उसकी प्रशंसा करने लगे॥१६८॥

महारानी ने भी अनेक प्रकार से उसका स्वागत-सम्मान किया और रात को उस वैद्य के लिए पृथक् सोने का प्रबन्ध कर दिया॥१६ ॥

दूसरे दिन मध्याह्न में मन्त्रियों और राजाओं के सामने ही राक्षसों से सुनी हुई उस आश्चर्यजनक युक्ति से कीर्तिसेना ने कान के मार्ग से सभी गोजरों या कनखजूरों को बाहर निकाल दिया और घी-दूध आदि से राजा को हृष्ट-पुष्ट बना दिया॥१७०—१७२॥

क्रमशः राजा के रोगमुक्त और स्वस्थ होने पर और घड़े में उन जीवों को देखकर किसे आश्चर्य नहीं हुआ? ॥१७३॥

शिरःपूर्वं भृशाभ्यक्तं तस्य न्यस्तोष्णसर्पिषा ।
कृत्वा मध्याह्नकठिने स्थापितस्यातपे चिरम् ॥१४४॥
निवेश्य कर्णकुहरे सुषिरां वंशनालिकाम् ।
शीताम्बुघटपृष्ठस्थशरावच्छिद्रसङ्गिनीम् ॥१४५॥
तेन स्वेदातपक्लान्ता निर्गत्यास्य शिरोऽन्तरात् ।
कर्णरन्ध्रेण तेनैव वंशनालीं प्रविश्य ताम् ॥१४६॥
घटे शीताभिलाषिण्यः शतपद्यः पतन्ति ताः ।
एवं स नृपतिस्तस्माद् महारोगाद् विमुच्यते ॥१४७॥
इत्युक्त्वा राक्षसी पुत्रान् वृक्षस्थान् विरराम सा ॥
कीर्तिसेना च तत्सर्वमशृणोत्कोटरस्थिता ॥१४८॥
श्रुत्वा च चिन्तयामास निस्तरिष्यामि चेदितः ।
तद्गत्वैवैतया युक्त्या जीवयिष्यामि तं नृपम् ॥१४९॥
एतामेवाटवीं सोऽल्पशुल्कां प्रान्तस्थितोज्झति ।
तत्सौकर्याच्च वणिजः सर्वे यान्त्यमुना पथा ॥१५०॥
एतत्समुद्रसेनोऽपि स्वर्गामी सोऽब्रवीद् वणिक् ।
तदेतेनैव मार्गेण स मे भर्त्तागमिष्यति ॥१५१॥
अतो गत्वाटवीप्रान्ते वसुदत्तपुरे नृपम् ।
रोगादुत्तार्य तत्रस्था प्रतीक्षे भर्तुरागमम् ॥१५२॥
एवं विचिन्तयन्ती सा कृच्छ्रात्तामनयन्निशाम् ।
प्रातर्नष्टेषु रक्षःसु निरगात् कोटरात्ततः ॥१५३॥
क्रमात्ततोऽटवीमध्ये यान्ती पुरुषवेषभृत् ॥
प्राप्तेऽपराह्णे गोपालमेकं साधुं ददर्श सा ॥१५४॥
तत्सौकुमार्यदूराध्वदर्शनार्द्रीकृतं च तम् ।
पप्रच्छोपेत्य सा कोऽयं प्रदेशः कथ्यतामिति ॥१५५॥
सोऽपि गोपालकोऽवादीद् वसुदत्तस्य भूपतेः ।
वसुदत्तपुरं नाम पुरमेतत्पुरः स्थितम् ॥१५६॥
राजापि स महात्मात्र मुमूर्षुर्व्याधितः स्थितः ।
तच्छ्रुत्वा कीर्तिसेना सा गोपालकमभाषत ॥१५७॥
यदि मां नयते कश्चिद्राज्ञस्तस्यान्तिकं ततः ।
अहं तं तस्य जानामि निवारयितुमामयम् ॥१५८॥
तच्छ्रुत्वैवावदद् गोपः पुरेऽत्रैव व्रजाम्यहम् ।
तदायाहि मया साकं यावद्यत्नं करोमि ते ॥१५९॥

पहले उसके सिर को गर्म घी से चुपड़कर दोपहर की कड़ी गर्मी में बहुत देर तक उसे सुखाना चाहिए। तब उसके कान में बाँस की पोली नली लगाकर और दूसरा सिरा जल से भरे घड़े के ऊपर रखे हुए मिट्टी के पात्र में लगा देना चाहिए। तब पसीना और धूप की गर्मी से व्याकुल अतएव ठंडक चाहते हुए वे कीड़े कान के मार्ग से बाँस की नली में होकर ठंडे घड़े में गिर जायँगे। इस प्रकार वह राजा महारोग से छुटकारा पा जायगा'॥१४४–१४७॥

राक्षसी बच्चों को इस प्रकार कहकर चुप हो गई और उसी वृक्ष के खोखले में बैठी हुई कीर्तिसेना ने सब सुन लिया॥१४८॥

यह सुनकर वह सोचने लगी कि 'यदि मैं इस विपत्ति से बच गई तो जाते ही इस युक्ति से राजा को बचा लूँगी'॥१४९॥

वह इस जंगल के किनारे रहकर बहुत कम मार्ग-शुल्क लेकर जंगल से आनेवालों की रक्षा करता है। इसी सुविधा के कारण सभी व्यापारी इसी मार्ग से आते-जाते हैं॥१५ ॥

मृत समुद्रसेन ने भी कहा था कि मेरा पति इसी मार्ग से आवेगा॥१५१॥

इसलिए जंगल के किनारे वसुदत्तपुर को जाती हूँ और वहाँ राजा को नीरोग करके पति के आगमन की प्रतीक्षा करती हूँ॥१५२॥

ऐसा सोचते हुए उसने कठिनता से वह रात व्यतीत की। प्रातःकाल राक्षसी के चले जाने पर वह खोखले से बाहर निकली॥१५३॥

पुरुष-वेष धारण करके जंगल के मध्य से जाती हुई उसने अपराह्न में एक ग्वाले को देखा॥१५४॥

एक ओर उसकी सुकुमारता और दूसरी ओर लम्बे और बीहड़ जंगली मार्ग को देखकर द्रवार्द्र होते हुए ग्वाले से कीर्तिसेना ने पूछा—'बताओ यह कौन-सा देश है? ॥१५५॥

ग्वाले ने कहा–'यह राजा वसुदत्त का वसुदत्तपुर है जो सामने दीख रहा है॥१५६॥

वहाँ का राजा भी धर्मात्मा है और मरणासन्न है।' यह सुनकर कीर्तिसेना ने कहा–'यदि मुझे कोई उस राजा के पास ले जावे तो मैं उसकी बीमारी दूर करना जानता हूँ'॥१५७–१५८॥

यह सुनकर ग्वाला बोला—मैं उसी नगर में जा रहा हूँ। तुम मेरे साथ आओ मैं तुम्हारे लिए यत्न करता हूँ॥१५९॥

समेत्युक्तवतीं तां च कीर्तिसेनां तदैव स।
वसुदत्तपुरं गोपः पूर्वेयां नयति स्म ताम् ॥१६०॥
तच्च तत्र यथावस्तु निवेद्यार्ताय तत्क्षणात्।
प्रतीहाराय कल्याणलक्षणां तां समर्पयत् ॥१६१॥
प्रतीहारोऽपि राजानं विज्ञप्यैव तदाज्ञया।
प्रवेशयामास स तां तस्यान्तिकमनिन्दिताम् ॥१६२॥
राजा च सोऽत्र रोगार्तस्तां दृष्ट्वैवाद्भुताकृतिम्।
आश्वस्तो वसुदत्तोऽभूद्वेत्त्यात्मैव हिताहितम् ॥१६३॥
उवाच चैतां पुत्रैयां यदीमामपनेष्यसि।
रुजमेतत्प्रदास्यामि राज्यार्धं ते सुलक्षण ॥१६४॥
जाने जहार पृष्ठामे स्वप्ने स्त्री कृष्णकम्बलम्।
तन्निश्चितमिमं रोगं हरिष्यति भवान्मम ॥१६५॥
तच्छ्रुत्वा कीर्तिसेना त जगादाद्य दिनम् गत।
देव स्वस्तेऽपनेष्यामि रोगं मा स्माधृतिं कृथाः ॥१६६॥
इत्युक्त्वा मूर्ध्नि राज्ञोऽस्य गव्यं घृतमदापयत्।
तेन तस्याययौ निद्रा ययौ सा चार्तिवेदना ॥१६७॥
भिषग्रूपेण देवोऽस्य पुण्यैर्नः कोऽप्युपागतः।
इति तत्र च तां सर्वे कीर्तिसेनां ततोऽस्तुवन् ॥१६८॥
महादेवी च तैस्तैस्तामुपचारैरुपाचरत्।
नक्तं वेश्म पृथक्चास्याः सदासीकमकल्पयत् ॥१६९॥
अथापरेद्युर्मध्याह्ने मन्त्रिष्वन्तःपुरेषु च।
पश्यत्सु तस्य भूपस्य कीर्तिसेना चकर्ष सा ॥१७०॥
शिरसः कर्णमार्गेण सार्धं शतपदीशतम्।
राजस्तुतिया पूर्वं युक्त्यास्यद्भुतया तया ॥१७१॥
स्थापयित्वा च घटके सा ताः शतपदीस्ततः।
घृतक्षीराभिषेकेण तं नृपं समतर्पयत् ॥१७२॥
क्रमात्तस्मिन्समाश्वस्ते रोगमुक्ते महीपतौ।
घटे तान्प्राणिनो दृष्ट्वा को न तत्र विसिस्मये ॥१७३॥

कीर्तिसेना ने कहा—'ठीक है।' तब वह ग्वाला पुरुष-वेशधारी कीर्तिसेना को वसुदत्त पुर में ले गया॥१६ ॥

ग्वाले ने वहाँ जाकर दुःखित द्वारपाल से सब कुछ निवेदन किया और उस सुमध्यमा को उसे सौंप दिया॥१६१॥

द्वारपाल ने भी राजा से निवेदन किया और उसकी आज्ञा से उस सर्वांगसुन्दरी को वह राजा के पास ले गया॥१६२॥

रोगाक्रान्त राजा वसुदत्त भी उस अद्भुत वैद्य को देखकर प्रसन्न और विश्वस्त हो गया॥१६३॥

'यदि तुम मेरे इस रोग को दूर करोगे तो मैं तुम्हें इस राज्य का आधा भाग दे दूँगा॥१६४॥

स्वप्न में मैंने देखा है कि एक स्त्री मेरे शरीर पर से काला कम्बल हटा रही है। इससे समझता हूँ कि तुम निश्चय ही मेरी बीमारी दूर करोगे'॥१६५॥

यह सुनकर कीर्तिसेना कहने लगी—'राजन्, आज तो दिन ढल गया। अतः कल तुम्हारा रोग दूर करूँगा, अधीर न होना'॥१६६॥

ऐसा कहकर उसने राजा के सिर पर गाय का घी मलवाया, उससे उसे नींद आ गई और तीव्र वेदना कम हो गई॥१६७॥

'वैद्य के रूप में यह कोई देवता आया है'—इस प्रकार कहकर सभी राजपुरुष उसकी प्रशंसा करने लगे॥१६८॥

महारानी ने भी अनेक प्रकार से उसका स्वागत-सम्मान किया और रात को उस वैद्य के लिए पृथक् शयन का प्रबन्ध कर दिया॥१६९॥

दूसरे दिन मध्याह्न में मन्त्रियों और राजाओं के सामने ही राक्षसी से सुनी हुई उस आश्चर्यजनक युक्ति से कीर्तिसेना ने कान के मार्ग से सभी गोजरों या कनखजूरों को बाहर निकाल दिया और घी-दूध आदि से राजा को हृष्ट-पुष्ट बना दिया॥१७०—१७२॥

समय राजा के रोगमुक्त और स्वस्थ होने पर और घड़े में उन जीवों को देखकर किसे आश्चर्य नहीं हुआ? ॥१७३॥

राजा च स विलोक्यैतान्कीटान्मूर्धनिर्गतान् ।
सत्रासं दध्यौ मुमुदे मेने जन्म निजं पुनः ॥१७४॥
कृतोत्सवश्च स स्नातः कीर्तिसेनामपूजयत् ।
तामनादत्तराज्यार्धां ग्रामहस्त्यश्वकाञ्चनैः ॥१७५॥
ददौ च मन्त्रिणश्चैतां हेम्ना वस्त्रैरपूरयन् ।
प्रभुप्राणप्रदोऽस्माकं पूज्यो भिषगसाविति ॥१७६॥
सा च तस्यैव राज्ञस्तान् हस्तेऽर्थान्सम्प्रति न्यधात् ।
कञ्चित्कालं व्रतस्थोऽहमित्युक्त्वा भर्त्रपेक्षिणी ॥१७७॥
ततः सम्मान्यमानात्र सर्वैः कान्यप्यहानि सा ।
यावत्पुरुषवेषेण कीर्तिसेनावतिष्ठते ॥१७८॥
तावच्छुश्राव सोत्कण्ठा वल्लभीतः समागतम् ।
सार्थवाहं यथा तेन देवसेनं निजं पतिम् ॥१७९॥
पुरि तत्राथ तं सार्थं प्राप्तं बुद्ध्वैव साभ्यगात् ।
भर्तारं तमपश्यच्च मयूरीव नवाम्बुदम् ॥१८०॥
चित्तेनेव चिरौत्सुक्यसन्तापप्रविलायिना ।
दत्तार्घानन्दवाष्पेण पादयोस्तस्य चापतत् ॥१८१॥
सोऽपि प्रत्यभ्यजानाच्च वेषच्छन्नां निरूप्य ताम् ।
भर्ता भास्वत्करालक्ष्यां दिवा मूर्तिमिवैन्दवीम् ॥१८२॥
तस्य तद्वदनेन्दुं च चन्द्रकान्तस्य पश्यतः ।
देवसेनस्य हृदयं चित्रं न गलति स्म यत् ॥१८३॥
अथास्यां कीर्तिसेनायामेवं प्रकटितात्मनि ।
किमेतदिति साश्चर्ये स्थिते तस्मिंश्च तत्पतौ ॥१८४॥
विस्मिते च वणिग्ग्रामे तद्बुद्ध्वैव सविस्मयः ।
स राजा वसुदत्तोऽत्र स्वयमेव किलाययौ ॥१८५॥
तेन पृष्टा च सा कीर्तिसेना पत्युः पुरोऽखिलम् ।
श्वश्रूदुर्व्यवहारोत्थं स्ववृत्तान्तमवर्णयत् ॥१८६॥
एवमेतच्च तच्छ्रुत्वा तद्भर्ता स स्वमातरि ।
पराङ्मुखो भवत्कोपक्षमाविस्मयहर्षवान् ॥१८७॥
भर्तृभक्तिरथारूढा गोप्त्र्येमाहृतरक्षिता ।
धर्मगारस्थय साध्व्या पश्यन्ति मतिहेतवः ॥१८८॥

राजा भी अपने मस्तक से निकले हुए उन कीड़ों को देखकर त्रस्त हुआ-सा सोचने लगा और प्रसन्न हुआ। उसने अपना पुनर्जन्म माना ॥१७४॥

तदनन्तर उत्सवपूर्वक स्नान किये हुए राजा ने कीर्तिसेना की पूजा की। भेंट में आधा राज्य देने से इनकार कर देने पर कीर्तिसेना को राजा ने गाँव, हाथी, घोड़े और सोने आदि से सम्मान किया ॥१७५॥

महारानी और मन्त्रियों ने अपनी-अपनी ओर से स्वर्ण और वस्त्रों के उपहारों के ढेर लगा दिये, क्योंकि वह उनके प्रभु को प्राणदान करनेवाला पुरुष वैद्य था ॥१७६॥

पति की प्रतीक्षा करती हुई कीर्तिसेना ने उनके दिये हुए उपहारों को उन्हें ही लौटाते हुए कहा कि मैं अभी व्रत में हूँ, इसलिए अभी न लूँगा ॥१७७॥

इस प्रकार सभी से सम्मानित वह कीर्तिसेना पुरुष के वेश में कुछ समय तक वहीं ठहर गई ॥१७८॥

वहाँ ठहरे हुए उसने लोगों से सुना कि उसका पति व्यापारी देवसेन वलभी से उसी मार्ग द्वारा आ गया ॥१७९॥

उस व्यापारिक-दल को नगरी में आया हुआ जानकर वह दल की ओर गई। मयूरी जैसे नव मेघ को देखती है, उसी प्रकार उसने उस दल में अपने पति को देखा ॥१८०॥

चिरकाल से उत्कण्ठा के सन्ताप से गलते हुए आँसुओं का अर्घ्य देकर वह पति के चरणों में गिर पड़ी ॥१८१॥

उस (पति) ने भी उसे देखा और पुरुष के वेश में छिपी हुई उसे उसी प्रकार पहिचाना, जिस प्रकार चन्द्रमा दिन में सूर्य की किरणों से दृष्टिगोचर होता है ॥१८२॥

कीर्तिसेना के मुखचन्द्र को देखकर चन्द्रकान्त के समान देवसेन का हृदय पिघल नहीं गया, यही आश्चर्य है ॥१८३॥

तदनन्तर कीर्तिसेना के इस प्रकार अपने को प्रकट कर देने पर, उसके पतिदेव देवसेन के आश्चर्य-चकित हो जाने पर और व्यापारियों के दल के भी यह जानकर विस्मित हो जाने पर कौतुक से राजा वसुदत्त भी स्वयं वहाँ आ गया ॥१८४-१८५॥

राजा से पूछी गई कीर्तिसेना ने पति के सामने ही सास की दुश्चरित्रता से आरम्भ कर सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥१८६॥

उसका पति देवसेन यह सब सुनकर क्रोध, आश्चर्य तथा विस्मय और हर्ष से भरा हुआ अपनी माता से विरक्त हो गया ॥१८७॥

निर्मल शील-रूपी रथ पर चढ़ी हुई पतिव्रता स्त्री सत्त्व से युक्त धर्म-रूपी सारथी के सहारे बड़ी-बड़ी विपत्ति से निस्तार प्राप्त करती है ॥१८८॥

इति तत्र स्थितोऽश्रौषीदाकर्ण्यैव तदद्भुतम् ।
चरितं कीर्तिसेनाया सानन्दः सकलो जनः ॥१८९॥
राजाप्युवाच पत्युर्यमाश्रितक्लेशयानया ।
सीतादेव्यपि रामस्य परिक्लेशसहा जिता ॥१९०॥
तन्मा धर्मभगिनी मम प्राणप्रदायिनी ।
इत्युक्तवन्तं तं भूपं कीर्तिसेनाथ साब्रवीत् ॥१९१॥
देव त्वत्प्रीतिदायो यस्तव हस्ते मम स्थितः ।
ग्रामहस्त्यश्वरत्नादिः स मे भर्त्रे समर्प्यताम् ॥१९२॥
एवमुक्तस्तया राजा दत्वा ग्रामादि तस्य तत् ।
तद्भर्तुर्देवसेनस्य प्रीतः पट्टं बबन्ध सः ॥१९३॥
अथ नरपतिदत्तस्तर्वणिग्भ्यार्जितैश्च
प्रसभभरितकोषो देवसेनो धनार्थैः ।
परिहृतजननीकः संस्तुवन् कीर्तिसेनां
कृतवसतिरमुष्मिन्नेव तस्थौ पुरे सः ॥१९४॥
सुखमपगतपापश्वश्रुकं कीर्तिसेना-
प्यसमचरितलब्धख्यातिरासाद्य तत्र ।
व्यवसन्त्रिसंभोगैश्वर्यभागान्तिकस्था
सुकृतफलसमृद्धिर्देहबद्धेव भर्तुः ॥१९५॥
एवं विपत्सु विधुरस्य विधेर्नियोग-
मापत्सु रक्षितचरित्रधना हि साध्व्यः ।
गुप्त्वा स्वसत्त्वविभवेन महत्तमेन
कल्याणमावहति पत्युरथात्मनश्च ॥१९६॥
इत्थं च पार्थिवकुमारि भवन्ति दोषाः
श्वश्रूननान्दृविहिता बहवो वधूनाम् ।
तद्भर्तृवेश्म तव तादृशमर्थयेऽहं
श्वश्रूर्न यत्र न च यत्र शठा ननान्दा ॥१९७॥
इतीदमानन्दिकथाद्भुतं सा मुखात्सख्यासुरराजपुत्र्याः ।
सोमप्रभाया मनुजेन्द्रपुत्री कलिङ्गसेना परितुष्यति स्म ॥१९८॥
ततो विचित्रार्थकथावसानं दृष्ट्वैव गन्तुं मिहिरे प्रवृत्ते ।
सोत्कां समालिङ्ग्य कलिङ्गसेना सोमप्रभा स्वं भवनं जगाम ॥१९९॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके तृतीयस्तरङ्गः ।

वहाँ एकत्र सभी जन इस अद्भुत रहस्य को जानकर आनन्द से इस प्रकार कहने लगे ॥१८९॥

राजा ने भी कहा—'इसने पति के लिए इतना कष्ट उठानेवाली सीतादेवी को भी जीत लिया ॥१९ ॥

इसलिए मझे प्राणदान देनेवाली यह मेरी धर्म-बहिन है। इस प्रकार कहते हुए राजा से कीर्तिसेना कहने लगी—॥१९१॥

'महाराज आप द्वारा दिया गया जो प्रमोपहार गाँव हाथी आदि आपके हाथ मेरा है, वह सब आप मेरे पति को दे दें। राजा ने भी प्रसन्न होकर देवसेन का पट्ट बचन किया ॥१९२ १९३॥

तदनन्तर वह देवसेन राजा द्वारा दिये हुए और व्यापार द्वारा अर्जित धनराशि से धनी होकर, अपनी माता को छोड़कर कीर्तिसेना की प्रशंसा करता हुआ उसी वसुदत्तपुर में रहने लगा ॥१९४॥

कीर्तिसेना अपने असाधारण चरित्र से प्रसिद्ध होकर अपने पति के पुण्य फलों की शरीर धारिणी मूर्ति के समान अतुल ऐश्वर्य का उपभोग करती हुई सास के दुःख से छूटकर, सुखपूर्वक रहने लगी ॥१९५॥

इस प्रकार विधि के भीषण विकारों को सहन करके आपत्ति-काल में भी अपने चरित्र-धन की रक्षा करनेवाली सच्चरित्र स्त्रियाँ अपने आत्मबल से रक्षित होकर अपना तथा अपने पति दोनों का कल्याण करती हैं ॥१९६॥

इसलिए हे राजकुमारी सास और ननद के कारण स्त्रियों को ऐसी-ऐसी दुर्घटनाओं का कष्ट (विकार) होना पड़ता है। इसलिए मैं तुम्हारे लिए ऐसा पतिगृह चाहती हूँ जहाँ पापिन सास और दुष्टा ननद न हों ॥१९७॥

असुरराज मयासुर की पुत्री सोमप्रभा के मुँह से इस आश्चर्यदायक अद्भुत कथा को सुनकर मनुष्यराजपुत्री कलिंगसेना अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥१९८॥

इस प्रकार विचित्र कथा का अन्त देखकर ही मानों सूर्य भगवान् के अस्ताचल पर चढ़े जाने पर, सोमप्रभा भी उत्कंठिता कलिंगसेना का आलिंगन करके अपने भवन को गई ॥१९९॥

तृतीय तरंग समाप्त

चतुर्थस्तरङ्गः

मदनवेगनाम्नो विद्याधरस्य कथा

ततः स्वसद्म यातायां पदव्यां मार्गमवेक्षितुम्।
सोमप्रभायां स्नेहेन मार्गहर्म्याग्रमास्थिताम्॥१॥
कलिङ्गसेनामारात्तां ददर्श गगनागतः।
दैवान्मदनवेगाख्यो युवा विद्याधराधिपः॥२॥
स तां दृष्ट्वैव रूपेण जगत्त्रितयमोहिनीम्।
क्षोभं जगाम कामेन्द्रजालिकस्येव पिच्छिकाम्॥३॥
अलं विद्याधरस्त्रीभिः का कथाप्सरसामपि।
यत्रादृगस्तदेतस्या मानुष्या रूपमद्भुतम्॥४॥
तदेषा यदि मे न स्याद् भार्या किं जीवितेन तत्।
कथं च मानुषीसङ्गं कुर्यां विद्याधरोऽपि सन्॥५॥
इत्यालोच्य स दध्यौ च विद्यां प्रज्ञप्तिसंज्ञिकाम्।
सा चाविर्भूय साकारा तमेवमवदत्तदा॥६॥
तत्त्वतो मानुषी नेयमेषा शापच्युताप्सराः।
जाता कलिङ्गदत्तस्य गृहे सुभग भूपतेः॥७॥
इत्युक्ते विद्यया सोऽथ हृष्टो गत्वा स्वधामनि।
विद्याधरोऽन्यविमुखः कामार्तः समचिन्तयत्॥८॥
हठादपि हराम्येतां तदेतन्मे न युज्यते।
स्त्रीणां हठोपभोगे हि मम शापोऽस्ति मृत्युदः॥९॥
तदेतत्प्राप्तये शम्भुराराध्यस्तपसा मया।
तपोऽधीनानि हि श्रेयांस्युपायोऽन्यो न विद्यते॥१०॥
इति निश्चित्य चान्येद्युर्गत्वा ऋषभपर्वतम्।
एकपादस्थितस्तेपे निराहारस्तपांसि सः॥११॥
अथ तुष्टोऽचिरात्तीव्रैस्तपोभिर्दत्तदर्शनः।
एवं मदनवेगं तमादिदेशाम्बिकापतिः॥१२॥
एषा कलिङ्गसेनाख्या ख्याता रूपेण भूतले।
कन्या नास्यादृशं भर्तापि सदृशो रूपसम्पदा॥१३॥
एकस्तु वत्सराजोऽस्ति स चैतामभिवाञ्छति।
किं तु वासवदत्ताया भीत्या नार्थयते स्फुटम्॥१४॥

चौथा तरंग

मदनवेग विद्याधर की कथा

तदनन्तर अपने घर को गई हुई सोमप्रभा को पीछे की ओर से देखने के लिए, राजमार्ग के किनारे, अपने भवन की छत पर खड़ी कलिंगसेना को दैवयोग से समीप-स्थित मदनवेग नामक विद्याधरों के युवक सरदार ने देखा ॥१-२॥

अपने अनुपम रूप से तीनों लोकों को जीतनेवाली कामरूपी इन्द्रजालिक की जादुई छड़ी के समान उस कलिंगसेना के रूप को देखकर मदनवेग क्षुब्ध हो गया ॥३॥

जहाँ मानव कन्या का ऐसा रूप है, वहाँ विद्याधरियों और अप्सराओं की क्या कथा ॥४॥

अतः यदि वह मेरी स्त्री न हुई, तो मेरे जीवन से क्या लाभ? किन्तु मैं विद्याधर होकर मानवी का संग कैसे कर सकता हूँ ॥५॥

ऐसा सोचकर उसने प्रज्ञप्ति नामक विद्या का ध्यान किया। वह विद्या शरीर से उपस्थित होकर मदनवेग से इस प्रकार कहने लगी— ॥६॥

'वास्तव में यह कन्या मानुषी नहीं है। यह शापच्युत अप्सरा है, जो राजा कलिंगदत्त के यहाँ उत्पन्न हुई है ॥७॥

ऐसा सुनकर मदनवेग अपने घर गया और सब कार्यों से विरक्त होकर काम-पीड़ित हो सोचने लगा ॥८॥

यदि मैं उसका बलपूर्वक अपहरण करूँ, तो यह मेरे लिए उचित नहीं है। बलपूर्वक स्त्रियों का उपभोग करना मेरी मृत्यु का कारण है, यह शाप मुझे मिला है ॥९॥

अतः इसकी प्राप्ति के लिए मुझे शिवजी की आराधना करनी चाहिए, क्योंकि कल्याण तप के अधीन होता है और दूसरा कोई उपाय नहीं ॥१०॥

ऐसा निश्चय करके वह तुरंत शिव-प्रिय ऋषभ पर्वत पर जाकर एक पैर से खड़ा होकर और निराहार रहकर तप करने लगा ॥११॥

तदनन्तर शीघ्र ही उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर और दर्शन देकर शिवजी मदनवेग से इस प्रकार कहने लगे— ॥१२॥

'यह कलिंगसेना [illegible] के लिए [illegible] है। इसका [illegible] से इसका अधिकार न होगा ॥१३॥

यह कन्या [illegible] राजा [illegible] है। किन्तु वह वासवदत्ता [illegible] के भय से [illegible] ॥१४॥

एषापि रूपलुब्धा त्वं श्रुत्वा सोमप्रभामुखात् ।
स्वयंवराय वत्सेशं राजपुत्र्यभिवाञ्छति ॥१५॥
तत्र यावद्विवाहोऽस्या न भवत्तावदन्तरा ।
कृत्वा कालासहस्यैव रूपं वत्सेश्वरस्य तत् ॥१६॥
गत्वा गान्धर्वविधिना भार्यां कुर्याद् भवानिमाम् ।
एवं कलिङ्गसेनाऽसौ तव सत्स्यति सुन्दरी ॥१७॥
इत्यादिष्टः स धर्मेण प्रणिपत्याथ तं ययौ ।
गृहं मदनवेगः स्वं कालकूटगिरेस्तटम् ॥१८॥
अत्रान्तरे प्रतिनिशं गच्छन्त्या निजमन्दिरम् ।
प्रतिप्रभातमायान्त्या यन्त्रेण व्योमगामिना ॥१९॥
तया तक्षशिलापुर्यां सा सोमप्रभया सह ।
कलिङ्गसेना क्रीडन्ती तां जगादैकदा रहः ॥२०॥
सखि वाच्यं न कस्यापि त्वया यत्ते वदाम्यहम् ।
विवाहो मम सम्प्राप्त इति जाने यतः शृणु ॥२१॥
इह मां याचितुं दूताः प्रहिता बहुभिर्नृपैः ।
ते च तातेन सत्कृत्य तथैव प्रेषिता इतः ॥२२॥
यस्तु प्रसेनजिन्नाम श्रावस्त्यामस्ति भूपतिः ।
तस्यैव केवलं दूतः सादरं तेन सत्कृतः ॥२३॥
सम्मतं चाम्बयाप्येतन्मन्ये मद्वरो नृपः ।
स तातस्य तथाम्बाया कुलीन इति सम्मतः ॥२४॥
स हि तत्र कुले जातो यत्राम्बाम्बालिकादिकाः ।
पितामह्यः कुरूणां च पाण्डवानां च जज्ञिरे ॥२५॥
तत्प्रसेनजिते तस्मै सखि दत्तास्मि साम्प्रतम् ।
तातेन राज्ञे श्रावस्त्यां नगरीमिति निश्चयः ॥२६॥
एतत्कलिङ्गसेनातः श्रुत्वा सोमप्रभा शुचा ।
सृजन्तीवापरं हारं सद्यो धाराश्रुणाऽरुदत् ॥२७॥
अथाश्रु चैतां पृच्छन्तीं वयस्यामश्रुकारणम् ।
दृष्टनिःशेषभूलोका सा मयासुरपुत्रिका ॥२८॥
वयो रूपं कुलं शीलं वित्तं चेति वरस्य यत् ।
मृग्यं सखि तत्राद्यं वय एवादिमं ततः ॥२९॥

सौन्दर्य की प्रेमिन यह कलिंगसेना भी सोमप्रभा के मुख से वत्सराज की रूप प्रशंसा सुनकर उसे स्वयं वरण करना चाहती है॥१५॥

इसलिए जब तक इसका विवाह नहीं होता इसी बीच शीघ्रता करते हुए तुम वत्सराज का रूप बनाकर इससे गांधर्व विवाह कर लो। 'इस प्रकार सुन्दरी कलिंगसेना तुम्हारी हो जायगी'॥१६-१७॥

शिवजी से ऐसा आदेश पाकर और उन्हें प्रणाम करके मदनवेग कालकूट पर्वत पर, अपने घर, चला गया॥१८॥

इसी बीच प्रतिदिन यन्त्रचालित वायुमान से रात को अपने घर आती हुई और प्रातःकाल उसाविका जाती हुई और खेलती हुई सोमप्रभा से कलिंगसेना ने एकबार कहा॥१९ २ ॥

कलिंगसेना के विवाह की कथा

सखि मैं तुमसे जो कहती हूँ वह किसी से कहना नहीं। मैंने सुना है कि मेरे विवाह का समय आ गया है। मांग माँगने के लिए अनेक राजाओं ने दूत भेजे हैं। किन्तु, मेरे पिता ने उन्हें यहाँ से लौटा दिया है॥२१ २२॥

किन्तु श्रावस्ती नगरी का राजा प्रसेनजित है। केवल उसी के दूत को मेरे पिता ने विशेष रूप से सत्कृत किया॥२३॥

मेरी माता से भी सम्मति कर ली है। कुलीन होने के कारण वह मेरे माता-पिता को सम्मत है॥२४॥

वह उस कुल में उत्पन्न हुआ है जिसमें कौरवों और पांडवों की अम्बा अम्बालिका आदि दादियाँ उत्पन्न हुईं॥२५॥

हे सखि इस समय मुझे पिता ने श्रावस्ती नगरी में उस प्रसेनजित् को ही दे दिया है ॥२६॥

कलिंगसेना से यह सुनकर सोमप्रभा आँसुओं का हार बनाती हुई रोने लगी॥२७॥

सखी के रोने का कारण पूछने पर समस्त भूलोक को देखी हुई सोमप्रभा कहने लगी—॥२८॥

अवस्था रूप कुल चरित्र आदि जो वर में ढूंढे जाते हैं, उनमें सर्वप्रथम अवस्था ही है। वंश आदि उसके बाद की गिनती में लिये जाते हैं॥२९॥

प्रसेनजिच्च प्रवयाः स दृष्टो नृपतिर्मया।
जातीपुष्पस्य जात्येव जीर्णस्यास्य कुलेन किम्॥३०॥
हिमशुभ्रेण तेन त्वं हेमन्तेनेव पद्मिनी।
परिम्लानाम्बुजमुखी युक्त्या शोच्या भविष्यसि॥३१॥
अतो जातो विषादो मे प्रहर्षस्तु भवेन्मम।
यदि स्याद् वत्सराजस्ते कस्याप्युदयनः पतिः॥३२॥
तस्य नास्ति हि रूपेण लावण्येन कुलेन च।
शौर्येण च विभूत्या च तुल्योऽन्यो नृपतिर्भुवि॥३३॥
तेन चेद्युज्यसे भर्त्रा सदृशेन कृशोदरि!।
धातुः फलति लावण्यनिर्माणं सदिदं त्वयि॥३४॥
इति सोमप्रभाकल्पतैर्वाक्यैर्यन्त्रैरिवेरितम्।
ययौ कलिङ्गसेनाया मनो वत्सेश्वरं प्रति॥३५॥
ततश्च सा तां पप्रच्छ राजकन्या सभास्मजाम्।
कथं स वत्सराजाख्यः सखि किं वंशसम्भवः॥३६॥
कथं चोदयनो नाम्ना त्वया मे कथ्यतामिति।
साथ सोमप्रभावादीच्छृणु तत्सखि वच्मि ते॥३७॥
वत्स इत्यस्ति विख्यातो देशो भूमेर्विभूषणम्।
पुरी तत्रास्ति कौशाम्बी द्वितीयेवामरावती॥३८॥
तस्यां स कुरुते राज्यं यतो वत्सेश्वरस्ततः।
वंशं च तस्य कल्याणि कीर्त्यमानं मया शृणु॥३९॥
पाण्डवस्यार्जुनस्याभूदभिमन्युः किलात्मजः।
चक्रव्यूहभिदा येन नीता कुरुचमूः क्षयम्॥४०॥
तस्मात्परीक्षिदभवद्राजा भरतवंशभृत्।
सर्पसत्रप्रणेतामूत्तत्तोऽपि जनमेजयः॥४१॥
ततोऽभवच्छतानीकः कौशाम्बीमध्युवास सः।
यश्च देवासुररणे दैत्यान्हत्वा व्यपद्यत॥४२॥
तस्माद्राजा जगच्छ्लाघ्यः सहस्रानीक इत्यभूत्।
यः पात्रप्रेषितरथो दिवि चक्रे गतागतम्॥४३॥
तस्य देव्यां मृगावत्यामसावुदयनोऽजनि।
भूषणं शशिनो वंशे जगन्नेत्रोत्सवो नृपः॥४४॥

राजा प्रसनजित् को मैंने देखा है। वह वृद्ध है। मुरझाये हुए जाती (मालती) के पुष्प के समान उस वृद्ध की जानि या पुरुष म क्या करना है॥१ ॥

हिम के समान शुभ्र उस वृद्ध के समस्त मलिन मुखवाली तू ऐसी लगेगी जैसे हेमन्त में हिम से मारी हुई कमलिनी शोचनीय हो जाती है॥११॥

इसलिए मुझ खेद हुआ। प्रसन्नता तो तब हो जब हे कल्याणि वत्सराज उदयन तेरा पति हो॥१२॥

रूप से लावण्य म कुल म शौर्य से और ऐश्वर्य म उनके समान पृथ्वी पर दूसरा राजा नहीं है॥१३॥

हे पत्नी कमलवाली यदि तू अपने समान उस पति स युक्त हो जाय तो विधाता का तुममें सौन्दर्य उत्पन्न करना सफल हो जाय॥१४॥

इस प्रकार सोमप्रभा के यन्त्रों के समान बातों स प्रेरित कलिंगसेना का मन वत्सेश्वर पर चला गया॥१५॥

तब राजकन्या न सोमप्रभा स पूछा— सखि वह वत्सराज किस वंश में उत्पन्न हुआ है और उसका नाम उदयन कैसे हुआ ? तब सोमप्रभा बोली— सखि कहती हूँ सुनो॥१६–१७॥

वत्सराज की संक्षिप्त कथा

इस भूमि का भूषण वत्स नाम का देश है। उसमें दूसरी इन्द्रपुरी के समान कौशाम्बी नाम की नगरी है॥१८॥

उस नगरी में वत्सेश्वर राज्य करता है। अब मैं उसके वंश का वर्णन करती हूँ सुनो॥१९॥

पाण्डु के पुत्र अर्जुन का लड़का अभिमन्यु हुआ। चक्रव्यूह का भेदन करनेवाले जिस अभिमन्यु न कौरवों की सेना का संहार किया था॥४ ॥

उस अभिमन्यु द्वारा भरत-वंश को चलानेवाला परीक्षित नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। परीक्षित से सर्पसत्र (नागयज्ञ) करनेवाला पुत्र राजा जनमेजय हुआ। जनमेजय से शतानीक नाम का राजा हुआ जिसने कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनाया और जो देवासुर-संग्राम में दैत्यों को मारता हुआ स्वयं भी मारा गया॥४१ ४२॥

उस शतानीक से संसार मे प्रशंसनीय सहस्रानीक नाम का राजा हुआ जो इन्द्र के रथ भेजने पर भूमि से स्वर्ग में यातायात किया करता था॥४३॥

उस सहस्रानीक की रानी मृगावती के गर्भ से उदयन नाम का कुलभूषण और संसार की आँखों को आनन्द देनेवाला राजा हुआ॥४४॥

नाम्नो निमित्तमप्यस्य शृणु सा हि मृगावती।
अन्तर्वत्नी सती राज्ञो जनन्यस्य सजगमन॥४५॥
उत्पन्नरुधिरस्नानदोहृदा पापभीरुणा।
भर्त्रा रचितलाक्षादिरसवापीकृताप्लवा॥४६॥
पक्षिणा तार्क्ष्यवंश्येन निपत्यामिषशङ्कया।
नीत्वा विधिवशात्यक्ता जीवन्त्येवोदयाचले॥४७॥
तत्र चाश्वासिता भूयो भर्तृसङ्गमवादिना।
जमदग्न्यर्षिणा दृष्टा स्थितासौ तत्र चाश्रमे॥४८॥
अवज्ञाजनितोर्ध्याया कञ्चित्कालं हि तादृशः।
शापस्तिलोत्तमातोऽभूत्तद्भर्तुस्तद्वियोगजः॥४९॥
दिवसे सा च तत्रैव जमदग्न्याश्रमे सुतम्।
उदयाद्रौ प्रसूते स्म गौरिन्दुमिव नूतनम्॥५०॥
असावुदयनो जातः सार्वभौमो महीपतिः।
जनिष्यते च पुत्रोऽस्य सर्वविद्याधराधिपः॥५१॥
इत्युच्चार्याम्बरात् वाणीमशरीरां तदा शुभम्।
नामोदयन इत्यस्य देवैरुदयजं मतः॥५२॥
सोऽपि शापान्तवद्धाश कालं मातस्मिवोषितः।
वृच्छात् सहस्रानीकस्तां विनानैषीन्मृगावतीम्॥५३॥
प्राप्ते शापावसाने तु शबराद् विधियोगतः।
उदयाद्रेस्समायातात् प्राप्याभिज्ञानमात्मनः॥५४॥
आवेदितार्थस्तत्काल गगनोद्गतया गिरा।
शबरं तं पुरस्कृत्य जगामैवोन्याचलम्॥५५॥
तत्र वाञ्छितमसिद्धिमिव प्राप्य मृगावतीम्।
भार्यामुदयनं तं च मनोराज्यमिवात्मजम्॥५६॥
तौ गृहीत्वाथ कौशाम्बीमागत्यैवाभिषिक्तवान्।
यौवराज्ये तनूजं सं तद्गुणोत्कर्षतोषितः॥५७॥
योगन्धरायणादींश्च तस्मै मन्त्रिसुतान् ददौ।
तेनासभागे बुभुजे भोगान् भार्यामयस्थिरम्॥५८॥
नाम्नाराज्य राज्य च तमवाप्यनं सुतम्।
वृद्ध स भार्यासंचिवा ययौ राजा महापथम्॥५९॥

अब इसके उदयन नाम का कारण भी सुनो—एक बार सहस्रानीक की रानी और उदयन की माता मृगावती गर्भवती हुई। गर्भावस्था में उसे रुधिर से भरी बावली में स्नान करने की इच्छा हुई, तो पाप से भीरु राजा सहस्रानीक ने लाख आदि के लाल रंग से बावली भरवा दी। उसमें स्नान की हुई रानी में मांस के टुकड़े का भ्रम करके गरुड़-वंश के पक्षी ने उसे उठा लिया और ले जाकर उदयाचल पर्वत पर उसे जीते ही छोड़ दिया ॥४५-४७॥

वहाँ पर उसे पुनः पति-मिलन की आशा दिलानेवाले जामदग्न्य ऋषि ने रानी को धैर्य प्रदान किया और उसे अपने आश्रम में ले गये ॥४८॥

दिन पूरे होने पर रानी ने उसी आश्रम में पुत्र को इस प्रकार उत्पन्न किया जैसे आकाश नवीन चन्द्र को उत्पन्न करता है ॥४९॥

अपमान से क्रुद्ध तिलोत्तमा ने उसके पति को शाप दिया था जो इस रूप में दोनों का वियोग दुःख देनेवाला हुआ ॥५० ॥

'यह उदयन सारी पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा हुआ और इसका पुत्र समस्त विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा होगा' ॥५१॥

इस प्रकार की आकाशवाणी के कारण और उदयपर्वत पर जन्म लेने के कारण इसका नाम उदयन हुआ ॥५२॥

मातलि (इन्द्र के सारथी) द्वारा परिचय कराया गया और शाप का अन्त होने की आशा बाँधे हुए राजा सहस्रानीक ने मृगावती के बिना चौदह वर्ष वियोग में व्यतीत किये ॥५३॥

शाप का अन्त होने पर, दैववश उदयाचल से आये हुए एक भील से परिचय पाकर और आकाशवाणी से प्रेरित होकर सहस्रानीक उसी भील को पथ प्रदर्शक बनाकर उदयाचल पर गया ॥५४-५५॥

वहाँ पर मूर्तिमती वाञ्छित सिद्धि के समान मृगावती पत्नी तथा मनोराज्य के समान पुत्र उदयन को पाकर और उन्हें लेकर राजा कौशाम्बी आया। और, कौशाम्बी आते ही उदयन के गुणों से सन्तुष्ट होकर उसे युवराज-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया ॥५६-५७॥

और यौगन्धरायण आदि अपने मन्त्रियों के पुत्रों को उसके मन्त्रिमण्डल में प्रतिष्ठित कर दिया। उदयन के राज्य भार सँभाल लेने पर राजा महारानी के साथ सांसारिक सुखों का उपभोग करता रहा। वृद्धावस्था में समस्त राज्य भार उदयन को देकर राजा महाप्रस्थान को चला गया ॥५८-५९॥

एवं स पित्र्यं राज्यं तत्प्राप्य जित्वा ततोऽखिलाम् ।
यौगन्धरायणसखः प्रशास्त्युदयनो महीम् ॥६० ॥

इत्याशु कथयित्वा सा कथां सोमप्रभा रहः ।
सखीं कलिङ्गसेनां तां पुनरेवमभाषत ॥६१॥

एवं वत्सपुराजत्वाद् वत्सराजः सुगात्रि सः ।
पाण्डवान्वयसम्भूत्या सोमवंशोद्भवस्तथा ॥६२॥

नाम्नाप्युदयनः प्रोक्तो देवस्त्यजन्मना ।
रूपेण चात्र संसारे कन्दर्पोऽपि न तादृशः ॥६३॥

स एकस्तव तुल्योऽस्ति पतिस्त्रैलोक्यसुन्दरि ।
स च वाञ्छति लावण्यलुब्धस्त्वां प्रार्थितां ध्रुवम् ॥६४॥

किं तु चण्डमहासेनमहीपसितनूद्भवा ।
अस्ति वासवदत्ताख्या तस्याग्रमहिषी सखि ॥६५॥

तया स च वृतस्त्यक्त्वा बान्धवानतिरिक्तया ।
उपायाद् भूमिमहत्यादीनां कन्यानां वृतलज्जया ॥६६॥

नरवाहनदत्ताख्यस्तस्यां जातोऽस्य चात्मजः ।
आदिष्टः किल देवैर्यो भावी विद्याधराधिपः ॥६७॥

अतस्तस्याः स वत्सेशो बिभ्यत्त्वां मेहं याचते ।
सा च दृष्टा मया न त्वां स्पर्धते रूपसम्पदा ॥६८॥

एवमुक्तवतीं तां च सखीं सोमप्रभां तदा ।
कलिङ्गसेना वत्सेशश्रोत्सुका निजगाद सा ॥६९॥

जानेऽहमेतद् वस्यायाः पित्रोः कार्यं तु किं मम ।
सर्वज्ञा सप्रभावा च त्वमेवात्र मे गतिः ॥७० ॥

दैवायत्तमिदं कार्यं तथा चात्र कथां शृणु ।
सोमप्रभा तामित्युक्त्वा शशंसास्यै कथामिमाम् ॥७१॥

तेजस्वत्याः कथा

राजा विक्रमसेनाख्य उज्जयिन्यामभूत्पुरा ।
तस्य तेजस्वतीत्यासीद्रूपेणाप्रतिमा सुता ॥७२॥

तस्यादचाभिमतः कश्चिद्प्रायो नाभूद्वरो नृपः ।
एकदा च ददर्शैव पुरुषं सा स्वहर्म्यगा ॥७३॥

पिता के राज्य को पाकर और फिर सारी पृथ्वी को जीतकर उदयन यौगन्धरायण के साथ पृथ्वी का शासन कर रहा है ॥६ ॥

इस प्रकार शीघ्र ही उदयन की कथा कलिंगसेना को एकान्त में सुनाकर सखी सोमप्रभा फिर कहने लगी—'इस प्रकार वत्सदेशों में राज्य करने के कारण वह वत्सराज कहा जाता है और पांडवों के वंश में उत्पन्न होने के कारण सोमवंशोद्भव भी वह कहा जाता है ॥६१ ६२॥

उदयाचल पर जन्म होने से देवताओं ने उसका नाम उदयन रखा है। इस समय संसार में उसके समान सुन्दर कामदेव भी नहीं है ॥६३॥

हे त्रैलोक्यसुन्दरी वही एक तेरे समान उपयुक्त पति है। उसकी बड़ी महारानी वासवदत्ता है जो चंडमहासेन की कन्या है। उसने अपने बन्धुओं को छोड़कर स्वतन्त्रता से उदयन का वरण किया है। इस प्रकार उस (वासवदत्ता) ने तथा बन्धुमती आदि कन्याओं की कन्या का अपहरण कर लिया है ॥६४ ६६॥

उदयन से वासवदत्ता में नरवाहनदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ है जिसे देवताओं ने भावी विद्याधर-चक्रवर्ती होने का आदेश दिया है। इसीलिए वासवदत्ता से डरता हुआ उदयन तुम्हारी माँग नहीं करता। वह वासवदत्ता मैंने देखी है। वह तुम्हारी रूप-सम्पत्ति की तुलना नहीं कर सकती' ॥६७-६८॥

ऐसा कहती हुई सखी सोमप्रभा को वत्सराज उदयनके प्रति उत्सुक कलिंगसेना बोली ॥६९॥

'माता-पिता से विवश मैं क्या कर सकती हूँ। सबको जाननेवाली और प्रभावशालिनी तू ही एकमात्र मेरी गति है ॥७ ॥

यह कार्य तो दैव के अधीन है। इस सम्बन्ध में एक कथा कहती हूँ सुनो। ऐसा कहकर सोमप्रभा ने उसे यह कथा सुनाई ॥७१॥

तेजस्वती की कथा

पूर्वकाल में उज्जयिनी में विक्रमसेन नाम का एक राजा हुआ। उसकी एक असाधारण रूपवती तेजस्वती नाम की कन्या थी ॥७२॥

उसे कोई भी राजा वरण के लिए अभिमत नहीं हुआ। एक बार उसने अपने भवन पर बैठे हुए एक पुरुष को देखा ॥७३॥

तेन स्वाकृतिना दैवात् सङ्गतिं वाञ्छति स्म सा।
स्वाभिप्रायं च सन्दिश्य तस्मै स्वां व्यसृजत्सखीम् ॥७४॥
सा गत्वा तत्सखी तस्य पुंसः साहसशङ्किन।
अनिच्छतोऽपि प्रार्थ्यैव यत्नात् सङ्केतक व्यधात् ॥७५॥
एतद्देवकुलं भद्र विविक्तं पश्यसीह यम्।
अत्र रात्रौ प्रतीक्षेथा राजपुत्र्यास्त्वमागमम् ॥७६॥
इत्युक्त्वा सा तमामन्त्र्य गत्वा तस्यै तदभ्यधात्।
तेजस्वत्यै ततः सापि तस्थौ सूर्यविलोकिनी ॥७७॥
पुमांश्च सोऽनुमान्यापि भयात्यक्त्वाप्यन्यतो ययौ।
न भेकः कोकनदिनीकिञ्जल्कास्वादकोविदः ॥७८॥
अत्रान्तरे च कोऽप्यत्र राजपुत्रः कुलोद्गतः।
मृते पितरि तं मित्रं राजानं द्रष्टुमाययौ ॥७९॥
स चात्र सायं सम्प्राप्तः सोमदत्ताभिधो युवा।
दायादहृतराज्यादिरेकाकी कान्तदर्शनः ॥८०॥
विवेश दैवात्तत्रैव नेतुं देवकुले निशाम्।
राजपुत्र्या सखी यत्र पुंसः सङ्केतमादिशत् ॥८१॥
तं तत्र स्थितमभ्येत्य राजपुत्र्यविभाव्य सा।
निशायामनुरागान्धा स्वयंवरपतिं व्यधात् ॥८२॥
सोऽप्यभ्यनन्दत् तूष्णीं तां प्राज्ञो विधिसमर्पिताम्।
संसूचयन्तीं भाविन्या राजलक्ष्म्या समागमम् ॥८३॥
ततः क्षणाद्राजसुता सा विलोक्यैवमेव तम्।
कमनीयतमं मेने नात्मानमवञ्चितम् ॥८४॥
अनन्तरं कथां कृत्वा यथास्व सविदा तयोः।
एका स्वमन्दिरमगादन्यस्तत्रानयन्निशाम् ॥८५॥
प्रातर्गत्वा प्रतीहारमुखेनावेद्य नाम सः।
राजपुत्रः परिज्ञातो राज्ञः प्राविशदन्तिकम् ॥८६॥
तत्रोक्तराज्यहारादिदुःखस्य स कृतादरः।
अङ्गीचक्रे सहायत्वं राजा तस्यारिमर्दने ॥८७॥
मनि चक्रे च तां तस्मै दातुं प्रागिङ्गितां सुताम्।
मन्त्रिभ्यश्च तच्चैनमभिप्रायं शशंस सः ॥८८॥
अथैनमस्मै च राज्ञे तं सुतावृत्तान्तमभ्यधात्।
दत्ता स्वाकाङ्क्षिता पूर्वं सखैवाप्सरसीमुखं ॥८९॥

दैवयोग से वह उसके साथ अपने रूप की संगति चाहने लगी अर्थात् उस पर अनुरक्त हो गई। तदनन्तर उसने अपने मनोभाव को सन्देश रूप में सखी द्वारा उसके पास भेजा सन्देश सुनकर साहस की शंका करते हुए और न चाहते हुए भी राजपुत्री की सखी ने उससे संकेत कर दिया ॥७४-७५॥

हे भद्र यह सामने जो एकान्त मन्दिर देख रहे हो इसमें तुम रात को राजकुमारी के आने की प्रतीक्षा करना। इस प्रकार का उससे निश्चय करके सखी ने राजपुत्री तेजस्वती से कह दिया। तेजस्वती भी सूर्य को देखती हुई बैठी रही अर्थात् रात्रि-आगमन की प्रतीक्षा करने लगी ॥७६-७७॥

वह पुरुष सखी से निश्चय करके भी भय से वहीं भाग गया। सच है मेंढक कमलिनी के केसर का स्वाद नहीं जान सकता ॥७८॥

राजवंश में उत्पन्न सोमदत्त नामक एक युवा राजकुमार पिता के मर जाने पर पिता के मित्र विक्रमसिंह के पास दैवयोग से इसी सायंकाल वहाँ (उज्जैन में) आया ॥७९॥

वह सुन्दर युवा भाई-बन्धुओं द्वारा राज्य-हरण कर लेने के कारण दुःखित और अकेला उज्जैन पहुँचा था। उस समय (सायंकाल) राजा से मिलना उचित न जानकर वह उसी सूने या एकान्त मन्दिर में ठहर गया जिसमें राजकुमारी की सखी ने उसके प्रेमी पुरुष को आने का संकेत दिया था ॥८०-८१॥

रात्रि में प्रेम से मत्त राजकुमारी ने उस मन्दिर में बैठे हुए राजपुत्र को धोखे से अपना पति बना लिया ॥८२॥

उस बुद्धिमान् राजकुमार ने भी चुपचाप उसका प्रेमाभिनन्दन किया क्योंकि वह उसकी भावी राजलक्ष्मी की सूचना दे रही थी ॥८३॥

तब राजकुमारी ने उसे भ्रम से प्राप्त होने पर भी अत्यन्त सुन्दर देखकर अपने को दैव वंचित (ठगाई हुई) नहीं समझा ॥८४॥

तदनन्तर इधर-उधर की बात और आवश्यक परामर्श करके राजपुत्री अपने भवन को गई और राजपुत्र ने वहीं रात्रि व्यतीत की ॥८५॥

प्रातःकाल राजपुत्र राजभवन में जाकर द्वारपाल से सूचना दिलाकर राजा के समीप पहुँचा और उससे परिचित हुआ ॥८६॥

राजपुत्र के राज्यापहरण आदि दुःखों को सुनकर राजा ने उसके शत्रुदमन के लिए सहायता करना स्वीकार किया। साथ ही पहले से ही देने के लिए तैयार उस अपनी कन्या को उसे देने के लिए भी राजा ने विचार किया और मन्त्रियों से अपना विचार कहा ॥८७-८८॥

तदनन्तर राजकुमारी की अन्तरंग सखियों ने भली भाँति परिचित कराई गई रानी ने भी राजा से कन्या का सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥८९॥

असिद्धानिष्टसिद्धेष्टकाकतालीयविस्मितम् ।
ततस्तं तत्र राजानमेको मन्त्री तदाब्रवीत् ॥९ ॥
विधिरेव हि जागर्ति भव्यानामर्थसिद्धिषु ।
असम्बद्धसमानानां सद्भृत्य स्वामिनामिव ॥११॥
तथा च कथयाम्यत्र राजन्नत्र कथां शृणु ।

हरिशर्मणो ब्राह्मणस्य कथा

बभूव हरिशर्माख्य कोऽपि ग्रामे क्वचिद्द्विज ॥१२॥
स दरिद्रश्च मूर्खश्च वृत्त्यभावेन दुःस्थित ।
पूर्वदुष्कृतभोगाय जातोऽतिबहुबालक ॥१३॥
सकुटुम्बो भ्रमन् भिक्षां प्राप्यैक नगरं क्रमात् ।
शिश्रिये स्थूलदत्ताख्य गृहस्थं स महाधनम् ॥१४॥
गवादिरक्षकान् पुत्रान् भार्यां कर्मकरीं निजाम् ।
तस्य कृत्वा गृहाभ्यर्णे प्रैष्यं कुर्वन्नुवास स ॥१५॥
एकदा स्थूलदत्तस्य सुतापरिणयोत्सव ।
तस्याभूदागतानेकजन्ययात्राजनाकुल ॥१६॥
तदा च हरिशर्मात्र तद्गृहे सकुटुम्बक ।
आकण्ठघृतमांसादिभोजनाम्यां बबन्ध स ॥१७॥
तद्वेलां वीक्षमाणोऽपि स्मृत केनापि नात्र स ।
ततोऽनाहारनिर्विण्णो भार्यामित्यब्रवीन्निशि ॥१८॥
दारिद्र्यादिह मौर्ख्याच्च ममेदृग्भगौरवम् ।
तदत्र कृत्रिमं युक्त्या विज्ञानं प्रयुनज्म्यहम् ॥१९॥
येनास्य स्थूलदत्तस्य भवेयं गौरवास्पदम् ।
त्वं प्राप्तेऽवसरे चास्मै ज्ञानिनं मां निवेदय ॥१ ॥
इत्युक्त्वा तां विधिस्त्यात्र धिया सुप्ते जने हयम् ।
स्थूलदत्तगृहात्तेन जहे जामातृवाहन ॥१ १॥
दूरं प्रच्छन्नमेतेन स्थापितं प्रातरत्र तम् ।
इतस्ततो विचिन्वन्तोऽप्यदृष्ट्वा जन्या न एभिरे ॥१ २॥
अथामङ्गलवित्रस्तं हयचौरगवेषिणम् ।
हरिशर्मवधूरेत्य स्थूलदत्तमभाषत सा ॥१ ३॥
भर्ता मदीयो विज्ञानी ज्योतिर्विद्यादिकोविद ।
अश्वं वा लम्भयत्येनं किमर्थं मन न पृच्छयते ॥१ ४॥

तच्छ्रुत्वा स्थूलदत्तस्तं हरिशर्माणमाह्वयत्।
हयो विस्मृतो हृतेऽस्येत्येवं तु स्मृतोऽस्म्यद्येति वादिनम् ॥१०५॥
विस्मृत न क्षमस्वेति प्रार्थित ब्राह्मणं च स।
पप्रच्छ केनापहृतो हयो न कथ्यतामिति ॥१०६॥
हरिशर्मा ततो मिथ्या रेखा कुर्वन्नुवाच स।
इतो दक्षिणसीमान्ते चोरैः संस्थापितो हय ॥१०७॥
प्रच्छन्नस्थो दिनान्ते च दूरं यावन्न नीयते।
तावदानीयतां गत्वा त्वरितं स तुरङ्गम ॥१०८॥
तच्छ्रुत्वा धावितैः प्राप्य क्षणात्स बहुभिर्नरैः।
आनिन्येऽश्वः प्रशंसद्भिर्विज्ञानं हरिशर्मण ॥१०९॥
ततो ज्ञानीति सर्वेण पूज्यमानो जनेन स।
उवास हरिशर्मात्र स्थूलदत्तार्चितः सुखम् ॥११०॥
अथ गच्छत्सु दिवसेष्वत्र राजगृहान्तरात्।
हेमरत्नादि चौरेण भूरि केनाप्यनीयत ॥१११॥
नाज्ञायत यदा चौरस्तदा ज्ञानिप्रसिद्धित।
आनाययामास नृपो हरिशर्माणमाशु तम् ॥११२॥
स चानीतः क्षिपन् कालं वक्ष्ये प्रातरिति ब्रुवन्।
वासके स्थापितो ज्ञानविघ्नो राज्ञासुरक्षित ॥११३॥
तत्र राजकुले चासीन्नाम्ना जिह्वेति चेटिका।
यया भ्रात्रा समं तच्च नीतमभ्यन्तराद्धनम् ॥११४॥
सा गत्वा निशि तत्रास्य वासके हरिशर्मण।
जिज्ञासया ददौ द्वारि कर्ण तज्ज्ञानशङ्किता ॥११५॥
हरिशर्मा च तत्कालमेकोऽभ्यन्तरे स्थित।
निजां जिह्वां निनिन्दैव मृषाविज्ञानवादिनीम् ॥११६॥
भोगलम्पटया जिह्वे ! किमिदं विहितं त्वया।
दुराचारे सहस्व त्वमिदानीमिह निग्रहम् ॥११७॥
तच्छ्रुत्वा ज्ञानिनानेन ज्ञातास्मीति भयेन सा।
जिह्वाख्या चेटिका युक्त्या प्रविवेश तदन्तिकम् ॥११८॥
पतित्वा पादयोस्तस्य ज्ञानिव्यञ्जनमब्रवीत्।
ब्रह्मन्नियं सा जिह्वाहं त्वया ज्ञातार्थहारिणी ॥११९॥

यह सुनकर स्थूलदत्त ने उस हरिशर्मा को बुलवाया। हरिशर्मा ने कहा—'कल से भूखे हुए मुझे आज घोड़ा खोने पर आपने याद किया' ॥१०५॥

तब 'हमारी भूल को क्षमा करना' ऐसा कहते हुए स्थूलदत्त ने पूछा—हमारा घोड़ा किसने चुराया यह बताओ' ॥१०६॥

उसके यह पूछने पर हरिशर्मा भूमि पर झूठी रेखाएँ खींचता हुआ बताने लगा कि यहाँ से दक्षिणी सीमा के पास चोरों ने घोड़ा रखा है ॥१०७॥

वह छिपा हुआ है, सायंकाल होने पर चोर उसे दूर ले जायेंगे ॥१०८॥

यह सुनकर उधर दौड़कर ढूँढ़ते हुए बहुत-से लोगों ने घोड़ा पा लिया और हरिशर्मा के विज्ञान की प्रशंसा करते हुए उसे घर ले आये ॥१०९॥

तभी से 'विद्वान् है'—ऐसा समझकर स्थूलदत्त से सम्मानित हरिशर्मा जनता में भी सम्मानित हुआ और सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा ॥११०॥

कुछ दिनों के उपरान्त उस नगर के राजा के यहाँ सोना, रत्न आदि की चोरी हो गई। जब चोरों का पता न लगा, तब ज्योतिषी के नाम से प्रसिद्ध हरिशर्मा को राजा ने बुलवाया ॥१११-१२२॥

बुलवाये हुए हरिशर्मा ने व्यर्थ समय व्यतीत करते हुए कहा कि 'सवेरे बताऊँगा'। तब राजा ने सुरक्षा के साथ उसे किसी कमरे में ठहरा दिया ॥११३॥

राजा के यहाँ जिह्वा नाम की एक सेविका थी। जिसने अपने भाई की सहायता से राजमहल में चोरी कराकर धन का अपहरण किया था ॥११४॥

वह जिह्वा चोरी के कारण शंकितहृदय होकर रात को हरिशर्मा के निवास पर जाकर द्वार से कान लगाकर सुनने लगी। उस समय हरिशर्मा कमरे में अकेला बैठा हुआ झूठा विज्ञान बतानेवाली अपनी जिह्वा (जीभ) की निन्दा कर रहा था ॥११५-११६॥

हे जिह्वा भोग की लम्पट—तूने यह क्या किया? दुराचारिणी अब उसका दंड सहन कर' ॥११७॥

यह सुनकर भयभीत सेविका 'इसने मुझे जान लिया' ऐसा सोचकर प्राणदण्ड के भय से व्याकुल होकर किसी उपाय से हरिशर्मा के पास पहुँची ॥११८॥

और उस बनावटी ज्योतिषी के चरणों में गिरकर कहने लगी—'हे ब्राह्मण मैं ही वह जिह्वा हूँ जिस धनापहारिणी को तुमने जान लिया है ॥११९॥

नीत्वा तच्च मयास्यैव मन्दिरस्येह पृष्ठतः ।
उद्याने दाडिमस्याधो निखातं भूतले धनम् ॥१२०॥
तद्रक्ष मा गृहाण च किंचिच्च मे हेम हस्तगम् ।
एतच्छ्रुत्वा सभय स हरिशर्मा जगाद ताम् ॥१२१॥
गच्छ जानाम्यहं सर्वं भूतं भव्यं भवत्तथा ।
त्वां तु नोद्घाटयिष्यामि कृपणां शरणागताम् ॥१२२॥
यच्च हस्तगतं तेऽस्ति तद्दास्यसि पुनर्मम ।
इत्युक्ता तेन सा चेटी तथेत्याशु ततो ययौ ॥१२३॥
हरिशर्मा च स ततो विस्मयादित्यचिन्तयत् ।
असाध्यं साधयत्यर्थं हेलयाभिमुखो विधिः ॥१२४॥
यदिहोपस्थितेऽनर्थे सिद्धोऽर्थोऽशङ्कितं मम ।
स्वजिह्वां निन्दतो जिह्वा चौरी मे पतिता पुरः ॥१२५॥
शङ्कयैव प्रकाशन्ते बत प्रच्छन्नपातकाः ।
इत्याद्याकलयन्सोऽत्र हृष्टो रात्रिं निनाय ताम् ॥१२६॥
प्रातश्चालीकविज्ञानयुक्त्या नीत्वा स तं नृपम् ।
तत्रोद्याने निखातस्य प्रापयामास तद्धनम् ॥१२७॥
चौरं चाप्यपनीतांशं शशंस प्रपलायितम् ।
ततस्तुष्टो नृपस्तस्मै ग्रामान्दातुं प्रचक्रमे ॥१२८॥
कथं स्यान्मानुषागम्यं ज्ञानं शास्त्रं विनेदृशम् ।
तन्नूनं चौरसंकेतकृतेयं धूर्तजीविका ॥१२९॥
तस्मादेषोऽन्यया युक्त्या वारमेकं परीक्ष्यताम् ।
देव ज्ञानीति कर्णे तं मन्त्री राजानमभ्यधात् ॥१३ ॥
ततोऽन्तः क्षिप्तमण्डूकं सपिधानं नवं घटम् ।
स्वैरमानाय्य राजा तं हरिशर्माणमब्रवीत् ॥१३१॥
ब्रह्मन् यदस्मिन् घटके स्थितं जानासि तद्यदि ।
तदद्य ते करिष्यामि पूजां सुमहतीमहम् ॥१३२॥
तच्छ्रुत्वा नाशकालं तं मत्वा स्मृत्वा ततो निजम् ।
पित्रा क्रीडाकृतं बाल्ये मण्डूक इति नाम सः ॥१३३॥
विधातृप्रेरितः शुक्लस्तेनात्र परिदेवनम् ।
ब्राह्मणो हरिशर्मा स सहसैवेवमब्रवीत् ॥१३४॥

मैंने धन के लाकर इसी भवन के पीछे उद्यान में अनार के पेड़ के नीचे की भूमि में गाड़ दिया है॥१२ ॥

तो अब मेरी रक्षा करो और मेरे हाथ में जो सोना है उसे ले लो। यह सुनकर हरिशर्मा गर्व के साथ कहने लगा॥१२१॥

'तू जा मैं भूत भविष्य सब जानता हूँ। दीन और शरण में आई हुई तुझे प्रकट न करूँगा। जो तेरे हाथ में धन है उसे मुझे द देगी तब ऐसा करूँगा'॥१२२॥

हरिशर्मा से इस प्रकार कही गई दासी उसकी बात मानकर शीघ्र चली गई॥१२३॥

तदनन्तर स्वयं चकित हरिशर्मा ने आश्चर्य से सोचा कि अनुकूल दैव असाध्य बात को भी सरलता से ही सिद्ध कर देता है॥१२४॥

देखो मेरे सामने अनर्थ उपस्थित था किन्तु अब निःसन्देह मेरा काम सिद्ध हो गया। अपनी जिह्वा की निन्दा करते हुए चोरिणी जिह्वा सामने आगई॥१२५॥

आश्चर्य है छिपे हुए पाप शंका से ही प्रकाशित हो जाते हैं इत्यादि बातें सोचते हुए प्रसन्न हरिशर्मा ने रात्रि व्यतीत की॥१२६॥

प्रातःकाल झूठी रेखा आदि खींचकर, राजा को उस उद्यान में ले गया और गड़ा हुआ धन निकलवा दिया॥१२७॥

और कह दिया कि चोर कुछ हिस्सा लेकर भाग गया है। इस बात पर सन्तुष्ट राजा उसे गाँव आदि पुरस्कार में देने को उद्यत हुआ॥१२८॥

तब एक मन्त्री ने राजा के कान में कहा—'ऐसा ज्ञान शास्त्र के बिना मनुष्य के लिए असम्भव है। अतः यह अवश्य ही चोर से बनाई हुई धूर्त की जीविका है॥१२९॥

इसलिए किसी अन्य उपाय से भी इस ज्योतिषी की परीक्षा करनी चाहिए'॥१३ ॥

तब राजा ने एक नया घड़ा मँगाकर, उसमें एक मेंढक डालकर बन्द कर दिया और हरिशर्मा से कहा—॥१३१॥

ब्राह्मण इस घड़े के अन्दर क्या है? यदि बता दो तो तुम्हारी पूजा विशेष रूप से करूँगा'॥१३२॥

यह सुनकर और अपना विनाश-काल जानकर, अपने पिता द्वारा हँसी-हँसी में रखे हुए अपने मेढक नाम को स्मरण कर विलाप करता हुआ दैवप्रेरित हरिशर्मा इस प्रकार बोल उठा—॥१३३-१३४॥

साघोरेण तु मण्डूक सद्यःकण्ठे घटोऽधुना ।
अवशस्य विनाशाय सञ्जातोऽस्य हठादिह ॥१३५॥
तच्छ्रुत्वाहो महाज्ञानी भेकोऽपि विदितोऽमुना ।
इति जल्पन्ननन्दात्र प्रस्तुतार्थान्वयाज्जनः ॥१३६॥
ततस्तत्प्रातिभज्ञानं मन्वानो हरिशर्मणः ।
तुष्टो राजा ददौ ग्रामान् सहेमच्छत्रवाहनान् ॥१३७॥
क्षणाच्च हरिशर्मा स जज्ञे सामन्तसन्निभः ।[1]
इत्थं दैवेन साध्यन्ते सदर्थाः शुभकर्मणाम् ॥१३८॥
तत्सोमदत्त सदृशः दैवेनैवाभिसारिता ।
निर्वार्यसदृश राजस्वत तेजस्वती सुता ॥१३९॥
इति मन्त्रिमुखाच्छ्रुत्वा तस्मै राजसुताय ताम् ।
राजा विक्रमसेनोऽथ ददौ लक्ष्मीमिवात्मजाम् ॥१४०॥
ततः श्वशुरसैन्येन गत्वा जित्वा रिपूंश्च सः ।
सोमदत्तः स्वराज्यस्थस्तस्थौ भार्यासखः सुखम् ॥१४१॥
एवं विधेर्भवति सर्वमिदं विशेषा
स्वामीदृशीं घटयितुं न इह क्षमेत ।
वत्सेश्वरेण सदृशेन विनैव दैव
कुर्यामिह सखि किमत्र कलिङ्गसेने ॥१४२॥
इत्थं कथां रहसि राजसुता निशम्य
सोमप्रभावदनतोऽत्र कलिङ्गसेना ।
तत्प्रार्थिनी शिथिलबन्धुभयत्रपा सा
वत्सेशसङ्गमसमुत्कमना बभूव ॥१४३॥
अथास्तमुपयास्यति त्रिभुवनैकदीपे रवौ
प्रभातसमयागमावधि कथञ्चिदामन्त्र्य ताम् ।
सखीमभिमतोद्यमस्थितमतिं समार्गेण सा
मयासुरसुता ययौ निजगृहाय सोमप्रभा ॥१४४॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके चतुर्थस्तरङ्गः ।

---

१ पारस्यकथास्वपीदृश्यः कथाः समालोक्यन्ते । मीरम्मनविरचित 'चतुर्दर्वेशकथा' नाम्नि पुस्तकेऽप्यीदृशी कथा समायाति । सर्वासां मूलं कथासरित्सागर एव ।

हे मंडूक! भाग-भाले और विवश तेरे नाश के लिए यह बन्धन कारण हुआ' ॥११५॥

यह सुनकर प्रसंग की ओर ध्यान लगाकर वहाँ उपस्थित पुरुषों ने कहा—'ओह! यह तो महान् ज्योतिषी है। इसने मेढक को भी जान लिया' ॥११६॥

तब प्रसन्न राजा ने उसके वचन को प्रतिभा प्रसूत ज्ञान समझकर धान के छत्र, हाथी, घोड़े आदि के साथ ग्राम भी भेंट किये ॥११७॥

क्षण-भर में वह हरिशर्मा सामन्त राजा के समान हो गया।[1] दैव अच्छे कर्मवालों के कार्य स्वयं ऐसे ही सिद्ध कर देता है ॥११८॥

इसलिए दैव ने इस कन्या को सोमदत्त के पास उचित ही अभिसरण करा दिया और अमान्य व्यक्ति को भी हटा दिया ॥११९॥

मन्त्री के मुँह से इस प्रकार कथा सुनकर विश्वमसल ने लक्ष्मी के समान अपनी कन्या राजपुत्र सोमदत्त को दे दी ॥१४० ॥

तदनन्तर सोमदत्त भी श्वसुर की सेना के बल से शत्रुओं पर चढ़ाई करके और उन्हें जीतकर अपने राज्य में अपनी पत्नी के साथ सुखपूर्वक रहने लगा ॥१४१॥

हे कलिङ्गसेने! दैवगति की विशेषता से ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं। अतः ऐसी सुन्दरी तुम्हें वत्सेश्वर से मिलाने में दैव के सिवा और कौन समर्थ है। मैं इस विषय में क्या कर सकती हूँ ॥१४२॥

इस प्रकार, सोमप्रभा के मुख से एकान्त में कथा सुनकर बन्धुओं के भय और लज्जा को छोड़कर कलिंगसेना वत्सराज के संगम के लिए अत्यन्त उत्कंठित हो गई ॥१४३॥

तदनन्तर त्रिभुवन के एकमात्र दीपक सूर्य के अस्त हो जाने पर, प्रातःकाल पुनः आने की अवधि प्रदान करके मयासुर की पुत्री सोमप्रभा अभीष्ट-सिद्धि के लिए उद्यत सखी कलिंगसेना से पूछकर आकाश-मार्ग से घर को चली गई ॥१४४॥

चतुर्थ तरंग समाप्त

---

१ इस कथा से मिलती-जुलती कहानी, ग्रीम्स की 'परियों की कहानी' में भी है। बेनफी का कथन है कि योरोप में प्रचलित ऐसी कहानियों का मूल स्रोत कथासरित्सागर ही है।—अनु

साम्यन्ती च तत सा स स्वप्ने दृष्ट प्रिय विना।
पृच्छन्त्यै चित्रलेखायै सख्यै सव शशंस तत् ॥१५॥
सापि नामाद्यभिज्ञानं न किञ्चित्तस्य जानती।
योगेश्वरी चित्रलेखा तामुपामेवमब्रवीत् ॥ १६॥
सखि देवीवरस्यायं प्रभावोऽत्र किमुच्यते।
किं त्वभिज्ञानशून्यस्ते सोऽन्वेष्टव्य प्रिय कथम् ॥१७॥
परिजानासि चेत्त ते ससुरासुरमानुषम्।
जगल्लिखामि तन्मध्ये त मे वर्णय येन स ॥१८॥
आनीयते मयेत्युक्ता सा तथेत्युदिते तया।
चित्रलेखा क्रमाद् विश्वमलिखद् वर्णवर्तिभि ॥१९॥
तत्रोषा सोऽयमित्यस्या हृष्टाङ्गुल्या सकम्पया।
द्वारवत्यां यदुकुलादनिरुद्धमवर्णयत् ॥२०॥
चित्रलेखा ततोऽवादीत् सखि धन्यासि यत्त्वया।
भर्तानिरुद्ध प्राप्तोऽय पौत्री भगवतो हरे ॥२१॥
योजनानां सहस्रेषु षष्टौ वसति स स्थित।
तच्छ्रुत्वा साधिकौत्सुक्यवक्षासामब्रवीदुपा ॥२२॥
माघ चेत्सखि तस्याङ्कं श्रये श्रीखण्डशीतलम्।
तदत्युद्दामकामाग्निनिर्दग्धां विद्धि मां मृताम् ॥२३॥
श्रुत्वैतच्चित्रलेखा सा तामाश्वास्य प्रियां सखीम्।
तदैवोत्पत्य नभसा ययौ द्वारवतीं पुरीम् ॥२४॥
ददर्श च पृथूत्तुङ्गैर्मन्दिरैरब्धिमध्यगाम्।
कुर्वती तं पुन क्षिप्तमन्थाद्रिक्षिखरभ्रमम् ॥२५॥
तस्यां सुप्त निशि प्राप्य सानिरुद्धं विबोध्य च।
उपानुराग त तस्मै शशंस स्वप्नवर्णनात्[1] ॥२६॥
आदाय चातत्तद्रूपस्वप्नवृत्तान्तमेव तम्।
सोत्क सिद्धिप्रभावेण क्षणेनैवाययौ तत ॥२७॥
एत्य चावेक्षमाणायास्तस्या सख्या खवर्त्मना।
प्रावेशयद्गुप्तायास्तं गुप्तमन्त पुर प्रियम् ॥२८॥

---

१ स्वप्नमेवानिरुद्धं तत्रानयत् चित्रलेखेति मातृपक्षे।

स्वप्न में देखे हुए पति को न पाकर व्याकुल हुई। इसीलिए पूछती हुई सखी से चित्रलेखा से और, सब समाचार कह दिया ॥१५॥

योगेश्वरी चित्रलेखा भी उसके नाम-धाम आदि का परिचय न जानती हुई उषा को इस प्रकार कहने लगी ॥१६॥

हे सखि यह देवी पार्वती के वर का प्रभाव है। इसमें क्या कहा जा सकता है। किन्तु परिचय से रहित वह तेरा प्रियतम कैसे खोजा जा सकता है? ॥१७॥

'यदि तू उसे नहीं पहचानती है तो मैं संसार के सुन्दर देवताओं असुरों और मनुष्यों के चित्र बनाती हूँ उनमें तू मुझे उसे पहचान कर दिखा ॥१८॥

'मैं उसे जानती हूँ'। ऐसा कहने पर चित्रलेखा ने अनेक रंग की कूचियों से सभी सुन्दर व्यक्तियों के चित्र लिखे ॥१९॥

तब उषा ने काँपती हुई अँगुली से द्वारकापुरी के यदुवंशीय अनिरुद्ध को पहचान कर दिखाया ॥२ ॥

यह देखकर चित्रलेखा बोली—'सखि तू धन्य है, जो तूने भगवान् कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को अपना पति प्राप्त किया ॥२१॥

वह यहाँ से साठ हजार योजन (२४ कोस) की दूरी पर है। यह सुनकर अधिक उत्कंठा के वश होकर उषा बोली ॥२२॥

'सखि यदि आज मैं उसकी चन्दन के समान शीतल गोद में न बैठी तो अति प्रचंड कामाग्नि से मुझे भस्म समझो। अर्थात् मर जाऊँगी' ॥२३॥

यह सुनकर चित्रलेखा सखी उषा को धैर्य देकर आकाश से उड़कर द्वारावती नगरी में पहुँची ॥२४॥

उसने समुद्र के मध्य ऊँचे ऊँचे भवनों से शोभित द्वारकापुरी को देखा जो पर्वत-शिखरों के समान ऊँचे भवनों से समुद्र-मन्थन करने के लिए पुनः समुद्र में फेंके हुए मन्दराचल के शिखर का भ्रम उत्पन्न कर रही थी ॥२५॥

उस चित्रलेखा ने वहाँ रात में शयन करते हुए अनिरुद्ध को जगाकर उसके प्रति स्वप्न देखने से उत्पन्न हुए गाढ़े अनुराग का परिचय दिया ॥२६॥

उसी प्रकार के स्वप्न देखने से उत्कण्ठित अनिरुद्ध को लेकर वह योगेश्वरी चित्रलेखा सिद्धि के प्रभाव से क्षण भर में बाण-नगरी में आ गई ॥२७॥

वहाँ आकर अनिरुद्ध को उसका पथ निहारती हुई उषा के महल में गुप्ति द्वारा पहुँचा दिया ॥२८॥

---

१ भागवत के अनुसार चित्रलेखा और अनिरुद्ध को योगबल से उड़ा ले गई थी।

पञ्चमस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनायाः सोमप्रभायाश्च कथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततोऽन्येद्युरुपसृतां तां प्रात सोमप्रभां सखीम्।
कलिङ्गसेना विश्रम्भात् कथां कुर्वत्युवाच सा ॥१॥
मां प्रसेनजिते राज्ञे तातो दास्यति, निश्चितम्।
एतच्छ्रुतं ममाम्बातो दृष्टो वृद्ध स च त्वया ॥२॥
वत्सेशस्तु यथा रूपे त्वयैव कथितस्तथा।
श्रुतिमार्गप्रविष्टेन हृत तेन यथा मन ॥३॥
तत्प्रसेनजितं वृद्धं प्रदर्श्य नय तत्र माम्।
आस्ते वत्सेश्वरो यत्र किं तातेन किमम्बया ॥४॥
एवमुक्तवतीं तां च सोत्का सोमप्रभाब्रवीत्।
गन्तव्यं यदि तद्यामो यन्त्रेण व्योमगामिना ॥५॥
किं तु सर्वं गृहाण त्वं निजं परिकरं यत।
दृष्ट्वा वत्सेश्वरं भूयो नागन्तुमिह शक्ष्यसि ॥६॥
न च त्वं द्रक्ष्यसि पुन पितरौ न स्मरिष्यसि।
दूरस्था प्राप्तदयिता विस्मरिष्यसि मामपि ॥७॥
नह्यवमहमेष्यामि भर्तृवेश्मनि ते सखि।
तच्छ्रुत्वा राजकन्या सा रुदती तामभाषत ॥८॥
तर्हि वत्सेश्वरं तं त्वमिहैवानय मे सखि।
नोत्सहे तत्र हि स्थातुं क्षणमेकं त्वया विना ॥९॥
मानिन्ये चानिरुद्ध किमुषायाश्चित्रलेखया।
आनयत्यपि तथा नैतां मत्तस्त्वं तत्कथां शृणु ॥१० ॥
बाणासुरस्य तनया बभूवोषेति विश्रुता।
तस्याश्चाराधिता गौरी पतिप्राप्त्यै वरं ददौ ॥११॥
स्वप्ने प्राप्स्यसि यत्सङ्गं स ते भर्ता भवेदिति।
ततो देवकुमाराभं कञ्चित्स्वप्ने ददर्श सा ॥१२॥
गान्धर्वविधिना तेन परिणीता तथैव च।
प्राप्ततत्सत्यसम्भोगा प्राबुध्यत निशाक्षये ॥१३॥
अदृष्ट्वा तं पतिं दृष्टं दृष्ट्वा सम्भोगलक्षणम्।
स्मृत्वा गौरीवरं साभूत्सातङ्कभयविस्मया ॥१४॥

पञ्चम तरंग

कलिंगसेना और सोमप्रभा की कथा (क्रमशः)

तदनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल आई हुई सहेली सोमप्रभा से विश्वस्त बातें करती हुई कलिंगसेना कहने लगी ॥१॥

मेरा पिता मुझे प्रसेनजित् को अवश्य दे देगा, यह निश्चित है। यह मैंने अपनी माता से सुना है और तूने उस वृद्ध प्रसेनजित् को देखा है ॥२॥

वत्सराज को तो रूप (सुन्दरता) में जैसा तूने वर्णित किया है कि उसने कानों के मार्ग से प्रवेश करके मेरा हरण कर लिया है ॥३॥

इसलिए पहले मुझे प्रसेनजित् को दिखाओ। और, मुझे वहाँ भी ले चलो जहाँ वत्सराज है। पिता से क्या प्रयोजन और माता से भी क्या करना है ॥४॥

इस प्रकार कहती हुई उत्कंठित कलिंगसेना को सोमप्रभा ने कहा—'यदि ऐसा है तो मन्त्रशक्ति आकाशयान से चलें ॥५॥

किन्तु तुम अपने वस्त्र, आभूषण और सेवकों को साथ ले लो, क्योंकि वत्सराज को देखकर फिर तुम लौट न सकोगी ॥६॥

फिर तुम माता-पिता को न देखोगी और न उन्हें स्मरण ही करोगी, अर्थात् सब भूल जाओगी ॥७॥

और हे सखि, न मैं ही तुम्हारे पति के घर आऊँगी'। यह सुनकर आँसू बहाती हुई राजकुमारी सखी से बोली ॥८॥

मेरी प्यारी सखी, यदि ऐसा है, तो तुम वत्सराज को ही यहाँ ले आओ। मैं तेरे बिना यहाँ एक क्षण भी न ठहर सकूँगी ॥९॥

क्या चित्रलेखा ने उपाय करके अनिरुद्ध को उषा के पास नहीं ला दिया था? इस कथा को जानती हुई भी तुम मुझसे सुनो ॥१ ॥

उषा और अनिरुद्ध की कथा

उषा के नाम से प्रसिद्ध बाणासुर की कन्या थी। उसने गौरी की आराधना की और गौरी ने उसे पति-प्राप्ति का वरदान दिया ॥११॥

कि 'स्वप्न में तुम जिसका संग प्राप्त करोगी, वही तुम्हारा पति होगा' ॥१२॥

तब उसने एकबार देवकुमार के समान किसी को स्वप्न में देखा। गान्धर्व विधि से उसके साथ विवाह आदि किया और प्रातःकाल उठी ॥१३॥

उठने पर स्वप्न में देखे हुए उस पति को न देखकर और सम्भोग के लक्षणों को देखकर गौरी के वर को स्मरण करके वह आतंक और भय से व्याकुल हो गई ॥१४॥

ताम्यन्ती च ततः सा तं स्वप्ने दृष्टं प्रियं विना।
पृच्छन्त्यै चित्रलेखायै सख्यै सर्वं शशंस तत् ॥१५॥
सापि नामाद्यभिज्ञानं न किञ्चित्तस्य जानती।
योगेश्वरी चित्रलेखा तामुषामेवमब्रवीत् ॥ १६॥
सखि देवीवरस्यायं प्रभावोऽत्र किमुच्यते।
किं त्वभिज्ञानशून्यस्ते सोऽन्वेष्टव्यः प्रियः कथम् ॥१७॥
परिजानासि चेत्तं ते ससुरासुरमानुषम्।
जगल्लिखामि तन्मध्ये तं मे दर्शय येन सः ॥१८॥
आनीयते मयेत्युक्त्वा सा तथेत्युदिते तया।
चित्रलेखा क्रमाद् विश्वमलिखद् वर्णवर्तिभिः ॥१९॥
तत्रोषा सोऽयमित्यस्या हृष्टाकृत्या सकम्पया।
द्वारवत्यां यदुकुलादनिरुद्धमदर्शयत् ॥२० ॥
चित्रलेखा ततोऽवादीत् सखि धन्यासि यत्त्वया।
भर्तानिरुद्धः प्राप्तोऽयं पौत्रो भगवतो हरेः ॥२१॥
योजनानां सहस्रेषु षष्टौ वसति स त्वितः।
तच्छ्रुत्वा साधिकौत्सुक्यवशात्तामब्रवीदुषा ॥२२॥
माद्य चेत्सखि तस्याङ्कं श्रये श्रीखण्डशीतलम्।
तदस्यद्दामकामाग्निनिर्दग्धां विद्धि मां मृताम् ॥२३॥
श्रुत्वैतच्चित्रलेखा सा तामाश्वास्य प्रियां सखीम्।
तदैवोत्पत्य नभसा ययौ द्वारवतीं पुरीम् ॥२४॥
ददर्श च पृथूत्तुङ्गैर्मन्दिरैरब्धिमध्यगाम्।
कुर्वतीं तां पुनः क्षिप्तमन्थाद्रिशिखरभ्रमम् ॥२५॥
तस्यां सुप्तं निशि प्राप्य सानिरुद्धं विबोध्य च।
उषानुरागं तं तस्मै शशंस स्वप्नदर्शनात्[१] ॥२६॥
आदाय जाततद्रूपस्वप्नवृत्तान्तमेव तम्।
सोत्कं सिद्धिप्रभावेण क्षणेनैवाययौ ततः ॥२७॥
एत्य चावेक्षमाणायास्तस्याः सख्याः स्वकर्मणा।
प्रावेशयदुषायास्तं गुप्तमन्तःपुरं प्रियम् ॥२८॥

---

१ स्वपन्तमेवानिरुद्धं समानयत् चित्रलेखेति ज्ञायते।

स्वप्न में देखे हुए पति को न पाकर व्याकुल हुई। इसीलिए पूछती हुई सखी से चित्रलेखा ने और, सब समाचार कह दिया ॥१५॥

योगेश्वरी चित्रलेखा भी उसके नाम-धाम आदि का परिचय न जानती हुई उषा को इस प्रकार कहने लगी ॥१६॥

हे सखि यह देवी पार्वती के वर का प्रभाव है। इसमें क्या कहा जा सकता है। किन्तु परिचय से रहित वह तेरा प्रियतम कैसे खोजा जा सकता है? ॥१७॥

'यदि तू उसे नहीं पहचानती है तो मैं संसार के सुन्दर देवताओं असुरों और मनुष्यों के चित्र बनाती हूँ उनमें तू मुझे उसे पहचान कर दिखा ॥१८॥

'मैं उसे लाती हूँ। ऐसा कहने पर चित्रलेखा ने क्रमशः रंग की कूचियों से सभी सुन्दर व्यक्तियों के चित्र लिखे ॥१९॥

तब उषा ने काँपती हुई अँगुली से द्वारकापुरी के यदुवंशीय अनिरुद्ध को पहचान कर दिखाया ॥२ ॥

यह देखकर चित्रलेखा बोली—'सखि तू धन्य है, जो तूने भगवान् कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को अपना पति प्राप्त किया ॥२१॥

वह यहाँ से साठ हजार योजन (२४ कोस) की दूरी पर है। यह सुनकर अधिक उत्कंठा के वश होकर उषा बोली ॥२२॥

'सखि यदि आज मैं उसकी चंदन के समान शीतल गोद में न बैठी तो अति प्रचंड कामाग्नि से मुझे दग्ध समझो। अर्थात् मर जाऊँगी' ॥२३॥

यह सुनकर चित्रलेखा सखी उषा को धैर्य देकर आकाश में उड़कर द्वारावती नगरी में पहुँची ॥२४॥

उसने समुद्र के मध्य ऊँचे-ऊँचे भवनों से शोभित द्वारकापुरी को देखा जो पर्वत-शिखरों के समान ऊँचे भवनों से समुद्र-मन्थन करने के लिए पुनः समुद्र में फेंके हुए मन्दराचल के शिखर का भ्रम उत्पन्न कर रही थी ॥२५॥

उस चित्रलेखा ने वहाँ रात में शयन करते हुए अनिरुद्ध को जगाकर, उसके प्रति स्वप्न देखने से उत्पन्न हुए गाढ़े अनुराग का परिचय दिया ॥२६॥

उसी प्रकार के स्वप्न देखने से उत्कंठित अनिरुद्ध को लेकर वह योगेश्वरी चित्रलेखा सिद्धि के प्रभाव से क्षण भर में बाण-नगरी में आ गई[1] ॥२७॥

वहाँ आकर अनिरुद्ध को उसका पथ निहारती हुई उषा के भवन में गुप्त द्वार पहुँचा दिया ॥२८॥

---

१ भागवत के अनुसार चित्रलेखा सोते अनिरुद्ध को योगबल से उठा ले गई थी।

सा दृष्ट्वैवानिरुद्धं तमुषा साक्षादुपागतम्।
अमृतांशुमिवाम्भोधिवेला नाङ्गेष्ववर्तत ॥२९॥
ततस्तेन समं तस्थौ सखीदत्तेन तत्र सा।
जीवितेनेव मूर्तेन वल्लभेन यथासुखम् ॥३ ॥
तज्ज्ञानात् पितरं चास्याः क्रुद्धं बाणं जिगाय सः।
अनिरुद्धः स्ववीर्येण पितामहबलेन च ॥३१॥
ततो द्वारवतीं गत्वा तावभिन्नतनू उभौ।
उषानिरुद्धौ जज्ञाते गिरिजाशङ्कराविव ॥३२॥
इत्युषामाः प्रियोऽभूत्व मेलितश्चित्रलेखया।
त्वं सप्रभावाप्यधिका ततोऽपि सखि मे मता ॥३३॥
तन्ममामय वत्सेशमिह माम्म चिरं कृथाः।
एवं कलिङ्गसेनातः श्रुत्वा सोमप्रभाब्रवीत् ॥३४॥
चित्रलेखा सुरस्त्री सा समक्षिप्यानयत्परम्।
मादृशी किं विदध्यात्तु परस्पर्शाद्य कुर्वती ॥३५॥
सत्वां नयामि तत्रैव यत्र वत्सेश्वरः सखि।
प्राक्प्रसेनजितं तं ते दर्शयित्वा स्वदर्शिनम् ॥३६॥
इति सोमप्रभोक्ता सा तथेत्युक्त्वा तया सह।

कलिङ्गसेनायाः कौशाम्बीयात्रा

कलिङ्गसेना तत्क्लृप्तं मायायन्त्रविमानकम् ॥३७॥
तदैवारुह्य नभसा सकोपा सपरिच्छदा।
इत्वप्रास्थापिका प्रायात् पित्रोरविदिता ततः ॥३८॥
न हि पश्यति तुङ्गं वा श्वभ्रं वा स्त्रीजनोऽग्रतः।
स्मरेण नीतः परमां धारां वाजीव सादिना ॥३९॥
श्रावस्तीं प्राप्य पूर्वं च तं प्रसनजितं नृपम्।
मृगयानिर्गतं वृद्धं जरा पाण्डु ददर्श सा ॥४०॥
वृद्धाद् व्रजास्माविति तां दूरादिव निषेधता।
उद्धूयमानेन मुहुश्चामरेणोपलक्षितम् ॥४१॥
सोऽयं प्रसनजिद्राजा पित्रास्मै त्वं प्रदित्सिता।
पश्येति सोमप्रभया दर्शितं सोपहासया ॥४२॥

उषा सामान्‌ आते हुए अनिरुद्ध को देखकर इस प्रकार अपने अंगों से बाहर हो गई जिस प्रकार चन्द्र-दर्शन से समुद्र की वेला अपनी सीमा से बाहर हो जाती है ॥२९॥

तदनन्तर उषा सखी द्वारा दिये गये मूर्तिमान्‌ जीवन के समान उस प्राणप्यारे अनिरुद्ध के साथ सुखपूर्वक रहने लगी ॥३ ॥

इस बात को जानकर क्रुद्ध बाणासुर को अनिरुद्ध ने अपने तथा अपने पितामह श्रीकृष्ण के बल से जीत लिया ॥३१॥

तदनन्तर अभिन्नशरीर वे दोनों द्वारकापुरी में जाकर पार्वती और शंकर के समान प्रसिद्ध हुए ॥३२॥

इस प्रकार उषा को सखी चित्रलेखा ने शीघ्र ही उसके प्रियतम से उसे मिला दिया था। हे सखि मैं तुम्हें चित्रलेखा से भी अधिक प्रभावशालिनी समझती हूँ ॥३३॥

इसलिए उस वत्सराज को यहाँ ले आओ। विलम्ब न करो। कलिंगसेना से ऐसा सुन कर सोमप्रभा बोली—॥३४॥

'वह चित्रलेखा देवस्त्री थी इसलिए दूसरे पुरुष को उठा लाई किन्तु पर-पुरुष का स्पर्श भी न करनेवाली मैं यह कार्य कैसे कर सकती हूँ ॥३५॥

इसलिए तुझे ही वहाँ ले जाती हूँ जहाँ वत्सराज है। उससे पहले मैं तुम्हें माँगनेवाले प्रसेनजित्‌ को भी दिखा दूँगी' ॥३६॥

कलिंगसेना की कौशाम्बी-यात्रा

इस प्रकार सोमप्रभा से कही गई कलिंगसेना उसकी बात को मानकर उसके साथ माया-यन्त्र-चालित आकाशयान से अपने सामान और अंतरंग सेवकों के साथ माता-पिता से छिपकर चली गई ॥३७-३८॥

सच है कामदेव द्वारा वेगवती धारा में पहुँचाई गई स्त्रियाँ ऊँचा-नीचा नहीं देखती जिस प्रकार सरपट चाल से चलते हुए घोड़े का सारथी ऊँचा-नीचा नहीं देख पाता ॥३९॥

पहले श्रावस्ती नगरी में पहुँचकर शिकार के लिए निकले हुए और वृद्धावस्था से पीले पड़े हुए प्रसेनजित्‌ को उसने दूर से ही देखा ॥४ ॥

उस राजा के दोनों ओर डुलाये जाते हुए चँवर, मानों सोमप्रभा को 'इस वृद्ध से दूर रहो'—इस प्रकार कहकर दूर से ही निषेध कर रहे थे ॥४१॥

हँसती हुई सोमप्रभा ने कलिंगसेना से उस राजा को दिखाते हुए कहा—देखो यही वह वृद्ध प्रसेनजित्‌ राजा है। जिसे तुम्हारा पिता तुम्हें दे रहा है ॥४२॥

जरसाम मृतो राजा का वृणीतेऽपरा स्वमुम्।
तदितः सखि धीर्घ मां नय वत्सेश्वरं प्रति ॥४३॥
इति सोमप्रभां प्रोक्त्वा तत्क्षण सा तया सह।
कलिङ्गसेना व्योम्नैव कौशाम्बीं नगरीं ययौ ॥४४॥
तत्रोद्यानगतं सा तं वत्सेशं सख्युदीरितम्।
ददर्श दूराद् सोत्कण्ठा चकोरीवामृतत्विषम् ॥४५॥
सा तदुत्फुल्लया दृष्ट्या हृन्यस्तेन च पाणिना।
प्रविष्टोऽस्य पथानेन मामन्तरित्यब्रवीदिव ॥४६॥
सखि सङ्गमयाद्यैव वत्सराजेन मामिह।
एनं विलोक्य हि स्थातुं न शक्ता क्षणमप्यहम् ॥४७॥
इति प्रोक्तवतीं तां सा सखी सोमप्रभाब्रवीत्।
अद्याशुभं मया किञ्चिन्निमित्तमुपलक्षितम् ॥४८॥
तदिदं दिवसं तूष्णीमुद्यानेऽस्मिन्नलक्षिता।
अधितिष्ठस्व मा कार्षीः सखि दूरं गतागतम् ॥४९॥
प्रातरागत्य युक्तिं वा घटयिष्यामि सङ्गमे।
अधुना गन्तुमिच्छामि भर्तुश्चिन्तागृहे गृहम् ॥५०॥
इत्युक्त्वा तामवस्थाप्य ययौ सोमप्रभा ततः।
वत्सराजोऽपि चोद्यानात् स्वमन्दिरमथाविशत् ॥५१॥
ततः कलिङ्गसेना सा तत्रस्था स्वमहत्तरम्।
यथा तत्त्वं स्वसन्देशं गत्वा वत्सेश्वरं प्रति ॥५२॥
प्राहिणोत्प्राङ्निषिद्धापि स्वसख्या धृतनन्त्रया।
स्वतः मार्गमनवाप्नोति युवतीनां मनोभवः ॥५३॥
स च गत्वा प्रतीहारमुखेनावेद्य तत्क्षणम्।
महत्तरः प्रविश्यैव वत्सराजं व्यजिज्ञपत् ॥५४॥
राजन्कलिङ्गदत्तस्य राजस्तक्षशिलापतेः।
सुता कलिङ्गसेनाख्या श्रुत्वा त्वां रूपवत्तरम् ॥५५॥
स्वयंवरार्थमिह ते सम्प्राप्ता त्यक्तबान्धवा।
मायाय त्रविमानेन सानुगा व्योमगामिना ॥५६॥
आनीता गणधारिण्या सख्या सोमप्रभाख्यया।
मयासुरस्य सुतया नलकूबरभार्यया ॥५७॥
तया विज्ञानमायां प्रेषित स्वीकुरुष्व ताम्।
युवयोरस्तु यागोऽयं कौमुदीचन्द्रयोरिव ॥५८॥

'यह राजा जराक्रान्त (वृद्धावस्था से घिरा हुआ) है। अब इसे कौन दूसरी स्त्री वरेगी? इसलिए सखि मुझे यहाँ से शीघ्र वत्सराज की ओर ले चल' ॥४३॥

सोमप्रभा से इस प्रकार कहकर कलिङ्गसेना उसी समय कौशाम्बी नगरी को गई ॥४४॥

वहाँ पर उद्यान में बैठे हुए और सोमप्रभा द्वारा दिखाये गये वत्सराज को उसने ऐसे देखा जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखती है ॥४५॥

कलिङ्गसेना खिली हुई आँखों से उसे देखती हुई हृदय पर हाथ रखकर मानों यह कहने लगी कि 'यह आँखों के मार्ग से यहाँ कैसे घुस गया है?' ॥४६॥

'सखि आज ही तू मुझे इससे मिला दो। मैं इसे देखकर अब एक क्षण भी नहीं ठहर सकती' ॥४७॥

कलिङ्गसेना के ऐसा कहने पर सोमप्रभा बोली— आज मैंने कुछ अशुभसूचक शकुन देखा है ॥४८॥

इसलिए आज के दिन तुम इस उद्यान में छिप कर रहो। सखि दूर तक आना-जाना न करना। एक ही स्थान पर चुपचाप बैठी रहो ॥४९॥

प्रातःकाल आकर तुम दोनों को मिलाने का कोई उपाय करूँगी। अपने स्वामी के हृदय की चर मैं बनी हुई हूँ सखी! मैं तो अभी अपना घर जाना चाहती हूँ ॥५०॥

ऐसा कहकर और उसे उद्यान के एकान्त स्थान में ठहराकर सोमप्रभा चली गई। और वत्सराज भी उद्यान से भवन को चला गया ॥५१॥

तब उत्सुक मनवाली सखी सोमप्रभा के लौट जाने पर भी कलिङ्गसेना ने अपने प्रतीहार को वास्तविक बातें बताकर वत्सराज के पास सन्देश लेकर भेजा और निवेदन किया—॥५२-५४॥

'हे राजन्! तक्षशिला के राजा कलिङ्गदत्त की कन्या कलिङ्गसेना तुम्हें अत्यधिक सुन्दर सुनकर अपने बन्धु-बान्धवों को छोड़कर, मनचालित विमान से अपने अनुचरों के साथ तुम्हारा स्वयं वरण करने के लिए आई है। उसे मयासुर की आकाशगामिनी कन्या और नल-कूबर की स्त्री सोमप्रभा ने यहाँ पहुँचाया है। उस राजकुमारी ने मुझे आपसे यह निवेदन करने के लिए भेजा है कि आप उसे स्वीकार करें। चन्द्र और चन्द्रिका के समान तुम दोनों का सुन्दर समागम हो' ॥५५—५८॥

एव महत्तराच्छ्रुत्वा तं तथेत्यभिनन्द्य च।
प्रहृष्टो हेमवस्त्राद्यैर्वत्सराजोऽप्यपूजयत् ॥५९॥
आहूय चाब्रवी मन्त्रिमुख्यं यौगन्धरायणम्।
राज्ञ कलिङ्गदत्तस्य ख्यातरूपा क्षितौ सता ॥६०॥
स्वय कलिङ्गसेनाख्या वरणाय ममागता।
तद्ब्रूहि शीघ्रमत्यान्यां कदा परिणयामि ताम् ॥६१॥

महामन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य कटनीतिकथनम्

इत्युक्तो वत्सराजेन मन्त्री यौगन्धरायण।
अस्यायतिहितापेक्षी क्षणमेवमचिन्तयत् ॥६२॥
कलिङ्गसेना सा तावत्ख्यातरूपा जगत्त्रये।
नास्त्यन्या तादृशी तस्यै स्पृहयन्ति सुरा अपि ॥६३॥
तां लब्ध्वा वत्सराजोऽयं सर्वमन्यत्परित्यजेत्।
देवी वासवदत्ता च तत प्राणैर्विमुच्यते ॥६४॥
नरवाहनदत्तोऽपि नश्येद्राजसुतस्तत।
पद्मावत्यपि तत्स्नेहाद्देवी जीवति दुष्करम् ॥६५॥
ततश्चण्डमहासेनप्रद्योतौ पितरौ द्वयो।
देव्योर्विमुञ्चत प्राणान् विकृतिं वापि गच्छत ॥६६॥
एवं च सर्वनाश स्यान्न च युक्तं निषेधनम्।
राज्ञोऽस्य व्यसनं यस्माद् वारितस्याधिकीभवेत् ॥६७॥
तस्मान्नुप्रवेशास्य सिद्धये कालं हराम्यहम्।
इत्यालोच्य स वत्सेशं प्राह यौगन्धरायण ॥६८॥
देव धन्योऽसि यस्यैषा स्वय ते गृहमागता।
कलिङ्गसेना भृत्यस्ते प्राप्तश्चतत्पिता नृप ॥६९॥
तत्त्वया गणकान् पृष्ट्वा सुलग्नेऽस्या यथाविधि।
कार्य पाणिग्रहो राज्ञो महतो दुहिता ह्यसौ ॥७०॥
अद्यास्या दीयतां तावद्योग्यं वासगृहं पृथक्।
दासीदासा विसृज्यन्तां वस्त्राण्याभरणानि च ॥७१॥
इत्युक्तो मन्त्रिमुख्येन वत्सराजस्तथेति तत्।
प्रहृष्टहृदय सर्व सविशेषं चकार स ॥७२॥

कलिङ्गसेना च तत्र प्रविष्टा वासवेश्म तत् ।
स्वमनोरथमासन्नं मत्वा प्राप परां मुदम् ॥७३॥
यौगन्धरायणः सोऽपि क्षणाद्राजकुलात्ततः ।
निर्गत्य स्वगृहं मत्वा धीमानेवमचिन्तयत् ॥७४॥
प्रायोऽशुभस्य कार्यस्य कालहारः प्रतिक्रिया ।
तथा च वृत्रशत्रौ प्राग्ब्रह्महत्यापलायिते ॥७५॥
देवराज्यमवाप्तेन नहुषेणाभिवाञ्छिता ।
रक्षिता देव गुरुणा शची शरणमाश्रिता ॥७६॥
अद्य प्रातस्त्वमेति स्वामित्युक्त्वा कालहारतः ।
यावत्स नष्टो नहुषो हुङ्कारात् ब्रह्मशापतः ॥७७॥
प्राप्तश्च पूर्ववच्छक्रः स पुनरमरराजताम् ।
एवं कलिङ्गसेनार्थे कालः क्षेप्यो मया प्रभोः ॥७८॥
इति सञ्चिन्त्य सर्वेषां गणकानां स संविदम् ।
दूरलग्नप्रदानाय मन्त्री गुप्तं व्यधात्तदा ॥७९॥
अथ विज्ञाय वृत्तान्तं देव्या वासवदत्तया ।
आहूय स महामन्त्री स्वमन्दिरमनीयत ॥८०॥
तत्र प्रविष्टं प्रणतं रुदती सा जगाद तम् ।
आर्य ! पूर्वं त्वयोक्तं मे यथा देवि मयि स्थिते ॥८१॥
पद्मावत्या ऋते मान्या सपत्नी ते भविष्यति ।
कलिङ्गसेनाप्यद्यैषा पश्येह परिणेष्यते ॥८२॥
सा च रूपवती तस्यामार्यपुत्रश्च रज्यति ।
अतो वितथवादी त्वं जातोऽहं च मृताधुना ॥८३॥
तच्छ्रुत्वा तामवोचत्स मन्त्री यौगन्धरायणः ।
धीरा भव कथं ह्येतद्देवि स्यान्मम जीवतः ॥८४॥
त्वया तु नाम कर्तव्या राज्ञोऽस्य प्रतिकूलता ।
प्रत्युतालम्ब्य धीरत्वं दर्शनीयानुकूलता ॥८५॥
नातुरः प्रतिकूलोक्तैर्वैद्यस्य वर्तते ।
वर्तते त्वनुकूलोक्तैः साम्नैवाचरतः क्रियाम् ॥८६॥
प्रतीपं कृष्यमाणो हि नोत्तरेत्सरितो नरः ।
वाह्यमानोऽनुकूलं तु नोद्योगाद् व्यसनात्यया ॥८७॥
अतः समीपमायान्तं राजानं त्वमविक्रिया ।
उपचारैरुपचरेः संवृत्याकारमात्मनः ॥८८॥

कलिङ्गसेना भी नये वास भवन में जाकर अपना मनोरथ सिद्ध समझकर अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥७३॥

बुद्धिमान् यौगन्धरायण भी राजभवन से तुरन्त अपने घर जाकर इस प्रकार सोचने लगा। समय व्यतीत करना ही अशुभ काम का प्रतिकार है। पहले समय में ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के भाग जाने पर देवराज्य प्राप्त करके नहुष राजा ने इन्द्राणी को प्राप्त करना चाहा था। तब देवगुरु बृहस्पति के शरण में आई हुई इन्द्राणी की यही कहकर नहुष से रक्षा की थी कि 'आज आवेगी कल आवेगी'। इसी बीच राजा नहुष ब्राह्मणों के शाप से नष्ट हो गया और इन्द्र पुनः देवराज बन गया। इसी प्रकार मुझे भी कलिङ्गसेना के लिए राजा का समय टालते रहना चाहिए ॥७४-७८॥

ऐसा सोचकर सभी ज्योतिषियों से सम्मति करके उसने एक लम्बी अवधि के पश्चात् लग्न निकलने का गुप्त परामर्श किया ॥७९॥

तदनन्तर महारानी वासवदत्ता ने आई हुई कलिङ्गसेना का समाचार जानकर मन्त्री यौगन्धरायण को अपने भवन में बुलवाया ॥८०॥

वासवदत्ता के घर में जाकर और प्रणाम करते हुए यौगन्धरायण से रोती हुई वासवदत्ता कहने लगी—'आर्य तुमने पहले ही मुझसे कहा था कि देवि मेरे रहते हुए पद्मावती के सिवा दूसरी सौत तुम्हारी नहीं होगी। अब देखो यह कलिङ्गसेना भी आज विवाहित हो जायगी। यह अत्यन्त रूपवती है और राजा उसके प्रति अत्यन्त आसक्त है। अतः तुम अब झूठे बन और मैं मरी अर्थात् आत्महत्या करूँगी' ॥८१-८३॥

यह सुनकर मन्त्री यौगन्धरायण वासवदत्ता से कहने लगा—'देवि धैर्य रखो। मेरे जीते जी यह कैसे हो सकता है? किन्तु तुम्हें इस सम्बन्ध में राजा का विरोध न करना चाहिए। प्रत्युत धैर्य के साथ अनुकूलता ही प्रकट करनी चाहिए ॥८४-८५॥

प्रतिकूल चलने से रोगी वैद्य के वश में नहीं आता। शान्तिपूर्वक रोगी की अनुकूल चिकित्सा करने पर ही वह उसके वश में आता है ॥८६॥

मनुष्य विपरीत क्रिया द्वारा भारी उद्योग या व्यसन से दूर नहीं होता। इसलिए पास आये हुए राजा को तुम सरल भाव से अपनी भावना को छिपाकर विविध प्रकार से सेवा करना ॥८७-८८॥

कलिङ्गसेनास्वीकारं श्रद्दध्यान्तस्य साम्प्रतम्।
वृद्धिं प्रमाणा राज्यस्य महायै तत्पितर्यपि ॥८९॥
एवं कृते च माहात्म्यगुणं दृष्ट्वा परं तव।
प्रवृद्धस्नेहदाक्षिण्यो राजासौ भवति त्वयि ॥९०॥
मत्वा कलिङ्गसेनां च स्वाधीनां नोत्सुको भवेत्।
वार्यमाणस्य वाञ्छा हि विषयेष्वभिवर्द्धते ॥९१॥
देवी पद्मावती चैतच्छिक्षणीया त्वयानघे।
एवं स राजा कार्येऽस्मिन्कालक्षेपं सहेत न ॥९२॥
अतः परं च जानेऽहं पदयेमुक्तिवरं मम।
सङ्कटे हि परीक्ष्यन्ते प्राज्ञाः शूराश्च सङ्गरे ॥९३॥
तद्देवि मा विषण्णा भूरिति देवीं प्रबोध्य ताम्।
तयादृतोक्तिः स ययौ ततो यौगन्धरायणः ॥९४॥
वत्सेश्वरश्च तदहर्न दिवा न रात्रौ
देव्योर्द्वयोरपि स वासगृहं जगाम।
तादृक्स्वयंवररसापनमत्तकलिङ्ग
सेनासमानवसगमसोत्कचेताः ॥९५॥
रात्रिं च दुर्लभरसोत्सुकतातिगाढ
चिन्तामहोत्सवमयीमिव तां ततस्ते।
निन्युः स्वसद्मसु पृथक्पृथगेव देवी
वत्सेशतत्सचिवमुख्यकलिङ्गसेनाः ॥९६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे मदनमञ्चुका लम्बके पञ्चमस्तरङ्गः।

षष्ठस्तरङ्गः

कलिङ्गसेनायाः कथा

यौगन्धरायणस्य कूटनीतिप्रपञ्चः

ततः प्रतीक्षमाणं तं वत्सराजमुपेत्य सः।
यौगन्धरायणो धूर्तः प्रातर्मन्त्री व्यजिज्ञपत् ॥१॥
[1]अस्मिन् कलिङ्गसेनाया देवस्य च शुभावहं।
विवाहमङ्गलायेह किं नाद्यैव विलोक्यते ॥२॥

---

1 प्राचीनपुस्तकेऽस्माच्छ्लोकात्पूर्वं राजन् ! कलिङ्गदत्तस्य राजसत्तमस्तित्यधिकः पाठः समुपलभ्यते।

इस समय कलिंगसेना की स्वीकृति को भी सादर मान लेना। यह भी कहना कि उसके पिता कलिंगदत्त राजा की सहायता से राज्य की वृद्धि ही होगी ॥८९॥

ऐसा करने पर तुम्हारे हृदय की उदारता और महत्ता से बद्ध हुए स्नेहवाला राजा तुम्हारी ओर आ जायगा ॥९०॥

और कलिंगसेना को स्वाधीन (स्वतन्त्र) समझकर उसके प्रति वह उत्सुक न होगा। विषयों से रोके जाते हुए व्यक्ति की इच्छा विषयों की ओर ही अधिक दौड़ती है ॥९१॥

रानी पद्मावती को भी इसी प्रकार, शिक्षा देना। इस प्रकार, तुम लोगों से सँभाला हुआ राजा हमारे द्वारा किये जाते हुए विलम्ब को सहन कर लेगा ॥९२॥

इससे अधिक मैं नहीं जानता। अब मेरी बुद्धि का बल देखो। संकट-काल में बुद्धिमान् और युद्ध-काल में शूरवीर की परीक्षा होती है ॥९३॥

इसलिए हे देवि खिन्न न होओ। इस प्रकार, रानी को समझाकर और अपनी बातों का समर्थन प्राप्त कर यौगन्धरायण चला गया ॥९४॥

स्वयंवर के रस से अभिभूत होकर आनेवाली ऐसी कलिंगसेना के प्रथम समागम के लिए उत्कंठित चित्तवाला वत्सराज उस दिन न दिन में और न रात में ही किसी भी रानी के भवन में गया ॥९५॥

और उधर, कलिंगसेना ने भी वह रात दुर्लभ रस प्राप्त करने की उत्सुकता गम्भीर चिन्ता और महोत्सव के स्मरण में व्यतीत की ॥९६॥

पंचम तरंग समाप्त

षष्ठ तरंग

कलिंगसेना की कथा (चालू)

मन्त्री यौगन्धरायण का कूटनीति-प्रपंच

तदनन्तर, दूसरे दिन प्रातःकाल प्रतीक्षा करते हुए वत्सराज से धूर्त (चतुर) मन्त्री यौगन्धरायण ने आकर निवेदन किया—'महाराज आपके लिए कल्याणदायक कलिंगसेना का विवाह-महोत्सव आज ही क्यों न देख लिया जाय' ॥१ २॥

तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीद्राजा ममाप्येवं हृदि स्थितम् ।
तां विना हि मुहूर्तं मे स्थातुं न सहते मनः ॥३॥
इत्युक्त्वैव स तत्कालं प्रतीहारं पुरःस्थितम् ।
आदिश्यानाययामास गणकान् सरलाशयः ॥४॥
तेन पृष्टा महामन्त्रिपूर्वस्थापितसंविदः ।
ऊचुर्लग्नोऽनुकूलोऽस्ति राज्ञो मासेषु षट्स्वितः ॥५॥
तच्छ्रुत्वैव मृषा कोपं कृत्वा यौगन्धरायणः ।
अज्ञा इमे धिगित्युक्त्वा राजानं निपुणोऽब्रवीत् ॥६॥
योऽसौ ज्ञानीति देवेन पूजितो गणकः पुरा ।
स नागतोऽद्य तं पृष्ट्वा यथायुक्तं विधीयताम् ॥७॥
एतन्मन्त्रिवचः श्रुत्वा वत्सेशो गणकं तदा ।
तमप्यानाययामास दोलारूढेन चेतसा ॥८॥
सोऽप्यस्य कालहाराय स्थितसंविदथैव तम् ।
लग्नं पृष्टोऽब्रवीद्ध्यात्वा षण्मासान्ते व्यवस्थितम् ॥९॥
ततो राजानमुद्विग्न इव यौगन्धरायणः ।
जगाद देव कर्तव्यं किमत्रादिश्यतामिति ॥१०॥
राजाप्युत्कः सुलग्नैषी स विमृश्य ततोऽभ्यधात् ।
कलिङ्गसेना प्रष्टव्या सा किमाहेत्यवेक्ष्यताम् ॥११॥
तच्छ्रुत्वा स तथेत्युक्त्वा गृहीत्वा गणकद्वयम् ।
पार्श्वं कलिङ्गसेनाया ययौ यौगन्धरायणः ॥१२॥
तया कृतादरो दृष्ट्वा तद्रूपं स व्यचिन्तयत् ।
प्राप्येमां व्यसनाद्राजा सर्वं राज्यं त्यजेदिति ॥१३॥
उवाच चैनामुद्वाहलग्नं ते गणकैः सह ।
निश्चेतुमागतोऽस्म्येतैर्जन्मर्क्षं तन्निवेद्यताम् ॥१४॥
तच्छ्रुत्वा जन्मनक्षत्रं तस्याः परिजनोदितम् ।
गणकास्ते मृषा कृत्वा विचारं मन्त्रिसंविदा ॥१५॥
लग्नं तथैव तत्रापि मासषट्कान्तवर्तिनम् ।
नार्वागस्ति पुरोऽस्तीति वदन्तः पुनरभ्यधुः ॥१६॥

श्रुत्वा दूरतरं तं च लग्नमाविग्नचेतसि ।
ततः कलिङ्गसेनायां स महत्तरकोऽभ्यधात् ॥१७॥
प्रेक्ष्यो लग्नोऽनुकूलः प्रायेण स्यादेतयोः शुभम् ।
यावत्कालं हि दम्पत्योः किं चिरेणाचिरेण वा ॥१८॥
एतं महत्तरवचः श्रुत्वा सर्वेऽपि तत्क्षणम् ।
सयुक्तमेवमेवैतदिति तत्र बभाषिरे ॥१९॥
यौगन्धरायणोऽप्याह हा कुलग्ने कृते च नः ।
कलिङ्गदत्तः सम्बन्धी राजा खेदं व्रजेदिति ॥२०॥
ततः कलिङ्गसेनापि सर्वांस्तानवदत् सखी ।
यथा भवन्तो जानन्तीत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव सा ॥२१॥
तदेव च वचस्तस्या गृहीत्वामन्त्र्य तां ततः ।
यौगन्धरायणो राज्ञः पार्श्वं सगणको ययौ ॥२२॥
तत्र तस्मै तदाचख्यौ वत्सेशाय तथैव सः ।
युक्त्या च तमवस्थाप्य स जगाम निजं गृहम् ॥२३॥
सिद्धकालातिपातश्च कार्यशेषाय तत्र सः ।
योगेश्वराख्यं सुहृदं सस्मार ब्रह्मराक्षसम् ॥२४॥
स पूर्वप्रतिपन्नस्तं स्वैरं ध्यानादुपस्थितः ।
राक्षसो मन्त्रिणं नत्वा किं स्मृतोऽस्मीत्यवोचत ॥२५॥
ततः स मन्त्री तस्मै तं वृत्तं व्यसनं प्रभोः ।
कलिङ्गसेनावृत्तान्तमुक्त्वा भूयो जगाद तम् ॥२६॥
कालो मया हृतो मित्र तन्मध्ये त्वं स्वयुक्तितः ।
वृत्तं कलिङ्गसेनायाः प्रच्छन्नोऽस्या निरूपयेः ॥२७॥
विद्याधरादयस्तां हि छन्नं वाञ्छन्ति निश्चितम् ।
यतोऽन्या तादृशी नास्ति रूपेणास्मिञ्जगत्त्रये ॥२८॥
अतः केनापि सिद्धेन सह विद्याधरेण वा ।
गच्छेत्सा यदि तच्च त्वं पश्येस्तद्भद्रकं भवेत् ॥२९॥
अन्यरूपागतश्चात्र लक्ष्यस्ते दिव्यकामुकः ।
स्वापकाले यतो दिव्याः सुप्ताः स्वे रूप आसते ॥३ ॥
एवं त्वद्दृष्टितस्तस्या दोषोऽस्माभिर्विलोक्यते ।
तस्यां राजा विरज्येच्च तत्कार्यं निर्वहेच्च नः ॥३१॥

कलिंगसेना के बहुत लम्बे समय बाद का लग्न सुन व्याकुल होने पर उसके प्रतीहार ने कहा—॥१७॥

'सबसे पहले शुभ लग्न देखना चाहिए, जिससे कि इन दोनों (दम्पति) का कल्याण हो। विलम्ब और शीघ्रता का उतना महत्त्व नहीं ॥१८॥

वृद्ध प्रतीहार के वचन सुनकर सभी उपस्थित लोगों ने उसकी बात का समर्थन करते हुए कहा कि इन्होंने ठीक ही तो कहा है ॥१ ॥

यौगन्धरायण ने भी कहा कि 'यदि अनुकूल लग्न में विवाह हुआ तो हमारे सम्बन्धी कलिंगदत्त को भी भेद होगा' ॥२ ॥

तब कलिंगसेना भी विवश होकर बोली—'जैसा आप सब लोग उचित समझें करें'—इतना कहकर वह चुप हो गई ॥२१॥

कलिंगसेना की इस बात को लेकर और उससे जाने की आज्ञा प्राप्त कर मन्त्री यौगन्धरायण गणकों के साथ राजा के पास गया ॥२२॥

वहाँ जाकर वत्सराज से उसी प्रकार सब निवेदन करके और उसे युक्तिपूर्वक समझा बुझाकर वह अपने घर गया ॥२३॥

समय व्यतीत करने की उसकी योजना सफल होने पर और अवशिष्ट काम की सिद्धि के लिए उसने अपने मित्र योगेश्वर नामक ब्रह्मराक्षस को बुलाया ॥२४॥

वह ब्रह्मराक्षस पहले से ही सिद्ध था अतः उसके ध्यान करते ही उपस्थित हो गया ॥२५॥

राक्षस ने मन्त्री को प्रणाम करते हुए पूछा कि 'मुझे क्यों स्मरण किया है?' ॥२६॥

तब मन्त्री यौगन्धरायण ने राजा की विपत्ति देनेवाले कलिंगसेना के समस्त वृत्तान्त को कहकर फिर कहा—'मित्र मैंने समय तो टाल दिया है। अभी छह महीने हैं। इस बीच छिपे छिपे कलिंगसेना का हाल-चाल देखना ॥२७॥

विद्याधर सिद्ध आदि भी उस निर्दिष्ट रूप को चाहते हैं। कारण यह कि तीनों लोकों में उसके समान सुन्दरी दूसरी नहीं है ॥२८॥

यदि वह किसी सिद्ध या विद्याधर के साथ सम्पर्क करे तो तुम देखना इसमें हमारा शुभ होगा ॥ ॥

रूप परिवर्तित कर आये हुए दिव्य कामियों का भी ध्यान रखना क्योंकि दिव्य व्यक्ति रूप परिवर्तित करने पर भी शयन करने के समय अपने वास्तविक रूप में आ जाते हैं ॥३ ॥

इस प्रकार तुम्हारी आँखों से हम उसके दोष देख सकेंगे। इससे राजा को उसके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जायगा और हमारा कार्य सिद्ध हो जायगा ॥३१॥

इत्युक्तो मन्त्रिणा तेन सोऽब्रवीद् ब्रह्मराक्षसः।
युक्त्याहमेव किं नैतां ध्वंसयामि निहन्मि वा ॥३२॥
तच्छ्रुत्वैव महामन्त्री तं स यौगन्धरायणः।
उवाच नैतत्कर्तव्यमधर्मो हि महान् भवेत् ॥३३॥
यश्च धर्ममबाधित्वा स्वेन सञ्चरते पथा।
तस्योपयाति साहाय्यं स एवाभीष्टसिद्धिषु ॥३४॥
सततस्याः स्थितो दोषः प्रेक्षणीयस्त्वया सखे।
येनास्माभिर्भवमैत्र्या राजकार्यं कृतं भवेत् ॥३५॥
इति मन्त्रिवरादिष्टः स गत्वा ब्रह्मराक्षसः।
गृहं कलिङ्गसेनाया योगच्छन्नः प्रविष्टवान् ॥३६॥
अत्रान्तरे सखी तस्याः सा मयासुरपुत्रिका।
आगात्कलिङ्गसेनायाः पार्श्वं सोमप्रभा पुनः ॥३७॥
सा पृष्ट्वा रात्रिवार्तां तां युक्तयर्थं मयात्मजा।
राजपुत्रीमुवाचैव तस्मिन् शृण्वति राक्षसे ॥३८॥
अद्य पूर्वाह्ण एवाहं विचिन्त्य त्वामिहागता।
छन्ना स्थितिष्ठं त्वत्पार्श्वे दृष्ट्वा यौगन्धरायणम् ॥३९॥
श्रुतश्च युष्मदालापः सर्वं चावगतं मया।
तत्किं त्वया न एवैतदारब्धं मन्त्रिविद्यया ॥४०॥
मन्यपोह्यानिमित्तं हि कार्यं मन्त्र्यते सखि।
तदभिप्राय कल्पेत तथा चेमां कथां शृणु ॥४१॥

विष्णुदत्तस्य तत्सप्तसहायाविद्यान्धकथा

अन्तर्वेद्या[1]मभूत्पूर्वं वसुदत्त इति द्विजः।
विष्णुदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योदपद्यत ॥४२॥
स विष्णुदत्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सरः।
गन्तुं प्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीं पुरीम् ॥४३॥
मिलन्ति स्म च तस्यान्ये सप्त विप्रसुताः समाः।
सप्तापि ते पुनर्मूर्खाः स विद्वान् सत्कुलोद्गतः ॥४४॥

---

१ अन्तर्वेदी।

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर, वह ब्रह्मराक्षस बोला—'मैं किसी उपाय से उसे क्यों न नष्ट कर दूँ या मार डालूँ ? ॥३२॥

यह सुनकर महामन्त्री यौगन्धरायण बोला—'ऐसा न करना चाहिए क्योंकि इससे महान् अधर्म होगा' ॥३३॥

जहाँ धर्म की रक्षा करते हुए मनुष्य अपने इच्छानुसार चलता है या कार्य करता है वहाँ पर धर्म ही उसकी सहायता करता है ॥३४॥

इसलिए मित्र तुम उसके निजी दोष को न देखो जिससे कि मैं तुम्हारी मित्रता के कारण राजा का कल्याण-कार्य सिद्ध कर सकूँ ॥३५॥

मन्त्री द्वारा इस प्रकार आदेश देने पर ब्रह्मराक्षस कलिंगसेना के भवन में आकर छिपकर बैठ गया ॥३६॥

इसी बीच कलिंगसेना की सखी मयासुर की पुत्री सोमप्रभा उसके पास फिर आई ॥३७॥

उसके कलिंगसेना से रात की बात पूछने पर ब्रह्मराक्षस के सुनते हुए कलिंगसेना ने सारा वृत्तान्त मयासुर की पुत्री को सुनाया जिसे ब्रह्मराक्षस सुन रहा था ॥३८॥

तब सोमप्रभा बोली—'आज मैं दिन के प्रथम प्रहर में ही तेरे पास आ गई थी किन्तु तुम्हारे पास यौगन्धरायण को देखकर छिपी रही ॥३९॥

तब तुम्हारी बातचीत तथा और सब कुछ मैंने जान लिया। मेरे मना करने पर भी तूने यह ही यह कार्य क्यों कर डाला ?॥४ ॥

बिना समझे-बूझे और बिना कारण जो कार्य किया जाता है उसमें अनिष्ट ही होता है। उदाहरण के लिए इस प्रसंग की एक कथा सुनो' ॥४१॥

विष्णुदत्त और उसके सात साथियों की कथा

प्राचीन समय में अन्तर्वेदी देश में वसुदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसके पुत्र का नाम विष्णुदत्त था ॥४२॥

वह विष्णुदत्त जब पूरे सोलह वर्ष की अवस्था का था तब विद्या-प्राप्ति के लिए वलभीपुरी में जाने के लिए तैयार हुआ। साथ जाने के लिए उसे और भी सात ब्राह्मण-पुत्र मिले। वे सातों मूर्ख थे। केवल विष्णुदत्त ही उनमें बुद्धिमान् और सद्गुणोत्तम ब्राह्मण था ॥४३ ४४॥

कृत्वान्योन्यपरित्यागशपथं तैः समं ततः ।
विष्णुदत्तः प्रतस्थे स पित्रोरविदितो निशि ॥४५॥
प्रस्थितश्चाग्रतोऽकस्मादनिमित्तमुपस्थितम् ।
दृष्ट्वा सोऽत्र वयस्यांस्तान् सहप्रस्थायिनोऽभ्यधात् ॥४६॥
अनिमित्तमिदं हन्त युक्तमद्य निवर्तितुम् ।
पुनरेव प्रयास्यामः सिद्धये शकुनान्विताः ॥४७॥
तच्छ्रुत्वैव सहायास्तं मूर्खाः सप्तापि तेऽब्रुवन् ।
मृषा माभीगमः शङ्कां नह्यतो बिभिमो वयम् ॥४८॥
त्वं भेतुमिच्छसि चेत्तन्मा गा वयं यामोऽधुनैव तु ।
प्रातर्विदितवृत्तान्ता नास्मांस्त्यक्ष्यन्ति बान्धवाः ॥४९॥
इत्युक्तवद्भिरज्ञैस्तैः सार्कं शपथयन्त्रितः ।
विष्णुदत्तो ययावेव स स्मृत्वाघहरं हरिम् ॥५०॥
रात्र्यन्ते च विलोक्यान्यदनिमित्तं पुनर्वदन् ।
मूर्खैस्तैः सखिभिः सर्वैः स एवं निरभर्त्स्यत ॥५१॥
एतदेवानिमित्तं न किमन्येनाद्ध्वमीलनं ।
यस्त्वमस्माभिरामीतः काकशङ्की पदे पदे ॥५२॥
इत्यादि भर्त्सना कृत्वा गच्छद्भिस्तैः समं च सः ।
विवशः प्रययौ विष्णुदत्तस्तूष्णीं बभूव च ॥५३॥
नोपदेशो विधातव्यो मूर्खस्य स्वामिचारिणः ।
सत्कारोऽवस्करस्येव तिरस्कारकरो हि सः ॥५४॥
एको बहूनां मूर्खाणां मध्ये निपतितो बुधः ।
पद्मः पायस्तरङ्गाणामिव विप्लवते ध्रुवम् ॥५५॥
तस्मादेषां न वक्तव्यं मया भूयो हिताहितम् ।
तूष्णीमेव प्रयातव्यं विधिः श्रेयो विधास्यति ॥५६॥
इत्याद्यालोच्यन्मूर्खैः प्रक्रमस्तैः समं पथि ।
विष्णुदत्तो दिनस्यान्ते शबरग्राममाप सः ॥५७॥
तत्र भ्रान्त्वा निशि प्राप तरुण्याधिष्ठितं स्त्रिया ।
गृहमेकं ययाचे च निवासं सोऽत्र तां स्त्रियम् ॥५८॥
तया दत्तेऽपवरके सहान्यैस्तैर्विवेश सः ।
सखिभिस्ते च सप्तापि तत्र निद्रां ययुः क्षणं ॥५९॥

तब वे आपस में एक-दूसरे का साथ न छोड़ने की प्रतिज्ञा करके माता-पिता से छिपकर रात में एक साथ ही निकले। चलते ही उनके सामने अकस्मात् अपशकुन हुआ। उसे देखकर विष्णुदत्त ने अपने साथी मित्रों से कहा—'यह अपशकुन है अतः लौट जाना उचित है। फिर कभी शुभ शकुन मिलने पर कार्यसिद्धि के लिए चलेंगे' ॥४५-४७॥

यह सुनकर उसके सातों मूर्ख साथी उससे कहने लगे—'व्यर्थ चिन्ता न करो। हमलोग ऐसे अपशकुनों से नहीं डरते ॥४८॥

यदि तू डरता है तो मत आ हमलोग अभी जायेंगे। प्रातःकाल हमारा समाचार जान कर घरवाले हमें नहीं छोड़ेंगे' ॥४९॥

ऐसा कहते हुए उन मूर्ख मित्रों के साथ प्रतिज्ञाबद्ध बेचारा विष्णुदत्त पापहारी भगवान् का ध्यान करके उनके साथ चल पड़ा ॥५ ॥

रात बीतने पर, प्रातःकाल ही उसने और अपशकुन देखे। फिर उसने उन मित्रों से कहा किन्तु उन हठीले मित्रों द्वारा वह फिर फटकारा गया ॥५१॥

वे कहने लगे कि सबसे बड़ा अपशकुन तो यही है कि मार्ग के डरपोक कौवे के समान तुझे हमलोग साथ लाये ॥५२॥

ऐसी-ऐसी फटकारों को सुनता हुआ विष्णुदत्त जाते हुए उनके साथ चलने को विवश हो गया। सच है मनमानी करनेवाले मूर्खों को उपदेश देना ऐसा ही है जैसे कूड़ा-करकट साफ करता हुआ व्यक्ति उसकी धूल-मिट्टी से अपने शरीर को गंदा करके अपना ही तिरस्कार कराता है ॥५३-५४॥

एक बुद्धिमान् व्यक्ति बहुत-से मूर्खों की संगति में पड़कर उसी प्रकार की स्थिति में आ जाता है जैसे सरोवर में पड़ा हुआ एक कमल तरंगों के थपेड़ों से आहत होकर हिलता ही रहता है ॥५५॥

अतः अब मुझे इनसे हित या अहित कुछ न कहकर चुप ही रहना चाहिए। भाग्य भला करेगा—॥५६॥

ऐसा सोचकर उन मूर्खों के साथ जाते हुए सायंकाल विष्णुदत्त को भीलों का एक गाँव मिला। वहाँ घूम-फिरकर उसे एक युवती स्त्रीवाला घर मिला। तब उसने उस स्त्री से रहने के लिए स्थान माँगा ॥५७-५८॥

उसने एक स्थान उसे दे दिया और उसमें वह अपने सातों मित्रों के साथ ठहर गया। कुछ ही समय में वे सातों मित्र मार्ग की श्रान्ति के कारण सो गये ॥५९॥

स एको ऽप्यदेवासीदमनुष्यगृहाश्रयात्।
स्वपन्त्यशङ्का हि निश्चेष्टाः कुतो निद्रा विवेकिनाम् ॥६०॥
तावच्च तत्र पुरुषः कोऽप्येको निभृतं युवा।
अभ्यन्तरगृहं तस्याः प्रविवेशान्तिकं स्त्रिया ॥६१॥
तेन साकं च सा रेमे चिरं गुप्ताभिभाषिणी।
रतिश्रान्तौ च तौ दैवान्निद्रां द्वावपि जग्मतुः ॥६२॥
तच्च दीपप्रकाशेन सर्वं द्वारान्तरेण सः।
विष्णुदत्तो विलोक्यैवं सनिर्वेदमचिन्तयत् ॥६३॥
कष्टं कथं प्रविष्टाः स्मो दुश्चारिण्याः स्त्रिया गृहम्।
ध्रुवं जातोऽप्ययमेतस्या न कौमारः पतिः पुनः ॥६४॥
नान्यथा हि भवत्येषा सशङ्कनिभृता गतिः।
मया चपलचित्तेयमादावेव च लक्षिता ॥६५॥
अन्यालाभात् प्रविष्टाः स्मः किं त्वत्रान्योन्यसाक्षिणः।
इत्येव चिन्तयन् शब्दं जनानां सोऽशृणोद् बहिः ॥६६॥
ददर्श प्रविशन्तं च स्वस्वस्थानस्थितानुगम्।
युवानमभिपश्यन्तं सखड्गं शबराधिपम् ॥६७॥
के यूयमिति पृच्छन्तं मत्वा गृहपतिं स तम्।
भीताः पान्थाः स्म इत्याह विष्णुदत्तः पुलिन्दकम् ॥६८॥
स चान्तः शबरो गत्वा दृष्ट्वा भार्यां तथास्थिताम्।
चिच्छेद तस्य सुप्तस्य तज्जारस्यासिना शिरः ॥६९॥
भार्यां तु निगृहीता न तेन सा नापि बोधिता।
भुवि न्यस्तासिनान्यत्र पर्यङ्के सुप्तमेव तु ॥७०॥
तद्दृष्ट्वा सप्रदीपेऽत्र विष्णुदत्तो व्यचिन्तयत्।
युक्तं स्त्रीति न यद्भार्या हता जारहरो हतः ॥७१॥
किं तु कृत्वेदृशं कर्म यन्नेनात्र सुप्यते।
विस्रब्धं तदहो चित्रं धीर्यमुद्रिक्तचेतसाम् ॥७२॥
इत्यथ चिन्तयत्येव विष्णुदत्ते प्रबुध्य सा।
कुस्त्री ददर्श जारं स्वं हतं सुप्तं च तं पतिम् ॥ ७३॥
उत्थाय च गृहीत्वा तत्स्कन्धे जारकबन्धकम्।
हस्तेनैकेन चादाय तच्छिरः सा विनिर्ययौ ॥७४॥

एक वहीं विष्णुदत्त अकेला जागता रहा क्योंकि जिस घर में वह ठहरा था उसमें एक उस युवती के अतिरिक्त दूसरा कोई पुरुष न था। मूर्ख जन निश्चेष्ट होकर सो जाते हैं किन्तु विचारशीलों को नींद कहाँ? ॥६०॥

इसी बीच कोई एक युवा व्यक्ति छिपे तौर से उस स्त्री की कोठरी में स्त्री के पास गया ॥६१॥

धुन कर धीरे से बातें करती हुई वह स्त्री उस पुरुष के साथ रमण करने लगी। कुछ समय पश्चात् रति की श्रान्ति एवं घोर नींद से विवश होकर वे दोनों सो गये ॥६२॥

विष्णुदत्त दरवाजे की दरार से दीपक के प्रकाश से प्रकाशित उस कोठरी में यह सब देखता रहा और दुःखी होकर सोचने लगा—॥६३॥

कष्ट है कि हमलोग इस दुराचारिणी स्त्री के घर में आ गये। निश्चय है कि यह इसका विवाहित पति नहीं है। यदि विवाहित पति होता तो इसकी गति इस प्रकार सशंक और छिपी न होती। मैंने पहले ही समझ लिया था कि यह स्त्री चंचला है। इस प्रकार सोचते-सोचते उसने घर के बाहर कुछ मनुष्यों के शब्द सुने ॥६४-६६॥

उसने अपनी-अपनी जगहों पर तैनात अनुचरों के साथ तलवार लेकर आते हुए भीलों के युवा सरदार को देखा ॥६७॥

'तुम लोग कौन हो'—ऐसा पूछते हुए भीलराज से विष्णुदत्त ने कहा—'हमलोग पथिक (बटोही) हैं' ॥६८॥

तदनन्तर अन्दर जाकर और इस प्रकार प्रेमी (यार) के साथ सोई हुई देखकर भीलराज ने पत्नी के उस प्रेमी का सिर तलवार से काट डाला ॥६९॥

किन्तु स्त्री को न मारा और न जगाया। वह तलवार को भूमि पर रखकर पलंग पर सो गया ॥७०॥

दीप से प्रकाशित घर में इस घटना को देखकर विष्णुदत्त ने सोचा इसने उचित ही किया कि स्त्री समझकर पत्नी को नहीं मारा और उसका हरण करनेवाले को मार डाला ॥७१॥

किन्तु यह आश्चर्य है कि ऐसा कर्म करके भी यह विश्वासपूर्वक सो रहा है। बड़े हुए मनस्वियों का ऐसा पराक्रम अवश्य आश्चर्यजनक होता है ॥७२॥

विष्णुदत्त यह सोच ही रहा था कि उस दुष्टा स्त्री ने जागकर यार को मरा हुआ और पति को सोया हुआ देखा ॥७३॥

और, पलंग से उठकर अपने यार के धड़ को कन्धे पर रखकर एक हाथ से उसके सिर को लेकर वह घर से बाहर निकली ॥७४॥

गत्वा बहिश्च निक्षिप्य भस्मकूटान्तरे द्रुतम्।
कबन्धं सशिरस्कं तमाययौ निभृतं ततः ॥७५॥
विष्णुदत्तश्च निर्गत्य सर्वं दूराद् विलोक्य तत्।
मध्ये सखीनां सुप्तानां प्रविश्यासीत्तथैव सः ॥७६॥
स चागत्य प्रविश्याऽऽ पत्युः सुप्तस्य दुर्मनी।
तेनैव तत्कृपाणेन तस्य मूर्धानमच्छिनत् ॥७७॥
निर्गत्य श्रावयन्ती च मुखशान्शब्दं चकार सा।
हा हतास्मि हतो भर्ता ममैभिः पथिकैरिति ॥७८॥
ततः परिजनः श्रुत्वा प्रधाव्यालोक्य तं प्रभुम्।
हत तान्विष्णुदत्तादीनभ्यधावन्नुदायुधाः ॥७९॥
एतैश्चाहन्यमानेषु तेषु त्रस्तोत्थितेष्वथ।
अन्येषु सत्सहायेषु विष्णुदत्तोऽब्रवीद्द्रुतम् ॥८०॥
अलं वो ब्रह्महत्याभिर्नैवास्माभिरिदं कृतम्।
एतयैव कृतं ह्येतत्कुस्त्रिया यप्रसक्तया ॥८१॥
मया चापावृतद्वारमार्गेणामूलमीक्षितम्।
निर्गत्य च बहिर्दृष्ट्वा समक्षं यदि वच्मि सत् ॥८२॥
इत्युक्त्वा तान् स शबरान्विष्णुदत्तो निवार्य च।
तेभ्यो निःशेषमामूलाद् वृत्तान्तं समवर्णयत् ॥८३॥
नीत्वा चादर्शयत्तेषां कबन्धं तं शिरोन्वितम्।
सद्यो हत तया क्षिप्त स्त्रिया तस्मिन्नवस्करे ॥८४॥
ततः स्वेन विवर्णेन मुखेनाङ्गीकृते तया।
कुलटां तां धिक्कृत्य सर्वे तत्रैवमब्रुवन् ॥८५॥
स्मराकृष्टा तनोत्येव या साहसमशङ्किता।
सा परस्त्रीकृता कुस्त्री कृपाणीव न हन्ति कम् ॥८६॥
इत्युक्त्वा विष्णुदत्तादीन्स तांस्ते मुमुचुस्ततः।
विष्णुं तं च सप्तान्ये सहायास्तेऽथ तुष्टुवुः ॥८७॥
रक्षारत्नप्रदीपस्त्वं जातो नः स्वपतां निशि।
त्वत्प्रसादेन शीर्णाः स्मो मृत्युमद्यानिमित्तजम् ॥८८॥
स्तुत्वैवं विष्णुदत्तं तं क्षमयित्वा च दुर्वचः।
प्रणतास्ते ययुः प्रातः स्वकार्यायैव सद्युताः ॥८९॥

बाहर निकलकर राज के डेर में उसके सिर और शरीर को फेंककर चुपचाप वह लौट गई ॥७५॥

विष्णुदत्त भी उसके पीछे निकलकर और दूर से यह सब देखकर, अपने सोये हुए मित्रों के साथ सो गया ॥७६॥

उधर उस दुष्टा स्त्री ने घर में आकर उसी तलवार से सोये हुए पति का सिर काट डाला और बाहर निकलकर सेवकों को सुनाकर चिल्लाने लगी— हाय ! मैं मारी गई, इन पथिकों ने मेरे पति को मार डाला ॥७७-७८॥

यह सुनकर उसके सेवक दौड़कर आये और अपने सरदार को कटा हुआ देखकर, तलवारें खींचकर विष्णुदत्त आदि पथिकों पर टूट पड़े ॥७९॥

ठहरो, तुमलोग ब्रह्महत्या न करो। यह सब काण्ड जार से फँसी हुई इसी दुष्टा स्त्री ने किया है ॥८०॥

मैंने प्रारम्भ से अबतक द्वार के खुली हुई दरारों से सब अपनी आँखों से देखा है और बाहर निकलकर भी सब स्वयं देखा है। आप लोग क्षमा करें तो मैं सब कुछ कहता हूँ ॥८१-८२॥

ऐसा कहते हुए विष्णुदत्त ने सारी बातें बताकर कूड़े और राख के ढेर में पड़े हुए उस जार के मृत शरीर और सिर को दिखाया ॥८३-८४॥

तब उतरे हुए मुँह से उस स्त्री के यह सब स्वीकार कर लेने पर वे सब उस दुराचारिणी को डाँटते-फटकारते चले गये ॥८५॥

काम के वशीभूत होकर जो स्त्री निर्भय होकर साहस कर बैठती है वह दूसरों से स्वीकृत होकर तलवार के समान किसका विनाश नहीं कर डालती ॥८६॥

ऐसा कहते हुए उन भीलों ने विष्णुदत्त आदि सातों ब्राह्मणों को छोड़ दिया और वे सातों साथी विष्णुदत्त की प्रशंसा करने लगे ॥८७॥

उन्होंने कहा— सोये हुए हम लोगों की रक्षा के लिए तुम रत्नदीप के समान सिद्ध हुए। आज अपशकुन से होनेवाली मृत्यु को तुम्हारी कृपा से हमलोग पार कर सके ॥८८॥

इस प्रकार विष्णुदत्त की प्रशंसा करके और अपने कहे हुए दुर्वचनों के लिए क्षमा-प्रार्थनापूर्वक उसे प्रणाम करके वे प्रातःकाल अपने काम में लग गए ॥८९॥

इत्थं कलिङ्गसेनायाः कथयित्वा कथां मिथः।
सोमप्रभा सा कौशाम्ब्यां सखीं पुनरुवाच ताम् ॥९ ॥

एवं कार्यप्रवृत्तानामनिमित्तमुपस्थितम्।
विलम्बाद्यप्रतिहतं सख्यनिष्टं प्रयच्छति ॥९१॥

सततश्चात्रानुतप्यन्ते प्राप्तवाक्यावमानिनः।
प्रवर्तमाना रभसात्पर्यन्ते मन्दबुद्धयः ॥९२॥

अतोऽशुभे निमित्ते यो वत्सेशं प्रति यत्त्वया।
आत्मप्रहाय प्रहितो दूतो युक्त न तत्कृतम् ॥९३॥

तदविघ्न विवाहं च विदधातु विधिस्तव।
कुछम्नेनागता गेहाद् विवाहस्तेन दूरतः ॥९४॥

देवा अपि च लुभ्यन्ति त्वयि रत्नमिव तव।
चिन्त्यश्च नीतिनिपुणो मन्त्री यौगन्धरायणः ॥९५॥

राजव्यसनशङ्की सन्सोऽत्र विघ्नं समाचरेत्।
विहितेऽपि विवाहे वा दोषमुत्पादयेत्तव ॥९६॥

धार्मिकः सन्न कुर्याद्वा दोषं तन्पि ते सखि।
सपत्नी सर्वथा चिन्त्या कथां वच्म्यत्र ते शृणु ॥९७॥

ऋषिकन्यायाः कदलीगर्भायाः कथा

अस्तीहेक्षुमती नाम पुरी तस्याश्च पार्श्वतः।
नदी तदभिधानैव विश्वामित्रकृते उभे ॥९८॥

तत्समीपे महच्चास्ति वनं तत्र कृताश्रमः।
ऊर्ध्वपादस्तपश्चक्रे मुनिर्मङ्कणकाभिधः ॥९९॥

तपस्यता च तेनात्र गगनेनागताप्सराः।
अदर्शि मनका नाम वातेन चलिताम्बरा ॥१ ०॥

ततो लब्धावकाशेन कामेन क्षाभितात्मनः।
भूतले कन्लीगर्भे वीर्यं तस्यापतन्मुनेः ॥१०१॥

जज्ञे ततश्च कन्या सा सद्यः सर्वाङ्गसुन्दरी।
अमोघं हि महर्षीणां बीजं यच्चति तत्क्षणम् ॥१ २॥

सोमप्रभा ने कौशाम्बी में इस प्रकार कथा सुनाकर कलिंगसेना से पुनः कहा—दैव यदि इस प्रकार काम में लगे हुए लोगों को अनेबार अपशकुन कार्यों में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं। इस कारण बुद्धिमानों की बातों को न माननेवाले मन्दबुद्धिवाले व्यक्ति आवेश में आकर कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं और पीछे पश्चात्ताप करते हैं। इसलिए इस अपशकुन में वत्सराज के प्रति तुमने अपने ग्रहण करने के लिए, जो दूत भेजा वह अच्छा नहीं किया। तू घर से कुलग्न में आई है इसलिए तेरा विवाह टल गया है। अब दैव ही उसे निर्विघ्न पूर्ण करे॥९०–९४॥

तुम पर देवता भी रीझते हैं। इसलिए तुम्हें उसकी रक्षा करनी चाहिए और मन्त्री यौगन्धरायण की भी चिन्ता करनी चाहिए। राज्य पर विपत्ति की आशंका से वह विवाह में विघ्न उपस्थित करेगा। विवाह हो जाने पर भी वह तुममें दोष उत्पन्न करेगा। धार्मिक होने पर यह संभव है कि वह तुम्हें लांछित न करे, तो भी तुम्हारी सौतें चिन्तनीय हैं। मैं इस प्रसंग में तुम्हें कथा सुनाती हूँ सुनो॥९५–९७॥

ऋषिकन्या कदलीगर्भा की कथा

इस देश में इक्षुमती नाम की नगरी है। उसके पास ही इक्षुमती नाम की नदी है। ये दोनों नगरी और नदी—मुनि विश्वामित्र-निर्मित हैं॥९८॥

उसके तट पर एक महान् वन है जिसमें मंकणक नाम का ऋषि ऊपर पैर करके तपस्या करता था॥९९॥

तपस्या करते हुए उसने एक बार आकाश-मार्ग से जाती हुई मेनका नाम की अप्सरा को देखा। आकाश-मार्ग से जाती हुई उस मेनका की साड़ी वायु से उड़ रही थी। अतः, उसे नग्न देखने के कारण काम-वासना से ऋषि का मन क्षुब्ध हो उठा। फलतः उस ऋषि का वीर्य एक नवीन कदली-वृक्ष के मध्य जा गिरा। और उस कदली-गर्भ से नवीनसुन्दरी एक कन्या उत्पन्न हुई क्योंकि ऋषियों का अमोघ (सफल) वीर्य शीघ्र ही फलीभूत होता है॥१००–१०२॥

सम्भूता कदलीगर्भे यस्मात्तस्माच्चकार ताम्।
नाम्ना स कदलीगर्भां पिता मङ्कणको मुनिः ॥१०३॥
तस्याश्रमे सा ववृधे गौतमस्य कृपी यथा।
द्रोणभार्या पुरा रम्भादर्शनच्युतवीर्यजा ॥१०४॥
एकदा च विवेशैतमाश्रमं मृगया रसात्।
दृढवर्मा हृतोऽश्वेन मध्यदेशभवो नृपः ॥१०५॥
स तां ददर्श कदलीगर्भां प्रावृतवल्कलाम्।
मुनिकन्योचितेनात्र वेषेणात्यन्तशोभिताम् ॥१०६॥
सा च दृष्ट्वास्य नृपतेः स्वीचक्रे हृदयं तथा।
यथावकाशोऽपि हृतस्तत्रान्तःपुरयोषिताम् ॥१०७॥
अपीमां प्राप्नुयां भार्यां कस्यापीह सुतामृषेः।
दुष्यन्त इव कण्वस्य मुनेः कन्यां शकुन्तलाम् ॥१०८॥
इति सञ्चिन्तयन्नेव सगृहीतसमित्कुशम्।
सोऽपश्यत्समायान्तं मुनिं मङ्कणकं नृपः ॥१०९॥
ववन्दे चैनमभ्येत्य पादयोर्मुक्तवाहनः।
पृष्टश्चात्मानमेतस्मै मुनये स न्यवेदयत् ॥११०॥
ततः स कदलीगर्भां मुनिराविशति स्म ताम्।
वत्से राज्ञोऽतिथेरस्य स्वयार्घ्यं कल्प्यतामिति ॥१११॥
तथेति कल्पितातिथ्यस्तया राजा स नम्रया।
केयं कुतस्ते कन्येयमिति पप्रच्छ तं मुनिम् ॥११२॥
मुनिश्च स ततस्तस्यास्तामुत्पत्तिं च नाम च।
अन्वर्थं कदलीगर्भेत्यस्मै राज्ञे न्यवेदयत् ॥११३॥
ततस्तां स मने कन्यां मेनकामिव नोद्भवाम्।
मत्वाप्सरसमुत्सुको राजा तस्मादयाचत ॥११४॥
सोऽप्येतां कदलीगर्भां ददौ तस्मै सुतामृषिः।
दिव्यानुभाव पूर्वेगामविचाय हि चष्टितम् ॥११५॥
तच्च पुद्या प्रभावेण सखाम्यस्य सुराङ्गना।
ममकाप्रीतिनस्तस्याश्चत्रस्तूयाहमपन्नम् ॥११६॥
दत्त्वा च सर्षपानस्मै जगदुस्तां नमेव ता।
यान्ती मार्गे वपस्वैतांस्त्वमभिज्ञानसिद्धये ॥११७॥

उस कन्या के पिता ऋषि ने उसका नाम कदम्बीगर्भा रख दिया। वह कन्या कदम्बी-गर्भा अपने पिता संरक्षक ऋषि के आश्रम में उसी प्रकार पलने और बढ़ने लगी जैसे रम्भा के दर्शन से स्खलित होने पर गौतम ऋषि की कन्या और शतानन्द की पत्नी कृपी पल रही थी ॥१ १४॥

एक बार मध्यदेश का राजा दृढ़वर्मा शिकार के प्रसंग में घोड़े द्वारा उसी आश्रम में ले जाया गया ॥१ ५॥

उस राजा ने वहाँ बल्कल धारण किए हुए उस कदम्बीगर्भा को देखा। वह कन्या मुनिजनों के आश्रमोचित वेश में अत्यन्त सुन्दरी लग रही थी ॥१ ६॥

उसके देखते ही राजा दृढ़वर्मा का हृदय उसी प्रकार आकृष्ट हो गया जिस प्रकार कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखकर राजा दुष्यन्त का हृदय आकृष्ट हो गया था। राजा सोचने लगा कि क्या मैं दुष्यन्त की शकुन्तला के समान इस कन्या को प्राप्त कर सकूँगा? ॥१ ७-१ ८॥

इस प्रकार सोचते हुए राजा ने नित्यकर्म के लिए समिधा और कुशा लेकर आते हुए संरक्षक ऋषि को देखा ॥१ ॥

उस उन्नत घोड़े से उतरे हुए राजा ने ऋषि के समीप जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और प्रश्न करने पर उसे अपना परिचय दिया ॥११ ॥

तब ऋषि ने कन्या कदम्बीगर्भा को आज्ञा दी कि बेटी इस अतिथि राजा के लिए तुम अर्घ्य दो ॥१११॥

इस प्रकार उस विनम्र कन्या से सत्कृत राजा ने उस मुनि से पूछा कि यह ऐसी कन्या तुम्हें कहाँ से और कैसे प्राप्त हुई? ॥११२॥

तब मुनि ने उसकी उत्पत्ति और उसके नाम का अनुरूप अर्थ कदम्बीगर्भा बताया ॥११३॥

तब राजा ने उस कन्या को अपनी सन्तान की सन्तान समझकर अत्यन्त आदर से साथ ऋषि से उस कन्या को माँगा ॥११४॥

राजा के माँगने पर उस ऋषि ने भी उस कन्या दे दी क्योंकि प्राचीन व्यक्तियों के दिव्य और प्रभावशाली चरित्रों पर विचार न करना चाहिए ॥११ ॥

अपने दिव्य प्रभाव से स्वर्ग की अप्सराओं से यह जानकर और मेनका के प्रेम से वहाँ आकर उस कन्या को विवाह के वेश से अलंकृत किया। और उसके हाथ में सरसों रख हुए कहा—तू पति के घर जाती हुई मार्ग में इन्हें बोती हुई जाना जिससे लौटते समय के लिए मार्ग का परिचय बना रहे ॥११६ ११७॥

---

१ उत्तर में हिमालय दक्षिण में विन्ध्याचल पूर्व में प्रयाग और पश्चिम में सरस्वती के मध्य में बसा हुआ देश, मध्यदेश कहा जाता है।

२ किसी अतिथि के स्वागत के लिए उसे आसन पुष्प और जल डालकर अर्घ देना अर्घ्य है जो सम्मान का चिह्न है।

३ अर्थात् केले के वृक्ष के मध्य से उत्पन्न।

यन्मया सहसा देव्याः प्रतिज्ञा पुरतः कृता।
विज्ञानमात्रं तादृङ्मे सम्यक्किञ्चिन्न विद्यते ॥१३३॥
अन्यत्रैव च न व्याज कर्तुं राजगृहे क्षमम्।
ज्ञात्वा जातु हि कुर्वीरन्निग्रहं प्रभविष्णवः ॥१३४॥
एकस्तत्राभ्युपायः स्याद्यत्सुहृन्मेऽस्ति नापितः।
दैवज्ञविज्ञानकुशलः स मत्कुर्यादिहोद्यमम् ॥१३५॥
इत्यालोच्यैव सा तस्य नापितस्यान्तिकं ययौ।
तस्मै मनीषितं सर्वं तच्छशंसार्थसिद्धिदम् ॥१३६॥
ततः स नापितो वृद्धो धूर्तश्चैवमचिन्तयत्।
उपस्थितमिदं दिष्ट्या लाभस्थानं ममाधुना ॥१३७॥
तन्न वाध्या नवा राजवधू रक्ष्या तु सा यतः।
विस्मयदृष्टिः पिता तस्य सर्वं प्रख्यापयन्निदम् ॥१३८॥
विदितप्यैता तु नृपतेर्देवी सम्प्रति भुञ्ज्महे।
कुरङ्गस्य-सहाये हि मते मत्यामते प्रभुः ॥१३९॥
सश्लेष्य काले राज्ञे च वाच्यमेतत्तथा मया।
यथा स्यादुपजीव्यो मे राजा सा नृपकन्यका ॥१४०॥
एवं च नातिपापं स्याद् भवेद्दीर्घा च जीविका।
इत्यालोच्य स तां प्राह नापितः कूटतापसीम् ॥१४१॥
अम्ब! सर्वं करोम्येतत्किं तु योगबलेन चेत्।
एषा राज्ञो नवा भार्या हन्यते तन्न युज्यते ॥१४२॥
यद्वा कदाचिद्राजा हि सर्वानस्मान् विनाशयेत्।
स्त्रीहत्या पातकं च स्यात्तत्पिता च मुनिः शपेत् ॥१४३॥
तस्माद् बुद्धिबलेनैषा राज्ञो विश्लेष्यते परम्।
येन देवी मुक्तं तिष्ठेदर्थप्राप्तिर्भवेच्च नः ॥१४४॥
एतच्च म क्रियते हि म बुद्धया साधयाम्यहम्।
प्रज्ञानं मामकीनं च श्रूयतां वर्णयामि ते ॥१४५॥
अभूदस्य पिता राज्ञो दुःशीलो दुष्टभाषणः।
अहं च दासस्तस्याहं गतः स्वाचितकर्मणाम् ॥१४६॥
स कदाचिदितः भ्राम्यन्भार्यामितस्ततः मामकीम्।
तस्यां तस्य गुप्तायां तरुण्यां च मनो ययौ ॥१४७॥

मैंने महारानी के आगे एकाएक लम्बी चौड़ी डींग तो हाँक दी किन्तु ऐसा विश्राम तो मैं जानती नहीं ॥१३३॥

अन्य साधारण स्थानों के समान राजा के घर में ऐसा छल-कपट करना उचित नहीं क्योंकि रहस्य खुलने पर शक्तिशाली राजा प्राणदंड दे सकते हैं ॥१३४॥

हाँ एक उपाय सूझ रहा है। मेरा मित्र एक नापित (नाई) है वह ऐसे कामों में चतुर है। वह कुछ उपाय कर सकता है ॥१३५॥

ऐसा सोचकर वह भिक्षुणी नापित के पास गई और उसे अपना अर्थलाभ करानेवाली सारी योजनाएँ बताई ॥१३६॥

तब वह वृद्ध और धूर्त नापित सोचने लगा—मेरे भाग्य से ही लाभ का यह अवसर मिला है ॥१३७॥

इसलिए नई राजवधू को मारना न चाहिए प्रत्युत उसकी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि उस रानी का पिता दिव्य दृष्टिवाला है। वह योगबल से सब जानकर प्रकट कर देगा ॥१३८॥

इस समय तो उसे राजा से पृथक करके महारानी का मन भाते हैं क्योंकि रहस्य में सहायता करनेवाले सेवक के सामने स्वामी स्वयं सेवक बन जाता है ॥१३९॥

राजा और नई रानी दोनों को अलग-अलग कराकर यथासमय राजा को ऐसा समझा दूँगा कि जिससे राजा और ऋषिकन्या दोनों ही सदा के लिए मेरी जीविका के स्रोत बन जायेंगे। इस प्रकार, मारी पाप भी न होगा और मेरे लिए स्थायी जीविका भी बन जायगी' ऐसा सोचकर वह धूर्त नापित उस कपटी तपस्विनी से कहने लगा — 'माता मैं यह सब तो कर दूँगा किन्तु किसी उपाय से यदि राजा की नई रानी को मार दिया जाय तो यह उचित न होगा ॥१४ १४२॥

रहस्य फूट पड़ने पर, राजा हमलोगो को फाँसी दे सकता है। स्त्री-हत्या करना पाप भी होगा और रानी का पिता मुनि भी हमें शाप देगा ॥१४३॥

इसलिए केवल बुद्धि के बल से ही उसे राजा से पृथक कर दिया जाय तो महारानी भी सुख से रहेगी और हमें भी धन मिलेगा ॥१४४॥

यह बात तो क्या है? बुद्धि से मैं क्या नहीं कर सकता। मेरी बुद्धि का वैभव सुनो मैं कहता हूँ ॥१४५॥

नाई और राजा की कथा

इस राजा दृढ़वर्मा का पिता बहुत ही दुश्चरित्र था। मैं उसका दास था और उसका क्षौर कर्म किया करता था ॥१४६॥

किसी समय इस ओर घूमते हुए उसने मेरी स्त्री को देख लिया। उस सुन्दरी युवती की ओर उसका मन खिंच गया ॥१४७॥

यदि भर्त्रा कृतावज्ञा कदाचित्त्वमिहैष्यसि।
सज्जातैरेभिरायान्ती पन्थानं पुत्रि वेत्स्यसि ॥११८॥
इत्युक्त्वा तामिरारोप्य कृतोद्वाहां स्वधाम्नि नि।
स राजा कदलीगर्भां दृढवर्मा ययौ सतः ॥११९॥
प्राप्तान्वागतसैन्योऽथ वपत्न्या सर्वपान्थिः।
वध्वा तया सह प्राप राजधानीं निजां च सः ॥१२०॥
तत्रान्यपत्नीविमुखः कदलीगर्भया तया ।
सम स तस्यावास्यात्ततद्वृत्तान्तः स्वमन्त्रिषु ॥१२१॥
ततस्तस्य महादेवी तदीयं मन्त्रिणं रहः।
स्मारयित्वोपकारान् स्वान् अगादात्यन्तदुःखिता ॥१२२॥
राज्ञा नूतनभार्यैकसक्तेनाद्याहमुज्झिता ।
तत्तथा कुरु येनैषा सपत्नी मे निवर्तते ॥१२३॥
तच्छ्रुत्वा सोऽब्रवीन्मन्त्री देवि कर्तुं न युज्यते।
मादृशानां प्रभोः पत्न्या विनाशोऽथ वियोजनम् ॥१२४॥
एष प्रव्राजकस्त्रीणां विषयः कुहकादिषु।
प्रयोगेष्वभियुक्तानां सङ्गतानां तथाविधैः ॥१२५॥
ता हि मैत्रवतापस्यः प्रविश्यैवाभिचारिताः।
गृहेषु मायाकुशलाः कर्म किं किं न कुर्वते ॥१२६॥
इत्युक्ता तेन सा देवी विनतवाह तं ह्रिया।
अलं तर्हि ममानेन गर्हितेन सतामिति ॥१२७॥
तद्वचो हृदि कृत्वा तु तं विसृज्य च मन्त्रिणम्।
काञ्चित्प्रव्राजिकां चेटीमुखेनानयति स्म सा ॥१२८॥
तस्याः शशंस चामूलात्तत्सर्वं स्वमनीषितम्।
अङ्गीचकार वाचु च सिद्धे कार्ये धनं महत् ॥१२९॥
साप्यर्थलोभावादर्ता तामित्युवाच कुतापसी।
देवि किं नाम वस्त्वत्तदहं ते साधयाम्यदः ॥१३० ॥
नानाविधान्हि जानामि प्रयोगान् सुबहूनहम्।
एवमाश्वास्य तां देवीं साथ प्रव्राजिका ययौ ॥१३१॥
मन्दिकां प्राप्य च निजां भीतेवेत्थमचिन्तयत्।
अहो अतीव भोगाशा कं नाम न विडम्बयेत् ॥१३२॥

'और बेटी कभी पति के अपमान करने पर तू यदि पिता के आश्रम को लौटेगी तो इन्हीं सरसों के फूलों से मार्ग का पता लग जायगा' ॥११८॥

उनसे इस प्रकार कही गई कन्या कदलीगर्भा को घोड़े पर बैठाकर राजा दृढ़वर्मा अपने नगर को लौटा ॥११९॥

राजा के पीछे सेना भी आ रही थी। इस प्रकार सरसों बोती हुई उस कन्या को लिये हुए वह राजा अपनी राजधानी में आ गया ॥१२ ॥

वहाँ आकर राजा ने मन्त्रियों से अपना सारा विवाह-वृत्तान्त प्रकट कर दिया और अन्य रानियों से विरक्त होकर वह एकमात्र कदलीगर्भा के ही प्रेम में मग्न हो गया ॥१२१॥

तदनन्तर उसकी महारानी ने राजा के मन्त्री को बुलाकर और अपने किये हुए उपकारों का स्मरण दिलाकर, उससे एकान्त मे कहा—'ऐसा उपाय करो कि जिससे मेरी यह सौत चली जाय क्योंकि वह (राजा) एकमात्र उसी में आसक्त है' ॥१२२ १२३॥

यह सुनकर मन्त्री कहने लगा— महारानी स्वामी की पत्नी का इस प्रकार विनाश या वियोग मेरे जैसे व्यक्ति नहीं कर सकते' ॥१२४॥

यह तो साधुनी स्त्रियों या जादू-टोना करनेवाले ऐसे-वैसे व्यक्तियों का काम है ॥१२५॥

वे मायाकुशल नकली साधुनियाँ अपनी अप्रतिहत गति से घरों में घुसकर यह सब मायाजाल रचा करती हैं। वे क्या-क्या नहीं करती ? ॥१२६॥

मन्त्री के इस प्रकार कहने पर रानी अत्यन्त लज्जा से विनम्र होकर कहने लगी—'तो इस प्रकार के सज्जनों द्वारा निन्दित कार्य से मुझे क्या प्रयोजन' ॥१२७॥

इस प्रकार मन्त्री को विदा कर और उसकी बात को मानकर रानी ने दासी द्वारा किसी साधुनी को बुलवाया ॥१२८॥

रानी ने उसे अपनी सारी कामना बता दी और कार्य सिद्ध होने पर उसे पर्याप्त धन देने का आश्वासन भी दिया ॥१२९॥

वह दुष्ट परिव्राजिका (साधुनी) भी धन के लोभ से उस व्याकुल रानी से बोली— 'महारानी यह कौन-सी बात है इसे तुरन्त सिद्ध करती हूँ' ॥१३ ॥

मैं विविध प्रकार के प्रयोगों को जानती हूँ। इस प्रकार रानी को धीरज बँधाकर वह परिव्राजिका चली गई और अपनी मठिया में आकर डरी हुई-सी इस प्रकार सोचने लगी— मुझे भाग्य से ही यह प्राप्ति का अवसर मिला है। लोगों की अत्यन्त तृष्णा किसकी दुर्दशा नहीं करती ? आश्चर्य है ! ॥१३१ १३२॥

यन्मया सहसा देव्याः प्रतिज्ञा पुरतः कृता।
विज्ञानं चात्र तादृङ्मे सम्यक्किञ्चिन्न विद्यते ॥१३३॥
अन्यत्रैव च न व्याजं कर्तुं राजगृहे क्षमम्।
ज्ञात्वा जातु हि कुर्वीरन्निग्रहं प्रमविष्णवः ॥१३४॥
एकस्तत्राभ्युपायः स्याद्यत्सहृन्मेऽस्ति नापितः।
बृद्धिविज्ञानकुशलः स चेत्कुर्याद्धितोद्यमम् ॥१३५॥
इत्यालोच्यैव सा तस्य नापितस्यान्तिकं ययौ।
तस्मै मनीषितं सर्वं तच्छशंसार्थसिद्धिदम् ॥१३६॥
ततः स नापितो वृद्धो धूर्तश्चैवमचिन्तयत्।
उपस्थितमिदं दिष्ट्या लाभस्थानं ममाधुना ॥१३७॥
तत्र वाध्या नवा राजवधू रक्ष्या तु सा यतः।
दिष्ट्यादृष्टिः पिता तस्य सर्वं प्रख्यापयदिदम् ॥१३८॥
विशिष्यैतां तु नृपतेर्देवी सम्प्रति भुञ्जमहे।
कुरहस्य-सहाये हि भते मत्यामते प्रभुः ॥१३९॥
सम्प्रेष्य काले राज्ञे च वाच्यमेतत्तथा मया।
यथा स्यादुपजीव्यो मे राजा सा वणिकन्यका ॥१४० ॥
एवं च नातिपापं स्याद् भवेद्दीर्घा च जीविका।
इत्यालोच्य स तां प्राह नापितः कूटतापसीम् ॥१४१॥
अम्ब ! सर्वं करोम्येतत्किं तु मोगवलेन चेत्।
एषा राज्ञो नवा भार्या हन्यते तत्र मुच्यसे ॥१४२॥
अथवा कदाचिद्राजा हि सर्वानस्मान् विनाशयेत्।
स्त्रीहत्या पातकं च स्यात्तत्पिता च मुनिः शपेत् ॥१४३॥
तस्माद् बुद्धिबलेनैषा राज्ञो विश्लिष्यते परम्।
येन देवी सुखं तिष्ठेदधप्राप्तिर्भवेच्च नः ॥१४४॥
एतच्च मे किन्यर्किं हि न बुद्ध्या साधयाम्यहम्।
प्रज्ञानं मामपीनं च नृपतो वर्णयामि ते ॥१४५॥
अभूदस्य पिता राज्ञो दुःशीलो वृद्धवमणः।
अहं च दासस्तस्येह राज स्वाचितवर्मदृग् ॥१४६॥
स कदाचिदिदं भ्राम्यन्भार्यामन्यगतं मामकीम्।
तस्यां तस्य सुरूपायां तरुण्यां च मनो ययौ ॥१४७॥

मैंने महारानी के आगे एकाएक लम्बी-चौड़ी डींग तो हाँक दी किन्तु ऐसा विशाल था मैं जानती नहीं ।।१३३।।

अन्य साधारण स्थानों के समान राजा के घर में ऐसा छल-कपट करना उचित नहीं क्योंकि रहस्य खुलने पर शक्तिशाली राजा प्राणदंड दे सकते हैं ।।१३४।।

हाँ एक उपाय सूझ रहा है। मेरा मित्र एक नापित (नाई) है वह ऐसे कामों में चतुर है। वह कुछ उपाय कर सकता है ।।१३५।।

ऐसा सोचकर वह भिक्षुणी नापित के पास गई और उसे अपना अर्थलाभ करानेवाली सारी भावनाएँ बताईं ।।१३६।।

तब वह दुष्ट और धूर्त नापित सोचने लगा—मेरे भाग्य से ही लाभ का यह अवसर मिला है ।।१३७।।

इसलिए नई राजवधू को मारना न चाहिए प्रत्युत उसकी रक्षा करनी चाहिए क्योंकि इस रानी का पिता दिव्य दृष्टिवाला है। वह योगबल से सब जानकर प्रकट कर देगा ।।१३८।।

इस समय तो उसे राजा से पृथक करके महारानी का वश पाते हैं क्योंकि रहस्य में सहायता करनेवाले सेवक के सामने स्वामी स्वयं सेवक बन जाता है ।।१३९।।

राजा और नई रानी दोनों को अलग-अलग कराकर यथासमय राजा को ऐसा समझा दूँगा कि जिससे राजा और ऋषिकन्या दोनों ही सदा के लिए मेरी जीविका के स्रोत बन जायेंगे। इस प्रकार, भारी पाप भी न होगा और मेरे लिए स्थायी जीविका भी बन जायगी ऐसा सोचकर वह धूर्त नापित उस कपटी तपस्विनी से कहने लगा — 'माता मैं यह सब तो कर दूँगा किन्तु किसी उपाय से यदि राजा की नई रानी को मार दिया जाय तो यह उचित न होगा ।।१४०-१४२।।

रहस्य फूट जाने पर, राजा हमलोगों को फाँसी दे सकता है। स्त्री-हत्या करना पाप भी होगा और रानी का पिता मुनि भी हमें शाप देगा ।।१४३।।

इसलिए केवल बुद्धि के बल से ही उसे राजा से पृथक कर दिया जाय तो महारानी भी सुख से रहेगी और हमें भी धन मिलेगा ।।१४४।।

यह काम तो क्या है ? बुद्धि से मैं क्या नहीं कर सकता। मेरी बुद्धि का वैभव सुनो मैं कहता हूँ ।।१४५।।

नाई और राजा की कथा

इस राजा दृढवर्मा का पिता बहुत ही दुश्चरित्र था। मैं उसका दास था और उसका क्षौर कर्म किया करता था ।।१४६।।

किसी समय इस ओर घूमते हुए उसने मेरी स्त्री को देख लिया। उस सुन्दरी युवती की ओर उसका मन खिंच गया ।।१४७।।

नापितस्त्रीति चावोधि पृष्ट्वा परिजनं स ताम्।
किं नापितः करोतीति प्रविश्यैव स मे गृहम् ॥१४८॥
उपभुक्त्वैव तां स्वेच्छं मद्भार्यां कुनृपो ययौ।
अहं च तदहर्दैवात् गृहावासं बहिः क्वचित् ॥१४९॥
अन्येद्युश्च प्रविष्टेन दृष्ट्वा सान्यावृषी मया।
पृष्टा भार्या यथावृत्तं साभिमानेव मेऽभ्यधात् ॥१५०॥
तत्क्रमेणैव तां भार्यामशक्तस्य निषेधने।
नित्यमेवोपभुञ्जानः स ममोत्कम्पवान्नृपः ॥१५१॥
कुतो गम्यमगम्यं वा कुशीलोन्मादिनः प्रभोः।
वातोद्धतस्य दावाग्नेः किं तृणं किं च काननम् ॥१५२॥
सद्यो यावद्गतिर्मेऽस्ति न काचित्तन्निवारणे।
तावत्स्वल्पाशनक्षामो मान्द्यव्याजमशिश्रियम् ॥१५३॥
तावृशश्च गतोऽभूवं राज्ञस्तस्याहमन्तिकम्।
स्वव्यापारोपसेवार्थं निःश्वसन् कृशपाण्डुरः ॥१५४॥
तत्र मन्दमिवालोक्य साभिप्रायं स मां नृपः।
पप्रच्छ रे किमीदृक्त्वं सञ्जात कथ्यतामिति ॥१५५॥
निर्बन्धपृष्टस्तं चाहं विजने याचिताभयः।
प्रत्यवोचं नृप देव भार्यास्ति मम डाकिनी ॥१५६॥
सा च सुप्तस्य मेऽन्त्राणि गुदेनाकृष्य चूषति।
तयैव चान्तः क्षिपति तेनाहं क्षामतां गतः ॥१५७॥
पोषणाय च मे नित्यं संहृत्य भोजनं कुरु।
इत्युक्तः स मया राजा जाताशङ्को व्यचिन्तयत् ॥१५८॥
किं सत्यं डाकिनी सा स्यात्तेनाहं किं कृतस्तया।
किस्विदाहारपुष्टस्य चूषेदन्त्रं ममापि सा ॥१५९॥
तदद्य तामहं मुक्त्वा जिज्ञासिष्ये स्वयं निशि।
इति सञ्चिन्त्य राजा मे सोऽत्राहारमवापयत् ॥१६० ॥
ततो गत्वा गृहं तस्या भार्याया सन्निधावहम्।
अभूप्यमुक्त्वं पृष्टश्च तया तामेवमब्रवम् ॥१६१॥
प्रिये न वाच्यं कस्यापि त्वया शृणु वदामि ते।
अस्य राज्ञो गुदे जाता दन्ता वज्राग्निसन्निभाः ॥१६२॥

उसने अपने सेवकों से यह जान लिया कि यह नापित की स्त्री है 'नापित मेरा क्या करेगा'—यह जानकर वह मेरे घर में घुस आया और स्वतन्त्रतापूर्वक मेरी स्त्री को भ्रष्ट करके वह दुष्ट राजा चला गया। मैं दैवयोग से उस दिन घर से कहीं बाहर गया हुआ था ॥१४८-१४९॥

दूसरे दिन घर आते ही मैंने उसे (अपनी स्त्री को) दूसरी स्थिति में देखा और पूछने पर उसने अभिमान से सारा वृत्तान्त कह दिया ॥१५ ॥

तब से मुझ रोकने में असमर्थ जानकर मेरी परवाह न कर, वह राजा नित्य ही मेरी स्त्री का उपभोग करता रहा ॥१५१॥

दुश्चरित्रता के कारण पामर स्वामी (राजा) के लिए गम्य और अगम्य क्या है? वायु से फैलाई गई आग के लिए तिनका और जंगल समान है ॥१५२॥

जब मैंने देखा कि राजा को रोकने के लिए मेरी कोई गति नहीं है तब स्वल्पाहार से दुर्बल होकर मैंने मांद्य (रोग) का बहाना किया ॥१५३॥

इस प्रकार दुबला-पतला रोगी का-सा मुँह किये मैं दुःख भरी लम्बी साँस लेता हुआ और कर्म की सेवा के लिए राजा के पास गया ॥१५४॥

मुझे इस प्रकार माँदा (रोगी) देखकर राजा ने अभिप्राय से पूछा— क्यों रे! बता तू इतना दुर्बल क्यों हो गया है? ॥१५५॥

उसके बार-बार आग्रहपूर्वक पूछने पर मैंने अभय-याचना करके उससे एकान्त में कहा—'महाराज क्या कहूँ मेरी स्त्री डाकिनी है। वह सोये हुए म मेरी आँतों को मलद्वार से बाहर खींचकर चूस लेती है और फिर उसी प्रकार रख देती है। इसी कारण मैं दुर्बल हो गया हूँ ॥१५६-१५७॥

शरीर को पुष्ट रखने के लिए मेरे पास पौष्टिक भोजन कहाँ स आवे? मेरे ऐसा कहने पर राजा सोचने लगा—'क्या वह सचमुच डाकिनी है? तभी उसने मुझे आकृष्ट कर रखा है। तो अब उपाय से आज रात को उसका पता लगाऊँगा। क्या आहार से परिपुष्ट मेरी आँतों को भी वह चूसगी? तब मैं राजा के द्वारा आहार प्राप्त कर अपने घर आकर आँसू बहाने लगा और अपनी स्त्री द्वारा कारण पूछ जाने पर मैंने कहा—'प्यारी किसी से कहना मत। सुनो, तुम्हें बताता हूँ। उस राजा के मलद्वार म वज्र के समान दाँत निकल आये हैं ॥१५८-१६२॥

तच्च भग्नोऽद्य जात्योऽपि क्षुरो मे कर्म कुर्वतः।
एवं धात्र ममेदानीं क्षुरस्त्वद्यतवे पदे ॥१६३॥
तच्च नवमानेप्य कुतो नित्यमहं क्षुरम्।
अतो रोदिमि मम्ना हि जीविकेयं गृहे मम ॥१६४॥
इत्युक्ता सा मया भार्या मतिमाषादुपैप्यत।
रात्रौ राज्ञोऽस्य सुप्तस्य गुदवन्तावुभुतेक्षण ॥१६५॥
सा ससारावबृष्ट तदसत्य म स्वबोधि सा।
विदग्धा अपि दृश्यन्ते विटवर्णमया स्त्रियः ॥१६६॥
अथैत्य तां भिषि स्वैरं मद्भार्यामुपभुज्य सः।
राजा यमादिवालीकं सुप्तश्चा मद्वच स्मरन् ॥१६७॥
मद्भार्याप्यथ तं सुप्तं मत्वा तस्य शनैः शनैः।
हस्तं प्रसारयामास गुदे वन्तोपलब्धये ॥१६८॥
गुदप्राप्ते च तत्त्राणामुत्थाय सहसैव सः।
डाकिनी डाकिनीत्युक्त्वा त्रस्तो राजा ततो ययौ ॥१६९॥
तत प्रभृति सा तेन भीत्या त्यक्ता नृपेण मे।
भार्या गृहीतसन्तोषा मदेकायततां गता ॥१७ ॥
एवं पूर्वं नृपाद् बुद्ध्या गृहिणी मोचिता मया।
इति तां तापसीमुक्त्वा नापितः सोऽब्रवीत्पुनः ॥१७१॥
तदेतत्प्रज्ञया कार्यमार्ये युष्मन्मनीषितम्।
यथा च क्रियते मातस्तन्दिं वच्मि ते शृणु ॥१७२॥
कोऽप्यन्तःपुरवृद्धोऽत्र स्वीकार्यो योऽब्रवीत्यमुम्।
भाया से कदलीगर्भा डाकिनीति नृपं रहः ॥१७३॥
आरण्यकाया नह्यस्याः कश्चित्परिजनः स्वकः।
सर्वं परो भेवसह्यो लोभात्कुर्वीत किं न यत् ॥१७४॥
ततोऽस्मिन्रात्रिं साधको ध्वनानिश्चि यत्नतः।
हस्तपादादि कदलीगर्भाधाम्नि निधीयते ॥१७५॥
तत्प्रभाते विलोक्यैव राजा सत्यमवेत्य तत्।
वृद्धोक्तं कदलीगर्भां भीतस्तां त्यक्ष्यति स्वयम् ॥१७६॥
एवं सपत्नीविरहाद्देवी सुखमवाप्नुयात्।
त्वां च सा बहु मन्येत लाभः कश्चिद् भवेच्च नः ॥१७७॥

इस कारण क्षौरकर्म करते समय सुदृढ़ और अच्छे लोहे का बना हुआ मेरा उस्तरा भी उन दाँतों से टकराकर टूट गया ॥१६३॥

इस प्रकार यदि मेरा उस्तरा पग-पग पर टूटता रहेगा तो मैं प्रतिदिन नया उस्तरा कहाँ से लाऊँगा ? इसलिए अब राजा के घर से मेरी जीविका नष्ट हो गई—यही कारण मेरे रोने का है ॥१६४॥

मेरे इस प्रकार कहने पर मेरी पत्नी ने रात को सोये हुए राजा के मलद्वार में उगे हुए दाँतों के आश्चर्य को देखने का विचार किया ॥१६५॥

किन्तु संसार के प्रारम्भ से ही निश्चित इस असत्य को मेरी पत्नी ने नहीं समझा। धूर्तों की बातों से चतुर स्त्रियाँ भी ठगी जाती हैं ॥१६६॥

तदनन्तर राजा रात को आकर और मेरी पत्नी का निरर्थक उपभोग करके मेरी डाइन वाली बात का स्मरण करता हुआ झूठे ही सो गया ॥१६७॥

तदनन्तर मेरी पत्नी ने उसे सोया हुआ जानकर, दाँतों को देखने के लिए धीरे-धीरे उसके मलद्वार की ओर हाथ बढ़ाया ॥१६८॥

उसका हाथ मलद्वार पर पहुँचते ही सोने का बहाना करनेवाला राजा एकाएक उठकर डाइन ! डाइन ! चिल्लाता हुआ भागा ॥१६९॥

तब से राजा ने डर से मेरी स्त्री को त्याग दिया और मेरी स्त्री एकमात्र मेरे अधीन होकर सुखपूर्वक रहने लगी ॥१७०॥

इस प्रकार, पहले मैंने अपनी बुद्धि के बल पर अपनी स्त्री को राजा से छुड़ाया था। उस नगर-निवासिनी से ऐसा कहकर वह नापित फिर बोला —'इसलिए हे आर्य यह तुम्हारा कार्य बुद्धि से किये जाने योग्य है। इसे जिस प्रकार करना है वह भी सुनो' ॥१७१ १७२॥

रनिवास के किसी वृद्ध नौकर को ठीक करना चाहिए जो राजा से एकान्त में यह कहे कि तेरी यह पत्नी कल्मीगर्भा डाइन है ॥१७३॥

यह संयमी स्त्री है इसका अपना सगा-सम्बन्धी कोई नहीं है। इसी प्रकार अन्यान्य नौकर सेवक आदि भी धन आदि के लोभ से फोड़े जा सकते हैं। कौन ऐसा काम है जो प्रलोभन से संभव न किया जा सके ? ॥१७४॥

तदनन्तर जब राजा के मन में शंका उत्पन्न हो जाय तो रात के समय किसी शव के कटे हाथ-पैर आदि कल्मीगर्भा के शयनागार में रखवा दिये जायँ प्रातःकाल यह सब देखकर राजा स्वयं ही स्वयं उसे छोड़ देगा ॥१७५ १७६॥

इस प्रकार सौत के न रहने से महारानी सुखी हो जायगी। मुझे बहुत मानने लगेगी और इसे भी धन मिलेगा ॥१७७॥

इत्युक्ता तापसी तेन नापितेन तथेति सा।
गत्वा राज्ञो महादेव्यै यथावस्तु न्यवेदयत् ॥१७८॥
देवी च तथा चक्रे सा तद्युक्त्या नृपोऽपि ताम्।
प्रत्यक्षं वीक्ष्य कदलीगर्भा तुष्टेति तां जहौ ॥१७९॥
तुष्टया च ततो देव्या तया गुप्तमदायि यत्।
प्रव्राजिका तद्बुभुजे सा यथेष्टं सनापिता ॥१८०॥
त्यक्ता च कदलीगर्भा सा तेन दृढवर्मणा।
राज्ञाभिशापसन्तप्ता निर्ययौ राजमन्दिरात् ॥ १८१॥
येनाजगाम तेनैव प्रययौ पितुराश्रमम्।
पूर्वोप्तजातसिद्धार्थसाभिज्ञानेन सा पथा ॥ १८२॥
तत्र तामागतां दृष्ट्वा सोऽकस्मात्तत्पिता मुनिः।
तस्या दुश्चरिताशङ्की तस्थौ मङ्कणकः क्षणम् ॥ १८३॥
प्रणिधानाच्च तं कृत्स्नं तद्वृत्तान्तमवेत्य सः।
आश्वास्य च स्वयं स्नेहात्तामादाय ययौ ततः ॥१८४॥
एत्य तस्मै तथाचख्यौ स्वयं प्रह्वाय भूभृते।
देव्या सपत्नीदोषेण कृतं कपटनाटकम् ॥१८५॥
तत्काल स्वयमभ्येत्य राज्ञे तस्मै स नापितः।
यथावृत्तं तदाचष्ट पुनरेवमुवाच च ॥१८६॥
इत्थं विरुद्ध्य कदलीगर्भा राज्ञी मया प्रभो।
अभिचारवशाद्युक्त्या देवीं सन्तोष्य रक्षिता ॥१८७॥
तच्छ्रुत्वा निश्चयं दृष्ट्वा मुनीन्द्रवचनस्य सः।
जग्राह कदलीगर्भां सञ्जातप्रत्ययो नृपः ॥१८८॥
अनुव्रज्य मुनिं तं च संविभेजे स नापितम्।
भक्तो ममायमित्यर्थैर्धूर्तैर्भोज्या बतेश्वरा ॥१८९॥
ततस्तया समं तस्थौ कदलीगर्भयैव सः।
राजा स्वदेवीविमुखो दृढवर्मा सुनिर्वृतः ॥१९०॥
एवं विधान्विपश्यते सुबहून्सपत्न्यो
दोषा नृपाप्यनवमाङ्गि कलिङ्गसेने।
त्वं कन्यका च चिरमाविविवाहलग्ना
वाञ्छन्त्यचिन्त्यगतयश्च सुरा अपि त्वाम् ॥१९१॥

उग्रभार्ग के इस प्रकार कहने पर वह कपट-तपस्विनी उसकी आज्ञा को स्वीकार करके चली गई और महारानी को सब ठीक-ठीक बता दिया ॥१७८॥

महारानी ने भी ऐसा ही किया और परिणाम-स्वरूप राजा ने भी वह सब कुछ आँखों से देखकर कदलीगर्भा को डायन समझकर त्याग दिया ॥१७९॥

इससे प्रसन्न होकर महारानी ने उस दुष्ट भिक्षुणी को जो गुप्त धन दिया उस धन का उपभोग उसने नाई से मिलकर किया ॥१८०॥

वह कदलीगर्भा भी राजा के अभिशाप से सन्तप्त होकर राजमहल से निकल गई। और जिस मार्ग से आई थी उसी मार्ग से पहले बोई हुई सरसों के क्षुपों की पहचान के सहारे वह अपने पिता के आश्रम में चली गई ॥१८१ १८२॥

ऋषि मंकणक इस प्रकार आई हुई कन्या को देखकर उसकी दुश्चरित्रता पर सन्देह करता हुआ कुछ समय के लिए ध्यानावस्थित हो गया ॥१८३॥

तदनन्तर समाधि में योगबल द्वारा समस्त वृत्तान्त जानकर स्नेहपूर्वक कन्या को स्वयं लेकर आश्रम से राजमहल में आ गया। आकर उसने प्रणाम करते हुए राजा से कहा—'राजन्, सौत के दोष से यह सारा कपट-नाटक रचा गया है ॥१८४ १८५॥

उसी समय उस नापित ने जो कुछ हुआ था सब स्वयं आकर राजा को बता दिया। और फिर बोला—हे स्वामी मैंने इस प्रकार कदलीगर्भा को आपसे पृथक करके उसकी रक्षा की और महारानी को सन्तुष्ट किया' ॥१८६ १८७॥

इस प्रकार, मुनिवर बातों की सत्यता से विश्वस्त राजा ने कदलीगर्भा को स्वीकार कर लिया। और ऋषि को कुछ दूर तक पहुँचाकर उन्हें विदा करने के पश्चात् नापित को 'यह मेरा भक्त है' यह सोचकर उसने (राजाने) उसे पर्याप्त धन दिया। खेद है कि राजा भी धूर्तों के मोह-भाजन होते हैं ॥१८८ १८९॥

तब से राजा दृढवर्मा अपनी महारानी से विमुख हो उस कदलीगर्भा के साथ ही निश्चिन्त होकर रहने लगा ॥१९ ॥

हे सुन्दर अंगोंवाली कलिंगसेने सौतें इस प्रकार के अनेक उपद्रव और दोष उत्पन्न कर देती हैं। तू बालिका है, तेरे विवाह का लग्न अभी दूर है और अचिन्तनीय प्रभाववाले देवता भी तुझे चाहते हैं ॥१९१॥

सत्सर्वंत साम्प्रतमात्मना त्व
मात्मानमेक जगदेकरत्नम् !
वत्सेश्वरैकार्पितमत्ररक्षे ।
वरं तवार्यं हि निजं प्रकर्षं ॥१९२॥
अहं हि नेष्यामि सखि! त्वदन्तिक
स्थिताधुना त्वं पतिमन्दिरे यत ।
सखीपमे सम न यान्ति सत्स्त्रियः
सुगात्रि भर्त्रायि निवारितास्मि च ॥१९३॥
न च गुप्तमिहागमं क्षमो मे त्वदतिस्नेहवशात्स दिव्यदृष्टिः ।
तदवैति हि मत्पति कथञ्चित्तमनुज्ञाप्य किलागताहमद्य ॥१९४॥
इह नास्त्यधुना हि मामकीन
सखि कार्यं तव यामि तद्गृहाम ।
यदि मामनुमस्यते च भर्ता
तदिहैष्यामि पुनर्विलङ्घ्य रम्याम् ॥१९५॥
इत्थं सबाष्पमभिधाय कलिङ्गसेना
तामश्रुधौतवदनां मनुजेन्द्रपुत्रीम् ।
आश्वास्य चाश्लि विगलत्यसुरेन्द्रपुत्री
सोमप्रभा स्वभवनं नभसा जगाम ॥१९६॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके षष्ठस्तरङ्गः

सप्तमस्तरङ्गः

वत्सराजस्य कलिङ्गसेनायाश्च कथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततः सोमप्रभा याता स्मरन्ती तां सखीं प्रियाम् ।
कलिङ्गसेना सन्यक्तनिजदेशस्वदा यदा ॥१॥
सा विलम्बितवत्सेशपाणिग्रहमहोत्सवा ।
नरेन्द्रकन्या कौशाम्ब्यां मृगीवासीद् वनच्युता ॥२॥
कलिङ्गसेना वीवाहविलम्बनविचक्षणान् ।
गणकान् प्रति सासूय इव वत्सेश्वरोऽपि च ॥३॥

इसलिए तू समस्त विश्व के रत्न-स्वरूप एकमात्र वत्सराज को समर्पित अपनी आत्मा की रक्षा कर। यह तेरी निजी उन्नति है ॥१९२॥

हे सखि अब मैं तेरे पास नहीं आऊँगी क्योंकि अब तू पति के घर में आ गई है। अच्छी स्त्रियाँ सहेलियों के पतियों के घरों में नहीं जातीं और मेरे पति ने आज मुझे रोक भी दिया है ॥१९३॥

तेरे अत्यन्त स्नेह के कारण मेरा गुप्त रूप से आना भी सम्भव नहीं है क्योंकि मेरा पति दिव्यदृष्टि है, इसलिए वह सब जान जायगा। आज तो मैं किसी प्रकार उसकी आज्ञा लेकर आई हूँ ॥१९४॥

यदि मुझे पति की आज्ञा प्राप्त हुई तो फिर भी लज्जा का त्यागकर तुम्हारे पास आऊँगी ॥१९५॥

असुरराज की पुत्री सोमप्रभा आँसुओं से पुलते हुए मुँहवाली राजपुत्री कलिंगसेना को रोती हुई इस प्रकार कहकर सायंकाल होने पर आकाश-मार्ग से अपने घर चली गई ॥१९६॥

छठा तरंग समाप्त

सातवाँ तरंग

वत्सराज उदयन और कलिंगसेना की कथा (चालू)

अपने देश और बन्धु-बान्धव आदि का छोड़कर आई हुई कलिंगसेना गई हुई सखी सोमप्रभा को स्मरण करती हुई उदास होकर बैठी रही ॥१॥

मोगभ्रष्टा कलिंगसेना कौशाम्बी में वत्सराज के पाणिग्रहण-महोत्सव में विलम्ब होने के कारण जंगल से बाहर आकर व्याकुल हरिणी के समान हो रही थी ॥२॥

इधर कलिंगसेना के विवाह में विलम्ब करनेवाले वत्सराज भी ज्योतिषियों के प्रति कुछ रुष्ट-से रहे ॥३॥

औत्सुक्यविमनास्तस्मिन्दिने चेतो विनोदयन् ।
देव्या वासवदत्ताया निवासभवनं ययौ ॥४॥
तत्र सा तं पतिं देवी निर्विकारा विशंकत ।
उपाचरत् स्वोपचारैः प्राङ्मन्त्रिवरशिक्षिता ॥५॥
कलिङ्गसेनावृत्तान्ते ख्यातेऽप्यविकृता कथम् ।
देवीयमिति स ध्यात्वा राजा जिज्ञासुराह ताम् ॥६॥
कच्चिद्देवि त्वया ज्ञातं स्वयंवरकृते मम ।
कलिङ्गसेना नामैषा राजपुत्री यदागता ॥७॥
तच्छ्रुत्वैवाविभिन्नेन मुखरागेण साब्रवीत् ।
ज्ञातं मयातिहृष्टो मे लक्ष्मी सा ह्यागतेह नः ॥८॥
वशगे हि महाराजे तत्प्राप्त्या तत्पितर्यपि ।
कलिङ्गदत्ते पृथ्वी ते सुतरां वर्तते वशे ॥९॥
अहं च त्वद्विभूत्यैव सुखिता त्वत्सुखेन च ।
आर्यपुत्र ! सर्वैतच्च विदित प्रागपि स्थितम् ॥१०॥
तस्मात् धन्यास्मि किं यस्या मम भर्ता त्वमीदृशः ।
यं राजकन्या वाञ्छन्ति वाञ्छ्यमाना नृपान्तरैः ॥११॥
एवं वत्सेश्वरः प्रोक्तो देव्या वासवदत्तया ।
यौगन्धरायणप्रस्तशिक्षयान्ततस्तुतोष सः ॥१२॥
तयैव च सहासेव्य पानं तद्वासके निशि ।
तस्यां सुष्वाप मध्ये च प्रबुद्धः समचिन्तयत् ॥१३॥
किंस्विन्महानुभावेत्थं देवी मामनुवर्तते ।
कलिङ्गसेनामपि यत्सपत्नीमनुमन्यते ॥१४॥
कथं वा मन्युयादेतां सोढुं सैषा तपस्विनी ।
पद्मावती विवाहेऽपि या दैवान्न जहावसून् ॥१५॥
तदस्याश्चेदनिष्टं स्यात्सर्वनाशस्ततो भवेत् ।
एतदात्मन्यना पुत्रवधार्यदत्तगुरावपि मे ॥१६॥
पद्मावती च राज्यं च निमग्न्यपिवमुच्यते ।
अतः कलिङ्गसेनैषा परिणेया कथं मया ॥१७॥
एवमालोच्य वत्सेशो निशान्ते निर्गमस्ततः ।
अपराह्णे ययौ देव्या पद्मावत्याः स मन्दिरम् ॥१८॥

उस दिन उत्सुकता से व्याकुल राजा उदयन मनोविनोद के लिए महारानी वासवदत्ता के महल में गया ॥४॥

वहाँ पर मन्त्री यौगन्धरायण द्वारा शिक्षित महारानी ने किसी भी प्रकार का विकार न प्रकट करते हुए, सदा की भाँति उचित उपचारों से राजा का स्वागत सत्कार किया ॥५॥

'कलिंगसेना का वृत्तान्त प्रसिद्ध हो जाने पर भी महारानी पूर्व की ही भाँति कैसे प्रकृतिस्थ है? —ऐसा सोचते हुए राजा ने जानने के लिए रानी से कहा—'देवि मेरे स्वयंवर के विषय में तुम्हें कुछ ज्ञात है। जिसलिए कि राजपुत्री कलिंगसेना यहाँ आई हुई है? ॥६-७॥

यह सुनकर मुँह के भाव को तनिक भी विकृत किये बिना रानी बोली—'मुझे ज्ञात है, यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। वह तो हमारे यहाँ साक्षात् लक्ष्मी आई है ॥८॥

उसकी प्राप्ति से उसके पिता महाराज कलिंगदत्त के भी वश में आ जाने पर, सारी पृथ्वी तुम्हारे वश में है। क्या मैं भी धन्य नहीं हूँ कि जिसके पति तुम समान हो जिसे अन्य राजाओं से चाही जाती हुई राजकन्याएँ स्वयं चाहती हैं' ॥९-११॥

यौगन्धरायण से शिक्षित महारानी द्वारा इस प्रकार कहा गया राजा मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ ॥१२॥

और वहीं वासवदत्ता के साथ भोजन आसव-पान आदि करके सो गया। किन्तु बीच में ही उठकर सोचने लगा— ॥१३॥

क्या सचमुच महारानी इतनी उदार है कि वह मेरी बात का और सपत्नी (सौत) कलिंगसेना का भी इतना समर्थन करती है। यह बेचारी उस कलिंगसेना को कैसे सहन कर सकती है, जिसने पद्मावती के विवाह पर दैवयोग से प्राणों का ही त्याग नहीं किया? ॥१४-१५॥

यदि इसका कुछ भी अनिष्ट हुआ तो अनर्थ हो जायगा क्योंकि मेरे पुत्र श्वसुर, साले आदि सब इसी के सहारे हैं ॥१६॥

साथ ही पद्मावती और सारा राज्य इसी के सहारे है। अधिक क्या कहूँ। इसलिए, मैं कलिंगसेना से विवाह करूँ तो कैसे? ॥१७॥

ऐसा सोचकर वत्सराज प्रातःकाल वासवदत्ता के भवन से निकला और उसी दिन अपराह्न में रानी पद्मावती के महल में गया ॥१८॥

साप्येनमागतं दत्तशिक्षा वासवदत्तया ।
तथैवोपायरत्नं च पृष्टावोचत्तथैव च ॥१९॥
ततोऽन्यद्युस्तयोर्देव्योरेकं चित्तमवेत्य तत् ।
यौगन्धरायणायासौ सवत्स विमृशन्नृपः ॥२०॥
सोऽपि तं वीक्ष्य राजानं विचारपतितं शनैः ।
कालवेदी जगादैवं मन्त्री यौगन्धरायणः ॥२१॥
जानेऽहं नैतदद्यावदभिप्रायोऽत्र दारुणः ।
देवीभ्यां जीवितत्यागदाह्यर्थावुक्तं हि तत्तथा ॥२२॥
अन्यासक्ते गते भार्याः स्त्रियो मरणनिश्चिताः ।
भवन्त्यदैन्यगम्भीराः साध्व्यः सर्वत्र निःस्पृहाः ॥२३॥
असह्यं हि पुरन्ध्रीणां प्रेम्णो गाढस्य खण्डनम् ।
तथा च राजंस्तत्रैतां श्रुतसेनकथां शृणु ॥२४॥

श्रुतसेननृपतेः कथा

अभूद्दक्षिणभूमौ प्राग्गोकर्णाख्ये पुरे नृपः ।
श्रुतसेन इति ख्यातः कुलभूषाश्रुतान्वितः ॥२५॥
तस्य चैकाऽभवच्चिन्ता राज्ञः सम्पूर्णसम्पदः ।
आत्मानुरूपा भार्या यत्स न तावदवाप्तवान् ॥२६॥
एकदा च नृपः कुर्वंश्चिन्तां तां तत्कथान्तरे ।
अग्निशर्माभिधानेन जगदे सोऽग्रजन्मना ॥२७॥
आश्चर्ये द्वे मया दृष्टे ते राजन्वर्णये शृणु ।
तीर्थयात्रागतः पञ्चतीर्थीं तामहमाप्तवान् ॥२८॥
यस्यामप्सरसः पञ्च ग्राहत्वमृषिशापतः ।
प्राप्ताः सधीरव्यहरत्तीर्थयात्रागतोऽर्जुनः ॥२९॥
तत्र तीर्थवरे स्नात्वा पञ्चरात्रोपवासिनाम् ।
नारायणानुचरतादायिनि स्नायिनां नृणाम् ॥३०॥

कार्षिककथा

यावद् व्रजामि तावच्च लाङ्गलोल्लिखितावनिम् ।
गायन्तं कञ्चिदद्राक्षं कार्षिकं क्षेत्रमध्यगम् ॥३१॥
स पृष्टः कार्षिको मार्गं मार्गायातेन केनचित् ।
प्रव्राजकेन तद्वाक्यं नाशृणोद् गीततत्परः ॥३२॥

वास्तवदशा से पूर्वलिखित रानी पद्मावती ने भी उसी प्रकार बिना कोई विकार प्रकट किये राजा का स्वागत किया और पूछने पर उसी प्रकार का उत्तर दिया ॥१९॥

तब आगामी दिन दोनों रानियों के एक समान व्यवहार, एक समान हृदय और वचनों पर विचार करते हुए राजाने सब कुछ मन्त्री यौगन्धरायण से कहा ॥२ ॥

यौगन्धरायण ने भी राजा को धीरे-धीरे विचार में पड़े हुए देखकर और अवसर समझ कर इस प्रकार कहा—॥२१॥

'मैं समझता हूँ कि यह घटना ही नहीं है। दोनों रानियों ने जो इस प्रकार कहा है, उसका आधार प्राणत्याग की दृढ़ भावना है ॥२२॥

सच्चरित्र स्त्रियाँ पति के दूसरी स्त्री पर आसक्त हो जाने पर या उसके स्वर्ग चले जाने पर, मरने का निश्चय करके दैन्यरहित एवं स्पृहाहीन हो जाती हैं ॥२३॥

सती स्त्रियों को गहरे प्रेम का टूटना असह्य हो जाता है। हे राजन् इस सम्बन्ध में एक कथा सुनाता हूँ सुनो ॥२४॥

राजा श्रुतसेन की कथा

प्राचीनकाल में दक्षिण भूमि के गोकर्ण नामक नगर में कुल का भूषण और विद्वान् श्रुतसेन नामक राजा था ॥२५॥

सभी प्रकार के वैभवों से परिपूर्ण उस राजा को बस एक ही चिन्ता थी कि उसे अपने अनुरूप भार्या नहीं मिली थी ॥२६॥

एकबार राजा किसी विषय की चर्चा कर रहा था कि उसी समय अग्निशर्मा नामक ब्राह्मण ने उससे कहा—॥२७॥

'महाराज मैंने अपने जीवन में जो आश्चर्य देखे उनका वर्णन करता हूँ सुनो—मैं तीर्थ यात्रा के प्रसंग में उस पंचतीर्थों में गया जिसमें पाँच अप्सराएँ ऋषि के शाप से ग्राह (मगर) बनकर रहती थीं वहाँ पर तीर्थयात्रा के प्रसंग से आये हुए अर्जुन (पांडव) ने उन अप्सराओं का उद्धार किया था ॥२८-२९॥

उस तीर्थ में स्नान करके पाँच रातों तक उपवास करनेवाले मनुष्य नारायण के पार्षद (अनुचर) बन जाते हैं ॥३ ॥

किसान की कथा

जब मैं उस तीर्थ की ओर गया तब मैंने हल से जोती हुई भूमि को देखा और एक खेत के बीच में बैठे हुए किसान को गाते हुए देखा ॥३१॥

उस मार्ग म चलते हुए किसी संन्यासी ने उससे मार्ग पूछा किन्तु गाने में तल्लीन होकर ने उस सुना नहीं ॥३२॥

तत स तस्मै मुक्तोध परिव्राड्विमुर भुवन्।
सोऽपि गीतं विमुच्याथ कार्पिकस्तमभापत ॥३३॥
अहो प्रव्राजकोऽसि त्वं धर्मस्यापि न वेत्स्यसि।
मूर्खेणापि मया ज्ञात सारं धर्मस्य यत्पुन ॥३४॥
तच्छ्रुत्वा किं त्वया ज्ञातमिति तेन च कौतुकात्।
प्रव्राजकेन पृष्टः सन्कार्पिक स जगाद तम् ॥३५॥
इहोपविश प्रच्छाये शृणु यावद् वदामि ते।
अस्मिन्प्रदेशे विद्यन्ते ब्राह्मणा भ्रातरस्त्रय ॥३६॥
ब्रह्मदत्त सोमदत्तो विष्णुदत्तश्च पुण्यकृत्।
तेषां ज्येष्ठौ दारवन्तौ कनिष्ठस्त्वपरिग्रह ॥३७॥
स तयोर्ज्येष्ठयोराज्ञां कुर्वन् कर्मकरो यथा।
मया सहासीदक्ष्यसह तेषां हि कार्पिक ॥३८॥
तौ च ज्येष्ठावबुध्येतां मृदु तं बुद्धिवर्जितम्।
साधुमत्यक्तस मार्गमृजुमायासवर्जितम् ॥३९॥
एकदा भ्रातृजायाभ्यां सकामाभ्यां रहोऽर्थित।
कनिष्ठो विष्णुदत्तोऽथ मातृवत्ते निराकरोत् ॥४ ॥
ततस्ते निजयोर्भर्त्रोरुभे गत्वा मृषोचतु।
वाञ्छत्यावां रहस्येष कनीयान्युवयोरिति ॥४१॥
तेनं त प्रति तौ ज्येष्ठौ सान्त कोपौ बभूवतु।
सवसद् वा न विदतु कुस्त्रीवचनमोहितौ ॥४२॥
अथतौ भ्रातरौ जातु विष्णुदत्तं तमूचतु।
गच्छ त्वं क्षेत्रमध्यस्थं वल्मीकं त समीकुरु ॥४३॥
तथेत्यागत्य वल्मीक कुद्दालेनाखनत् स तम्।
मा मैवं कृष्णसर्पोऽत्र वसतीत्युदितो मया ॥४४॥
तच्छ्रुत्वापि स वल्मीकमखनद्यद्भवत्विति।
पापैषिणोरप्यादेशं ज्येष्ठभ्रात्रोरलङ्घयन् ॥४५॥
खन्यमानात्तत प्राप कलश हेमपूरितम्।
न कृष्णसर्पं धर्मो हि सान्निध्यं कुरुते सताम् ॥४६॥
तं च नीत्वा स कलशं भ्रातृभ्यां सर्वमर्पयत्।
निवार्यमाणोऽपि मया ज्येष्ठाभ्यां दृढभक्तित ॥४७॥

तब व्यर्थ अपशब्द का प्रयोग करते हुए उस साधु ने उस किसान पर क्रोध किया। यह देखकर वह किसान गाना बन्द करके संन्यासी से कहने लगा ॥३३॥

'आश्चर्य है कि तुम संन्यासी हो, धर्म को नहीं जानते और मूर्ख होकर भी मैंने धर्म का सार जान लिया है' ॥३४॥

यह सुनकर साधु कौतुक से बोला—'तुमने क्या जाना?' उत्तर देते हुए किसान ने कहा—'यहाँ छाया में बैठो और सुनो। मैं तुम्हें बताता हूँ इस प्रदेश में तीन ब्राह्मण भाई थे।—ब्रह्मदत्त, सोमदत्त और पुण्यात्मा विष्णुदत्त। उनमें दो बड़े विवाहित थे और तीसरा अविवाहित था ॥३५-३७॥

वह तीसरा छोटा भाई राजाओं के समान दोनों बड़े भाइयों का काम नौकरों के समान करता था। मैं उन्हीं भाइयों का किसान हूँ ॥३८॥

अत्यन्त मृदु, सीधे-सादे, सन्मार्गगामी, सरल-हृदय और भ्रम-रहित उस छोटे भाई को वे दोनों बड़े भाई मूर्ख और बुद्धिहीन समझते थे ॥३९॥

एक बार, उसकी दोनों बड़ी भाभियाँ उस पर आसक्त हो गई और उन्होंने उससे प्रार्थना की, किन्तु छोटे भाई विष्णुदत्त ने उन्हें माता के समान समझते हुए छोड़ दिया ॥४०॥

तब उन दोनों ने अपने पतियों के पास जाकर मिथ्या भाषण करते हुए कहा कि 'तुम दोनों का छोटा भाई हमलोगों को एकान्त में चाहता है' ॥४१॥

यह सुनकर वे दोनों बड़े भाई, छोटे भाई के प्रति मन-ही-मन जल-भुन गये। सच है, दुष्ट स्त्री के वचन से मोहित व्यक्ति सच और झूठ पर विचार नहीं करते ॥४२॥

एक बार वे दोनों भाई विष्णुदत्त से बोले—'तुम जाओ। खेत के बीच वल्मीक (बाँबी) को खोदकर बराबर करो' ॥४३॥

'अच्छा' कहकर वह जाकर हथियार से मिट्टी के ढेर को बराबर करने लगा तो मैंने उसे रोका कि 'इसमें काला साँप है' ॥४४॥

यह सुनकर भी वह खोदने से न हटा, क्योंकि वह उन पापी बड़े भाइयों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहता था ॥४५॥

खोदते हुए वल्मीक से उसने सोने के मुक्ताहारों से भरा हुआ घड़ा प्राप्त किया। किन्तु काला साँप नहीं मिला, क्योंकि धर्म सत्पुरुषों का साथ देता है ॥४६॥

मेरे रोकने पर भी उसने गहरी भक्ति (प्रेम) के कारण उस घड़े को ले जाकर बड़े भाइयों को सौंप दिया ॥४७॥

तौ पुनस्तत्र एवाशां दत्त्वा प्रेर्ये च घातकान्।
तस्याश्छेदयतां पाणिपादं घनजिहीर्षया ॥४८॥
तथापि न स चुक्रोष निर्मन्युर्भ्रातरौ प्रति।
तेन सत्येन तस्याभ हस्तपादमजायत ॥४९॥
सदा प्रभृति तद्दृष्ट्वा त्यक्त क्रोधोऽखिलो मया।
त्वया तु तापसेनापि क्रोधोऽद्यापि न मुच्यते ॥५०॥
अक्रोधेन जितः स्वर्गः पश्यैतदधुनैव मोः।
इत्युक्त्वैव तनुं त्यक्त्वा कायिकं स दिवं गतः ॥५१॥
इत्याश्चर्यं मया दृष्टं द्वितीयं शृणु भूपते।
इत्युक्त्वा श्रुतसेनं स नृपं विप्रोऽब्रवीत्पुनः ॥५२॥

विद्युद्द्योताया: श्रुतसेननृपतेश्च कथा

ततोऽपि तीर्थयात्रार्थं पर्यटन्नम्बुधेस्तटे।
अहं वसन्तसेनस्य राज्ञो राष्ट्रमवाप्तवान् ॥५३॥
तत्र भोक्तुं प्रविष्टं मां राजसत्रेऽब्रुवन् द्विजाः।
ब्रह्मन् यथामुना मा गाः स्थिता ह्यत्र नृपात्मजा ॥५४॥
विद्युद्द्योताभिधाना तां पश्येदपि मुनिर्यदि।
स कामशरनिर्भिन्नः प्राप्योन्मादं न जीवति ॥५५॥
ततोऽहं प्रत्यवोचं तान्नैवम्बिभ्रमं सदा ह्यहम्।
पश्याम्यपरकन्दर्पं श्रुतसेनमहीपतिम् ॥५६॥
यात्रादौ निर्गते यस्मिन्रक्षिभिर्दृष्टिगोचरात्।
रक्षार्थन्ते सतीव्रतभङ्गभीत्या कुलाङ्गनाः ॥५७॥
इत्युक्तवन्तं विज्ञाय मावत्क भोजनाय माम्।
नृपान्तिकं नीतवन्तौ सत्राधिपपुरोहितौ ॥५८॥
तत्र सा राजतनया विद्युद्द्योता मयेक्षिता।
कामस्येव जगन्मोहमन्त्रविद्या शरीरिणी ॥५९॥
चिरात्तद्दर्शनक्षोभं नियम्याहमचिन्तयम्।
अस्मत्प्रभोश्चेद् भार्येयं भवेद्राज्यं स विस्मरेत् ॥६०॥
तथापि कथनीयोऽयमुदन्तः स्वामिने मया।
उन्मादिनीन्देवसेनवृत्तान्तो ह्यन्यथा भवेत् ॥६१॥

उन दोनों ने उस धन को लेकर और कुछ भाग उसे देकर, कुछ मुर्दों को उभाड़ा और उस धन को भी लेने की इच्छा से उसके हाथ-पैर कटवा दिये ॥४८॥

इतने अत्याचार करने पर भी वह अपने बड़े भाइयों पर क्रुद्ध नहीं हुआ। फलतः इस सत्य भावना के प्रभाव से उसके हाथ-पैर ठीक हो गये ॥४९॥

उसे देखकर तब से मैंने सारा क्रोध छोड़ दिया। पर तुमने तपस्वी होकर भी अभी तक क्रोध नहीं छोड़ा ॥५०॥

इस प्रभाव के कारण ही मैंने स्वर्ग पर विजय पाई है। अभी देखो'—ऐसा कहकर वह किसान अपना चोला (शरीर) त्यागकर उसी समय स्वर्ग को चला गया ॥५१॥

एक आश्चर्य तो मैंने यह देखा—हे राजन्‌ अब दूसरा सुनो—ऐसा कहकर वह ब्राह्मण राजा शूरसेन से यह कहने लगा ॥५२॥

वहाँ से मैं तीर्थयात्रा के लिए समुद्र-तट पर भ्रमण करते हुए राजा बसन्तसेन के राज्य में गया ॥५३॥

विद्युद्द्योता और राजा शूरसेन की कथा (चालू)

वहाँ पर राजा के भोजन-क्षेत्र में प्रवेश करने पर ब्राह्मण लोग मुझसे कहने लगे— ब्राह्मण इस मार्ग से न जाओ। आगे मार्ग में राजा की कन्या बैठी है ॥५४॥

उसका नाम विद्युद्द्योता है। उसे यदि कोई संयमी मुनि भी देख ले तो वह कामबाण से आहत होकर बच नहीं सकता' ॥५५॥

तब मैंने उन्हें कहा 'कि यह कोई आश्चर्य नहीं है। मैं दूसरे कामदेव के समान शूरसेन राजा को प्रतिदिन देखता हूँ। जिस राजा के बाहर निकलने पर सैनिक गण कुलस्त्रियों का उनका सती चरित्र भंग होने के भय से मार्ग से हटा देते हैं' ॥५६-५७॥

ऐसा कहते हुए मुझे आपका कृपापात्र समझकर सत्र के व्यवस्थापक और पुरोहित राजा के समीप ले गए ॥५८॥

वहाँ मैंने राजपुत्री विद्युद्द्योता को देखा है। वह मानों काम की शरीरधारिणी जय-मोहिनी मन्त्रविद्या है। उसके दर्शन से होनेवाले क्षोभ को बहुत विलम्ब के पश्चात् नियन्त्रित करके मैंने यह सोचा—'यदि यह हमारे स्वामी की पत्नी हो जाय तो वह सारा राज्यकार्य भूल जाय' ॥५९-६०॥

फिर भी मुझे यह समाचार तो प्रभु (आप) से कहना ही चाहिए अन्यथा देवसेन और उन्मादिनी की-सी गति हो जायगी ॥६१॥

उन्मादिन्याः देवसेननृपतेश्च कथा

देवसेनस्य नृपते पुरा राष्ट्रे वणिक्सुता।
उन्मादिनीत्यभूत्कन्या जगदुन्मादकारिणी ॥६२॥
आवेदितापि सा पित्रा न तेनात्ता महीभृता।
विप्रै कुलक्षणैर्युक्ता तस्य व्यसनरक्षिभि ॥६३॥
परिणीता तदीयेन मन्त्रिमुख्येन सा ततः।
वातायनाग्रादात्मान राज्ञेऽस्मै आत्मदर्शयत् ॥६४॥
तया भुजङ्ग्या राजेन्द्रो दूराद्दृष्टिविषाहत।
मुहुर्मुमूर्छ न रतिं लेभे नाहारमाहरत् ॥६५॥
प्रार्थितोऽपि च तद्भर्तृप्रमुखै सोऽथ मन्त्रिभि।
धार्मिकस्तां न जग्राह तत्सक्तश्च जहावसून् ॥६६॥
तदीवृधे प्रमाणेऽत्र वृत्ते द्रोह कृतो भवेत्।
इत्यालोच्य ममोक्तं ते चित्रमेत्य ततोऽद्य तत् ॥६७॥
श्रुत्वैतत्स द्विजातस्मा भवनात्तानिभ यथा।
विद्युद्द्योताहृतमना श्रुतसेननृपोऽभवत् ॥६८॥
तत्क्षणं च विसृज्यैव तत्र विप्रं तमेव स।
तथाकरोद्यथानीय शीघ्र तां परिणीतवान् ॥६९॥
तत सा नृपतेस्तस्य विद्युद्द्योता नृपात्मजा।
शरीराभ्यधिकाभूत्त्रासीद् भास्करस्य प्रभा यथा ॥७ ॥
अथ स्वयंवरायागात्तं नृप रूपगर्विता।
कन्यका मातृदत्ताख्या महाधनवणिक्सुता ॥७१॥
अधर्मभीरुया जग्राह स राजा तां वणिक्सुताम्।
विद्युद्द्योताय तद्बुद्ध्वा हृत्स्फोटेन व्यपद्यत ॥७२॥
राजाप्यासाद्य तां कान्तां पश्यन्नेव तथागताम्।
भङ्क्त्वा कृत्या स विलपन् सद्य प्राणैर्वियुज्यत ॥७३॥
ततो वणिक्सुता वह्निं मातृदत्ता विवेश सा।
तत्र प्रणष्टं गर्वं तस्यापि राष्ट्र सराजकम् ॥७४॥
मनो गजन् प्राप्टस्य भद्र प्रेम्ण मृ सह।
विशेषेण मनस्विन्या दम्भा मागवन्तया ॥७५॥

उन्मादिनी और राजा देवसेन की कथा

प्राचीन काल में राजा देवसेन के राष्ट्र में समस्त संसार को उन्मत्त बनाने वाली उन्मादिनी नाम की एक वैश्य-कन्या थी ॥६२॥

उसके पिता की प्रार्थना पर भी राजा ने ब्राह्मणों के उसे कुलक्षणा बताने के कारण ग्रहण नहीं किया ॥६३॥

उस कन्या को राजा के प्रधान मन्त्री ने ब्याह लिया। किसी समय उन्मादिनी ने खिड़की से अपना स्वरूप राजा को दिखा दिया। उसकी दृष्टि के विष से राजा बार-बार मूर्च्छित होने लगा और उसका मन भोजन पान तथा शयन आदि किसी काम में नहीं लगा ॥६४ ६५॥

तदनंतर उन्मादिनी के पति प्रधान-मन्त्री द्वारा राजा से उसे ग्रहण करने की प्रार्थना किए जाने पर भी राजा ने धार्मिक प्रवृत्ति के कारण उसे स्वीकार न किया और उसकी आसक्ति में अपने प्राण दे दिये ॥६६॥

इस प्रकार के प्रमाद के नहीं होने पर स्वामी-द्रोह हो सकता है यही सोचकर यह आश्चर्य मैंने आपसे कह दिया ॥६७॥

यह राजा भूतसेन कामदेव की आज्ञा के समान उस ब्राह्मण से यह वृत्तान्त सुनकर विद्युद्द्योता पर हृदय से आसक्त हो गया ॥६८॥

तदनन्तर उस राजा ने उसी क्षण ब्राह्मण को विदा करके ऐसा प्रबन्ध किया कि विद्युद्द्योता से उसका विवाह हो गया। विवाह हो जाने पर वह राजपुत्री विद्युद्द्योता राजा भूतसेन से उसी प्रकार अभिन्न थी जैसे सूर्य की प्रभा सूर्य से अभिन्न होती है ॥६९-७० ॥

कुछ समय के पश्चात् राजा भूतसेन के पास किसी महाधनी वैश्य की रूपगर्विता कन्या मातृदत्ता स्वयंवर के लिए आई ॥७१॥

अधर्म के भय से राजा ने वैश्यकन्या को ग्रहण कर लिया। यह जानकर राजा की पहली रानी विद्युद्द्योता का हृदय विदीर्ण हो गया और वह मर गई ॥७२॥

राजा ने आकर जब अपनी पहली रानी को मरा हुआ देखा तब उसने उसे अपनी गोद में रख लिया और शोक में रोता हुआ वह भी उसी क्षण मर गया। उसके बाद वैश्य कन्या मातृदत्ता भी आग में कूद कर जल मरी। इस प्रकार, सारे राज्य का ही सत्यानाश हो गया ॥७३ ७४॥

इसलिए महाराज उच्चकोटि के गहरे प्रेम पाकर मानिनी रानी वासवदत्ता के प्रेम का भंग अत्यन्त असह्य है ॥७५॥

महामन्त्रिणो यौगन्धरायणस्य राजनीतिकः प्रपञ्चः (पूर्वानुवर्ती)

तस्मात्कलिङ्गसेनैषा परिणीता यदि त्वया।
देवी वासवदत्ता तत्प्राणांस्त्यक्ष्यति संशयः ॥७६॥
देवी पद्मावती तद्वत्तयोरेकं हि जीवितम्।
नरवाहनदत्तश्च पुत्रस्ते स्यात्कथं ततः ॥७७॥
तच्च देवस्य हृदयं सोढुं जाने न शक्नुयात्।
एवमेकपदे सर्वमिदं नश्येन्महीपते ॥७८॥
देव्योर्यच्चोचितगाम्भीर्यं तदेव कथयत्यरम्।
हृदयं जीवितत्यागगाढनिश्चितनिःस्पृहम् ॥७९॥
तत्स्वार्थो रक्षणीयस्ते तिर्यञ्चोऽपि हि जानते।
स्वरक्षां किं पुनर्देव बुद्धिमन्तो भवादृशाः ॥८ ॥
इति मन्त्रिवराच्छ्रुत्वा स्वैरं यौगन्धरायणात्।
सम्यग्विवेकपदवीं प्राप्य वत्सेश्वरोऽब्रवीत् ॥८१॥
एवमेतन्न सन्देहो नश्येत्सर्वमिदं मम।
तस्मात्कलिङ्गसेनायाः कोऽर्थः परिणयेन मे ॥८२॥
उक्तो लग्नश्च दूरे यत्तद्युक्तं गणकैः कृतम्।
स्वयंवरागतात्यागादधर्मो वा कियान्भवेत् ॥८३॥
इत्युक्तो वत्सराजेन हृष्टो यौगन्धरायणः।
चिन्तयामास कार्यं नः सिद्धप्रायं यथेप्सितम् ॥८४॥
उपायरससंसिक्ता देशकालोपबृंहिता।
सेयं नीतिमहावल्ली किं नाम न फलेत्फलम् ॥८५॥
इति सञ्चिन्तयन् स ध्यायन् देशकालौ प्रणम्य तम्।
राजानं प्रययौ मन्त्री गृहं यौगन्धरायणः ॥८६॥
राजापि चिन्तितातिथ्यगजकारामुपेत्य सः।
देवीं वासवदत्तां तां सान्त्वयन्नेवमब्रवीत् ॥८७॥
किमर्थं वच्मि जानासि त्वमेव हरिणाक्षि यत्।
वारि वारिरुहस्येव त्वत्प्रेम मम जीवितम् ॥८८॥
नामापि हि किमन्यस्या ग्रहीतुमहमुत्सहे।
कलिङ्गसेना तु हठादुपयाता गृहं मम ॥८९॥

मन्त्री यौगन्धरायण का राजनीतिक प्रपंच (चालू)

अत: यदि तुमने कलिंगसेना का परिणय किया तो वासवदत्ता अवश्य प्राण-त्याग कर देगी इसमें संदेह नहीं ॥७६॥

रानी पद्मावती भी इसी प्रकार प्राण त्याग देगी क्योंकि दोनों एक प्राण हैं। ऐसी स्थिति में तुम्हारे पुत्र नरवाहनदत्त की क्या स्थिति होगी ?॥७७॥

यह सब अनर्थ आपका हृदय सहन कर सकेगा या नहीं यह मैं नहीं जानता किन्तु यह सब एक बार में ही नष्ट हो जायगा ॥७८॥

दोनों रानियों की बातों में जो गम्भीरता है वही इस बात की ओर स्पष्ट इंगित करती है कि उनका जीवन प्राण-त्याग के दृढ़ निश्चय से निःस्पृह है। जो भी हो तुम्हें अपने स्वार्थ की रक्षा करनी चाहिए, यह बात तो पशु-पक्षी भी जानते हैं फिर आपके एसे बुद्धिमानों की बात ही क्या है॥७९-८ ॥

मन्त्रिश्रेष्ठ यौगन्धरायण से इस प्रकार सुनकर, भली भाँति विचार-विमर्श करके वत्सेश्वर ने कहा—॥८१॥

'ठीक है इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार मेरा सारा संसार ही नष्ट हो जायगा। इसलिए अब कलिंगसेना के परिणय से मेरा कोई प्रयोजन नहीं ॥८२॥

गणकों (ज्योतिषियों) ने भी लग्न का दूर समय देकर अच्छा ही किया। स्वयंवरा स्त्री का त्याग करने से ही कितना अधर्म होगा' ॥८३॥

वत्सराज के इस प्रकार कहने पर प्रसन्न हुए यौगन्धरायण ने सोचा कि कार्य तो जैसा मैं चाहता था वैसा सिद्ध हो गया। उपाय-रूपी जल से सींची हुई और देश-काल के अनुसार बढ़ी हुई नीति-रूपी यह लता समय पर फल क्यों न देगी ? ॥८४-८५॥

ऐसा सोचकर और देश-काल का ध्यान करता हुआ मन्त्री राजा को प्रणाम करता हुआ घर चला गया ॥८६॥

राजा भी कृत्रिम शिष्टाचार से अपने भाव को छिपाते हुए रानी वासवदत्ता को मनाता हुआ कहने लगा—॥८७॥

'हे मृगनयने ! मैं किसलिए कह रहा हूँ यह तुम जानती हो ? संसार के लिए प्राण के समान तुम्हारा प्रेम ही मेरा जीवन है॥८८॥

मैं किसी दूसरी स्त्री का नाम लेने का भी साहस नहीं करता। किन्तु कलिंगसेना तो हठ-पूर्वक मेरे घर आ गई॥८ ॥

प्रसिद्धं भाग मद्रम्मा तपःस्येन मिराकृता।
पार्वेन पम्भ्रतापाप दवौ तस्यै हृठागता ॥९०॥
स क्षापस्तिप्ठता तेन वर्षं वैराटवेश्मनि।
स्त्रीवेषेण महाब्रह्मचर्यरूपेणाप्यतिवाहित ॥९१॥
अत कलिङ्गसेनपा निषिद्धा न तवा मया।
विना त्वदिच्छयाहृ सु न किञ्चिद् वक्तुमुत्सहे ॥९२॥
इत्याश्वास्योपलभ्याथ हृदयेनेव रागिणा।
मुखार्पितेन मद्येन सत्म नूरं सवाध्ययम् ॥९३॥
तयैव सह रात्रिं तां राज्ञा वासवदत्तया।
मभिमुक्यमतिप्रौढितुष्टो वत्सेश्वरोऽवसत् ॥९४॥
अत्रान्तरे च य पूर्वं दिवारात्रौ प्रयुक्तवान्।
कलिङ्गसेनावृत्तान्तमप्यै यौगन्धरायण ॥९५॥
स ब्रह्मराक्षसोऽभ्येत्य सहृद्यागेश्वराभिध।
तस्यामेव निशि स्वैरं त मन्त्रिवरमभ्यधात् ॥९६॥
कलिङ्गसेनासदने स्थितोऽस्म्यन्तर्बहि सदा।
दिव्यानां मानुषाणां वा पश्यामि न समागमम् ॥९७॥
अद्याभ्यस्तो मया शब्द श्रुतोऽकस्मात्पसस्तले।
प्रच्छन्नेनात्र हर्म्याग्रसन्निकर्षे निशामुखे ॥९८॥
प्रभावं तस्य विज्ञातु प्रयुक्तापि तदा मम।
विद्या न प्राभवत्तेन विमृश्याहमचिन्तयम् ॥९९॥
अथ दिव्यप्रभावस्य शब्द कस्यापि निश्चितम्।
कलिङ्गसेनाकाङ्क्षिणो रूपस्य भ्रमतोऽम्बरे ॥१००॥
यन्न न क्रमते विद्या तद्वीक्षे किञ्चिदन्तरम्।
न दुष्प्रापं परच्छिद्रं जाग्रद्भिर्निपुणैर्यत ॥१०१॥
दिव्यानां वाञ्छितैपनि प्रोक्तं मन्त्रिवरेण च।
सोमप्रभा सखी चाप्या वदन्त्येतन्मया श्रुता ॥१०२॥
इति निश्चित्य तत्तुभ्यमिहाहं वक्तुमागत।
इदं प्रसङ्गात्पृच्छामि तन्मे तावत्त्वयाख्यताम् ॥१०३॥
शिष्यत्वोऽपि हि रक्षन्ति स्वात्मानमिति मत्वया।
उक्तो राजा तदभ्यर्थं योगादहमवस्थित ॥१०४॥

यह बात प्रसिद्ध है कि तपस्या में बैठे हुए अर्जुन ने हठपूर्वक आई हुई रम्भा को दूर कर दिया था और उसने अर्जुन को षण्ढ (नपुंसक) होने का शाप दिया था ॥९ ॥

उस शाप के समय को अर्जुन ने आश्चर्यमय रूप से स्त्रीवेष धारण करके विराट् के भवन में व्यतीत किया था ॥९१॥

इसीलिए मैंने उसी समय कलिङ्गसेना का निषेध नहीं किया क्योंकि तुम्हारी इच्छा के बिना कुछ भी कहने का साहस नहीं कर सकता' ॥९२॥

इस प्रकार आश्वासन देकर मानो प्रेमपूर्ण हृदय के समान उसके मुँह में लगाये हुए मद्य से उसके स्पष्ट भाव को समझकर मुख्यमन्त्री की प्रौढ़ बुद्धि से सन्तुष्ट राजा उस दिन रात को वासवदत्ता के साथ नहीं रह पाया ॥९३ ९४॥

इसी बीच यौगन्धरायण ने कलिङ्गसेना का समाचार जानने के लिए जिसे दिन-रात के लिए नियुक्त किया था वह योगेश्वर नाम का ब्रह्मराक्षस उसी रात को यौगन्धरायण के पास आया और कहने लगा— मैं कलिङ्गसेना के भवन में बाहर और भीतर सदा उपस्थित रहता हूँ किन्तु वहाँ दिव्य या मानव किसी भी व्यक्ति का आगमन मैंने नहीं देखा ॥९५ ९७॥

आज छिपे हुए मैंने भवन की ऊपरी छत के पास सायंकाल के समय आकाश में अकस्मात् शब्द सुना ॥९८॥

उस शब्द की उत्पत्ति का स्थान जानने के लिए मैंने अपनी विद्या का प्रयोग भी किया किन्तु विद्या का कुछ प्रभाव न देखकर मैंने सोचा कि निश्चय ही कलिङ्गसेना के लावण्यलोभी किसी दिव्य प्रभाववाले आकाशचारी व्यक्ति का यह शब्द है ॥ १ ॥

इसीलिए मेरी विद्या काम नहीं कर रही है क्योंकि सावधान और चतुर व्यक्ति के लिए दूसरे का छिद्र दुष्प्राप्य नहीं होता ॥१ १॥

यह कलिङ्गसेना दिव्य व्यक्तियों से चाही जा रही है यह बात (मन्त्रिवर) आपने भी कही थी और मैंने भी उसकी सखी सोमप्रभा को ऐसा कहते हुए सुना है ॥१ २॥

ऐसा निश्चय करके मैं आपको कहने के लिए यहाँ आया हूँ और प्रसंगवश मैं यह पूछता हूँ बताइए ॥१ ३॥

आपसी राजा से यह कहते हुए मैंने छिपकर सुना किया कि पशुपक्षी भी अपनी रक्षा करते हैं ॥१ ४॥

निदर्शनं चेदत्रास्ति तन्मे कथय सन्मते।
इति योगेश्वरेणोक्तः स्माह यौगन्धरायणः ॥१०५॥

उलूकनकुलमूषकमार्जाराणां कथा

अस्ति मित्र तथा चात्र कथामाख्यामि ते शृणु।
विदिशानगरीपार्श्वे न्यग्रोधोऽभूत्पुरा महान् ॥१०६॥
चत्वारः प्राणिनस्तत्र वसन्ति स्म महातरौ।
नकुलोलूकमार्जारमूषका पृथगालया ॥१०७॥
भिन्ने भिन्ने बिले मूल आस्तां नकुलमूषकौ।
मार्जारो मध्यभागस्थे तरोर्महति कोटरे॥१०८॥
उलूकस्तु शिरोभागे नान्यलभ्ये लतास्थे।
मूषकोऽत्र त्रिभिर्वध्यो मार्जारेण त्रयोऽपरे॥१०९॥
भक्षाय मार्जारभयान्मूषको नकुलस्तथा।
स्वभावेनाप्युलूकश्च परिभ्रेमुर्निशि त्रयः ॥११०॥
मार्जारश्च दिवारात्रौ निर्भयः प्राभ्रमदसौ।
तत्रासन्ने यवक्षेत्रे सदा मूषकलिप्सया ॥१११॥
येऽप्यन्येऽपि युक्त्या जग्मुस्तस्यकालेऽभिवाञ्छया।
एकदा लुब्धकस्तत्र चण्डालः कश्चिदाययौ ॥११२॥
स मार्जारपदश्रेणिं दृष्ट्वा तत्क्षेत्रगामिनीम्।
तद्वधायाभितः क्षेत्रं पाशान् दत्त्वा ततो ययौ ॥११३॥
तत्र रात्रौ च मार्जारः स मूषकजिघांसया।
एत्य प्रविष्टस्तत्पाशैः क्षेत्रे तस्मिन्नबध्यत ॥११४॥
मूषकोऽपि ततोऽन्नार्थी स तत्र निभृतागतः।
बद्धं तं वीक्ष्य मार्जारं जहर्ष च ननर्त च ॥११५॥
यावद् विशति तत्क्षेत्र दूरादेवेन वर्त्मना।
तत्र तौ तावदायातावुलूकनकुलावपि ॥११६॥
दृष्टमार्जारबन्धौ च मूषकं लब्धुमैच्छताम्।
मूषकोऽपि च तद्दृष्ट्वा दूराद् विग्नो व्यचिन्तयत् ॥११७॥
नकुलोलूकभयदं मार्जारं संश्रये यदि।
बद्धोऽप्येकप्रहारेण शत्रुर्मामेष मारयेत् ॥११८॥

इस विषय में कोई उदाहरण है तो मुझे बताइए। सोमेश्वर के इस प्रकार कहने पर दौवारिकसेन ने कहा—'मित्र इसका उदाहरण है। सुनो इस विषय की एक कथा कहता हूँ ॥१०५॥

उल्लू नेवला बिल्ली और चूहे की कथा

प्राचीन समय में विदिशा नगरी के बाहर बहुत विशाल एक वटवृक्ष था ॥१०६॥

उस वृक्ष में नेवला उल्लू बिल्ली और चूहा ये चार प्राणी अपना पृथक्-पृथक् स्थान बनाकर रहते थे। वृक्ष की जड़ में पृथक्-पृथक् बिलों में चूहा और नेवला रहा करते तथा बिल्ली वृक्ष के बीच के एक कोटर (खोखले) में और उल्लू सबसे ऊपर लता से घिरी हुई डाली में रहता था जहाँ किसी की पहुँच न थी। इनमें चूहा तीनों के लिए वध्य था और शेष तीनों बिल्ली के लिए वध्य थे ॥१०७-१०९॥

उनमें चूहा और नेवला बिल्ली से भयभीत होकर अन्न के लिए तथा उल्लू स्वभाव से भोजन के लिए, ये तीनों ही रात में घूमा करते थे ॥११० ॥

और बिल्ली निर्भय होकर दिन-रात चूहे की खोज में जौ के खेत में चक्कर लगाया करती थी ॥१११॥

एक बार जबकि भोजन की खोज में वन्य जानवर भी इधर-उधर गये हुए थे तब इसी पर वहाँ एक बहेलिया चाण्डाल आ गया ॥११२॥

वह वहाँ पर बिलाव (बिल्ली) के पैरों के चिह्नों को खेत की ओर जाते देखकर, खेत में चारों ओर जाल बाँधकर चला गया ॥११३॥

उस खेत में रात को बिलाव चूहे को मारने की इच्छा से घुसा और वहीं वह जाल में फँस गया ॥११४॥

अन्न खाने के लालच से धीरे-धीरे और चुपचाप चूहा भी उस खेत में आया और वहाँ बिलाव को बँधा देखकर प्रसन्न होकर नाचने लगा ॥११५॥

जब चूहा एक मार्ग से उस खेत में घुसा तभी नेवला और उल्लू भी दूसरे मार्ग से उसी स्थान पर आ गये ॥११६॥

बिलाव को बँधा देखकर वे दोनों चूहे को ढूँढने लगे। चूहा दूर से ही उनकी गतिविधि को देखकर घबराकर सोचने लगा —॥११७॥

'यदि मैं नेवले और उल्लू को भय देनेवाला बिलाव का आश्रय (शरण) लूँ तो जाल में बँधा हुआ भी यह शत्रु मुझे एक ही प्रहार में मार देगा ॥११८॥

मार्जाराद्‌वरग हन्यादुलूको नकुलश्च माम्।
तच्छत्रुसङ्कटगत क्व गच्छामि करोमि किम् ॥११९॥
हन्त ! मार्जारमेवेह श्रयाम्यापद्‌गतो ह्ययम्।
आत्मत्राणाय मां रक्षेत्पाशच्छेदोपयोगिनम् ॥१२०॥
इत्यालोच्य शनैर्गत्वा मार्जारं मूषकोऽब्रवीत्।
बद्धे त्वय्यतिदुःखं मे तत्ते पाशं छिनद्म्यहम् ॥१२१॥
ऋजूनां जायते स्नेह सहवासाद्रिपुष्वपि।
किं तु मे नास्ति विश्वासस्तव चित्तमजानत ॥१२२॥
तच्छत्वोवाच मार्जारो भद्र विश्वस्यतां त्वया।
अद्य प्रभृति मे मित्रं भवान् प्राणप्रदायक ॥१२३॥
इति श्रुत्वैव मार्जारात्तस्योत्सङ्ग स शिश्रिये।
तद्‌दृष्ट्वा नकुलोलूकौ निराशौ ययतुस्तत ॥१२४॥
ततो जगाद मार्जारो मूषकं पाशपीडित ।
गतप्राया निशा मित्र ! तत्पाशांश्छिन्धि मे द्रुतम् ॥१२५॥
मूषकोऽपि शनैश्छिन्दल्लुब्धकागमनोन्मुख ।
मृषा कटकटायद्‌भिर्दशनैरकरोच्चिरम् ॥१२६॥
क्षणाद्रात्रौ प्रभातायां लुब्धके निकटागते।
मार्जारेर्ऽर्थ्यमाने द्राक्पाशांश्चिच्छेद मूषक ॥१२७॥
छिन्नपाशेऽथ मार्जारे लुब्धकत्रासविद्रुते।
मूषको मृत्युमुक्त सम्पलाय्य प्राविशद् बिलम् ॥१२८॥
नाश्वसत् पुनराहूतो मार्जारेण जमाद च।
कालयुक्त्या ह्यरिर्मित्र जायते न च सर्वदा ॥१२९॥
एवं बहूनां शत्रूणां प्रज्ञयात्माभिरक्षित ।
मूषकेन तिरश्चापि किं पुनर्मानुषेषु न ॥१३ ॥
एतदुक्तस्तदा राजा मया यत्नाद्यया श्रुतम्।
बुद्ध्या कार्यं निजं रक्षेद्वैरिसंरक्षणादिति ॥१३१॥
बुद्धिर्नाम च सर्वत्र मुख्यं मित्रं न पौरुषम्।
योगेश्वर तथा चैतामत्रापि त्वं कथां शृणु ॥१३२॥

१ इयं कथा महाभारतस्य द्वादश पर्वणि पञ्च तन्त्र चोपलभ्यते।

बिलाव से दूर रहने पर तो उल्लू और नेवला दोनों ही मुझे मार देंगे। इसलिए इस प्रकार शत्रुओं के संकट में पड़ा हुआ मैं कहाँ जाऊँ ॥११०॥

अच्छा हो कि विपत्ति में पड़ा हुआ मैं बिलाव की ही शरण में जाऊँ। मुझे जाल काटने में उपयोगी जानकर सम्भव है वह अपनी रक्षा के लिए मेरी भी रक्षा करे ॥१२ ॥

ऐसा सोचकर और धीरे-से उसके पास जाकर चूहा उससे कहने लगा — तुम्हारे बंधन से मुझे अत्यन्त दुःख है। इसलिए मैं तुम्हारा जाल काटता हूँ ॥१२१॥

सरल व्यक्तियों का साथ रहने के कारण शत्रुओं पर भी प्रेम हो जाता है। किन्तु, तुम्हारे प्रेम को न जाननेवाले मुझे तुम पर विश्वास नहीं है ॥१२२॥

यह सुनकर बिलाव कहने लगा 'भद्र! तुम्हें मुझ पर विश्वास करना चाहिए। आज से मेरे प्राण बचानेवाले तुम मेरे मित्र हुए ॥१२३॥

बिलाव से ऐसा सुनकर चूहा उसकी गोद में आ छिपा। यह देखकर उल्लू और नेवला दोनों निराश होकर वहाँ से चले गये ॥१२४॥

तब जाल से बँधा हुआ बिलाव चूहे से कहने लगा 'मित्र! रात बीत-सी गई है। इसलिए मेरे बंधनों को शीघ्र काटो ॥१२५॥

बहेलिये के आने की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता हुआ चूहा झूठे ही दाँत कटकटाता हुआ बन्धनों को काटने में विलम्ब करने लगा ॥१२६॥

प्रातःकाल होने और बहेलिये के निकट आ जाने पर और बिलाव के दीनतापूर्वक प्रार्थना करने पर, चूहे ने तुरन्त जाल के बंधन काट डाले ॥१२७॥

जाल काटने के पश्चात् बहेलिये के भय से बिल्ली के भाग जाने पर मृत्यु से छूटा हुआ चूहा भी भागकर बिल में घुस गया ॥१२८॥

बिलाव द्वारा फिर विश्वास दिलाकर बुलाने पर भी उसने उसका विश्वास नहीं किया और कहने लगा—'समय आने पर ही शत्रु मित्र बनता है सदा नहीं ॥१२९॥

इस प्रकार चूहे ने और भी बहुत-से पशुओं ने अपने शत्रुओं से बुद्धिमानी के साथ आत्म रक्षा की मनुष्यों की तो बात ही क्या है ॥१३ ॥

जो तुमने मुझसे सुना है वही मुझसे कहा गया राजा अपनी बुद्धि से महारानी की रक्षा करते हुए अपने कार्य की भी रक्षा कर सकता है ॥१३१॥

बुद्धि ही सर्वत्र प्रधान मित्र है पुरुषार्थ नहीं। हे योगेश्वर! इस कथा को भी सुनो ॥१३२॥

---

१ यह कथा महाभारत के १२वें पर्व में तथा पंचतंत्र में भी मिलती है।—अनु

श्रावस्तीत्यस्ति नगरी तस्यां पूर्वं प्रसेनजित्।
राजाभूत्तत्र चाभ्यागात्कोऽप्यपूर्वो द्विजः पुरि॥१३३॥
सोऽशूद्रान्नभुगश्वेन वणिजा गुणवानिति।
ब्राह्मणस्य गृहे तत्र कस्यचित्स्थापितो द्विजः॥१३४॥
तत्रैव तेन शुष्कान्नदक्षिणादिभिरन्वहम्।
आपूर्यत ततोऽन्यैश्च धनैर्बुद्ध्वा वणिग्वरैः॥१३५॥
तेनासौ हेमदीनारसहस्रं कृपणः क्रमात्।
सञ्चित्य गत्वारण्ये तन्निहृत्य क्षिप्तवान् भुवि॥१३६॥
एकाकी प्रत्यहं गत्वा तच्च स्थानमवैक्षत।
एकदा हेमशून्यं तत्खातं व्यात्तं च दृष्टवान्॥१३७॥
शून्यं तत्खातकं तस्य पश्यतो हृतचेतसः।
न परं हृदि सङ्क्रान्ता चित्रं दिक्ष्वपि शून्यता॥१३८॥
अथोपागाच्च विलपंस्तं विप्रं यद्गृहे स्थितः।
पृष्टस्तेन च स्ववृत्तान्तं तस्मै सर्वं न्यवेदयत्॥१३९॥
गत्वा तीर्थमभुञ्जानः प्राणांस्त्यक्तुमियेष च।
बुद्ध्वा च सोऽन्नदातास्य वणिगन्यैः सहाययौ॥१४०॥
स तं जगाद किं ब्रह्मन्! चित्तहेतोर्मुमूर्षसि।
अकालमेघवद् वित्तमकस्मादेति याति च॥१४१॥
इत्याद्युक्तोऽपि तेनासौ न जहौ मरणग्रहम्।
प्राणेभ्योऽप्यर्थमात्रा हि कृपणस्य गरीयसी॥१४२॥
ततश्च मृत्यवे तीर्थं गच्छतोऽस्य द्विजन्मनः।
स्वयं प्रसेनजिद्राजा तद्बुद्ध्वान्तिकमाययौ॥१४३॥
पप्रच्छ चैनं किं किञ्चिदस्ति तत्रापलक्षणम्।
यत्र भूमौ निखातास्ते दीनारा ब्राह्मण! त्वया॥१४४॥
तच्छ्रुत्वा स द्विजोऽवादीदस्ति क्षुद्रोऽत्र पादपः।
अटव्यां देव तन्मूले निखातं तन्मया धनम्॥१४५॥
इत्याकर्ण्याब्रवीद्राजा दास्याम्यन्विष्य तत्तव।
धनं स्वकोषादथवा मा त्याक्षीर्जीवितं द्विज॥१४६॥
इत्युक्त्वा मरणोद्योगान्निवार्य विनिधाय च।
द्विजं तं वणिजो हस्ते स राजाभ्यन्तरं ययौ॥१४७॥

श्रावस्ती नाम की एक नगरी है। उसमें पहले प्रसेनजित् नाम का राजा राज्य करता था। वहाँ एक बार एक कोई अद्भुत ब्राह्मण आया ॥१३३॥

वह शूद्र का अन्न नहीं खाता था। इसलिए एक वैश्य ने उसे तपस्वी समझकर किसी ब्राह्मण के घर ठहरा दिया ॥१३४॥

धीरे-धीरे उसकी प्रसिद्धि होने पर उस ब्राह्मण के घर को अन्यान्य वैश्यों ने सूखे अन्न और धन से भरपूर कर दिया ॥१३५॥

उस संग्रह से उस कंजूस ब्राह्मण ने एक सहस्र मुद्राएँ एकत्र कर लीं और जंगल में जाकर भूमि खोदकर उन्हें गाड़ दिया ॥१३६॥

और, प्रतिदिन वहाँ अकेला जाकर उस स्थान को वह देख आता था। एक दिन उसने उस स्थान को खुदा हुआ और मुद्राशून्य पाया ॥१३७॥

उस गड्ढे को मुद्रा-रहित देखकर हताश उस ब्राह्मण के हृदय में ही नहीं, प्रत्युत दिशाओं में भी शून्यता फैल गई, अर्थात् उसे सभी ओर अँधेरा दीखने लगा ॥१३८॥

तदनन्तर रोता विलाप करता हुआ वह ब्राह्मण वहाँ आया, जहाँ ठहरा हुआ था। वहाँ के गृहस्वामी ब्राह्मण द्वारा पूछे जाने पर अपना सारा वृत्तान्त उसे सुना दिया ॥१३ ॥

और, वह अनशन करके तीर्थ में प्राण देने की इच्छा प्रकट करने लगा। यह जानकर वह उसका अन्नदाता वैश्य भी अन्य बनियों के साथ वहाँ आया ॥१४ ॥

आकर उस ब्राह्मण से वह कहने लगा— हे ब्राह्मण! धन के लिए क्या मरना चाहते हो? अकाल-मेघ के समान धन आता है और चला जाता है ॥१४१॥

इस प्रकार अनेक बातों से सान्त्वना देने पर भी उस ब्राह्मण ने मरने का आग्रह न छोड़ा, क्योंकि कंजूस के लिए धन की माया प्राणों से भी प्यारी और भारी होती है ॥१४२॥

तदनन्तर मरने के लिए तीर्थयात्रा करनेवाले उस ब्राह्मण को सुनकर प्रसेनजित् स्वयं उसके पास आया ॥१४३॥

और पूछा कि 'जहाँ तुमने मुहरें गाड़ी थीं, वहाँ पर कोई चिह्न भी है?' ॥१४४॥

यह सुनकर उस ब्राह्मण ने कहा—वहाँ पर एक छोटा-सा क्षुप (पेड़) है, जंगल में उसी की जड़ में मैंने वह धन गाड़ दिया था ॥१४५॥

यह सुनकर राजा ने उससे कहा—मैं उस [illegible] मुहरें दे दूँगा अथवा अपने कोष से मुहरें दे दूँगा। इसलिए तुम प्राण न छोड़ो ॥१४६॥

ऐसा कहकर ब्राह्मण को मरने के उद्यम से रोककर और उस वैश्य के हाथ सौंपकर राजा अपने भवन को चला गया ॥१४७॥

तत्राविश्य प्रतीहारं शिरोर्त्तिव्यपदेशतः।
वैद्यानानाययत्सर्वान् दत्त्वा पटहघोषणाम् ॥१४८॥
आतुरास्ते कियन्तोऽत्र कस्यादात् किं त्वमौषधम्।
इत्युपानीय पप्रच्छ तानेकैकं विविक्तग ॥१४९॥
तेऽपि तस्मै तदैकैकं सर्वेऽभ्यधुर्महीपते।
एकोऽथ वैद्यस्तन्मध्यात् क्रमपृष्टोऽब्रवीदिदम् ॥१५०॥
वणिजो मातृदत्तस्य देव नागबला मया।
अस्वस्थस्योपदिष्टाद्य द्वितीयं दिनमोषधि ॥१५१॥
तच्छ्रुत्वा स तमाहूय राजा वणिजमभ्यधात्।
ननु नागबला केन तवानीतोच्यतामिति ॥१५२॥
देव कर्मकरेणेति तेनोक्ते वणिजा तदा।
क्षिप्रमानाय्य तं राजा स कर्मकरमब्रवीत् ॥१५३॥
त्वया नागबलाहेतो खनता क्षालिनस्तलम्।
दीनारजातं यल्लब्धं ब्रह्मस्वं तत्समर्पय ॥१५४॥
इत्युक्तो भूभृता भीतः प्रतिपद्यैव तत्क्षणम्।
स तानानीय दीनारांस्तत्र कर्मकरो जहौ ॥१५५॥
राजाऽप्युपोषितायास्मै द्विजायाहूय तान् ददौ।
दीनारान् हारितप्राप्तान् प्राणानिव बहिश्चरान् ॥१५६॥
एवं स लब्धवान् बुद्धया नीतं मूलतलात्तरोः।
द्विजार्थं भूपतिर्ज्ञानप्रोषधिं तां विदुद्भवाम् ॥१५७॥
तदेवं सर्वदा बुद्धे प्राधान्यं बितपौरुषम्।
ईदृशेषु च कार्येषु किं विदध्यात् पराक्रमः ॥१५८॥
तद्योगेश्वर कुर्वीथास्त्वमपि प्रज्ञया तथा।
यथा कलिङ्गसेनाया दोषो ज्ञायेत कश्चन ॥१५९॥
अस्ति चैतद्यथा तस्यां एन्त्यन्तीह सुरासुराः।
तथा च दिवि कस्यापि निशि शब्दः श्रुतस्त्वया ॥१६०॥
अन्येऽप्य दोषे तस्यादच भवेदकुदामं न नः।
नोपयच्छेत तां राजा न चाधर्मं कृतो भवेत् ॥१६१॥
इत्युदारमिव श्रुत्वा सर्वं यौगन्धरायणात्।
योगेश्वरस्तं सन्तुष्य जगाद ब्रह्मराक्षसः ॥१६२॥

वहाँ जाकर सिर-पीड़ा का बहाना करके द्वारपाल द्वारा नगाड़े पर घोषणा कराकर राजा ने नगर के सभी वैद्यों को बुलवाया ॥१४८॥

और, एक-एक वैद्य को अलग-अलग बुलवाकर पूछने लगा कि तुम्हारे कितने रोगी हैं और तुमने किसे-किसे कौन-कौन-सी दवा दी है? ॥१४९॥

उन वैद्यों ने भी एक-एक करके अपना-अपना विवरण राजा को सुनाया। उनमें से एक वैद्य ने क्रमशः अपनी बारी आने पर राजा से यह कहा ॥१५ ॥

'महाराज रोगी मातृदत्त नामक वैश्य को मैंने नागबला नाम की ओषधि बताई थी आज दूसरा दिन है।' यह सुनकर राजा ने मातृदत्त वैश्य को बुलवाकर कहा – 'तुम्हारे लिए नागबला कौन लाया था? बताओ' ॥१५१ १५२॥

'महाराज मेरा भृत्य (नौकर) लाया था।' बनिये के ऐसा उत्तर देने पर राजा ने उस भृत्य को बुलवाकर कहा 'तू ने नागबला के लिए भूमि खोदते हुए जो मुहरों की राशि प्राप्त की है वह ब्राह्मण का धन है उसे दे दे' ॥१५३ १५४॥

राजा के ऐसा कहने पर भयभीत नौकर ने उसी समय मुहरें लाकर वहीं रख दीं ॥१५५॥

तदनन्तर राजा ने सम्मान करते हुए ब्राह्मण को बुलवाकर, उस कंजूस ब्राह्मण के बाहरी प्राणों के समान चोरी होकर मिली हुई मुहरें उसे दे दीं ॥१५६॥

इस प्रकार राजा ने वृक्ष के नीचे से ले जाये गये धन को बुद्धिबल से ब्राह्मण को प्राप्त करा दिया क्योंकि वहीं उत्पन्न हुई ओषधि को वह जानता था ॥१५७॥

अतएव पुरुषार्थ के ऊपर सदा बुद्धि की प्रधानता रहती है। इन बातों में पौरुष क्या कर सकता है? ॥१५८॥

इसलिए हे परमेश्वर! तुम भी बुद्धिबल से कुछ ऐसा करना जिससे कलिंगसेना का कोई दोष जाना जा सके ॥१५ ॥

यह बात तो है कि उस कलिंगसेना पर देवता और असुर सभी लगाये रहते हैं और राज से मैंने ऐसा कुछ डर भी सुना है ॥१६ ॥

उसका दोष मिलने पर उससे और तुम्हारा सम्बन्ध न होगा। राजा उससे विवाह न करेगा इसलिए अधर्म भी न होगा ॥१६१॥

इस प्रकार बुद्धिमान् यौगन्धरायण से यह सुनकर वत्सराज उदयन प्रसन्न होकर बोला— ॥१६२॥

कस्त्वया सदृशो नीतावन्यो देवाद् बृहस्पतेः।
अयत्नमृत सेकोऽस्य रक्ष मन्त्रो राज्यशाखिनः ॥१६३॥
सोऽद्य कलिङ्गसेनाया जिज्ञासिष्ये गतिं सदा।
बुद्धया शक्त्यापि चेत्युक्त्वा ततो योगेश्वरो ययौ ॥१६४॥
तत्कालं सा च हर्म्यादौ पर्यन्त स्वहर्म्यगा।
कलिङ्गसेना वत्सेशं दृष्ट्वा दृष्ट्वा स्म ताम्यति ॥१६५॥
तन्मना स्मरसन्तप्ता मृणालाङ्गदहारिणी।
सा श्रीखण्डाङ्गरागा च न लेभे निर्वृतिं क्वचित् ॥१६६॥
अत्रान्तरे स तां पूर्वं दृष्ट्वा विद्याधराधिप।
तस्यौ मदनवेगाख्यो गाढानङ्गशरार्दितः ॥१६७॥
तत्प्राप्तये तपः कृत्वा वरे लब्धेऽपि शङ्करात्।
तान्यासक्तान्यदेशस्था सुखं प्राप्यास्य नाभवत् ॥१६८॥
यतस्तेनान्तरं लब्धुमसौ विद्याधराधिपः।
रजनीषु दिवि भ्राम्यन्नासीत्तन्मन्दिरोपरि ॥१६९॥
संस्मृत्य तु तमावेद्य तपस्तुष्टस्य धूर्जटेः।
एकस्यां निशि वत्सेशरूपं चक्रे स्वविद्यया ॥१७०॥
तद्रूपश्च विवेशास्य मन्दिरं द्वाःस्थवन्दितः।
कालक्षेपाक्षमो गुप्तं मन्त्रिणां स इवागतः ॥१७१॥
कलिङ्गसेनाप्युत्तस्थौ तं दृष्ट्वोत्कम्पविक्लवा।
न सोऽयमिति सा रावैर्वार्यमाणेव भूषणैः ॥१७२॥
ततो वत्सेशरूपेण क्रमाद् विश्वास्य तेन सा।
भार्या मदनवेगेन गान्धर्वविधिना कृता ॥१७३॥
तत्कालं च प्रविष्टस्तद् दृष्ट्वा योगादलक्षितः।
योगेश्वरो विषण्णोऽभूद् वत्सेशालोकनभ्रमात् ॥१७४॥
यौगन्धरायणायैतद् गत्वोक्त्वा तन्निदेशतः।
युक्त्या वासवदत्ताया वत्सेशं वीक्ष्य पार्श्वगम् ॥१७५॥
भूयो मन्त्रिवरोक्त्यैव रूपं सुप्तस्य वेदितुम्।
कलिङ्गसेना प्रच्छन्नकामिनः सोऽगमत्पुनः ॥१७६॥
गत्वा कलिङ्गसेनायाः सुप्तायाः शयनीयके।
सुप्तं मदनवेगं तं स्वरूपे स्थितमैक्षत ॥१७७॥

नीति में बृहस्पति के सिवा तुम्हारे समान और कौन है। तुम्हारी सम्मति राज्य-रूपी वृक्ष के लिए अमृत-सिंचन के समान है' ॥१६३॥

अब मैं कलिङ्गसेना की गतिविधि को बुद्धि और शक्ति वालों से ही जानने का प्रयत्न करूँगा। ऐसा कहकर यौगन्धरायण चला गया ॥१६४॥

उस समय अपने भवन में बैठी हुई कलिङ्गसेना राजमहल उद्यान आदि में भ्रमण करते हुए वत्सराज को देख-देखकर तड़प रही थी ॥१६५॥

कामाग्निमय हृदयवाली कलिङ्गसेना मृणाल (कमलनाल) के अंगद (भुजा के आभूषण) से मनोहर लगा रही थी और चन्दन का लेप करने पर भी विरहाग्नि से शान्ति प्राप्त नहीं कर पा रही थी ॥१६६॥

इसी बीच मदनवेग नाम का वह विद्याधरों का राजा पहले से ही कलिङ्गसेना को देखकर कामबाणों की गम्भीर वेदना का अनुभव कर रहा था ॥१६७॥

उसकी प्राप्ति के लिए तप करके शिवजी से वर प्राप्त कर लेने पर भी दूसरे पर आसक्त और दूसरे देश में गई हुई कलिङ्गसेना अब उसके लिए सहज में ही प्राप्त योग्य नहीं रह गई थी ॥१६८॥

इसीलिए अवसर की प्रतीक्षा में विद्याधरों का वह राजा रात्रियों में आकाश में विचरण करता हुआ एक बार कलिङ्गसेना के निवास भवन के ऊपर आया ॥१६९॥

और तपस्या से सन्तुष्ट शिवजी के उस आदेश का स्मरण करके एक बार रात के समय अपनी विद्या के बल से वत्सराज का रूप और वेष बनाकर द्वारपाल से प्रणाम किया जाता हुआ कलिङ्गसेना के मन्दिर में गया। मानों मन्त्रियों द्वारा किए गए कालक्षेप को सहन न करके राजा गुप्त रूप से स्वयं ही आ गया हो ॥१७०-१७१॥

उसे देखकर कम्पन से व्याकुल कलिङ्गसेना उठी। उसके उठने पर झनझनाते उसके आभूषण मानों यह कह रहे थे कि यह वह (वत्सराज) नहीं है ॥१७२॥

तदनन्तर वत्सराज का रूप धारण किए हुए उस विद्याधर ने धीरे-धीरे उस विश्वास दिलाकर गान्धर्व विधान से अपनी पत्नी बना लिया ॥१७३॥

उसी समय अन्दर घुसा हुआ और अपनी विद्या के प्रभाव से अलक्षित यौगन्धरायण वत्सराज को देखकर भय से चकित रह गया ॥१७४॥

और, वत्सराज को यौगन्धरायण के पास बैठा हुआ देखकर उसके आदेश से उस यह सब वृत्तान्त कहने के लिए उसके पास गया ॥१७५॥

मन्त्री के कहने से कलिङ्गसेना के गुप्त प्रेमी का वास्तविक रूप देखने के लिए वह पुनः और आया ॥१७६॥

और सोई हुई कलिङ्गसेना के पास आकर उस पर सोये हुए मदनवेग के वास्तविक रूप को उसने देखा ॥१७७॥

छत्रध्वजाङ्कुनिवूलिपादाब्ज विम्बमानुपम्।
स्वापान्सहितत्वृथियावीसरूपविवर्त्तनम् ॥१७८॥
तत्र गत्वा यथावृष्टं निवेद्य परितोषवान्।
योगेश्वरो जगादासौ हृष्टो यौगन्धरायणम् ॥१७९॥
न वेत्ति मानुषः किञ्चिद् वेत्सि त्वं नीतिचक्षुषा।
तव मन्त्रेण दुःसाध्यं सिद्धं कार्यमिदं प्रभो ॥१८०॥
किं वा व्योम विनार्केण किं तोयेन विना सरः।
किं मन्त्रेण विना राज्यं किं सत्येन विना वचः ॥१८१॥
इत्युक्तवन्तमामन्त्र्य प्रीतो योगेश्वरं ततः।
प्रातर्वत्सेश्वरं द्रष्टुमगाद्यौगन्धरायणः ॥१८२॥
समुपेत्य यथावच्च कथाप्रस्तावतोऽब्रवीत्।
नृपं कलिङ्गसेनार्थं पृष्टकार्यविनिश्चयम् ॥१८३॥
स्वच्छन्दासौ न ते राजन् पाणिस्पर्शमिहार्हति।
एषा हि स्वेच्छया द्रष्टुं प्रसेनजितमागता ॥१८४॥
विरक्ता वीक्ष्य तं वृद्धं त्वां प्राप्ता रूपलोभतः।
तदन्यपुरुषासङ्गमपि स्वेच्छं करोत्यसौ ॥१८५॥
तच्छ्रुत्वा कुलकन्येयं कथमेवं समाचरेत्।
चारितं कस्य प्रवेष्टुं वा मदीयान्तःपुरान्तरे ॥१८६॥
इति राज्ञोदितेऽवादीद्धीमान्यौगन्धरायणः।
अद्यैव दर्शयाम्येतत्प्रत्यक्षं निशि देव ते ॥१८७॥
दिव्यास्तामभिवाञ्छन्ति सिद्धाद्या मानुषोऽत्र कः।
दिव्यानां च गती रोद्धुं राजन्केनेह शक्यते ॥१८८॥
तदेहि साक्षात्पश्येति वादिना तेन मन्त्रिणा।
सह गन्तुं मतिं चक्रे तत्र रात्रौ स भूपतिः ॥१८९॥
पश्चाच्च त्वया च्छले राज्या न विवाहापरति यत्।
प्रोक्तं देवि प्रतिज्ञातं मया निर्व्यूढमद्य तत् ॥१९०॥
इत्यथाभ्येत्य तां देवीमुक्त्वा यौगन्धरायणः।
कलिङ्गसेनावृत्तान्तं तस्यै सर्वमुक्तवान् ॥१९१॥
त्वदीयशिक्षानुष्ठानफलमेतन्ममेति सा।
देवी वासवदत्तापि प्रणतामिननन्द तम् ॥१९२॥

उस दिव्य मनुष्य के छत्र और ध्वजा से चिह्नित तथा स्निग्ध कोमल चरणकमल थे। सो जाने पर छिनी हुई विद्या के कारण उसका बदला हुआ रूप समाप्त हो गया और वह स्पष्टतया अपने वास्तविक रूप में शोभ रहा था ॥१७८॥

इस स्थिति को देखकर परम सन्तुष्ट योगेश्वर ने जो कुछ देखा उसे मन्त्री यौगन्धरायण को बताते हुए उसने कहा—॥१७९॥

हे स्वामी ! मैं कुछ भी नहीं जानता तुम नीति की लीला से सब कुछ जानते हो। तुम्हारे ही उपाय से यह दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो गया ॥१८ ॥

बिना सूर्य के आकाश क्या है और बिना जल के सरोवर क्या है ? बिना मन्त्री के राज्य क्या है और बिना सत्य के वचन क्या है ? ॥१८१॥

इस प्रकार कहते हुए योगेश्वर का विदा करके यौगन्धरायण प्रातःकाल ही वत्सराज से मिलने गया ॥१८२॥

उसके पास जाकर वार्तालाप के प्रसंग में अवसर पाकर राजा से कलिंगसेना-सम्बन्धी कार्य के लिए सम्मति पूछता हुआ मन्त्री यौग धरायण कहने लगा ॥१८३॥

यह कलिंगसेना स्वैरिणी (स्वतन्त्र स्त्री) है। यह आपके हाथों से स्पर्श करने योग्य नहीं है। अपनी इच्छा से यह प्रसेनजित् राजा को देखने आई थी किन्तु उसे वृद्ध देखकर रूप के लोभ से तुम्हारे पास आ गयी। यह दूसरे पुरुष का संग भी अपनी इच्छा से करती है' ॥१८४ १८५॥

यौगन्धरायण से ऐसा सुनकर, 'एक अच्छे कुल की कन्या ऐसा कैसे कर सकती है और मेरे रनिवास में पर-पुरुष को घुसने की शक्ति कैसे हुई?' ॥१८६॥

राजा के इस प्रकार प्रश्न करने पर बुद्धिमान् यौगन्धरायण कहने लगा —'महाराज! आज ही रात में आपको सब प्रत्यक्ष दिखा दूँगा' ॥१८७॥

सिद्ध विद्याधर आदि देवता उसे चाहते हैं, तो मनुष्यों की कथा ही क्या है। और, राजन् ! दिव्य व्यक्तियों की गति को कौन रोक सकता है ? ॥१८८॥

'तो आइए और प्रत्यक्ष देखिए'। ऐसा कहते हुए मन्त्री के साथ राजा ने रात्रि के समय कलिंगसेना के रनिवास में जाने की इच्छा प्रकट की ॥१८९॥

'पद्मावती के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री का विवाह राजा से नहीं होगा यह जो मैंने तुमसे प्रतिज्ञा की थी उसे आज मैंने पूर्ण कर दिया' ॥१९ ॥

यौगन्धरायण ने रानी वासवदत्ता के पास जाकर ऐसा कहा और कलिंगसेना का सारा वृत्तान्त उसे विस्तारपूर्वक सुना दिया ॥१९१॥

प्रणाम करती हुई वासवदत्ता ने भी 'तुम्हारी शिक्षा के अनुसार कार्य करने का यह परिणाम है'—ऐसा कहकर मन्त्री का अभिनन्दन किया ॥१९२॥

ततो निशीथे संसुप्ते जने वत्सेश्वरो ययौ।
सह कलिङ्गसेनायाः स च यौगन्धरायणः ॥१९३॥
अदृष्टश्च प्रविष्टोऽत्र तस्या निद्राजुषोऽन्तिके।
सुप्तं मदनवेगं तं स्वस्वरूपस्थं ददर्श सः ॥१९४॥
हन्तुमिच्छति यावच्च स तं साहसिकं नृपः।
तावत्स विद्यया विद्याधरोऽभूत्प्रतिबोधितः ॥१९५॥
प्रबुद्धश्च स निर्गत्य क्षणिगत्युदपतन्नभः।
क्षणात्कलिङ्गसेनाऽपि सा प्रबुद्धाभवत्तदा ॥१९६॥
शून्यं शयनमालोक्य जगाद च कथं हि माम्।
पूर्वं प्रबुध्य वत्सेशः सुप्तां मुक्त्वैव गच्छति ॥१९७॥
तदाकर्ण्य स वत्सेशमाह यौगन्धरायणः।
एषा विध्वंसितानेन शृणु त्वद्रूपधारिणा॥१९८॥
सैष योगबलाज्ज्ञात्वा साक्षात्ते दर्शितो मया।
किं तु दिव्यप्रभावत्वादसौ हन्तुं न शक्यते ॥१९९॥
इत्युक्त्वा स च राजा च सह तामुपजग्मतुः।
कलिङ्गसेना साप्येतौ दृष्ट्वा तस्थौ कृतादरा ॥२ ॥
अधुनैव क्व गत्वा त्वं राजन् प्राप्तः समन्तिकम्।
इति ब्रुवाणामवदत्तां स यौगन्धरायणः ॥२ १॥
कलिङ्गसेने ! कनापि मायावत्सेशरूपिणी।
समोह्य परिणीतासि न त्वं मत्स्वामिनाधुना ॥२ २॥
तच्छ्रुत्वा सातिसम्भ्रान्ता विद्धेव हृदि पत्रिणा।
कलिङ्गसेना वत्सेशं जगादोदश्रुलोचना ॥२ ३॥
गान्धर्वविधिनाहं ते परिणीतापि विस्मृता।
किंस्विद्राजन् यथापूर्वं दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥२०४॥
इत्युक्तः स तया राजा तामुवाचानताननः।
सत्यं न परिणीतासि मयाद्यैवागतो ह्यहम् ॥२ ५॥
इत्युक्तवन्तं वत्सेशं मन्त्री यौगन्धरायणः।
एहीत्युक्त्वा ततः स्वैराममैषीद्राजमन्दिरम् ॥२०६॥

तदनन्तर रात में सभी मनुष्यों के सो जाने पर वत्सराज और यौगन्धरायण कलिङ्गसेना के निवास-भवन में गये। और अलक्षित रूप से सोए हुए मदनवेग के वास्तविक स्वरूप को उन्होंने देखा ॥१९३ १९४॥

जबतक राजा उस साहसी मदनवेग को मारने के लिए तलवार खींचता है, तबतक वह जगकर अपनी विद्या के प्रभाव से विद्याधर बन गया ॥१९५॥

और शीघ्र ही उठकर एवं भवन से बाहर निकलकर आकाश में उड़ गया। इतने में ही कलिङ्गसेना भी सहसा उठ गई ॥१९६॥

वह अपने पर्यङ्क को सूना देखकर बोली—'मुझे बिना जगाये ही स्वयं पहले जागकर आप वत्सराज क्यों चले गये ? ॥१९७॥

यह सुनकर यौगन्धरायण ने वत्सराज से कहा—'सुनो ! इस विद्याधर ने तुम्हारा रूप धारण करके इसे भ्रष्ट कर दिया है। यह मैंने योगबल से जानकर तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा दिया किन्तु यह दिव्यशक्तिशाली है। तुम उसे मार नहीं सकते। ऐसा कहकर राजा और मन्त्री दोनों प्रकट होकर कलिङ्गसेना के पास पहुँचे। कलिङ्गसेना भी उन्हें देखकर उनका समुचित सत्कार करती हुई उठकर खड़ी हुई ॥१९८ २ ॥

और कहने लगी 'राजन् ! अभी ही जाकर फिर आप मन्त्री के साथ कैसे पधारे ! ऐसा कहती हुई कलिङ्गसेना से मन्त्री यौगन्धरायण बोला—॥२ १॥

हे कलिङ्गसेना ! तुझे किसी मूढ़ व्यक्ति ने वत्सराज का रूप धारण करके भ्रम में डालकर विवाहित कर लिया। मेरे इन स्वामी से तू विवाहित नहीं हुई है ॥२ २॥

यह सुनते ही मानों तीर से विदीर्ण हृदय अतएव अत्यन्त व्याकुल कलिङ्गसेना आँसू बहाती हुई वत्सराज से कहने लगी—॥२ ३॥

गान्धर्व विधि से विवाहितकर अब पर आपने मुझे वैसे ही भुला दिया जैसे दुष्यन्त ने शकुन्तला को भुला दिया था। यह क्या है ? ॥२ ४॥

कलिङ्गसेना के इस प्रकार कहने पर राजा ने नीचे मुँह किये हुए कहा—सत्य है मैंने तुझे विवाहित नहीं किया। मैं तो आज ही यहाँ आया हूँ ॥२ ५॥

ऐसा कहते हुए राजा को मन्त्री यौगन्धरायण 'आइए' ऐसा कहकर राजभवन में ले गया ॥२ ६॥

ततः समन्त्रिके राज्ञि गते सात्र विवेशगा।
मृगीव यूथविभ्रष्टा परित्यक्तस्वबान्धवा ॥२०७॥
सम्भोगविवरूत्पन्नमुक्ता या गजपीडिता।
पद्मिनीव परिक्षिप्तकबरीभ्रमरावलिः ॥२०८॥
विनष्टकन्यकाभावा निरुपायक्रमा सती।
कलिङ्गसेना गगन वीक्षमाणेदमब्रवीत् ॥२०९॥
वत्सेशरूपिणा येन परिणीतास्मि केनचित्।
प्रकाशः सोऽस्तु कौमारः स एव हि पतिर्मम ॥२१०॥
एवं तयोक्ते गगनात्सोऽत्र विद्याधराधिपः।
अवातरद्दिव्यरूपो हारकेयूरराजितः ॥२११॥
को भवानिति पृष्टश्च तयैवं स जगाद ताम्।
अहं मदनवेगाख्यस्तन्वि विद्याधराधिपः ॥२१२॥
मया च प्राग्विलोक्य त्वां पुरा पितृगृहे स्थिताम्।
त्वत्प्राप्तिवस्तपः कृत्वा वरः प्राप्तो महेश्वरात् ॥२१३॥
वत्सेश्वरानुरक्ता च तद्रूपेण मया द्रुतम्।
भवृत्ततद्विवाहैव परिणीतासि युक्तितः ॥२१४॥
इति वाक्सुधया तस्य श्रुतिमार्गप्रविष्टया।
किञ्चित्कलिङ्गसेनाभूदुच्छ्वासितहृदम्बुजा ॥२१५॥
अथ स मदनवेगस्तां समाश्वास्य कान्तां
विहितधृतिवितीर्णस्वर्णराशिः स तस्य।
उचित इति तयान्तर्वद्धसद्मस्तु भक्ति
पुनरुपगमनाय द्यां तदैवोत्पपात ॥२१६॥
दिव्यात्पर्श्वं स्वपतिमथ न मर्त्यगम्यं
वामात्पिपुर्भवनमुज्झितमित्यवेत्य।
तत्रैव वस्तुमथ सापि कलिङ्गसेना
चक्रे धृतिं मदनवेगकृताभ्यनुज्ञा ॥२१७॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बके तृतीयस्तरङ्गः।

इस प्रकार मन्त्री के राजा के साथ चले जाने पर अपने बन्धु-बान्धवों से छूटी हुई और विवेश में पड़ी हुई कलिंगसेना झुंड से बिछुड़ी हुई हरिणी के समान हाथी के पैरों से रौंदी हुई कमलिनी के समान मलिन मुखवाली भ्रमरों से घिरी हुई कमलिनी के समान बिखरे हुए केशोंवाली और कौमार के नष्ट होने से मलिन एवं निरुपाया कलिंगसेना आकाश की ओर देखती हुई यह कहने लगी—॥२०७-२०९॥

'वत्सराज का रूप धारण करके जिसने मुझे विवाहित किया है यह मेरे कौमार का हरण करनेवाला प्रकट हो। वही मेरा पति है' ॥२१० ॥

उसके ऐसा कहते ही वह विद्याधरों का राजा मदनवेग हार और केयूर पहने हुए दिव्य रूप से उतरकर आया ॥२११॥

'तुम कौन हो ? कलिंगसेना के इस प्रकार पूछने पर मदनवेग ने उससे कहा—हे सुन्दरि! मैं मदनवेग नाम का विद्याधरों का राजा हूँ। मैंने तुझे पहले ही तेरे पिता के घर मे देखा था और तुम्हें प्राप्त करने के लिए तपस्या करके शिवजी से वर पाया है ॥२१२-२१३॥

तू वत्सराज पर आसक्त थी इसलिए मैंने शीघ्र ही उससे विवाह होने के पूर्व उपाय करके तुझे विवाहित कर लिया है ॥२१४॥

मदनवेग की ऐसी वाणी-रूपी अमृतधारा ने कानों के मार्ग से कलिंगसेना के हृदय में प्रवेश कर उसके हृदय-कमल को प्रफुल्लित और विकसित कर दिया ॥२१५॥

तदनन्तर वह मदनवेग उस अपनी प्यारी पत्नी को धीरज बँधाकर और उसे स्वर्ण की प्रचुर राशि प्रदान कर, 'यह भी अच्छा ही हुआ' ऐसा सोचती हुई और हृदय में पति भक्ति को प्रतिष्ठित करती हुई कलिंगसेना से पूछकर वह आकाश में उड़ गया ॥२१६॥

अपने पति का स्थान दैवी है मनुष्य द्वारा जानने योग्य नहीं है अपने पिता का घर त्याग कर छोड़ दिया'—ऐसा सोचकर कलिंगसेना ने मदनवेग की अनुमति प्राप्त कर उसी के पास रहने का विचार स्थिर किया ॥२१७॥

सप्तम तरंग समाप्त।

अष्टमस्तरङ्गः

वत्सराजस्य कथा (पूर्वानुवृत्ता)

ततः कलिङ्गसेनायाः स्मरन्ननुपमं वपुः ।
एकदा मन्मथाविष्टो निशि वत्सेश्वरोऽभवत् ॥१॥
उत्थाय खड्गहस्तः सन् गत्वैव प्रविवेश सः ।
एकाकी मन्दिरं तस्याः कृताविभ्यादरस्तया ॥२॥
तत्र प्रार्थयमानस्तां भार्यार्थे स महीपतिः ।
परपत्न्यहमस्मीति प्रत्याख्यातस्तयाब्रवीत् ॥३॥
तृतीयं पुरुषं प्राप्ता यतस्त्वमसि बन्धकी ।
परदारगतो दोषो न मे त्वद्गमने ततः ॥४॥
एवं कलिङ्गसेना सा राज्ञोक्ता प्रत्युवाच तम् ।
त्वदर्थमागता राजन्नहं विद्याधरेण हि ॥५॥
व्यूढा मदनवेगेन स्वैरं त्वद्रूपधारिणा ।
स एवैकश्च भर्ता मे तत्कस्मादस्मि बन्धकी ॥६॥
किं वातिभ्रान्तबन्धूनां स्वेच्छाचारकृतात्मनाम् ।
इमास्ता विपदः स्त्रीणां कुमारीणां कथैव का ॥७॥
दृष्टाशकुनया तस्या निषिद्धापि व्यसर्जयम् ।
त्वत्पार्श्वं यदहं दूतं तस्य चेदं फलं मम ॥८॥
तत्पृक्ष्यसि बलान्मां चेत् प्राणांस्त्यक्ष्याम्यहं ततः ।
का नाम कुलजा हि स्त्री भर्तृद्रोहं करिष्यति ॥९॥

पतिव्रताया वैश्यपत्न्याः कथा

तथा च कथयाम्यत्र तव राजन्कथां शृणु ।
पुराभूदिन्द्रदत्ताख्यश्चेदिदेशमहीपतिः ॥१०॥
स पापशोधने तीर्थे कीर्त्यै देवकुलं महत् ।
चक्रे मलशरीरार्थी शरीरं वीक्ष्य भङ्गुरम् ॥११॥
तच्च भक्तिरसाच्चक्षुद् वीक्षितुं स ययौ नृपः ।
सर्वश्च तीर्थस्नानाय सर्गं तत्राययौ जनः ॥१२॥
एकदा च ददर्शैकां तीर्थस्नानार्थमागताम् ।
स राजा वणिग्भार्यां प्रवासस्थितभर्तृकाम् ॥१३॥

स्वच्छकान्तिसुधासिक्तां चित्रक्रमविभूषणाम्।
पङ्कमामिव कन्दर्पराजधानीं मनोरमाम्॥१४॥
त्वयाहं विजये विश्वमिति प्रीत्येव पादयो।
आश्लिष्टां पञ्चबाणस्य तूणीद्वयशोभया॥१५॥
सा दृष्टैव मनस्तस्य जहार नृपतेस्तथा।
यथाविश्य गृहं तस्या स ययौ विवशो निशि॥१६॥
तां च प्रार्थयमान सन् जगदे स तया नृप।
रक्षिता त्वं न युक्त ते परदाराभिमर्षणम्॥१७॥
हठात्स्पृशसि चा मां चेदधर्मस्ते महा भवेत्।
मरिष्यामि च सद्योऽहं न सहिष्ये च दूषणम्॥१८॥
इत्युक्तोऽपि तया तस्मिन् बलं राज्ञि चिकीर्षति।
शीलभ्रंशभयात्तस्या सद्यो हृदयमस्फुटत्॥१९॥
तद्दृष्ट्वा सपदि ह्रीत स गत्वैव यथागतम्।
विनैस्तेनानुतापेन राजा पञ्चत्वमाययौ॥२ ॥
इत्याख्याय कथामेतां समयप्रश्रयानता।
भूय कलिङ्गसेना सा वत्सेश्वरमभाषत॥२१॥
तस्मादधर्मे मत्प्राणहरणे मा मति कृथा।
देहाश्रिताया वस्तु मे देहि याम्यन्यतोऽन्यथा॥२२॥
एतत्कलिङ्गसेनात श्रुत्वा वत्सेश्वरोऽथ स।
विचार्य विरतो भूत्वा धर्मज्ञस्तामभाषत॥२३॥
राजपुत्रि ! वस स्वेच्छं भर्त्रा सममिहामुना।
नाहं वक्ष्यामि ते किञ्चिदिदानीं मा भयं कृथा॥२४॥
इत्युक्त्वैव गते तस्मिन् स्वैरं राज्ञि स्वमन्दिरम्।
श्रुत्वा मदनवेगस्तन्नभसोऽवततार स॥२५॥
प्रिये साधु कृतं नैवमकरिष्य शुभे यदि।
नाभविष्यच्छुभं यस्मान्नासहिष्यत तन्मया॥२६॥
इत्युक्त्वा सान्त्वयित्वा तां निशां नीत्वा तया सह।
तत्रैव गच्छन्नागच्छन्नासीद् विद्याधरोऽथ स॥२७॥
कलिङ्गसेनापि च सा पत्यौ विद्याधरेश्वरे।
तत्रास्त मर्त्यभावेऽपि दिव्यभोगसुखान्विता॥२८॥

वत्सराजोऽपि सञ्चिन्तां मुक्त्वा मन्त्रिवचः स्मरन्।
ननन्द लब्धं मन्वानो देवीं राज्यं सुतं तथा॥२९॥
देवी वासवदत्ता च मन्त्री यौगन्धरायणः।
अभूतां निर्वृतौ सिद्धे नीतिकल्पलताफले॥३०॥

मदनमञ्चुका जन्म कथा

अथ गच्छत्सु दिवसेष्वापाण्डुमुखपङ्कजा।
दध्रे कलिङ्गसेना सा गर्भमुत्पन्नदोहदा॥३१॥
तुङ्गौ चिरेजतुस्तस्याः स्तनावाश्यामचूचुकौ।
निधानकुम्भौ कामस्य मदमुद्राङ्किताविव॥३२॥
ततो मदनवेगस्तामुपेत्य पतिरभ्यधात्।
कलिङ्गसेने विद्यानामस्माकं समयोऽस्त्ययम्॥३३॥
त्वयि मानुषगर्भं यन्मुक्त्वा यामो विदूरतः।
कण्वाश्रमे न तत्याज मेनका किं शकुन्तलाम्॥३४॥
त्वं यद्यप्यप्सराः पूर्वं तदप्यविनयान्निजात्।
शक्रशापेन सम्प्राप्ता मानुष्यं देवि साम्प्रतम्॥३५॥
तेनैव बन्धकीसञ्ज्ञो जातो साध्व्या अपीह ते।
तस्मादपत्यं रक्षेस्त्वं स्थानं यास्याम्यहं निजम्॥३६॥
स्मरिष्यसि यदा मां च सन्निधास्ये तदा तव।
एवं कलिङ्गसेनां तामुक्त्वा साश्रुविलोचनाम्॥३७॥
समाश्वास्य च दत्त्वा च तस्यै सद्रत्नसञ्चयम्।
तच्चित्तः समयाकृष्टो ययौ विद्याधरेश्वरः॥३८॥
कलिङ्गसेनाप्यत्रासीदपत्याशा सखीमिव।
आलम्ब्य वत्सराजस्य भुजच्छायामुपाश्रिता॥३९॥
अत्रान्तरे कृशवतीं साङ्गभर्त्राप्तये सपः।
आदिदेश रतिं मार्गमनङ्गस्याम्बिकापतिः॥४०॥
वत्सराजगृहे जातो दग्धपूर्वः स ते पतिः।
नरवाहनदत्ताख्यो योनिजो मद्विसङ्गनात्॥४१॥
मदाराधनतस्त्वं तु मर्त्यलोकेऽप्ययोनिजा।
जनिष्यसे ततस्तेन भर्त्रा साङ्गेन मोक्ष्यसे॥४२॥
एवमुक्त्वा रतिं शम्भुः प्रजापतिमथादिशत्।
कलिङ्गसेना तनयं सोष्यते दिव्यसम्भवम्॥४३॥

वत्सराज भी कलिंगसेना की चिन्ता छोड़कर मन्त्री यौगन्धरायण की बात सोचता हुआ महारानी राज्य और पुत्र को मानों पुनः प्राप्त कर प्रसन्न रहने लगा ॥२९॥

नीति-रूपी कल्पलता के फलने-पकने पर रानी वासवदत्ता और मन्त्री यौगन्धरायण भी निश्चिन्त हो गये ॥३० ॥

मदनमञ्चुका के जन्म की कथा

कुछ दिनों के व्यतीत होने पर कुछ पीले और पतले मुँहवाली तथा विविध प्रकार की इच्छाएँ रखनेवाली कलिंगसेना ने गर्भ धारण किया ॥३१॥

कालिमा लिये हुए उसके उत्तुंग स्तनों के अग्रभाग कामदेव की मद-मुद्रा से अंकित उसके कोष (खजाने) के घड़ों के समान सुशोभित हो रहे थे ॥३२॥

तब उसके पति मदनवेग ने एक बार उससे कहा—हे कलिंगसेना दिव्य व्यक्तियों का यह नियम है कि मनुष्य-योनि में उत्पन्न अपने गर्भ को छोड़कर दूर चले जाते हैं। क्या मेनका ने कण्व के आश्रम में शकुन्तला को नहीं छोड़ दिया था ? ॥३३-३४॥

यद्यपि तू भी पूर्वजन्म की अप्सरा है किन्तु अपने ही अविनय (उद्दण्डता) के कारण इन्द्र के शाप से मानव-योनि को प्राप्त हुई है ॥३५॥

इसी कारण पतिव्रता होने पर भी तूने बन्धकी (व्यभिचारिणी) यह विशेषण प्राप्त किया। इसलिए तू अपनी सन्तान की रक्षा करना और मैं अपने स्थान को चला जाऊँगा ॥३६॥

जब तू मुझे स्मरण करेगी तभी तेरे समीप आ जाऊँगा। विद्याधर ने आँसू बहाती हुई कलिंगसेना से इस प्रकार कहा ॥३७॥

और, उसे धीरज बँधाकर तथा अच्छे-अच्छे रत्न उसे देकर, उसी में मन लगाया हुआ और समय हो जाने के कारण खिन्न हुआ विद्याधर-राज चला गया ॥३८॥

कलिंगसेना भी सती के समान सन्तान की आशा को लिये हुए वत्सराज की छत्रछाया के सहारे वहीं रहने लगी ॥३९॥

इसी बीच कामदेव की पत्नी रति ने सम्पूर्ण शरीरयुक्त पति (कामदेव) की प्राप्ति के लिए शिवजी की तपस्या की और शिवजी ने उसे आज्ञा दी कि 'मेरे द्वारा पहले भस्म किया गया वह तेरा पति (कामदेव) वत्सराज के घर में उत्पन्न हुआ है? उसका नाम नरवाहनदत्त है। मेरे साथ उद्दण्डता करने के कारण वह देवता होकर भी योनिज है। यही आराधना के फलस्वरूप तू भी मर्त्यलोक में अयोनिज होकर सम्पूर्ण शरीरवाले पति से मिलेगी ॥४०-४२॥

रति से ऐसा कहकर शिवजी ने प्रजापति से कहा—'कलिंगसेना दिव्य वीर्य से उत्पन्न पुत्र का प्रसव करेगी ॥४३॥

तं हृत्वा मायया तस्यास्तत्स्थाने स्वमिमां रतिम् ।
निर्माय मानुषीं कन्यां त्यक्तदिव्यतनुं क्षिपेः ॥४४॥
इतीश्वराज्ञामादाय मूर्ध्नि वेधस्यथो गते ।
कलिङ्गसेना प्रसवं प्राप्ते काले चकार सा ॥४५॥
जातमात्रं सुतं तस्या हृत्वैवात्र स्वमायया ।
रतिं तां कन्यकां कृत्वा न्यधाद् विधिरलक्षितम् ॥४६॥
सर्वश्च तत्र तामेव कन्यां जातामलक्षयत् ।
दिवाप्यकाण्डप्रतिपच्चन्द्रलेखामिवोदिताम् ॥४७॥
कान्तिद्योतिततद्वासगृहां निर्जित्य कुर्वतीम् ।
रत्नदीपशिखाश्रेणिर्लज्जिता इव निष्प्रभा ॥४८॥
कलिङ्गसेना तां दृष्ट्वा जातामसदृशीं सुताम् ।
पुत्रजन्माधिकं तोषादुत्सवं विततान सा ॥४९॥
अथ वत्सेश्वरो राजा सदेवीकः समन्त्रिकः ।
कन्यां कलिङ्गसेनायां जातां शुश्राव तादृशीम् ॥५०॥
श्रुत्वा च स नृपोऽकस्मादुवाचेश्वरचोदितः ।
देवीं वासवदत्तां तां स्थिते यौगन्धरायणे ॥५१॥
जाने कलिङ्गसेनैषा दिव्या स्त्री शापतश्च्युता ।
अस्यां जाता च कन्येयं दिव्यैवाश्चर्यरूपभृत् ॥५२॥
तदसौ कन्यका तुल्या रूपेण तनयस्य मे ।
नरवाहनदत्तस्य महादेवीत्वमर्हति ॥५३॥
तच्छ्रुत्वा जगदे राजा देव्या वासवदत्तया ।
महाराज किमेवं त्वमकस्मादद्य भाषसे ॥५४॥
कुलद्वयविशुद्धोऽयं क्व पुत्रस्ते क्व च सा ।
कलिङ्गसेनातनया बन्धकीगर्भसम्भवा ॥५५॥
श्रुत्वैतद् विमृशन् राजा सोऽब्रवीन्नाहं स्वतः ।
वदाम्यन्तः प्रविश्यात्र कोऽपि जल्पयतीव माम् ॥५६॥
नरवाहनदत्तस्य कन्येयं पूर्वनिर्मिता ।
भार्येत्येवं वदन्तीं च शृणोमीव गिरं दिवः ॥५७॥
कलिङ्गसेना किं चासावेवं परमा कुलोद्गता ।
पूर्वकर्मवशादस्या बन्धकीगर्भसम्भवः ॥५८॥

तुम उसका अपहरण करके उसके स्थान पर इस रति को मनुष्य बनाकर रख देना'॥४४॥

इस प्रकार ईश्वर (शिव) की आज्ञा को सिर से स्वीकार करके ब्रह्मा के चले जाने के पश्चात् समय आने पर कलिंगसेना ने प्रसव किया॥४५॥

इतने में ही प्रजापति ने अपनी माया के प्रभाव से उसके पुत्र का अपहरण करके रति को मानुषी कन्या बनाकर अलक्षित रूप से उसके समीप रख दिया॥४६॥

दिन में भी अकस्मात् प्रतिपदा की चन्द्रलेखा के समान उदित उस कन्या की उत्पत्ति को वहाँ रहनेवाले सभी लोगों ने सत्य समझा॥४७॥

वह कन्या अपने शरीर की कान्ति से रत्नों की प्रभा को निस्तेज करती हुई प्रसूति-गृह को आलोकित कर रही थी॥४८॥

कलिंगसेना ने अनन्यसदृशी (अद्भुत) कन्या को देखकर पुत्रजन्म से भी अधिक हर्ष और प्रसन्नता के साथ व्यापक उत्सव मनाया॥४९॥

तदनन्तर वत्सराज उदयन ने अपनी रानियों और मन्त्रियों के साथ कलिंगसेना द्वारा उत्पन्न हुई अनुपम कन्या का वृत्तान्त सुना॥५ ॥

सुनते ही भगवत्प्रेरित राजा ने रानी और यौगन्धरायण के सामने ही इस प्रकार कहा—मैं समझता हूँ कि यह कलिंगसेना मानव से भिन्न कोई स्वर्गीय स्त्री है। इससे उत्पन्न हुई यह कन्या भी दिव्य ही है क्योंकि इसका रूप आश्चर्यमय है॥५१-५२॥

इसलिए यह कन्या रूप से मेरे बालक के समान है। यह नरवाहनदत्त की महारानी होने के लायक है॥५३॥

राजा के ऐसा कहने पर वासवदत्ता ने राजा से कहा 'महाराज आज तुम यह क्या कह रहे हो? कहाँ मातृकुल और पितृकुल दोनों से शुद्ध यह युवराज पुत्र और कहाँ स्वैरविहारिणी से उत्पन्न कलिंगसेना की कन्या?'॥५४-५५॥

यह सुनकर सोचते हुए राजा ने कहा 'यह मैं स्वयं नहीं कह रहा हूँ, वरन् मेरे अन्तर से प्रेरित हुआ कोई इसमें कारण रहा है'॥५६॥

और ऐसी आकाशवाणी भी सुन रहा हूँ कि यह कन्या नरवाहनदत्त की पूर्वजन्म की पत्नी है। साथ ही पुण्यपुञ्जपूर्ण कलिंगसेना की यह नन्दिनी नहीं है। पूर्व जन्मान्तर कर्मों के कारण उसके लिए स्वर्गीय रूप का प्रयोग हुआ है॥५७-५८॥

इति राज्ञोदिते प्राह मन्त्री यौगन्धरायणः ।
श्रूयते देव यच्चात्र रतिर्दग्धे स्मरे सती ॥५९॥
मर्त्यलोकावतीर्णेन सशरीरेण सङ्गमः ।
मर्त्यभावगतायास्ते स्वेन भर्त्रा भविष्यति ॥६०॥
इति शापाद् वरं शर्वो रत्यै स्वपतिमीप्सवे ।
कामावतारश्चोक्तः प्राग्दिव्यवाचा सुतस्तव ॥६१॥
रत्यावतरणीयं च मर्त्यभावे हराज्ञया ।
गर्भग्राहिकया चाद्य ममैव वर्णितं रहः ॥६२॥
मया कलिङ्गसेनाया गर्भः प्राग्गर्भसम्भवा ।
युक्त्या दृष्टस्तदैवाद्य न्यस्यं तद्विवर्जितम् ॥६३॥
तदाश्चर्यं विलोक्याहं तवाख्यातुमिहागता ।
इति स्त्रिया तयोक्तं मे ज्ञातैषा प्रतिभाति ते ॥६४॥
तज्जाने मायया देवैः सैषा रतिरयोनिजा ।
कलिङ्गसेनातनया गर्भचौर्येण निर्मिता ॥६५॥
भार्या कामावतारस्य पुत्रस्य तव भूपते ।
तथा चात्र कथामेतां मदासम्वादिनीं शृणु ॥६६॥
भृत्यो वैश्रवणस्याभूद्विरूपाक्ष इति श्रुतः ।
यक्षो निधानलक्षाणां प्रधानाध्यक्षतां गतः ॥६७॥
मथुरायां बहिःसंस्थं निधानं स च रक्षितुम् ।
यक्षं नियुक्तवानेकं शिलास्तम्भमिवाचलम् ॥६८॥
तत्र तन्नगरीवासी कश्चित्पाशुपतो द्विजः ।
निधानान्वेषणायागात् खन्यवादी कदाचन ॥६९॥
स मानुषवसादीपहस्तो यावत्परीक्षते ।
स्थानं तावत्तस्यात्र करादीपः पपात सः ॥७०॥
लक्षणेन च तेनात्र स्थितं निधिमवेत्य सः ।
उद्घाटयितुमारेभे सहान्यैः खनिभिर्द्विजैः ॥७१॥
अथ योऽत्रो नियुक्तोऽभूद्यक्षो रक्षाविधौ स तत् ।
दृष्ट्वा गत्वा यथावस्तु विरूपाक्षं व्यजिज्ञपत् ॥७२॥
गच्छ व्यापादय क्षिप्रं क्षुद्रांस्तान्खनकानिति ।
इत्यादिष्टः स तं यक्षो विरूपाक्षेण कोपतः ॥७३॥

ततः स यक्षो गत्वैव स्वयुक्त्या निजघान तान्।
निधानवादिनो विप्रानसम्प्राप्तमनोरथान् ॥७४॥
तद्बुद्ध्वा धनदः क्रुद्धो विरूपाक्षमुवाच तम्।
ब्रह्महत्या कथं पाप कारिता सहसा त्वया ॥७५॥
दुर्गतो वार्त्तिकजनो लोभार्त्तः किं नाम नाचरेत्।
निवार्यते स विघ्नास्य विघ्नैस्तैस्तैर्न हन्यते ॥७६॥
इत्युक्त्वाथ सशापैनं विरूपाक्षं धनाधिपः।
मर्त्ययोनौ प्रजायस्व दुष्कृताचरणादिति ॥७७॥
प्राप्तशापोऽथ कस्यापि भूतले ब्राह्मणस्य सः।
विरूपाक्षः सुतो जातो ब्राह्मणस्याग्रहारिणः ॥७८॥
ततोऽस्य यक्षिणी पत्नी धनाध्यक्षं व्यजिज्ञपत्।
देव यत्र स भर्ता मे क्षिप्तस्तत्रैव मां क्षिप ॥७९॥
प्रसीद नहि शक्नोमि वियुक्ता तेन जीवितुम्।
एवं तया स विज्ञप्तः साध्व्या वैश्रवणोऽभ्यधात् ॥८०॥
तस्य विप्रस्य सदने जातो भर्त्ता स तेऽनघे।
तस्यैव दास्या गेहे त्वं निपतिष्यस्ययोनिजा ॥८१॥
तत्र तेन समं भर्त्रा सङ्गमस्ते भविष्यति।
स्वत्प्रसादात्स शापं च तीर्त्वा मत्पार्श्वमेष्यति ॥८२॥
इति वैश्रवणादेशात्सा साध्वी पतिता ततः।
दास्यास्तस्या गृहद्वारि कन्या भूत्वैव मानुषी ॥८३॥
अकस्माच्च तया दास्या कन्या दृष्टाद्भुताकृतिः।
गृहीत्वा दर्शिता चास्य स्वामिनोऽत्र द्विजन्मनः ॥८४॥
दिव्येयं कन्यका क्वापि निःसन्देहमयोनिजा।
स्वगृहं मम कन्येयं तां स्वमन्तर्गृहं नय ॥८५॥
इयं हि मम पुत्रस्य मन्ये भार्यात्वमर्हति।
इति सोऽपि द्विजो दासीं तामुवाच मनस्वी च ॥८६॥
ततस्तत्र विवृद्धा सा कन्या विप्रात्मजश्च सः।
अन्योन्यदर्शनात्पद्मगर्भस्मेरौ बभूवतुः ॥८७॥
ततः कृतविवाहौ तौ तेन विप्रेण दम्पती।
प्राग्जातिस्मरणान्त्यास्तामुत्तीर्णविरहाविव ॥८८॥

उस यक्ष ने आकर अपनी युक्ति से उन निवासवासी असफल मनोरथ ब्राह्मणों को मार डाला ॥७४॥

यह सब जानकर, कुबेर विरूपाक्ष पर क्रोध करके बोले—'अरे पापी तूने सहसा यह ब्रह्महत्या क्यों करा दी। खजाना खोजनेवाले दरिद्र क्या नहीं करते? उन्हें विघ्न करके और भय आदि दिखाकर दूर किया जाता है, जान से नहीं मारा जाता' ॥७५-७६॥

ऐसा कहकर कुबेर ने उस यक्ष को शाप दिया कि तू इस पाप की करने से मनुष्य-योनि में उत्पन्न होगा ॥७७॥

तदनन्तर वह शापित विरूपाक्ष मनुष्य-योनि में किसी ब्राह्मण के यहाँ उत्पन्न हुआ। तब उस यक्ष विरूपाक्ष की पतिव्रता पत्नी ने कुबेर से प्रार्थना की—'हे स्वामी! मुझे भी वहीं फेंक दो जहाँ तुमने मेरे पति को फेंका है। मैं उससे वियुक्त होकर जीवित नहीं रह सकती'। उस पतिव्रता की प्रार्थना पर कुबेर ने कहा—॥७८-८ ॥

तेरा पति जिस ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुआ है तू उसी ब्राह्मण की दासी के घर में गिरेगी और योनि से उत्पन्न नहीं होगी। वहाँ पर पति के साथ तेरा समागम होगा और तेरी कृपा से वह शाप से मुक्त होकर पुनः मेरे पास आ जायगा' ॥८१-८२॥

इस प्रकार कुबेर के आदेश से वह सती यक्षिणी मानुषी कन्या बनकर उसी ब्राह्मण की दासी के द्वार पर आ गिरी ॥८३॥

दासी ने उस अद्भुत कन्या को अकस्मात् देखा और उसे अपने स्वामी उस ब्राह्मण के पास ले गई ॥८४॥

'यह कन्या कोई दिव्य स्त्री है और इसीलिए अवश्य अयोनिजा है। मेरी आत्मा ऐसा कहती है। तू इसे बिना किसी शंका के ले आ ॥८५॥

यह मेरे पुत्र की पत्नी होने योग्य है। ब्राह्मण अपनी दासी को ऐसा कहकर प्रसन्न हुआ ॥८६॥

क्रमशः वह कन्या और ब्राह्मणकुमार दोनों बड़े हो गये और परस्पर देखने से ही घनिष्ठ प्रेमी बन गये ॥८७॥

तदनन्तर ब्राह्मण ने उन दोनों का विवाह करके उन्हें दम्पती बना दिया। वे दोनों पूर्व जन्म का स्मरण न करने हुए भी ऐसा अनुभव करते थे मानो वे परस्पर चिरकालीन वियोग के पश्चात् मिले हों ॥८८॥

कुछ समय के अनन्तर उस यक्ष पति के मरने पर वह स्त्री भी सती हो गई और उसी के तप के प्रभाव से वह यक्ष पुनः विरूपाक्ष होकर अपने पूर्व पद को प्राप्त कर सका ॥८९॥

इस प्रकार, निरपराध देवता अयोनिज होकर कारणवश दैवमाया से भूतल में अवतार लेते हैं ॥९०॥

नरवाहनदत्त और मदनमंचुका का बाल्य-विलास

हे राजन्! तेरा और इसका कुल क्या। कलिंगसेना की यह देवताओं द्वारा निर्मित पुत्री तेरे पुत्र की पत्नी है। यौगन्धरायण के ऐसा कहने पर राजा उदयन तथा वासवदत्ता ने इस बात को हृदय में स्थान दिया ॥९१ ९२॥

तदनन्तर मुख्यमन्त्री के चले जाने पर राजा उदयन तथा वासवदत्ता ने पान (मद्यपान) आदि मनोविनोदों से उस दिन को सुखपूर्वक व्यतीत किया ॥९३॥

कुछ दिनों के व्यतीत होने पर मोह से अपने पूर्वजन्म की स्मृति को भूली हुई कलिंगसेना की कन्या अपनी रूप-सम्पत्ति के साथ बड़ी होने लगी ॥९४॥

मदनवेग नामक विद्याधर की कन्या होने के कारण माता तथा अन्य लोगों ने उसका नाम मदनमंचुका रख दिया ॥९५॥

उस कन्या ने संसार की सभी सुन्दरी कन्याओं के रूप को ले लिया था अन्यथा उसके सामने वे सब विरूप कैसे हो जातीं? ॥९६॥

उसे अत्यन्त रूपवती सुनकर कौतुक के कारण रानी वासवदत्ता ने एक बार अपने पास बुलवाया। वहाँ पर धात्री (दाई) के मुँह से चिपकी हुई उसे राजा और यौगन्धरायण आदि ने भी पद्मदीपक की बत्ती की शिखा (लौ) के समान देखा ॥ ९७-९८॥

उसके अपूर्व रूप और आँखों में अमृत-वर्षा करनेवाले शरीर को देखकर, यह रति ही अवतीर्ण हुई है, ऐसा सभी ने माना ॥९९॥

तब रानी ने संसार के नेत्रों के उत्सव देनेवाले अपने पुत्र नरवाहनदत्त को बुलवाया ॥१००॥

खिले हुए मुख-कमलवाले बालक नरवाहनदत्त ने उस कन्या को इस प्रकार देखा जैसे सरोवर, प्रातःकालीन नवीन सूर्य-रश्मियों को निहारता है ॥१०१॥

वह कन्या मदनमंचुका भी आँखों को आनन्द देनेवाले नरवाहनदत्त को देखती हुई उसी प्रकार अतृप्त रह गई जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखते रहने पर भी तृप्त नहीं होती ॥१०२॥

तत प्रभृति तौ बालावपि स्यातु म शेकतु ।
वृष्णिपाशैरिवाबद्धौ पृथग्भूतावपि क्षणम् ॥१०३॥
दिनैर्निश्चित्य सम्बन्धं दैवनिर्मितमेव सु ।
विवाहविषये बुद्धि व्यधाद्वत्सेश्वरस्तया ॥१०४॥
कलिङ्गसेना तद्बुद्ध्वा ननन्द च ववन्ध च ।
नरवाहनदत्तस्मिन्जामातृप्रीतितो धृतिम् ॥१ ५॥
सम्मन्त्र्य मन्त्रिभि सार्धं ततश्चाकारयत् पृथक् ।
वत्सराज स्वपुत्रस्य तस्य स्वमिव मन्दिरम् ॥१०६॥

नरवाहनदत्तस्य यौवराज्याभिषेक

तत सम्भृत्य सम्भारान्पुत्र राजा स कालवित् ।
यौवराज्येऽभ्यषिञ्चत्तं वृष्टश्लाघ्यगुणग्रहम् ॥१ ७॥
पूर्व तस्यापतन्मूर्ध्नि पित्रोरानन्दबाष्पजम् ।
तत श्रौतमहामन्त्रपूतं सत्तीर्थजं पय ॥१ ८॥
अभिषेकाम्बुभिस्तस्य धौते वदनपङ्कजे ।
चित्रं निर्मलतां प्रापुर्मुखानि ककुभामपि ॥१०९॥
मङ्गल्यमाल्यपुष्पेषु तस्य क्षिप्तेषु मातृभि ।
मुमोच दिव्यमाल्यौघवर्षं द्यौरपि तत्क्षणम् ॥११ ॥
देवदुन्दुभिनिह्रादिस्पर्धयेव जजृम्भिरे ।
आनन्दतूर्यनिर्घोषप्रतिशब्दा नभस्तले ॥१११॥
प्रणनामाभिषिक्तं त युवराजं न तत्र क ।
स्वप्रभावादृते सेनैवोन्ननाम सदा हि स ॥११२॥
ततो वत्सेश्वरस्तस्य सुनोर्धर्मिसगीन् सत ।
स्वमन्त्रिपुत्रानाहूय सचिवत्वे समादिशत् ॥११३॥
यौगन्धरायणसुत मन्त्रित्वे मरुभूतिकम् ।
सेनापत्ये हरिशिखं रुमण्वत्तनयं तत ॥११४॥
वसन्तकसुतं क्रीडासखीत्वे तु तपन्तकम् ।
गोमुख च प्रतीहारपुरायामित्यकात्मजम् ॥११५॥
पौरोहित्ये च पूर्वोक्तावुभौ पिङ्गलिकासुतौ ।
वैश्वानर शान्तिनाम भ्रातुपुत्रौ पुरोधस ॥११६॥

परस्पर दर्शन के अनन्तर वे दोनों बालक होने पर भी स्थिर न रह सके। यद्यपि वे दोनों बन्धन-अबन्ध थे किन्तु दृष्टिपाश से बँधे हुए, अतएव एक थे॥१०३॥

यह देखकर वत्सराज ने उन दोनों के सम्बन्ध को देवताओं द्वारा निश्चित किया हुआ समझकर विवाह करने की इच्छा की॥१०४॥

कलिंगसेना यह जानकर प्रसन्न हुई और नरवाहनदत्त को जामाता के प्रेम से देखने लगी॥१०५॥

तब वत्सराज ने मन्त्रियों से सम्मति करके अपने पुत्र के लिए अलग ही राजभवन के समान भवन का निर्माण कराया॥१०६॥

नरवाहनदत्त का यौवराज्याभिषेक

समयज्ञ राजा ने सब सामान एकत्र करके प्रशंसनीय गुणोंवाले कुमार नरवाहनदत्त का यौवराज्य (युवराज) पद पर अभिषेक कर दिया॥१०७॥

अभिषेक के समय उस युवराज के सिर पर पहले माता-पिता के आनन्दाश्रु गिरे तदनन्तर वेद-मन्त्रों से पवित्र तीर्थों का जल गिरा॥१०८॥

अभिषेक के जल से उसके मुख-कमल के धुल जाने पर, दिशाओं के मुँह भी धुल गये यह आश्चर्य है! ॥१०९॥

माताओं द्वारा उसके गले में मंगल-मालाएँ पहनाने पर, आकाश ने भी उसी क्षण दिव्य पुष्पों और मालाओं की वर्षा की॥११०॥

हर्ष से बजनेवाले देवताओं के बाजों की स्पर्धा से मानों आनन्द-बाजों के शब्द आकाश में गूँजने लगे॥१११॥

अभिषेक किये हुए उस युवराज को किसने प्रणाम नहीं किया? फलतः अपने प्रभाव के अतिरिक्त इसी कारण वह ऊँचा उठा॥११२॥

तब वत्सराज उदयन ने युवराज के बालमित्र अपने मन्त्रियों के पुत्रों को बुलाकर उन्हें युवराज के मन्त्रियों का पद दे दिया॥११३॥

यौगन्धरायण के पुत्र मरुभूति को मुख्य मंत्री, रुमण्वान् के पुत्र हरिशिख को प्रधान सेनापति वसन्तक के पुत्र तपन्तक का विनोद-मन्त्री और इत्यक के पुत्र गोमुख को प्रधान द्वारपाल बना दिया॥११४-११५॥

और पिंगलिका के पुत्र तथा पुरोहित के भतीजे वैश्वानर तथा शान्तिसोम को युवराज पुरोहित नियुक्त किया॥११६॥

इत्याप्तेषु पुनस्य सान्निध्ये तेषु भूभृता।
गगनादुदभूद् वाणी पुष्पवृष्टिपुरःसरा ॥११७॥
सर्वार्थसाधका एते भविष्यन्त्यस्य मन्त्रिणः।
शरीरादभिन्नोऽस्य गोमुखस्तु भविष्यति ॥११८॥
इत्युक्तो दिव्यया वाचा हृष्टो वत्सेश्वरश्च सः।
सर्वान्सम्मानयामास वस्त्रैराभरणैश्च तान् ॥११९॥
अनुजीविषु तस्मिंश्च वसु वर्षति राजनि।
दरिद्रशब्दस्यैकस्य नासीत्तत्रार्थसङ्गतिः ॥१२०॥
पवनोल्लासिताक्षिप्तपताकपटपङ्क्तिभिः ।
आहूतैरिव सापूरि नर्तकीचारणैः पुरी ॥१२१॥
आगाद् वैद्याधरी साक्षाल्लक्ष्मीस्तस्यैव भाविनी।
कलिङ्गसेना जामातुरुत्सवेऽत्र भविष्यति ॥१२२॥
ततो वासवदत्ता च सा च पद्मावती तथा।
हर्षेण ननृतुस्तिस्रो मिलित्वा इव शक्तयः ॥१२३॥
मारुतान्दोलितलता प्रनृत्यदिव सर्वतः।
उद्यानतरवोऽप्यत्र चेतनेषु कथैव का ॥१२४॥
तत कृताभिषेकः सन्नारुह्य जयकुञ्जरम्।
नरवाहनदत्तः स युवराजो विनिर्ययौ ॥१२५॥
अवाकीर्यत चोत्क्षिप्तैर्नेत्रैर्नीलसितारुणैः।
पौरस्त्रीभिः स नीलाब्जलाजपद्माञ्जलिप्रभैः ॥१२६॥
दृष्ट्वा च तत्पुरीपूज्यदेवता बन्दिमागधैः।
स्तूयमानः ससचिवः स विवेश स्वमन्दिरम् ॥१२७॥
तत्र दिव्यानि भोग्यानि तथा पानान्युपाहरत्।
कलिङ्गसेना तस्यादौ स्वविभूत्यधिकानि सा ॥१२८॥
ददौ तस्मै सुवस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
समन्त्रिसखिभृत्याय जामातृस्नेहकातरा ॥१२९॥
एवं महोत्सवेनासावमृतास्वादसुन्दरः।
एषां वत्सेश्वरादीनां सर्वेषां वासरो ययौ ॥१३ ॥
ततो निशायां प्राप्तायां सुतोद्वाहविमर्शिनी।
कलिङ्गसेना सस्मार तां सा सोमप्रभां सखीम् ॥१३१॥

राजा द्वारा इस प्रकार युवराज के मन्त्रियों के नियुक्त किये जाने पर आकाश से पुष्पवृष्टि के साथ दिव्यवाणी हुई कि ये सभी मन्त्री इसके अभिन्नहृदय मित्र होंगे किन्तु गोमुख इसके शरीर से भी भिन्न न होगा ॥११७-११८॥

इस प्रकार दिव्यवाणी से कहा गया वत्सराज अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वस्त्र-आभूषण आदि से उसने सबका सम्मान किया ॥११९॥

उस राजा उदयन के सेवकों पर धन की वर्षा करने पर दरिद्र शब्द के केवल अर्थ की ही संगति नहीं रही[1] ॥१२ ॥

वायु द्वारा आन्दोलित अतएव फड़फड़ाती हुई पताकाओं के वस्त्रों की पंक्ति से मानो वह नगरी निमन्त्रित नर्तकियों और चारणों से भर गई थी ॥१२१॥

होनेवाले कलिंगसेना के जामाता के इस महोत्सव में मानों विद्याधरों की राजलक्ष्मी स्वयं आ गई ॥१२२॥

तदनन्तर रानी वासवदत्ता पद्मावती तथा कलिंगसेना ये तीनों मिलकर सम्मिलित शक्तियों के समान नाचने लगीं ॥१२३॥

वायु द्वारा आन्दोलित लताएँ चारों ओर नृत्य कर रही थीं और उद्यानों के वृक्ष इस नृत्य में भाग ले रहे थे। चेतन प्राणियों की तो बात ही क्या है ? ॥१२४॥

अभिषिक्त युवराज नरवाहनदत्त जयकुंजर पर चढ़कर बाहर निकला और नागरिक स्त्रियों के नीलकमल रूपी-बाणे (बाण के चीलों) की अंगुलियां के समान नील श्वेत और काले नेत्रों से ढक दिया गया ॥१२५ १२६॥

युवराज सवारी से नगर-देवता का दर्शन करता हुआ एवं बन्दियों और सूतों से स्तुति किया जाता हुआ अपने मन्त्रियों के साथ युवराज-भवन में गया ॥१२७॥

वहाँ पर सबसे पहले कलिंगसेना ने अपने वैभव से भी बढ़कर भोजन-पान की दिव्य वस्तुओं से उनका स्वागत किया और जामाता के स्नेह से गद्गद होकर विविध प्रकार के वस्त्र और आभूषण मन्त्रियों-सहित युवराज को दिये ॥१२८ १२९॥

इस प्रकार, अमृतास्वाद के समान सुन्दर महोत्सव का वह दिवस वत्सराज आदि सबने सुख के साथ व्यतीत किया ॥१३ ॥

रात होने पर कन्या के विवाह के लिए विचार-विमर्श करने के लिए कलिंगसेना ने अपनी प्राणप्यारी सखी सोमप्रभा का स्मरण किया ॥१३१॥

---

१ अर्थात् राज्य में कोई दरिद्र न रह गया।—अनु

१

एतया स्मृतमात्रा सा मयासुरसुता तदा ।
भव्या भर्त्रा महाज्ञानी जगाद नरमूषट ॥१३२॥
कलिङ्गसेना त्वामद्य सोत्सुका स्मरति प्रिये ।
तद्गच्छ दिव्यमुद्यानं कुरु चैतत्सुताकृते ॥१३३॥
इत्युक्त्वा भावि भूतं च कथयित्वा च तद्गतम् ।
तत्रैव प्रेषयामास पत्नीं सोमप्रभां पतिः ॥१३४॥
सा चागत्य चिरोत्कण्ठाकृतकण्ठग्रहां सखीम् ।
कलिङ्गसेनां कुशलं पृष्ट्वा सोमप्रभाब्रवीत् ॥१३५॥
विद्याधरेण तावत्त्वं परिणीता महर्द्धिना ।
अवतीर्णा रतिस्त्वं च सुता शार्वादनुग्रहात् ॥१३६॥
कामावतारस्यैषा च वत्सेशात्त्वत्प्रजन्मन ।
नरवाहनदत्तस्य पूर्वभार्या विनिर्मिता ॥१३७॥
विद्याधराधिराज्यं स दिव्यं कल्पं करिष्यति ।
तस्यैषान्यावरोधानां मूर्ध्नि भार्या भविष्यति ॥१३८॥
त्वं चावतीर्णा भूलोके शक्रशापच्युताप्सरा ।
निष्पन्नकार्यशेषा च शापमुक्तिमवाप्स्यसि ॥१३९॥
एतन्मे सर्वमाख्यातं भर्त्रा ज्ञानवता सखि ।
तस्माच्चिन्ता न ते कार्या भावि सर्वं शुभं तव ॥१४०॥
अहं चेह करोम्येषा दिव्यं त्वत्तनयाकृते ।
उद्यानं नास्ति पाताले न भूमौ यत्र वा दिवि ॥१४१॥
इत्युक्त्वा दिव्यमुद्यानं सा निर्माय स्वमायया ।
कलिङ्गसेनामामन्त्र्य सोत्का सोमप्रभा ययौ ॥१४२॥
ततो निशि प्रभातायामकस्मात्सम्पन्नं दिव ।
भूमाविव च्युतं लोको ददर्शोद्यानमत्र तत् ॥१४३॥
श्रुत्वा च राजा वत्सेशः सभार्यः सचिवैः सह ।
नरवाहनदत्तश्च सानुगोऽत्र समाययौ ॥१४४॥
ददृशुस्ते तमुद्यानं सदा पुष्पफलद्रुमम् ।
नानामणिमयस्तम्भभित्तिभूभागवापिकम् ॥१४५॥
सुवर्णवर्णविहगं दिव्यसौरभमारुतम् ।
देवादेशावतीर्णं तत्स्वर्गान्तरमिव क्षितौ ॥१४६॥

कलिंगसेना द्वारा स्मरण की गई मयासुर की कन्या सोमप्रभा को उसके महाज्ञानी पति नलकूबर ने कहा—॥१३२॥

'प्यारी, आज कलिंगसेना अत्यन्त उत्कण्ठा से तेरा स्मरण कर रही है, इसलिए जाओ और उसके लिए दिव्य उद्यान बनाओ'॥१३३॥

ऐसा कहकर और कलिंगसेना के सम्बन्ध में भूत और भविष्य का वर्णन करके सोमप्रभा को उसके पति ने तुरन्त भेज दिया॥१३४॥

वह सोमप्रभा भी आकर चिर-उत्कण्ठा से गले मिलती हुई कलिंगसेना से कुशल-समाचार पूछने के उपरान्त कहने लगी—॥१३५॥

'तू अत्यन्त धनी विद्याधर के साथ विवाहित हुई है और शिवजी की कृपा से तेरे यहाँ रति ने अवतार लिया है॥१३६॥

तेरी यह कन्या वत्सराज के यहाँ उत्पन्न हुए कामदेव के अवतार नरवाहनदत्त की पूर्व जन्म की पत्नी है॥१३७॥

वह नरवाहनदत्त दिव्य कल्प वर्षों तक विद्याधरों पर राज्य करेगा और तुम्हारी कन्या उसके यहाँ के स्त्री-समाज में सर्वमान्य और सम्राज्ञी बनी रहेगी॥१३८॥

तू भी इन्द्र के शाप से भूलोक में पतित पूर्व जन्म की अप्सरा है और कुछ शेष कार्यों को समाप्त करके मुक्ति प्राप्त करेगी॥१३९॥

हे सखि, यह सब मेरे ज्ञानी पति ने मुझे बताया है। और मैं तुम्हारी कन्या के लिए एक उद्यान बना देती हूँ। ऐसा उद्यान पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग में कहीं भी नहीं होगा'॥१४०-१४१॥

ऐसा कहकर और अपनी माया से दिव्य उद्यान का निर्माण करके उत्कण्ठित कलिंगसेना से पूछकर सोमप्रभा चली गई॥१४२॥

तदनन्तर प्रातःकाल होते ही लोगों ने उस उद्यान को इस प्रकार देखा, मानो स्वर्ग का नन्दन-वन अकस्मात् वहाँ उतर पड़ा हो॥१४३॥

इस समाचार को सुनकर वत्सराज अपनी पत्नियों और मन्त्रियों-सहित वहाँ आया। युवराज नरवाहनदत्त भी अपने साथियों के साथ वहाँ गया॥१४४॥

राजा ने वहाँ उस उद्यान को देखा, जिसमें सदा फल और फूल देनेवाले वृक्ष लगे हुए थे। विविध प्रकार के मणिरत्न-जटित दीवारें, फर्श और बावलियाँ भी वहाँ शोभित थीं। उसमें स्वर्णिम पक्षी विहार कर रहे थे। दिव्य गन्धवाली वायु बह रही थी। यह सब देखकर ऐसा प्रतीत हुआ था कि मानो देवताओं की आज्ञा से पृथ्वी पर दूसरे स्वर्ग का निर्माण किया गया हो॥१४५-१४६॥

दृष्ट्वा तदद्भुतं राजा किमेतदिति पृष्टवान्।
कलिङ्गसेनामातिथ्यमभ्यग्रां वत्सेश्वरस्तदा ॥१४७॥
सा प्रत्युवाच सर्वेषु शृण्वत्सु नृपतिं च तम्।
विश्वकर्मावतारोऽस्ति मयो नाम महासुरः ॥१४८॥
युधिष्ठिरस्य यश्चक्रे पुरं रम्यं च वज्रिणः।
तस्य सोमप्रभा नाम तनयास्ति सखी मम ॥१४९॥
तया रात्राविहागत्य मत्समीपं स्वमायया।
प्रीत्या कृतमिदं दिव्यमुद्यानं मत्सुताकृते ॥१५०॥
इत्युक्त्वा यच्च तस्यास्या मुखं भाव्युदितं तया।
तत्तथैवोक्तमित्युक्त्वा तदा सर्वं शशंस सा ॥१५१॥
ततः कलिङ्गसेनोक्तिं सत्यवादामवेक्ष्य ताम्।
निरस्तसंशयाः सर्वे तोषं तत्रातुलं ययुः ॥१५२॥
कलिङ्गसेनातिथ्येन निनाय दिवसं च तत्।
उद्यानेनैव वत्सेशो भार्यां पुत्रादिभिः सह ॥१५३॥
अन्येद्युर्निर्गतो द्रष्टुं देवं देवकुले च सः।
ददर्श नृपतिर्बह्वीः सुवस्त्राभरणाः स्त्रियः ॥१५४॥
का यूयमिति पृष्टाश्च तेन तास्तं बभाषिरे।
वयं विद्याः कलाश्चैतास्त्वत्पुत्रार्थमिहागताः ॥१५५॥
मत्वा विशाम वस्तान्तरित्युक्त्वा तास्तिरोऽभवन्।
सविस्मयः स राजापि वत्सेशोऽभ्यन्तरं ययौ ॥१५६॥
तत्र वासवदत्तायै देव्यै मन्त्रिगणाय च।
तच्छशंसाभ्यनन्दंस्ते देवतानुग्रहं च तम् ॥१५७॥
ततो राजनिवेदेन वीणा वासवदत्तया।
नरवाहनदत्तेऽत्र प्रविष्टे च गृहे क्षणात् ॥१५८॥
वादयन्ती ततस्तां च मातरं विनयेन सः।
राजपुत्रोऽब्रवीद् वीणा च्युता स्थानादसाविति ॥१५९॥
देवं वाम्ब गृहाणैतामिति पित्रोदितेऽत्र सः।
वीणामवादयत् कुर्वन् गन्धर्वानपि विस्मितान् ॥१६०॥
एवं सर्वासु विद्यासु कलासु च परीक्षितः।
पित्रा यावद् वृतस्ताभिः स्वयं सर्वं विवेद सः ॥१६१॥

उस अद्भुत उद्यान को देखकर वत्सराज ने स्वागतातिथ्य में व्यग्र कलिंगसेना से पूछा कि 'यह सब क्या है ? ॥१४७॥

तब कलिंगसेना सबके सामने राजा से बोली—'महाराज ! विश्वकर्मा का अवतार मयासुर नाम का एक महान् असुर है जिसने इन्द्र की आज्ञा से युधिष्ठिर का सुन्दर नगर बनाया था। सोमप्रभा नाम की उसी की कन्या मेरी सखी है। उसने रात में मेरे पास आकर अपनी माया से और अपने ही प्रेम से मेरी कन्या के लिए यह उद्यान बनाया है' ॥१४८–१५०॥

ऐसा कहकर, और भी सहेली ने भूत एवं भविष्य की जो बातें बताई थी राजा को उसी प्रकार सुना दीं ॥१५१॥

तब सभी ने कलिंगसेना की बात को प्रामाणिक मानकर, संशय-रहित होकर परम हर्ष और विश्वास प्रकट किया ॥१५२॥

वत्सराज ने वह समस्त दिन अपनी स्त्री और पुत्र आदि के साथ कलिंगसेना के स्वागत में ही व्यतीत किया ॥१५३॥

दूसरे दिन देव-मन्दिर में दर्शन के लिए गये राजा ने सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्राभरणों से अलंकृत स्त्रियों को देखा ॥१५४॥

'तुम सब कौन हो'—राजा के इस प्रकार पूछने पर वे स्त्रियाँ कहने लगीं—'हम सब विद्याएँ और कलाएँ हैं और तुम्हारे पुत्र के लिए यहाँ आई हैं ॥१५५॥

अब आकर उसी में प्रवेश करती हैं इतना कहने के उपरान्त वे सब अन्तर्धान हो गईं और आश्चर्यचकित राजा भी मन्दिर के भीतर गया ॥१५६॥

उसने वहाँ आकर यह वृत्तान्त अपनी रानियों और मन्त्रियों को सुनाया। सब उसे देवता का अनुग्रह समझकर उसका अभिनन्दन करने लगे ॥१५७॥

तदनन्तर राजा की आज्ञा से वासवदत्ता ने भी वीणा उठाई और राजकुमार नरवाहनदत्त ने मन्दिर में प्रवेश किया ॥१५८॥

वीणा बजाती हुई माता से राजकुमार ने नम्रतापूर्वक कहा—'तुम्हारी वीणा स्थान (स्वर-स्थान की मात्रा) से भ्रष्ट हो रही है ॥१५९॥

तदनन्तर तू इसे ले और बजा' पिता की आज्ञा पाकर वीणा बजाते हुए राजकुमार ने गन्धर्वों को भी विस्मित कर दिया ॥१६ ॥

इस प्रकार, सभी विद्याओं और कलाओं में पिता द्वारा परीक्षित राजकुमार ने उत्तीर्णता प्राप्त की। वह स्वयं सब कुछ जान गया था ॥१६१॥

वीक्ष्य तं सगुणं पुत्रं वत्सेशस्तामशिक्षयत्।
कलिङ्गसेनातनयां नृत्तं मदनमञ्चुकाम् ॥१६२॥
यथा यथा पूर्णकला साभूत्समुरिवन्द्वी।
नरवाहनदत्ताब्धिरक्षुदभे स तथा तथा ॥१६३॥
अरस्त तां च गायन्तीं नृत्यन्तीं च विलोकयन्।
पठन्तीमिव कामाज्ञामङ्गाद्यभिनयैर्वृताम् ॥१६४॥
सापि क्षणमपश्यन्ती तमुदग्रं सुधामयम्।
कान्तमासीदुपकाले कलार्धेव कुमुद्वती ॥१६५॥
सतत धासह स्थातु तन्मुखालोकनं विना।
नरवाहनदत्तोऽसौ तत्तदुद्यानमाययौ ॥१६६॥
तत्र पार्श्वे तयानीय सुतां मदनमञ्चुकाम्।
कलिङ्गसेनया प्रीत्या रञ्ज्यमान स तस्थिवान् ॥१६७॥
गोमुखश्चास्य चित्तज्ञ स्वामिनोऽत्र चिरस्थितिम्।
इच्छन्कलिङ्गसेनार्थे तां सामकथयत्कथाम् ॥१६८॥
चित्तग्रहेण तेनास्या राजपुत्रस्तुतोष स।
हृदयानुप्रवेशो हि प्रभो सवनन परम् ॥१६९॥
नृत्तादियोग्यां कुरुते तस्मिन्मदनमञ्चुकाम्।
तत्र स्वयं च सगीतवेश्मन्युद्यानवर्तिनि ॥१७ ॥
नरवाहनदत्त स हेपयन्वरचारणान्।
तस्यां प्रियायां नृत्यन्त्यां सवतोवाद्यवादयत् ॥१७१॥
जिगाय चागतान् दिग्भ्यो विविधान् पण्डितांस्तथा।
गजाश्वरथशस्त्रास्त्रचित्रपुस्तादिकोविद ॥१७२॥
एवं विहरतो विद्यास्वयंवरवृतस्य ते।
नरवाहनदत्तस्य शैशवे वासरा ययु ॥१७३॥
एकदा चात्र यात्रायामुद्यान स प्रियासख।
ययौ नागवन नाम राजपुत्र समन्त्रिक ॥१७४॥
तत्राभिलाषिणी काचिद् वणिग्भार्या निराकृता।
इयेष गोमुख हन्तु सविषाहृतपानका ॥१७५॥
तद्विभेद च तरसस्या मुखादत्र स गोमुख।
नाददे पानकं तच्च स्त्रिय एवं निनिन्द च ॥१७६॥

राजकुमार को सभी विद्याओं और कलाओं में प्रवीण जानकर वत्सराज ने कलिंगसेना की कन्या मदनमंचुका को नृत्त-विद्या (वह नाच जिसमें केवल अंगों का विक्षेप किया जाता है) सिखा दी ॥१६२॥

जैसे-जैसे चन्द्रमा के समान शरीरवाली वह मदनमंचुका कलापूर्ण होने लगी वैसे ही वैसे नरवाहनदत्त-रूपी समुद्र क्षुब्ध और उद्वेलित होने लगा ॥१६३॥

वह (नरवाहनदत्त) उस (मदनमंचुका) को नाचती और गाती देखकर प्रसन्न होता था क्योंकि वह मदनमंचुका अपने अंग आदि के अभिनय से मानों कामदेव की आज्ञा का पाठ करती थी ॥१६४॥

वह मदनमंचुका भी अमृतमय उस सुन्दर पति को न देखकर रोने लगती तो ऐसा प्रतीत होता था जैसे प्रभातकालीन तुषार-बिन्दुओं से परिपूर्ण कुमुदनी हो ॥१६५॥

उसे देखे बिना बचैन नरवाहनदत्त निरन्तर और बार-बार उसके उद्यान में घूमता रहता था ॥१६६॥

वहाँ पर कलिंगसेना अपनी कन्या मदनमंचुका द्वारा सन्तुष्ट किये जाते हुए नरवाहनदत्त को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होती थी ॥१६७॥

नरवाहनदत्त के हृदय को जाननेवाला उसका नर्म सचिव गोमुख उस स्थान पर दीर्घकालीन स्थिति की कामना से कलिंगसेना को विविध प्रकार की कथाएँ सुनाया करता था ॥१६८॥

इस प्रकार उसके हृदय को आकृष्ट करने से वह राजकुमार सन्तुष्ट होता था। सच है स्वामी के हृदय में प्रवेश करना अर्थात् उसके हृदय को समझकर कार्य करना ही स्वामी की सबसे बड़ी सेवा है ॥१६९॥

उस उद्यान की रंगशाला में नरवाहनदत्त मदनमंचुका को स्वयं ही समुचित शिक्षा दिया करता था ॥१७ ॥

नरवाहनदत्त मदनमंचुका के गाने पर सभी प्रकार के बाजा को स्वयं बजाया करता था जिससे वादक भारत भी देखकर लज्जित होते थे ॥१७१॥

उस नरवाहनदत्त ने बाहर के देशों से आनेवाले विविध शास्त्रों और कलाओं के मर्मज्ञ विद्वानों और कलाकारों को प्रतियोगिता में जीत लिया था ॥१७२॥

स्वयं ही विधाता द्वारा वरण किये गये नरवाहनदत्त के बाल्यकाल के दिन इसी प्रकार से विनोद में व्यतीत हुए ॥१७३॥

एक बार नरवाहनदत्त ने अपनी पत्नी मदनमंचुका के साथ विहार (भ्रमण) करने की इच्छा से मित्रों और मन्त्रियों को साथ लेकर नागवन की यात्रा की ॥१७४॥

वहाँ पर किसी बनिये की कामुकी स्त्री को गोमुख ने तिरस्कृत कर दिया था अतः उस स्त्री ने क्रोध में आकर विष मिला हुआ शर्बत देकर गोमुख को मार डालना चाहा ॥१७५॥

गोमुख ने उस स्त्री की सहेली से यह सब जान लिया और उसने उसका दिया हुआ शर्बत नहीं लिया प्रत्युत स्त्रियों की निन्दा की ॥१७६॥

अहो धात्रा पुरः सृष्टं साहसं तदनु स्त्रियः ।
नैतासां दुष्करं किञ्चिन्निसर्गादिह विद्यते ॥१७७॥
नूनं स्त्री नाम सृष्टेयममृतेन विषेण च ।
अनुरक्तामृतं सा हि विरक्ता विषमेव च ॥१७८॥
ज्ञायते कान्तवदना केन प्रच्छन्नपातका ।
कुस्त्री प्रफुल्लकमला गूढनक्रेव पद्मिनी ॥१७९॥
दिवं पतति काचित्तु गुणपक्षप्रचोदिनी ।
भर्तृश्लाघासहा सुस्त्री प्रभा भानोरिवामला ॥१८ ॥
हन्त्येवाशु गृहीतान्या पररक्ता गतस्पृहा ।
पापा विरागविषभृद् भर्तारं भुजगीव सा ॥१८१॥

शत्रुघ्नस्य दुष्टाभार्यात्यागस्य कथा

तथा हि कुत्रचिद् ग्रामे शत्रुघ्न इति कोऽप्यभूत् ।
पुरुषस्तस्य भार्या च बभूव व्यभिचारिणी ॥१८२॥
स ददर्श कदा सायं भार्यां तां जारसङ्गताम् ।
जघान तं च तज्जारं खड्गेनान्तर्गृहस्थितम् ॥१८३॥
रात्र्यपेक्षी च तस्थौ स द्वारि भार्यां निरुध्य ताम् ।
तत्कालं च निवासार्थी तमत्र पथिकोऽभ्यगात् ॥१८४॥
दत्त्वा तस्याश्रयं युक्त्या तेनैव सह तं हतम् ।
पारदारिकमादाय रात्रौ तत्राटवीं ययौ ॥१८५॥
तत्रान्धकूपे यावत्स शवं क्षिपति तं तया ।
तावदागतया पश्चात्क्षिप्तः सोऽप्यत्र भार्यया ॥१८६॥
एवं कुयोषित्कुरुते किं किं नाम न साहसम् ।
इति स्त्रीचरितं मार्गेऽप्यनिन्दत्सोऽत्र गोमुखः ॥१८७॥
ततो नागवने तत्र नागानभ्यर्च्य स स्वयम् ।
नरवाहनदत्तोऽगात् स्वावासं सपरिच्छदः ॥१८८॥

राजनीतिसारः[1]

तत्र जिज्ञासुरन्येद्यु मन्त्रिणो गोमुखादिकान् ।
जानन्नपि स पप्रच्छ राजनीतं समुच्चयम् ॥१८९॥

---

१ अत्र समुपवर्णिता राजनीतिः कामन्दकगुरुबृहस्पत्यादिमतानुसारिणी प्रतीयते ।

आश्चर्य है कि ब्रह्मा ने पहले साहस को उत्पन्न किया और उसके पश्चात् ही स्त्रियों को। इस स्त्रियों के लिए स्वभावतः कुछ भी कर डालना कठिन नहीं है। स्त्री की सृष्टि अवश्य ही अमृत और विष दोनों से की गई है तथापि वही स्त्री अनुरक्त होने पर अमृत के समान और विरक्त होने पर विष के समान हो जाती है॥१७७-१७८॥

बाहर से देखने में सुन्दर और गुप्त रूप से पाप करनेवाली स्त्री उस बावली के समान है जिसमें जल के ऊपर तो कमल खिले हों और भीतर भीषण मगर तथा हिंसक जन्तुओं से पूर्ण हो॥१७९॥

कोई ही गुणवती और सुन्दरी सूर्य की निर्मल प्रभा के समान स्वर्ग से आती है जो पति का गुणगान करनेवाली होती है॥१८०॥

पति के प्रति विरक्त और पर-पुरुषों पर आसक्त एवं वैराग्य-रूपी विष से भरी हुई स्त्री नागिन के समान अपने पति का विनाश कर देती है॥१८१॥

शत्रुघ्न और उसकी दुष्टा स्त्री की कथा

इसी प्रकार, किसी गाँव में शत्रुघ्न नाम का एक पुरुष रहता था और उसकी स्त्री व्यभिचारिणी थी॥१८२॥

उसने एक बार सन्ध्या के समय अपनी स्त्री को उसके प्रेमी से मिलते देखा और देखकर उसने घर के भीतर बैठे हुए उस स्त्री के यार को तलवार से मार दिया और रात की प्रतीक्षा में वह अपनी पत्नी को रोककर बैठा रहा। इतने ही में निवास-स्थान का इच्छुक कोई बटोही वहाँ उसके पास आया॥१८३-१८४॥

शत्रुघ्न उस पथिक को स्थान देकर और युक्तिपूर्वक उसे भी मारकर, उस व्यभिचारिणी को लेकर जंगल में चला गया॥१८५॥

जंगल में जाकर जब वह उस शव को एक अँधेरे कुँए में फेंकने लगा इतने ही में पीछे से आती हुई उसकी स्त्री ने उसे भी उसी कुँए में ढकेल दिया॥१८६॥

इस प्रकार दुष्टा स्त्री कौन-सा साहसिक कार्य नहीं कर सकती। गोमुख से बालक होते हुए भी इस प्रकार स्त्री चरित्र की शिक्षा ली॥१८७॥

तदनन्तर वह नरवाहनदत्त वहाँ पर नागों की पूजा करके अपने परिवार और साथियों सहित अपने निवास-स्थान पर लौट आया॥१८८॥

राजनीति का सार

एक दिन जिज्ञासु नरवाहनदत्त ने जानते हुए भी अपने मन्त्रियों से राजनीति का सार पूछा॥१८९॥

---

१ यह नीति-वर्णन कामन्दकनीति शुक्रनीति मनु और याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थों के अनुसार है। विशेष विवरण संस्कृत-टिप्पणी में देखिए।— अनु

सर्वज्ञस्त्वं समाप्यैतद् ब्रूम पृष्टा वयं त्वया।
इत्युक्त्वा सारमन्योन्यं ते निश्चित्यैवमब्रुवन् ॥१९०॥
आरुह्य नृपतिः पूर्वमिन्द्रियाश्वान् वशीकृतान्।
कामक्रोधादिकाञ्जित्वा रिपूनाभ्यन्तरांश्च तान् ॥१९१॥
जयेदात्मानमेवादौ विजयायान्यविद्विषाम्।
अजितात्मा हि विवशो वशी कुर्यात्कथं परम् ॥१९२॥
ततो जानपदत्वादिगुणयुक्तांश्च मन्त्रिणः।
पुरोहितं चाथर्वज्ञं कुर्याद्दक्षं तपोन्वितम् ॥१९३॥
उपाधिभिर्भये लोभे धर्मे कामे परीक्षितान्।
योग्येष्वमात्यान् कार्येषु युञ्जीतान्तरवित्तमः ॥१९४॥
सत्यं द्वेषप्रयुक्तं वा स्नेहोक्तं स्वार्थसंहितम्।
वचस्तेषां परीक्षेत मिथः कार्येषु जल्पताम् ॥१९५॥
सत्ये तुष्येदसत्ये तु यथार्हं दण्डमाचरेत्।
जिज्ञासेत पृथक् चैषां चारैराचरितं तथा ॥१९६॥
इत्यनावृतदृक्पश्यन् कार्याण्युत्खाय कण्टकान्।
उपार्ज्य कोषदण्डादि साधयेद् बद्धमूलताम् ॥१९७॥
उत्साहप्रभुतामन्त्रशक्तित्रययुतस्ततः।
परदेशजिगीषुः स्याद् विचार्य स्वपरान्तरम् ॥१९८॥
आप्तैः श्रुतान्वितैः प्राज्ञैर्मन्त्रं कुर्याद्वनायतम्।
तैर्निश्चितं स्वबुद्ध्या तत्सर्वाङ्गं परिशोधयेत् ॥१९९॥
सामदानाद्युपायज्ञो योगक्षेमं प्रसाधयेत्।
प्रयुञ्जीत तत सन्धिविग्रहादीन् गुणांश्च षट् ॥२ ॥
एवं वितन्द्रो विदधत्स्वदेशपरदेशयोः।
चिन्तां राजा जयत्येव न पुनर्जातु जीयते ॥२०१॥

---

१ अयं परीक्षाप्रकारः कामन्दके चतुर्थे सर्गे पञ्चत्रिंशत्तमे श्लोके समुद्धृतः।
२ याज्ञवल्क्यस्मृतौ प्रथमाध्याये ३१८ संख्याकः श्लोको द्रष्टव्यः।
३ कामन्दके नवमे सर्गे षोडशधा सन्धिः प्रतिपादिता।

'आप तो सब कुछ जानते हैं फिर भी आपके पूछने पर हमलोग कहते हैं'—इस प्रकार कहकर मन्त्रियों ने परस्पर निश्चय करके कहा—॥१९०॥

"युवराज राजा को चाहिए कि वह सबसे पहले इन्द्रिय-रूपी घोड़ों पर चढ़कर काम क्रोध लोभ आदि भीतरी शत्रुओं को जीतकर, अन्य बाहरी शत्रुओं को जीतने के पहले इस प्रकार अपनी आत्मा पर ही विजय प्राप्त करे॥१९१॥

जो आत्मविजय ही नहीं कर पाया वह स्वयं विवश या पराधीन दूसरों पर क्या विजय प्राप्त कर सकेगा? ॥१९२॥

आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके जनपद देश आदि की उन्नति करनेवाले मन्त्रियों तथा अथर्ववेद को जाननेवाले चतुर एवं तपस्वी पुरोहित की नियुक्ति करे। तदनन्तर राजा को भय में क्रोध में लोभ में और धर्म में उन लोगों की कपट-परीक्षा करके उनके हृदयों को भली भाँति जानकर उन्हें योग्य कार्यों पर नियुक्त करे॥१९३-१९४॥

इस प्रकार, उनकी बातों की भी परीक्षा करनी चाहिए कि वे आन्तरिक स्नेह से बातें करते हैं या स्वार्थ अथवा द्वेषपूर्ण होकर। पारस्परिक वार्तालाप से उनकी यह परीक्षा करनी चाहिए। सत्य बात पर प्रसन्न होना और असत्य बात पर दंड देना चाहिए। उनके चरित्रों का पता भी अलग-अलग गुप्तचरों द्वारा लगाना चाहिए। इस प्रकार, आँखें खोले रहकर चौकसी राज्य के कार्यों को देखते हुए, विरोधियों को उखाड़कर, कोष और सेना का बल संग्रह करके अपनी जड़ सुदृढ़ कर लेनी चाहिए॥१९५-१९७॥

तदनन्तर प्रभाव उत्साह और मन्त्र —इन तीनों शक्तियों से युक्त होकर अपने और शत्रु के बलाबल को भली भाँति समझकर दूसरे देशों को जीतने की इच्छा करनी चाहिए॥१९८॥

अत्यन्त विश्वासी नीति आदि शास्त्रों को जाननेवाले प्रतिभाशाली मंत्रियों से मन्त्रणा करनी चाहिए। उनके निर्णयों को अपनी बुद्धि द्वारा कार्यान्वित करके राज्य के सभी अंगों को पुष्ट करना चाहिए॥१९९॥

साम दाम आदि उपायों से योग और क्षेम की साधना करनी चाहिए और सन्धि विग्रह आदि छह गुणों का प्रयोग करना चाहिए॥२००॥

इस प्रकार आलस्य और प्रमाद-रहित होकर जो राजा अपने और पराये देश की चिन्ता करता है, वह सदा विजयी रहता है और किसी से जीता नहीं जा सकता॥२०१॥

अज्ञस्तु कामलोभान्धो' यथा मार्गप्रदर्शिभि।
नीत्वा श्वभ्रेषु निक्षिप्य मुष्यते धूर्तचेटकै ॥२०२॥
नैवावकाश लभते राज्ञस्तस्यान्तिके पर।
धूर्तैर्निबद्धबाटस्य शालेरिव कृषीवल ॥२ ॥
अन्तर्भूय रहस्येषु तैर्वशीक्रियते हि स।
तत श्रीरविशेषज्ञात् खिन्ना तस्मात् पलायते ॥२०४॥
तस्माज्जितसारमा राजा स्याद्युक्तदण्डो विशेषवित्।
प्रजानुरागादेव हि स भवेद् भाजन श्रिय ॥२०५॥

शूरसेननृपतेः तन्मन्त्रिणाञ्च कथा

पूर्वं च शूरसेनाख्यो भृत्यकप्रत्ययो नृप।
सचिवै पेटकं कृत्वा भुज्यते स्म वशीकृत ॥२०६।
यस्तस्य सेवको राज्ञस्तस्मै तन्मन्त्रिणोऽत्र ते।
दातु नैच्छन्स्तृणमपि दित्सत्यपि च भूपतौ ॥२ ७॥
तेषां तु सवको योऽत्र ददुस्तस्मै स्वय च ते।
ते च विज्ञप्य राजानमनर्हायाप्यदापयन् ॥२ ८॥
तद्दृष्ट्वा स नृप बुद्ध्वा शनैस्तद्धूर्तपेटकम्।
अन्योन्य प्रज्ञया युक्त्या सचिवांस्तानभेदयत् ॥२०९॥
भिन्नेषु तेषु नष्टेषु मिथ पैशुन्यकारिषु।
सम्यक्शशास राज्यं तत्स राजा यैरवञ्चित ॥२१०॥
हरिसिंहश्च राजाभूत्सामान्यो नीतितत्त्ववित्।
कृतभक्तबुधामात्य सदुर्ग सार्थसञ्चय ॥२११॥
अनुरक्ता प्रजा कृत्वा चेष्टते स्म यथा तथा।
चक्रवर्त्यभियुक्तोऽपि न जगाम पराभवम् ॥२१२॥
एव विचारदक्षिन्ता च सार राज्येऽधिकं नु किम्।
इत्याद्युक्त्वा यथास्वं ते विरेमुर्गोमुखादय ॥२१३॥
नरवाहनदत्तश्च तेषां श्रद्धाम तद्वच।
चिन्त्ये पुरुषकर्तव्येऽप्यचिन्त्यं दैवमभ्यधात् ॥२१४॥

---

१ आकरप्रभवैर्मूलैरिव दरयभिधीयते।—कामन्दके।

मूर्ख कामान्ध और लोभी राजा झूठे और अनुचित मार्ग प्रदर्शित करनेवाले धूर्तों और ठगों द्वारा गड्ढे में गिरा-गिराकर भ्रष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार के स्वार्थियों से घिरे हुए मूर्ख राजा के पास बुद्धिमान् और श्रेष्ठ व्यक्ति उसी प्रकार नहीं जा सकते जिस प्रकार निपुण किसान द्वारा लगाई गई बाड़ को पारकर धान के खेत तक नहीं पहुँचा जा सकता॥२ २-२ ३॥

ऐसा राजा धूर्तों का क्रीड़ास्थल बन जाता है और अपना रहस्य प्रकट कर बैठता है। फलतः, वह उनके वश में हो जाता है। और, ऐसे मूर्ख अनभिज्ञ राजा से खिन्न होकर राज्यलक्ष्मी भाग जाती है॥२ ४॥

इसलिए राजा को आत्मविजयी, उचित दंड देनेवाला और राजनीति आदि में विशेषज्ञ होना चाहिए। ऐसा होने पर प्रजा के प्रेम से वह राजा लक्ष्मी का निवास-स्थान का पात्र बन जाता है॥२ ५॥

राजा शूरसेन और उसके मन्त्रियों की कथा

प्राचीन समय में शूरसेन नाम का एक राजा था जो एकमात्र सेवकों पर विश्वास किया करता था। वे सेवक एक दल बनाकर राजा को वश में करके उसे घुमा करते थे॥२ ६॥

जिस योग्य सेवक को राजा कुछ देना भी चाहता था मन्त्रिगण उसे एक तिनका भी नहीं देने देते और जो उनके निजी चापलूस नौकर थे उन्हें वे स्वयं भी देते और राजा द्वारा भी दिलाते थे॥२ ७-२ ८॥

यह सब देखकर और उन धूर्तों के दल को समझकर राजा ने अपनी बुद्धि से उनमें परस्पर फूट उत्पन्न करा दी॥२ ९॥

फूट के कारण उन चुगलखोर सेवकों के पृथक् हो जाने पर अन्य अच्छे और गुणी व्यक्तियों से युक्त वह राजा भली भाँति शासन करने लगा॥२१ ॥

हरिसिंह नाम का एक नीतिज्ञ और साधारण राजा था उसने अपने प्रधान मन्त्री रख थे। सुदृढ़ किले और धन का संग्रह भी पर्याप्त किया था। वह प्रजा को अपने प्रति अनुरक्त करके जैसा चाहता था वैसा करता था। इसी कारण वह एक चक्रवर्ती राजा के आक्रमण करने पर भी पराजित न हो सका॥२११ २१२॥

इसलिए विचार और चिन्तन के अतिरिक्त राज्य का सार और क्या हो सकता है? इतना कहकर अपनी-अपनी सम्मति देकर गोमुख आदि मन्त्री चुप हो गए॥२१३॥

नरवाहनदत्त ने उनके विचारों पर श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा—पुरुष का कर्तव्य चिन्तनीय होने पर भी दैवगति अचिन्तनीय है॥२१४॥

तब नरवाहनदत्त अपने उन साथियों के साथ चिरकाल से उत्कंठित प्रिया मदनमंचुका को देखने के लिए गया ॥२१५॥

उसके निवास-स्थान पर पहुँचने ही आसन पर बैठाकर स्वागत-सत्कार करती हुई विस्मित कलिंगसेना गोमुख से कहने लगी—॥२१६॥

'गोमुख राजकुमार नरवाहनदत्त के यहाँ न आने पर, अर्थात् उनके आने से पूर्व उनके आने की प्रतीक्षा में उत्कंठिता मदनमंचुका भवन के ऊपर की छत पर चढ़ी और उसके पीछे मैं भी गई। इतने में ही एक दिव्य मुकुटधारी पुरुष आकाश से उतरा ॥२१७-२१८॥

उसके हाथ में तलवार थी और सिर पर किरीट था। उस दिव्य पुरुष ने मुझसे कहा—मैं मानसवेग नामक विद्याधरों का राजा हूँ ॥२१९॥

तू पाप से पतित सुरभिदत्ता नाम की स्वर्गीय स्त्री है। तुम्हारी कन्या भी दिव्य स्त्री है। यह मुझे ज्ञात है ॥२२ ॥

इसलिए तू इस कन्या को मुझे दे दे। उसका और मेरा यह सम्बन्ध योग्य है। उसके इस प्रकार कहने पर मैंने हँसकर कहा—॥२२१॥

देवताओं द्वारा पहले से ही निश्चित किया गया नरवाहनदत्त इसका पति हो चुका है। वह तुम सब विद्याधरों का चक्रवर्ती होगा ॥२२२॥

मेरी कन्या को ले जाने के लिए बारम्बार उत्कण्ठित बिजली के समान मुझसे इस प्रकार कहकर वह विद्याधर आकाश में उड़ गया ॥२२३॥

यह सुनकर गोमुख बोला—हमारे राजा राजकुमार नरवाहनदत्त जब उत्पन्न हुआ था तभी आकाशवाणी ने सूचना दी थी कि यह विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा होगा। इसलिए उसे अपना भावी राजा समझकर विद्याधरगण उसे नष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु कोई भी दुष्ट बलपूर्वक विधि के विधान के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। भगवान् शंकर ने उसकी रक्षा के लिए गण को नियुक्त किया है ऐसा नारद मुनि ने पिता से कहा है और उनसे मैंने सुना है ॥२२४ २२६॥

इसीलिए ये विद्याधर इस समय हमारे विरोधी बन गये हैं। इतना सुनकर कलिंगसेना [illegible] के भय से बोली—[illegible] मेरी ही [illegible] [illegible] नहीं की [illegible] या इसी नहीं जाती है [illegible] ही राजपुत्र [illegible] [illegible] जाता ॥२ -२८॥

कलिंगसेना की बातें सुनकर [illegible] कि इस [illegible] के लिए [illegible] को [illegible] ॥ ॥

ततस्तद्गतभीस्तस्मिन्नुद्याने व्यहरद्दिनम्।
नरवाहनदत्तस्तां पश्यन् मदनमञ्चुकाम् ॥२३ ॥
उत्फुल्लपद्मवदनां दलत्कुवलयेक्षणाम्।
बन्धूककमनीयौष्ठीं मन्दारस्तबकस्तनीम् ॥२३१॥
शिरीष सुकुमाराङ्गीं पञ्चपुष्पमयीमिव।
एकामेव जगज्जैत्रीं स्मरेण विहितामिषुम् ॥२३२॥
कलिङ्गसेनाऽप्यन्येद्युर्गत्वा वत्सेश्वरं स्वयम्।
सुताविवाहहेतोस्तद्यायामीत्यं व्यजिज्ञपत् ॥२३३॥
वत्सेशोऽपि विमृश्यैतामाहूय निजमन्त्रिण।
देव्यां वासवदत्तायां स्थितायां निजगाद तान् ॥२३४॥
कलिङ्गसेना त्वरते सुतोद्वाहाय तत्कथम्।
कुर्मो यद्वक्ष्यतीत्येतौ लोको वक्ष्यत्युत्तमामिति ॥२३५॥
लोकश्च सर्वदा रक्ष्यस्तत्प्रवादेन किं पुरा।
रामभद्रेण शुद्धापि त्यक्ता देवी न जानकी ॥२३६॥
अम्बा हृतापि भीष्मेण यत्नाद् भ्रातु कृते तथा।
प्रतीपं किं न वा त्यक्ता वृतपूर्वान्यभर्तृका ॥२३७॥
एव कलिङ्गसेनैषा स्वयंवरवृते मयि।
व्यूढा मदनवेगेन तेनैतां गर्हते जन ॥२३८॥
अतोऽस्यास्तनयामेतां गान्धर्वविधिना स्वयम्।
नरवाहनदत्तोऽयमुद्वहत्वनुरूपिकाम् ॥२३९॥
इत्युक्ते वत्सराजेन स्माह यौगन्धरायण।
इच्छेत्कलिङ्गसेनैतन्नौचित्यं कथं प्रभो! ॥२४ ॥
न्येषा हि न सामान्या गसुतेत्यगद्गतम्।
मित्रेण चैवदुक्तं मे ज्ञानिना ब्रह्मराक्षसा ॥२४१॥
इत्यादि तत्र ते यावद् विमृशन्ति परस्परम्।
एवं माहेश्वरी वाणी तावत् प्रादुरभूद्दिव ॥२४२॥
मत्नेत्रानलदग्धस्य मूर्त्यस्यात्र मनोभुव।
नरवाहनस्तस्य मयैषा विनिर्मिता ॥२४३॥
तपस्तुष्टेन भार्यास्य रतिर्मदनमञ्चुका।
एतया महितश्चायं सर्वान्निपुरमुष्यया ॥२४४॥
विद्याधरधियाज्यं स दिव्यं कल्प करिष्यति।
मत्प्रसादाद् विजित्यारीनित्युक्त्वा विरराम वाक् ॥२४५॥

तब नरवाहनदत्त उस दिन मन्दारगुच्छ के समान स्वर्णोभासी शिरीष-सुमन के समान सुकोमल विकसित कमल के समान मुखवाली और प्रफुल्ल कुमुदों के समान नेत्रोंवाली दुपहरिया फूल की भाँति लाल होठों वाली मानों जगद्विजय के लिए निर्मित कामदेव के एक बाण के समान उस मदनमंचुका के साथ उद्यान में विहार करता रहा ॥२१ २१२॥

दूसरे दिन कलिंगसेना ने भी स्वयं वत्सराज के पास जाकर अपना अभिलषित प्रस्ताव निवेदित किया जो कन्या-विवाह के सम्बन्ध में था ॥२१३॥

वत्सराज ने भी कलिंगसेना को विदा करके अपने मन्त्रियों को बुलाकर रानी वासवदत्ता की उपस्थिति में उनसे कहा—॥२१४॥

'कलिंगसेना कन्या के विवाह के लिए शीघ्रता कर रही है। अतः हम यह विवाह कैसे करें क्योंकि उस साध्वी को भी लोग व्यभिचारिणी कहते हैं ॥२१५॥

जनापवाद से तो सदा बचना ही चाहिए। प्राचीनकाल में श्रीरामचन्द्रजी ने जनापवाद के ही कारण क्या जानकी को नहीं त्याग दिया था ? ॥२१६॥

भीष्म ने अपने भाई के लिए अपहरण की गई पूर्व-विवाहित अम्बा को क्या नहीं छोड़ दिया था ? ॥२१७॥

इसी प्रकार कलिंगसेना स्वयंवर द्वारा मेरा वरण कर लेने पर भी मदनवेग से विवाहित हुई। यही कारण है कि लोग इसकी निन्दा करते हैं ॥२१८॥

इसलिए नरवाहनदत्त अपने अनुरूप इसकी कन्या को गान्धर्व-विधि से विवाहित कर लेगा ॥२१९॥

वत्सराज के ऐसा कहने पर यौगन्धरायण ने कहा—'स्वामिन् ! यदि कलिंगसेना ऐसा चाहती है तो यह अनुचित कैसे हो सकता है ? यह साधारण नहीं दिव्य स्त्री है। इसलिए इसकी कन्या भी दिव्य है। यह बात मेरे मित्र ब्रह्मराक्षस ने मुझसे बार-बार कही है ॥२४ २४१॥

इस प्रकार जब वे परस्पर विचार कर ही रहे थे इतने ही में आकाश से दिव्यवाणी सुनाई पड़ी—॥२४२॥

'मेरे नेत्रानल से दग्ध कामदेव के अवतार नरवाहनदत्त के लिए मैंने ही कामदेव की भार्या रति के तप से सन्तुष्ट होकर इस मदनमंचुका की सृष्टि की है। यह नरवाहनदत्त की प्रधान महिषी होकर, मेरी कृपा से मनुष्यों को अतिक्रान्त कर दिव्य कल्प-पर्यन्त विद्याधरों की साम्राज्ञी बनी रहेगी' इतना कहकर दिव्यवाणी मौन हो गई ॥२४३ २४५॥

नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्चुकायाश्च विवाहः

श्रुत्वैतां भगवद्वाणीं वत्सेश सपरिच्छदः ।
तं प्रणम्य सुतोद्वाहे मानन्दो निश्चयं व्यधात् ॥२४६॥
अथ स सचिवमुख्ये पूर्वविज्ञाततत्त्व
नरपतिरभिनन्द्याहूय मौहूर्तिकांश्च ।
शुभफलदमपृच्छल्लग्नमूचुस्तु ते तं
कतिपयदिनमध्ये भाविन प्राप्तपूजा ॥२४७॥
काले मनागनुभविष्यति कश्चिदत्र
पुत्रो वियोगमनया सह भार्यया ते ।
जानीमहे वयमिदं निजशास्त्रबुद्ध्या
वत्सेश्वरेति जगदुर्गणकाः पुनस्ते ॥२४८॥
ततः स सूनोर्निजवैभवोचितं विवाहसम्भारविधिं व्यधान्नृपः ।
तथा यथास्य स्वपुरी न केवलं पृथिव्यपि क्षोभममात्तदुद्यमात् ॥२४९॥
प्राप्ते विवाहदिवसेऽथ कलिङ्गसेना
पित्रा निसृष्टनिजदिव्यविभूषणाया ।
तस्याः प्रसाधनविधिं दुहितुश्चकार
सोमप्रभा पतिनिदेशवशागता च ॥२५०॥
कृतदिव्यकौतुका सा सुतरामथ मदनमञ्चुका विबभौ ।
सन्वेवमेव कान्ता चन्द्रतनुः कार्तिकानुगता ॥२५१॥
दिव्याङ्गनाश्च तस्या हराज्ञया श्रूयमाणगीतरवा ।
तद्रूपविताच्छमा ह्रीता इव मङ्गलं विदधुः ॥२५२॥
मत्तानुकम्पिभि जयाप्रिसुतं स्वयाद्य
रत्यास्तपः स्वयमुपेत्य कृतं कृतार्थम् ।
इत्यादि दिव्यवरचारणवादमिश्र—
वाक्यानुमेयमपि सन्दधतेऽत्र गौर्यी ॥२५३॥
अथ नरवाहनदत्तः प्रविवेश मदनमञ्चुकाध्युषितम् ।
कृतवरकौतुकशोभी विविधमहातोद्यमद्विवाहगृहम् ॥२५४॥
निर्वर्त्य तत्र बहुलोचितविभ्रमत्तवीवाहमङ्गलविधिं च वधूवरौ तौ ।
वेदीं समारुरुहतुर्ज्वलिताग्निमुच्चै राज्ञां शिरोमुकमिवामलरत्नदीपाम् ॥२५५॥

नरवाहनदत्त और मदनमंचुका का विवाह

वत्सराज ने अपने साथियों-सहित इस प्रकार भगवद्वाणी को सुनकर उसे प्रणाम किया और पुत्र के विवाह के लिए आनन्द के साथ निर्णय किया ॥२४६॥

तदनन्तर वत्सराज ने सारी वास्तविक स्थिति को समझनेवाले मुख्यमंत्री यौगन्धरायण का अभिनन्दन करके और ज्योतिषियों को बुलाकर शुभफल देनेवाला विवाह-लग्न पूछा और समुचित दक्षिणा आदि से पुरस्कृत ज्योतिषियों ने कुछ ही दिनों में विवाह-लग्न निश्चित कर दिया ॥२४७॥

ज्योतिषियों ने कहा—'महाराज आपका यह पुत्र कुछ दिनों तक इस पत्नी के वियोग का कष्ट सहेगा यह हमलोग शास्त्र की दृष्टि से जानते हैं ॥२४८॥

तदनन्तर राजा ने अपने वैभव के अनुसार पुत्र के विवाह की तैयारी आरम्भ की। उसकी तैयारी के उद्योग से केवल कौशाम्बी नगरी में ही नहीं प्रत्युत सारी पृथ्वी में हलचल मच गई ॥२४९॥

विवाह का दिन आने पर कन्या के पिता मदनवेग द्वारा दिये गये वस्त्र और अलंकारों से माता कलिंगसेना ने और पति की आज्ञा से आई हुई कलिंगसेना की सखी सोमप्रभा ने कन्या मदनमंचुका को विवाहोचित रूप में सुसज्जित कर दिया ॥२५ ॥

दिव्य सामग्री से अलंकृत मदनमंचुका इतनी सुन्दर लग रही थी जैसे कार्तिक मास (शरदृतु) में चन्द्रमा शोभित होता है ॥२५१॥

शिवजी की आज्ञा से आती हुई दिव्य स्त्रियाँ मदनमंचुका के रूप से पराजित होकर अतएव लाज से छिपकर मानों मंगल-गान कर रही थीं ॥२५२॥

भक्तों पर दया करनेवाली हे पार्वती ! तुम्हारी जय हो। तुमने आज स्वयं उपस्थित होकर रति के तप को सफल किया'—इत्यादि वाक्यों से वे देवी की स्तुति करने लगीं और गन्धर्व गण वाद्य-ध्वनि करने लगे ॥२५३॥

वर के वेष में सुसज्जित अतएव शोभित नरवाहनदत्त वाद्यों की ध्वनि से गुंजरित और मदनमंचुका से अलंकृत विवाह-मंडप में प्रविष्ट हुआ ॥२५४॥

बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मणों द्वारा विवाह-विधि को सम्पन्न करके वर और वधू राजा के शिरोरत्न-स्थित निर्मल रत्नदीपों के समान देदीप्यमान अग्नि की प्रदक्षिणा के लिए वेदी के निकट गये ॥२५५॥

मणि युगपदिहेन्दुमूर्तिमान् कनकगिरि भ्रमतोऽभितः कदाचित्।
भवति तदुपमा तयोस्तदानीं जगति वधूवरयोः प्रदक्षिणेऽस्मिन् ॥२५६॥

यथा विवाहोत्सवतूर्यनादा
नपोमयन्दुन्दुभयोऽन्तरिक्ष ।
तथा वधूत्सारितहोमलाजाः
सुरोज्झिताः कौसुमवृष्टयोऽत्र ॥२५७॥

ततः कनकराशिभिर्मणिमयैश्च जामातरं
समर्थयद्वारधीः किल कलिङ्गसेना तथा।
यथात्र बुबुधे जनैरपि सुदुर्गतोऽस्याः पुरः
स काममलकापतिः कृपणभूमृताऽन्ये तु के ॥२५८॥

निष्प्रभतावृधाभिराभिमतानुरूप—
पाणिग्रहोत्सवविधौ च वधूवरौ तौ।
अभ्यन्तरं विविशतुः प्रमदोपरुद्धं
लोकस्य मानसमिवामलचित्रमभित्र ॥२५९॥

सद्वाहिनीपरिगतैरपि विश्ववन्द्य
शौर्याश्रितैरपि जितावनतैर्नरेन्द्रैः।
सा वारिराशिभिरिवाशु पुरी पुपूरे
वत्सेश्वरस्य सदुपायनरत्नहस्तैः ॥२६ ॥

अनुजीविजनाय सोऽपि राजा व्यकिरद्धेम तथा महोत्सवेऽस्मिन्।
यदि परममभवन्न जातरूपा जननीगर्भगता यथास्य राष्ट्रे ॥२६१॥

वरचारणनर्तकीसमूहैर्विविधदिगन्तसमागतैस्तदात्र।
परितः स्तवनृत्तगीतवाद्यैर्बुबुधे तन्मय एव जीवलोकः ॥२६२॥

वातोद्धूतपताकाबाहुलता चोत्सवेऽत्र कौशाम्बी।
सापि ननर्तेव पुरी पौरस्त्रीरचितमण्डनाभरणा ॥२६३॥

अग्नि-प्रदक्षिणा के समय वर और वधू की शोभा कुछ इस प्रकार थी कि यदि सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक साथ मिलकर सुमेरु पर्वत के चारों ओर भ्रमण करें, तो उस समय की शोभा की उपमा दी जा सकती है ।।२५६।।

आकाश में विवाहोत्सव में बजनेवाले बाजों के शब्द गूँज उठे और नगरी में वधू द्वारा अग्नि में हवन किये गये धान के लावों का धुँआ और देवताओं द्वारा बरसाये गये पुष्प फैल गये ।।२५७।।

उदार चित्तवाली कलिङ्गसेना ने रत्नों मणियों और सुवर्ण की राशि से जामाता नरवाहनदत्त को इस प्रकार सम्पन्न कर दिया जिससे प्रजा ने उसके आगे कुबेर को भी तुच्छ समझा। अन्यान्य बेचारे राजाओं की तो गणना ही क्या? ।।२५८।।

इस प्रकार चिरकाल से अभिलषित इस सौम्य पाणिग्रहण-संस्कार के भली भाँति सम्पन्न हो जाने पर वे वर और वधू दोनों निर्मल लोक-हृदय में चित्रित भक्ति के समान सुन्दरी रमणियों से भरे हुए कौतुकागार में गये ।।२५ ।।

इस अवसर पर कौशाम्बी नगरी विशाल वाहिनियों (सेना और नदियों) के पति विरवमन्य वीरनामामी पहले पराजित होने के कारण नम्र हुए और विविध प्रकार की बहुमूल्य भेंटों को उपहार-स्वरूप हाथों में लिये हुए राजाओं से इस प्रकार भर गई थी मानों चारों ओर रत्नाकर (समुद्र) ही लहरा रहा हो ।।२६ ।।

पुत्र-विवाह के इस अवसर पर वत्सराज उदयन ने प्रसन्नता के कारण इतना सोना और धन वितरित किया कि केवल माताओं के गर्भ में स्थित कन्याएँ ही अलंकार-हीन रह गईं ।।२६१।।

इस अवसर पर भिन्न-भिन्न और दूर-दूर देशों से आई हुई वेश्याओं और नर्तकियों बन्दियों और भाटों के गीतों और स्तुतियों से उस नगरी का समस्त वातावरण मानों संगीत और उत्सव मय हो रहा था। नागरिक स्त्रियों द्वारा सजाई-सँवारी गई अतएव अलंकार-युक्त एवं वायु से आन्दोलित पताकाओं-रूपी हाथोंवाली कौशाम्बी नगरी नृत्य करती हुई रमणी के समान लग रही थी ।।२६२ २६३।।

एवं च स प्रतिदिनं परिवर्धमानो
निर्वर्त्यते स्म सुचिरेण महोत्सवोऽत्र।
सर्वः सदैव च सुहृत्स्वजनो जनश्च
हृष्टस्तदा किमपि पूर्णमनोरथाऽभूत् ॥२६४॥
स च नरवाहनदत्तो युवराजो मदनमञ्चुकासहितः।
भजते स्म सुचिरकांक्षितमुपयेषी जीवलोकसुखम् ॥२६५॥

इति महाकविश्रीसोमदेवभट्टविरचिते कथासरित्सागरे
मदनमञ्चुकालम्बकेऽष्टमस्तरङ्गः।
समाप्तश्चायं मदनमञ्चुकालम्बकः षष्ठः।

इस नगरी के महोत्सव दिन प्रतिदिन बढ़ने लगे और अनेक दिनों तक उत्सव निरन्तर चलते रहने पर समाप्त हुए। सभी कुटुम्बी और मित्र परस्पर प्रेम और आनन्दपूर्वक रहने लगे उनके मनोरथ सफल और पूर्ण हुए॥२९४॥

विवाह के पश्चात् युवराज नरवाहनदत्त अभ्युदय की आशा रखता हुआ चिर अभिलषित सांसारिक भोगों को मदनमञ्चुका के साथ आनन्दपूर्वक भोगने लगा॥२९५॥

आठवाँ तरंग समाप्त

मदनमञ्चुका नामक छठा लम्बक भी समाप्त